प्रथम सस्करण

१९६०

मूल्य

ग्यारह रुपया

मुद्रक

प० पृथ्वीनाथ भार्गव,

भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, वाराणसी

प्रकाशकीय

ब्रिटिश शासनकाल में आयुर्वेद की विधिवत् शिक्षा और उसकी उन्नति की ओर वहुत कम ध्यान दिया गया था, किन्तु देश के स्वतत्र होने के वाद विभिन्न राज्यो में इसके लिए विशेष प्रयत्न किया जाने लगा। इसीसे एक ओर जहाँ आयुर्वेद के शिक्षार्थियो की सख्या वढ गयी और वढती जा रही है, वहाँ दूसरी ओर आयुर्वेद में रुचि लेनेवालो तथा उसके भविष्य पर विचार करनेवालो का समूह भी बढ रहा है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए यह जान लेना आवश्यक है कि भारत में प्राचीन तथा मध्यकाल में आयुर्वेद-विज्ञान ने कितनी उन्नति कर ली थी, कौन-कौन से ग्रन्थ उस समय रचे गये थे, उनमें किन-किन विपयो का वर्णन आया है और हमारी आज की आवश्यकताओ की दृष्टि से उनमें क्या-क्या कमी है तथा इस समय हमारे सामने कौन-कौन-सी समस्याएँ है, इत्यादि, इत्यादि। इसी दृष्टि से उत्तरप्रदेश प्रशासन की ग्रन्थ-प्रकाशन-योजना के अन्तर्गत आयुर्वेद का यह वृहत् इतिहास प्रकाशित किया जा रहा है।

यह ग्रन्थ हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला का ३३वाँ पुष्प है। इसके लेखक श्री अत्रिदेव विद्यालकार आयुर्वेद के सुविज्ञ विद्वान् हैं, जिन्होने आयुर्वेद सम्वन्धी अनेक पुस्तको की रचना की है और वहुत से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का हिन्दी में अनुवाद भी किया है। इसमें वेदो, स्मृतियो, पुराणो, रामायण, महाभारत तथा सस्कृत काव्यो, वौद्ध एव जैन साहित्य के ग्रन्थो के आधार पर ऐतिहासिक तथ्यो का सग्रह किया गया है। कतिपय वाहरी लेखको तथा पर्यटको आदि के विवरणो से भी सहायता ली गयी है। यत्रतत्र जो सकेत आये है, उनसे स्पष्ट है कि इस विपय का कुछ और भी उपयोगी साहित्य रहा होगा जो इस समय अप्राप्य है। इसकी भी खोज होनी चाहिए।

तीसरे भाग में आधुनिक साहित्य तथा आयुर्वेद विद्यालयो आदि की चर्चा करते हुए आज की स्थिति क्या है, किस तरह का पाठ्यक्रम हमे अपनाना चाहिए, प्रगति के लिए किन उपायो का सहारा लेना चाहिए, आदि प्रश्नो पर भी विचार किया गया है। आशा है, पुस्तक इस समय की एक वडी माँग पूरी करने में सहायक होगी।

भगवती शरण सिंह

सचिव, हिन्दीसमिति

विषय-सूची

भाग १

(प्राचीन तथा मध्यकाल)

भाग २

(रसशास्त्र-निघण्टु)

भाग ३

(आधुनिक काल)

चित्र-सूची

शुद्धि-पत्र

पृ०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	अशुद्ध	शुद्ध
११४	मकुष्टका	ममकुष्टका	१६४	कोठे	काँठे
११४	जगाल	जगल	२४६	समुद्रगुप्त	स्कदगुप्त
१२१	नारदीय मनु०	नारदीयस्मृति	२७०	चक्रदत्त	चक्रपाणिदत्त
१६०	उल्लेख नही है	उल्लेख है	२७३	चिकित्सासार सग्रह	चिकित्सा सग्रह
१६१	अधक और वृष्णिक	और द्रविड	२७८	गणसेन	गणनाथसेन
			३०२	यह	वृहद्योग तरगिणी

भाग १

प्राचीन तथा मध्यकाल

प्राचीन भारतवर्ष का मानचित्र

विषय-प्रवेश

किसी भी वस्तु का इतिहास उसके भूतकाल का वर्णन करता है (इति+ह+आस=ऐसा निश्चय से था), वर्त्तमान अथवा भविष्य का नही। इतिहास में वीती हुई सच्ची घटनाओं का उल्लेख रहता है। इन घटनाओ का उल्लेख भी कम महत्त्व का नही है, क्योंकि भविष्य या वर्त्तमान इन्ही स्वीकृत तथ्यों के आधार पर टिके होते हैं। इन घटनाओं को सही और सच्चे रूप में टीपना ही सच्चे इतिहासज्ञ का काम है। इसके लिए प्रमाण-सामग्री को घटाना-बढाना अथवा मनमाना सुधार करना इतिहासज्ञ के लिए सम्भव नही। घटनाओं या सामग्री से जो निष्कर्ष सीधे और सरल रूप में प्रतिविम्बित होता हो उसे ठीक उसी रूप में स्वीकार करके उपस्थित करना ही सच्चे इतिहासज्ञ का कर्त्तव्य है। इतिहासज्ञ घटनाओं और सामग्री के साथ सत्य-परायणता वरतता है। उसके लिए प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ का वाक्य "नामूल लिख्यते किञ्चिन् नानपेक्षितमुच्यते", एक सम्वल या प्रकाशस्तम्भ रहना चाहिए। इतिहास की सामग्री लोहे के दृढ साँचे में ऐसी कसी होती है कि इसमें जरा भी रद्दोवदल नही किया जा सकता।

कई वार एक ही सामग्री से भिन्न-भिन्न इतिहासज्ञ अपने-अपने व्यक्तिगत दृष्टि-कोण से पृथक्-पृथक् निष्कर्ष निकालते हैं। ऐसी अवस्था में इतिहासज्ञ का कर्त्तव्य होता है कि वह वैज्ञानिक तत्त्वालोचक वुद्धि का सहारा लेकर निष्पक्ष रूप में विज्ञ न्यायाधीश की भाँति परस्पर विरोधी साक्षी और लेखन में सचाई की थाह पाने का प्रयत्न करे। अपने निष्कर्ष पर पूर्व-कल्पित मतो का तथा व्यक्तिगत पक्षपात का प्रभाव नहीं आने देना चाहिए। प्रमाणों की साक्षी से जो परिणाम निकले उसी को अपरिहार्य जानकर स्वीकार करना चाहिए और घटनाओ के आधार से भूतकाल का जो रूप खडा हो उसे सिर-माथे पर रखना चाहिए। यह चित्र उसकी रुचि के अनुकूल हो या न हो, उसे अच्छा लगे या वुरा, उसके जातीय गर्व को उससे सन्तोष मिले या ठेस लगे, हर अवस्था में वह जैसा है, वैसा ही उसे लिखना चाहिए।

सच्चे इतिहासज्ञ के पास अपना दृष्टिकोण होना चाहिए, उसके अन्दर घटनाओ को परखने की वैज्ञानिक योग्यता होनी चाहिए, अतीत को प्रतिविम्वित करने की निर्मल वुद्धि होनी चाहिए, उपलब्ध सामग्री को छानने की वकील-जैसी प्रतिभा

होनी चाहिए। सच्चे न्यायाधीश की भाँति परस्पर विरोधी सामग्री में से सत्य को ढूँढने का न्यायपूर्ण मन होना चाहिए। अन्त में उसके पास सूझ, पैनी आँख, विशाल दृष्टि, चतुर्मुखी प्रतिभा का होना भी आवश्यक है[1]। इसके लिए इतिहासज्ञ को चाहिए कि वह अपने विषय की सामग्री अधिक से अधिक प्राप्त करने का यत्न करे। इस सामग्री की सचाई की परीक्षा करे फिर इसके आधार पर तथ्यों का संकलन करने का यत्न करे।

उपलब्ध सामग्री का उपयोग निष्कर्ष निकालने में किस प्रकार किया जाय यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। उपलब्ध सामग्री के लिए तिथिक्रम की दृष्टि से भारतीय इतिहास का प्रारम्भ बुद्धकाल से होता है। इससे पूर्व की सामग्री उपलब्ध है परन्तु उसमें तिथिक्रम नहीं है। तिथिक्रम का इतिहास राजनीतिक दृष्टि से महत्त्व का है, परन्तु साहित्य की दृष्टि से अतीत की सामग्री बहुत महत्त्वपूर्ण है। सांस्कृतिक इतिहास में, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के विचारों, आदर्शों, संस्थाओं उपचार, व्यवहार और विश्वासों से है, केवल तारीखवार घटनाओं से काम नहीं चल सकता। भारतीय इतिहास में पहली तिथि ६०० ई० पू० है, यह समय भगवान् बुद्ध के विचारों का था। इसी समय से हमको भारत का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। इसे इतिहास की पक्की सामग्री समझा जाता है। परन्तु बौद्ध धर्म का उदय सहसा नहीं हो गया यह भी तो अतीत कालीन इतिहास तथा विकास का एक लम्बा युग है, जिसके परिणामस्वरूप बुद्धयुग प्रारम्भ हुआ। बुद्धयुग से पूर्व का युग ब्राह्मण काल है, ब्राह्मण काल का अन्तिम साहित्य उपनिषदें हैं। उपनिषदों से पता चलता है कि ब्राह्मण भी ज्ञान-प्राप्ति के लिए क्षत्रिय आदि अन्य वर्णों के पास जाते थे।[2] इसी परम्परा में धर्म के उपदेशक बुद्ध तथा महावीर क्षत्रिय हुए।

प्राग्-बुद्धकालीन भारतीय इतिहास में सन्-संवत् की सामग्री नहीं है किन्तु उसमें दूसरे प्रकार की सामग्री बहुत है जिसके आधार पर सभ्यता का इतिहास लिखा जा

---

१. अत्रिपुत्र का वचन सच्चे इतिहासज्ञ के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है—
'विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया।
यस्यैते षड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्तते ॥' (चरक. सू अ. ९।२१)
सच्चा इतिहासज्ञ सामग्री के द्वारा सही निष्कर्ष प्रस्तुत करने योग्य होता है।

२ राजा जनक, राजा अश्वपति आदि के पास ज्ञान प्राप्ति के लिए ब्राह्मणों के जाने का उल्लेख उपनिषदों में मिलता है। (हिन्दू सभ्यता—पृष्ठ २१३)

सकता है। इसमें आचार-विचार, साहित्य, समाज-व्यवस्था, आर्थिक जीवन आदि का कालोचित अनुसधान या अध्ययन हो सकता है।

इतिहास चाहे सास्कृतिक हो या तिथिक्रम पर आश्रित हो, वह उपलब्ध सामग्री तक ही सीमित रहता है। यह सावन या सामग्री लेख रूप में या भौतिक अवशेष के रूप में होती है। लिखित रूप में यह सामग्री बहुत पीछे की है। बहुत से विद्वानो की मान्यता है कि भारतवर्ष में ८०० ई० पू० लेखन-कला का ज्ञान न था। किन्तु यह बात सबको मान्य नही है। जो हो, इतना सम्भव है कि लिपि से पूर्व साहित्य बन चुका था। गुरु-शिष्य की परम्परा से पीढी दर पीढी मौखिक रूप में उसकी रक्षा होती रही और यह क्रम चालू रहा (इसी से वेद को श्रुति कहते है)। इस प्रकार सुनकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता था उसे स्मृति में स्थायी किया जाता था। उस समय के विद्वान् चलते-फिरते (चरक) ग्रन्थालय या पुस्तकालय थे। लिपि से पूर्व जो भी भारतीय साहित्य बना वह बहुत दिनो तक कण्ठ-परम्परा से ही जीवित रहा। यद्यपि यह साहित्य प्राचीनतम है, परन्तु इससे प्राचीन जीवन के बचे हुए कुछ भौतिक अवशेष और चिह्न हैं, जिनका प्रमाण-सामग्री के रूप में उपयोग होता है। ये अवशेष उस समय काम आनेवाले औजार, हथियार, घर, बस्ती, जीवन के साधन (स्नानगृह आदि) हैं। सभ्यता के विकास-क्रमानुसार उस समय का स्मारक साहित्य, चित्र, शिला-लेख, ताम्रपत्र, सिक्के, कथाएँ, तोल, मान आदि वस्तुएँ भी प्राप्त हुई है। इस प्रकार से इस भिन्न-भिन्न सामग्री के आधार पर प्रमाण एकत्र करके इतिहास की रचना करना आवश्यक है। कभी-कभी तो यह साधन भारत के सिवा अन्य देशो में भी पाये जाते हैं, जिन देशो के साथ भारत का लेन-देन या अन्य प्रकार का सम्बन्ध रहा। भारतीय इतिहास के चिकित्सा सम्बन्धी कुछ प्रमाण बगदाद (अरब) से भी हमको मिलते हैं।[1] पूर्वी भारतीय द्वीपसमूह के अन्तर्गत जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपो में, स्याम, कम्बोज आदि देशो में अनेक पुराने स्मारक चिह्न विद्यमान हैं, जो कि भारत की सीमा से बहुत परे भी इस देश की सस्कृति तथा ज्ञान पर प्रकाश डालते है, इनको भी आँखो के सामने रखना आवश्यक है।

---

१. सिकन्दर का सेनापति नियार्कस लिखता है कि यूनानी लोग सर्पविष दूर करना नहीं जानते, परन्तु जो मनुष्य इस दुर्घटना में पडे, उन सबको भारतीयो ने दुरुस्त कर दिया (वाईज हिस्ट्री आफ मैडिसिन पृष्ठ ९)। अलमतसूर ने आठवीं सदी में भारत के कई वैद्यक ग्रन्थो का अरबी अनुवाद कराया था। प्राचीन अरब लेखक सैरेपियन

लिखा है। सिकन्दर के कई ग्रीक साथियो ने भी भारत पर लिखने का प्रयास किया है। इनमें मुख्य नियार्कस, आनिसि क्राईट्स, अरिस्टोवुलुस हैं। दु ख है कि इनके लेख अब नही मिलते। सीरिया के सम्राट् सिल्यूकस का राजदूत मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त मौर्य के दरवार में वर्षो रहा था। उसने अपनी पुस्तक 'इण्डिका' में भारत के विषय में वहुत कुछ लिखा है। यह पुस्तक स्वत अप्राप्य है, परन्तु इसके उद्धरण एरियन, स्ट्रेवो आदि के ग्रन्थो में आज भी सुरक्षित हैं।

ग्रीक और रोमन साहित्य की भाँति चीनी साहित्य भी इस ओर वहुत मदद देता है। चीनी साहित्य में फाहियान (३९९-४१४ ई०), युवान् च्वाग (६२९-६४५ ई०) और इत्सिग (६७५-६९५ ई०) के वृत्तान्त महत्त्वपूर्ण हैं। तिव्वती लामा तारानाथ के ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं।

इनके वाद मुस्लिम पर्यटको के वृत्तान्त भी इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें मुख्य लेखक अल्वेरुनी है। इसकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, यह सस्कृत का भी असाधारण पण्डित था। महमूद के आक्रमणो में यह उसके साथ था।

पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री, अभिलेख—जहाँ पर साहित्यिक सामग्री मूक एव अस्पष्ट है, वहाँ पर उत्कीर्ण लेखो से वहुत सहायता मिलती है। ऐसे वहुत से शिलालेख ईसा से पाँचवी शती पूर्व तक के है। ये अभिलेख शिलाओ, स्तूपो, प्रस्तरपट्टो, दरी-गृहो की दीवारो और धातुपत्रो पर खुदे हुए हैं। अधिकतर उत्कीर्ण लेख ब्राह्मी लिपि में है, यह लिपि वायी ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती थी। कुछ लेख खरोष्ट्री लिपि में भी मिले है, यह लिपि अरवी-फारसी की भाँति दाहिनी ओर से वायी ओर लिखी जाती है। इनमें अशोक के अभिलेख चिकित्सा-विज्ञान की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण हैं।

अभिलेखो की भाँति ऐतिहासिक दृष्टि से सिक्के, इमारतें भी महत्त्वपूर्ण सामग्री हैं। इनसे तिथिक्रम निश्चित करने में वहुत सहायता मिलती है।

पहला अध्याय

वैदिक काल या प्रागैतिहासिक काल

वैदिक साहित्य

भूगर्भ-शास्त्री पृथ्वी की आयु के चार प्रधान युग मानते हैं, जिनमें से हरएक जीवन विकास के अनुसार कई छोटे भागो में बँटा हुआ है। ये युग इस प्रकार है—

(१) अजन्तुक—जब पृथ्वी पर किसी प्रकार का जीवन न था। (२) पुरा-जन्तुक—जब मेरुदण्डहीन प्राणियो के रूप में जीवन के चिह्न पहले पहल दिखाई पडे। आरम्भ में सामुद्रिक घास और सेवार, स्पज, लिब-लिब मछली पैदा हुई, बाद में मत्स्य, सरीसृप, पक्षी, बडे-बडे जगल और पेड, जिनसे धरती में कोयले और अगारो की सन्धि बन गयी। (३) मध्यजन्तुक। (४) नवीन-जन्तुक—जिस युग में विविध प्रकार के स्तनपायी जन्तु विकसित हुए, जिनमें से मनुष्य भी सवर्द्धित हुआ।[1]

मनुष्य की उत्पत्ति से पूर्व उसके जीवन के साधन बन चुके थे, जिस प्रकार शिशु के भूमिष्ठ होने से पहले माता के स्तनो में उसके पोपण का साधन दूध आ जाता है। मनुष्य में ज्ञान का विकास शनै-शनै हुआ। आरम्भ में अपनी आवश्य-कताओं की पूर्ति के लिए उसने जिन वस्तुओं का और जिस प्रकार से उपयोग किया—उन्ही के अनुसार इतिहास के युग प्रारम्भ होते हैं। ये वस्तुएँ—औजार, हथियार, बरतन भाँडे हैं, जो कि पुरातत्त्व की खुदाई मे मिलते हैं। प्रारम्भ में मनुष्य ने पत्थर से, बिना टाँचे अनगढ औजार बनाये। इसके बाद इन औजारो को सुघरे हुए रूप में चमकीला, तराशकर घिसकर तेज बनाया। मिट्टी के बरतन पहले हाथ से बनाये, फिर चाक पर उनको उतारा। इसके बाद ही विकास की अवस्थाएँ शीघ्रता से तथा अलक्षित भेदो के साथ घटित हुई—जिनमें ताम्र, कास्य और लोहे का प्रयोग मुख्य विशेपता थी।

---

१. हिन्दू सभ्यता एव प्राचीन भारत का इतिहास—डाक्टर त्रिपाठी के आधार पर।

पाषाण युग के वाद दक्षिण भारत में लोह युग और उत्तर भारत मे ताम्र युग का आरम्भ हुआ। लोह युग से पहले कास्य युग का विकास नही हुआ, इसमे सिन्व प्रान्त अपवाद है। कांसा बनाने मे नौ भर तांवा और एक भर रांगा मिलाकर डाला जाता है[1] (चरक सहिता में अत्रिपुत्र ने ब्राह्मरसायन सिद्ध करने के लिए ताम्र-पात्र का उल्लेख किया है, ('औदुम्बरे पात्रे'—चि अ १।)

दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर मे लोहा पहले व्यवहार में आया। अथर्ववेद मे इसका उल्लेख है, जो कि २५०० ई० पू० से वाद का नही कहा जा सकता। हीरोदत्त का कथन है कि जो भारतीय सिपाही ईरानी सम्राट् स्पयार्म (जरकसीज) की कमान में यूनान के विरुद्ध ३२५ ई० पूर्व मे लडे थे, उन्होने अपने धनुष के साथ लोहे की नोक लगे हुए वेंत के वाणो का प्रयोग किया था। सिकन्दर को वहुत वढिया लोहा-फौलाद भेंट में दिया गया था।

ऋग्वेद में सोने (हिरण्य) के गहनो का वर्णन है (१।१२२।२), ये आभूषण कान के कुण्डल (कर्णशोभन—७।७८।३), वलय (निष्कग्रीव २।३३।१०), नूपुर (रवादि १।१६६।९ और ५।५४।११), हार (रुक्मवक्ष) और गले की मणियाँ (मणिग्रीव १।१२२।१४) थे। इनमे से अधिकाश आभूषण मोहेंजोदडो के पुरवासी पहनते थे।

सोने के अतिरिक्त ऋग्वेद में अयस् नामक दूसरी धातु का भी वर्णन है, जिसके वर्तन वनते थे (अयसमय—५।३०।१५)। इस धातु को ठोकते, पीटते और वढाते भी थे (अयोहत् ९।१।२)। सम्भवत ऋग्वेद में अयस् का अर्थ ताँवा है, अथर्ववेद में वाद मे लोहे को 'श्याम अयस्' और ताम्र को लाल (लोहित) अयस् कहकर भेद किया गया है (११।३।१७)।

ऋग्वेद-सभ्यता तथा पाषाण युग को जोडने का साधन सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेष चिह्न है। ये चिह्न पुरातत्त्व की खुदाई मे हरप्पा (लाहौर और मुलतान के वीच रावी की एक पुरानी धारा के तट पर वसा हुआ एक पुराना स्थान, जिसका प्राचीन वैदिक नाम हरियूपिया सम्भवत था) एव मोहेंजोदडो (सिन्धी—मोया-जोदडो, मरे हुओ की ढेरी या टीला—जिला लरकाना, सिन्ध) स्थानो में पाये गये

---

१ कांसे के लिए सौ भर तांबे में सत्ताईस भर रांगा मिलाने से अच्छा कांसा वनता है (सौ सत्ताईस कांसा, नहीं तो सन्याला)। अत्युत्तम कांसा बनाने के लिए ९६ भर तांवा, २६ भर रांगा और २ भर चांदी होनी चाहिए।

हैं। इस सामग्री से विदित होता है कि किसी समय उस प्रदेश में सर्वांग पूर्ण सभ्यता का विकास हुआ था, जिसे सिन्धु सभ्यता का नाम दिया जा सकता है[1]।

यही सभ्यता हमको ऋग्वेद में मिलती है। सिन्धु संस्कृति ऋग्वेद से पूर्व की है या पीछे की, यह एक समस्या है। एक विचार यह है कि वेदो के ज्ञान का प्रादुर्भाव सृष्टि के साथ ही हुआ है, अर्थात् मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही वेदो का ज्ञान पृथ्वी पर हुआ है ('अनादिनिधना दिव्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'—मनु)[2]। आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार सृष्टि से पूर्व ज्ञान उत्पन्न हुआ ('अनुत्पाद्यैव प्रजा आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्'—सुश्रुत सूत्र अ १, 'आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्ततो विश्वानि भूतानि'—काश्यप संहिता)।

इतिहास का प्राचीन स्रोत ऋग्वेद संहिता में है। यह आर्य जाति का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। भाषाशास्त्र के विद्वानो का कहना है कि ऋग्वेद की भाषा व्याकरण और धातुओ की दृष्टि से ईरानी, यूनानी, लातीनी, ट्यूटनी, कैल्ट और स्लाव भाषाओ से मिलती है, जैसे, ये सब एक ही मूल भाषा से निकली हुई हो। परिवार के निकटतम सम्बन्धो एव जीवन के मौलिक अनुभवो के सूचक शब्द इन भाषाओं में एक-जैसे ही है, जैसे माता-पिता, पुत्र-पुत्री, ईश्वर, हृदय, आँसू, कुल्हाडी, वृक्ष, कुत्ता और गौ आदि शब्द। उदाहरण के लिए देखिए—संस्कृत मे मातर, लैटिन मे मेतर, अंग्रेजी मे मदर; संस्कृत मे सूनु, लिथवानियन में सूनू, प्राचीन जर्मनी की खडी बोली में वे सुनु, इंग्लिश में, सन।

वेद और अवेस्ता—आर्यो के ऋग्वेद की भाँति अवेस्ता पारसियो का प्राचीन ग्रन्थ है। ऋग्वेद से अवेस्ता की भाषा बहुत अधिक मिलती है। अवेस्ता का अर्थ शास्त्र है जिसमें गाथा या प्रार्थनाएँ ऋग्वेद की भाँति ही हैं। इसमें यज्न (यज्ञ), विस्पेरद (बलि सम्बन्धी कर्मकाड) तथा वेन्दिदाद (प्रेतादि के विरोधी नियम) आदि भी है। अवेस्ता की टीका पहलवी में हुई है, इस टीका को जेन्द कहते है, जेन्द का अर्थ टीका है। अब लोग जेन्द और अवेस्ता इन दोनो शब्दो को मिलाकर पुस्तक तथा भाषा के लिए जेन्दावेस्ता या जिन्दावेस्ता कहते है।

अवेस्ता और ऋग्वेद के शब्दो में बहुत साम्य है, ऋग्वेद में आया भेषज शब्द,

---

१ सिन्धु सभ्यता के लिए 'हिन्दू सभ्यता' तथा प्राचीन भारत का इतिहास देखे जा सकते है।

२ ऋक्सूक्तसंग्रह—श्री प० हरिदत्त शास्त्री, भूमिका पृष्ठ ८।

जो कि कौशिक सूत्र में भैपज्य रूप मे मिलता है, अवेस्ता मे वीसेजा (Balsaza) हो गया है, मत्र शब्द मथ्र, पुत्र पुथ्र, सप्त हप्त्र, सोम होम हो गया है। स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन के लिए अवेस्ता में ऋग्वेद की भाति वनस्पतियो का उल्लेख है। वेद और अवेस्ता में रोग के लिए पामन् शब्द आता है। विद्वानो की मान्यता है कि ऋग्वेद के समकालीन या उसकी समीपवर्ती यदि कोई भाषा है, तो वह अवेस्ता है।

ऋग्वेद का काल

वेदो की रचना मे ऋग्वेद का निर्माण सबसे प्रथम हुआ है। इसमे भी दूसरे मण्डल से सातवे मण्डल तक का भाग अपेक्षया अधिक प्राचीन है। पहले, नवे और दसवे मण्डल की रचना सबसे बाद मे हुई है। ऋग्वेद की भाषा अन्य तीनो वेदो की अपेक्षा विभक्ति और क्रिया की दृष्टि से अधिक प्राचीन प्रतीत होती है।

ऋग्वेद के या वेदो के काल निर्णय में सबसे पथम प्रयत्न वेवर ने 'भारतीय साहित्य का इतिहास' पुस्तक में किया है। लिखित रूप मे उपलब्ध होनेवाले समस्त साहित्य में ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। उन्होने इसके लिए कोई समय निश्चित नही किया। इसके बाद मैक्समूलर ने इस सम्बन्ध में प्रयत्न किया। इन्होने वैदिक साहित्य को चार कालो में बांटा है, यथा छन्दकाल, मत्रकाल, ब्राह्मणकाल और सूत्रकाल। प्रत्येक काल के लिए २०० वर्ष की अवधि मानी है। अन्तिम सूत्रकाल को उन्होने बौद्धधर्म की उत्पत्ति और विकास के साथ माना है। बुद्ध की निर्वाण (मृत्यु) तिथि विनसैंट स्मिथ ने ४८६–८७ ई० पू० में रखी है। फ्लीट और गाईगर ४८३ ई० पू० मानते है, परन्तु कुछ विद्वान् बुद्ध का परिनिर्वाण ५४३ ई० पू० मानते है। इस तिथि से २०० वर्ष पूर्व सूत्रकाल, उससे २०० वर्ष पूर्व ब्राह्मणकाल, ब्राह्मणकाल से २०० वर्ष पूर्व मंत्रकाल, और मन्त्रकाल से २०० वर्ष पूर्व छन्दकाल है। इस क्रम से वेदो का निर्माणकाल १२०० से १००० वर्ष ईसवी पूर्व आता है।

परन्तु एशिया माइनर के बोगाज कुई नामक स्थान में १४०० ई० पू० के कुछ अभिलेख मिले है, जिनमें खत्ती (hittites) और मितानी (mitani) जातियो में हुई सन्धि का उल्लेख है। इस सन्धि में साक्षी रूप में दिये हुए देवताओ के नाम मित्र, इन्द्र, वरुण और नासत्य देवताओ से मिलते है। इसलिए ऋग्वेद की संस्कृति १४०० ई० पू० भारत में जड जमा चुकी थी, जिससे वह सुदूर पूर्व एशिया की सस्कृति पर प्रभाव डाल सकी।

कोवी महोदय ने ज्योतिष की गणना के अनुसार ऋग्वेद की रचना को ३०००

ई० पूर्व निश्चित किया है। स्वर्गीय लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपनी ज्योतिष-गणना के अनुसार वेदकाल ६००० ई० पूर्व से कुछ पीछे का माना है।

यदि भारत मे बुद्धधर्म का उदय ६०० ई० पू० के लगभग माना जाय तो उनमें पूर्वकालीन रूप से उल्लिखित भारतीय साहित्य और संस्कृति उस समय से पूर्व की होनी चाहिए। सूत्र, आरण्यक, उपनिषद्, ब्राह्मण, चार वैदिक संहिताओं और इनसे पूर्ववर्ती मूल मंत्रसमूह के विकास के लिए पर्याप्त समय मानना पडेगा। इसलिए लगभग २५०० ई० पू० ऋग्वेद का काल मानना होगा।

ऋग्वेदकालीन संस्कृति—स्थानविशेष में बसे व्यवस्थित समाज और पूर्ण उन्नत सभ्यता का वर्णन ऋग्वेद में है। हिन्दू अनुश्रुति के अनुसार ऋग्वेद में भारतीय संस्कृति के उष काल के स्थान पर मध्याह्न काल के दर्शन होते हैं। ऋग्वेद के आर्य विस्तृत भू-प्रदेश में बसे हुए मिलते है। उसमें कुछ नदियो के ये नाम आये है— कुभा (काबुल), क्रुमु (कुर्रम), गोमती (गोमल), सुवास्तु (स्वात), इत्यादि। इससे पता चलता है अफगानिस्तान भी भारतवर्ष का अग था। इसके बाद पजाब की पाँच नदियों का उल्लेख है—सिन्धु (सिन्ध), वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चिनाव), परुष्णी (इरावती या रावी), विपाशा (व्यास), शुतुद्री (सतलज)। सरस्वती, यमुना और गगा का नाम भी आया है।

भौगोलिक प्रदेश कई वैदिक जनपदो में बँटा हुआ था, जिनमें से कुछ प्रधान जन-पदो के नाम मिलते हैं—जैसे गन्धार (जो अपने ऊनी माल के लिए प्रसिद्ध था), मूजवन्त (जहाँ का सोम प्रसिद्ध था[1]), अनु, द्रुह्य, तुरवशु (परुष्णी के तट पर), पुरु और भरत (मध्य देश में थे)।

ऋग्वेद में दस राजाओं के युद्ध का उल्लेख है। यह युद्ध सुदास तथा उसके प्रतिपक्षी अनार्य राजाओं में हुआ था। सुदास का नेतृत्व युद्ध में वसिष्ठ पुरोहित कर रहे थे और प्रतिपक्षी राजाओं का नेतृत्व विश्वामित्र कर रहे थे। अन्त में सुदास इन राजाओं को हराकर सम्राट् बने थे। ये दूसरे राजा अनार्य थे। आर्यों और अनार्यों में रग का

---

१ मूजवन्त की पहचान मुजान इलाके से की जानी चाहिए—जो वक्षु नदी के दक्षिण में गलचा भाषा-भाषी क्षेत्र है—जहाँ की बोलियाँ आर्यभाषा परिवार की हैं—(हिन्दू सभ्यता)। सुश्रुत में मूजवन्त का उल्लेख सोम के लिए आया है—'तस्योद्देशेषु चाप्यस्ति मुञ्जवानंशुमानपि'; 'अंशुमान् मुञ्जवाश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभ ॥' —सुश्रुत चि. अ. २९।३०; ५।

भेद था। इनमें शारीरिक और सांस्कृतिक भेद भी थे। आर्यों ने अनार्यों को बहुत परिश्रम से हटाया, इनको दूर खदेड दिया था।

ऋग्वेदकालीन शिल्प—शिल्प के लिए ऋग्वेद मे कार शब्द आता है[1]। बढई (तक्षा ९।११२।१) शिल्पियो का अगुआ था, यह युद्ध या सवारी के लिए रथ, माल ढोने के लिए छकडे (अनन् ३।३३।९) बनाता था, जिनकी छत को छदिन् कहते थे (१०।८५।१०)। वह परशु (१।१०५।१८) और वसूले (वाली) से काम करता था। धातु का काम करनेवाले कर्मार कहलाते थे (१०।७२।२), जो धातु को आग में गलाते थे (सवन्त १०।७२।२)। ये चिडियो के पखो की धोकनी (पर्णेभि शकुनानान्) और सूखी लकडियो से धातु को गलाकर उसका बर्तन बनाते थे (अयस्मय घर्म ५।३०।१५)। लोहे को पीटकर भी बर्तन बनाये जाते थे (अयोहत ९।१।२)। सुनार (हिरण्यकार) सोने के आभूषण गढता था (१।१२२।२)। सोना सिन्धु जैसी नदी से जिसे 'हिरण्यवर्त्तिनी' कहा गया है (६।६१।७) और भूमि से (निखात खनन्—१।११७।५) प्राप्त किया जाता था। जल से सोना प्राप्त किया जाता था—इसलिए इसका नाम कलधौत है, अथवा आजकल जैसे न्यारिये कूडे में से सोना-चाँदी निकालने के लिए बहते पानी मे कचरे को धोकर सोना निकालते है—इस प्रकार रेती को धोकर सोना प्राप्त किया जाता था। एक मत्र में (९।११२।३) ऋषि ने अपने पिता को भिषक् और अपनी माँ को चक्की पीसनेवाली (उपलप्रक्षिणी) कहा है।

ऋग्वेद काल में जीविका, विनोद और जगली जानवरो से पशुओं की तथा कृषि की रक्षा के लिए मृगया की जाती थी। इसके साधन बाण (इषु २।४२।२) और जाल (अथर्व १०।१।३०) थे। ऋग्वेद कालीन सस्कृति मे युद्ध और मृगया का वर्णन अधिक मिलता है। इन दोनो के लिए तथा अन्य शारीरिक रोगो की चिकित्सा के लिए भिषक् का धधा उस समय होता था। आर्यों और अनार्यों का युद्ध वैदिक सभ्यता में बराबर चलता रहा। इस युद्ध से होनेवाले क्षत, व्रण आदि की चिकित्सा के लिए आयुर्वेद का ज्ञान आवश्यक था। इसके सिवा काल या आहार-विहार के कारण उत्पन्न रोगों की चिकित्सा प्राणियों के लिए आवश्यक थी। मनुष्येतर प्राणियो का नियत्रण बहुत कुछ प्रकृति से होता है, परन्तु मनुष्य को परमात्मा ने बुद्धि दी है, इसलिए उसे अपने ज्ञान का उपयोग करना होता था।

---

१ शिल्प शब्द जीविका के साधन या अपरा विद्या—लौकिक ज्ञान के लिए प्रचलित था। तक्षशिला में कई तरह के शिल्प सिखाये जाते थे, इनमें एक आयुर्वेद भी था।

है। यजुर्वेद में कर्मकाण्ड सम्बन्धी ज्ञान है, इसकी रचना गद्यमय है। साम का सम्बन्ध गायन-उपासना से है इसकी रचना गीत्यात्मक है। इन तीनों को त्रयी कहते हैं। अथर्ववेद का, जो कि ज्ञान से परिपूर्ण होने के कारण इनकी श्रेणी में आता है, सम्बन्ध मानव जीवन के साथ अधिक है। इसमें ज्ञान कर्म, उपासना तीनों का समावेश है। इसी लिए आयुर्वेद को इसका उपांग माना गया है। कुछ आचार्यों ने ऋग्वेद का उपांग आयुर्वेद को माना है, परन्तु आयुर्वेद के आचार्यों ने अथर्ववेद का ही उपांग इसे स्वीकार किया है[1]। उपांग का अर्थ निकटवर्ती मुख्य भाग है। आयुर्वेद का अथर्ववेद के साथ अतिशय निकटतम सम्बन्ध है।

आयुर्वेद शब्द का अर्थ—आयु का पर्याय चेतना अनुबन्ध, जीवितानुबन्ध, धारी है (चरक० सू० अ० ३०।२२)। यह आयु शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इन चार का संयोग है। आयु का सम्बन्ध केवल शरीर से नहीं है और इसका ज्ञान भी आयुर्वेद नहीं है। चारों का ज्ञान ही आयुर्वेद है। इसी दृष्टि से आत्मा और मन सम्बन्धी ज्ञान भी प्राचीन मत में आयुर्वेद ही है[2]। शरीर आत्मा का भोगायतन, पञ्च महाभूत-विकारात्मक है, इन्द्रियाँ भोग का साधन हैं, मन अन्तःकरण है, आत्मा मोक्ष या ज्ञान प्राप्त करनेवाला, इन चारों का अदृष्ट-कर्मवश से जो संयोग होता है, वही आयु है। इसके लिए हित-अहित, सुख-दुःख का ज्ञान तथा आयु का मान जहाँ कहीं हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं। वेदों में भी इन्हीं बातों का ज्ञान है, इसलिए काश्यप का यह कहना कि जिस प्रकार से हाथ में चार अँगुली और पाँचवाँ अँगूठा है; वह एक ही हाथ में रहता हुआ भी नाम और रूप से भिन्न है और सब अँगुलियों पर शासन करता है, उसी प्रकार चारों वेदों के साथ रहता हुआ भी पाँचवाँ आयुर्वेद इन सबमें मुख्य है। इसी से कालिदास ने कहा है—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।' धर्म का मुख्य साधन शरीर है[3]।

---

१. 'चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामथर्ववेदे भक्तिरादेश्या।' (च. सू. अ. ३०), 'इह खलु आयुर्वेदमष्टाङ्गमथर्ववेदस्य।'—(सुश्रुत. सू. अ. १), 'अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्न.।' 'ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमोऽयमायुर्वेद.।' (काश्यप)

२. 'आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।'–(सुश्रुत. सूत्र अ. १)

३. 'हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥'–(चरक) सू अ. १।४१.
'तस्मादथर्ववेदं श्रयति। सर्वान वेदानित्येके, पद्यगद्यकथ्यगेयविद्याश्रयादिति।

वैदिक साहित्य

ऋक्, यजु, साम और अथर्व ये चार वेद हैं। इनके चार उपाग हैं, यथा धनुर्वेद, गान्धर्व वेद, स्थापत्य वेद और आयुर्वेद। वेदो का विभाग होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा के रूप में किया गया है। ब्रह्मा का काम यज्ञ कार्य का निरीक्षण है, जिससे यज्ञानुष्ठान में कोई त्रुटि न हो, उसे शेप तीनो के कार्य का ज्ञान होना आवश्यक है। विघ्न होने पर वह मगलकारी मत्रो से उसे दूर करता है, इसके लिए उपयोगी मत्र अथर्ववेद में है। इसी से अथर्व का सम्बन्ध आयुर्वेद से है। मन्त्रो को सहिता-भाग कहा जाता है। वेदो की व्याख्यावाले भाग को ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मण के तीन भाग हैं—ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिपद्। प्रत्येक वेद की अपनी-अपनी शाखाएँ हैं—अपने-अपने ब्राह्मण, अपने-अपने आरण्यक और अपनी-अपनी उपनिपदें। आरण्यक अरण्य में रहकर (वानप्रस्थाश्रम में पढे जाते थे), उपनिपद्—गुरु के समीप वैठकर पढी जाती थी ('समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुमेवाभिगच्छेत्')।

ऋग्वेद सहिता—इसका विभाग अप्टक, अध्याय, सूक्त, एव मडल, अनुवाक, सूक्त—इन दो रूपो में है। इसमें १० मडल और १०२८ सूक्त तथा कुल मन्त्र ११००० हैं। शाखाएँ पाँच हैं—शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, साखायन और माण्डूकायन ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिपद्—ऐतरेय तथा कौपीतकी इन्ही नामो के दो-दो हैं।

यजुर्वेद सहिता—इसके दो भाग हैं, कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद। इस विभाग का कारण वैशम्पायन और याज्ञवल्क्य ऋपि का झगडा है। वैशम्पायन का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से है, याज्ञवल्क्य का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है। वैशम्पायन के अन्तेवासियो को चरक कहा जाता है। शुक्ल यजुर्वेद में केवल मत्र सगृहीत हैं, कृष्ण यजुर्वेद में मत्र तथा गद्यात्मक विनियोग हैं। यजुर्वेद में ४० अध्याय हैं। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं—काण्व और माध्यन्दिन, ब्राह्मण शतपथ है, आरण्यक भी शतपथ

न चैतदेवम् आयुर्वेदमेवाश्रयन्ते वेदा। तद्यथा—दक्षिणे पाणौ चतसृणामङ्गुलीनामङ्गुष्ठ आधिपत्य कुरुते न च नाम ताभि सह समता गच्छति, एकस्मिश्च पाणौ भवति। एवमेवायमृग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदेभ्य पञ्चमो भवत्यायुर्वेद.। यथा हि वेदेषु सतत ब्रह्मज्ञैस्त्रिवर्गसयुक्त पुरुपनिश्रेयसं चिन्त्यते, एवमेवास्मिन्नपि वेदे निदानोत्पत्तिलिङ्गारिष्टचिकित्सितै' सततमेव हितसुखकर त्रिवर्गसारभूत पुरुपनिश्रेयस चिन्त्यते।'—(काश्यप) विमान।

अकेला है। उपनिषद् ईशोपनिषद और बृहदारण्यक हैं। कृष्ण यजुर्वेद की चार संहिताएँ हैं—तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कपिष्ठल। इन्हीं चार संहिताओं के नाम से चार शाखाएँ भी हैं। आरण्यक तैत्तिरीय नाम का अकेला है। उपनिषद्—तैत्तिरीय, मैत्रायणी और कठोपनिषद् हैं।

सामवेद संहिता—सामवेद की ऋचाएँ छन्द, छन्दसी या छन्दसिका कहलाती हैं। केवल ७५ ऋचाएँ स्वतन्त्र हैं, शेष सब ऋग्वेद से ली गयी हैं। शाखाएँ तीन हैं—कौथुमी, जैमिनीय और राणायनीय। ब्राह्मण चार हैं—ताण्ड्य षड्विंश, साम-विधान और जैमिनीय। आरण्यक—छान्दोग्य और जैमिनीय तथा उपनिषद्—छान्दोग्य, केन और जैमिनीय हैं।

अथर्ववेद संहिता—इसमें बीस काण्ड हैं जो प्रपाठक, अनुवाक और सूक्तों में बँटे हुए हैं। शाखाएँ—शौनक और पिप्पलाद हैं। ब्राह्मण गोपथ है, उपनिषद् मुण्डक और माण्डूक्य हैं।

प्रत्येक वेद के साथ उसके सूत्र ग्रन्थ भी होते हैं। सूत्र ग्रन्थों का विशेष सम्बन्ध ब्राह्मणों से है। ब्राह्मण भाग बहुत विस्तृत होने से कण्ठ रखना सम्भव नहीं था, इसलिए इसे सूत्र रूप में संगृहीत किया गया—जिससे स्मरण रह सके। सूत्रों के आगे स्मृति हैं, इसी से कालिदास ने कहा 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'। वेदों से चला ज्ञान का प्रवाह भिन्न-भिन्न रूपों में बहता हुआ स्मृति के रूप में आकर समाप्त हुआ है। इस प्रवाह में जो भिन्न-भिन्न ज्ञान भिन्न-भिन्न धाराओं में अलग निकले उनमें एक आयुर्वेद ज्ञान भी है। इस प्रकार से यह वैदिक साहित्य बहुत विस्तृत है, इस विस्तृत साहित्य में आयुर्वेद के वचन सब स्थानों में थोड़े या बहुत रूप में मिलते हैं। वेदों में जितने विस्तार से मिलते हैं उतने अन्य साहित्य में नहीं, क्योंकि यह धारा पीछे स्वतन्त्र रूप में बहने लगी थी'।

---

१. अश्विनों के सोमपान के विषय में एक उपाख्यान है; पहले अश्विनों को अन्य देवताओं की भाँति सोमपान का अधिकार नहीं था। पीछे से च्यवन ऋषि को युवत्व प्रदान करने पर च्यवन ने अपने श्वसुर से यज्ञ करवाकर इनको उस यज्ञ में सोमपान का अधिकार दिलाया था। इसी प्रसंग में इन्द्र के विरोध करने पर च्यवन ऋषि के शाप से इन्द्र को भुजस्तम्भ हो गया था, इसको अश्विनों ने ही ठीक किया था—

अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहाविति स्मृतौ। वज्रिणश्च भुजस्तम्भस्ताभ्या मेव चिकित्सित ॥

वेदो में आयुर्वेद—वेदो के मत्रो में देवतावाद है। प्रत्येक सूक्त का कोई देवता होता है। जिस सूक्त में जिस देवता की प्रार्थना हो वह उसका देवता होता है। इस प्रकार से अग्नि, अप् आदि देवताओ के समान रुद्र, इन्द्र आदि देवता है, उनके ही साथ अश्विनी भी देवता है। अश्विनी का मुख्य सम्बन्ध चिकित्सा के साथ है। अश्विनी ने वैदिक देवताओ की चिकित्सा की थी। (चरक चि १।४।४४)

अश्विनी—वेदो में इन्द्र, अग्नि और सोम देवता के बाद अश्विनी की गणना है। देवताओ में ये ही युगल है, सदा द्विवचन में प्रयुक्त होते हैं। देवताओ के लिए प्रकाश, आनन्द तथा अन्य सुख की सामग्री देते है। ये जुडवाँ भाई है, सदा युवा रहते है और प्राचीन हैं। सुनहरी चमक, सौन्दर्य और कमल की मालाओ से भूपित रहते हैं।

ये स्वर्ग के वैद्य हैं। नवीन आँखें, नवीन अग प्रदान करते हैं। बीमारियो को दूर करते है और देवताओ को युवत्व प्रदान करते हैं[१]। भुज्यु नामक राजा को इन्होने समुद्र में डूबने से बचाया था। यास्क ने 'अश्विनौ' शब्द के कई अर्थ दिये हैं। जब कुछ अन्धेरा और थोडा प्रकाश होता है (छिटपुट प्रकाश), उसे भी अश्विनी कहते हैं। प्रात काल और सायकाल उदित होनेवाले तारो को अश्विनौ कहते है। यास्क ने अश्विनीकुमारो को न सुलझनेवाली पहेली लिखा है। ज्योतिपशास्त्र में अश्विनीकुमार तारो का समुदाय है, जो मनुष्यो के शुभ-अशुभ को देखता है। हठयोग के अनुसार वाम और दक्षिण नासास्वरो को अश्विनीकुमार कहते है। इनका ही दूसरा नाम इडा और पिंगला है। इनके रथ में कभी-कभी रासभ—गधे भी जुडते हैं, इस कल्पना से वायु के जोर से चलने पर जो साँ-साँ आवाज होती है, उसके कारण वायु को भी अश्विन् कहते हैं। अश्विनौ यास्क के कहे अनुसार न सुलझनेवाली समस्या हैं, परन्तु इनको देवताओ के चिकित्सक रूप में स्वीकार किया गया है।

अश्विनौ के काय-चिकित्सा और शल्य-चिकित्सा सम्बन्धी दोनो प्रकार के कार्य मिलते हैं। आयुर्वेद के आठ अगो में ये दोनो अग ही प्रधान है, शेप अग सामयिक हैं और इन्ही दोनो अगो पर आश्रित है। इन प्रधान दो अगो के मिश्रित होने से 'अश्विनौ' एक उपाधि थी, जो कि काय-चिकित्सा और शल्य-चिकित्सा दोनो में दक्ष व्यक्तियो को प्रदान की जाती थी, अथवा यह एक सज्ञा थी, जो दोनो अगो में निपुण वैद्य के लिए व्यवहृत होती थी। जिस प्रकार कि घोडो की चिकित्सा करनेवाले व्यक्ति का 'शालि-होत्र' उपनाम है, इसी प्रकार शल्य-चिकित्सक के लिए धन्वन्तरि भी एक सज्ञा थी (चरक चि अ ४५।४) और कायचिकित्सक के लिए 'चरक' या 'अत्रि' सज्ञा थी।

अश्विनौ मुख्यत देवताओ के चिकित्सक थे। आयुर्वेद परम्परा में अश्विनौ ने प्रजापति से आयुर्वेद सीखा और अश्विनौ से इन्द्र ने सीखा। इन्द्र से भरद्वाज, धन्वन्तरि और काश्यप ने भिन्न-भिन्न अग सीखे। देवताओ में ब्रह्मा, प्रजापति अथवा इन्द्र किसी ने भी चिकित्सा कर्म नही किया, इसका सम्बन्ध एक मात्र अश्विनौ से है। यद्यपि चरक मे ब्रह्मा से एव इन्द्र से सम्बन्धित योगो का उल्लेख है, परन्तु चिकित्सा कर्म का सम्बन्ध केवल अश्विनौ से ही है, ये ही देवताओ के चिकित्सक है, इसलिए वेदो में चिकित्सा सम्बन्धी सूक्तो के देवता अश्विनौ ही माने गये है।

रुद्र—ओपधियो तथा स्वास्थ्य से सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा देवता रुद्र वेदो मे वर्णित है। इसके पास हजारो ओपधियाँ है, इस अर्थ को व्यक्त करने के लिए 'जलाप' (Cooling) और 'जलाप-भेपज' ये दो विशेपण भिन्न-भिन्न अर्थो-वाले वेदमत्रो में आते है ('क्व स्य ते रुद्र मृलयाकुरहस्तो यो अस्ति भेपजो जलाष'—ऋग्वेद २।३३।७)। रुद्र को चिकित्सको मे श्रेष्ठतम चिकित्सक कहा गया है ('भिपक्तम त्वा भिपजा शृणोमि'—ऋ २।३३।४)। रुद्र से ओपधियो की याचना की गयी है ('स्तुतस्त्व भेपजा रास्यस्मे'—ऋ २।३३।१२)।

चिकित्सा से या भेपज से अश्विनौ और रुद्र का सम्बन्ध होने से इन दोनो को अन्य देवताओ से कुछ कम महत्त्व दिया गया है। वेद में अश्विनौ को देवताओ का चिकित्मक कही नही कहा है। देवताओ के चिकित्सक रूप में अश्विनौ की कल्पना पुराणो मे सबसे प्रथम आती है। पुराणो में ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीन देव-ताओ को सृष्टि के कर्त्ता, पालक और सहारक रूप में निरूपण किया गया है। सम्भवत सत्त्व, रज और तम इन शक्तियो को स्पष्ट करने के लिए यह कल्पना है।[1] वेदो में ब्रह्मा, विष्णु, शिव का नाम इस रूप में नहीं आता, उनका सृष्टि के साथ कोई सम्बन्ध नही मिलता। ऋग्वेद मे अश्विनौ को दीर्घ हाथवाले और नित्य युवा कहा गया है ('इमा ब्रह्माणि युवयूत्यग्मन्'—ऋ ७।७१।६)। द्विवचनान्त देखकर निरुक्त में इनको

---

१ कादम्बरी का मगलाचरण बाण ने इसी रूप में किया है—

'रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजाना प्रलये तम स्पृशे।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नम.॥'

भगवद्गीता में इन्हीं त्रिगुणो का विवेचन है—'सत्त्वं, रजस्तम इति गुणा' प्रकृति-संभवा.।' (१४।५)

द्यावा-पृथ्वी, सूर्य-चन्द्र, रात्रि-दिवस माना है।[1] वेदो में भिषक् या भिषक्तम शब्द रुद्र के लिए ही आया है। इस प्रकार रुद्र की स्थिति वेदो में अश्विनौ के साथ मिलती है। दोनो को यज्ञ भाग के लिए अयोग्य माना गया है। दक्ष प्रजापति ने यज्ञ में रुद्र को नही बुलाया था, इसलिए रुद्र ने दक्ष का यज्ञ नष्ट कर दिया। इसी यज्ञ विध्वस से ज्वर अर्थात् रोगो की उत्पत्ति हुई है (अतिसार रोग की उत्पत्ति भी चरकसहिता में यज्ञ में पशुवध से कही गयी है)।

वेदो में अश्विनौ और रुद्र देवता के सिवा अग्नि, वरुण, इन्द्र, अप् तथा मरुत् को भी भिषक् शब्द से कहा गया है।[2] परन्तु मुख्य रूप से इस शब्द का सम्बन्ध रुद्र और अश्विनौ के साथ है। पुराणो में रुद्र को शकर (श-कर—कल्याणकारक) नाम देकर उसके साथ सृष्टिसहार का काम जोड दिया गया और अश्विनौ को देवताओ का चिकित्सक वर्णित करके चिकित्सा का सबध उनके साथ जोडा गया।[3] पुराणो के देवता, उनका रूप तथा कार्य वेदो में वर्णित देवताओ से पृथक् है। वेदो में अश्विनौ को चिकित्सा विषयक क्षेत्रो का देवता कहा गया है, इसी के आधार पर पुराणो ने आयुर्वेद का सम्बन्ध इनसे जोडा है। पुराणो में काशीपति, दिवोदास, धन्वन्तरि भिन्न-भिन्न व्यक्ति माने गये है, परन्तु उपलब्ध सुश्रुतसहिता में ये नाम एक ही व्यक्ति को सूचित करते है।[4] इसलिए आयुर्वेद के विषय में पुराणो की परम्परा वेदो से भिन्न है। वेदो के देवता भी पुराणो से पृथक् है।

---

१. 'तत्र कौ अश्विनौ, द्यावापृथिवी इत्येके, अहोरात्रौ इत्येके, सूर्यचन्द्रमसौ इत्येके, राजानौ पुण्यकृतौ इत्यैतिहासिका'।' (निरुक्त १२।१)

२. रुद्र के लिए 'प्रथमो दैव्यो भिषक्' शब्द यजुर्वेद में आता है। अथर्व ५।२९१, यजुर्वेद २१।४, २१।१५, २८।९, ऋग्वेद २।३३।१३ में भी मिलता है।

३. 'धियात्मनस्तावदसाधु नाचरेज् जनस्तु यद् वेद स तद् वविष्यति।
जनावनायोद्यमिन जनार्दनं जगत्क्षये जीव्यशिव शिव वदन्॥'

मनुष्यो की रक्षा करनेवाले विष्णु को जनार्दन, मनुष्यो को पीडित करनेवाले और मनुष्यों का नाश करनेवाले महादेव को शिव—कल्याणकारी कहा जाता है।

४. 'अथ खलु भगवन्तममरवरमृषिगणपरिवृतमाश्रमस्थ काशिराज दिवोदास धन्वन्तरिमौपधेनव-वैतरणौरभ्र-पौष्कलावतकरवीर्य-गोपुरक्षित-सुश्रुतप्रभृतय ऊचु॥'
—(सुश्रुत १।३)

ऋग्वेद में आयुर्वेद—चिकित्सा का सम्बन्ध यद्यपि अथर्ववेद से अधिक है तथापि अन्य वेदो में भी इस विषय के मत्र है। ऋग्वेद सबसे प्रथम माना जाता है, इसलिए इसमें आयु से सम्बन्धित मत्रो का होना स्वाभाविक है। इन मत्रो मे सामान्यत प्राकृतिक वस्तुओ से स्वास्थ्य की प्राप्ति का निर्देश है, जैसे आप-जल, ओपधियो आदि। ओपवियो में वनस्पति का ही उल्लेख है, और वह भी पृथक्-पृथक् रूप में। दो या अधिक वनस्पतियो का मिश्रण नही मिलता। इससे स्पष्ट है कि यह ज्ञान प्रारम्भिक था, क्योकि उपलब्ध आयुर्वेद सहिताओ में ओपधियो का उपयोग एक ही द्रव्य के उपयोग की अपेक्षा मिश्रण रूप में अधिक मिलता है।

ऋग्वेद में आयुर्वेद के आचार्यो का उल्लेख है। ये नाम वैयक्तिक रूप में है अथवा इनका अन्य अर्थ है, यह निश्चय करना सरल नही। वेदो में कुछ विद्वान् इतिहास मानते है और अन्य विद्वान् इन शब्दो का आध्यात्मिक अर्थ करते है।[1] आयुर्वेद के ऐसे आचार्य मुख्यत दिवोदास और भरद्वाज है। इनसे शल्य और काय-चिकित्सा का प्रचार पृथ्वी पर हुआ है। इन्होने उसे इन्द्र से सीखा, इन्द्र ने अश्विनौ से सीखा था। इसलिए दिवोदास, भरद्वाज और अश्विनौ—इन तीन का नाम ही मत्रो में आता है। (१।८।११)। ऋग्वेद में जिस प्रकार विश्वामित्र, च्यवन, इन्द्र आदि का नाम आता है और जिस प्रकार से सुदास नामक राजा के विरुद्ध भद्र, द्रुह्यु, तुर्वसु आदि दस राजा लडते है, उसी प्रकार के ये नाम भी है। वाद में इनका सम्बन्ध आयुर्वेद के आचार्यो से जुड गया है। लोहे की टाँग का उल्लेख ऋग्वेद मे है, युद्ध मे पुरोहित सदा साथ मे रहता था, इसका कार्य अपने स्वामी की मगल कामना करना होता था। कोई भी विघ्न आने पर वह प्रार्थना से अपने यजमान की रक्षा करता था। एक मन्त्र में पुरोहित अपने स्वामी की पत्नी की टाँग कट जाने पर लोहे की टाँग के लिए अश्विनौ से प्रार्थना करता है। वह पक्षी के समान हलकी टाँग चलने के लिए मागता है—

'चरित्र हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।
सद्यो जघामायसीं विष्पलायै धनेहि ते सर्त्तवे प्रत्यधत्तम्॥' (ऋ. १।११६।१५)

---

१ पाश्चात्य विद्वान् वेदो को पौरुषेय मानकर इन नामो से इनमें इतिहास-भूगोल मानते है, परन्तु स्वामी दयानन्दजी तथा अन्य भारतीय विद्वान् वेदो को अपौरुषेय मानते है और इनका आध्यात्मिक अर्थ करते है।

पुरोहित अगस्त्य खेल नामक राजा की पत्नी विस्पला के लिए धातु—लोह की टाँग के लिए अश्विनी से प्रार्थना करता है कि 'वस्पला की टाँग युद्ध में कट गयी है, इसलिए तुम जल्दी आकर रात्रि में ही पक्षी के पर के समान हलकी टाँग चलने के लिए लगा दो।'

आँखो का दान—ऋजाश्व को उसके पिता वृषगिर ने शाप से अन्धा बना दिया था, क्योंकि उसने वृक के लिए एक सौ भेडो को दिया था। इस ऋजाश्व को अश्विनौ ने पुन आँखें प्रदान की थीं, क्योंकि अश्विनौ ही वृक रूप में थे। (ऋ १।११६।१६)

च्यवन ऋषि को पुन युवा करना—इसका उल्लेख ऋग्वेद में है। च्यवन ऋषि के सम्बन्ध में पुराणो में उपाख्यान मिलता है, परन्तु वेद में इस उपाख्यान का कोई उल्लेख नही। (ऋ ७।७१।५)

दिव्य वैद्य—वेद में वैद्य का लक्षण बताते हुए कहा गया है—(१) सम्पूर्ण ओषधियो को अपने पास ठीक रखनेवाला, (२) विशेष प्रबुद्ध—अपने शास्त्र का पूर्ण, सागोपाग ज्ञाता, (३) युक्ति और योजना को जाननेवाला (भिसज्यति), (४) राक्षसो का नाश करने में समर्थ, और (५) रोगो को जड से उखाड सके (चातन), ये पाँच लक्षण निम्न मत्र में कहे गये है।

'यत्रौषधी समग्मत राजान समिताविव।
विप्र स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातन ॥'

जिस प्रकार से राजा लोग अथवा क्षत्रिय सभा में एकत्र होते है, उस प्रकार से जहाँ ओषधियाँ इकट्ठी होती है, उस विशेष मनुष्य को वैद्य कहते है, वही राक्षसो का हनन करनेवाला और रोग दूर करनेवाला कहा जाता है।[1]

राक्षसो के लिए वेद में रक्ष, असुर, यातुधान आदि शब्द आते है। सुश्रुत

---

१ तुलना कीजिए, निम्न श्लोको से—
'श्रुते पर्यवदातत्व बहुशो दृष्टकर्मता।
दाक्ष्य शौचमिति ज्ञेय वैद्ये गुणचतुष्टयम् ॥' (चरक सू अ ९।६)
'तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयक्रृति।
लघुहस्त. शुचि शूर सज्जोपस्करभेषज ॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारद।
सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक्पाद उच्यते ॥' (सुश्रुत सू अ २४।१०-२०)

में इनके लिए निशाचर, रक्ष आदि शब्द आते है ('निशाचरेभ्यो रक्षस्तु नित्यमेव क्षतातुर ।' रक्षाकर्म—'वेदनारक्षोघ्नैर्धूपैर्धूपयेत् ।' महावीर्याणि रक्षांसि पशुपति-कुबेरकुमारानुचराणि मांसशोणितप्रियत्वात् क्षतजनिमित्तं व्रणिनमुपसर्पन्ति ।'—सुश्रुत. सू १९।२३)। कृमि और राक्षस दोनों की प्रकृति में वहुत साम्य है—(१) दोनो ही अन्धकार या रात्रि मे आक्रमण करते है और प्रकाश को पसन्द नहीं करते, (२) सूर्य के प्रकाश से भागते है, (३) धूम-यज्ञ विधान से डरते हैं, (४) दोनो को मांस और रक्त प्रिय हैं, उन्हीं के लिए आक्रमण करते हैं, (५) दोनों मायावी हैं—नाना रूप वदलते हैं, (६) दोनों ही आँखों से अदृश्य है। इस प्रकृति-साम्य से कृमियो को 'राक्षस' शब्द से कहा गया है। इनसे वचने के लिए भी आदेश है—

शिष्य को चाहिए कि सदा नख और वाल कटवाकर रहे, पवित्र साफ-सुथरा रहे, श्वेत वस्त्र धारण करे, मन से शान्त तथा कल्याण के विचार करे, देवता, ब्राह्मण, गुरुओं का सत्सग करे—उनसे उपदेश लेता रहे, (सुश्रुत) व्रणरोगी को राक्षसों से वचाने के लिए श्वेत सरसों, नीम के पत्ते, घी और सैंधव के साथ नित्य प्रति प्रात और सायंकाल अग्नि मे हवन—धूपदान करना चाहिए। इस विधि को प्रारम्भ से ही करने पर राक्षस-कृमि वहाँ नही आने पाते, जिस प्रकार कि सिंह से आक्रांत वन में छोटे पशु नहीं आते (सुश्रुत सू अ २०।२८)। 'सर्वेऽपि च प्रायेणाहारकामा निशार्धविचारिणो भयानका मांसासृग्वसाशिन ।' (सग्रह, उत्तर अ ७) यह वचन भूतों के लिए कहा है; ये भूत कृमि ही हैं।

'ऋग्यजु सामाथर्ववेदाभिहितै परैश्चाशीर्विधानैरुपाध्याया भिपजश्च सन्ध्यो रक्षा कुर्यु ।' (सुश्रुत सू २०।२७) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में कहे तथा अन्य आशीर्वादों—कल्याणकारी वचनों—उपायों से उपाध्याय, पुरोहित और वैद्य सन्ध्याकाल में रक्षा करें। इस रीति वेद में राक्षस या इस प्रकार के अन्य शब्द आयुर्वेद से सम्वन्धित कृमियों के लिए ही हैं।

कृमि या राक्षस सजीव प्राणधारी सूक्ष्म जीव हैं जो आँख से नही दिखायी देते, इनके लिए शतपथ में कहा है—

'वह चर्म को झटक देता है और कहता है कि राक्षसों का नाश हो गया, असुरों का शत्रुओं का नाश हुआ। इस प्रकार विनाशक राक्षसों का सहार होता है।' (शत. ब्रा १।१।४)।[1]

---

१. 'अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च

ओषधि चिकित्सा—वनस्पति या ओषधियो के उपयोग से रोग दूर होते है—ओषधि का अर्थ ही वेदना को दूर करनेवाली वस्तु है ('ओष रुज धयति इति ओषधि'), ओष नाम रस का भी है, वह रस जिसमें रहता है वह ओषधि है ('ओषो नाम रस मोऽस्या धीयते इति ओषधि')। वेद में ओषधि के लिए माता शब्द आता है (ओषधी रीति मातरस्तद्वो देवीरुपब्रुवे।' ऋग्वेद १०।९७।४) ओषधियो के लिए एक सम्पूर्ण सूक्त है, जिसमें से कुछ अश यहाँ दिया जाता है।

'या ओषधी पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुग पुरा।
मनै नु बभ्रूणामह शत धामानि सप्त च ॥ (ऋ १०।९७।१)'

जो ओषधि या वनस्पति और देवो से तीन युग पहले उत्पन्न हुई थी, उन भरण-पोषण करनेवाली ओषधियो के सौ और सात स्थान या जातियाँ है, ऐसा मै जानता हूँ।

भू-मण्डल पर प्रथम वनस्पतियाँ उत्पन्न हुई थी। इसके पीछे तीन युग व्यतीत होने पर (जल-जन्तुयुग, सर्पयुग, पशुयुग) मनुष्ययुग उत्पन्न हुआ। इन ओषधियो के एक सौ अथवा सात सौ या सौ और सात वर्ग है। (चरक मे पाँच सौ ओषधियो का उल्लेख है।)

'ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे।
सनेयमश्व गा वास आत्मान तव पूरुष ॥' (ऋ १०।९०।४)

ओषधियाँ सच्ची माताएँ है, देवियाँ—हित करनेवाली माताएँ है, देव की शक्ति धारण करनेवाली देवियाँ है (इसी से चरक में दिव्य ओषधियाँ पृथक् वर्णित है—"अय च शिव कालो रसायनाना दिव्याश्चौषधयो हिमवत्प्रभवा प्राप्तवीर्या, तद्यथा-ऐन्द्री, ब्राह्मी, पयस्या पयसा प्रयुक्ता षण्मासात् परमायुर्वयश्च तरुणमनामयत्व स्वरवर्णसपदमुपचय मेधा स्मृतिमुत्तमवलमिष्टाँश्चापरान् भावाना-वहन्ति सिद्धा"—सू० अ० १।४।६)।

'ओषधय सवदन्ते सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्त राजन् पारयामसि ॥' (ऋ १०।९।२२)

यातुधान्यो धराची परासुव ॥' (वा य १६।५) इसमें वैद्य का लक्षण कहा गया है—रोग बीजो का नाश करनेवाला, राक्षसों का सहार करनेवाला, योग्य मार्ग का उपदेश करनेवाला, बचानेवाला वैद्य होता है। यह मत्र रुद्रसूक्त में है; इस लिए रुद्र को 'दिव्यवैद्य' कहा है। यातुधान शब्द राक्षसों के लिए है।

ओपधियाँ सोम राजा से कहती हैं कि हे राजन ! जिस रोगी के लिए ब्रह्म का ज्ञान धारण करनेवाला वैद्य हमारी योजना करता है, उस रोगी को रोग से हम पार कर देती हैं।

इस मत्र मे वैद्य का मुख्य लक्षण लोभी—अर्थलोभी न होना वताया गया है, उसे सच्चा ब्राह्मण होना चाहिए (ब्राह्मण का अर्थ आत्मज्ञानी है)।

ओषधियो से रोग नाश—वीर्यवती ओपधियो के सेवन से रोग के वीजो का नाश होता है। यथा—

'यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीव गृभो यथा॥' (ऋ. १०।९७।११०)

वाजयन् शब्द वाजीकरण नामक आयुर्वेद के एक अग को सूचित करता है, वाज का अर्थ वल है, घोडा वलवान् होता है, उसे वाजी कहते हैं, शक्ति के माप की इकाई को भी "हौर्स पावर" कहते हैं। "अवाजिन वाजिन कुर्वन्ति अनेन इति वाजीकरणम्। वाजो वेग, वाज शुक्रम्।" ओषधि को वलवती करके सेवन करने से रोग का वीज नष्ट होता है।

हे मरुत् ! जो तुम्हारी रोगनाशक ओपधियाँ निर्मल है, तुम्हारी जो ओपधियाँ अतिशय सुखकारी हैं और जिन ओपधियो को हमारे पिता मनु ने पहचाना है, उन ओषधियो को—जिनका रुद्र से सम्वन्ध है, जो रोग को शान्त करती है, उनको मैं चाहता हूँ। (ऋ २।३३।१३)

हे अश्विनौ ! दूर देश में और समीप में तुम से सम्वन्धित रोग का शमन करनेवाली जो ओपधियाँ है, उनके साथ हमारे घर में आकर प्रकृप्ट ज्ञानवाले तुम विमदवत्स के लिए उन्हें अवश्य दो। (ऋ ८।९।१५)

रोगो का नाश—भिन्न भिन्न अगो से रोग का निकालना—

'अक्षीभ्या ते नासिकाभ्या कर्णाभ्यां चुबुकादधि।
यक्ष्म शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया विवृहामि ते॥' (ऋ. १०।१६४।१)

यक्ष्म-रोग से पीडित व्यक्ति ! तेरी आँखो से, कानो से, चिवुक से, सिर से, मस्तिष्क से और जिह्वा से रोग को पृथक् करता हूँ। यह मत्र अथर्ववेद मे भी है।

'ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्य· कीकसाभ्यो अनूक्याऽत्।
यक्ष्म दोषाण्य मसाभ्यां बाहुभ्या विवृहामि ते॥' (ऋ. १०।१६४।२)

रोग से पीडित मनुष्य ! तेरी ग्रीवा से, उष्णिहा—धमनियो या नाडियो से,

अस्थियो से, अस्थि-सन्धियो मे दोष्णो से (?), असो से, वाहुओ से रोग को जड से निकालता हूँ।

'अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि।
यक्ष्म त्वचस्य तव य कश्यपस्य विवर्हेण विष्वञ्च विवृहामसि।'
'ऊरुभ्या ते अष्ठीवद्भ्या पार्ष्णिभ्या प्रपदाभ्याम्।
यक्ष्म भसद्य श्रोणिभ्या भासद भससो विवृहामि ते ॥' (अथर्व २।३३।५)

अथर्ववेद का यह मत्र ऋग्वेद में भी (१०।१६४।४-६ में) थोडे परिवर्त्तन के साथ है। इनमें अगो के नाम लिखे है। इन अगो से, लोमो में से, पर्व-पर्व में से, त्वचा में से रोग को निकालने का उल्लेख है।

जलचिकित्सा—वैदिक मत्रो में मरुत्, अग्नि, सूर्य, अप् इनको भी देवता माना गया है। इनके द्वारा मनुष्य तथा दूसरे प्राणियो का जीवन चलता है। यास्क ने देवता अन्तरिक्ष स्थान (मध्यस्थान) या पृथ्वी स्थान और द्यु स्थान पर रहनेवाले वताये है। अप् भी इनमें एक देवता है, उसमे भी आरोग्य की कामना की गयी है—

'सोम ने मुझसे कहा कि जल के अन्दर सम्पूर्ण औपधियाँ है। जल ही सव ओपधि है, अग्नि सव को आरोग्य रूप देनेवाला है (ऋ १।२३।२०)। पानी में अमृत है, पानी मे औपध है (ऋ १०।१३७।६)।

'जल नि सन्देह औपध है, जल नि सशय रोगो को दूर करनेवाला है, जल सव रोगो की एक ही दवा है, यह जल तुम्हारे लिए औपध है।'

इन मत्र में स्पष्ट कहा है कि सम्पूर्ण रोग एक जल के ही प्रयोग से दूर हो सकते है, आर्यो की सन्ध्या में (जो कि दिन में तीन वार, दो वार या एक वार की जाती है) प्रथम मत्र में जल की स्तुति है—"शनो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। श योरभिस्रवन्तु न।"—जल शरीर की शुद्धि करनेवाला है, ओपधियो में भी यही जल सोमरूप मे स्थित है (सोमो भूत्वा रसात्मक—गीता)। जलचिकित्सा का विकास इसका उदाहरण है।

प्रसूति सम्वन्धी ज्ञान—गर्भाशय तथा योनि के रोगो को दूर करने के लिए ऋग्वेद मे अग्नि तथा अन्य साधनो का उपयोग वतलाया गया है—

'ब्रह्म-मत्र के साथ एक-मत हुई, राक्षसो का नाश करनेवाली अग्नि इस स्थान से राक्षसो को दूर करे। जो राक्षस रोगरूप होकर तेरे गर्भाशय में रहते है, उनको मारे, दुर्नाम रोग जो तेरी योनि में—गर्भाशय में है उसे नष्ट करे, जो दुर्नाम तेरी योनि

में है उस मासाशी राक्षस को अग्नि सम्पूर्ण रूप से नष्ट करे।[1] हे योषित्! तेरे गर्भाशय में रेत रूप में जाकर रहनेवाले गर्भ को जो राक्षस आदि नष्ट करते हैं; तीन मास के गतिशील गर्भ को जो राक्षस नष्ट करते हैं, दशम मास में उत्पन्न तेरे शिशु को जो राक्षस नष्ट करते हैं, उनको इस स्थान से अग्नि नाश कर दे।[2] हे योषित्! तेरे पादमूलो में जो राक्षस आदि गर्भनाश के लिए चिपके हैं, पति-पत्नी के बीच में जो सोते हैं, जो योनि मे घुसकर प्रविष्ट रेत को चाटते हैं, उन सबको मै नाश करता हूँ।' (ऋ १०।१६२।१-४)।

इन मन्त्रो में कृमि या सक्रमण के गर्भाशय मे पहुँचने के मार्गों का तथा उनसे गर्भाशय को होनेवाली हानियो का उल्लेख है। इसमे अग्नि का उपयोग कहा गया है। आयुर्वेद मे अग्निकर्म का महत्त्व है, क्योकि १—इससे जलाये रोग पुन उत्पन्न नही होते, २—औषध, शस्त्र और क्षार द्वारा असाध्य रोग इससे साध्य होते है, इसलिए अग्निकर्म महत्त्वपूर्ण है (सुश्रुत सू अ १२।३)। राक्षस-कृमियो को मारने तथा उनके विप सक्रमण को नाश करने का सबसे उत्तम उपाय अग्नि ही है। यही इन मन्त्रो मे बताया गया है।

सौर-चिकित्सा—सूर्य की किरणो द्वारा जो चिकित्सा की जाती है, उसे सौर चिकित्सा कहते हैं। कृमि—जिनके लिए वेद और आयुर्वेद मे रक्ष या राक्षस,

---

१. अर्श—'केचित्तु भूयासमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसा शिश्नमपत्यपथ गलतालुमुखनासिकाकर्णाक्षि वर्त्मानि त्वक् चेति।' 'सर्वेषा चार्शसामधिष्ठानं मेदो मास त्वक् च।' (चरक. चि. अ. १४।६)

चिकित्सा—'तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्त्तन हितमर्शसाम्।
दाह क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाग्निना।
अस्त्येतद् भूरितन्त्रेण धीमता दृष्टकर्मणा।
क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रंशस्तत्र सुदारुण.॥

२ 'चतुर्थे (मासे) सर्वांगप्रत्यगविभाग प्रव्यक्तो भवति। गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति। कस्मात् तत्स्थानत्वात्। तस्माद् गर्भश्चतुर्थे मासि अभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते।' (सुश्रुत शा. अ. ३।१८)

'तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवममासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुरादशमान् मासात्।' (चरक शा. अ. ४)

निशाचर या यातुधान शब्द आये है, वे सूर्य से नष्ट होते है। इसी से वेद में कहा गया है—'उद्यन्नादित्य क्रुमीन् हन्ति'—उदित होता हुआ सूर्य क्रमियो को मारता है। सूर्य के प्रति वेदमत्रो मे प्रार्थना है—

'न सूर्यस्य सदृशे मा युयोथा ॥' (ऋक् २।३३।१)
'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥' (ऋक् १।११५।१)

सूर्य के प्रकाश से हमारा कभी वियोग न हो। सूर्य स्थावर-जगम की आत्मा है। उपनिषद् मे सूर्य को प्राण कहा गया है ('आदित्यो ह वै प्राण'—प्रश्न उप० १।५)। भारत में घरो का द्वार बनाने में पूर्व या उत्तर दिशा को ही पसन्द किया जाता है, जिससे सूर्य का प्रकाश पूर्णरूप से पहुँच जाय ('प्राङमुखमुदङमुख वाऽभिमुखतीर्थं कूटागार कारयेत्'—चरक सू० अ० १४।४६', 'प्राग्द्वारमुदग्द्वार वा सूतिकागार कारयेत्'—चरक शा० अ० ८।३३)।

वायु चिकित्सा—वायु, मातरिश्वा भी देवता है। उपनिषद् में कहा गया है कि वायु ही प्राण बनकर शरीर में आकर रहता है ('वायुर्ह वै प्राणो भूत्वा शरीरमाविशत्')। वायु में अमृत का खजाना है, ऐसा ऋग्वेद में कहा गया है (१०।१८६)।

'आ वात वाहि भेषज विवात वाहि यद्रप'।
त्व हि विश्वभेषजो देवाना दूत ईयसे ॥' (ऋक् १३७।३.)

हे वायु! अपनी दवाई ले आओ और यहाँ से सब दोष दूर करो, क्योकि तुम ही सब ओषधियो से युक्त हो।

प्राण और अपान इन दोनो वायुओ के लिए वेद में निर्देश है। प्राण से शरीर मे बल भेजने और अपान से शरीर के पाप-रोगो को बाहर निकालने के लिए कहा गया है—

'द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावत'।
दक्ष ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रप ॥' (ऋ. १०।१३७।२)

ये दो वायु—पुरोवात (प्राण) और पश्चाद्वात (अपान) समुद्र से लेकर अथवा समुद्र से भी अधिक दूर से (सिर से लेकर पैर के नख तक सम्पूर्ण शरीर में) चलती है। इनमें एक वायु (प्राण) तुझ स्तोता के अन्दर बल का सचार करे और दूसरा (अपान) वायु शरीर का पाप बाहर करे। गीता में इन्ही दोनो प्राण, अपान को नियन्त्रित करने को कहा है ('प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ। यतेन्द्रियमनोबुद्धि मुनिर्मोक्षपरायण ॥' 'कोई योगी अपान में प्राण का यज्ञ करता है, दूसरा प्राण में प्राण का यज्ञ करता है—प्राणायाम द्वारा वायु का अवरोध करके प्राण—अपान

को रोकता है' (गीता ४।२९)। मनुस्मृति में कहा गया है कि प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियो के मल उसी प्रकार से नष्ट हो जाते है, जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातुओ के मल नष्ट होते है।

मानस-चिकित्सा—रोग के दो ही अधिष्ठान है—मन और शरीर। मन के दो दोष है—रज और तम। शरीर में रोग होने से पूर्व मन रुग्ण होता है। कई बार शरीर स्वस्थ दीखता है, परन्तु मन ही अस्वस्थ रहता है, (यथा ज्वर के पूर्वरूप मे—'वैचित्र्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम्')। उन्माद, अपस्मार रोगो का सम्बन्ध मन और वुद्धि से ही है (चरक नि अ ७।५)। इसलिए मन को ही मुक्ति तथा बन्धन का कारण माना गया है। इस मन की चिकित्सा का भी उल्लेख वेदो में है—

'दस शाखाएँ जिनकी है ऐसे अपने दोनो हाथो से तुमको स्पर्श करता हूँ। ये मेरे हाथ निरोग करनेवाले है। साथ में अपनी वाणी को भी प्रेरित करता हूँ।' (ऋ १०।१३७।७)

आत्मवल और मन के वल से चिकित्सा होती है। (इसी से सुश्रुत में रोगी के मन को स्वस्थ रखने के लिए कहा है (सु सू अ १९।७–८)। चरक में भी इसी से कथा, आख्यायिका, इतिहास, स्तोत्रपाठ करनेवालो को रोगी के पास रखने के लिए कहा गया है—"तथा गीतवादित्रोल्लापकश्लोकगाथाख्यायिकेतिहासपुराणकुशलानभिप्रायज्ञाननुमताश्च देशकालविद पारिषद्याश्च।" (चरक सू अ १५।७)

मन की महत्ता यजुर्वेद में निम्न प्रकार से वतायी गयी है (यजु ३४)—

मन प्राणियो के अन्दर अमृतरूप है। मन के विना कोई भी कर्म किया नही जा सकता। मन के द्वारा सप्त-होता यज्ञ फैलाया जाता है। (दो कान, दो नाक, दो आँख और एक मुख ये ही सात होता हैं। इनसे पुरुषरूपी यज्ञ मन के द्वारा चलाया जाता है।) उत्तम सारथि जिस प्रकार से घोडो को चलाता है, उसी प्रकार यह मन मनुष्यो को चलाता है।' उपनिषद् में आत्मा को 'रथी, रथवाला कहा गया है, मन को इसका सारथि वताया है, इन्द्रियाँ घोडे है। मन ही इन्द्रियो को वश में रखता है, जिस प्रकार कि सारथि घोडो को कावू मे रखता है। भयकर तूफान आने पर समुद्र में जहाज को जैसे लगर स्थिर रखता है, उसी प्रकार विचारो के ऊहापोह में गोता खानेवाले मन को प्राणायाम ही नियन्त्रित करता है। मन को वश में करने का साधन प्राणायाम है और इन्द्रियो को वश में रखनेवाला मन है। मन के वल से वहुत से रोग नष्ट होते है।

हवन-चिकित्सा—अत्रिपुत्र ने राजयक्ष्मा की चिकित्सा में यज्ञविधान वताया है—

'जिस यज्ञ के द्वारा राजयक्ष्मा पूर्व काल में नाश किया गया है, उसी वेदविहित यज्ञ को आरोग्य को चाहनेवाला रोगी करे।' (चरक चि अ ८।१८९)

यज्ञ-हवन से रोग नाश होते हैं। इसका उल्लेख अथर्ववेद मे है —

'हवन के द्वारा अज्ञात रोग से तथा क्षयरोग से भी तुमको दीर्घ जीवन के लिए छुडाता हूँ (*अथर्व० ३।११।१*)।' यज्ञ से वायु की शुद्धि होती है, जहाँ सामान्य वस्तु नही जा सकती वहाँ सूक्ष्म वायु-धूम पहुँच जाता है। इसी लिए नगरो में पानी के नल बैठाते समय नलो की सन्धि परीक्षा धूम से की जाती है। अत्रिपुत्र ने छाती के स्रोतो में छिपे हुए कफ को निकालने के लिए धूम का विधान किया है। यही एक ऐसी वस्तु है, जो कि सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोतो में पहुँचती है ('लीनश्चेद् दोपशेप स्याद् धूमैस्त निर्हरेद् वुध,—चरक चि अ १७।७७)। इसलिए रोगी के कमरे मे उसके पास वरावर यज्ञ की धूमाग्नि रहनी चाहिए। इससे वायुमण्डल की शुद्धि तो होगी ही, साथ ही रोगी के शरीर में यह सुवासित धूम रोग के कीटाणुओ को नप्ट कर देगा। क्षय रोग में धूम का विशेष महत्त्व है। इसी से अत्रिपुत्र ने वेदविहित यज्ञ का विधान किया है।

यजुर्वेद मे आयुर्वेद

यजुर्वेद के दो भाग है—एक तैत्तरीय शाखा और दूसरी वाजसनेयी शाखा। इनका सम्बन्ध मुख्यत कर्मकाण्ड से है, इसलिए शरीर के अगो के नामो का उल्लेख शत-पथ ब्राह्मण में मिलता है। यजुर्वेद के वर्ण्य विपय का ज्ञान एक मात्र वाजसनेयी सहिता के अध्ययन से हो सकता है। इस सहिता में ४० अध्याय हैं।

ओपधिसूक्त—यजुर्वेद में ओपधियो के लिए वहुतेरे मत्र आये हैं, इनसे स्पष्ट है कि ओपधियो का उपयोग यज्ञकर्म तथा स्वास्थ्य के लिए विशेप होता था। ओषधियो से नाना प्रकार की प्रार्थना की गयी है। ऋग्वेद के मत्र भी इस सहिता मे बहुत आये हैं। यथा—

'ओपधियाँ जो कि तीन युगो से पहले उत्पन्न हुई, उन भरण-पोपण करनेवाली ओपधियो के सौ और सात स्थान हैं, ऐसा मैं जानता हूँ। हे माता ओषधियो (माता के समान स्नेह और रक्षा देनेवाली)! तुम्हारे अपरिमित जन्मस्थान है, तुम्हारे प्रोद्गम असख्य हैं, तुम्हारे कर्म असख्य है। इसलिए तुम मुझको रोगरहित करो।'[1]

---

१ ओपधियाँ अनन्त है, इसका स्पष्टीकरण विनयपिटक-वर्ती जीवक की कथा से स्पष्ट होता है। जब उसके आचार्य ने उसे कुदार देकर तक्षशिला के चारो ओर सात कोस

हे ओषधि ! तुम माता के समान हो, इसलिए हे देवि ! तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुमको मैं घोड़ो, गायो तथा अपने लिए ओषधि रूप मे—रोगनाश करने के लिए देता हूँ। जो फलवाली, जो फलरहित, जो पुष्परहित और जो पुष्पवाली हैं, जिनको वृहस्पति (परमात्मा) ने उत्पन्न किया है, वे मुझे पाप-रोग से छुडायें।[1] हे ओषधियो ! तुमको खोदनेवाला नष्ट न हो, और जिसके लिए मैं खोद रहा हूँ वह व्यक्ति भी नष्ट न हो। दो पैरवाले मानव एव चार पैरोवाले पशु सब रोगरहित हो। हे ओषधि ! तू श्रेष्ठ है, तेरे सब वृक्ष अव शायी हैं, जो हमारा नाश करना चाहता है या करता है, वह तेरे नीचे आये।' (वा० स० १२।७५-७९,८९,९५)

ओषधियो को केवल नाम और रूप से जानने का महत्त्व नही। नाम और रूप से तो ओषधियो को जगल में गाय-भेड चरानेवाले चरवाहे तथा अन्य पर्वत-अरण्यवासी भी जानते है। इनके उपयोग को देश-काल के अनुसार एव प्रत्येक पुरुष की विवेचना करके जो जानता है, वही सच्चा भिषक् है। (चरक सू० अ० १।१२०-१२३)

ओषधियो की महत्ता और उनके प्रति पूज्यभाव पण्डितराज जगन्नाथ के श्लोक मे स्पष्ट है —

तक जाकर ऐसी ओषधि लाने को कहा जिसमें कोई गुण न हो, तब वह घूमकर निराश लौटा और कहा कि ऐसी कोई औषधि नहीं जिसमें गुण न हो। इसी से अत्रिपुत्र ने है कहा—"नानौषधिभूत जगति किंचिद् द्रव्यमुपलभ्यते ता ता युक्तिमर्थं च त तमभिप्रेत्य॥" (चरक) सू. अ. २६।१२।

१. औद्भिद तु चतुर्विवम्—

'वनस्पतिस्तथा वीरुद् वानस्पत्यस्तथौषधि.।
फलैर्वनस्पति पुष्पैर्वानस्पत्य फलैरपि॥
ओषध्य. फलपाकान्ता. प्रतानैर्वीरुध. स्मृता.॥' (चरक. सू. अ. १।७०।७२)

फलवाली ओषधियाँ वनस्पति है, इनमें फूल दृश्य नहीं होता, यथा गूलर, 'तेषा-मपुष्पा. फलिनो वनस्पतय इति स्मृता,—हारीत)। पुष्प आने के पीछे जिनमें फल आता है, वे वानस्पत्य हैं, आम, नारंगी आदि। फल आने पर जिनका नाश हो जाता है, वे ओषधियाँ है, यथा—मूँग, तिल आदि। प्रतानवाली लता आदि वीरुध है, यथा—चमेली-मालती आदि।

'धत्ते भर कुसुमपत्रफलावलीना घर्मव्यथां वहति शीतभवा रुजश्च।
यो देहमर्पयति चान्यसुखस्य हेतोस्तस्मै वदान्यगुरवे तरवे नमोऽस्तु॥'
(भामिनीविलास)

जो वृक्ष फूल-पत्ते और फलो के बोझ को उठाये हुए धूप की तपन और शीत की पीडा सहन करता है, तथा दूसरे के सुख के लिए अपना शरीर अर्पित कर देता है, उस वन्दनीय श्रेष्ठ तरु के लिए नमस्कार है। यही उदात्त भावना वेद मत्रो में है। इन महान भावना का आदिम स्रोत वेद की ऋचाएँ ही है। वेद में ओषधियो को राज्ञी कहा गया है ('या ओषधी सोमराज्ञीर्वह्वी शतविचक्षणा।' यजु १२।९२)। ओषधियाँ माता की तरह रक्षा करती है। जिस मनुष्य को ओषधियो का सम्यक् ज्ञान होता है, उसे ही भिषक् कहा जाता है। राजा लोग जिस प्रकार समिति (आस्थानमण्डप) में एकत्रित होते हैं, उसी प्रकार जिसमे ओषधियाँ एकत्र रहती है वही विप्र मच्चा भिषक् है, और वही राक्षस और रोगो को दूर कर सकता हैं'। (यजु १२।८)

वेद में ओषधियो की माता को इष्कृति (सर्वेषा रुग्णाना निष्कर्त्री) सब रोगो को निकालनेवाली कहकर प्रार्थना की गयी है। 'हे ओषधियो! तुम भी मेरे रोगो को निकालो' (यजु १२।८३)।

'अवपतन्तीरवदन् दिव ओषधयस्परि।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्यति पूरुष॥' (यजु १२।९१)

ओषधियाँ कहती हैं कि आकाश-द्युलोक से आती हुई हम जिस व्यक्ति के पास पहुँच जाती है, वह किसी तरह भी नष्ट नही होता।

दिव्य वैद्य—जो रोगो को जड से नष्ट करता है, राक्षसो को मारता है, वह वेद में दिव्य भिषक् कहा गया है—

'कम न होनेवाले, सदा बढनेवाले रोगबीजो को नष्ट भ्रष्ट करनेवाला और सब राक्षसो को नीचे की ओर से निकालनेवाला है, वह उपदेशक पहला दिव्य वैद्य है।' (यजु १६।५)

अथर्ववेद में आयुर्वेद

अथर्ववेद में आयुर्वेद का विषय विशेष विस्तार से आया है। अथर्ववेद का सम्बन्ध ही आयुर्वेद उपाग से है—

---

१ इसी अर्थ को अत्रिपुत्र ने भी कहा है (चरक सू अ १।१२०-१२३)

'तत्र भिषजा पृष्टेनैव चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। वेदो ह्याथर्वणो दानस्वस्त्ययनबलिमङ्गलहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासमन्त्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां प्राह। चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते ॥"

(चरक सू अ ३०।२१)

काश्यप संहिता में औषध और भेषज का भेद बताते हुए कहा है कि दीपन आदि गुणवाली वस्तुओं के लिए औषध शब्द आता है, हवन, व्रत, तप, दान रूपी शान्ति-कर्म के लिए भेषज शब्द आता है (काश्यपसंहिता, औषध-भेषजेन्द्रियाध्याय)। अथर्ववेद में शान्ति कर्म विशेष रूप से है। इसी से कुछ सज्जन इसका सम्बन्ध जादू-टोने से लगाते हैं। शान्ति कर्म—स्वस्ति-पाठ आदि भी चिकित्साकर्म है। सूतिकागार में प्रवेश करने से पूर्व अथवा शस्त्रकर्म करने से पूर्व स्वस्तिवाचन, शान्तिपाठ करने का विधान है, चरक शा अ ८।३५, सुश्रुत चि अ ७।३०)।

अथर्ववेद में वनस्पतियों का स्पष्ट नामोल्लेख, कृमि सम्बन्धी जानकारी, शल्य-चिकित्सा और प्रसूतिविज्ञान आदि विषय मिलते है। अथर्ववेद का सम्बन्ध मनुष्य-जीवन के साथ क्रियात्मक रूप में होने से आयुर्वेद का सम्बन्ध इसी से विशेष हैं।

कृमिविज्ञान—कृमियो से अभिप्राय रोगोत्पादक सूक्ष्म जीवाणुओ से है, जो कि सामान्यत आँख से दृश्यमान नही है। ये मनुष्य को हानि पहुँचाते है। इनमें से बहुतेरे सर्प—सर्पणशील, रेंगनेवाले है, इनको नष्ट करने के लिए कहा गया है। ये कृमि पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में रहते हैं। (यथा—यजुर्वेद में कहा गया है—"नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु। ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्य सर्पेभ्यो नम ॥' १३।६) इन कृमियों को नाश करने का उल्लेख अथर्ववेद मे विशेष रूप से है—

'रक्त और मास को दूषित करनेवाले जन्तुओ को बहुत बडे मारने के साधनो से मारता हूँ। जो जन्तु मेरे द्वारा बनायी औषधी आदि से पीडित है या जो नही पीडित है, वे सब सूख गये है। जो बच गये, पहले नही मरे, उनको मन्त्र के बल से मारता हूँ जिससे इनके बीच में कोई भी न बचे।' (अथर्व २।३१।३)

अनुक्रम से आन्त्रो में उत्पन्न, सिर में उत्पन्न और पीठ में उत्पन्न कृमियो को नष्ट करता हूँ। जो कृमि नीचे जाने के स्वभाववाले, या नाना मार्गों में पहुँचते हैं, इस प्रकार के नाना प्रकार के कृमियो को मन्त्र से मारता हूँ। पर्वत आदि में जो कृमि है वे हमारे शरीर में व्रण-मुख से या अन्न-पानादि द्वारा प्रविष्ट हो गये है, उन सबको मन्त्र से मारता हूँ।' (अथर्व २।३१।४-५)

'उदय होता हुआ सूर्य अपनी किरणो से कृमियो को मारे। अस्त होता हुआ

१ जो गायें धूप में बाहर चरने जाती हैं, अधिक समय धूप में बिताती हैं, उनको क्षयरोग नहीं होता। भारतवर्ष में आधुनिक दुग्धशाला की प्रथा नहीं, गायें चरागाह में देहातों में बाहर रहती हैं, इसलिए भारत में गाय के दूध से होनेवाले क्षयरोग का रोगी अभी नहीं मिला। इस दृष्टि से गायों को बाहर खुले मैदान में भेजना जरूरी है।

२ कृमि के मुख के पास दो लम्बे नोकीले प्रवर्धन होते हैं (जैसे कि झींगुर के होते हैं), इनसे तथा अपने डंक से यह मनुष्य के शरीर में प्रवेश करते हैं, उसके साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं।

का, सब स्त्री-जाति कृमियो का सिर पत्थर से पीसता हूँ, इनके मुख को अग्नि से जलाता हूँ।' (अथर्व ५।२३।१,३,५)

'येषा पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णिपुरोमुखा.
ये शाला. परिनृत्यन्ति साय गर्दभनादिनः ।
कुसूला ये च कुक्षिला. ककुभा करुमा स्त्रिभाः ।
तानोषधे ! त्व गन्धेन विषूचीनान् विनाशय ॥' (अथर्व ८।६।१५, १०)

'जिन कृमियो के पैर पीछे को और एडी आगे को तथा मुख सामने है, ऐसे कृमियो को नष्ट करता हूँ। जो कृमि कुछ स्थूल, जो कृमि वढे हुए पेटवाले, जो कृमि सुख के दुश्मन—सुखनाश करनेवाले है, स्त्रिभा-रोग को उत्पन्न करते है, जो सायकाल में गधे के समान शब्द करते है (यथा—मच्छर, मलेरिया का मच्छर सायकाल में ही आक्रमण करता है), जो कृमि सायकाल के समय गोशाला, भोजनशाला, पाक-शाला आदि स्थानो में नाचते है, उन सवको तथा उडकर रोगो को लानेवाले सव दुष्ट जन्तुओ को, हे ओपधि ! तू अपनी गन्ध से नष्ट कर दे।'

इसलिए वस्तुओ को कृमिरहित करने के लिए सुगन्धित द्रव्य का प्रयोग किया जाता है, गरम कपडो को कीडो से वचाने के लिए प्राचीन काल मे चन्दन, कूठ, कपूर, देवदारु का उपयोग होता था, और आज फिनायल की गोली वरती जाती है। अत्रिपुत्र ने वच्चो के वस्त्रो को इसी लिए सुगन्धित द्रव्यो से धूप देने का विधान किया है (चरक वि अ ८।६१)। सूतिकागार मे भी होम का विधान है (चरक शा अ ८।४१)।

अथर्व वेद में वनस्पतियाँ—अथर्ववेद मे कुछ वनस्पतियो का उल्लेख नाम से है, इनमें कुछ ओषधियाँ स्पष्ट है और वहुत-सी अनिर्णीत है। वनस्पतियो का उपयोग अलग-अलग स्वतत्र रूप में ही मिलता है, इनको मिश्रित रूप में नही वरता जाता था।

पिप्पली—पिप्पली ओपधि जीवन के लिए उपयोगी है। पिप्पली कहती है कि जो मनुष्य हमारा उपयोग करता है, वह कभी नष्ट नही होता। पिप्पली वातरोग, और उन्माद अपस्मार (जिनमें चित्त उत्क्षिप्त हो जाता है) की उत्तम ओपधि है। (अथर्व ६।१०९।१–३)

इसी अर्थ को अत्रिपुत्र ने स्पष्ट किया है, पिप्पली 'आपातभद्रा' है, सव प्रकार से मगलकारी है, इसे सव ऋपियो ने वरता है, किसी भी रूप में यह हानि नही कर सकती। फिर भी इसका अति उपयोग निषिद्ध है।

पिप्पली कटु रसवाली होने से विपाक मे मधुर है, गुरु है, मध्य दर्जे में स्निग्ध और उष्ण है, शरीर में क्लेद उत्पन्न करती है, वैद्यो को मान्य है, यह जल्दी ही

शुभ-अशुभ परिणाम करती है, ठीक प्रकार से प्रयोग करने पर नितान्त कल्याण-कारी है। अधिक उपयोग से यह दोष सचय को उत्पन्न करती है—निरन्तर इसका उपयोग भारी और प्रक्लेदी होने से कफ को कुपित करता है। गरम होने से यह पित्त को दूषित करती है, वात का भी शमन नही करती है क्योकि इसमें स्नेह कम होता है, गरमी भी कम होती है। पिप्पली योगवाही है (जिस वस्तु के साथ दी जाती है, उसके गुण को बढाती है)। इसलिए पिप्पली का अधिक सेवन नही करना चाहिए (पिप्पली का अति प्रयोग मसाले आदि के रूप में खान-पान में निषिद्ध है)। (चरक-वि० अ० १।१६)

अपामार्ग—इसको देहात में 'चिरचिटा' या 'ओगा' कहते है। अथर्ववेद की यह ओषधि अवश्य महत्त्वशाली है, इसी से अत्रिपुत्र ने अपने दूसरे अध्याय का प्रारम्भ 'अपामार्ग-तण्डुलीय' अध्याय से किया है।

> 'क्षुधामार तृष्णामार तथा अनपत्यताम्।
> अपामार्ग! त्वया वय सर्वं तदपमृज्महे ॥
> अपामार्ग ओषधीना सर्वासामेक इद् वशी।
> तेन ते मृज्म आस्थिमय त्वमगदश्चर ॥' (अथर्व. ४।१७।६-८)

अपामार्ग क्षुधा, तृष्णा, अनपत्यता में प्रयुक्त होता है (अपामार्ग के चावलो की खीर खाने से भूख और प्यास नही लगती)। सम्पूर्ण ओषधियो की अपेक्षा अपामार्ग के ही ये काम होते हैं।

अत्रिपुत्र ने शिरोविरेचन-द्रव्यो में अपामार्ग को सर्वश्रेष्ठ कहा है ('प्रत्यक् पुष्पी शिरोविरेचनानाम्'—सू० अ० २५)। पुत्रोत्पत्ति के लिए अपामार्ग का उपयोग आयुर्वेद ग्रन्थो में है—'शिफा बर्हिशिखायास्तु क्षीरेण परिपेषिताम्। पिबेद् ऋतुमती नारी गर्भधारणहेतवे।' शोढल, पृष्ठ ६१३। अपामार्ग के बाल को दूध के साथ पीसकर ऋतुमती स्त्री गर्भ धारण के लिए पिये। भूख को नष्ट करने के लिए भी इसका उपयोग है। दूध और गोह के मास-रस में अपामार्ग के चावलो से बनाया गया पायस भूख को नष्ट करता है। (चरक० सू० अ० २।३३)

पृश्निपर्णी—(पिठवन)—'हे पृश्निपर्णी! तू न दीखनेवाले, खून को पीनेवाले, उन्नति को रोकनेवाले, गर्भ को खाने या ग्रहण करनेवाले रोग को दूर कर, सहन कर।' (अथर्व २।२५।३)

इस मत्र से उन रोगो के उल्लेख का पता लगता है, जिनका सम्बन्ध रक्त से है,

रक्त स्राव या जिनमे रक्त नही बढता उन रोगो मे पृश्निपर्णी का उपयोग किया जाता है। आयुर्वेद मे पृश्निपर्णी दशमूल, लघुपचमूल की एक ओषधि है। रक्तस्तम्भन के लिए तथा निर्बलता को दूर करने के लिए इसका उपयोग है। (चरक० सू० अ० २।२१)

रोहिणी—(मासरोहिणी)—रोहिणी नामक जो वनस्पति है, उससे मासादि की शीघ्र वृद्धि होती है। मज्जा से मज्जा, मास से मास, चर्म मे चर्म, अस्थि से अस्थि इस वनस्पति द्वारा बढते हैं। यदि शत्रु का शस्त्र लगने से अथवा पत्थर लगने से व्रण हुआ हो तो इस वनस्पति से शीघ्र ठीक होता है, जिस प्रकार कि उत्तम तक्षक (बढई) रथ के अगो को ठीक करता है, उसी प्रकार से रोहिणी वनस्पति शरीररूपी रथ को शीघ्र ठीक करती है। (अथर्व ४।१२)

"तस्मान्मासमाप्यायते मासेन भूयस्तरमन्येभ्य शरीरधातुभ्यस्तथा लोहित लोहितेन, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्जया, शुक्र शुक्रेण, गर्भस्त्वामगर्भेण।'

वेद के इस मत्र को अत्रिपुत्र ने बहुत ही सुन्दरता से स्पष्ट किया है —

'सर्वदा सर्वभावाना सामान्य वृद्धिकारणम्'—समान-समान को बढाता है, इसी नियम से मास मास से अधिक बढता है, रक्त रक्त से, मेद मेद से, वसा वसा से, अस्थि अस्थि से, मज्जा मज्जा से, शुक्र शुक्र से बढता है, गर्भ आम गर्भ से बढता है। इस अर्थ में रोहिणी नामक ओषधि प्रत्येक वस्तु का रोहण करती है।[1]

अनेक ओषधियाँ—

'यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षा शिखण्डिन.।
तत् परेता अप्सरसः प्रति बुद्धा अभूतन ॥
यत्र व· प्रेंखा हरिता अर्जुना उत।
यत्राघाटाः कर्कय· सवन्ति ॥
तत्परेता अप्सरसः प्रति बुद्धा अभूतन ॥
एयमगन्नोषधीना वीरुधा वीर्यावती।
अजभृग्यराटकी तीक्ष्णशृंगी व्यृषतु ॥' (अथर्व. ४।३७।४-६)

जहाँ पर अश्वत्थ (पीपल), न्यग्रोध (बरगद) ये महावृक्ष अपने पत्रो के साथ

---

१. 'रोहिण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्यो रोहणी। रोहयेदमरुन्धति।' (अथर्व. ४।१२।१) इस मत्र में रोहिणी मासरोहिणी के लिए कहा गया है।

प्रसन्नता से रहते है, अर्जुन, पिलखन, अघाट, कर्करी, अजशृंगी, अराटकी, तीक्ष्णशृंगी ये वृक्ष एव वनस्पतियाँ रहती हैं, वहाँ पर पानी में चरनेवाले विपजन्तु नही रहते।

सुश्रुत में पानी की दुर्गन्ध को दूर करनेवाली कुछ वनस्पतियों का उल्लेख है ('प्रसादन च कर्तव्य नागचम्पकोत्पलपाटलापुष्पप्रभृतिभिश्चाधिवासनमिति'—सु० अ० ४५।१२)। ये सब पुष्प बागो के हैं, वेद के वृक्ष जगल के हैं, जगल में इन वृक्षो के पत्तो से पानी स्वच्छ होता है। इन वनस्पतियो से पानी में फैलनेवाले जन्तु नष्ट होते हैं।

किलास कुष्ठ रोग का ही एक रूप है—कुष्ठ का अर्थ कुत्सित रूप-वर्ण है। पलित वालो का श्वेत होना, किलास—श्वेत कुष्ठ (श्वित्र) इन रोगो को श्यामा ओपधि नष्ट करती है। 'त्वचा के समान रग करनेवाली श्यामा ओपधि पृथ्वी मे उत्पन्न हो गयी है। यह इस रोग के रूप को ठीक करके फिर से पूर्व की भाँति कर दे।' (अथर्व० १।२।४)

श्यामा के सिवाय रामा, कृष्णा, असिक्नी ये तीन ओपधियाँ किलास-पलित (श्वेत वर्ण या श्वेत बिन्दु, सफेद छोटे-छोटे दाग जो त्वचा में होते हैं) को नष्ट करती है।[1]

'हे रोहिणी! तुम फैलनेवाली हो, स्तम्भ रूप हो, एक शुग—एक शाखा-वाली हो, प्रतानोवाली हो, अशुवाली हो, कण्ठोवाली—शाखावाली हो, शाखा-रहित हो, वीरुध रूप हो, समस्त दिव्य गुणो से युक्त हो, पुरुप को जीवन देनेवाली हो।' (अथर्व० ८।७।४)

'तेरे हृदय की जलन और पीलापन सूर्य के पीछे चला जाय। गौ के अथवा सूर्य के उस लाल रग से तुझे सब प्रकार से हृष्ट-पुष्ट करते हैं। लाल रगो से तुझको दीर्घ आयु के लिए घेरते हैं, जिससे यह निरोग हो जाय और पीलक रोग से मुक्त हो जाय। जो दिव्य लाल रग की गाय है और जो लाल रग की किरणें है उनसे सुन्दरता

---

१ 'नक्त जातास्योपधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इद रजनि रजय किलासं पलित च यत्॥
किलास च पलित च निरितो नाशया पृषत्।
आ त्वा स्वो विशता वर्ण परा शुक्लानि पातय॥'
'पुष्पवती प्रसूमती फलिनीरफला उत।
समातर इव दुहामस्मा अरिष्टतातये।' (अथर्व ८।७।२७)

और वल के अनुसार तुझे घेरते हैं। तेरे पीलक रोग को तोते और पौधों के रग धारण कराते हैं और तेरा फीकापन हम हरी वनस्पतियों मे रख देते हैं।' (अथर्व० १।२२।१-४)

लाल रग आरोग्य देता है। लाल रग की गाय अच्छी होती है ('रोहिणीनचवा कृष्णामूर्ध्वशृङ्गीमदारुणम्—चरक० चि० अ० २।३।४)। लाल रग स्वास्थ्य के लिए उत्तम है। हरा और पीला रग जो कि पित्त विकार को बताता है, रक्त की कमी का सूचक है, वह सूर्य की किरणो से दूर होता है। आज जो महत्त्व सूर्य चिकित्सा–अल्ट्रावायलेट किरणो तथा इन्फ्रारेड किरणो का है, वह अथर्ववेद में वर्णित है। इसी से प्राचीन आर्यसभ्यता मे स्नान करके आर्द्र शरीर, नग्न शरीर से सूर्य को अर्घ देने की प्रथा है, इसी लिए कहा गया है—'आरोग्य भास्करादिच्छेत्' सूर्य से स्वास्थ्य की कामना करनी चाहिए।

किलास वा कुष्ठ रोग की चिकित्सा—इसके लिए श्यामा ओषधि का उल्लेख पहले आ चुका है। परन्तु अन्य ओषधियो का भी उपयोग इसमे होता था—

'अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि।
दूष्याकृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥
आसुरी चक्रे प्रथमेद किलासभेषजमिदं किलासनाशनम् ।
अनीनशत् किलासं सरूपामकरत्त्वचम् ॥
सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता।
सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥
श्यामा सरूपङ्करणी पृथिव्या ऊध्यद्भृता।
इदं सु प्रसाधय पुनारूपाणि कल्पय ॥' (अथर्व. १।२३।२४)

किलास के तीन नाम हैं—दारुण, अरुण और श्वित्र। दोष के रक्त मे आश्रित होने से रग लाल होता है मेद में आश्रित होने से श्वेत वर्ण होता है, मास में आश्रित होने से ताम्र वर्ण होता है—

'दारुणं चारुणं श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः।
विज्ञेयं त्रिविधं तच्च त्रिदोषं प्रायशश्च तत् ॥
दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताम्रं माससमाश्रिते
श्वेतं मेदःश्रिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तरम् ॥' (माधव)।

केशवर्धन—अथर्ववेद मे बालो को बढाने और मजबूत करने के लिए ओषधियो से प्रार्थना की गयी है। ओषधियो को खोदकर इस काम के लिए लाया जाता था—

हे ओषधि ! जिसे जमदग्नि ने खोदा था उसी बालों को बढानेवाली ओषधि को मैं खोदता हूँ। बाल नड (नडसर) की तरह बढें । नडसर काटने पर बहुत जल्दी बढता है और बहुत लम्बा-सीधा जाता है। बाल भी बहुत लम्बे बनें।' (अथर्व० ६।१३७–१–३)

क्लीवत्व नाश—वेद में ओषधि से प्रार्थना की गयी है कि हे ओषधि ! इस पुरुष की क्लीवता को नष्ट कर दो—

'त्व वीरुध श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे !
इम मे अद्य पूरुष क्लीवमोपशिन कृधि ॥
क्लीव कृध्योपशिनमथो कुरीरिण कृधि ।
क्लीव क्लीव त्वाकार वध्रे वध्रि त्वाकरमरसारसम् ।
कुरीरमस्य शीर्षाणि कम्ब चाधि निदध्मसि ।' (अथर्व. ७।१३८-१-२-३)

हे ओषधे ! तुम सबसे श्रेष्ठ वीरुध हो—इस पुरुष की क्लीवता को नष्ट कर दो। क्लीवता को नष्ट करके पुरुष को कुरीर करो।[1] कुरीर से 'कुरीरशृंगी' (कर्कटशृंगी) लेनी चाहिए। वैसे कुरीर पक्षी चटक जाति का है। चटक में वृष्यता रहती है। कुरीरशृंगी भी क्लीवतानाशक है, यथा—'कुरीरशृंग्या कल्कमालोड्य पयसा पिबेत्। सिताघृतपयोऽन्नाशी स नारीषु वृषायते ॥' (सग्रह ५०) तृप्ति चटकमासाना गत्वा योऽनुपिबेत्पय ।' (चरक चि अ २।१।४६)

चटक-मास खाकर पीछे दूध पीने से वृष्यता आती है। यह कुरीर क्लीवता को नष्ट करता है।

सौभाग्य वर्धन—ओषधियों के विषय में कहा गया है कि हे ओषधि ! तुम सुभग करो, तुम्हारे सैकडो प्रतान है, तेंतीस नितान हैं और हजारो पत्ते हैं।

हे ओषधि ! तुम फलवाली, भूरे रग की कल्याणकारी हो। इस पति और मुझ पत्नी को समान हृदयवाले करो। जिस प्रकार नकुल साँप को काटकर टुकडे

---

१ कुरीर पक्षी से चटक ही लिया जाता है, वैसे इसका स्पष्टीकरण टिटिहरी डाक्टर अग्रवाल ने किया है, यथा—

'बायें कुरारी दाहिन कूचा, पहुँचै भुगुति जैसा मनरूचा। (पद्मावत)

बायीं ओर कुररी और दाहिनी ओर क्रौञ्च पक्षी बोलने लगे। इससे ज्ञात होता था कि मन में जो अभिलाषा थी वैसा भोग प्राप्त होगा।

आत्रो में (उदावर्त्त के कारण वायु रुक जाने से) जो मूत्र रुका है, वाहर नही आता, अथवा गवीनीयों में या वस्ति, मूत्राशय में जो मूत्र रुका है, वह मूत्र इन स्थानों से निकलकर वाहर आये। जिस प्रकार पल्लव में रुके हुए जल को पल्लव को विदीर्ण करके वाहर कर देते है, उसी प्रकार मेहन से रुके मूत्र को मैं वाहर कर देता हूँ। (प्रोस्टेट ग्रन्थि की वृद्धि के कारण जव मूत्र रुक जाता है, तव प्रोस्टेट ग्रन्थि को काटकर मूत्र निकलने का मार्ग किया जाता है, मेहन शब्द से प्रोस्टेट वाला भाग अभिप्रेत है।) रोग के कारण मूत्राशय मे जव मूत्र रुक जाता है, तव मूत्राशय को विदीर्ण करके मूत्र वाहर करना होता है (यथा, मूत्राशय में अश्मरी होने पर)। जिस प्रकार से धनुष से निकले वाण विना किसी रोक-टोक के सीधे अपने लक्ष्य पर जाते हैं, उसी प्रकार से तुम्हारा मूत्र वहे, उसमें कुछ भी रुकावट न हो।

रक्त सचार—शरीर में दो प्रकार की रक्तवाहिनियाँ हैं, एक तो शुद्ध लाल रक्त को वहाती है और दूसरी दूषित नीले रक्त का वाहन करती है। इन दोनो प्रकार की वाहिनियों के स्वस्थ रहने के लिए प्रार्थना की गयी है।

'अमूर्या यान्ति योपितो हिरा लोहितवासस ।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चस ॥' (अथर्व. १।१७।१.)

स्त्री सम्वन्धी ये दृश्यमान लाल रक्त की निवासभूत नाडियाँ–सिराएँ रोग के कारण विकृत हो गयी है, ये शिराएँ इस चिकित्सा कर्म से नष्ट होकर स्वस्थ रूप मे रहें। जिस प्रकार कि भाई-रहित वहिन पितृकुल में रहती है। (मनुस्मृति में कहा है कि जिस कन्या का भाई न हो उनसे विवाह न करे, क्योंकि इस विवाह से आगे कन्या ही होने की सम्भावना है।)

अव धमनी की प्रार्थना की जाती है—'शरीर के अधोभाग में रहनेवाली शिरा, तुम शस्त्र आदि से निकले हुए रक्त को रोककर वही रहो—रक्त वन्द हो जाये। शरीर के ऊर्ध्व भाग की शिरा का भी रक्त वन्द हो जाय, शरीर के मध्य भाग की भी धमनी का रक्त वन्द हो जाय। कनिष्ठिका, सूक्ष्मतर (कैपीलरी, केशिका) धमनियों में तथा वडी धमनियो में—शिराओं में रक्त वन्द हो जाय।'

'शत सख्यावाली धमनियों तथा हजार सख्यावाली शिराओं (अनन्त शिरा-धमनियों) में, तथा इनकी मध्यवर्त्ती धमनी-शिराओं में (इन दोनो को मिलानेवाले भाग के) रक्तस्राव वन्द हो जायें, तथा जो वची हैं, वे सव पूर्व की भाँति स्वस्थ रहें।' (अथर्व० १।१७।२–३)

शरीर में धमनी-नाडी-सिरा शब्द जिस प्रकार आधुनिक चिकित्साशास्त्र में पृथक्

हैं, उस प्रकार से प्राचीन साहित्य में पृथक् स्पष्ट नही है। प्रकरण के अनुसार इनका अर्थ करना होता है। (यथा आर्तव शब्द एव ऋतु शब्द का प्रकरण के अनुसार अर्थ करना होता है, आर्तव शब्द ऋतुस्राव और स्त्रीबीज दोनो के लिए आता है।) उपनिषदो में नाडियो की सख्या बहुत बतायी गयी है ('हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशत नाडीना तासा शत शतमेकैकस्या द्वासप्ततिर्द्वासप्तति प्रतिशाख नाडी-सहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥'—प्रश्न० ३।६)।

अगो के नाम—अथर्ववेद में शरीर के निर्माण के सम्बन्ध में पूछा गया है, तथा इनका उत्तर भी दिया गया है। इस प्रकार से प्राय सब अगो के नाम आ गये हैं। यथा, 'इस पुरुष शरीर मे किसने एडियो को भरा ? किसने मास और गुल्फ बनाये ? किसने अँगुली और किसने पेशनी (पाददल) बनाये ? किसने इन्द्रियाँ बनायी ? किसने पुरुष के गुल्फो को नीचा बनाया और जानुसन्धि को ऊपर किया ? किसने जघाएँ बनायी और जानुसधि किसने बनायी ? इस कबन्ध—छाती और पेट को चार ओर से किसने जोटा (दो हाथ और दो टाँग) ? श्रोणी और ऊरू को किसने बनाया, जिससे यह सन्धियाँ मजबूत बनी है ? वे देव कौन और कितने थे, जिन्होंने पुरुष की छाती और ग्रीवा को बनाया ? स्तनो को, कोहनियो, स्कन्धो पीठ को किसने बनाया ? इस पुरुष के मस्तिष्क को, माथे को, ग्रीवा को, कपाल को कौन बनाकर आकाश में चला गया ? किसने इसमें रूप बनाया ? किसने इसको महत्ता या नाम दिया ? किसने इसे बोलने की शक्ति दी ? किसने पुरुष के चरित्र को बनाया ? किसने इसमें प्राणो का सचार किया ? किसने इसमें अपान और व्यान को बनाया ? समान वायु को किसने इसमे प्रतिष्ठित किया ? किसने इस पुरुष के वीर्य का आधान किया—जिससे वह आगे सतान परम्परा का विस्तार करता रहे। मेधा, सत्य को किसने इसमे बनाया ?' (अथर्व–१०।२)

रोगों के नाम—अथर्ववेद में भिन्न-भिन्न अगो में होनेवाले रोगो के नाम भी मिलते है, यथा—

सिर की पीडा, सिर के रोग, कर्णशूल, रक्त की कमी को, सिर के सब रोगो को बाहर निकालता हूँ। कानो से, कानो के अन्दर के भाग में से कर्णशूल को निकालता हूँ। मुख में जो यक्ष्मा रोग बढ रहा है, उसे निकालकर बाहर करता हूँ। अगभेद, अगो के ज्वर–सम्पूर्ण अगो के पीडाकारक रोग, सिर के सब रोगो को बाहर निकाल देता हूँ। जो रोग ऊरु में, गवीनियो में फैलता है, उस रोग को तेरे अन्दर के अगो से बाहर करता हूँ। तेरे अगो में से हरे रग को, उदर के अन्दर से यक्ष्मा रोग को बाहर

करता हूँ। उदर से, क्लोम से, नाभि से, हृदय से रोगों के सब विषों को निकालता हूँ। जो बहनेवाले रोग तेरे अंगों को पीड़ित करते हैं उन सबके विष को तेरे शरीर से बाहर करता हूँ। सिर, कपाल, हृदय को जो रोग पीडित करते हैं, उन शिरोरोगों को उदय होता हुआ सूर्य अपनी किरणों से दूर करे।"[1] (अथर्व–९।१३।२२)

अथर्ववेद में कुछ अंगों का उल्लेख स्पष्ट है, और कुछ का अभी निश्चित अर्थ नहीं मिला, यथा—'इन्द्राणी भसद् वायु पुच्छ पवमानो बाला।' (अथर्व ९।१२।८) 'धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जघा गन्वा अप्सरस कुष्टिका अदिति शफा।' (९।१२।१०) 'क्षुत् कुक्षिशिरा वनिष्ठु पर्वता प्लाशय।' (९।१०।१२) इनका शतपथ ब्राह्मण में स्पष्टीकरण करने का यत्न किया गया है, परन्तु फिर भी निश्चित रूप से निर्णय नहीं हुआ। कर्मकाण्ड में सामान्यत अंगों का उल्लेख है, परन्तु बहुत विस्तार और बारीकी से नहीं हैं।

इसके सिवा अथर्ववेद में निम्न काण्ड तथा मंत्र आयुर्वेद के सम्बन्ध में देखे जा सकते हैं—

रोग के विषय में—तक्म (ज्वर) रोग का वर्णन (६।२१।१-३), इसके भेद सतत, शारद, ग्रीष्म, शीत, वार्षिक, तृतीयक आदि का निर्देश (१।२५।४, ५।२२।१-२४), मन्या, गण्डमाला का भेद, ग्रैव्य गण्डमाला, स्कन्ध गण्डमाला और इसके भेद (६।२५-१-३), अपची के भेद (६।८३।१-३), शीर्षामय, कर्णशूल, विलोहित, अंगभेद, अंगज्वर, बलास, हरिम, यक्ष्मा, हृदयगत यक्ष्मा, अलजी आदि रोग (९।१३।१-२२) उसमें मिलते हैं।

रोगप्रतीकार के विषय में—मूत्राघात में शर-शलाका द्वारा मूत्र निकालना ('यथेषुका परापतदवसृष्टाधिधन्वन। एवा ते मूत्र मुच्यता बहिर्बालितिसर्वकम्॥' तुलना कीजिए—'मूत्रे विबद्धे कर्पूरचूर्णं लिङ्गे प्रवेशयेत।' यह चूर्ण दूर्वा या सरकण्डे से प्रविष्ट किया जाता है—आयुर्वेदसंग्रह), जल से धोने पर व्रण का उपचार (५।५७।१–३), अपचित व्रण में लवण का उपयोग, अपचित पिडिकाओं का शलाका वेधन (७।१०।१-२, ७।७८।१–२), नाना कृमियों का वर्णन (२।३२।१–६), हृदय रोग में हिमालय की नदियों के जल का व्यवहार (६।२४।१–३), आरोग्य वर्णन (२।१०।१-८) अथर्ववेद में है।

---

१ विस्तार के लिए—'रसयोगसागर' का उपोद्घात देखा जा सकता है।

ओषधियों के विषय में—वल्मीक में मिलनेवाली ओषधि विशेष से अतिसार, अतिमूत्र आदि रोग शान्ति (२।३।१–६); हरिणश्रृंग और उसके चर्म से क्षय, कुष्ठ, अपस्मारादि नाशन (३।७।१–३), शतवीर्या, दूर्वा से दीर्घायुष्य, नाना रोग शान्ति (३।११।१–८), वृषा शुष्मादि ओषधियों से वृष्यत्व (४।४।१–८); कुष्ठ ओषधि का वर्णन (६।९५।१–३); गुग्गुल धूप की गन्ध से यक्ष्मनाशन (१९।३८।१–३, तुलना कीजिए—सुश्रुत सूत्र० अ० ५।१८ मे दिये धूपन द्रव्यों में गुग्गुल के नाम से), विष से ही विष का प्रतीकार (७।८८।१, तुलना कीजिए—'तस्माद् दंष्ट्राविष मौल हन्ति मौल च दंष्ट्रिजम्।' चरक० चि० अ० २३।१७), विष दोहन विद्या से विष का प्रतीकार (८।५।१–१६), मृत्युभय की निवृत्ति लिए दर्भ-मणि बन्धन (१९।३२।१–२) आदि विषय अथर्ववेद मे आये है।[1]

अथर्व का सिर तथा अयोध्या नगरी—वेद में सिर की विशेष महत्ता है; अत्रि-पुत्र ने सिर को सब अंगो से श्रेष्ठ कहा है ('यदुत्तमागमङ्गाना शिरस्तदभिधीयते'—चरक)। इसी सिर को 'देवकोश' कहा गया है।

[अ–थर्व–] स्थिरचित्त योगी अपने मस्तिष्क के साथ हृदय को सीता है। सिर में मस्तिष्क के ऊपर अपने प्राण को भेज देता है। यह ही अथर्व का सिर है, जिसको देवो का कोश कहा जाता है, इसकी रक्षा प्राण, मन और अन्न करता है। अमृत से परिपूर्ण इस नगरी को जो जानता है, उसको ब्रह्मा और इतर देव चक्षु, प्राण और पूजा द्रव्य देते हैं। आठ चक्र और नौ द्वारो से युक्त यह देवो की अयोध्या नगरी है, इसमें तेजस्वी कोश है वही देदीप्यमान स्वर्ग है। तीन आरो से युक्त और तीन स्थानो पर रहे हुए उस तेजस्वी कोश मे जो पूज्य आत्मा है, उसको ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं।

इस पुरुषशरीर को अयोध्या रूप में वर्णित किया गया है, जिससे कोई भी लड नही सकता (न योद्धुं शक्या अयोध्या); इस अयोध्या नगरी में आठ चक्र और नौ द्वार है, यह देवताओं की नगरी है, इसमें हिरण्य का कोश है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, आज्ञा आदि आठ चक्र हैं, दो आँखें, दो कान, दो नाक, मुख, उपस्थ और गुदा ये नौ द्वार हैं। इसमें आँख-कान, मन, चन्द्रमा, प्रजापति आदि देवता रहते है, हिरण्य ज्ञान है। शरीर इस तरह ही अयोध्या है, कोई भी रोगरूपी शत्रु इस नगरी से नही लड सकता। (अथर्व० १०।२।३२)।

---

१. विस्तार के लिए—'अथर्ववेद संहिता' श्रीपाद दामोदर सातवलेकर प्रकाशित तथा काश्यप संहिता को देख सकते है।

अथर्व-चिकित्सा—अथर्वा ऋषि ने इस चिकित्सा को कहा है, यह चिकित्सा चार प्रकार की है, आथर्वणी, आगिरसी, दैवी और मानुषी। इनमें मानुषी चिकित्सा ओषधियो से सम्बन्वित है।" दैवी चिकित्सा–वायु-जल-पृथ्वी आदि से सम्बन्ध रखती है। आगिरसी चिकित्सा मानसिक शक्ति से सम्बन्ध रखती है। आथर्वणी चिकित्सा जप-होम-दान-स्वस्तिवाचन आदि से सम्बन्ध रखती है।

'आथर्वणीरागिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत ।
ओषधय प्रजायन्ते यदा त्व प्राण जिन्वसि ॥'

हे प्राण! जब तक तू प्रेरणा करता है, तब तक ही आथर्वणी, आगिरसी, दैवी और मानुषी ओषधियाँ फल देती है। प्राण रहने पर ही ओषधियो से लाभ होता है।

'या ते प्राण प्रिया तनूर्या ते प्राण प्रेयसी ।
अथो यद् भेषज तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥'

हे प्राण! जो तेरा प्रिय शरीर है और जो तेरे प्रिय भाग है तथा जो तेरी औषध है, उसे दीर्घजीवन के लिए हमको दे।

प्राण या जीवन का नाम ही आयु है। इसी आयु का सम्बन्ध इन चारो चिकित्साओ से है।

इस चिकित्सा को अथर्वा ऋषि ने कहा है—

"वेदोह्याथर्वणो दानस्वस्त्ययनवलिमगलहोमनियमप्रायश्चित्तोपवास-
मन्त्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सा प्राह, चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते।'

—चरक सू अ ३०।३१

आयु का ज्ञान ही आयुर्वेद है। यह आयु प्राण से सम्बन्वित है। इसी से कहा गया है—

'आथर्वणी—अथर्वा महर्षि से वनायी शान्ति-पुष्टि आदि क्रियाएँ, आङ्गिरसी—कृत्या, उत्थापन आदि क्रियाएँ जो आगिरस ऋषि ने वनायी ('श्रुतीरथर्वाऽङ्गिरसी कुर्यादित्यभिचारयन्। वाक्छस्त्र वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन्द्विज ॥'—मनु ११।३३)—मनुष्यजा—स्वस्ति, वलि, उपनयन, नमस्कार आदि क्रियाएँ, दैवी—वायु, जल आदि की क्रियाएँ औषधियाँ है।' (रसयोगसागर, उपोद्घात पृष्ठ ५९)

अथर्ववेद के अनुसार चरकसहिता में एक पुरानी कथा का उल्लेख है। राजयक्ष्मा रोग की उत्पत्ति वताते हुए चरक में कहा गया है कि प्रजापति की अट्ठाईस कन्याएँ थी। इनका विवाह प्रजापति ने राजा चन्द्रमा के साथ कर दिया था। चन्द्रमा ने इन सवके साथ समानता का व्यवहार नही किया, इसलिए प्रजापति ने शाप देकर उसे

रोगी (यक्ष्मा से पीडित) कर दिया। रुग्ण होने पर उसका सब तेज चला गया, और अन्त में अश्विनौ ने उसे स्वस्थ किया (चि० अ० ८।१-१०)। इसका उल्लेख काठक संहिता (११।३) में है—

'वह चन्द्रमा तृण के समान सूखने लगा। वह प्रजापति के पास पहुँचा और शेष पुत्रियो को माँगने लगा। उसने कहा, सब नक्षत्रो में समान रूप से वास करो तो, यक्ष्मा रोग से तुमको मुक्त कर दूंगा। इससे चन्द्रमा सब नक्षत्रो मे समान रूप से वास करता है।'

प्रजापति की अट्ठाईस कन्याओ के नाम—

कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, फाल्गुनी (पूर्वा), फाल्गुनी (उत्तरा), हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूला, आषाढा, राधा, श्रवण, श्रविष्ठा, शतभिषज, प्रोष्ठपदा, प्रोष्ठपदा उत्तरा, रेवती, अश्वयुज, भरणी, अभिजित् ये अट्ठाईस नक्षत्र प्रजापति की दुहिताएँ हैं (अथर्व० १९।७)।

चन्द्रमा प्रति नक्षत्र मे निवास करता हुआ अपना मार्ग पूरा करता है, यही चन्द्रमा का प्रजापति की पुत्रियो में अभिगमन है। दूसरे और नक्षत्रो की अपेक्षा रोहिणी नक्षत्र में कुछ काल अधिक निवास करता है। यही चन्द्र की रोहिणी में आसक्ति है। चन्द्र की कलाओ का क्रमश अपक्षय ही चन्द्रमा का क्षय रोग है। (स्त्रियो में अधिक अभिगमन से शुक्रक्षय होता है, जिससे यक्ष्मा होता है, इसको स्पष्ट करने के लिए यह कथानक है)।

अथर्ववेद में राजयक्ष्मा नाम पृथक् आया है ('यक्ष्माद् उत राजयक्ष्मात्'—अथर्व० ३।११।१), इससे स्पष्ट है, यक्ष्मा और राजयक्ष्मा दोनो शब्द अलग अर्थ में प्रयुक्त होते थे। यक्ष्मा रोग को कहते है रोगो का राजा राजयक्ष्मा है। यह यक्ष्मा शरीर के सब अगो मे हो सकता है, इसलिए ऋ १०।१६३ में शरीर के भिन्न-भिन्न अंगो में से रोग नाश की प्रार्थना की गयी है। साथ ही इस सूक्त में अगो के नाम भी आये हैं—'आँतो से गुदा से, वनिष्ठु (उण्डूक), उदर, दो कुक्षियो मे से, प्लाशी (प्लीहा) और नाभि से यक्ष्मा को दूर करता हूँ। दोनो ऊरुओ, जानुओ, दोनो पार्ष्णियो, प्रपदो, भसद्य (शिश्न) से, श्रोणियो से, भासद (शिश्नमणि) और भसस (योनि) से यक्ष्मा-रोग को दूर करता हूँ।' (ऋ १०।१६३।४-५)

इसी प्रकार अथर्ववेद (९।८) में सिर के तथा कान के रोगो का नाम लेकर दूर करने का उल्लेख है। शरीर के अन्दर के अवयवो से भी रोग निवारण की बात कही

गयी है। नवें मंत्र में कामला रोग, आवा (अतिसार या प्रवाहिका) रोग को उदर एवं अंगों में से दूर करने का वर्णन है।

वात, पित्त और कफ का उल्लेख—वेद में रोग के तीन कारण बताये गये हैं, १—शरीरान्तर्गत विष, जिसके लिए 'यक्ष्म' शब्द आता है ('यक्ष्मणा सर्वेषां विष निरवोचमहम्', मंत्र रोगों के विष को दूर करता हूँ। अथर्व ९।८।१०), २—रोगों के कारण कृमि—यातुधान, (अथर्ववेद ५।२९।६-७ के अनुसार अन्न, जल, दूध आदि पदार्थों में प्रवेश करके कृमि-जीवाणु शरीर में जब पहुँचते हैं, तब पुरुष को रोगी कर देते हैं। यजुर्वेद १६।६ में लिखा है कि जल आदि के जूठे पात्रों में कृमि लगे रहते हैं। इन पात्रों में भोजन करनेवाले के शरीर में ये कृमि पहुँचते हैं), ३—वात-पित्त-कफ तीसरा कारण रोगों का है। अथर्ववेद में पिप्पली को वातरोग नाशक कहा है ('वातीकृतस्य भेषजी'—६।१०९।३)।

वेद में वायु को प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान भेदों में वर्णित किया गया है। पित्त को पित्त शब्द से और कफ को कफ या बलास शब्द से कहा गया है। यथा—

को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानम्।
समानमस्मिन् को देवोऽधिशिश्राय पूरुषे॥' (अथर्व. १०।२।१३)
देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा॥' (यजु. १।२०)

किस देव ने इस पुरुष में प्राण, अपान, व्यान को बुना। किस देव ने समान वायु को आश्रय दिया। देवों को तुम्हें प्राण, व्यान, उदान के लिए देता हूँ।

'अग्ने पित्तमपामसि' (यजु १७।६; अथर्व १८।३।५)
'यकृत् क्लोमान वरुणो भिषज्यन् मतस्ने वायव्यैर्न मिनाति पित्तम्।'
(यजु. १९।८५)

'चाषेन पित्तेन' (यजु २५।७)
'सुपर्णो जात प्रथमस्तस्य त्व पित्तमासिथ।
तदासुरी युधे जिता रूप चक्रे वनस्पतीन्॥' (अथर्व. १।२४।१)

अग्ने! तू जलों का पित्त (तेज) है (सुश्रुत में अग्नि और पित्त एक ही माने गये हैं, 'न खलु पित्तव्यतिरिक्तोऽग्निरुपलभ्यते')। वरुण वायव्य पदार्थों से यकृत्, क्लोम, मतस्न (गवीनिका) की चिकित्सा करता हुआ अपित्त को नष्ट नहीं करता। प्रथम सुपर्ण—उत्तम पत्तोंवाली वनस्पति उत्पन्न हुई। उससे तूने पित्त (उष्णिमा) प्राप्त की।

'विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते।' (अथर्व. ६।१२।७।१)
'यो बलास तिष्ठत कक्षे मुष्कावपश्चितौ।' (अथर्व. ६।१२७।२)
'आसो बलासो भवतु।' (अथर्व ९।८।१०)
'नाशयित्री बलासस्यार्शस उपचितामसि।
अथोशतस्य यक्ष्माणा पाकारोरसि नाशनी॥' (यजु. १२।९७)
मास्मैतान् सखीन्कुरुथा बलास कासमुद्युगम्।' (अथर्व ५।२२।११)

हे वनस्पते! विद्रधि, बलास और रक्त के रोग का नाश कर। जो बलास दोनो कक्षो मे और जो कफ दोनो मुष्को मे ठहरा है (उसे दूर करता हूँ)। हे ओषधे! बलास, अर्श और अन्य उपचित रोगो की तू नाशिका है। सैंकडो रोगो का नाश करनेवाली है। हे ज्वर! बलास, कास, हिचकी रोग को अपना साथी न बना। (ये वात, पित्त, कफ आयुर्वेद शास्त्रसम्मत त्रिधातु ही है—यह नही कहा जा सकता।)

कृमियो के नाम—कृमि वर्णन वेदमन्त्रो मे बहुत प्रकार से आया है। ऐसे शब्द इसके रूप और कार्य को बताते हैं। यथा राक्षस—'रक्षो रक्षितव्यमस्माद् रहसि क्षिणोति इति वा रात्रौ नक्षत इति वा।' (निरुक्त ४।१८) कहा गया है कि इससे बचना चाहिए, एकान्त में मारता है, रात्रि में चलता है। पिशाच—'पिशितमश्नाति' कच्चा मास खाता है ('मासशोणितप्रियत्वाद् नित्य व्रणमुपसर्पन्ति'—सुश्रुत)। यातुधान—'यातु (गन्तु) धीयते (अभिधीयते इति)' यह चलनेवाला कहा जाता है। अथवा 'यातना दुख तदादधति ते यातुधाना' जो पीडा पहुँचाते हैं, वे यातुधान हैं। असुर—'असून् प्राणान् राति आददाति इति' प्राणो को जो हरता है वह असुर है। किमीदी—'किमिदानीमिति चरते' (निरुक्त ६।११) छिद्रान्वेषण बुद्धि से विचरनेवाला, अथवा अब क्या खाऊँ—यही जिसे इच्छा रहती है। गावर्व—'गा वाणी धारयति' सदा गूँजता रहता है—मच्छर। अप्सरा—'अप्सारिणी भवति' (निरुक्त ५।१३) पानी पर फैलनेवाला कृमि।

अत्रिण —(अ ६।३२।३) भक्षण करनेवाला, अराति—(अथर्व ५।२३।२) शत्रु, अर्जुन—(२।३२।२) श्वेत वर्णवाला, अलिश—(८।६।१) चिपटनेवाला, क्रव्याद (५।२९।८), कच्चा मास खानेवाला। इस प्रकार के लगभग एक सौ से अधिक नाम श्री रामगोपाल शास्त्री ने कृमियो के लिए वेदो में से एकत्र किये हैं।[1]

---

१. श्री रामगोपाल शास्त्री ने 'वेद में आयुर्वेद' पुस्तक बहुत विवेचना से लिखी है—उसे विस्तार के लिए देखें।

रोगों के नाम—वेद में ज्वर के लिए 'तक्म' शब्द आता है (तकि कृच्छ्रजीवने)। जिस प्रकार ज्वर, यक्ष्म, रोग सामान्य रोग अर्थ में चलने के साथ-साथ विशेष अर्थ में भी बरते जाते हैं, इसी प्रकार 'तक्म' शब्द है, जिसका अर्थ सामान्य रोग भी है, और विशेष अर्थ ज्वर भी है ('अवरां चं प्रहिणोमि नम कृत्वा तक्मने'—अथर्व० ५।२२।४) तक्म के लिए नमस्कार करके मैं उसे नीचे भेजता हूँ।

'ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषा. ।
यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बल्हिकेषु न्योचर' ॥' (अथर्व. ५।२२।५)

इस तक्म का स्थान मूजवान् है; इसका स्थान महावल है। हे तक्मन्! जबसे तू उत्पन्न हुआ है, बल्हिकों में ही रहता है। मूजवान् इस पर्वत का वाजसनेयी संहिता (३।६१); तैत्तिरीय (१।८।६।२), काठक (९।७), मैत्रायणी (१।४।१०।२०); शतपथ (२।६।२।१७) और सुश्रुत (२०।५,३० चिकित्सा) में उल्लेख है।

महावल—जहाँ पर वर्षा अधिक होती है, सम्भवतः कश्मीर, इस देश का राजा हृत्स्वाशय था, जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण (३।४०।२) में इसका उल्लेख है। वाह्लीक बदख्शा प्रदेश है।

अर्चि (अथर्व० १।२५।२)—ज्वाला, तपु (६।२०।१) तपानेवाला शोक (१।२५।३) चिन्ता करानेवाला, पाप्मा (६।२६।१) पापरूप, रुद्र (६।२०।२) रुलानेवाला; अगज्वर अंगभेद (९।८।५) अंगों में रहनेवाला, अंगों में पीडा करनेवाला; अन्येद्यु (१।२२।४) अन्येद्युष्क, उभयद्यु, (१।२५।४) दो दिन होनेवाला (चातुर्थिक विपर्यय); तृतीयक (५।२२।१३) तीसरे दिन होनेवाला आदि लगभग रोगों के चालीस नाम श्री शास्त्रीजी ने संगृहीत किये हैं।

ओषधियों के नाम—रोग शान्ति के लिए वेद में प्राकृतिक, खनिज, समुद्रज, प्राणिज तथा उद्भिज्ज द्रव्यों का ओषधि रूप में प्रयोग मिलता है। प्राकृतिक ओषधियों में सूर्य, चन्द्र (अथर्व. ६।८३।१), अग्नि (१०।४।२), मरुत (ऋ २।३३।१३), जल (ऋ १।२३।१९); खनिज द्रव्यों में अंजन (अथर्व ४।९।९), सीसा (१।१६।४), सामुद्रज में शंख (अ ४।१०।४), प्राणिजों में मृगशृंग (अ ३।७।१), उद्भिज्जों में अनेक वीरुधो का वर्णन आता है।

ओषधि के पर्य्याय में वीरुध (अ ८।७।२), भेषजी (८।७।८), वनस्पति (८।७।१६) आते हैं। ये ओषधियाँ जीवन प्रदान करनेवाली हैं। पुरुषजीवनी (अ. ८।७।४) अंग-अंग से रोग निकालती हैं—('यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं विबाधध्वम्'—ऋ० १०।९७।१२), ('यक्ष्ममेनमङ्गादङ्गादनीनशत्।'

(८।७।३), सुचारु रूप से प्रयुक्त ओषधि निष्फल नही जाती—'यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन्पारयामसि' (ऋ० १०।९७।२२); 'य जीवमश्नवामहै न स रिष्यति पूरुष। (ऋ० २१०।९७।१७); वे सब प्रकार के रोग और सब प्रकार के कृमियो का प्रभाव दूर करती हैं 'अगीवा मर्वा रक्षास्यपहन्तु। (अ ८।७।१४), इनके सेवन से दीर्घायु प्राप्त होती है 'यथा रान्छतहायन (अ ८।७।२२)।

चिकित्सक का वल ओषधियाँ ही हैं। जिसके घर में इनका सग्रह रहता है और जो इनका ठीक प्रयोग जानता है, वही बुद्धिमान् भिषक् है (ऋ० १०।९७।६)। जिस समय वैद्य हाथ मे ओषधी को पकडता है; रोग उसी समय दूर भागना प्रारम्भ कर देता है (ऋ० १०।९७।११)।

. ओषधियाँ आय का साधन हैं। वैद्य को अपनी जीवनयात्रा के लिए ओषधियो से धन, गाय, अश्व, वस्त्र आदि प्राप्त होते हैं (ऋ० १०।९७।८)।

ओषधियो का विक्रय होता था। सामान्यत. अत्रिपुत्र ने दुकानदारी के रूप में इस विद्या का उपयोग निषिद्ध किया है, विशेषत केवल धन वटोरने के लिए। परन्तु इसके साथ ही उचित रूप में इसका व्यवसाय करने का विधान किया है— (चरक सू अ ३०।२९); 'चिकित्सितस्तु सश्रुत्य यो वाऽसश्रुत्य मानव। नोपाकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृति॥ कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्। ते हित्वा काञ्चन राशि पाशुराशिमुपासते॥' (चि अ १।४।५५-५९)

इसीलिए ओषधियो का एक विशेषण 'अपक्रीता' (अ ८।७।११) आता है, ये अमूल्य हैं, क्रय नही की जा सकती। ओषधियो को मूल्य से या परस्पर विनिमय से प्राप्त किया जाता था। कुष्ठौषधि धन से खरीदी जाती थी ('धनैरभि श्रुत्वा यन्ति— अ ५।४।२), वरणावती ओषधि पवसा (सम्मार्जनी तृण) तथा मृगचर्मो के विनिमय से प्राप्त की जाती थी 'पवैस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन्दूर्शेभिरजिनैरुत'—अ ४।७।६)। एक स्थान पर इसको विकाऊ भी लिखा गया है ('प्रक्रीरसि' अ ४।७।६)।

ओषधियों का ज्ञान—किन-किन रोगो में अमुक ओषधी लाभ करती है, इसका ज्ञान परम्परा से होता था—'ये त्वा वेद पूर्व ईक्ष्वाको ये वा त्वा कुष्ठकाम्य। ये वा वसो यमात्स्यस तेनासि विश्वभेषज।' (अथर्व १९।३९।९)। अगिरा द्वारा जानी गयी ओषधियो को 'आङ्गिरसी' कहा जाता है। ब्राह्मण, ऋषि और देव ओषधियो को पहले से जानते चले आये हैं—'यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद्देवै विदित पुरा' (६।१२।२), जगलवासी भी ओषधियों को जानते हैं—'—कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम्।' (अ १०।४।१४, तुलना कीजिए—"गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिण।

मूलाहाराश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते ॥' सुश्रुत सू अ ३६।१०)। ओषधियों के गुणो का ज्ञान पुरुषों को पशु, पक्षी आदि प्राणियों से होता है। इन प्राणियों में गौ, अजा, अवि (अ ८।७।२५), वराह, नकुल, सर्प, गन्धर्व (८।७।२३), गरुड, रघट, हंस (८।७।२४) का नाम लिखा है। इनके अतिरिक्त सब पक्षी (सर्वे पतत्रिण) तथा सब पशुओं (मृगा) से ज्ञान करने का उल्लेख है। पशु-पक्षियों के स्वभाव से वनस्पतियों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

ये ओषधियाँ प्राणि-सृष्टि से पहले उत्पन्न हुई—'या ओषधी पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुग पुरा।'

ऋग्वेद (१०।९७) तथा अथर्ववेद के (८।७) सूक्त में ओषधियों के गुणबोधक बहुत नाम आये हैं। यथा—अशुमती '(८।७।४), दीप्तिवाली, अग्र आप, जिनका मुख्य जीवन जल है, अपागर्भ, जलो को गर्भ में धारण करनेवाली, अपुष्पा (ऋ० १०।९७।१५) पुष्परहित, अफला (फलरहित), एकशुगा (८।१७।४), एक सीगवाली, कृत्यादूषणी (८।७।१०), कृत्यानाशक, गो-भाज (ऋ १०।९७।५), भूमि से जीवन लेनेवाली, दिव्य, दिव्य गुणोवाली, पर्णवसति (१०।९७।५), पत्तो पर जिनका निवास है (वृक्षो की श्वास-प्रश्वास क्रिया पत्तो मे ही होती है, इस-लिए पत्तो पर मिट्टी जमने नही देनी चाहिए। पानी पत्तो पर से देना चाहिए।) प्रचेतस अन्त चेतनावाली, प्रतन्वती—विस्तृत, प्रसूमती—बढनेवाली, प्रसूवरी—उत्पादक, प्रस्तृणवती—फैलनेवाली, मधुमती—मधुरतायुक्त, मातर—माता के समान, विशाखा—नाना शाखाओवाली, सहस्रपर्ण्य—अनेक पत्तोवाली आदि अनेक नाम आते है।

कृत्या वर्णन—सुश्रुत में कृत्या का उल्लेख आता है (सूत्र अ ५।२०), यथा—कृत्या का अर्थ अभिचार-जनित राक्षसकर्म या मारक प्रयोग है, उसकी शान्ति के लिए रक्षा कर्म करने की विधि है। कृत्या के लिए अथर्ववेद में आता है—

'शं नोभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः श नो निखाता वलग।'
(अथर्व १९।९।९)

कृत्-हिंसायाम् धातु से 'कृत्या' शब्द बना है, जिसका अर्थ हिंसक क्रिया है। कृत्या के अर्थ में अभिचार और वलग शब्द भी आते हैं ('वलग वा निचख्नु'—अथर्व १०।१।-१८)। वलग यह एक घातक प्रयोग है जो शत्रुओ के वध के लिए बाहु प्रदेश मात्र भूमि खोदकर नीचे गाड दिया जाता है। अभि-पूर्वक 'चर' धातु से अभिचार शब्द बना है, मारने के लिए जो कर्म किया जाता है वह अभिचार है।

कृत्या दो प्रकार की है—आंगिरसी और आसुरी ('या कृत्या आंगिरसीर्या कृत्या आसुरी'—अथर्व ८।५।९)। कृत्या के प्रयोक्ता विद्वान्, साधारण पुरुष, ब्राह्मण, राजा, शूद्र, स्त्री आदि होते हैं (अ १०।१।३)। कृत्या की आकृति बनाकर प्रयुक्त की जाती है, इसे सिर, नाक, कान और पादोंवाली लिखा है (अ ११।१०।६)।

कृत्या प्रभाव नाशक द्रव्य—आजन ('नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या'—अ ४।९।५), अपामार्ग ('अनयाहमोषध्या सर्वा कृत्या अदूदषम्'—अ ४।१८।५, 'अपाघमपकिल्विषमपकृत्यामपोरप। अपामार्ग त्वमस्मदप दुस्वप्न्य सुव॥' यजु ३५।११); जंगिडमणि ('कृत्यादूषिरयं मणि'—अ २।४।६), प्रतिसरमणि ('प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीर'—अ ८।५।२)। कृत्या के प्रभाव को नाश करने के लिए यह मणि प्रयुक्त होती थी (अ ८।५।५)। वेद में कृत्या, अभिचार तथा वलग प्रयोगों की निन्दा की गयी है (अ १०।१।३१)।[1]

आजन—वेद में अंजन के लिए आंजन नाम आता है। त्रिककुद् पर्वत पर उत्पन्न होने से इसे त्रैककुद और यमुना में उत्पन्न होने से यामुन कहते थे। त्रिककुद् को आजकल तिकोट कहते हैं (डा० अग्रवाल का पाणिनिकालीन भारत)।

यह आजन पुरुष, अश्व तथा गौओं के लिए लाभकारी है ('परिपाण पुरुषाणां परिपाण गवामसि। अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे।'—अ ४।९।२); इसके सेवन से आयु बढ़ती है ('आयुषोऽसि प्रतरणम्'—१९।४४।१)। कष्ट निवारण के लिए इसे आँखों में आँजते थे, शरीर पर बाँधते थे, शरीर पर लेप करते थे और खाते थे ('आश्चैकं मणिमेकं कृणुष्व स्नाह्येकेनापिबैकमेषाम्।'—अ १४।४५।५)। यजु ३०।१४ में आंजनकारी, ऋग्वेद १०।१४६।६ में आंजनगन्धी, काठक संहिता में आंजनगिरि, शांखायन ब्रा (३।४) में आंजनहस्ता, ऐतरेय ब्रा (१।३) में 'तेजो वा एतदक्ष्योर्यदञ्जनम्' में इसका उल्लेख है।

अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड और ९ वें प्रपाठक में ऋषि भृगु देवता त्रैककुदाजन से कहते हैं—

"हे आजन! प्राणीमात्र की रक्षा करता हुआ तू मेरे पास आ, तू पर्वत की आँख है, पर्वत पर उत्पन्न होता है, सब देवों ने तुझे दिया है, तू जीवों के जीवन की परिधि

---

१. कौटिल्य अर्थ शास्त्र के साम्रामिक प्रकरण १५०-१५२, अ. ३ सूत्र ५० में इसका उल्लेख है—"पुरोहितपुरुषाः कृत्याभिचारं ब्रूयुः"—पुरोहित पुरुष कृत्या देवता के द्वारा अभिचार करायें।

है। हे आजन! जो तुझे धारण करता है उसे शाप, कृत्या और अभिशोक प्राप्त नही होते, न उसे विष्कन्ध-रोग होता है। हे आजन! तेरे ये सब गुण मैं जानता हूँ, सत्य कहूँगा, झूठ नही। हे रोगी पुरुष! तेरी आत्मा को बचाता हुआ घोडे और गौ को प्राप्त करूँ। हे पुरुष! चतुर्वीर अजन तेरे लिए बाँधा जाता है, तेरे लिए सब दिशाएँ अभय हो। हे आर्य्य! सूर्य की भाँति दृढ खडा रह, ये प्रजाएँ तेरे लिए बलि लायें।" (अथर्व १९।४५।४)

सीसा—वैदिक काल में स्वर्ण, चाँदी, लोह, सीसक आदि धातुओ का प्रयोग होता था—('हिरण्य च मेऽयश्च मे श्याम च मे लोह च मे सीस च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।' यजु १८।१३), इनमें सीसक का प्रयोग ही खाने में मिलता है। सीसा इन्द्रियो के लिए बलदायक है ('सीसेवदुह इन्द्रियम्'—यजु २१।३६, तुलना करें—'नागो हि नागसममेव बल ददाति।' धन्व नि)। सीसा राक्षसो को नष्ट करता है ('इद बाधत अत्रिण या जातानि पिशाच्या।'—अ १।१६।३)।

'हे कृमि! यदि तू हमारी गाय, घोडे और पुरुष की हिंसा करता हो, तो तुझे हम सीसे से बींधते हैं, जिससे तू हमारे वीरो को मारनेवाला न रहे। सीसे पर मल रखकर, सिर की पीडा को सिरहाने रखकर, काली भेड को साफ करके यज्ञ के योग्य पवित्र बनो।' (अथर्व १।१६।४)

सद्वृत्त—अत्रिपुत्र ने चरक में सद्वृत्त का लाभ बताते हुए कहा है—'सद्वृत्त का पालन करने से एक साथ आरोग्य और इन्द्रियजय दोनो मिलते हैं, इसलिए उसका पालन करना चाहिए। उसके पालन करने से इहलोक और परलोक दोनो में कीर्त्ति होती है' (सू अ ८)। यही सद्वृत्त वेद में भी है। यथा—

'स्वस्ति पन्थामनुचरेम' (ऋ ५।५१।१५) कल्याण पथ पर चलें। 'सत्य वदन् सत्ये कर्मन्' (ऋ ९।११३।४) सत्य बोलें, सच्चे कर्म करें। 'सत्योक्ति परिपातु विश्वत' (ऋ १०।३७।२) सत्य वचन सब ओर से रक्षा करे। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्' (यजु ४०।१७) सुनहले पात्र से सत्य का मुख ढँका है। 'ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृत' (ऋ १०।७३।६) दुष्ट सत्य के पथ पर नही चलते। 'मधुमती वाचमुदेयम्' (अथर्व १६।२।२) मीठे वचन बोलें। 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' (यजु ९।२१) आयु परोपकार में लगायें। 'तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु' (यजु ३४।१) मेरा मन शुभ सकल्पवाला हो। 'दिवमारुह तपसा तपस्वी' (अ १३।२।२५) तपस्वी तप से ऊँचा उठता है। 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत' (अथर्व ११।७।१९) ब्रह्मचर्य और तप से देव मृत्यु को जीत लेते हैं। 'मा गृध कस्यस्विद् धनम्' (यजु ४०।१) किसी के

धन पर आँख न लगा। 'न स सखा यो न ददाति सख्ये' (ऋ १०।११७।४) वह मित्र नही, जो मित्र की सहायता नही करता। 'कृत मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सत्य आहित' (अ ७।५२।८) पुरुषार्थ मेरे दायें हाथ में है और विजय बायें हाथ में है। 'उद्यान ते पुरुष नावयानम्' (अ ८।१।३) हे पुरुष, तू उन्नति की ओर कदम बढा, अवनति की ओर नही। 'अक्षैर्मा दीव्य' (ऋ १०।३४।३) जुआ मत खेल। 'ईर्ष्यो मृत मन' (अथर्व ५।१८।२) ईर्षा से मन मरता है, इत्यादि।

रोग विज्ञान—वेदो में कुछ रोगो के नाम तथा कुछ रोगो के लक्षण स्पष्ट आते है। उदाहरण के लिए ज्वर के लिए 'तक्मन' शब्द आता है। श्री दुर्गाशकर भाई ने 'तक्मन' का शीत ज्वर (मलेरिया) अर्थ किया है। इस ज्वर के अन्येद्युष्क और तृतीयक भेद बताये हैं। ज्वर एक भयकर रोग है ('भीमास्ते तक्मन हेतय'—अ वे ५।२२।१०)। चरक में ज्वर सब रोगो में प्रबल कहा गया है। यह सब प्राणियो में होता है, उत्पत्ति और मृत्यु के समय भी होता है। (चरक नि अ १।३५)

ज्वर का ज्ञान अथर्वा ऋषि को अच्छी प्रकार था। शरद् ऋतु में इसका विशेष प्रकोप होता था ('तृतीयक वितृतीय सदिन्दुमथ शारदम्'—अ. वे ५।२२।१३)। ज्वर के उपद्रव काम, जुकाम, सिर दर्द आदि का भी उल्लेख है। ज्वर के कारण होनेवाले कामला रोग का भी उल्लेख है। तक्म नाशन (ज्वरहरण) के लिए कुष्ठ (कूठ) का विशेष वर्णन है।[1]

जलोदर—यह रोग इस देश में पुराना है। वरुण के अपराध के कारण यह होता है। अथर्ववेद के तीन सूक्तो में (१-१०, ७-८३, ६-२४) इस रोग का उल्लेख है। अथर्ववेद के छठे सूक्त में (६।२४।१) हृदय रोग का उल्लेख है। इसमें बताया गया है कि जलोदर रोग हृद्रोग का परिणाम है। अथर्ववेद में 'आस्राव' नामक रोग आया है (अ वे १।२, २।३।, ६।१४)। टीकाकारो ने इसका अर्थ अतिसार किया है, परन्तु इससे मूत्रातिसार, रक्तस्राव आदि का भी निर्देश माना जा सकता है। 'विपूची' का उल्लेख अथर्ववेद में (६।९०) है। वहाँ पर इसका अर्थ पेट का विकार ही है, न कि हैजा, जैसा कि अत्रिपुत्र ने विसूचिका को आमदोष बताया है ('त द्विविधमाम-प्रदोपमाचक्षते भिषज विसूचिकाम्, अलसक च'—चरक वि अ २।१०)। अवरुद्ध मूत्र को निकालने के लिए एक सम्पूर्ण सूक्त है (१।३)। क्षेत्रिय रोग को भी दूर

---

१ ज्वर के लिए देखिए—अ. वे. १।२५, ५।२२; ६।२०; १९।३९; ५।५; ९।८।६, ७।११६.

करने की प्रार्थना अथर्ववेद में है (२।८, २।१०, ३।७)। किसी ओपधि को भी क्षेत्रिय नागनी कहा गया है।

यक्ष्मा शब्द सामान्यत रोगवाचक है (ऋग्वेद १०।१६३, 'तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकारो रोग इत्यनर्थान्तरम्'—चरक नि अ १।५)। अथर्ववेद में भिन्न-भिन्न अगो में यक्ष्मा को नाश करने के लिए प्रार्थना की गयी है[1]। वाजसनेयी सहिता में एक सौ प्रकार के यक्ष्मा का उल्लेख है (१२।९७), वहाँ पर बहुत-से रोग विवक्षित है।

राजयक्ष्मा—(क्षय) शब्द ऋग्वेद (१०।१६३) तथा अथर्ववेद (३।११।१) में आया है। सायण ने राजयक्ष्मा से वर्त्तमान कालीन क्षयरोग ही लिया है, इसके लिए तैत्तिरीय सहिता का वचन है–'राजा अर्थात् चन्द्रमा को क्षयरोग पहले हुआ। इसलिए इसे राजयक्ष्मा कहते हैं, (तै स २।५-६, तुलना कीजिए—'राजश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेप किलामय। तस्मात्त राजयक्ष्मेति केचिदाहु पुनर्जना ॥' सुश्रुत उ अ ४१।५)।[1]

यजुर्वेद की सहिताओ में यक्ष्मा रोग की उत्पत्ति वताते हुए उसको तीन प्रकार का कहा गया है, राजयक्ष्मा, पापयक्ष्मा और जायान्य (तै स २।३।५२, का स १३।३, मै स २।२।७, श ब्रा ४।१।३९) अथर्ववेद में राजयक्ष्मा के साथ अज्ञात यक्ष्मा शब्द भी है, जिसका अर्थ न पहचाना हुआ रोग है। 'जायान्य' शब्द अस्पप्ट है, इसके भिन्न-भिन्न अर्थ विद्वानो ने किए हैं, जैसे, सिफलिस, गठिया आदि।

अर्श—वाजसनेयी-सहिता के एक ही मत्र में वलास, अर्श, उपचित् और पाकारु इन चार रोगो का उल्लेख है। इनमें अर्श शब्द स्पप्ट है (अरिवत् शाति-हिनस्ति इति अर्श—शत्रु के समान पीडा देता है)। उपचित् से अपची अर्थ ले सकते है, क्योकि अपची का अन्यत्र (अ वे ६।८३) उल्लेख है। वलास शब्द अथर्ववेद में रोग अर्थ में आता है (४।९।८, ५।२२।११, ६।१४।१ आदि में)। सायण ने एक स्थान में

---

१. चरक में राजयक्ष्मा की उत्पत्ति एक अलकारिक रूप में वतायी गयी है (चि. अ ८।३-१०); राजा चन्द्रमा का विवाह प्रजापति की अट्ठाईस कन्याओ से होता है। इस कथानक में प्रजापति की अट्ठाईस कन्याएँ अट्ठाईस नक्षत्र हैं। इनमें रोहिणी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का विशेप सम्वन्ध कुछ अधिक देर रहता है। इसी को आसक्ति कहा है। अधिक स्त्री प्रसग से राजयक्ष्मा रोग होता है, यह स्पष्ट करने के लिए ही यह कथानक है। अग्निवर्ण को भी राजयक्ष्मा इसी कारण से हुआ था—"आमयस्तु रतिरागसभवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत् ॥" (रघुवश १९।४८।)

वलास का अर्थ सन्निपात किया है और अन्य स्थान पर (अ वे १९।३४।१०) क्षय अर्थ किया गया है। ज्वर के साथ कास और वलास का उल्लेख अथर्ववेद मे (५।२२।११) है। पाकारु का अर्थ मैकडानल और कीथ ने व्रण किया है।[1]

जम्भ—अथर्ववेद में (२।४।२, ८।१।१६) जम्भ शब्द का उल्लेख है। इस रोग में दोनो जवडे जुड जाते हैं। इसके तथा कौशिक सूत्र के विनियोग के आधार पर बेवर, ब्लूमफील्ड आदि विद्वानो के मत से वालको मे होनेवाले आक्षेप या अपतन्त्रक, अपतानक (मृगी-हिस्टीरिया-कन्वलशन) की स्थिति स्पष्ट होती है। कौशिक सूत्र के आधार पर यह वालको की गहपीडा प्रतीत होती है, जैसा कि सुश्रुत मे कहा गया है—('एव गहा समुत्पन्ना वालान् गृह्णन्ति चाप्यत। ग्रहोपसृष्टा वालास्तु दुश्चिकित्स्यतमा मता ॥' उत्तर अ ३७।२०)

अप्वा (अथर्व ९।८।९) का अर्थ मरोडा या अतीसार है। ग्राह का उल्लेख शतपथ (३।५।३।२५) तथा अथर्ववेद (११।९।१२) मे है। अथर्ववेद में इसका अर्थ ऊरुस्तम्भ है। ग्रैव्य (अ वे ६।२५।२) का अर्थ गण्डमाला किया जा मकता है। पामा (अ वे ५।२२।१२) का पाठान्तर पामन् भी है। आयुर्वेद मे यह शब्द कुष्ठ के एक भेद के लिए प्रसिद्ध है। छान्दोग्य उपनिषद् मे भी यह शब्द आता है ('सोऽवस्ताच्छकटस्य पामान कर्पमाणमुपोपविवेश'—४।१।८)। यहाँ पर यह शब्द कुष्ठ रोग के लिए ही आया है। अथर्ववेद के विकिलन्दु (१२।४।५) का अर्थ ब्लूमफील्ड जुकाम करते हैं। विलोहित (अथर्व ९।८।१, १२।४।४) रोगवाचक शब्द है, ब्लूमफील्ड इसका अर्थ नाक से वहनेवाला रक्तस्राव करते है, ह्विट इसका अर्थ पाण्डुरोग करते हैं। विशर अथर्ववेद मे (२।४।२) आता है, जीमर ने इसका अर्थ ज्वर से होनेवाला अगो की पीडा (अगमर्द) किया है। वातीकर (९।८।२०) का अर्थ वायु से होनेवाली पीडा है। ब्लूमफील्ड भी यही अर्थ मानते हैं। अथर्ववेद में अनेक स्थानो पर 'विष्कन्ध' शब्द आता है (३।९।६)। इसका अर्थ स्पष्ट नही, सन्धिवात, राक्षस, तथा सामान्य रोगवाचक कई अर्थ विद्वानो ने किये है।

सिर के रोगो के लिए अथर्ववेद मे 'शीर्षक्ति' और 'शीर्षामय' शब्द आते है

---

१ 'नाशयित्री वलासस्यासि उपचितामपि।
अथो शतस्य यक्ष्माणा पाकारोरसि नाशिनी ॥' (वा. स. १२।९)

महाभारत में भी त्रिधातु शब्द आता है—'आयुर्वेदविदस्तस्मात् त्रिधातु मां प्रचक्षते।'—उद्योग पर्व

(१।१२।३, ९।८।१, ५।४।१०)। श्लोन्य शब्द तैत्तिरीय संहिता में (३।९।१७।२) आता है। मैकडोनल और कीथ इसका अर्थ लँगडापन करते हैं। श्वित्र—पचविंश ब्राह्मण में (१२।११।११) श्वित्र शब्द आता है, जिसका अर्थ श्वेत रोग (श्वेतकुष्ठ) है। अथर्ववेद (१।२३।४) और वाजसनेयी संहिता (३०।२१) एव पचविंश ब्राह्मण (१४।३।७) में आया 'किलास' शब्द आयुर्वेद का किलास रोग ही है।

सिध्मल—वाजसनेयी संहिता (३०।१७) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।१०) में रोग वाचक अर्थ में आता है। आयुर्वेद में सिध्म को कुष्ठ का एक भेद कहा गया है। सम्भवत सिध्म ही सिध्मल है, सिध्म रोगवाले को भी सिध्मल कहते हैं। ऋग्वेद के 'सुराम' (१०।१३१।५) शब्द का अर्थ मैकडानल और कीथ ने मदात्यय किया है। हरिमत् शब्द ऋग्वेद (१।५०।११) तथा अथर्ववेद (१।२२।१, ९।८।९) में पीलेपन कामला रोग के लिए आया है। हृदामय, हृद्रोग और हृद्योत शब्द वेद में हृदय के रोगो लिए आते हैं (ऋग्वेद में १।५०।११ और अथर्ववेद में १।२२।१, ५।३०।९)। हृद्रोग पीछे से चला है।

रोग निदान—वेद में त्रिधातुवाद की मान्यता है। तीन धातुओ की विषमता से रोग होते है (ऋ० १।३४।६)। अथर्ववेद में एक स्थान पर अभ्रज, वातज और शुष्म तीन प्रकार के रोग कहे गये हैं।[1] इनमें वातज रोग स्पष्ट हैं, अभ्रज का अर्थ कफज और शुष्म का अर्थ पित्तज रोग सायण ने किया है।

वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थो में शारीरिक और आगन्तुक ये दो कारण रोगो के माने गये है। आगन्तुक कारणो को राक्षस, यातुधान, सर्प नाम दिया गया है। कायिक रोगो के लिए रोग, अमीवत् शब्द आता है, वैद्य हरिप्रपन्नजी की ऐसी मान्यता है।

शल्यतन्त्र—क्षत (अ वे ७।७६।४), विद्रधि (६।१२७।१), छिन्न-भिन्न (४।१२), व्रण (२।३) आदि रोगो का वेद में उल्लेख है। टूटी या कटी अस्थियो को जोडने, जुडे हुए या कटे हुए अग को ठीक करने तथा पृथक् हुए मास और मज्जा को स्वस्थ करने की ओषधि से प्रार्थना अथर्ववेद में है (४।१२)। रक्तस्राव के लिए पट्टी बाँधने (१।१७) तथा रेत से भरी थैलियो से दबाव देने का उल्लेख है। एक मत्र में व्रण पकाकर उससे पूय-स्राव करने का उल्लेख है(अथर्व २।३।५)। अपची

---

१ चरक में भी तीन प्रकार के रोगो का उल्लेख है—"अतस्त्रिविधा व्याधय प्रादुर्भवन्ति–आग्नेया सौम्या वायव्याश्च॥' (चरक. नि. अ १।४)

रोग के लिए वेधन और छेदन उपचार कहा गया है (७।७४।२)। परन्तु मुख्यत वनस्पति, पानी और मत्र से चिकित्सा का काम लिया गया है।[1]

अगद तत्र—ब्राह्मणो, सूत्रो और उपनिपदो में सर्पविद्या का उल्लेख है (श ब्रा १०।१५।२।२०, सा श्रौ सू १६।२।२५, आ श्रौ सू १०।७।५, छा उ 'सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि'—७।१)। यह विद्या विशेपत आथर्वण विद्या है। अथर्ववेद में सर्पविप सम्बन्धी कई सूक्त है (५।१३, ५।१६, ६।१२, ७।५६)। विपयुक्त आहार का भी अथर्ववेद में उल्लेख है (४।६)।

रसायन—अथर्ववेद तथा अन्य वेदो में आयुष्य-सूक्त पर्याप्त आते है, श्रौत और गृह्य-सूत्रो में आयुष्य सम्बन्धी मत्र पुष्कल मिलते है। 'जीवेम शरद शतम्' की भावना अनेक मत्रो में मिलती है। अथर्ववेद मे आयुष्यवर्धक अनेक मत्र है।

रसायन विद्या मे वय स्थापन, आयु तथा वल मिलता है और रोगो को दूर करने की सामर्थ्य आती है। इसके लिए 'ब्रह्मचर्य' एक मुख्य आचरण है, जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में विशेप मिलता है।[2]

वाजीकरण—अथर्ववेद में वाजीकरण ओपधियो का स्पष्ट उल्लेख है। वाजीकरण का अर्थ जिसमें शक्ति या वीर्य न हो उसमें शक्ति या वीर्य उत्पन्न करना है ('अवाजिन वाजिन कुर्वन्ति, येन वा अत्यर्थं व्यज्यते स्त्रीपु शुक्र तद् वाजीकरणम्, वाजो वेग प्रस्तावात् शुक्रस्य, स विद्यते येपा ते वाजिन, ते क्रियन्तेऽनेन इति वाजीकरणम्, वाज. शुक्र सोऽस्यास्ति इति वाजी, अवाजी वाजी क्रियते येन तद् वाजीकरणम्')।

---

१. 'अरुस्त्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्धृतम्।
तदास्रावस्य भेपज तदु रोगमनीनशत्॥' (अ. वे. २।३।५)
'विध्याम्यासा प्रथमा विध्याम्युत मध्यमाम्।
इद जघन्या मासामाच्छिनद्मि स्तुकामिव॥' (अ. वे. ७।७४।२.)

२ रसायन, दीर्घायु के लिए ब्रह्मचर्य वहुत महत्त्वपूर्ण है। इसी से उपनिषद् में ब्रह्मचर्य का विशेष महत्त्व वताया गया है (छा. उ. ८।४)। इन्द्र और विरोचन प्रजापति के पास आत्मा के विषय में पूछने के लिए जव गये, तव उन्होने पहले ३२ साल ब्रह्मचर्य पालन किया। इसके वाद पुन पूछने जाने पर इन्द्र ने ३२, ३२ वर्ष दो बार तथा अन्तिम वार पाँच साल ब्रह्मचर्य पालन किया था (छा. उ. ८।६)। इसी से कहा है—
'धर्म्यं यशस्यमायुष्य लोकद्वयपरायणम्।
अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम्॥' (स. हृदय वाजीकरण)।

अथर्ववेद मे ओपवियो के सम्वन्ध मे स्पष्ट उल्लेख नही है, परन्तु "जिसका वीर्य क्षीण हो गया है, इस प्रकार के वरुणदेव के लिए गन्धर्वों ने जिस ओपधि को खोदा था, उपस्थ को उत्तेजना देनेवाली उस ओपधि को मैं खोदता हूँ।" इन शब्दो में स्पष्ट वाजीकरण का उल्लेख है।[1] इसी सूक्त में ओपधि के वाद मत्र शक्ति द्वारा वाजीकरण शक्ति वतायी गयी है। वाजीकरण का उपयोग प्रजा-सतान की उत्पत्ति के लिए होता था। यह वात इस सूक्त और गर्भाधान सूक्त (अ वे ५।२५) से स्पष्ट है।

गोपथ ब्राह्मण में भेपज को ही अथर्व कहा गया है ('येऽथर्वाणस्तद् भेपजम्'—३।४)। जो अथर्वा है, वह भेषज है। भेपज का एक पर्य्याय 'प्रतिपेध' है। यथा—

'थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेध' (निरुक्त ११।१९)

'थर्वति' का अर्थ गति है, उसका जो प्रतिपेध करे वह अथर्वा है। औपधि वढते हुए रोग को रोकती है, इसलिए उसे अथर्वा कहते है। यही अथर्वा आयुर्वेद के साथ सम्वद्ध है।

स्वर्ण का चिकित्सा में उपयोग—अत्रिपुत्र ने स्वर्ण के लिए कहा है कि जो व्यक्ति स्वर्ण का सेवन करता है, उसके शरीर में विप नही लगता, जिस प्रकार से कमलपत्र के ऊपर पानी का स्पर्श नही होता (चि २३।२४०)। स्वर्ण आयुवर्धक, ओजवर्धक है, जैसा कि यजुर्वेद में कहा गया है—

'यह सोना आयु के लिए हितकारी है, कान्तिदायक है, घन-समृद्धि से पुष्ट करता है, सव रोगो का भेदन करनेवाला है, वर्चस्व-तेज देता है। रोगो से जय प्राप्त करने के लिए यह मुझे प्राप्त हो।' (यजु ३४।५०)

सोने से न राक्षस वच सकते है और न पिशाच, इसको कोई भी लाँघ नही सकता। स्वर्ण से कोई रोग नही वच सकता। जो व्यक्ति दाक्षायण स्वर्ण का सेवन करता है, या कराता है, उस करनेवाले और करानेवाले दोनो को दीर्घ आयु मिलती है। (यजु ३४।५१)

सर्प-चिकित्सा—अत्रिपुत्र ने स्थावर और जगम दो प्रकार के विप कहे हैं। ये दोनो विप परस्पर विरोधी है, स्थावर विप (मूलज विप) ऊर्ध्वगामी है और जगम विप अधोगामी है। इसलिए स्थावर विप जगम को और जगम स्थावर विष को नष्ट

---

१. 'या त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे।
ता त्वा वय खनाम्यस्योषधिं शेफहर्षणीम्॥' (अ वे. ४।४।१)

करता है ('तस्माद् दंष्ट्राविष मौल हन्ति, मौल च दंष्ट्रजम्'—चरक चि अ २३)।[1] यह वेद में भी कहा गया है कि 'विष विष को नष्ट करता है'—

'चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम्।
अहे म्रियस्व मा जीवी प्रत्यगभ्येऽतु त्वा विषम्॥' (अथर्व. ५।१३।४)

हे सर्प! आँखो के तेज से तेरी आँखो को नष्ट करता हूँ और विष से (स्थावर विष से) तेरे विष को नष्ट करता हूँ। हे साँप! मर जा, मत जी।

'कैरात पृश्न उपतृण्य बभ्र आमे शृणुतासिता अलीकाः।
मा मे सख्यु. स्तामानमपिष्ठाता श्रावयन्तो निविषे रमध्वम्॥'
(अथर्व. ५।१३।५)

हे कैरात! पृश्नि, उपतृण्य, बभ्रु, असित और अलीक नामवाले सर्प! तुम मेरे मित्र के घर में न ठहरो और खटका सुनते ही विषैले स्थान पर रमण करो।

सुख प्रसव के लिए प्रार्थना—'जिस प्रकार से वायु बिना रुकावट के बहती है, जितनी तेजी से मन चलता है जिस प्रकार सुखपूर्वक पक्षी उडते हैं; इस प्रकार दसवें मास में हे गर्भ! तू गर्भाशय से बाहर आ जा।' (अथर्व १।११।६)

अथर्ववेद में आये हुए आयुर्वेद सम्बन्धी विषयो की सूची निम्नलिखित है, जिससे चिकित्सा विषयक सूक्तो की विस्तृत जानकारी मिल जाती है—

---

१. महाभारत में भी स्थावर विष की चिकित्सा जगम विष से कही गयी है। दुर्योधन द्वारा भीम को दिये हुए विष की शान्ति नागो के काटने से हुई थी। इस घटना से स्पष्ट है ('हतं सर्पविषेणैव स्थावरं जंगमेन तु'—आदि. १२७।५७)। महादेव शिव के गले में पिये हुए हलाहल का प्रतिकार उसमें लिपटे हुए साँप ही कर रहे हैं। गगा की शीतल धारा उनके सिर पर गिरकर विष की गरमी दूर करती है, माथे पर स्थित चन्द्रमा विष की नीलिमा, कालिमा को अपनी द्युति से धो रहा है। तभी महादेवजी आज भी जीवित हैं। सिकन्दर का सेनापति निर्याकस लिखता है कि 'यूनानी लोग सर्पविष दूर करना नहीं जानते थे; परन्तु जो मनुष्य इस दुर्घटना में पडे, उन सबको भारतीयो ने दुरुस्त कर दिया।' मध्यकालीन भारतीय सस्कृति, पृष्ठ ११२

उपनिषदो में सर्पविद्या और देवजन विद्या का उल्लेख विद्याओं में आता है ('सर्प देवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि'—छांदोग्य ७।१।२)। शतपथ ब्राह्मण १३।४।३।३-१४ भी देखिए।

अजन ७।३०।३६, अपामार्ग ४।१७, ४।१८, ४।१९, अपामेपज १।४, ५, ६, ६।२३, २४, अक्षिरोग भेपज ६।१६, आञ्जन ४।९, १९।४५, आप १।३३ ३।१३; ७।३९, १९।२, ६९, आस्राव की ओपधि २।३, ओपधि ८।७, ६।५९, कुष्ठौपधि ६।९५, केशवृहण ६।१३६, केशवर्धन ६।१३७, केशवर्धनी ओपधि ६।२१, गर्भस्राव २०।९६, ११-१६, पिप्पली भैपज्य ६।१०९, पृश्निपर्णी भैपज्य ६।२२, ५२, ८३, १९।४४, रोहिणी वनस्पति ४।१२, लाला ५।५, वनस्पति ३।१८, वाजीकरण ४।४, विप भैपज्य ७।५६, सौभाग्यवर्धन ६।१३९।

रोगादि निवारण—इपु निष्कासन ६।९०, उन्मत्तता मोचन ६।१११, काम-शमन ६।१०५, कुष्ठ-तक्म नाशन ५।४, कुष्ठनाशन १९।३९, क्लीवत्व नाशन ६।१३८, गर्भवृहण ६।१७, गर्भदोप-निवारण ८।६, गण्डमाला-चिकित्सा ७।७४-७६, चिकित्सा ६।९६, जल-चिकित्सा ६।५७, ज्वर नाशन १।२५, ७।११६, तक्म नाशन ५।२२, दुस्वप्न नाशन २०।९६, नारी सुखप्रसूति १।११, वलास नाशन ६।१४, मूत्र मोचन १।३, यक्ष्म नाशन १।१२, ३।७, ३१, ६।२०, ८५, ९१, १२७, १२।२, १९।३८, २०।९६, ६-१९, १७-२३, रुधिरस्राव को रोकने के लिए धमनी को बाँधना १।१७, रोग नाशन ६।४४, रोग निवारण ४।१३, रोगोपशमन १।२, ५।१५, वृप रोग नाशन ५।१६, श्वेत कुष्ठ नाशन १।२३, २४, सुमगल दन्त ६।१४०, हृद्रोग, कामला शमन १।२२, क्षेत्रियरोग निवारण २।८।

कृमि नाशन—कृमिघ्न ५।२३, कृमि जम्भन २।३१, कृमि नाशन २।३२, ४।३७।

विप नाशन—विपघ्न ४।६, विप दूपण ६।१००, विप नाशन ४।७, सर्पविप दूरीकरण १०।४, सर्पविप नाशन ५।१३, ७।८८, सर्पविप निवारण ६।१२, साँपो से रक्षा ६।५६।

अरिष्ट नाशन—अरिष्ट क्षपण ६।२७-२८-२९-८०, अलक्ष्मी नाशन १।१८, असुर क्षपण ६।७, १९।६६, ईर्ष्या विनाशन ६।१८, ७।४५, कृत्यादूपण १०।१, कृत्या परिहरण ५।१४-३१, दस्यु नाशन २।१४, पिशाच क्षपण ४।२०, मन्यु शमन ६।४३, यातुधान नाशन १।७-८, यातुधान क्षपण ६।३२, रक्षोघ्न १।२८।५२९।

(अथर्ववेद सहिता श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा सपादित)

इस प्रकार से आयुर्वेद से सम्बन्धित विपयो का अथर्ववेद में विस्तार से वर्णन होने के कारण आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा गया है।

सक्षेप में आयुर्वेद के सब अगो का उल्लेख वेदो में मिल जाता है, अन्यो की अपेक्षा अथर्ववेद में अधिक उल्लेख है, क्योंकि यह वेद पीछे बना। तब तक लोगो को

रोग तथा उसके उपायो की जरूरत विशेष रूप से अनुभूत नही हुई थी। वेद कोई आयुर्वेद के स्वतन्त्र ग्रन्थ नही, उनमे तो जीवन के लिए उपयोगी (कृषि, वस्त्र बुनना आदि) तथा अध्यात्मसम्बन्धी सब प्रकार के विषय बीजरूप मे मिलते है। पीछे से इन विद्याओ का विकास पृथक्-पृथक् हुआ।

कौशिक सूत्र—अथर्ववेद का सूत्रग्रन्थ कौशिक है। ब्लूमफील्ड ने कौशिक सूत्र को पिछले सूत्रकाल का ग्रन्थ माना है। इसका समय ३००-४०० ईसवी पूर्व माना जा सकता है। कौशिकसूत्र मे वनस्पति सम्बन्धी जानकारी विशेष रूप से दी गयी है। रोगो के नाम इसमे मिलते है। उदावर्त्त का उल्लेख है (४।२५।१९), औषध निर्माण मे फाट का उल्लेख है(४।२५।१८)। जलौका लगाने का, नस्य देने का (४।२६।८)विधान है। 'वरुण-गृहीत' शब्द का अर्थ टीकाकार ने जलोदरी किया है, जो ठीक है। वरुण के कोप से जलोदर रोग होने का आख्यान ऐतरेय ब्राह्मण के हरिश्चन्द्र उपाख्यान से समर्थित है। सर्पविष के ऊपर हल्दी के चूर्ण को घी मे मिलाकर पिलाने का उल्लेख कौशिक सूत्र मे है (४।२८।४), परन्तु साथ मे अथर्ववेद के मन्त्रो से अभि-मन्त्रण करना चाहिए।

अथर्ववेद मे राजयक्ष्मा रोग के साथ अज्ञात यक्ष्मा रोग का भी उल्लेख है। सूत्रकार ने अज्ञात यक्ष्मा का ग्राम्य रोग अर्थ किया है। ग्राम्य रोग से टीकाकार मैथुन सम्बन्धी रोग लेते है, इससे अधिक स्पष्टीकरण नही। सभवत ग्राम्य रोग से सुश्रुत में लिखा उपदश रोग विवक्षित हो (भावप्रकाश मे कहे गये या आज जिस रोग के लिए उपदश सामान्यत प्रचलित है वह नही)। अथवा अत्रिपुत्र ने 'ग्राम्य' शब्द शहरी जीवन के लिए बरता है ('ग्राम्यवासकृतमसुखमसुखानुबन्ध च', 'ग्राम्यो हि वासो मूल मशस्तानाम्'—चरक० चि० अ० १।४।४), उस जीवन से सम्बन्धित रोग विवक्षित हो।

कौशिक सूत्र का लक्ष्य भी वैद्यक नही है, उसका सम्बन्ध अभिमंत्रण त्रिया से है, जैसा कि इसके टीकाकार केशव ने कहा है—

'भेषजशान्तिर्भैषज्यशब्देनोच्यते। तत्र द्विविधा व्याधय। आहारनिमित्ता अन्यजन्मपापनिमित्ताश्च। तत्र अहारनिमित्तेषु चरकवाहटसुश्रुतेषु शमन भवति। अशुभनिमित्तेषु अथर्ववेदविहितेषु शान्तिकेषु व्याध्युपशमन भवति।' (कौ० सू० अ० ४ क० २५ की टीका)। केशव का वचन काश्यप सहिता के वचन से मिलता है। 'चिकित्सा दो प्रकार की है, औषध और भेषज रूप में। दीपन आदि द्रव्यो के योग का नाम औषध है और हवन-व्रत-तप-दान शान्तिकर्म को भेषज कहते है' (का० सं० औषध भेषजेन्द्रिय अध्याय) अत्रिपुत्र ने इनके युक्तिव्यपाश्रय और दैवव्यपाश्रय

नाम दिये हैं (चरक० सू० अ० ११।५४)। इनके अतिरिक्त सत्त्वावजेय तीसरी चिकित्सा मानी है। पूर्व जन्मकृत पापों से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा के लिए अथर्ववेदोक्त शान्तिकर्म ही करने चाहिए। अथर्ववेद के समय में सम्भवत चिकित्सा में इस प्रकार का पार्थक्य न रहा हो। उस समय शान्तिकर्म (भेषज) तथा औषधकर्म (औषध) ये एक में ही मिले थे, जो इनको जानता था, उसे भिषक् कहते थे। पूर्व जन्मकृत पाप से रोग होते हैं, उनकी चिकित्सा के लिए भेषज चिकित्सा है।

सक्षेप में, वैदिक काल के अन्त में तथा सूत्रग्रन्थों के समय तक आयुर्वेद में विकास क्रम प्रारम्भ हो गया था। वेदों में वर्णित रोगों और वनस्पतियों के सम्बन्ध में जिज्ञासा, खोज प्रारम्भ हो गयी थी। वनस्पति सम्बन्धी ज्ञान का विकास बुद्धकाल में कितना अधिक बढ गया था, इसे जीवक की शिक्षा के समय में देखेंगे। रोगों के लक्षण, उनकी पहचान, चिकित्सा का क्रम क्रमश विकसित होता गया, जो कि बुद्धकाल में अपने पूर्ण यौवन पर पहुँच गया था। बुद्धकाल से पूर्व आथर्वण वैद्य ही सब प्रकार की चिकित्सा करते थे। इनकी चिकित्सा सीमित थी (वेदों में सौ या सवा सौ वनस्पतियों का ही उल्लेख है), सम्भवत उस समय रोग भी इतने नहीं थे, क्योंकि जीवन सादा और सरल था (देखिए चरक० चि० अ० १।४।५ में इन्द्र का वचन)। पीछे से इस ज्ञान का विकास हुआ। शतपथ-ब्राह्मण में अगों के नाम, याज्ञवल्क्य स्मृति में अस्थियों की विवेचना मिलने लगती है। इस प्रकार से यह ज्ञान ६०० ई० पूर्व तक पर्याप्त विकसित हो चुका था।

ब्राह्मण ग्रन्थ

वेदों की व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में है, प्रत्येक वेद का अपना ब्राह्मण है, इनका प्रधान विषय 'यज्ञ' ही है। शब्दों की व्युत्पत्ति और सृष्टि सम्बन्धी विचारों का भी कथा-रूप में विवेचन है। ब्राह्मण का अर्थ ब्रह्मा द्वारा कहे गये नियम हैं। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण है—ऐतरेय और कौषीतकी। शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण एक सौ अध्यायों का विशाल और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें यज्ञों के वर्णन के साथ अनेक प्राचीन आख्यानों और सामाजिक विषयों का भी वर्णन है। कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय है। सामवेद के ब्राह्मण ताण्ड्य और छान्दोग्य हैं। अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ है।

ब्राह्मणों में विधि और अर्थवाद रूप में याज्ञिक क्रियाओं का वर्णन है। विधिवाद में यज्ञ विधि है और अर्थवाद में इतिहास, आख्यान, पुराण, रूप में क्रियाओं तथा

प्रार्थनाओ की व्याख्या है। व्याधियाँ ऋतु सन्धिकाल मे होती हैं। वर्तमान ऋतु का अन्तिम सप्ताह और अग्रिम ऋतु का प्रथम सप्ताह ऋतुसन्धि होती है। इसमें रोग विशेष होते है।

ऋतुसन्धि मे पूर्व ऋतुसन्धि की विधि धीरे-धीरे छोडकर नयी विधि धीरे-धीरे लेनी चाहिए। यदि सहसा नयी विधि ले ली जाय तब रोग होता है। इसलिए इससे बचने का विधान ब्राह्मण ग्रन्थो में है।

ऋतु सन्धि में होनेवाले रोगो से बचना—रोगो से बचने के उपाय यज्ञ बताये गये है। इन यज्ञो मे जो सामग्री बरती जाती है, वह भी प्रत्येक ऋतु के अनुसार ही होती थी। जिस प्रकार प्रत्येक ऋतु का अपना खान-पान, रहन-सहन आयुर्वेद शास्त्र मे कहा गया है, उसी प्रकार ब्राह्मणो में प्रत्येक ऋतु के लिए पृथक्-पृथक् सामग्री का विधान यज्ञो के लिए किया गया है।

इस सामग्री में चार प्रकार के द्रव्य होते हैं—१ सुगन्धित—कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि, २ पुष्टिकारक—घी, दूध, फल, कन्द (विदारी आदि), अन्न—चावल, गेहूँ, उडद, आदि, ३ मिष्ट द्रव्य—शक्कर, शहद, छुहारे, दाख आदि, ४ रोगनाशक द्रव्य—सोमलता अर्थात् गिलोय आदि ओषधियाँ—स्वामीदयानन्द। इन रोगनाशक औषधियो में अन्य कूठ आदि औषधियाँ ऋतु के अनुसार मिलायी जाती हैं। रोगनाशक औषधियो मे कूठ, वच, नीम, कुलञ्जन आदि तीक्ष्ण सुगन्धित द्रव्य तथा अन्य औषधियाँ मिलायी जाती हैं।

इस प्रकार की सामग्री से हवन करने का उल्लेख ब्राह्मणो में है—

'भैषज्य यज्ञा वा एते। तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते।
ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते॥' (गोपथ ३।१।१९)

ये ओषधियो के ही यज्ञ हैं। इसलिए ऋतुओ की सन्धियो में यज्ञ किये जाते हैं, क्योंकि ऋतु सन्धियो में रोग होते हैं।

रोग को उत्पन्न करनेवाले राक्षस (वर्त्तमान में रोगोत्पादक जीवाणु) बहुत ही सूक्ष्म होते हे। ये आँखो से दिखाई नही देते।

'तदवधुनोति। अविधूत रक्षः अविधूता अरातयः, इति।
तन्नाष्ट्रा एवैतद् रक्षास्यतोऽपहन्ति॥' (शत. ब्रा. १।१।४)

वह चर्म को झटक देता है, और कहता है कि राक्षसो का नाश हो गया। इस प्रकार से विनाशक राक्षसो का सहार होता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी अस्थियो की सख्या तीन सौ साठ ही बतायी गयी है, अगो का विभाग भी छ भागो में किया गया है[1]।

शतपथ ब्राह्मण में भी अस्थियो की सख्या तीन सौ साठ ही मानी गयी है। पुरुष की सवत्सर के साथ तुलना करते हुए लिखा है —

'पुरुपो वै सवत्सर। पुरुप इत्येक सवत्सर इत्येकमत्र तत्सम। द्वे वै सवत्सरस्याहोरात्रे द्वाविमौ पुरुपे प्राणावत्र तत्समम्। त्रय ऋतव सवत्सरस्य त्रय इमे पुरुपे प्राणा अत्र तत्समम्। त्रीणि च वै शतानि पष्टिश्च सवत्सरस्य रात्रयस्त्रीणि च शतानि पष्टिश्च पुरुपस्यास्थीन्यत्र तत्समम्। त्रीणि च शतानि षृष्टिश्च सवत्सरस्यहानि, रात्रयस्त्रीणि च शतानि पष्टिश्च पुरुपस्य मज्जातोऽत्र तत्समम्॥' शत० १२।३।२।

शतपथ के इस वचन का आधार अथर्ववेद का मत्र है —

'द्वादश प्रधयश्चक्रमेक त्रीणि नभ्यानिक उतन्चिकेत।
तत्राहतस्त्रीणि शतानि शङ्कव. पष्टिश्च खीला अविचाचला ये॥
—अथर्व. १०।८।४.

कालरूपी वर्पचक्र में बारह मास परिधि रूप में हैं। वर्पा, शीत और ग्रीष्म ये तीन ऋतुएँ नाभि रूप में है, और वर्प की तीन सौ साठ रात्रियाँ इस चक्र की खील है, जिनसे यह चक्र स्थिर है, मजबूत है, ढीला नही होता।

अथर्ववेद के इस मन्त्र को शरीर के साथ सम्बद्ध करने में पाँच अग्नि और सात धातु मिलकर बारह परिधियाँ होती है। पाँच अग्नि—"भौमाप्याग्नेयवायव्या पञ्चोष्माण सनाभसा। पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि।' २—सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविध पुन। यथा स्वमग्निभि पाक यान्ति किट्टप्रसादत॥' च० चि० १५।१३—१५। ये पाँच अग्नि और सात धातु (धारणात् धातव) इस पुरुप की परिधि, वाह्य सीमा है। तीन नाभि के स्थान पर तीन दोप—वात, कफ, पित्त है। तीन सौ साठ शकु के रूप में पुरुप में तीन सौ साठ अस्थियाँ है। पुरुप को सवत्सर कहा गया है (पुरुपो वै सवत्सर),इसलिए उसमें इसकी समानता है।

शरीर के अगो के नाम शतपथ ब्राह्मण में विशेप रूप से मिलते है, इसके लिए 'रसयोगसागर' का उपोद्घात देखना चाहिए।[2]

---

१ याज्ञवल्क्य स्मृति में सम्पूर्ण शरीर के अग-प्रत्यगो का वर्णन चरक के अनुसार ही मिलता है।

२ 'रसयोग सागर' में शरीर सम्बन्धी बहुत से शब्दो के नाम वेद,शतपथ ब्राह्मण तथा सुश्रुत से दिये गये है, जिससे उनकी समानता का पता चलता है।

कृमियो के सम्बन्ध में—जो आँख से नही दीखते ऐसे सूक्ष्म प्राणियो के लिए वैदिक साहित्य मे कृमि, यातुधान, राक्षस आदि साभिप्राय शब्द आते है। इन्ही के लिए 'सर्प' शब्द भी आया है, ये सरकते हैं, अथवा ये अतिक्रूर होते हैं, या खानेवाले होते हैं अथवा विप का कारण होते हैं, इसलिए सर्प हैं। इनके लिए नमस्कार है—

'नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु।
येऽन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्य सर्पेभ्यो नम ॥' (वा. स. १३।६)
या इपवो यातुधानाना ये वा वनस्पतीं रनु।
ये वाऽवटेपु शेरते तेभ्य सर्पेभ्यो नम।' (वा स. १३।७)

जो सर्पणशील कृमि पृथिवी, पार्थिव द्रव्यो की सहायता से, जो अन्तरिक्ष मे, वायुमण्डल में, जो द्युलोक में—आकाश परमाणुओ में सब ओर घूमते हैं, उन सब को मेरा नमस्कार है। मेरे नमस्कार से प्रसन्न होकर मुझे हानि न पहुँचायें। जो कृमिसृष्टि यातुधानो की नाना प्रकार की पीडा उत्पन्न करनेवाली यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि को बाणो के समान पीडा देनेवाली है, जो सब प्राणियो के आहार साधन वनस्पतियो में तथा अवटेपु, अवनत प्रदेशो मे रहते हैं, उन सब सर्पों को नमस्कार है।

शतपथ ब्राह्मण में इसकी व्याख्या में है—

"अथ सर्पनामैरूपतिष्ठते। इमे वै लोका सर्वास्ति ह्यऽनेन सर्वेण सर्पन्ति। यद्वेव सर्पनामैरुपतिष्ठत इमे वै लोका सर्पा यद्धि किं च सर्पत्येष्वेव तल्लोकेपु सर्पति तद्यत् सर्पनामैरुपतिष्ठते। यैवेपु लोकेपु नाष्ट्रा (अतिक्रूरा) यो व्यद्वरो (व्यदनशीलो दन्दशूकादि) या शिमिदा (विपहेतुर्लूतावृश्चिकादि) तदेतत्सर्वं शमयति॥"—शतपथ २७।

ऐतरेय ब्राह्मण में—अश्विनी को देवताओ का चिकित्सक कहा गया है। ज्ञानेन्द्रियो का वर्णन है (५।२२), ओपधियो से रोग निवारण (३।४०), अजन से नेत्र रोगो की निवृत्ति (१।३), शापादि से उन्माद, कुष्ठादि रोगो की उत्पत्ति, शुन शेप के उपाख्यानो में वरुण के कोप से जलोदर रोग, साम विधान ब्राह्मण मे साँपो से रक्षा (२।३।३), भूताक्रान्ति (२।२।२), रोगाक्रान्ति (२।२।३) है। तैत्तिरीय आरण्य में कृमिवर्णन (४।३६।१) है:

श्रौत सूत्रो में जिनका सम्बन्ध श्रुति (वेद) से है, कर्मकाण्ड का विशेप उल्लेख है। इसमे आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणात्य इन तीन अग्नियो के आधान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्यादि यज्ञो का वर्णन है। इनमें आश्वलायनीय में यज्ञीय पशुओ मे त्याज्य रोगो का निर्देश है। आपस्तम्ब मे कृमियो का वर्णन

(१५।१९।५), आश्वलायन-गृह्यसूत्र में सूर्योदय और सूर्यास्त मे सोना रोग का कारण कहा गया है (३।७।१।२), यजामान मे त्याज्य रोगो का उल्लेख (१।२३।२०) पशु रोगो की निवृत्ति (४।८।४०) है। शाङ्ख्यायन में—शारीरिक पीडा के समय वेद मत्र गाने का निषेध (४।७।३६), सव रोगो की निवृत्ति (५।६।१—२)। गोभिलीय मे रोग निवर्त्तक मत्रो का उल्लेख (४।६।२), आपस्तम्व मे अर्धावभेदक-आधा सीसी में कृमि के कारण, वालक के अपस्मार रोग में कुक्कुर भूत का उल्लेख, वालक में क्षेत्रीय रोग का परिहार[1] (६।१५।४)। पारस्कर में शिर पीडा में मर्दन से रोग शान्ति (३।६) हिरण्यकेशी में अग्नि से रोग नाश होना, (१।२।२८), वालक के क्षेत्रीय रोग की शान्ति (२।३।१०)। खादिर गह्यसूत्र में कृमिवर्णन (४।४।३), गायो के रोग की शान्ति के लिए उनको यज्ञीय धूम प्रदेश में चराना (४।३।१३), सर्पदश की चिकित्सा (४।४।१) आदि विपय न्यूनाधिक रूप से मिलते है।[2]

कौशिक सूत्रो में रोग शान्ति में मत्रो का विनियोग मिलता है। "अथ भैपज्यानि" इससे प्रारम्भ करके रोग प्रतिकार के वर्णन में उन-उन मत्रो द्वारा जल, औषध आदि को अभिमन्त्रित करके पिलाना, हवन, मार्जन आदि वहुत से उपाय लिखे गये है। वातिक तक्म रोग में मास-मेद का पान, कफ रोग में मधुपान, वातपित्तज में तैल पान, धनुर्वाताङ्ग कम्प शरीरभगादि वात रोगो में घृत का नस्य एव पान। (तुलना कीजिये अर्दित रोग में—"अर्दिते नावन मूर्ध्नि, तैल तर्पणमेव च", मन्यास्तम्भ में "रूक्ष-स्वेदस्तथा नस्य मन्यास्तम्भे प्रयोजयेत्", विश्वाची और अववाहुक रोग में—"वाहुशीर्षगते नस्य पानञ्चोत्तरभक्तिकम्"—आयुर्वेदसग्रह से), रक्तस्राव के अधिक होने पर या स्त्री के अति रज स्राव होने पर मिट्टी का पान [१ 'मृच्छख-हेमामलकोदकानाम्', २ 'पक्वस्य लोष्ठस्य च य प्रसाद, सशर्कर क्षौद्रयुत सुशीतो रक्तातियोगप्रशमाय देय।' चरक चि० अ० ४, ३ 'मधुना छागदुग्धेन कुलालकरकर्द्दम। अवश्य स्थापयेद् गर्भ चलित पानयोगत'—आयुर्वेदसग्रह]।

---

१ क्षेत्रीय रोगो से अभिप्राय उन रोगो से है, जो कि गर्भाशय से बच्चे में आते है। गर्भाशय की शुद्धि के लिए क्षेत्रीकरण शब्द आता है। इसकी शुद्धि इसी लिए की जाती है कि वच्चे में ये रोग न आयें। क्षेत्रीय रोगो का उत्तम उदाहरण आजकल का सिफलिस रोग है। पाणिनि ने इसका उल्लेख किया है। देखिए—'सस्कृत साहित्य में आयुर्वेद' पुस्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी से प्रकाशित।

२ विस्तार के लिए काश्यप सहिता का उपोद्‍घात देखें।

हृदय रोग और कामला मे रोगी को हल्दी और चावल का भोजन ["निशाचूर्ण कर्षमित दध्न पलमित तथा । प्रात समेवन कुर्यात् कामलानाशन परम् ॥"—आयुर्वेदसग्रह । २ 'लिह्याद् हरिद्रा त्रिफलान्विता वा'—अग्निपुराण], श्वेतकुष्ठ में गोबर से इतना घिसे कि त्वचा लाल हो जाय, फिर भृंगराज, इन्द्रवारुणी, हल्दी और नीली के पुष्पों को पीस कर लेप करना, वातरोग में पिप्पली का सेवन, शस्त्र लगने पर रक्त बहने पर *अथवा रोग के कारण शरीर के अन्दर से रक्त आने पर* लाक्षा का उपयोग ["उरो मत्वा क्षत लाक्षा पयसा मधुसयुताम् । सद्य एव पिबेज्जीर्णे पयसाद्यात् सशर्कराम् ॥" –चरक चि० अ० ११।१५] । राजयक्ष्मा, कुष्ठ, शिरोरोग, सम्पूर्ण अगो मे वेदना होने पर मक्खन में मिलाये कुष्ठ के चूर्ण से रोगी के शरीर पर लेप करना, गण्डमाला में शख को घिसकर लेप करना। (स्वर्जिकामूलकक्षार शखचूर्ण-समन्वित । प्रक्षेपो विहितस्तीक्ष्णो हन्ति ग्रन्थ्यर्बुदादिकान् ॥ आयुर्वेदसग्रह) । जलौका लगाकर रक्त प्रवाहण (तुलना कीजिए—"नृपाढ्यबालस्थविर भीरु दुर्बल नारी-सुकुमाराणामनुग्रहार्थं परमसुकुमारोऽय शोणितावसेचनोपायोऽभिहितो जलौकस ॥" सुश्रुत० सू० १३।२) । रक्त न निकलने पर सैन्धव नमक का रगड करना । (लवण-तैलप्रगाढै व्रणमुत्सवघर्षयेत्—एव सम्यक् प्रवर्त्तते ॥ सुश्रुत० सू० अ० १४।३५), व्रण में गोमूत्र से व्रण को मलना, आदि उपाय दिये गये है ।

प्राचीन काल में शरीर धातुओं की विषमता का कारण राक्षस, भूत, पिशाच, तथा रुद्र आदि देवताओं का प्रकोप, उनको ही रोग का कारण समझा जाता था । इस-लिए इन देवताओं की स्तुति होती थी । इसी प्रकार जिन ओषधियो से या जल से या अन्य वस्तु से रोग रूपी कष्ट से मुक्ति मिलती थी उसको देवता कहा गया है (लोक में आज भी देखते है, कि जब निराश रोगी को कोई चिकित्सक अच्छा कर देता है, वह उसको सर्वमान्य देवतारूप में गिनता है, यही बात उस समय भी प्रतीत होती है) ।

उपनिषदो में आयुर्वेद

उपनिषद् का अर्थ ही समीप बैठकर ज्ञान प्राप्त करना है । इसी से कहा गया है—

"परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्य कृत कृतेन ।
तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम् ॥'
—मुण्डक २।१२

गुरु के पास हाथो में समिधा लेकर पहुँचे । तब गुरु उसको ब्रह्म ज्ञान देता है । यह ज्ञान परा और अपरा नाम से जाना जाता है । अपरा में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद,

अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष है।[1] परा में ब्रह्म ज्ञान—जिनसे ब्रह्म जाना जाता है। उपनिषदो का मुख्य विषय ब्रह्म ज्ञान है, जैसा कि सनत्कुमार के पास जाकर नारद का ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करना, प्रजापति के पास इन्द्र और विरोचन का जाना, जनक का बहु दक्षिणावाले यज्ञ में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ज्ञानी का पता लगाना आदि से स्पष्ट है।

उपनिषद् और आरण्यक वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग है। अत इनको वेदान्त भी कहते हैं। भारतीय अध्यात्मशास्त्र के देदीप्यमान रत्न उपनिषद् हैं। उपनिषदो की सख्या दो सौ तक हैं, परन्तु इनमें मुख्य उपनिषद ग्यारह हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। भारत के सभी दर्शनो का उदय और विकास उपनिषदो की परम्परा से हुआ है। उपनिषदो से ही ज्ञान के प्रति उदारता का पता चलता है, जब कि अच्छे-अच्छे ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण अपनी शका-सदेह को दूर करने के लिए क्षत्रिय राजाओ के पास पहुँचते हैं। यही क्षत्रिय राजा आगे धर्म के प्रवर्त्तक—धर्मोपदेशक, बुद्ध और महावीर के रूप में हमारे सामने आते हैं।

ब्रह्मज्ञान का आधार शरीर है। इसलिए शरीर के धारण करनेवाले अन्न के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर उल्लेख है। यथा—

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्न प्रयन्त्यभि संविशन्तीति'–तैत्तिरीय २।

अन्न न निन्द्यात्—तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीर प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राण प्रतिष्ठित। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठित वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्म-वर्चसेन। महान् कीर्त्या।' तैत्तिरीय। ७।

अत्रिपुत्र ने भी अन्न के लिए ये शब्द कहे हैं—"न कुत्सयन्नकुत्सित .... अन्नमाददीत—सू०अ० ८।२० तथा सू० अ० २७।३४९–३५०।

अन्न का पाचन—शरीर में अन्न के पाचन को गन्ने के रस से गुड बनाने की प्रक्रिया द्वारा बताया है। गन्ने का रस पकाते समय तीन कड़ाहो का उपयोग होता है। पहले

---

१ कौटिल्य ने चार विद्याएँ कही हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता, दण्डनीति। नैषध में चौदह और अठारह विद्याओ का उल्लेख है—इनमें उपवेद मिलाने से तथा धर्मशास्त्र, पुराण, मीमासा, न्याय मिलाकर अठारह हैं।

अन्तिम कडाहे में रस डालते हैं। वही पर गरम होता रहता है। गरम होने से बहुत मैल निकल जाती है। इसमें से गरम रस लेकर पहले कडाहे में डालते हैं। इसमे बाकी की मैल निकलती है और रस गाढा हो जाता है। साफ और गाढा हो जाने पर इसे बीच के कडाहे में लाकर पकाते हैं। जब यह पक जाता है तब इसको मिट्टी के चाक पर फैलाकार गुड शक्कर या राब बनाते हैं।[1]

यही तीन प्रकार का स्थूल, सूक्ष्म तथा अतिसूक्ष्म पाक अन्न का होता है —

"अन्नमशित त्रेधा विधीयते तस्य य· स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीष भवति, यो मध्यमस्तन्मास योऽणिष्ठस्तन्मन· ॥१॥ आप पीतस्त्रेधा विधीयन्ते तासा य· स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्र भवति यो मध्यमस्तल्लोहित योऽणिष्ठ स प्राण ॥" छान्दो० ५।

'स्थूल सूक्ष्मस्तन्मलश्च तत्र तत्र त्रिधा रसः।
स्वस्थूलाशः पर सूक्ष्मस्तन्मलो याति तन्मलम् ॥'—आयुर्वेद सग्रह।

इसी को अत्रिपुत्र ने रस और किट्ट दो भागो में लिखा है। रस के ही स्थूल और सूक्ष्म दो भाग होते हैं। इनसे ही सम्पूर्ण शरीर पुष्ट होता है। (चरक सू० अ० २८।४)।

पामा रोग—छान्दोग्य में रैक्व की कथा आती है। जानश्रुति रैक्व के पास ज्ञान की इच्छा से जाता है, उसने रैक्व को गाडी के नीचे पामा रोग से पीडित देखा—और अपनी जिज्ञासा प्रकट की। (छान्दो० ४।१।८)।

पामा कुष्ठ का एक भेद है, इसमें श्वेत, लाल, काले रग की पिडकाएँ होती हैं। इनमें अतिशय खाज रहती है। धूप में पसीना आने से अतिशय खाज होती है, इसलिए छाया में बैठा था। गाडी चलाने का उसका धधा था, परन्तु था तत्त्वज्ञानी, जैसा कि रैक्व कथा से पता चलता है।

घोडे का शिर लगाना—आथर्वण ऋषि ने मधुविद्या का उपदेश अश्विनौ को दिया है। अश्विनौ ने दधीची ऋषि को दिया। परन्तु इस उपदेश-परम्परा में एक कथा दी गयी है। आथर्वण ने यह मधुविद्या अपने मुख से नही दी थी। अश्विनौ ने उसके शिर को काटकर घोडे का सिर लगाया। उसने जब मधुविद्या का उपदेश अश्विनौ को दिया तब वह सिर गिर पडा। उस पर अश्विनौ ने पुन आथर्वण का सिर जोड दिया। आथर्वण को कहा गया था कि इस मधुविद्या का यदि तुम उपदेश

---

1 इसका उल्लेख ऋग्वेद १।११७।२२ मत्र में भी है।

करोगे तो तुम्हारा सिर गिर जायगा। इसलिए घोडे का सिर लगाया गया था। (बृहदारण्य० ५।१७)।

यज्ञ का सिर अश्विनी ने जोडा था। इसमें रुद्र ने यज्ञ का सिर काट दिया था। इसके लिए देवता अश्विनी के पास जाकर कहने लगे कि 'आप दोनो हम सब में श्रेष्ठ होंगे, आप यज्ञ का शिर फिर जोड दीजिए। उन्होने कहा 'ऐसा ही सही' उन्होंने शिर जोड दिया इसके लिए इन्द्र ने इनको यज्ञभाग प्रदान करके प्रसन्न किया (सुश्रुत० अ० १।२७) 'यज्ञस्य हि शिरश्छिन्न पुनस्ताभ्या समाहितम्। एतैश्चान्यैश्च बहुभि. कर्मभिर्भिषगुत्तमौ ॥ बभूवतुर्भृश पूज्याविन्द्रादीना महात्मनाम् ॥' (चरक० चि० अ० १।४।)।

हृदय की क्रिया का वर्णन—'हृदय' मे तीन अक्षर है, 'हृ' का अर्थ आहरण करना है, यह सारे शरीर का रक्त लेता है; सब शरीर का रक्त हृदय में पहुँचता है। 'द' यह सारे शरीर को रक्त देता है, 'य'—सारे शरीर की क्रियाओ को नियमित करता है। एक सेकण्ड के लिए बन्द नही होता, निरन्तर चलता रहता है। हृदय के ये सब कार्य इसके नाम से स्पष्ट हैं।

"एष प्रजापतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्म तत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरं हृदयमिति। हृइत्येक-मक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। द इत्येकमक्षर ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एव वेद। यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गलोक य एवं वेद ॥ (बृहदा० ५।३।)

चरक—चरक के विषय मे उपनिषद् मे उल्लेख होने से यह स्पष्ट हो गया कि 'चरक' बहुतो के लिए आता है। जो लोग विचरण करते रहते है, उनको 'चरक' कहते थे। वैशम्पायन के अन्तेवासियो के लिए भी चरक शब्द आया है। शालीन, यायावर ऋषियो की भाँति चरक भी ऋषियो का ही एक भेद है—

'शालाश्रयत्वाच्छालीनत्वम्। वत्या वरमायातीति यायावरत्वम्।
अनुक्रमेण चारणत्वाच्चरत्वम्।'— बौधायनधर्मसूत्र (११वाँ प्रकरण)

शालीन और यायावर ऋषियो का उल्लेख चरक मे आता है (चि० अ० १।४।३), जो ऋषि लगातार घूमते रहते थे, वे 'चरक' थे। जैसे, अत्रिपुत्र अग्निवेश के गुरु, जिनको कि कभी हिमालय में, कभी कैलाश में और कभी काम्पिल्य में देखा जाता था। इन चरको का उल्लेख उपनिषदो मे भी आया है।

"अथ हैन भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरका. पर्यव्रजाम।
(बृहदा. ३।३।१)

चरकसंहिता के भिन्न-भिन्न वाद—चरकसहिता में रोग और पुरुष की उत्पत्ति का निर्णय करने में जितने मत या वाद वताये गये है, वे मव उपनिपद् में मिलते है। ये सव वाद वुद्ध के समय प्रचलित थे। ये वाद (सम्प्रदाय) लगभग ६२ थे। (जैन-ग्रन्थों में इनकी सख्या ३६३ है)। इनमें से कुछ निम्नलिखित है —

आजीविक, जटिलक, मुण्डमावक, परिव्राजक, गोतमक, मागन्विक, तेदण्डिक। वुद्ध के अतिरिक्त उस काल में अन्य प्रचारक भी थे। पुराण कस्सप, मक्खलिपुत्त-गोशाल, निगण्ठ नाटपुत्त, अजित केशकम्बिलन्, प्रवुद्ध कच्चायन, सञ्चय वेलट्ठ पुत्त। (भारतवर्ष का इतिहास—त्रिपाठी। पृष्ठ ७६)।

पूरण कस्सप—अक्रियावाद या अकर्म के प्रचारक थे। मक्खलिगोशाल, इनका सिद्धान्त कर्म और कर्मफल दोनो का निराकरण था। इनका मत नियति (भाग्य) वाद था। अजित केशकम्वलि—इनका मत था कि मृत्यु के वाद सव नष्ट हो जाता है। कर्म द्वारा फल की सम्भावना नही। इनका मत उच्छेदवाद था। प्रवुद्ध कच्चायन—इनका मत है कि सत का नाग नही होता और असत् से कुछ उत्पन्न नही हो सकता। इनके मत मे व्यक्ति का कोई उत्तरदायित्व नही।

चरकसहिता में इन्ही वादो की समीक्षा है— यया, चरक सू० अ० २५ में रोग और पुरुप की चर्चा में। सुश्रुत में इन सव वादो को एक श्लोक में ही कहा गया है—

वैद्यके तु—

'स्वभावमीश्वरं काल यदृच्छा नियति तथा।
परिणाम च मन्यन्ते प्रकृति पृथुदर्शिन ॥' (शा अ. १।११)

वैद्यक शास्त्र में स्वभाव, ईश्वर, काल, इच्छा, नियति और परिणाम इनको स्थूलरूप में कारण मानते हैं। यही वाद चरकसहिता में स्पष्ट रूप में भिन्न-भिन्न ऋपियो के मुख से सुनने में आते है। इन्ही सव वादो का समावेश श्वेताश्वतर में किया गया है —

"काल. स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्या।
सयोग एपा न त्वात्मभावादात्माप्यनीश· सुखदु खहेतो ॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्।
य कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक ॥"
(श्वेताश्वतर १।२-३.)

परिषदें—किसी विपय का निर्णय करने के लिए या समझने के लिए मिलकर

विचार होता था, इसी से अत्रिपुत्र ने कहा है कि "वैद्यसमूहो नि सशयकराणाम्"—(चरक० सू० अ० २५।४०)। इस प्रकार की गोष्ठी या परिषद् का उल्लेख चरक में कई स्थानो पर आता है, (यथा—चरक सू० अ० १२, अ० २५, अ० २६)।

इन परिषदो या सम्मिलित कथाओ में विषय की विवेचना परस्पर होती थी। ये परिषदें अपनी शाखा या चरण की रक्षक होती थी। परिषद् के बिना कोई परिवर्तन नही हो सकता था। काश्यप सहिता मे 'इतिपरिषद्' कहकर इस बात को कहा है।

यह परम्परा उपनिषदो की है—उपनिषदो में राजा जनक का ब्रह्म ज्ञान का निश्चय करने के लिए सभा सगठित करना और पञ्चालो की परिषद् का उल्लेख आता है। (बृहदा० ६।२।१, छान्दो० ३।१)।

प्राचीनशाल औपमन्यव' सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जन, शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते है ते महाशाला महाश्रोत्रिया. समेत्य मीमासा चक्रु. को नु आत्मा कि ब्रह्मेति'—छान्दोग्य० (अ० ५। ११। १)

इसकी तुलना के लिए देखिए—चरक, सू० अ० २६।३–७

ज्ञानप्राप्ति के उपायो में अध्ययन, अध्यापन और तद्विद्यसम्भाषा ये तीन उपाय चरक में कहे गये है (वि अ ८।६)। महाभाष्य में आगम काल, स्वाध्यायकाल, प्रवचन काल और व्यवहार काल ये चार प्रकार विद्या ग्रहण के बताये गये हैं।

आगन्तुक उन्माद—चरक में देवता आदि के प्रकोप से उत्पन्न उन्माद को आगन्तुक उन्माद कहा गया है। इनमें देवता लोग देखने से उन्माद उत्पन्न करते है, गुरु, वृद्ध, सिद्ध, महर्षि, शाप देकर, पितर अपने को दिखाकर और गन्धर्व स्पर्श करके उन्माद करते है।(चरक नि अ ७।१२)।

उपनिषद् में गन्धर्व से गृहीत स्त्री का उल्लेख है। बृहदारण्यक (३।७।१), इससे स्पष्ट है कि उस समय भूतविद्या का अस्तित्व था।

भूतविद्या से अभिप्राय—भूतविद्या का उल्लेख नारद ने भी किया है—"देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।" (छान्दोग्य ७।१।२)

"भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्ष पिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसा शान्तिकर्मवलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम्।' (सुश्रुत सू अ १।८।४)

देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग, ग्रह आदि के आवेश से दूषित मनवालो के लिए शान्तिकर्म, वलिहरण आदि ग्रहो की शान्ति के लिए किये जानेवाले कर्म 'भूतविद्या' नाम से कहे जाते हैं।

इनके अतिरिक्त हृदय की नाडियों का उल्लेख (अथवा एता हृदयस्य नाड्यस्ता पिंगलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य, नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यनौ वा ।' छान्दोग्य अ ८।६।१), अगो के वर्णन (नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि। ऊवध्य सिकता सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता 'बृहदारण्य अ १।१।१), का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। उपनिषदो का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। उसी के लिए आवश्यक चर्चा आयुर्वेद के वाक्यो की की गयी है।

उपनिषदो में जहाँ भी विद्याओ का उल्लेख स्पष्ट आता है, वहाँ आयुर्वेद का स्वतंत्र उल्लेख नहीं है।

सम्भवत वेद के उपागो में या अथर्ववेद के पढने के साथ ही आयुर्वेद का ज्ञान होने से इसका पृथक् उल्लेख इन विद्याओ में नहीं किया गया है। फिर भी उपनिषदो मे आयुर्वेद के विचारो की छाया दीखती है। उस समय की विचार परिपाटी चरकसहिता के उपदेश के समय तक मिलती है। सुश्रुत में मिलकर विचार करने की पद्धति का उल्लेख नहीं है। न उसमें स्थानचक्रमण मिलता है। चरक की परिपाटी स्पष्ट रूप से उपनिषदो की छाया है।

दूसरा अध्याय

रामायण और महाभारत काल

रामायण का समय

रामायण और महाभारत के समय के विषय मे इतिहास के पण्डितों में तथा अन्य श्रद्धालु विद्वानो में बहुत मतभेद है। श्रद्धालु विद्वान् उपलब्ध वाल्मीकि रामायण और महाभारत को पाँच हजार वर्ष से भी पूर्व का मानते है, उनकी दृष्टि से ये त्रेता और द्वापर युग की रचनाएँ हैं। परन्तु इतिहास की दृष्टि से ये ग्रथ इतने प्राचीन नही दीखते। उनकी मान्यता के अनुसार रामायण का समय ईसा से ५०० वर्ष पूर्व माना गया है। क्योंकि रामायण में कोशल प्रदेश की राजधानी 'अयोध्या' का ही उल्लेख है। बुद्ध के समय में इसका साकेत नाम हो गया था, बौद्ध ग्रन्थो मे साकेत को ही कोशल की राजधानी कहा गया है। बौद्धकाल के प्रसिद्ध 'पाटलिपुत्र' का भी उल्लेख रामायण में नही है, मिथिला का ही उल्लेख है। पाटलिपुत्र को मगध नरेश अजातशत्रु ने ५०० ईस्वी पूर्व बनाया था। अजातशत्रु ने इस नगर को गगा और शोण के सगम पर बसाया था।

रामायण में वर्णित विशाला और मिथिला दो स्वतत्र राज्यो का अस्तित्व बौद्ध काल में समाप्त हो गया था। उसके स्थान पर वैशाली गणतत्र बन गया था। महाभारत में वर्णित विस्तृत मगध राज्य को जिसका राजा जरासन्ध था, रामायण मे छोटा राज्य लिखा है। रामायण में भारत का दक्षिण भाग बीहड जगलो से भरा तथा राक्षसो के रहने का स्थान बताया गया है, परन्तु महाभारत में दक्षिण विजय के समय सहदेव को यहाँ के चोल और पाण्डच राजाओं से बहुत धन सम्पदा, सुन्दर वस्त्र, मोती आदि मिलने का उल्लेख है। महाभारत में रामोपाख्यान है, जिससे स्पष्ट है रामायण महाभारत से पूर्व का ग्रन्थ है।

रामायण—सस्कृत का आदि काव्य कहा जाता है। इससे पूर्व वशानुचरित (जिसका प्राचीन नाम नाराशसी है और पिछला नाम इतिहास है)[1] का लिपिबद्ध

---

१ अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त में विद्याओ का परिगणन करते हुए कहा गया है—
'तमितिहासश्च पुराण च गाथा च नाराशसीश्चानुव्यचलन् इतिहासस्य च वै स

इतिहास नहीं मिलता। रामायण में राजा क्रमागत बताया गया है। रामायण पिछले काव्यों, नाटकों का आदि स्रोत है। कालिदास, अश्वघोष ने इसी से प्रेरणा ली है। इसकी उपमाएँ, इसके वचन, उनकी रचनाओं में मिलते हैं।[1] रामायण काव्यमय ऐतिहासिक रचना है। इस रचना में प्रसंगवश चिकित्सा सम्बन्धी कुछ वचन मिलते हैं, ये वचन मुख्यतः शल्य चिकित्सा से सम्बन्ध रखते हैं। यथा—

मेषवृषण—इन्द्र के नामों में एक नाम मेषवृषण भी है। गौतम ऋषि के शाप से इन्द्र के वृषण निकम्मे हो गये थे। इसलिए उसके लिए अश्विनी ने मेष के वृषणों को लगाया था। इसी से उसका नाम 'मेष वृषण' हुआ। (वा रा बा ४९।८, १०, १२)

मूढ़ गर्भ में शल्यकर्म—सुश्रुत ने फँसे अंग को काटकर निकालने की सूचना दी है (यद्यदङ्गं हि गर्भस्य तस्य सज्जति तद् भिषक्। सम्यग् विनर्हरेत् छित्वा रक्षेन्नारीं च यत्नतः ॥'—चि अ १५।१३)। सीता ने भी अपने दुःख का वर्णन करते हुए हनुमान को इसी रूप में सन्देश दिया है—

यदि राम जल्दी नहीं आयेंगे तो अनार्य राक्षस रावण मेरे अंगों को अवश्य तेज शस्त्रों से बहुत जल्दी काट देगा, जिस प्रकार कि शल्य चिकित्सक गर्भस्थ शिशु के अंगों

पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥'—अथर्व. १५।६; ११-१२.

'मनोन्वाहमहे नाराशंसेन स्तोमेन पितॄणां च मन्मभि. ॥'—यजु. ३।५३.

नर का आशंसन करनेवाले गानों से और अपने पूर्व पुरुषों के महत् ज्ञान का चिन्तन करने से हम अपने भीतर मन का निर्माण करते हैं।

१ वाल्मीकि रामायण की उपमा अश्वघोष के काव्य में मिलती है—

'इदं ते चारु संजातं यौवनं ह्यतिवर्त्तते।
यदतीतं पुनर्नैति स्रोतः शीघ्रमपामिव ॥'—वा.रा सुन्दर २०।१२.

अश्वघोष ने भी इसी उपमा को कहा है—

'ऋतुर्व्यतीतः परिवर्त्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
गतं गतं नैव तु संनिवर्त्तते जलं नदीनां च नृणां च यौवनम् ॥'
—सौन्दरानन्द. ९।२८.

'अश्वघोष की काव्यशैली सिद्ध करती है कि वह कालिदास से कई शताब्दी पूर्व के थे। भास उनका अनुकरण करते हैं और उनका शब्द-भंडार यह सिद्ध करता है कि वह कौटिल्य के निकटवर्ती हैं।'—बौद्धधर्म दर्शन, पृष्ठ १३७।

को काटकर वाहर करते हैं, मुझ दुखी के लिए इससे अधिक क्या बुरा है ? जिस प्रकार वलि के लिए वांधे गये पशु को तथा वध्य चोर को रात्रि के अन्तिम भाग मे दुख होता है, उसी प्रकार का कष्ट मुझे है, (वा रा. सुन्द २८।६-९)

तैल द्रोणी—भारतीय प्रथा मे वस्तुओ को सुरक्षित रखने का उपाय तैल और मधु हैं। घरो में अचार, लकडी आदि तैल से ही सुरक्षित रखे जाते हैं। राजा दशरथ के शव को भी भरत के आने तक तैल मे ही सुरक्षित रखा गया था। (वा रा अयो. १४।१६)

वृक्ष वनस्पति—रामायण मे वर्णित वृक्ष वनस्पति प्राय स्पष्ट हैं—कुटज, अर्जुन, कदम्ब, सर्ज, नीम, सप्तच्छद, अशोक, असन, सप्तवर्ण, कोविदार वन्धुजीव आदि प्रचलित नाम रामायण मे मिलते हैं। वेदो की भाँति अप्रचलित वनस्पतियो या वृक्षो का उल्लेख रामायण में नही है। इस दृष्टि से रामायण मे वनो का वर्णन महत्त्वपूर्ण है। महाभारत में वनो का वर्णन वनस्पति या वृक्षो की दृष्टि से महत्त्व का नही है।

आसव तथा पानभूमि—रामायण में रावण की पानभूमि का उल्लेख है। इसमे दिये गये आसवो के नाम, पानभूमि का वर्णन, मद्य और मास का सम्बन्ध पूर्णत. आयुर्वेद ग्रन्थो की भाँति है—

'रावण की पानभूमि अग्नि के बिना भी जलती हुई दीखती थी। इसका अनेक प्रकार से सत्कार किया गया था। नाना तरह के ठीक प्रकार से बनाये गये अनेक मास वहाँ थे। नाना प्रकार की निर्मल प्रसन्न-सुरा, शर्करासव, माध्वीक, पुष्पासव, फलासव वहाँ पर थे। नाना प्रकार के सुगन्धित चूर्ण रखे हुए थे। बहुत-सी मालाएँ वहाँ थी। सोने और स्फटिक के पात्र वहाँ पर थे। जाम्बूनद के पात्र ओले बर्फ के अन्दर रखे थे। चाँदी, मिट्टी तथा स्वर्ण के पात्रो में सुरा रखी थी। कही पर आधे खाली पात्र पडे थे, कही पर बिलकुल खाली पात्र थे और कही पर बिना पिये भरे पात्र पडे हुए थे। कही पर नाना प्रकार के भक्ष्य थे, और कही पर अनेक प्रकार के पेय थे।' अत्रिपुत्र ने शर्करासव शेष आठ आसवो से पृथक् कहा है ('शर्करासव एक एवेति'—चरक सू. अ. २५।४९)। पुष्पासव और फलासव की आठ प्रकार की आसवयोनियो में गणना की गयी है। माध्वीक आसव भी फलासव का एक भेद है ('माध्वीक पिबतोऽपि च' —चरक चि. अ. ८।१६३)।

पानभूमि या मधुशाला का वर्णन अष्टागसग्रह में आता है (सग्रह. चि अ ९)। इसमें मद्य और मास का सम्बन्ध बताया गया है—'आनूप या जागल मास ठीक तरह से बना होने पर भी मद्य की सहायता के बिना ठीक तरह से नही पचता।' इसी से

अत्रिपुत्र ने यक्ष्मा रोग चिकित्सा में कहा है—'प्रसन्ना वारुणी सीधुमरिष्टानासवान्मधु। यथार्हमनुपानार्थं पिवेन्मासानि भक्षयन्॥' (च चि अ ८।१६५)। सग्रह का यह वर्णन गुप्त काल का है।

ओषधि पर्वत—रामायण के युद्ध काण्ड में ओषधि पर्वतानयन अध्याय है, जिसमें हनुमान् ओषधिपर्वत को लका में लाये थे। ओषधिपर्वत की पहचान बताते हुए हिमालय के पास काञ्चन पर्वत (स्वर्ण पर्वत) और कैलास के शिखर का वर्णन किया गया है। इनके बीच में सब ओषधियो से युक्त पर्वत है।

ये ओषधियाँ मृतसजीवनी, विशल्यकरणी, सावर्ण्यकरणी तथा सधानकरणी हैं[1]। इन सबको लेकर हनुमान जल्दी ही आ गये थे। इन ओषधियो के आने से सब मृत वानर शल्यरहित, पीडारहित हो गये। इन ओषधियो की गन्ध सूँघते ही सब मृत वानर ऐसे उठे मानो नीद से उठे हों[2]।

मृत और जीवित की परीक्षा—शक्ति लगने पर लक्ष्मण जब मूर्च्छित हो गये तब राम ने उनको मृत समझा। उस समय सुषेण वैद्य ने उनके जीवित होने के निम्न-लिखित चिह्न बताये, यथा—

इसका मुख नही बदला, न काला पडा और न कान्ति रहित हुआ, वह अच्छी प्रभा-युक्त है, प्रसन्न है, हथेलियाँ लाल कमल के समान है, आँखें निर्मल है, मृत व्यक्तियो का ऐसा रूप नही होता। हे राम! आपका भाई दीर्घायु है, लम्बी आयुवालो का ही ऐसा मुख होता है। (वा रा युद्ध १०२।१५–१७) मरणशील व्यक्ति के लक्षण इसके विपरीत होते हैं, यथा—'वैवर्ण्य भजते काय कायच्छिद्र विशुष्यति। धूम सजायते मूर्ध्नि दारुणास्यश्च चूर्णक॥' (चरक इन्द्रिय अ १२)

लक्ष्मण को जीवित करने के लिए ओषधिपर्वत से दक्षिण किनारे की ओषधियो को लाने का निर्देश हनुमान् को दिया गया था। हनुमान् ओषधि को न पहचानकर पर्वत के एक भाग को ही ले आये। सुषेण वैद्य ने ओषधि को उखाडकर वानरो को दिया।

---

१. 'मृतसजीवनीं चैव विशल्यकरणीमपि।
सावर्ण्यकरणीं चैव सन्धानकरणीं तथा।
ता. सर्वा हनुमन् गृह्य क्षिप्रमागन्तुमर्हसि॥' (वा रा. युद्ध. ७४।३३)

२. 'तावप्युभौ मानुषराजपुत्रौ त गन्धमाघ्राय महौषधीनाम्।
बभूवतुस्तत्र तदा विशल्यावुत्तस्थुरन्ये च हरिप्रवीरा॥' (वा. रा युद्ध ७४।७३)

वानरो ने इसे कूटा, इसका नस्य सुषेण ने लक्ष्मण को दिया। इसे सूँघकर लक्ष्मण पीड़ा रहित होकर उठ खड़े हुए। (वा रा युद्ध ६।१०२)।

रामायण में आयुर्वेद सम्बन्धी उद्धरण यत्र-तत्र थोड़े ही हैं। यह एक संस्कृत काव्यमय रचना है—कथाप्रसग में जो भी उल्लेख मिलता है, उससे तत्कालीन चिकित्सा-ज्ञान की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। शल्य चिकित्सा, औषध चिकित्सा उस समय पर्याप्त उन्नति पर थी इसमें सन्देह नही।

वैद्यशब्द—वैद्य शब्द रामायण मे सम्भवत सबसे पहले आता है वेद मे 'भिषक्' शब्द है—'प्रधान साधक वैद्य धर्मशील च राक्षस। ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते शूरं परिभवन्ति च॥' (वा रा युद्ध १६।४)।

महाभारत में आयुर्वेद साहित्य

महाभारत (भारत सावित्री) के विषय मे डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने जो लिखा है, वह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है—

'महाभारत इस देश की राष्ट्रीय ज्ञान संहिता है। सदा उत्थानशील कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने विशाला बदरी के एकान्त आश्रम मे बैठकर भारतीय ज्ञानसमुद्र का अपनी विशाल बुद्धि से मन्थन किया, जिससे महाभारतरूपी चन्द्रमा का जन्म हुआ। जिस प्रकार समुद्र और हिमालय रत्नो की खान हैं, उसी प्रकार यह महाभारत है। जो इसमें है, वही अन्यत्र मिलेगा, जो यहाँ नही है वह अन्यत्र भी नही।' चरक संहिता के अन्तिम श्लोको में भी यही वचन है—'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।' (सि अ १२।५४) यह बात सम्भवत कायचिकित्सा के सम्बन्ध में ही है।

महाभारत के पहले पर्व में उसके इतिहास और पुराण दोनो नाम दिये गये हैं—('द्वैपायनेन यत्प्रोक्त पुराण परमर्षिणा'—आदि १।१५, 'भारतस्येतिहासस्य पुण्या ग्रन्थार्थसंयुतान्'—आदि १।१७।१९)। ऐतिहासिक और सृष्टि सम्बन्धी अनुश्रुतियो पर विचार करनेवाले और उनकी रक्षा करनेवाले विद्वानो को और मेधावी ऋषियो को पुराणवित् कहा गया है (अथर्व. ११।८।७)। अतीत काल को जाननेवाले पुराणवित् होते थे, क्योकि विश्व के सब पदार्थो का अन्तर्भाव नाम और रूप मे होता है, रूप नष्ट हो जाता है, नाम ही शेष रह जाता है। इन्ही पुराणविदो को आजकल के शब्दो में ऐतिहासिक कह सकते हैं। पुराणकाल के वृत्तान्तो का पारायण करनेवाले विद्वानो की कल्पना उत्तर वैदिक काल में हो चुकी थी (अथर्व १५।६, ११-१२)। इस प्रकार इतिहास-पुराण की परम्परा या प्राचीन जनश्रुतियो का अति विशिष्ट संकलन और

अध्ययन वैदिक संहिताओं का व्यास करनेवाले एवं लोकविधान के तत्त्वज्ञ महामुनि कृष्ण द्वैपायन ने किया।

भारत और महाभारत ये दोनों नाम पहले कुछ समय तक पृथक् थे। जैसा कि पाणिनि के सूत्र (६।२।३८) से पता चलता है। कुछ समय पीछे, सम्भवत शुंगकाल में भारत ग्रन्थ अपने ही बृहत्तर रूप महाभारत में अन्तर्लीन हो गया। व्यास का मूल ग्रन्थ भारत २४,००० श्लोकों का था और उसमें उपाख्यान नहीं थे (आदि १।६३१)। पीछे से पुराणों के, वेदों के उपाख्यान इसमें जोड दिये गये, जिससे कथा में रस आ गया और गूढ विषय सर्वसाधारण के लिए बुद्धिगम्य हो गया।

महाभारत का समय--वैदिक साहित्य---ब्राह्मण, उपनिषदों में महाभारत का नाम नहीं, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशसी नाम मिलते हैं। महाभारत में ये विषय कुछ परिवर्तित रूप में अवश्य मिलते हैं। कुरुक्षेत्र की मुख्य घटना का उल्लेख किसी वैदिक साहित्य में नहीं है। परीक्षित-पुत्र जनमेजय तथा शकुन्तला-पुत्र भरत का वर्णन ब्राह्मणों में मिलता है। यजुर्वेद के ग्रन्थों में यत्र-तत्र कुरु-पंचाल तथा विचित्रवीर्य के पुत्र युधिष्ठिर के यज्ञों का वर्णन मिलता है। परन्तु समस्त वैदिक साहित्य में पाण्डु, दु शासन, युधिष्ठिर, दुर्योधन, कर्ण आदि महाभारत के प्रमुख पात्रों का नाम नहीं मिलता (एक ब्राह्मण ग्रन्थ में 'अर्जुन' नाम आया है, वह वहाँ इन्द्र के लिए है)। कौरव और पाण्डवों के युद्ध का निदश सबसे प्रथम पतञ्जलि ने किया है। युधिष्ठिर, अर्जुन का नाम पाणिनि के सूत्रों में आता है।

त्रिपिटकों में भी महाभारत का उल्लेख नहीं है। जातक कथाओं में कृष्ण की कथा को भुलाने का प्रयास दीख पडता है, फिर भी हरिवंश और महाभारत के मौसल पर्व की कहानियों का संकेत मिलता है। जातकों में धनंजय, युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, विदुर आदि नाम मिलते हैं, द्रौपदी, धनंजय तथा विदुर के वर्णन आये हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि महाभारत की रचना वैदिक काल के पीछे और बौद्ध साहित्य से पूर्व हुई है। इसलिए ईसा से ४०० वर्ष पूर्व इसका अस्तित्व था। इसी से सूत्र ग्रन्थों, सांख्यायन तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र में इसके उद्धरण मिलते हैं। जो पाली साहित्य इस समय से पूर्व रचा गया था उसका परिचय महाभारत से नहीं था। महाभारत की बहुत-सी उपदेशात्मक कथाएँ वैदिक साहित्य से ली गयी हैं। महाभारत की बहुत-सी कथाएँ जैन और बौद्ध साहित्य में हैं। पाणिनि को महाभारत का ज्ञान था। पाणिनि का समय ४०९ ईसा पूर्व है, अत इससे पहले महाभारत बन गया था।

महाभारत का पहला नाम 'जय' था---'इसमें पुराणसंश्रित कथाएँ, धर्मसंश्रित

कथाएँ, राजर्पियो के चरित-जैसे मुख्य विपयो का ताना-वाना कुरु-पाण्डवो के 'जय' नामक इतिहास के चारो ओर वुन दिया गया है। ययाति और परशुराम के वडे-वडे उपाख्यान, जिन्हें व्याकरण में 'यायात' और 'आविराम' कहा गया है, जो किसी समय लोक में स्वतत्र रूप से प्रचलित थे, और फिर महाभारत में सगृहीत होते गये। (भारत सावित्री) इस प्रकार से इसका आकार वढ गया, जो गुप्तकालीन शिलालेखो मे 'शतसाहस्री' नाम से लिखा गया है। महाभारत में भी यह उल्लेख है—

'इदं शतसहस्र तु श्लोकाना पुण्यकर्मणाम्।
उपाख्यानै सह ज्ञेयमाद्य भारतमुत्तमम्॥'

महाभारत में अश्विनौ का उल्लेख चिकित्सा के सम्वन्ध में आता है—'तमुपाध्याय प्रत्युवाच, अश्विनौ स्तुहि। तौ देवभिपजौ त्वा चक्षुष्मन्त कर्त्ताराविति। स एवमुक्त उपाध्यायेनोपमन्युरश्विनौ स्तोतुमुपचक्रमे वाग्भि ऋग्भि॥'—आदि ३।५६।

आयुर्वेद के आठ अग—आयुर्वेद आठ अगो में विभक्त है। ये आठ अग शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, कौमारभृत्य, भूतविद्या, रसायन, वाजीकरण और विप-गर-वैरोधिक प्रशमन हैं। महाभारत के सभापर्व में (लोकपाल सभाख्यान पर्व में) नारद युधिष्ठिर को प्रश्न के रूप में शिक्षा देते हुए कहते हैं—

'हे युधिष्ठिर! क्या तुम शरीर के रोगो की चिकित्सा औपध सेवन और पथ्य से करते हो? मानसिक रोगों को वृद्धों के सेवन से तथा उनके सत्सग से दूर करते हो? (तुलना कीजिए—'मानस प्रति भैपेज्य त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्। तद्विद्यसेवा विज्ञान-मात्मादीना च सर्वश।'—चरक सू अ ११।४५) क्या तुम्हारे वैद्य चिकित्सा के आठो अगो में निपुण हैं? तुम्हारे शरीर के सम्वन्ध में क्या मित्र लोग अनुरक्त हैं? वे तुम्हारे स्वास्थ्य का ध्यान रखते है?' (सभा १५।९०-९१)

स्थावर विप को जंगम विप नष्ट करता है—विप के दो भेद हैं, स्थावर और जगम। इनमें जगम विप अधोभाग म जाता है और स्थावर विप ऊर्ध्वगामी होता है। इसलिए जगम विप को (साँप आदि के विप को) स्थावर विप (अहिफेन, सखिया आदि) नप्ट करता है। भगवान् शिव की कल्पना में इसी वात को ध्यान में रखा गया है। समुद्र मन्थन से उत्पन्न हलाहल विप को उन्होंने पिया। उनके गले पर साँप लिपटे हुए हैं, जिनके विप के प्रभाव से वह नीचे नही जा सकता। उसका प्रभाव सिर पर हुआ। उसकी गरमी को कम करने के लिए गगा की शीतल धारा गिरने की कल्पना की गयी और विप के प्रभाव की कालिमा को दूर करने के लिए माथे पर चन्द्रमा को स्थापित किया गया, जिसकी द्युति से यह कालिमा छिप गयी।

दुर्योवन ने भीम को जव विष दे दिया और उसके मूर्च्छित होने पर उसे नदी में गिरा दिया, तव वहाँ सांपो ने उसे काटा। सांपो के दश से उसका विप नष्ट हो गया था।

पापी दुर्योवन ने भीम के खाने की वस्तुओ में विप मिला दिया जिससे भीम मर जाय। विप के वेग से मूर्च्छित, निश्चेष्ट हुए भीम को लतापाशो से दुर्योवन न स्वय बाँधकर स्थल से जल में धकेल दिया। वहाँ पर साँपो के काटने से कालकूट विप नष्ट हो गया, क्योकि स्थावर विप को जगम विप नष्ट करता है। विप के उतरने पर भीम जाग उठा और उसने अपने सव बन्धन तोडकर साँपो को मारना प्रारम्भ किया। (आदि १२७।५३-५९)

लोक में यह प्रचार है कि अफीम खानेवाले को साँप का विप नही चढता। सम्भवत इसका यही आधार हो कि स्थावर विप पर जगम विप का प्रभाव नही होता।

विप पर मत्र का प्रभाव—विप प्रतिकार के उपायो में मत्रशक्ति का महत्त्व आयुर्वेद में वर्णित है—

'देवर्पि और ब्रह्मर्पियो से कहे, तप-सत्यमय मत्र कभी व्यर्थ नही होते। ये अति भयकर विप को भी नष्ट कर देते है। सत्य-ब्रह्म-तपवाले तेजस्वी मत्रो से जिस प्रकार विप नष्ट होता है; वैसा औपधो से नही होता।"[1] (सुश्रुत कल्प अ ५।९-१०)

महाभारत में मत्रो का प्रभाव काश्यप द्वारा तक्षक साँप से काटे हुए वृक्ष को पुन जीवित करने से स्पष्ट होता है—

'सातवाँ दिन आने पर ब्रह्मर्पि काश्यप राजा परीक्षित के पास जाने लगे। रास्ते में तक्षक ने काश्यप को देखा और पूछा कि हे ब्रह्मन्! कहाँ इतनी तेजी से जा रहे हो। काश्यप ने कहा कि कुरुओ के राजा परीक्षित के पास जा रहा हूँ, आज उसको तक्षक साँप काटेगा और मै उसको जीवित करूँगा। तक्षक ने कहा कि मै ही तक्षक हूँ—मेरे काटे हुए को तुम जीवित नही कर सकते। मै इस वृक्ष को काटता हूँ, तुम इसे जीवित कर दोगे? यह कहकर तक्षक ने वृक्ष को काटा। काश्यप ने उस वृक्ष की सारी राख को एकत्र करके पुन उसे जीवित कर दिया[2]।'

---

१. योगदर्शन में भी मंत्र और ओपधि से सिद्धि प्राप्त करने का उल्लेख है—'जन्मौषधिमन्त्रतप समाधिजा सिद्धय ॥'—(४।१)

२. 'यद् वृक्षं जीवयामास काश्यपस्तक्षकेण वै।
नूनं मंत्रैर्हतविषो न प्रणश्येत काश्यपात् ॥'—(आदि ५०।३४)

परीक्षित ने साँप से बचने के लिए जो साधन एकत्र किये थे—उनमें मन्त्र सिद्ध ब्राह्मण, ओषधियाँ और वैद्य भी थे ('रक्षा च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च। ब्राह्मणान् मन्त्रसिद्धाश्च सर्वतो वै न्ययोजयत् ॥' आदि ४२।३०)।

राजयक्ष्मा रोग—अत्रिपुत्र ने यक्ष्मा रोग का कारण अधिक स्त्री-सेवन से होनेवाला शुक्रनाश बताया है। इसे समझाने के लिए राजा चन्द्रमा और प्रजापति की अट्ठाईस कन्याओं के विवाह का एक दृष्टान्त उन्होंने दिया है। सत्यवती-पुत्र विचित्रवीर्य भी अधिक स्त्री-सेवन से यक्ष्मा रोग से आक्रान्त हुए थे। भिषकों से चिकित्सा कराने पर भी यह रोग नष्ट नहीं हुआ और अन्त में उनकी मृत्यु का कारण बना। यथा—

'ताभ्यां सह समा सप्त विहरन् पृथिवीपतिः।
विचित्रवीर्यस्तरुणोयक्ष्मणा समगृह्यत ॥
सुहृदां यतमानानामाप्तैः सह चिकित्सकैः।
जगामास्तमिवादित्यः कौरव्यो यमसादनम् ॥'—

(म भा. १। १०२।८०-७१)

चैत्ररथ वन—चैत्ररथ वन की प्रसिद्धि संस्कृत साहित्य में बहुत पुरानी है। कादम्बरी में महाश्वेता वर्णन-प्रसंग में चित्ररथ गन्धर्व द्वारा इसके बनाने का उल्लेख है ('तेनैव चेद चैत्ररथं नामातिमनोहरं काननं निर्मितम्'—कादम्बरी।) गीता के विभूतिपाद में भगवान् ने गन्धर्वों में अपने को चित्ररथ बताया है ('गन्धर्वाणां चित्ररथः')। घोषयात्रा प्रसंग में द्वैतवन के अन्दर दुर्योधन-कर्ण आदि का चित्ररथ गन्धर्व के साथ युद्ध होना प्रसिद्ध है।

कालिदास ने मेघदूत में चैत्ररथ को वैभ्राज नाम से कहा है ('वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्या सहाया'—उत्तर मेघ)। महाभारत में भी वैभ्राज शब्द आता है (आदि ८५।९)। रघुवंश में भी कालिदास ने चैत्ररथ वन का उल्लेख किया है।

इसी चैत्ररथ वन का उल्लेख चरकसंहिता में अत्रिपुत्र ने किया है—जहाँ पर ऋषियों के साथ बैठकर रस-विनिश्चय किया गया था—(चरक सू अ २६।६)।

यह चैत्ररथ देवताओं और ऋषियों के रहने का स्थान था। इसका उल्लेख आयुर्वेद में भी आया है। आधुनिक चित्राल ही चैत्ररथ वन है, ऐसा भी कई विद्वान् मानते हैं।

युद्ध में वैद्य—वाहट ने संग्रह में और धन्वन्तरि ने सुश्रुत संहिता में राजा के समीप वैद्य को रहने का उल्लेख किया है। वैद्य को सदा राजा के खान-पान तथा अन्य वस्तुओं की देखरेख करनी चाहिए। राजा को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए,

क्योकि श्रेष्ठ हाथी भी विना अकुश के पूजनीय नही होता ('न हि भद्रोऽपि गजपति-निरङ्कुश श्लाघनीयो जनस्य'—सग्रह ८।५)।

वैद्य का स्थान सेना-पडाव में राजा के समीप होता था। उसके डेरे पर एक ध्वजा (विशेप चिह्न, रेडक्रास) लगी रहती थी, जो दूर से दीखती थी, जिससे लोग तुरन्त उसके पास पहुँच सकें। वहाँ उसके पास मव उपकरण—साजसज्जा रहती थी। यह वैद्य सव अगो में निपुण होता था, कुलीन, आस्तिक, उत्तम परिजनोवाला, आलस्यरहित, क्रोधरहित, चतुर, समझदार होता था।[1] कौटिल्य ने भी स्कन्धावार में चिकित्सको को रखने के लिए कहा है। (कौटिल्य अर्थ १०।६२)

युधिष्ठिर ने अपनी सेना में सैंकडो शिल्पी तथा शास्त्रविशारद वैद्य वेतन देकर रखे थे, वे सव उपकरणो से युक्त थे, (उद्योग[2]।५२।१२)

भीष्म की चिकित्सा के लिए शल्य चिकित्सक—भीष्म जव शरशय्या पर गिर पडे उस समय उनकी चिकित्सा के लिए दुर्योधन शल्य निकालने में निपुण, सव साधनो से युक्त वैद्यो को लेकर पहुँचा। ये सव वैद्य कुशल और सुशिक्षित थे। इनको देखकर भीष्म ने दुर्योधन से कहा कि 'इनको अव धन देकर वापस कर दो। इस अवस्था में पहुँच जाने पर अव वैद्यो की क्या जरूरत ?' यह सुनकर दुर्योधन ने धन देकर वैद्यो को वापस कर दिया। (भीष्म १२०।५५-५९)

महाभारत में आयुर्वेद के वचन रामायण की भाँति यत्र-तत्र ही मिलते है। युद्ध की तैयारी में अन्य वस्तुओ के साथ वैद्यो की भी जरूरत होती थी, क्योकि शत्रु लोग यवस, आसन, भूमि, जल, वायु आदि को विपमय कर देते है, उनका चिकित्सा-प्रतीकार करने के लिए वैद्य का साथ में रहना आवश्यक है (सु क अ ३।६)। इसलिए युधिष्ठिर ने वैद्यो को साथ में रखा था। रामायण और महाभारत भारतीय सस्कृति के पृष्ठवश हैं।

---

१. 'स्कन्धावारे च महति राजगेहादनन्तरम्।
भवेत्सन्निहितो वैद्य सर्वोपकरणान्वित ॥
तत्रस्थमेन ध्वजवद्यश ख्यातिसमुच्छ्रितम्।
उपसर्पन्त्यमोहेन विषशल्यमयार्दिता ॥'—(सुश्रुत. २४।१२-१३)

२ तस्माद् भिषजो राजा राजगृहासन्ने निवेशन कारयेत्।
तथाहि सर्वोपकरणेषु नृपतिशरीरोपयोगिस्वपरोक्षवृत्तिर्भवति।'
—(सग्रह ८।७)

<u>सजीवनी विद्या</u>—महाभारत के आदिपर्व में (अ ७०) ययाति के चरित्र वर्णन में एक सरस लघु कथा बृहस्पति पुत्र कच और शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी की है। एक बार ऐश्वर्य के लिए देवता और असुरो में युद्ध हुआ। देवासुर संग्राम में विजय पाने की इच्छा से देवताओ ने बृहस्पति को अपना पुरोहित बनाया और असुरो ने शुक्राचार्य को। दोनो पुरोहितो मे लाग-डाट थी। देवता जिन दानवो को युद्ध मे मारते उनको शुक्र अपनी सजीवनी विद्या के बल से उन्हे पुन जीवित कर देते थे। बृहस्पति के पास सजीवनी विद्या नही थी। इसी से देवताओ ने बृहस्पति के पुत्र कच को शत्रु शुक्राचार्य के पास सजीवनी विद्या सीखने के लिए भेजा।

कच ने देवताओ की यह बात स्वीकार की और शुक्राचार्य के पास जाकर ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके पाँच वर्ष वहाँ रहकर सजीवनी विद्या सीखी। जब दानवो को इस भेद का पता लग गया तो उन्होने इसे मार दिया। परन्तु शुक्राचार्य ने अपनी पुत्री देवयानी के कहने से उसे पुन जीवित कर दिया। इसी प्रकार दो बार हुआ। शुक्राचार्य कच की भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे सजीवनी विद्या का वरदान दिया।

कच विद्या सीखकर जब गुरु घर से लौटने लगा तब देवयानी ने कच से विवाह का प्रस्ताव किया, परन्तु कच ने गुरुकन्या होने से पूजनीय मानकर उसके प्रस्ताव को न माना। इससे रुष्ट होकर उसने कहा कि तुम्हारी यह विद्या फलवती नही होगी। इस पर कच ने उससे शान्त भाव से कहा कि 'तुम्हारा यह वचन काम के कारण है, धर्म से नही, इसलिए मैं जिसको यह विद्या सिखा दूँगा उसको फलवती होगी—

'फलिष्यति न ते विद्या यत् त्व मामात्थ तत् तथा।'
'अध्यापयिष्यामि तु य तस्य विद्या फलिष्यति॥'—(महा. १।७७।२०)

सजीवनी विद्या से यह ज्ञात होता है कि वह मृत व्यक्ति को फिर से जीवित करने का ज्ञान था, इसका क्या रूप था, यह अज्ञात है।

शारीरिक और मानसिक दो प्रकार के रोग (शान्ति पर्व अ १६।८-९)तथा शीत, उष्ण और वायु ये तीन शारीरिक रोगो के कारण तथा सत्त्व, रज तम, ये तीन मन के गुण कहे हैं (शा अ १६।११-१३)।

कुष्ठ रोग—शान्तनु के बड़े भाई देवापि को कोढी होने से राजगद्दी नही मिली थी ('न राज्यमर्हामि त्वग्दोषोपहतेन्द्रिय'—बृहद्देवता ८।१५६)। उनका कुष्ठ रोग असाध्य रहा होगा—जिस प्रकार कि विचित्रवीर्य का यक्ष्मा रोग ठीक नही हुआ था।

पाणिनीय व्याकरण मे आयुर्वेद साहित्य[1]

पाणिनीय व्याकरण अपने समय के इतिहास पर कुछ प्रकाश डालता है। व्याकरण में लोक के अन्दर प्रचलित शब्दो का उल्लेख है। इन शब्दो में कुछ शब्द ऐसे है, जिनसे आयुर्वेद साहित्य का परिचय मिलता है, जैसे, रोगो के नाम। ये शब्द यद्यपि कम है, फिर भी उस समय की झलक देने के लिए पर्याप्त है।

पाणिनि का समय—गोल्डस्टूकर ने इस आधार पर कि पाणिनि केवल तीन वैदिक सहिताओ और निघण्टु (यास्क के निरुक्त) से परिचित थे, उनका काल ७वी सदी ईसा पूर्व माना था। श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का भी यही मत था, कारण कि पाणिनि के ग्रन्थ में दक्षिण भारत का अधिक परिचय नही पाया जाता। (चरक सहिता में भी दक्षिण भारत का परिचय नही मिलता। सुश्रुत सहिता में दक्षिण का परिचय स्पष्ट आता है—'श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा।' चि अ २९।२७।) मैकडानल के मतानुसार पाणिनि का काल ३५० ई० पूर्व के लगभग माना जाता है परन्तु इनके प्रमाण वहुत सन्दिग्ध है। शायद यह कहना अधिक निरापद है कि ५०० ई० पू० के लगभग या वाद पाणिनी हुए थे। ('वैदिक सम्यता'-पृष्ठ १२१, पाणिनि कालीन भारत वर्ष, अ. ८)।

चरक सहिता में आये जनपद, चरक आदि शब्दो का ठीक-ठीक अर्थ पाणिनि-व्याकरण से ज्ञात होता है। चरक सहिता में एक अध्याय 'जनपदोद्ध्वसनीय' (वि अ ३) नाम का है। इससे स्पष्ट है कि उस समय भारत मे वहुत से जनपद थे। यह स्थिति महाभारत काल के पीछे तथा वुद्ध से पूर्व की है। सूत्रकाल का जनपद शब्द भारतीय भूगोल में वहुत महत्त्व का है।

जनपद—सूत्र काल में भारत वहुत से जनपदो में विभक्त था, इनकी विस्तृत सूचियाँ भुवनकोश के नाम से लिपिवद्ध कर ली गयी थीं—जो महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थो में सुरक्षित है (भीष्मपर्व ९, मार्कण्डेयपुराण अ ५७)। पाणिनि के समय जनपदो का ताँता सारे देश में फैला हुआ था। काशिकाकार ने ग्रामो के समुदाय को जनपद कहा है। ग्राम शब्द नगर का भी द्योतक है। जनपदो की सीमा नदी पर्वत आदि थे। दो पडोसी जनपदो के नाम जोडे के रूप में भी प्रसिद्ध थे। जैसे सिन्धु-सौवीर, कुरु-पचाल, मद्र-कैकय आदि (चरक सहिता में पचाल क्षेत्र का उल्लेख

---

१ डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल के 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' के आधार पर।

है—(वि अ ३)]। पाणिनि के व्याकरण में जो जनपद आये हैं, उनमें पचाल का नाम नही है , वे नाम मगध, काशी, कोशल, वृजि, कुरु, अश्मक, अवन्ति, गन्धार और कम्वोज है। वृद्ध के समय जनपदो की सख्या सोलह थी, यथा—काशी, कोशल, अग, मगध, वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पचाल, मत्स्य, शूरसेन, अस्सक, अवन्ती, गन्धार और कम्वोज। पचाल का नाम वृद्ध के पूर्व प्रसिद्ध जनपदो की सूची मे है। सम्भवत पचाल प्रदेश का उस समय तक पृथक् महत्त्व समाप्त हो गया होगा अथवा कुरु के अन्दर ही समाविष्ट हो गया होगा। पचाल का एक नाम प्रत्यग्रथ है (पाणिनि अष्टाध्यायी ४।१।१७३)। महाभारत मे यह नाम नही मिलता। पाणिनीय मे पचाल नाम भी नही मिलता। मध्यकालीन कोशो के अनुसार पचाल का ही दूसरा नाम प्रत्यग्रथ था, जिसकी राजधानी अहिच्छत्रा थी। चरक सहिता में काम्पिल्य राजधानी वतायी गयी है—'पञ्चालक्षेत्रद्विजातिवराध्युषित—काम्पिल्यराजधान्याम्—' वि अ. ३०३।३, जिसकी पहचान आजकल फर्रुखाबाद से होती है। पचाल का नाम कुरु के साथ जोडे के रूप में ही प्राय आता है। जोडे के रूप मे उन्ही देशो के नाम आते हैं जिनकी भाषा और रीति-रिवाज मिलते हो। इसलिए पचाल जनपद कुरु जनपद का पडोसी था।

जनपद के आधार पर शिल्पशिक्षा—पेशेवर लोगो की शिक्षा को जानपदी शिक्षा कहा गया है और शास्त्रीय शिक्षा को भूयसी विद्या नाम दिया गया है ('जानपदीषु विद्यात पुरुषो भवति,पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्य प्रशस्यो भवति'—यास्क)।

चरक—शिष्य तीन प्रकार के होते थे—माणव, अन्तेवासी और चरक। पाणिनि ने माणव और चरक इन दोनो का एक साथ उल्लेख किया है ('माणवचरकाभ्या खञ्'—५।१।११)। वैशम्पायन का नाम भी चरक था। सम्भवत एक से दूसरे स्थान पर जाकर ज्ञान प्राप्त करने या ज्ञान प्रचार करने के लिए उनकी यह सज्ञा थी। माणव के लिए दण्डमाणव शब्द भी आता है (अष्टा ४।३।१३०)। जब तक उपनयन नही होता था, शिष्य दण्ड धारण करके गुरु के पास रहता, तव तक वह माणवक था। उपनयन होने के वाद गुरु के पास रहने से अन्तेवासी छात्र होता था। अनेक चरणो मे घूम-घूमकर ज्ञान प्राप्त करनेवाला छात्र चरक कहलाता था[1]। ऐसे विद्यार्थी अल्पकाल के लिए ही गुरु के समीप रहते थे। वैशम्पायन का नाम भी चरक था, जिसके कारण

---

१. 'तक्कसिल गत्वा उगाहित सिप्पाततो निक्खमित्वा सब्ब समय सिप्पज् च देस चारित्रण च जानिस्सामाति अनुपुब्बेन चारिक चरन्ता।' (जातक भा. ५ पृष्ठ ३४७)

उसके शिष्य भी चरक कहलाये ('कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च'—४।३।१०४, चरक इति वैशम्पायनस्य आख्या, तत्सम्बन्धेन सर्वे तदन्तेवासिन चरका इत्युच्यन्ते—काशिका)। आचार्य कुल में ब्रह्मचर्य की अवधि समाप्त करके उच्चतर ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो विचरते थे उनके लिए 'चरक' यह अन्वर्थ सज्ञा थी। जातको में तक्षशिला विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो के लिए 'चारिक चरन्ता' कहा गया है (सोनक जातक ५।२।४२७)। वृहदारण्यक उपनिषद् में भुज्यु लाटचायनिने याज्ञवल्क्य से कहा कि मद्रदेश में वह अपने साथियो के साथ चरक वनकर विचर रहा था ('मद्रेषु चरका पर्यव्रजाम'—३।३।१)। श्युआन चुआङ ने भी पाणिनि के लिए लिखा है कि उन्होने सम्पूर्ण शब्द सामग्री लम्बी यात्रा तथा विद्वानो से मिलकर प्राप्त की, यही उनका चरक रूप था।

रोग नाम—रोग और औषधियो से सम्बन्धित कुछ शब्द अष्टाध्यायी में आते हैं। रोग के पर्याय गद (६।३।७०) और उपताप (७।३।६१) थे। छूत की बीमारी को स्पर्श रोग (३।३।१६) कहते थे। वैद्य के लिए अगदकार शब्द वरता जाता था (६।३।७०)। नैषध में भी यह शब्द मिलता है ('द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतु।' ४।११६)। जडी-बूटी 'ओषधि' और तैयार दवाई 'औषध' कहलाती थी ('ओषधेर-जातौ'—५।४।३७)। 'सिध्मादिभ्यश्च' (५।२।९७) से सिध्मल, 'अर्श आदिभ्योऽच्' (५।२। १२७) से अर्शस, 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्य शनेलच' (५।२।१००) से पामन—पामावाला शब्द वनता है।

रोग की चिकित्सा करने के लिए ('रोगाच्चापनयने' ५।४।४९) रोग के नाम के साथ तस् प्रत्यय जोडकर कृ धातु से शब्द वनाये जाते थे, यथा—प्रवाहिकात कुरु, कासत कुरु, छर्दिकात कुरु। इनका अर्थ यह होता था कि प्रवाहिका की चिकित्सा करो, कास की, छर्दि की चिकित्सा करो।

दूसरे या चौथे दिन आनेवाले ज्वर के लिए द्वितीयक और चतुर्थक शब्द आते हैं ('कालप्रयोजनाद् रोगे'—५।२।८१)। सर्दी देकर चढनेवाले ज्वर को 'शीतक' और गर्मी से आनेवाले ज्वर को 'उष्मक', विषपुष्प से उत्पन्न ज्वर को 'विषपुष्पक' कहते थे (औषधि गन्ध से उत्पन्न ज्वर का उल्लेख सुश्रुत में भी है—'औषधिगन्धविषजौ विषपित्त-प्रसाधनै।' उत्तर अ ३८।२६८)।

रोगवाची शब्द वनाने में विशेष पद्धति पायी गयी है। धातु से 'ण्वुल्' प्रत्यय जोडकर रोगवाची शब्द एक ही ढग से वनाये जाते थे, जैसे, प्रच्छर्दिका, प्रवाहिका, विचर्चिका। रोग के नाम से रोगी का नाम रखने की प्रथा चल पडी थी (५।२२८), जिसके आधार

पर कुष्ठी किलासी, वातकी, अतिसारकी ('वातातिसाराभ्या कुक् च' ५।२।१२९) कहते थे। रोग से मुक्त किन्तु निर्बलता से पीडित व्यक्ति के लिए 'ग्लास्नु' शब्द आता है—(३।२।१३९), चरक में भी यह शब्द आता है—'भूयिष्ठ ग्लास्नाव'—वि १।१८ परन्तु अर्थ भिन्न है। कात्यायन ने रोग से पीडित व्यक्ति के लिए 'आमयावी' शब्द का उल्लेख किया है(५।२।१२२)। शरद्ऋतु मे उत्पन्न रोग—उत्तर भारत मे वर्षा की समाप्ति पर शरद्ऋतु के प्रारम्भ मे ज्वरादि रोगो का बडा प्रकोप होता है ('वैद्याना शारदी माता' यह विचार इसी लिए है)। पाणिनि ने इनके लिए शारदिक शब्द कहा है ('विभाषा रोगातपयो' ४।३।१३)।

त्रिदोष—पाणिनिसूत्र 'तस्य निमित्त सयोगोत्पातौ' (५।१।३९) पर कात्यायन ने वात-पित्त-कफ का उल्लेख किया है। वात के रोगी को वातकी (५।२।१२९) कहा गया है। पित्त सिध्मादिगण (५।२।९७) में और श्लेष्मा पामादिगण में (५।२।१००) पठित है।

आचार्यो के नाम—पाणिनि के सूत्र 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४।१।१०५)के गर्गादि गण मे जतूकर्ण, पराशर, अग्निवेश शब्दो का उल्लेख है। 'कथादिभ्यष्ठक्' (४।४।२) के कथादि गण के आयुर्वेद शब्द से 'तत्र साधु' इस अर्थ में 'आयुर्वेदिक' शब्द निष्पन्न हुआ है।

इस तरह ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व भी इस ज्ञान का उल्लेख मिलता है।[1]

---

१ महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी भाष्य में कुछ रोगो के नाम लिखे है। यथा—'नड्वलोदक पादरोग, दधित्रपुष प्रत्यक्षो ज्वर'।' 'तस्य निमित्त सयोगोत्पातौ' (५।१।३९)इस पर कात्यायन के वार्त्तिक "वातपित्तश्लेष्मभ्य शमनकोपनयोरुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्, सन्निपाताच्चेति वक्तव्यम्" के वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक उदाहरण दिये है। इसी प्रकार से 'उद स्थास्तम्भो पूर्वस्य' (८।४।६१) का उत्कन्दको रोग, 'ह्व सम्प्रसारणम्,(६।१।३२)'का दधित्रपुस प्रत्यक्षो ज्वर' है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गाँवो में आज भी प्रसिद्ध है कि छाछ के साथ फूट—बडा कचरा खाने से ज्वर होता है; नड्वलोदक पादरोग—राजस्थान में वाल नाम का कृमि (Tope worm) प्राय होता है। ये सब उदाहरण प्राचीन काल में प्रसिद्ध रोगो के है।

तीसरा अध्याय

बौद्ध साहित्य में आयुर्वेद

महाजनपदो का युग [लगभग १४२५ से ३६३ ई० पूर्व]

भारतवर्ष का तिथिक्रम के अनुसार शृखलावद्ध इतिहास इसी समय से मिलता है। इस समय देश की स्थिति वैदिक काल से वहुत वदल गयी थी। वुद्ध के समय यह क्रान्ति राजनीतिक, धार्मिक सव रूपों में हो चुकी थी। महाभारत का सार्वभौम सम्राट्-शासन टूट चुका था। उस समय देश सोलह जनपदो में विभक्त था। इनमें चार राज्य मुख्य थे—(१) मगध, जिसमें अग शामिल था, जिसका राजा विम्वसार था, (२) कोशल, जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी, जिसमें काशी सम्मिलित थी, जिसका राजा प्रसेनजित था, (३) कौशाम्वी, जिसका राजा वत्सराज उदयन था, (४) अवन्ती, जिसका राजा चण्ड प्रद्योत था। इस काल के प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक का सम्वन्ध मगध के राजा विम्वसार और अवन्ती के राजा चण्ड प्रद्योत के साथ था, जैसा कि आगे हम देखेंगे।

धार्मिक क्रान्ति ठीक वही थी, जिसकी झलक चरक सहिता में मिलती है, पुनर्जन्म है वा नही, कर्म-कर्मविपाक है वा नही, नियतिवाद आदि। इस क्रान्ति को करनेवाले मुख्य शास्ता छ थे, उनके नाम—अजितकेश कम्वल, पूरण कस्सप, पकुध कच्चायन, मक्खलि गोसाल, सजय वेलट्ठिपुत्त, निगठ नातपुत्त। अजितकेश कम्वल के मत से न दान है, न इष्टि, न हुत, न सुकृत और न दुष्कृत कर्म का फलविपाक है। न इहलोक, न परलोक, मनुष्य चातुर्भौतिक है। सजय का कहना था कि प्राणातिपात (वध), अदत्तादान (स्तेय), मृषावाद, परदार-गमन से पाप नही होता, दान-यज्ञ आदि से पुण्य नहीं होता। मक्खलि गोशाल नियतिवादी थे। गोसाल आजीवक सम्प्रदाय के सस्थापक थे। ये अचेलक थे—अनेक प्रकार के कृच्छ्र तप करते थे। ये पचाग्नि तापते थे, उत्कुटिक थे, चमगादड की भाँति हवा में झूलते थे। पालिनिकाय में इनको मुक्ताचार कहा गया है। वुद्धघोप के अनुसार पूरण कस्सप आत्मा को निष्क्रिय और कर्म को नही मानते थे (तुलना कीजिए "निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन्! विद्यते कथम्" चरक शा १।६)। अजित नास्तिक थे और कर्मविपाक नही मानते थे। गोसाल नियतिवादी

थे—ये कर्म और कर्मफल दोनो का प्रतिषेध करते थे (तुलना कीजिए—'दृष्ट न चाकृत कर्म यस्य स्यात् पुरुष फलम्' सू अ २५, कर्म-कर्मफल न च सू अ ११।१४)।

यह बात ध्यान में रखने की है कि बुद्ध के समय मे आस्तिक का अर्थ ईश्वर मे प्रतिपन्न नही था और न वेदनिन्दक को ही नास्तिक कहते थे। पाणिनि के निर्वचन के अनुसार नास्तिक वह है जो परलोक मे विश्वास नही करता। ('अस्ति नास्ति दिष्ट मति'—यह सूत्र पाणिनि का है, तुलना कीजिए चरक सहिता मे पुनर्जन्म की विवेचना से—'पातकेभ्य परं चैतन् पातक नास्तिकग्रह'—सून अ ११।१५, 'सन्ति ह्येकप्रत्यक्षपरा परोक्षत्वात् पुनर्भवस्य नास्तिक्यमाश्रिता'—सू अ ११।६)।

इस प्रकार से उस समय की स्थिति देश में अनेक वादो की थी, जैसा कि आचार्य नरेन्द्रदेवजी ने अपनी पुस्तक 'बौद्धधर्म दर्शन' के प्रारम्भ में लिखा है—

'जिस समय भगवान् बुद्ध का लोक मे जन्म हुआ, उस समय देश में अनेक वाद प्रचलित थे। विचार-जगत मे उथल-पुथल हो रही थी (इसका उदाहरण उपनिषदों में आत्मा, ब्रह्म आदि प्रश्नो का विचार है—लेखक)। लोगो की जिज्ञासा जाग उठी थी। परलोक है या नही, मरण के अनन्तर जीव का अस्तित्व रहता है या नही, कर्म है या नहीं, कर्म विपाक है या नही, इस प्रकार के अनेक प्रश्नो में लोगो को कुतूहल था। इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए लोग उत्सुक थे।' (१ पृष्ठ)

बौद्धो के चार ब्रह्म विहार हैं, यथा—मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा (बौद्धधर्म दर्शन—पृष्ठ ९४), चरक मे यही चार प्रकार की वैद्यवृत्ति कही गयी है (सू अ ९।२६)।

<u>आयुर्वेद साहित्य</u>—बौद्ध-धर्म का प्रचार भारत से बाहर दूर तक हुआ। इसलिए इसका साहित्य भारत के बाहर भी मिला है। जिसमें मध्य एशिया मे प्राप्त 'नावनीतकम्' है, जो कि पूर्णत आयुर्वेद की रचना है। यद्यपि इसके सम्पादक कविराज बलवन्तसिह मोहन वैद्यवाचस्पति इसको ईसा से ६०० वर्ष पूर्व का मानते है, परन्तु विवेचना से यह गुप्तकाल का ज्ञात होता है। इसका लशुनकल्प अष्टाग-सग्रह के लशुनकल्प से बहुत मिलता है। छद रचना, बौद्ध देवताओ की स्तुति ये सब बाते इसके गुप्तकाल से पहले का सिद्ध होने मे बाधक है। 'नावनीतकम्' का हिन्दी अर्थ 'मक्खन' है।

इसी शृखला में दूसरा ग्रन्थ 'सद्धर्मपुण्डरीक' है। यह भी मध्य एशिया मे मिला था। कमल शुद्धता और पूर्णता का चिह्न है, पक मे उत्पन्न होने पर भी जिस प्रकार से कमल उससे उपलिप्त नही होता, उसी प्रकार से बुद्ध इस लोक में उत्पन्न होने पर भी उससे निर्लिप्त रहते थे। यह ग्रन्थ चीन, जापान आदि महायानधर्मी देशो मे बहुत पवित्र माना जाता है। ('बौद्धधर्म दर्शन')

इस ग्रन्थ में २७ अध्याय (परिवर्त्त हैं), इसके पाँचवे औषधि-परिवर्त्त का सम्बन्ध आयुर्वेद से है—जो कि बहुत थोडा है। यथा—'जिस प्रकार इस त्रिसाहस्र महासाहस्र लोक-धातु में पृथ्वी, पर्वत और गिरिकन्दराओं में उत्पन्न हुए जितने तृण, गुल्म, ओषधि, वनस्पतियाँ हैं, उन सबको महाजल मेघ समकाल में वारिधारा देता है, वहाँ यद्यपि एक धरणी पर ही तरुण एवं कोमल तृण, गुल्म, ओषधियाँ, महाद्रुम भी प्रतिष्ठित हैं और वे एक तोय से अभिष्यन्दित हैं, तथापि अपने-अपने योग्यतानुरूप ही जल लेते हैं और फल देते हैं (बौद्धधर्म दर्शन पृष्ठ १४६[1]) चरक में भी चार ही प्रकार के औद्भिद् बताये गये हैं—'वनस्पतिस्तथा वीरुद् वानस्पत्यस्तथौषधि'—चरक सूत्र १।७१, इसमें वीरुध से गुल्म लिया गया है 'लता गुल्माश्च वीरुध'—चक्रपाणि)। 'यथा वात पित्तश्लेष्माण एव रागद्वेषमोहा। द्वाषष्टि च दृष्टिकृतीनि द्रष्टव्यानि। यथा च तासु ओषधयस्तथा शून्यता निमित्ताप्रणिहितनिर्वाणद्वार च द्रष्टव्यम्॥' (औषधि परिवर्त)

तीसरा मुख्य ग्रन्थ 'विनयपिटक' है, इसमें भिक्षुओं के आचरण सम्बन्धी नियम हैं, इसका सम्बन्ध मुख्यत आयुर्वेद साहित्य से है। इसी के आधार पर चरकसहिता के

---

१ 'तद् यथापि नाम काश्यपास्यां त्रिसाहस्र महासाहस्रया लोकधातौ यावन्तस्तृण-गुल्मौषधिवनस्पतयो नानावर्णा नानाप्रकारा ओषधिग्रामा नानानामधेया पृथिव्या जाताः पर्वतगिरिकन्दरेषु वा मेघश्च महावारिपरिपूर्ण उन्नमेद् उन्नमित्वा सर्ववतीं त्रिसहस्रमहासहस्रा लोकधातु सछादयेत् सछाद्य च सर्वत्र समकाल वारि प्रमुञ्चयेत्।' (ओषधि परिवर्त्त.)

'यथाहि कश्चिज्जात्यन्ध सूर्येन्दुग्रहतारका।
अपश्यन्नेवमाहासौ नास्ति रूपाणि सर्वश॥
जात्यन्ध तु महावैद्य. कारुण्य सनिवेश्य ह।
हिमवन्त स गतवान् तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा॥
सर्ववर्णरसस्थाना नागाल्लभत ओषधी।
एवमादीश्चतस्रोऽथ प्रयोगमकरोत्तत॥
दन्तै सचूर्ण्य काचित्तु पिष्ट्वा चान्या तथापराम्।
सूच्यग्रेण प्रवेश्याङ्गे जात्यन्धाय प्रयोजयेत्॥
स लब्धचक्षु सपश्येत् सूर्येन्दुग्रहतारका।
एवं चास्य भवेत्पूर्वमज्ञानात्तदुदाहृतम्॥' (५४-५८)

कुछ शब्द एव उस समय की चिकित्सा का सही परिचय मिलता है, जिससे पता चलता है कि उस समय आयुर्वेद के आठो अग पूर्णत अपने यौवन मे थे। मस्तिष्क और पेट के शल्यकर्म उस समय मे होते थे, आयुर्वेद को सात साल निरन्तर पढ लेने पर भी इसकी समाप्ति, इसका छोर नही मिलता था।

चौथा ग्रन्थ 'मिलिन्द प्रश्न' है, जो कि विशेप उपयोगी तो नही, परन्तु उसमें भी आयुर्वेद विपय का सक्षिप्त उल्लेख मिलता है। जैसे—वेदनाओ के आठ प्रकार वताये गये है, इन प्रकारो में वायु का बिगडना, पित्त का प्रकोप होना, कफ का वढ जाना, सन्निपात दोप हो जाना, ऋतुओं का वदल जाना, खाने-पीने में गडवड होना, वाह्य प्रकृति के दूसरे प्रभाव आदि।

विनयपिटक मे आयुर्वेद साहित्य[1]

विनय, अनुशासन का अर्थ नियम है। इस पिटक में भिक्षु-भिक्षुणियो के आचार सम्बन्धी नियम तथा उनके इतिहास और व्याख्याओं को एकत्र किया गया है, इसलिए इसका नाम विनयपिटक है। इसमें 'महावग्ग' और 'चुल्लवग्ग' नाम के दो खन्वक (स्कन्ध) हैं। सर्वास्तिवादी इनको क्रमश विनय-महावस्तु और विनय-क्षुद्रकवस्तु कहते हैं। स्थविरवादी खन्धक नाम देते हैं। धम्मपद की अट्ठकथा में कथा के लिए वत्थु (=वस्तु) शब्द का प्रयोग आता है। इसलिए सर्वास्तिवादियो का महावस्तु और क्षुद्रकवस्तु नाम वहुत उपयुक्त है।

स्वेदकर्म और चीर-फाड—आयुर्वेद की पद्धति में स्वेद चिकित्सा का महत्त्व है। इसका विशेप महत्त्व वातरोग में है। आयुष्मान् पिलिन्दिवच्छ के शरीर में वात-रोग था। भगवान् वुद्ध से यह वात कही गयी। उस समय वुद्ध ने स्वेदकर्मचिकित्सा (पसीना निकालने की चिकित्सा) करने को कहा था। इस चिकित्सा में चार प्रकार के स्वेद वताये गये है (विनयपिटक—६।२।१)—

(क) सम्भार स्वेद (अनेक प्रकार के पसीना लानेवाले पत्तो के वीच में सोना)—यह स्वेद सस्तर-स्वेद का रूप है, जिसमें दोप आदि की अपेक्षा से एरण्ड आदि स्वेदन-द्रव्यो को उवालकर इनको चटाई पर विछाकर उस पर कम्वल, कौशेय या वातहर पत्र विछाकर रोगी लेटता है। (सग्रह-सूत्र अ २६।९)

---

१. यह सम्पूर्ण विवरण श्री राहुल साकृत्यायन के 'विनयपिटक' से लिया गया है।

(ख) महास्वेद—इसमें पोरसा (पुरुष प्रमाण) भर गड्ढा खोदकर उसे अगारो से भरकर तथा मिट्टी, बालू से मूंदकर उस पर नाना प्रकार के वातहर पत्तो को बिछाकर शरीर में तेल लगाकर, इस पर लेटकर पसीना निकालना पडता था।

यह स्वेद आयुर्वेद में वर्णित कूपस्वेद से मिलता है, इसमें पुरुष-प्रमाण से दुगुना गड्ढा खोदकर इसे अन्दर से साफ और समान करके, इसमें हाथी, घोडा, गाय, गदहा और ऊँट की विष्ठा जलाते हैं। जब इसमें से धुआँ निकलना बन्द हो जाय, तब इसके ऊपर चारपाई रखकर या इसे बन्द करके पत्ते बिछाकर स्वेद लेते हैं। (सग्रह सू अ. २६। १३, चरक सू अ १४।५९-६०)

(ग) उदककोष्ठक—गरम पानी से भरे बरतन जिस कोठरी में रखे हों, उसमें बैठकर पसीना लेना।

यह स्वेद बहुत कुछ कुम्भी-स्वेद से मिलता है—वातहर द्रव्यों से युक्त पानी को हडी में उबालकर उस हडी से लगकर स्वेद ले ('पूर्ववत्स्वेदद्रव्याणि कुम्भ्यामुत्क्वाथ्योपदिलप्योपविष्टस्तद्वदुष्माण गृह्णीयात्'—सग्रह सू अ २६।११)[1]।

(घ) भगोदक—पत्तो के काढे से सीच-सीचकर पसीना निकालना।

इस स्वेद का उपयोग अत्रिपुत्र ने अर्शरोग में बताया है—('पत्रभगोदकै शौच कुर्यादुष्णेन वाऽम्भसा'—चरक चि अ १४।१६९, 'वृषार्कैरण्डबिल्वाना पत्रोत्क्वाथैश्च सेचयेत्'—अ १४।४४) पत्रभग के लिए केवल भग शब्द आया है।[2]

जन्ताघर—उक्त चार स्वेदो के अतिरिक्त जेन्ताक-स्वेद का भी उल्लेख है। विनय-

---

१ संग्रह और चरक में इस स्वेद का दूसरा रूप भी दिया गया है; यथा—

'कुम्भीं वातहरक्वाथपूर्णां भूमौ निखानयेत्।
अर्धभागं त्रिभाग वा शयन तत्र चोपरि॥
स्थापयेदासन वाऽपि नातिसान्द्रपरिच्छदम्।
अथ कुम्भ्या सुसन्तप्तान् प्रक्षिपेदयसो गुडान्॥
पाषाणान् वोष्मणा तेन तत्स्थ स्विद्यति ना सुखम्॥' (चरक)

२. प्रसाधन में भी पत्रभग शब्द आता है। यथा—कादम्बरी में 'किमिति च हरिण इव हरिणलाञ्छनेन लिखित कृष्णागुरुपत्रभग पयोधरभार।' इसमें पत्ते (तेजपात, चमेली आदि) काटकर कपोलो या स्तनो पर लगाये जाते थे, अथवा अगरु, चन्दन आदि के लेपो से अगो पर चित्रकर्म (भक्ति, लेखा) किया जाता था।

पिटक में जेन्ताक के स्थान पर 'जन्ताघर' नाम दिया गया है। यह एक प्रकार का घर होता था, जिसमें 'धूमनेत्र' मकान के मध्य में या एक पार्श्व में होता था। इसको पर्याप्त गरम करके इसका उपयोग किया जाता था।

सम्भवत जन्ताघर का ही रूप जेन्ताक है। मोहनजोदरो में एक स्नानगृह खुदाई में मिला है। यह स्नानगृह सार्वजनिक वताया जाता है, जैसा कि इसके विशाल आकार से पता चलता है। सम्भवत जन्ताघर का अर्थ सार्वजनिक घर हो।

'चुल्लवग्ग' में भगवान् ने भिक्षुओ को चक्रम और जन्ताघर करने की आज्ञा दी है। ये ऊँची कुर्सी पर वनाये जाते थे, इनकी चिनाई ईंट, पत्थर और लकडी से होती थी। इन पर चढने के लिए सीढियाँ होती थी, इनके अन्दर किवाट, विलाई, देहरी, सरदल, खूंटी होती थी। जन्ताघर में धूमनेत्र रहता था, यह धूमनेत्र छोटे जन्ताघर में एक ओर रहता था और बडे जन्ताघर में वीच में रहता था। जन्ताघर का अग्निमुख मिट्टी से ढँका रहता था। यह घर अन्दर से मिट्टी से लिपा होता था, इसमें पानी निकलने की नाली रहती थी। इसमें एक चौकी होती थी, यह चारो ओर से घिरा होता था। (विनयपिटक ५।२।२)

यह वर्णन आयुर्वेद के जेन्ताक के वर्णन से वहुत मिलता है, केवल कार्यभेद है। अत्रिपुत्र ने जो जेन्ताक-स्वेद वताया है, उसमें धूमनेत्र वीच में रहता था। इसमें भी धूमनेत्र पर ढक्कन लगाने को कहा है ('अङ्गारकोष्ठकस्तम्भ सपिधान कारयेत्')। इसमें स्वेद लिया जाता है, इसलिए नाली की जरूरत नही। कार्य दोनो का एक ही है। एक प्रकार से ये दोनों घर उष्णवात सुरक्षित घर थे। इसलिए बौद्धसाहित्य का 'जन्ताघर' ही आयुर्वेद साहित्य मे जेन्ताक वन गया प्रतीत होता है।

रक्तमोक्षण—आयुष्मान् पिलिन्दिवच्छ को पर्ववात (गठिया) का रोग था, इसमें भगवान् ने सींग से खून निकालने की अनुमति दी थी।

अन्य उपचार—इसी प्रकार से फोडे के रोग पर शस्त्रकर्म करने की, काढा पीने की, तिलकल्क वाँधने की, पट्टी वाँधने की, धुआँ देने की, वढे हुए मास को नमक की कतरनी से काटने की, घाव न भरने पर तेल की वर्त्ती (विकासिका) अन्दर भरने की अनुमति दी गयी है। (विनय ६।२।५)

सर्प चिकित्सा मे चार महाविक्कटो को खिलाने (पाखाना, मूत्र, राख और मिट्टी देने) की अनुमति दी गयी थी। पाण्डुरोग में गोमूत्र की हर्रे खिलाने की, जुलपित्ति रोग (खुजली, छविदोष) में गन्धक लगाने की अनुमति दी थी। घी, मक्खन, मधु, तेल और खाँड ये पाँच सामान्य औषधियाँ भी थी। इनको सात दिन के लिए रख सकते थे।

भगन्दर में शस्त्रकर्म का निषेध—राजगृह के वेणुवन कलदक निवाप में रहते हुए एक भिक्षुक को भगदर-रोग हो गया था। आकाशगोत्र वैद्य शस्त्रकर्म करता था। भगवान् ने इस स्थान पर शस्त्रकर्म करने का निषेध किया, क्योंकि इस स्थान का चमडा कोमल होता है, घाव मुश्किल से भरता है, शस्त्र चलाना कठिन है। इसलिए गुह्य स्थान के चारो ओर दो अगुल तक शस्त्रकर्म नही करना चाहिए। (विनयपिटक ६।३।१३)

रोगी की सेवा सम्बन्धी सूचनाएँ—निम्न पाँच बातो से रोगी की सेवा करना मुश्किल होता है—१ साथियों के अनुकूल न होने मे (इसी लिए परिचारक के लिए 'अनुरागश्च भर्त्तरि' कहा गया है), २ अनुकूल की मात्रा नही जानने मे, ३ औषध सेवन नही करने मे, ४ हित चाहनेवाले परिचारक से ठीक-ठीक रोग की बात नही बताने मे (इसी से रोगी के लिए आवश्यक है—'ज्ञापकत्व च रोगाणामातुरस्य गुणा स्मृता'), ५ दु खमय, तीव्र, खर, कटु, प्रतिकूल, अप्रिय, प्राणहर शारीरिक पीडाओ को नहीं सहन करने से (इसी से अभीरुत्व कहा गया है)।

इसके विपरीत पाँच बातो से रोगी की सेवा करना सुगम होता है। यथा—अनुकूल परिचारक होने मे, अनुकूल मात्रा जानने मे, औषध सेवन करने से, ठीक-ठीक रोग को बता सकने से और शारीरिक पीडाओ को सहने से रोगी की सेवा सुखकर होती है।

परिचारक सम्बन्धी सूचनाएँ—परिचारक में इन बातो का होना ठीक नही—१ दवा ठीक नही करता, २ अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु को नही जानता, ३ किसी लाभ से रोगी की सेवा करता है, मैत्रीपूर्ण चित्त मे नही, ४ मल-मूत्र, थूक, वमन के हटाने में घृणा करता है, ५ रोगी को समय-समय पर धार्मिक कथा द्वारा समुत्तेजित और आनन्दित नही करता (इसी से अत्रिपुत्र ने कहा है—रोगी के साथी 'गीत-वादित्रोल्लापकश्लोकगाथाख्यायिकेतिहासपुराण-कुशलानभिप्रायज्ञाननुमताश्च देशकालविद पारिषद्याश्च'—चरक सू अ १५।७)।

इसके विपरीत परिचारक रोगी की सेवा करने योग्य होता है, जैसे, दवा ठीक करने में जो समर्थ होता है, अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु को जानता है, किसी लाभ से सेवा नही करता, मल-मूत्र, थूक, वमन को हटाने मे घृणा नही करता, रोगी को समय-समय पर धार्मिक कथा सुनाकर आश्वासन और आनन्द देता है। (८।७।४-५)

इसके अतिरिक्त अजन, अजनदानी, अजन की सलाई (६।१।११), कर्णमल-हरिणी (५।३।७), सिर पर तैल (६।१।१२), धूमवर्त्ती का विधान, धूमनेत्र की

अनुमति (६।१।१४), पैरो पर तैल की मालिश (६।२।३), और भिन्न-भिन्न प्रकार की औषधियो की अनुमति (६।१।१—९) भगवान् ने भिक्षुओं को दी थी।

जीवक चरित—बौद्ध काल से लेकर आज तक किसी भी वैद्य या चिकित्सक की कुशलता का, अध्ययन का, इतिहास नही मिलता, जैसा जीवक का मिलता है। जीवक का सब श्रम, यश, धन अपना कमाया हुआ था। यह वर्णन आयुर्वेद के पूर्ण उत्कर्ष को बताता है।

उस समय बुद्ध भगवान् राजगृह में वेणुवन कालन्दक निवाप में विहार करते थे। उस समय वैशाली समृद्धिशाली, बहुत जनो से आकीर्ण, अन्न-पान सपन्न थी। उसमें ७,७७७ प्रासाद (बडे ऊँचे महल), ७,७७७ कूटागार (लम्बाई-चौडाई के विस्तृत मकान), ७,७७७ आराम (बगीचे), ७,७७७ पुष्करिणियाँ थी। गणिका अम्बपाली दर्शनीय, परम रूपवती, नाच, गीत और वाद्य में चतुर थी, चाहनेवालो के पास पचास कार्षापण पर रात में जाया करती थी। तब राजगृह का नैगम (नगरसेठ) किसी काम से वैशाली में आया, उसने समृद्ध वैशाली को देखा।

काम समाप्त कर जब नैगम राजगृह गया तब उसने बिम्बसार से वैशाली के वैभव का वर्णन किया और कहा कि 'देव! हम भी एक गणिका रखें ?'

'तो भणे! वैसी कुमारी ढूँढो—जिसको तुम गणिका रख सको।'

उस समय राजगृह में सालवती नाम की कुमारी अभिरूप-दर्शनीय थी। तब राजगृह के नैगम ने सालवती को गणिका चुना। सालवती ने थोडे ही समय में नाच, गीत, वाद्य सीख लिया। चाहनेवालो के पास सौ कार्षापण पर रात को जाया करती थी। तब यह गणिका अचिर मे ही गर्भवती हो गयी। गणिका को लगा कि गर्भवती स्त्री पुरुषो को नापसन्द (अप्रिय) होती है। यदि कोई यह जान जायगा कि सालवती गर्भवती है, तो मेरी सब मान-प्रतिष्ठा धूल में मिल जायगी। इसलिए क्यो न बीमार बन जाऊँ। तब सालवती ने दौवारिक को आज्ञा दी—'कोई पुरुष आये और मुझे पूछे तो उससे कह देना कि बीमार है।'

गर्भ के पूर्ण समय पर सालवती ने एक पुत्र जना। तब दासी से सालवती ने कहा कि 'हजे! इस बच्चे को सूप में रखकर कूडे के ढेर पर छोड आ।' दासी उस बच्चे को ढेर पर छोड आयी।

उस समय अभय राजकुमार राजा की हाजिरी के लिए जा रहे थे, उन्होने कौओ से घिरे उस बच्चे को देखकर लोगो से पूछा—'यह कौओ से घिरा क्या है ?' 'देव!

बच्चा है, जीता है।' तब कुमार ने कहा कि इसे हमारे अन्तःपुर में ले जाकर दासियों को दे आओ और उनसे पोसने के लिए कह देना।

'जीता है'—कहने से इसका नाम जीवक हुआ, कुमार ने पाला था, इसलिए इसका नाम 'कौमारभृत्य' हुआ। जीवक कौमारभृत्य शीघ्र ही विज्ञ हो गया। उसने अनुभव किया कि राजकुल मानी होता है बिना शिल्प के जीविका करना मुश्किल है, क्यों न मैं शिल्प सीखूं।

उस समय तक्षशिला में एक दिशाप्रमुख (दिगत प्रसिद्ध) वैद्य रहता था। जीवक राजकुमार से बिना पूछे तक्षशिला गया'। जाकर वैद्य से बोला—(वैद्य का नाम नहीं दिया गया, परन्तु श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का कहना है कि तक्षशिला के आत्रेय भारतीय आयुर्वेद के पहले प्रसिद्ध आचार्य थे। (इतिहासप्रवेश पृष्ठ ८१)

'आचार्य! मैं शिल्प सीखना चाहता हूँ।' आचार्य ने कहा—'तो भन्ते जीवक! सीखो।' जीवक कौमारभृत्य बहुत पढ़ता था, जल्दी धारण कर लेता था, अच्छी तरह समझता था, पढ़ा हुआ उसको भूलता नहीं था। सात वर्ष तक अध्ययन करने पर

---

१. तक्षशिला का वर्त्तमान नाम शाहजी दी ढेरी है, जो रावलपिंडी जिले में है। पहले यह प्रदेश गन्धार में था। गन्धार को सिल्यूकस ने मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को युद्ध की सन्धि में दिया था। गन्धार क्षेत्र उस समय विद्या का बहुत बड़ा केन्द्र था। पाणिनि का शलातुर जन्मस्थान यहीं था। गन्धार का राजा नग्नजित् था, इसने पुनर्वसु से विष के सम्बन्ध में पूछा था—

'गन्धारदेशे राजर्षिर्नग्नजित् स्वर्णमार्गदः।
संगृह्य पादौ पप्रच्छ चान्द्रभागं पुनर्वसुम्॥
न च स्त्रीभ्यो न चास्त्रीभ्यो न भृत्येभ्योऽस्ति मे भयम्।
अन्यत्र विषयोगेभ्यः सोऽत्र मे शरणं भवान्॥' (भेल पृ ३०.)

सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को एरिया (हेरात), ऐराकोशिया (कन्दहार), परोपनिसदी (काबुल की घाटी-पेशावर), गैड्रोसिया (बलोचिस्तान) ये चार प्रान्त दिये थे। सिल्यूकस ने अपने राजदूत मेगस्थनीज को मौर्य-दरबार में भेजा था। तक्षशिला के वृद्ध राजा और उनके पुत्र आम्भि (ओम्फिस) ने बुखारा में ही सिकन्दर के पास दूत भेजकर भारतीय आक्रमण के समय सहायता का वचन दिया था; बदले में अपनी रक्षा की माँग की थी। तब से यह प्रदेश यूनानियों के पास था, जिसे सन्धि में चन्द्रगुप्त को वापस किया गया था।

जीवक को अनुभव हुआ कि बहुत पढा, समझा, परन्तु इस शिल्प का कही अन्त नही मिलता, कब इस शिल्प का अन्त जान पड़ेगा। तब वह वहाँ गया जहाँ वह वैद्य था। जाकर उस वैद्य से बोला—'आचार्य ! मैं बहुत पढता हूँ, याद करता हूँ, कब इस शिल्प का अन्त जान पड़ेगा।'

आचार्य ने कहा—'तो भन्ते ! खनती (खनित्र) लेकर तक्षशिला के योजन-योजन चारो ओर घूमकर जो अभैपज्य (दवा के अयोग्य) देखो उसे ले आओ।' जीवक गया और आकर बोला—

'आचार्य ! तक्षशिला के योजन-योजन चारो ओर मैं घूम आया, किन्तु मैंने कुछ भी अभैपज्य नही देखा।"[1]

---

१. जातको के वर्णन से पता लगता है कि तक्षशिला के अमुक विश्वविख्यात आचार्य के पास पाँच सौ शिष्य थे। विद्या के केन्द्र के रूप में तक्षशिला की कीर्त्ति ६०० ई० पू० में थी। काशी, राजगृह,मिथिला,उज्जयिनी से विद्यार्थी यहाँ अध्ययन के लिए आते थे। धनुर्विद्या के एक विद्यालय में १०३ राजकुमार शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। कोशल के राजा प्रसेनजित की शिक्षा तक्षशिला में हुई थी। अटक के पास शलातुर में पाणिनि का जन्म हुआ था, वे भी तक्षशिला विश्वविद्यालय के ही स्नातक रहे होगे। अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य भी यहीं शिक्षित हुए थे।

उच्च शिक्षा के लिए विद्यार्थी तक्षशिला में जाते थे, विद्यार्थी की आयु प्रवेश के समय १६ वर्ष होती थी। सामान्यत. वे आचार्यकुल में अन्तेवासी (सेवाकारी) रहकर अध्ययन करते थे। सम्पन्न विद्यार्थी शुल्क के साथ आवास और भोजन व्यय देते थे। धनी विद्यार्थी, जैसे काशी का राजकुमार, अपने निवास की स्वतत्र व्यवस्था करते थे। निर्धन विद्यार्थी जो शुल्क नहीं दे सकते थे, दिन में आचार्य की गृहस्थी का कार्य करते थे और रात्रि में विद्या पढते थे।

तक्षशिला में विद्यार्थी कठिन विषयो के अध्ययन के लिए आते थे। यहाँ पर १८ प्रकार के शिल्प सिखाये जाते थे, जिनमें आयुर्वेद, शल्य, व्यापार, धनुर्वेद, ज्योतिष, भविष्यकथन, मुनीमी, कृषि, रथचालन, इन्द्रजाल, नागवशीकरण, गुप्त निधि अन्वेषण, सगीत, नृत्य, और चित्रकला थी। विषयो के चयन में वर्ण का प्रश्न नहीं था। एक ब्राह्मण राजपुरोहित ने धनुर्विद्या सीखने के लिए अपने पुत्र को तक्षशिला में भेजा था। (प्राचीन भारतीय शिक्षणपद्धति—अलतेकर)

'सीख चुके भन्ते जीवक ! यह तुम्हारी जीविका के लिए पर्याप्त है।' यह कहकर उसने जीवक को थोडा पाथेय (राह खर्च) दिया। जीवक पाथेय लेकर राजगृह की ओर चला। जीवक का यह पाथेय साकेत में समाप्त हो गया। जीवक को पाथेय प्राप्त करने की आवश्यकता हुई।

उस समय साकेत में नगरसेठ की भार्या सात वर्ष से सिरदर्द से पीडित थी। बहुत बडे-बडे दिगत विख्यात वैद्य उसे अरोग नही कर सके और बहुत हिरण्य लेकर चले गये। तब जीवक ने साकेत में आकर लोगो से पूछा—

भन्ते ! कोई रोगी है, जिसकी मैं चिकित्सा करूँ ?' लोगों ने इस नगरसेठ की भार्या को बताया। जीवक गृहपति श्रेष्ठि के घर गया और दौवारिक द्वारा श्रेष्ठी की पत्नी से चिकित्सा की आज्ञा चाही। पत्नी ने उसे युवा समझकर पहले तो मना कर दिया, परन्तु पीछे जीवक के यह कहने पर कि 'पहले कुछ मत देना, अरोग होने पर जो चाहना दे देना'—उसने चिकित्सा करने की अनुमति दे दी।

जीवक ने सेठानी को देखकर रोग को पहचाना और सेठानी से एक पसर घी माँगा। जीवक ने पसर भर घी को नाना दवाइयो से पकाकर सेठानी को चारपाई पर उतान लिटाकर नथुनों में दे दिया। नाक से चढाया हुआ घी मुख से निकल पडा। सेठानी ने उस घी को पीकदान में से उठवाकर दासी से बर्तन में रखवा दिया, जिससे वह पैरो पर मलने या दीपक में जलाने के काम आये। C ५५२

जीवक ने सेठानी का सात वर्ष का सिरदर्द एक ही नस्य से अच्छा किया। सेठानी ने अरोग होने पर जीवक को चार हजार कार्पापण दिये। पुत्र ने चार हजार दिये, बहू ने अलग से चार हजार दिये, गृहपति ने भी चार हजार कार्पापण एक दासी और एक रथ दिया।

जीवक ने इन सारी समृद्धि को ले जाकर राजकुमार के सामने रखा और कहा—'देव ! यह सोलह हजार कार्पापण, दास-दासी और अश्व-रथ मेरे प्रथम काम का फल है। इसे देव पोसाई (पोसावनिक) में स्वीकार करें।'

'नहीं, भन्ते ! यह तेरा ही रहे। हमारे ही अन्त पुर (हवेली की सीमा) में मकान बनवाकर रहो।' जीवक अन्त पुर में मकान बनाकर रहने लगा।

जीवक का चिकित्सा कौशल—१ उस समय मागध श्रेणिक बिम्बीसार को

तक्षशिला का राजा आम्भि था, इसका अपने पडोसी राजा पौरव (पोरस) से द्रोह था, इसी के कारण आम्भि ने लडाई में सिकन्दर की मदद की थी।

भगन्दर का रोग था। धोतियाँ (साटक) खून से सन जाती थीं। देवियाँ देखकर परिहास करती थीं—'इस समय देव ऋतुमती हैं, देव को फूल उत्पन्न हुआ है, जल्दी ही देव प्रसव करेंगे।' इससे राजा मूक होता था। तव राजा विम्वीसार ने अभय राजकुमार से कहा—'भन्ते अभय ! मुझे ऐसा रोग है जिससे धोतियाँ खून से सन जाती हैं, देवियाँ देखकर परिहास करती हैं। तो भन्ते अभय, ऐसे वैद्य को ढूंढो जो मेरी चिकित्सा करे।'

अभय ने कहा—'देव ! यह तरुण वैद्य जीवक अच्छा है, यह देव की चिकित्सा करेगा। अभय ने जीवक से कहा—'जीवक ! राजा की चिकित्सा करो।'

जीवक नख में दवा ले जहाँ राजा विम्वीसार था, वहाँ गया और राजा से कहा—'देव ! रोग को देखें।' जीवक ने राजा के भगन्दर को एक ही लेप से निकाल दिया। तव जीवक को विम्वीसार पाँच सौ स्त्रियों का आभूषण देने लगा। जीवक ने कहा—'यही वस है कि देव मेरे उपकार को स्मरण करें।' 'तो भन्ते जीवक ! मेरा उपस्थान (सेवा चिकित्सा द्वारा) करो, रनवास और वुद्धप्रमुख भिक्षुसघ का भी उपस्थान करो।' 'अच्छा देव !' कहकर जीवक ने राजा को उत्तर दिया।

२ राजगृह के श्रेष्ठी को सात वर्ष से सिरदर्द था। वहुत से दिगन्त विख्यात वैद्य आकर निरोग न कर सके और वहुत-सा हिरण्य लेकर चले गये। वैद्यो ने उसे दवा करने से जवाव दे दिया था। किसी ने कहा था कि श्रेष्ठी पाँचवे दिन मरेगा और किन्ही वैद्यों ने कहा था कि सातवे दिन मरेगा।

तव राजगृह के नैगम ने राजा विम्वीसार से श्रेष्ठी गृहपति की चिकित्सा कराने के लिए कहा। विम्वीसार ने जीवक को वुलाकर श्रेष्ठी की चिकित्सा करने की आज्ञा दी।

जीवक ने श्रेष्ठी गृहपति के विकार को पहचानकर उससे कहा—'गृहपति ! यदि मैं तुम्हें निरोग कर दूं तो मुझे क्या दोगे ?' 'आचार्य, सव धन तुम्हारा हो, और मैं तुम्हारा दास।'

क्यो गृहपति ! तुम एक करवट से सात मास लेट सकते हो?' गृहपति ने सात मास एक करवट से और सात मास दूसरी करवट से तथा सात मास उत्तान–चित लेटने की शर्त को स्वीकार किया। तव जीवक ने श्रेष्ठी गृहपति को चारपाई पर लिटाकर चारपाई से वाँधकर सिर के चमडे को फाडकर, खोपडी खोलकर दो जन्तु निकालकर लोगो को दिखलाये।

'देखो यह दो जन्तु हैं। एक वडा और एक छोटा। जिन्होने गृहपति के पाँचवें

जीवक ने सोचा कि इस राजा का रोग ऐसा है, जो विना घी के आराम नही किया जा सकता। क्यो न मैं घी को कषाय वर्ण, कषाय गन्ध और कषाय रस में पकाऊँ। तब जीवक ने नाना औषधियो से घी को पकाया। तब जीवक को यह विचार हुआ कि राजा को घी पीने पर पचते समय उवात (उद्गार,वमन) होता जान पडेगा। यह राजा वडा क्रोधी है, मुझे मरवा न डाले, इसलिए क्यो न मैं पहले ही ठीक कर रक्खूं।'

जीवक ने राजा से जाकर कहा—'देव! हम लोग वैद्य हैं। विशेष मुहूर्त्त में मूल उखाडते हैं, औषधि सग्रह करते हैं। अच्छा हो, यदि देव वाहनशालाओ और नगर-द्वारो पर आज्ञा दे दें कि जीवक जिस वाहन मे चाहे उस वाहन मे जाय, जिस द्वार मे चाहे, उस द्वार से जाय, जिस समय चाहे उस समय जाय, जिस समय चाहे उस समय नगर के भीतर आये।'

राजा प्रद्योत ने वाहनागारो और द्वारो पर उक्त आज्ञा भेज दी। उस समय राजा प्रद्योत की भद्रवतिका नाम की हथिनी जो दिन में पचास योजन चलनेवाली थी। तव जीवक राजा के पास घी ले गया और वोला—'देव! कषाय पियें।' जीवक राजा को घी पिलाकर भद्रवतिका पर वैठकर नगर से निकल पडा। राजा को घी से उवात हुआ। राजा ने मनुष्यो से कहा—दुष्ट जीवक ने मुझे घी पिलाया है, जीवक को ढूँढो। मनुष्यो ने कहा कि वह भद्रवतिका पर नगर के वाहर गया है।

तव राजा ने काकदास को वुलाया—जो कि एक दिन में साठ योजन चलता था, और उससे कहा—'भन्ते काक! जा, जीवक वैद्य को यह कहकर लौटा ला कि—राजा तुम्हें वुला रहे हैं। भन्ते काक! ये वैद्य लोग वडे मायावी होते है। उसके हाथ का कुछ मत लेना।'

काक ने जीवक को मार्ग में कौशाम्बी मे कलेवा करते देखा और कहा कि 'राजा तुम्हें लौटवाते हैं।' जीवक ने कहा—'ठहरो भन्ते काक! जव तक खा लूं, हन्त भन्ते काक! तुम भी खाओ।'

काक ने कहा—'आचार्य! वस, राजा ने आज्ञा दी है कि वैद्य वहुत मायावी

---

१ पाण्डुरोग–पित्तरोग के लिए घी सवसे उत्तम है, 'पित्तस्य सर्पिषा पानम्।' (सग्रह २१।४)

'नान्य स्नेहस्तथा कश्चित् सस्कारमनुवर्त्तते।
यथा सर्पिरत सर्पि सर्वस्नेहोत्तम मतम्॥' (चरक. नि १।४०)
'पञ्चगव्य महातिक्त कल्याणकमथापि वा।
स्नेहनार्थ घृत दद्यात् कामलापाण्डुरोगिणे॥' (चि १६।४३)

होते हैं, उनके हाथ का कुछ मत लेना।' उस समय जीवक नख में दवा लगा आँवला खाकर पानी पी रहा था। तब जीवक ने कहा—'काक! आँवला खाओ, पानी पियो।' काक ने देखा कि जीवक भी आँवला खाकर पानी पी रहा है, इसमें कोई दोष नहीं। उसने भी आधा आँवला खाया और पानी पिया। उसका आधा खाया आँवला वहीं वमन हो गया। तब काक ने जीवक से कहा कि 'आचार्य! क्या मुझे जीना है?

जीवक ने कहा—'भन्ते काक! डर मत—तू भी निरोग होगा, राजा भी। राजा चंड है, मुझे मरवा न डाले, इसलिए मैं नहीं लौटूंगा।' काक को भद्रवतिका देकर जीवक राजगृह की ओर चला। राजगृह पहुँचकर सब वृत्तान्त बिम्बीसार को सुनाया। राजा ने कहा कि अच्छा किया,जो नहीं लौटे, वह राजा चण्ड है,तुम्हें मरवा भी डालता।

राजा प्रद्योत ने निरोग होने के बाद जीवक के पास दूत भेजा—'जीवक आयें, वर (इनाम) दूंगा।' जीवक वापस नहीं गया, कहला दिया कि देव मेरा उपकार (अधिकार) याद रखें। उस समय राजा प्रद्योत को हजारों दुशालाओं के जोडों में श्रेष्ठ प्रवर शिवि देश (वर्तमान स्यालकोट) के दुशालों का एक जोडा प्राप्त हुआ था, राजा प्रद्योत ने शिवि के इस दुशाला को जीवक के लिए भेजा।

५—भगवान् बुद्ध का शरीर दोषग्रस्त था। तब भगवान् ने आयुष्मान् आनन्द को सम्बोधित किया—'आनन्द! तथागत का शरीर दोषग्रस्त है, तथागत जुलाब (विरेचन) लेना चाहते हैं।'

आनन्द जीवक के पास जाकर बोले—'जीवक! तथागत का शरीर दोषग्रस्त है, जुलाब लेना चाहते हैं।' 'तो भन्ते आनन्द! भगवान् के शरीर को कुछ दिन स्निग्ध करें (चिकित्सा करें)। आनन्द ने भगवान् के शरीर को कुछ दिन स्नेहित करके जीवक से कहा कि 'तथागत का शरीर स्निग्ध है। अब जैसा समझो वैसा करो।' तब जीवक ने सोचा—यह मेरे लिए योग्य नहीं कि मैं भगवान् को मामूली जुलाब दूँ। इसलिए तीन उत्पलहस्तों को नाना औषधियों से भावित कर और स्वयं जाकर भगवान् को एक उत्पलहस्त (चम्मच) देते हुए जीवक ने कहा—

'भन्ते! इस पहले उत्पलहस्त को भगवान् सूँघें, तो इससे आपको दस बार शौच हो जायगा। इस दूसरे उत्पलहस्त को सूंघने से फिर दस बार शौच होगा, और तीसरे उत्पलहस्त के सूंघने से भी।'[1]

---

१. इससे मिलती जुलती कल्पना अत्रिपुत्र ने भी दी है—
'फलपिप्पलीना फलादिकषायेण त्रिसप्तकृत्व' सुपरिभावितेन पुष्परज प्रकाशेन

औषध देने के पीछे जीवक को सूझा कि तथागत का शरीर दोषग्रस्त है, उनको तीस विरेचन नहीं होंगे—एक कम तीस होंगे। विरेचन होने पर जब भगवान् नहायेंगे तब फिर एक विरेचन होगा।

भगवान् को इसी प्रकार से गरम जल में स्नान करने पर एक बार और शौच हुआ। इस प्रकार उन्हें पूरे तीस विरेचन हुए। तब जीवक ने भगवान् से कहा कि जब तक भगवान् का शरीर स्वस्थ नहीं होता तब तक मैं जूस-पिंडपात दूंगा। भगवान् का शरीर थोड़े समय में ही स्वस्थ हो गया।

जीवक ने राजा प्रद्योत से मिला हुआ शिवि देश का दुशाला भगवान् को भेंट किया।

'नावनीतकम्''—इसकी पाण्डुलिपि मेजर जनरल एच० बावर सी० बी० को १८९० में कूचार (मध्य एशिया) में मिली थी। कूचार चीन के रास्ते में पूर्वी तुर्किस्तान का एक क्षेत्र है। इसके साथ उनको छः और भी पाण्डुलिपियाँ मिली थीं। इन सात पाण्डुलिपियों में केवल पहली और तीसरी पाण्डुलिपि चिकित्सा विषय से सम्बद्ध है। प्रथम पाण्डुलिपि पाँचवें प्रकरण पर सहसा समाप्त हो जाती है। छठी पाण्डुलिपि का विषय अपदश है, यह सम्पूर्ण है।

इन पाण्डुलिपियों की भाषा गुप्तकालीन है। जो बौद्ध साधु दूर-दूर घूमते थे, प्रचार के लिए पहुँचते थे, उनके द्वारा ये पोथियाँ इतनी दूर पहुँची थीं। सम्भव है कि ये कश्मीर या उद्यान में लिखी गयी हों। इनका समय ईसा की चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध होगा।

नावनीतक एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें बहुत से योग भिन्न-भिन्न ऋषियों के नाम से संगृहीत हैं। नावनीतक का आधार चरक-संहिता, भेल-संहिता मुख्यतः है। भेल पुनर्वसु

चूर्णेन सरसि सजातं बृहत्सरोरुहं सायाह्नेऽवचूर्णयेत्। तद्रात्रिव्युषितं प्रभाते पुनरवचूर्णितमुद्धृत्य हरिद्राक्षसरक्षीरयवागूनामन्यतमं सैन्धवगुडफाणितयुक्तमाकण्ठं पीतवन्तमाघ्रापयेत्। सुकुमारमुत्क्लिष्टपित्तकफमौपयद्वेषिणमिति समानं पूर्वेण।' (चरक. क. अ. १।१९)

संग्रह में थोड़ा आगे भी कहा है—'एतेन सर्वमाल्यगन्धप्रावरणपटा व्याख्याता.।' (संग्रह. कल्प. १)

१. नावनीतक—मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास ने लाहौर से प्रकाशित, कविराज बलवन्तसिंह मोहन वैद्यवाचस्पति द्वारा सम्पादित के आधार पर।

आत्रेय का शिष्य था। भेलसंहिता से १५ योग और चरकसंहिता से २९ योग लिये गये हैं। ७४ योग अन्य स्थानों के हैं या स्वतन्त्र हैं। इनके विषय में लेखक ने कुछ नहीं लिखा। इसके अतिरिक्त वाकायन, निमि, उशनस, बृहस्पति का नाम भी इसमें है। अगस्त्य,धन्वन्तरि और जीवक के नाम से भी योग लिखे गये हैं। काश्यप के नाम से बहुत से योग हैं। इनमें से बहुत से योग अन्यत्र भी मिलते हैं, जिससे सम्भव है कि लोक में जो योग बहुत प्रचलित थे, सामान्य जन जानते थे, वे इसमें आ गये हैं। (जिस प्रकार कि—विहारी सतसई में सुदर्शन चूर्ण, पद्मावत में सोना साफ करने की सलोनी क्रिया, मालविकाग्निमित्र में सर्पदंश चिकित्सा, और जनता में हिंग्वष्टक या लशुनादि वटी के योग प्रचलित है।)

नावनीतक की भाषा संस्कृत है जिसमें प्राकृत मिली हुई है (जैसी सद्धर्मपुण्डरीक में है)। इसमें भी प्राकृत की छाया स्पष्ट है (शाम्यति के लिए शमेति, शामयन्ति के लिए शमेन्ति, धावित्वा के स्थान पर धोवित्वा, प्रतिपाद्ये के स्थान पर प्रति पाद्यामि शब्द आये हैं।) मुख्यत इसमें अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् और आर्या छंद प्रयुक्त हुए हैं।

ग्रन्थ का प्रारम्भ लशुन कल्प से होता है। संग्रह एवं हृदय में वाहट ने लशुन के लिए प्रशस्ति एवं रसायन प्रयोग दिया है। वाहट ने लशुन की प्रशंसा जिस रूप में की है उससे भी सुन्दर श्लोक नावनीतक में मिलते हैं। लहसुन खाने पर बहुत जोर दिया गया है। लशुन का शब्दार्थ (लवण से न्यून) किया है, लवण-रस को छोडकर शेष सब रस इसमें हैं।

इसके सिवा पाचन के योग, रसायन, वाजीकरण योग, आश्च्योतन, मुखलेप आदि प्रथम भाग में हैं। द्वितीय भाग में सामान्य रोगों के योग हैं। पुस्तक का नाम नावनीतक है (मक्खन, जो कि दही को बिलोकर, मथकर मिलता है, उसी प्रकार से आयुर्वेद ग्रन्थों को मथकर जो मक्खन मिला वह यह है)। इसलिए इसमें चुने हुए योगों का संग्रह है। कुछ योग जन सामान्य से एकत्र किये गये हैं। तृतीय भाग में भी योग है। चतुर्थ और पाँचवें भाग में प्राशक हैं, तन्त्र विद्या है। छठे और सातवें भाग में महामायूरी और विद्याराज्ञी सूत्र हैं, जिनका सम्बन्ध सर्पों से है—मयूर सर्पों का शत्रु है। महामायूरी और धरणी ये दोनों मंत्र-प्रार्थनाएँ बौद्धों में हिन्दुओं के गायत्री मंत्र (गायन्त त्रायत इति गायत्री, बोलनेवाले की रक्षा करती है) के समान रक्षक एवं पवित्र हैं (संग्रह में भी स्थान-स्थान पर धरिणी, महामायूरी, अपराजिता का उल्लेख है। हर्षचरित में बाण ने लिखा है कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के समय उसकी शय्या के पास महामायूरी का पाठ हो रहा था)।

विशेषताएं—नावनीतक की सबसे मुख्य विशेषता लहसुन के खाने का विधान करना है। यह रसायन है, राजयक्ष्मा तथा गण्डमाला के लिए अव्यर्थ औषध है। लहसुन की गन्ध उग्र होने से इसका उपयोग कृमि (जर्म्स, बैक्टीरिया) मारने में होता है। इसको रस्सी में बाँधकर घर के बाहर की सरदल पर लटकाते हैं; जिससे कि चेचक आदि वायु से फैलनेवाले रोग नहीं होते (हर्म्याग्रेष्वथ तोरणेषु वलभी द्वारेषु चाविष्कृता। कन्दाद्या लशुनस्रजो विरचेत् भूमौ (त)थैवार्च्चनम्'—नावनीतक) लहसुन का उपयोग तथा प्रयोग विधि बहुत ही विस्तार में वर्णित है।[1] बावर-पाण्डुलिपि के प्रथम संस्करण के पीछे पश्चिमी चिकित्सा में लहसुन का महत्त्व समझा जाने लगा। तन्त्र प्रयोग भी चिकित्सा में उस समय प्रचलित था, इससे यह स्पष्ट है।

भाषा—नावनीतक की भाषा ललित एवं प्रसाद गुणयुक्त है। हिमालय का वर्णन कालिदास के कुमारसम्भव में हिमालय की याद दिलाता है। दोनों के भाव, उपमाएँ एक ही हैं। माधुर्य और अलंकार की दृष्टि से नावनीतक की रचना कई स्थानों पर बहुत ही मनोरम है। उदाहरण के लिए लशुन का वर्णन देखिए—

---

१ लशुन के उपयोग का विधान अष्टांगसंग्रह, अष्टांगहृदय, काश्यपसंहिता और नावनीतक में है। इसकी उत्पत्ति एक ही प्रकार से बतायी गयी है; इसके न खाने का भी कारण एक ही है। रसोन का उपयोग, उसके सेवन की विधि; तथा उसके गुण प्रायः सबमें एक हैं। सबमें ही इसको रसायन; वातनाशक कहा गया है। संग्रह में इसकी प्रशंसा में कहा गया है—

'अमृतकणसमुत्थं यो रसोनं रसोनं, विधियुतमिति खादेच्छीतकाले सदैव।
स नयति शतजीवी स्त्रीसहायो जरान्तं कनकरुचिरवर्णो नीरुजस्तुष्टिजुष्टः॥'

नावनीतक में भी इसके सम्बन्ध में सुन्दर पद्य रचना है। इसके प्रयोग का समय शीतकाल एवं वसन्त में है (अयमिह लशुनोत्सवः प्रयोज्यो हिमकाले च मधौ च माधवे च—नावनीतक)। काश्यप संहिता में भी लशुन की इसी प्रकार स्तुति है—"न जातु भ्रश्यते जातं नृणां लशुनखादिनाम्। न पतन्ति स्तना स्त्रीणां नित्यं लशुनसेवनात्॥ न रूपं भ्रश्यते चासां न प्रजा न बलायुषी। सौभाग्यं वर्धते चासां दृढं भवति यौवनम्॥' काश्यप संहिता—लशुनकल्प "अशोक जब बीमार हुआ था, उसे वैद्य ने प्याज खाने को कहा था—परन्तु उसने यह कहकर निषेध कर दिया था कि मैं क्षत्रिय हूँ।"

'दृष्ट्वा पत्रैर्हरितहरितैरिन्दनीलप्रकाशै कन्दै कुन्दस्फटिककुमुदेन्द्वशुशखाभ्र-शुभ्र उत्पन्नस्थो म [मु] निमुपगत सुश्रुत काशिराज किन्वेतत्स्यादथ सभगवानाह तस्मै यथावत् ।'

चरकसहिता के वचनो को अपनी रचना में कहा है, उदाहरण के लिए—

'मण्डूकपर्ण्या स्वरस. प्रयोज्य क्षीरेण यष्ठीमधुकस्य चूर्णम् ।
रसो गुडूच्यास्तु समूल पुष्प्या कल्क प्रयोज्य खलु शखपुष्प्या ॥'
(चि १।३।३०)

नावनीतक में—

'स्वरसेन शखपुष्प्या ब्राह्मी मण्डूकपर्णी मधुकानाम् ।
मेघारोग्यवलार्थी जीवितुकाम प्रयुञ्जीत ॥'—(नावनीतक १।५२)

नावनीतकम् में मातगी विद्या का उल्लेख है। यहाँ पर मातगी विद्या का स्तोत्र दिया गया है, काश्यपसहिता में भी इस विद्या का नाम आया है। इस सहिता में मातगी विद्या का फल वताया गया है, इसमें उसका स्तोत्र है, जो कि लगभग तत्र की भाँति है। इसी प्रकार से महामायूरी विद्या का मत्र तथा फलश्रुति इसमें है, अप्टागसग्रह आदि ग्रन्थो में इस विद्या का उल्लेख है, परन्तु मत्र या स्तोत्र नही है। वह इसी में है।

इस प्रकार से वौद्ध माहित्य में मुख्यत इन चार पुस्तको की सहायता से आयुर्वेद की स्थिति जानी जा सकती है। इसमे विनयपिटक का महत्त्व सवसे अधिक है।

इसके अतिरिक्त वौद्ध शव्द का चारिका शव्द पाणिनि के 'चरक' शव्द का प्रति-रूप है। चारिका शव्द चक्रम विचरने के लिए आता है। जो भिक्षु चतुर्मास छोडकर शेप मासो में विचरते रहते थे, उनका नाम चारिक है। इसी प्रकार भिक्षा के अर्थ में भी चारिका शव्द है। भगवान् वुद्ध का उपदेश था—'वहुजन हिताय, वहुजन सुखाय, चरत भिक्षुवे, चरत भिक्षुवे।' जो देश में वास्तविक ज्ञान का प्रचार करते थे, वे चरक थे (हिन्दू सभ्यता—पृष्ठ ११०), जातक में आता है 'अनुपव्वे न चारिका चरन्त '—जातक भा ५, पृप्ठ २४७। हिन्दी का 'चारण' शव्द भी इसी अर्थ को वताता है, जो कि सदा चलते रहते थे (अथवा चरणो की स्तुति राजा, महाराजाओ का यश कीर्त्तन करते थे, इसलिए चारण कहे जाते थे)।

वास्तव में भारत के इतिहास का प्रारम्भ इसी साहित्य से होता है। यही से तिथिक्रम एव विदेशियो से सम्वन्ध का प्रारम्भ स्पष्ट होता है। यह अवस्था आयुर्वेद साहित्य के लिए पूर्ण यौवन की थी, जो कि इस देश में ही उत्पन्न हुआ था। उस समय

लोग यहाँ पर आयुर्वेद-चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन के लिए आते थे। यह अवस्था मध्यकाल तक बनी रही, जैसा कि अरब और भारत के सम्बन्ध में पुस्तक के लेखक ने स्पष्ट लिखा है, तथा मध्य कालीन भारतीय सस्कृति मे हम देखेंगे।

इस समय मे अधिक उज्ज्वल पक्ष चिकित्साशास्त्र का प्राचीन काल में अन्यत्र नही, और आज तक भी नहीं। मस्तिष्क का शल्यकर्म इस बीसवी सदी में भी अभी तक पूर्ण सफलता के साथ नही हुआ। इसलिए इस समय को 'आयुर्वेद का मध्याह्न काल' कहने में कोई भी अतिशयोक्ति मैं नही समझता।

चौथा अध्याय

स्मृति और पुराणों में आयुर्वेद साहित्य

पुराणो की सख्या अट्ठारह निश्चित है। इसका कारण सम्भवत भगवान् वेद-व्यास का नाम जुडा होना है, क्योकि महाभारत काल का सम्बन्ध अट्ठारह सख्या से विशेष है। कौरव-पाण्डव युद्ध में दोनो पक्षो की सेना की सख्या अट्ठारह अक्षौहिणी थी, महाभारत का युद्ध भी अट्ठारह दिन चला, महाभारत के पर्व भी अट्ठारह है, गीता के अध्याय भी अट्ठारह है, इसलिए पुराणो की सख्या भी अट्ठारह ही प्रतीत होती है।

पुराणो का लक्षण जो मिलता है, उसके अनुसार अनुलोम सृष्टि, प्रतिलोम सृष्टि (प्रलय), ऋषिवश, मन्वन्तर तथा राजवशो का वर्णन करना पुराणो का लक्षण है।[1] प्राचीन आख्यायन के लिए पुराण शब्द आता है। इन आख्यायनो का ही सबसे अधिक प्रभाव हिन्दू धर्म पर पडा है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की कल्पना इन पुराणो में ही की गयी है। इनकी महिमा सर्वत्र गायी गयी है। पुराणो के ये आख्यायन वैदिक काल की कथाओ को स्पष्ट करने के लिए ही हुए है। इनमें लोकाचार सम्बन्धी कथाओ का सग्रह है।

पुराणो का महत्त्व, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से बहुत है। चिकित्सा के इतिहास के सम्बन्ध में भी इनका महत्त्व है, यद्यपि उतना अधिक नही, जितना भौगोलिक ऐतिहासिक दृष्टि से है (गरुड पुराण में बहुत से श्लोक चरक, सुश्रुत से सगृहीत है)।

पुराणो के नाम ये है—(१) ब्रह्मा, (२) विष्णु, (३) अग्नि, (४) वायु, (५) मत्स्य, (६) स्कन्द, (७) कूर्म, (८) लिङ्ग, (९) भविष्य, (१०) पद्म, (११) भागवत, (१२) ब्रह्माण्ड, (१३) गरुड, (१४) मार्कण्डेय, (१५) ब्रह्मवैवर्त्त, (१६) वामन, (१७) वराह और (१८) शिव।

---

१ 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वशो मन्वन्तराणि च।
वशानुचरित चैव पुराग पञ्चलक्षणम्॥'

रचना काल—अलबरूनी ने जो कि १०३० ईसवी में भारत आया था, अट्ठारह पुराणो की सूची दी है, शकराचार्य ने नवी शताब्दी में, कुमारिल भट्ट ने ८वी शताब्दी में पुराणो का उल्लेख किया है। बाण ने कादम्बरी में पुराणो का उल्लेख किया है (६२० ईसवी), कौटिल्य अर्थशास्त्र में पुराणो का उल्लेख है, उन्मादी राजपुत्रो को पुराण उपदेश ग्रहण करने के लिए कहा गया है। अर्थशास्त्र का समय ३०० ईसवी पूर्व है।

साथ ही पुराणो मे कलियुग के राजाओं का वर्णन है। विष्णु पुराण में मौर्यवश के राजाओ का (३२६ से १८५ ई० पू०), मत्स्य पुराण में आन्ध्र वश के राजाओ का; वायु पुराण में गुप्तवश के राजाओ का, आभीर, गर्दभ, शक, यवन, तुषार, हूण आदि म्लेच्छ राजाओ का वर्णन है। इसलिए इनका ठीक समय निश्चित करना कठिन है, परन्तु इतना सत्य है कि इनकी चरम सीमा गुप्त काल है। भले ही इनके प्रारम्भ की सीमा ईसा से छठी शती पूर्व हो या जो हो। इस प्रकार इन तेरह सौ वर्ष के लम्बे समय में इनकी रचना हुई हैं।

वेद के अधिकारी केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य थे, परन्तु रामायण, महाभारत, पुराण सुनने का अधिकार सबको था। स्त्री और शूद्र भी इसको सुनकर ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। जिस प्रकार जातक कथाओ से बुद्ध धर्म का प्रचार हुआ, उसी प्रकार पुराणो से हिन्दू धर्म का प्रचार-विस्तार बढा। इनमें ही सगुण उपासना, अवतारवाद तथा अन्य बातो को जन्म मिला। इनमें भक्ति का महत्त्व बताया गया है। कलियुग में भक्ति ही मोक्ष का साधन मानी गयी है। इसी भक्ति माहात्म्य का प्रचार पुराणो में उपाख्यानो से समझाया गया है। पुराणो का पारायण लोमहर्षण सूत या उनके पुत्र उग्रश्रवा ने किया था।

पुराण की प्राचीनता उपनिषद् काल तक जाती है। जहाँ इतिहास पुराण को अध्ययन का मान्य विषय स्वीकृत किया गया है। पुराण को पाँचवाँ वेद कहा गया है। रामायण, महाभारत के समान पुराण भी जनता के लिए वेद की भाँति थे।

चिकित्सा विषय—१—ब्रह्म वैवर्त्त पुराण, ब्रह्म खण्ड में आयुर्वेद की उत्पत्ति का निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

"ऋग्यजु: सामाथर्व्वाख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापतिः
विचिन्त्य तेषामर्थञ्चैवायुर्वेदं चकार स: ॥
कृत्वा तु पञ्चमं वेद भास्कराय ददौ विभुः
स्वतंत्रसहितां तस्मात् भास्करश्च चकार स ॥" इत्यादि इत्यादि।

ब्रह्मा ने आयुर्वेद उत्पन्न किया। इसे आयुर्वेद परम्परा में तथा अन्य स्थानो पर भी कहा है, परन्तु ब्रह्मा ने भास्कर को आयुर्वेद दिया, यह आयुर्वेद ग्रन्थो की परम्परा में नही मिलता (लोक मे अवश्य प्रसिद्धि है कि 'आरोग्य भास्करादिच्छेत्'—स्वास्थ्य सूर्य से माँगना चाहिए)। भास्कर ने अपने सोलह शिष्यों को आयुर्वेद सिखाया। उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थ बनाये। इन शिष्यो में न तो इद्र का नाम है, और न भारद्वाज का। धन्वन्तरि, दिवोदास और काशिराज ये तीनो भिन्न बताये गये है, जब कि उपलब्ध सुश्रुत सहिता मे ये तीनो नाम एक ही व्यक्ति के प्रतीत होते हैं।

चरक सहिता में ब्राह्म रसायन के दो पाठ है (चि अ १।१), इनमें यह नही कहा गया कि इनको ब्रह्म ने कहा या बनाया था। परन्तु पिछले ग्रन्थो में ब्रह्मा के नाम से कहे गये बहुत योग मिलते हैं। विशेषत रसशास्त्र में ब्रह्मा के बनाये बहुत योग हैं[1]। ब्राह्मसहिता कोई थी, इसकी जानकारी भावमिश्र के कहने से होती है।

२—अग्निपुराण में आयुर्वेद का विषय कुछ विशेष है, परन्तु यह विषय बहुत पीछे का है, इसमें बहुत से श्लोक चरक सहिता से पूर्णत मिलते है, रोग निदान में भी कुछ भी विशिष्टता नही। घोडो तथा हाथियो की भी चिकित्सा वर्णित है। विष चिकित्सा और बालतत्र में मत्र प्रयोग भी दिये गये है (सुश्रुत सहिता में ग्रहो की चिकित्सा में मत्र जो दिये गये हैं, वे इनसे सर्वथा भिन्न है)।

अग्नि पुराण में सिद्धौषधानि (२७८ वाँ), सर्वरोगहराणि औषधानि (२७९), रसादि-लक्षण (२८०), वृक्षायुर्वेद (२८१), नाना रोगहराणि औषधानि (२८२)

---

१ भावप्रकाश में—'ब्राह्म सहिता' एक लाख श्लोक की कही गयी है—

'विधाताऽथर्वसर्वस्वमयाय्युर्वेद प्रकाशयन्।
स्वनाम संहिता चक्रे लक्षश्लोकमयीमृजुम्॥'

वरुण चिकित्सा ग्रन्थ में भी ब्रह्मा का उल्लेख है—ब्रह्मा ने शृग, जलौका, और तीक्ष्ण शस्त्रो का चिकित्सा में उपयोग किया—

"शृग षडङ्गुल रक्त जलूक द्वादशाङ्गुलम्।
शस्त्रमङ्गुलमात्रेण ब्रह्मणा निर्मित पुरा॥'

रसौषध ब्रह्मा के द्वारा निर्मित्त, सर्वांग सुन्दर रस (रसेन्द्रसारसग्रह); वात-कुलान्तक (र सा स); चतुर्मुख रस (र सा स), विजयानन्द (र सा स); बृहत् अग्निमुख चूर्ण (ग नि), बृहत् सारस्वत चूर्ण (ग नि), चन्द्रप्रभा गुटिका (ग नि), आदि बहुत योग ब्रह्मा के नाम से मिलते है। (हिस्ट्री आफ इडियन मैडिसिन)

मंत्र रूप औषध (२८३), मृतसंजीवनीकर सिद्ध योग (२८४), कल्पसागर (२८५), गज चिकित्सा (२८६) अश्व वाहनसार (२८७); अश्व-चिकित्सा (२८८) शान्त्यायुर्वेद (२९१), गोनसादि-चिकित्सा (२८७), बालग्रहहर बालतंत्र (२९८) चिकित्सा से सम्बद्ध है।

अग्नि पुराण के बहुत से योग तथा पथ्य आयुर्वेद ग्रन्थों में पूर्णतः मिलते हैं, यथा—

अग्नि पुराण—	चरक तथा अन्य ग्रन्थ
१ षडङ्गपानीय—मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः ॥ २७८।४	मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः ॥ चि अ ३।१४५
२. मुद्गाः मसूराश्चणकाः कुलत्थाश्च समकुष्टकाः ॥ २७८।६	मुदगान्मसूराश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्टकान् ॥ चि अ ३।१८९.
३ रक्षन् बलं हि ज्वरितं लंघितं भोजयेद् भिषक्	प्राणाविरोधिना चैनं लघनेनोपपादयेत्- चि अ ३।१५१

इसी प्रकार से नासा के रक्त को रोकने में दूर्वा का स्वरस, बालकों के लिए प्रसिद्ध अवलेह (शृंगी सकृष्णातिविषा चूर्णिता मधुना लिहेत्। एका चातिविषा कासच्छर्दिज्वरहरी शिशोः ॥२८२।२); जगाल, आनूपदेश, वात रक्त में गिलोय का उपयोग, कुष्ठ में खदिर का उपयोग (कुष्ठिनाञ्च तथा शस्तं पानार्थे खदिरोदकम्—२७८।१४; तुलना कीजिए—"यथा सर्वाणि कुष्ठानि हतः खदिरबीजकौ" चि अ ६।१९), कुष्ठ के लेप में मनःशिला और हरताल (२७८।१६), नेत्र रोगों में त्रिफला का सेवन, आदि योग बताये गये हैं।

घोड़ों तथा हाथियों की चिकित्सा, उनके प्रशस्त लक्षण इस पुराण में दिये गये हैं। अग्नि पुराण में कुछ शब्द भाषा के ही हैं, यथा नाल (२८७।२८), रोकयित्वा (२७८।३९)। अग्नि पुराण में शल्य चिकित्सा या शालाक्य विषय का उल्लेख नहीं है, कहीं-कहीं पर नेत्ररोग और शिरो रोग के लिए सामान्य उपचार है। आयुर्वेद का विषय बहुत ही संक्षिप्त तथा उथला है। योग भी जो दिये गये हैं वे सब सामान्य हैं। दूसरे ग्रन्थों से सम्बन्धित हैं।

धातुओं का भस्म के रूप में उपयोग इसमें है, (ताम्रं मृतं मृततुल्यं गन्धकञ्च कुमारिका। २८५।१३)। आयुर्वेद की प्राचीन संहिताओं में धातुओं का उपयोग सूक्ष्म चूर्ण के रूप में मिलता है, परन्तु भस्म के रूप में नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है यह अंश बहुत पीछे का है।

गरुड पुराण में आयुर्वेद सम्बन्धी विवरण पर्याप्त है, यद्यपि यह भी अग्निपुराण

की भांति वहुत प्राचीन नही है। चिकित्सा सम्बन्धी उल्लेख के अतिरिक्त रत्नो की परीक्षा भी इनमें मिलती है। (गरुड पुराण ६८।९-१०)

रत्नो की उत्पत्ति, उनके गुण दोप, रग धारण करने आदि सम्बन्धी उल्लेख विस्तार मे दिया गया है।

चिकित्सा सम्बन्धी अध्याय १४६ मे प्रारम्भ होकर दो सौ दो तक चले गये है। इनमें रोगो का वर्णन, हिताहित सम्बन्धी, अनुपान सम्बन्धी, प्रसाधन सम्बन्धी, मुख पर लेप, वालो के लेप, तेल, वाजीकरण, रसायन, वशीकरण, नेत्ररोग आदि विपय वर्णित है। झिञ्जिनीवात (११७।४९), सघातवात (१४७।४८) आदि नये शब्द इसमें है, ये शब्द प्राचीन आयुर्वेद सहिताओ में नही मिलते।

इसमें सर्वरोग निदान प्रथम अध्याय है। इस अध्याय का प्रारम्भ सुश्रुत को सम्बोधन करके धन्वन्तरि ने किया है। इसमें आत्रेय आदि से वर्णित रोगो का निदान कहा गया है। अध्याय का प्रारम्भ वाग्भट के अष्टाग हृदय के श्लोको मे हुआ है (माधव निदान में भी ये श्लोक हृदय के निदान स्थान से लिये गये है। अष्टाग हृदय की रचना गुप्त काल की है, इसलिए गरुड पुराण या उसका यह भाग इसके पीछे का या इस समय का होना चाहिए।)। सर्व रोग निदान का प्रथम अध्याय सग्रह एव हृदय में ही मिलता है, अन्य सहिताओ में नही है। इस अध्याय में रोगो के सामान्य कारणो का उल्लेख किया गया है।

इसके आगे ज्वर निदान है। इसमें पुन सग्रह के आधार पर वचन मिलते है, यथा—वात, पित्त, कफ दोपो के अनुसार क्रमश सात, दस या वारहवाँ दिन ज्वर से मोक्ष के लिए या मृत्यु के लिए होता है। यह अग्निवेश का मत है, हारीत के अनुसार यह मर्यादा १४, २० एव २४ दिन की है (तुलना कीजिए, सग्रह नि० २।५९—६१)। इसमें रक्तपित्त निदान, कास, श्वास, हिक्का, यक्ष्मा, अरोचक, हृद्रोग, मदात्यय, अर्श, तृष्णा, अतिसार-ग्रहणी, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, विद्रधि, गुल्म, उदर, पाण्डु-शोथ, विसर्पादि, कुष्ठरोग, कृमि निदान, वात व्याधि, वात रक्त निदान हैं। चिकित्सा शास्त्र में सूत्र-स्थान, सर्वरोगहर नामक योगसार अध्याय है। इसमें त्रिदोप की विवेचना है तथा इसकी सामान्य चिकित्सा है।

हिताहित अनुपान विधि में द्रव्यो के गुण वताये गये है। एक प्रकार से अन्नपान विधि, द्रव्य-विवेचन इसमें किया गया है। ज्वर-चिकित्सा, नाडी व्रण, शूल, भगन्दर, कुष्ठादि की चिकित्सा, स्त्रीरोग चिकित्सा, योगसार-रसो के गुण, उनके गुण-धर्म (रस विवेचना) आते है। घृत तैलादि प्रकथन, चिकित्सा में नाना योग है। इसके आग

दो अध्याय नाना प्रकार के रोगो की चिकित्सा के है। तदनन्तर वशीकरण, वन्ध्य गर्भधारण और उच्चाटन है। इसके आगे पन्द्रह अध्याय लगातार विविध ओपधियो के आते है। इनमे वशीकरण भी वीच-वीच मे दिया गया है। अन्तिम चिकित्सा सम्वन्धी अध्याय रोगनाशन वैष्णव कवच है। इसके वीच-वीच मे मत्र प्रयोग भी मिलता है।

पाण्डुरोग में तक्र के साथ लौह चूर्ण का उपयोग दिया गया है (१८४।२९—लौह-चूर्ण तक्रपीत पाण्डुरोगहर भवेत्), दाँतो के योगो मे हिंगुल का भी उल्लेख है (हरिताल यवक्षार पत्राङ्ग रक्तचन्दनम्। जाती हिङ्गुलक लाक्षा पक्त्वादन्तान् प्रलेपयेत्॥ हरीतकी कपायेण मृष्ट्वादन्तान् प्रलेपयेत्। दन्ता.स्यु लोहिता पुस श्वेता रुद्र[1] न सशय ॥१७९।१-२)।

लोक में जो सामान्य बातें प्रचलित हैं, वे भी इसमें मिलती है। यथा—प्रात - काल मुख में पानी भरकर उससे आँखे धोने पर आँखो के रोग नष्ट होते है (११७।१३), रात मे दही खाना निषेध किया गया है।

सामान्यत गरुड पुराण में या अन्य पुराणो में आयुर्वेद सम्वन्धी चिकित्सा भाग गुप्त काल के पीछे का है। इसमे रसशास्त्र का कथन नही के वरावर है। योग भी सामान्य हैं। मत्र प्रयोग शैव सम्प्रदाय की विशेपता है और वह इसमें मिलता है।

आरोग्यशाला—स्कन्द पुराण तथा अन्य पुराणो में सव उपकरणो से युक्त वैद्य-वाली आरोग्य शाला जो व्यक्ति वनवाता है, उसको जो पुण्य होता है, उसकी कोई सीमा नही है। आरोग्य दान से वढकर कोई दान नही है (तुलना कीजिए—नहि जीवितदानाद्धि दानमन्यद् विशिष्यते—चरक० चि० अ० १।४।६०)[1]। आरोग्य शालाओ की प्रेरणा दानदृष्टि से पुराणो में है। ये आरोग्य शालाएँ आजकल के हास्पीटल, सैनेटोरियम ही थे। जहाँ पर रोगी को औषधि, खान-पान मिलता था। सम्राट् अशोक ने अपने राज्य में तथा समीपवर्त्ती राज्यो में मनुष्य और पशु दोनो के लिए आरोग्य शालाएँ वनवायी थी। आरोग्यशाला का ही एक नाम पुण्यशाला है, क्योंकि जीवनदान से वढकर दूसरा दान नही, इससे वढकर कोई पुण्य नही।

---

१. 'आरोग्यशाला यः कुर्यात् महावैद्यपुरस्कृताम्।
सर्वोपकरणोपेतां तस्य पुण्यफल शृणु॥
आकाशस्य यथानान्त. सुरैप्युपलभ्यते।
तद्वदारोग्यदानस्य नान्तो वै विद्यते क्वचित्॥' (स्कन्दपुराण)

आरोग्यशाला में चिकित्सा के सब सम्भार-साधन होने चाहिए। (देखिए चरक० सू० अ० १५ में उपकल्पनीय अध्याय), इसी से 'महौषध परिच्छदा' कहा गया है। इसमें दवाइयों का भण्डार रहे। यह औषध समूह वनस्पतियों का, प्राणिज तथा खनिज सबका होना चाहिए।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन मनुष्य का स्वास्थ्य-आरोग्य ही है ('शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्'—कालिदास)। इसलिए आरोग्य को देनेवाला व्यक्ति सब कुछ देनेवाला है। सब प्रकार की ओषधियों तथा साजसज्जा से परिपूर्ण आरोग्यशाला को बनाना चाहिए। इसमें चतुर, होशियार वैद्य रखना चाहिए। बहुत प्रकार के अन्न, खान-पान प्रभृत मात्रा में संग्रह करना चाहिए (रोगी को खाना-पीना यहीं से दिया जा सके)। (शब्द कल्पद्रुम)

वैद्य के गुण—वैद्य का शास्त्र अध्ययन ठीक प्रकार से होना चाहिए। शास्त्र को ठीक समझे, बुद्धिमान्, (प्रतिपत्ति कुशल), जिसने ओषधियों की आजमाइश—परीक्षा कर ली हो, ओषधियों की शक्ति की ठीक जाँच की हो। वैद्य औषधि के मूल का वास्तविक ज्ञाता—कहाँ से ओषधि आती है, कैसी बनी है, आदि बातें जो पूरी तरह समझे, ओषधियों को किस समय पर उखाड़ना चाहिए, यह जिसको ज्ञात हो, ओषधि के संग्रह काल को जाननेवाला, शालि, गेहूँ, चावल आदि निरामिष तथा मांसों के बल-वीर्य-विपाक को जानता हो, त्यागी के समान वृत्ति रखे (लोभ रहित)। वैद्य को मनुष्यों के लिए अनुकूल और प्रियवादी होना चाहिए।

इस प्रकार का वैद्य आरोग्यशाला में जो व्यक्ति रखता है, उसको बहुत पुण्य होता है, वह लोक में धार्मिक, कृतार्थ (सब कुछ जिसने कर लिया—आगे कुछ भी करने को नहीं रहा), बुद्धिमान् होता है।—(शब्द कल्पद्रुम)

पुराणों में दान की जो महिमा वर्णित है, उसमें आरोग्यशाला बनाना, जीवनदान करना सबसे मुख्य कहा गया है। इसी के लिए मनुष्यों को प्रेरित किया गया है। आज ईसाई धर्म, अपने धर्म-प्रचारकों की सहायता से इतना नहीं फैला, जितना अपने चिकित्साकार्य—जीवनदान से। विशेषत अशिक्षित जनता में जहाँ पर भूत-प्रेत रोग के कारण माने जाते हैं, वहाँ पर चिकित्सा से उनका बहुत प्रचार हुआ है। इसी से आरोग्यशाला के लिए पुराणों में प्रेरणा दी गयी है।

> 'दारुणं कृष्यमाणाना गदैर्वैवस्वतक्षयम्।
> छित्वा वैवस्वतस्तान् पाशान् जीवितं य' प्रयच्छति ॥
> धर्मार्थदाता सदृशस्तस्य नेहोपलभ्यते।

न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद् विशिष्यते[1] ॥
परो भूतदयाधर्म इति मत्वा चिकित्सया ।
वर्त्तते य॰ स सिद्धार्थ॰ सुखमत्यन्तमश्नुते ॥' (चरक॰ चि॰ अ॰ १।४।६०-६२)

स्मृतियो मे आयुर्वेद साहित्य

उपनिषदो की भांति स्मृतियाँ भी अनेक हैं । स्मृतियो का आधार श्रुति है ('श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'—रघुवश) । ये ही स्मृतियाँ या धर्मशास्त्र प्राचीन भारत की सभ्यता पर अधिक प्रकाश डालते हैं । इनमे मुख्य या प्रतिनिधि ग्रन्थ मनु, विष्णु, याज्ञवल्क्य और नारद प्रणीत हैं । विष्णु स्मृति के अतिरिक्त ये सब श्लोको में हैं । इनका जो वर्त्तमान रूप है उसमें रामायण और महाभारत की भाँति बहुत अश समय-समय पर पीछे भी जोडा गया है ।

चिकित्सा का विषय—मनुस्मृति मे उद्भिज्जो का भेद, ओषधि, वनस्पति, वृक्ष और वल्ली के रूप में किया गया है । फल के आने पर जिनका नाश होता है; बहुत पुष्प और फल जिनमें आता है, वे ओषधियाँ हैं । जिनमे पुष्प नही आता, फल आते हैं, उनको वनस्पति कहते हैं, पुष्प और फलवाले वृक्ष हो जाते हैं, गुच्छ-गुल्म जो नाना प्रकार की तृण जातियाँ हैं, ये वल्ली हैं । इनके सज्ञा अन्त॰ होती हैं, ये भी सुख-दु ख का अनुभव करती है (अन्त॰ सज्ञा भवन्त्येते सुख-दु ख समन्विता ।१।४९) ।

मनुस्मृति के गृहस्थाश्रम वर्णन में जो आचार वर्णित है, वही तथा उससे मिलता वर्णन आयुर्वेद की वृद्धत्रयी सहिता में आता है (मनु—४।४३-६४, चरक॰ सूत्र॰ अ॰ ८, सुश्रुत चि॰ अ॰ २४, सग्रह सू॰ अ॰ ३) ।

मनुस्मृति मे चिकित्सक के अन्न का ग्रहण करना निषेध किया गया है (पूय चिकित्सकस्यान्न ४।२२०) । यह अन्न किन कारणो से निषिद्ध हुआ है, यह नही लिखा, परन्तु अस्थि स्पर्श में, मास, रक्तादि के स्पर्श में प्रायश्चित्त है, सम्भवत॰ इसलिए निषेध हो ।

चिकित्सक की भूल पर दण्ड—चिकित्सक यदि पशु चिकित्सा में मिथ्या वर्त्तन करे तो उसे प्रथम साहस का दण्ड देना चाहिए । मनुष्य की चिकित्सा में मिथ्या

---

१. 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं साधनं यत॰ ।
तस्मादारोग्य-दानेन तद्दत्त स्याच्चतुष्टयम् ॥'
—आरोग्यदान, स्कन्दपुराण ।

वर्त्तन करने में मध्यम साहस का दण्ड दें (चिकित्सकाना सर्वेषा मिथ्या प्रचरता दमः। अमानुपेपु प्रथमो मानुपेपु तु मध्यम ॥९।२८४)।

विष्णु स्मृति—यह स्मृति बहुत पीछे की बनी है, कम से कम गुप्तकाल से पहले की नही है। इसमें दी हुई स्वास्थ्य सम्वन्धी सूचनाएँ (अध्याय ६०, ६१, ६३ और ६४ में) अष्टाग-सग्रह में दी गयी सूचनाओ से प्राय मिलती है (दिनचर्या अध्याय सूत्र० अ० ३)। शौचकार्य सम्वन्धी निर्देश, शौचकार्य में मिट्टी का उपयोग (मिट्टी की विशेपता—गन्ध लेपक्षयकरम्,—सग्रह में—लेपगन्धापहम्) एक समान शब्द रचना (नप्रत्यनिलानलेन्द्वर्कस्त्रीगुरुब्राह्मणानाञ्च—विष्णु, न नारी पूज्य गोऽर्केन्दुवाय्वन्नाग्निजल प्रति–सग्रह) है।

दातुन के नियम—किन-किन वृक्षो की दातुन नही करनी चाहिए, यथा—लसूडा, रीठा, वहेडा, घव, धन्वन, वन्वूक, मम्भालू, सहजन, तिन्दुक आदि वृक्षो की दातुन नही करनी चाहिए (तुलना कीजिए सग्रह० सू० अ० ३।२०–२१, इनमें न पारिभद्र-काम्लिका 'मोचक' शाल्मलीशाणजम्—यह पक्ति पूर्णत सग्रह में—पारिभद्रकमम्ली-कामोचक्यौ शाल्मली शणम्, इस प्रकार हैं')। जिन वृक्षो की दातुन करनी चाहिए, उनमें वरगद, असन, अर्क, खदिर, करज, सर्ज, नीम, अपामार्ग, मालती आदि हैं (यह रचना भी दोनो में समान है)।

स्नान के सम्वन्ध में दूसरे के वनाये कुएँ आदि में स्नान करने का निपेव है, अथवा दूसरे के स्नान से वचे पानी में स्नान न करे, यदि स्नान करना हो तो पाँच पिण्ड देकर स्नान करे (विष्णु ६४)[1]। स्नान करके शिर को (सग्रह में वालो को) फटकारना मना किया है—"धुनयान्न शिरोरुहान्।"

सद्वृत्त सम्वन्धी वातें भी प्राय वे ही हैं, जो आयुर्वेद ग्रन्थो में वर्णित है। यथा—अधार्मिक, वृपल, शत्रुओ के साथ सगति—मुसाफिरी न करे, केश, तुष, कपाल, अस्थि, भस्म, अगार इनको न लाँघें और न इनके पास सोये। देवता तथा विद्वान् एव वनस्पतियो की प्रदक्षिणा करे। नदी को व्यर्थ में न तैरे ('न वृथा नदी तरेत्' इस

---

१ सग्रह और याज्ञवल्क्य स्मृति में भी यही उल्लेख है, (याज्ञवल्क्य १।१५९; सग्रह ३।७१)। इसका स्पष्ट अर्थ नहीं है, सग्रह के टीकाकार इन्दु ने लिखा है कि तालाव में से मिट्टी के पाँच पिण्ड निकालकर वाहर फेंकें। इससे वह तालाव अपना हो जाता है, फिर स्नान करें, यह अर्थ स्पष्ट नहीं, परन्तु यह वचन समान रूप में तीनों में है।

पाठ के स्थान पर सग्रह मे 'नदी तरेन्न बाहुभ्याम्' पाठ है), बाहु से न तैरे, टूटी हुई नाव से नदी को पार न करे।

याज्ञवल्क्य स्मृति—मनुस्मृति के पीछे प्रामाणिक स्मृति यही है। मनु से कहा आचार-विचार उत्तर भारत मे प्रामाणिक है। याज्ञवल्क्य स्मृति की प्रतिष्ठा मध्य भारत और दक्षिण मे है। वहां पर इसको प्रामाणिक रूप में स्वीकार किया जाता है। इसकी रचना मनुस्मृति के पीछे की मानी जाती है।

आयुर्वेद विषय तथा चरक सहिता सम्मत अस्थिगणना एव दैव और पुरुषकार सम्बन्धी विचार इसमें एक समान हैं। साथ ही अष्टाग सग्रह के मान्य विचार भी स्नान के सम्बन्ध में इसमे आते है (उदाहरण के लिए—"पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात् परवारिषु।'—१।१५९, यह पक्ति इसी रूप मे सग्रह में आती है, सू० अ० ३।७१)।

चरक में अस्थिगणना तीन सौ साठ बतायी गयी है, सुश्रुत मे इस अस्थिगणना को वेदवादियो की बताया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी मनुष्य की अस्थिगणना तीन सौ साठ ही कही गयी है (षड्ङ्गानि तथा स्थानञ्च सहषष्ट्या शतत्रयम्।३।८४)। त्वचा भी चरक के समान छ मानी गयी है। शिराओ की सख्या सात सौ, स्नायु नौ सौ, धमनियां दो सौ, पेशियाँ पाँच सौ हैं। नाडियो को हृदय से निकलती कहा गया है, इनकी सख्या बहत्तर हजार (द्वासप्तति सहस्राणि) कही गयी है।

गर्भ निर्माण—प्रतिमास गर्भाशय मे गर्भ का निर्माण बताया गया है। तृतीय मास में आत्मा का आना कहा गया है (आत्मा गृह्णात्यज सर्वं तृतीये स्पन्दते तत। दोहृदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्॥ वैरूप्य मरण वाऽपि तस्मात् कार्यं प्रिय स्त्रिया॥ ३।७९)। आठवे मास मे ओज का माता से गर्भ में और गर्भ से माता में जाना कहा गया है। आठवे मास मे उत्पन्न गर्भ इसीलिए नही बचता (देखिए चरक-सहिता मे भी शा० अ० ४।२४)।

याज्ञवल्क्य स्मृति का यह प्रकरण चरक सहिता का अनुसरण करता है।

दैव और पुरुषकार—यह प्रश्न प्राय सर्वत्र विचारा गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इस पर विचार किया गया है। यथा—

'दैवे पुरुषकारे च कर्म्मसिद्धिर्व्यवस्थिता।
तत्र दैवमभिव्यक्त पौरुष पौर्वदेहिकम्॥
केचिद्दैवात् स्वभावाच्च कालात् पुरुषकारत'।
सयोगे केचिदिच्छन्ति फल कुशलबुद्धयः॥

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।
एव पुरुषकारेण विना दैव न सिद्धचति॥' (१।३४९-३५१)

कर्मसिद्धि दैव और पुरुपकार इन दोनो पर आश्रित है। कभी दैव से, कभी स्वभाव से, कभी काल से और कभी पुरुपकार से और कभी मयोग से काम होता है। जिम प्रकार एक पहियावाला रथ चल नही सकता, उमी प्रकार पुरुपकार के विना दैव भी सफल नही होता। इनमें अभिव्यक्त कर्म को 'दैव' और पौर्वदेहिक कर्म को 'पौरुष' कहा गया है जो सामान्यत ठीक नही। चरक में पूर्वजन्म कृत कर्म को दैव और इस जन्म में किये गये कर्म को पौरुप कहा गया है (शा० अ० २।४४), इससे स्पप्ट है कि यह पाठ प्रमाद का है।

ये ही विचार चरक महिता में आये हैं, यथा—पुरुपकार कर्म वलवान् हो तो वह दुर्वल दैव कर्म को दवा लेता है, और यदि पुरुपकार कर्म निर्वल हो तो उमे दैव कर्म दवा लेता है, इम विचार से कोई आयु को नियत मानते है (वि० अ० ३।३४)। आयु का परिमाण दैव और पुरुपकार कर्म पर स्थित है, आत्मकृत कर्म को दैव कहते हैं, जो कि पूर्व शरीर में किया होता है। इम जीवन में जो कर्म करते है, उमे पुरुपकार कहते है (वि० अ० ३। २९–३०)। पूर्वजन्म में जो कर्म किया जाता है, उसको दैव शव्द से कहते हैं, वह भी काल आने पर रोगो का कारण वन जाता है (शा० अ० १।११६)।

नारदीय मनुस्मृति—यह स्मृति वहुत पीछे की है, सम्भवत गुप्त काल के वाद की है। इमका प्रमाण मुख्यत नही माना गया है। परन्तु इमके कुछ श्लोक मभ्य समाज में वहुत सम्मानित है (न मा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा, वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्। नाऽसौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति, न तत्सत्य यच्छलेनानुविद्वम्॥' व्यवहार ८०)।

इसमें ही प्राड्विवेक के लिए शल्य चिकित्सक का उदाहरण दिया गया है, जिम प्रकार से शल्य चिकित्मक गूढ शल्य को यन्त्र-शस्त्र द्वारा ढूँढ कर निकाल लेता है, उसी प्रकार से प्राड्विवाक् को चाहिए कि तर्क में मे मच्ची वात को निकाल ले। जहाँ पर सव लोग कहें कि ठीक हुआ वही नि शल्य विवाद है, इमके विपरीत सशल्य विवाद है।

वौधायनस्मृति—यह स्मृति भी पीछे की है। इमकी भी प्रतिष्ठा मुख्य स्मृतियो में नही है। इममें शालीन यायावर आदि ऋपियो के लिए धर्म निरूपण है। चरक में दो प्रकार के ऋपि कहे गये हैं। एक शालीन और दूसरे यायावर। वौधायन में चक्रचर एक अन्य भेद भी वताया गया है, जो कि उपनिषद् के 'चरक' सज्ञावाले ऋपियो को वताता है। (वौधायन ३।३–४–५)

शाला बनाकर रहनेवाले ऋषि शालीन, श्रेष्ठवृत्ति से गमन करनेवाले या जीवन-यापन करनेवाले यायावर तथा जो नियमत चक्रमण करते रहते थे वे चक्रचर थे।

वृत्ति नौ प्रकार की है—पण्निवर्त्तनि (छ दिनो मे एक वार भोजन), कौद्दाली (कुदाल से खोदकर), ध्रुवा (?), सप्राक्लिनी (पानी मे धोकर खाना), समूहा (सब मिलाकर आहार), पालनी (?), शिला (खेत में से गिरी वाल चुनना—देहाती भाषा में सैला करना), ऊञ्छ (एक-एक दाना चुनना); कापोता (कबूतर की भाँति विखरे दाने एकत्र करना, चुनना), सिद्धेच्छा (जो मिल गया, स्वय कोई दे गया), वे नौ वृत्तियाँ है (शिला और उञ्छ को एक मानना चाहिए)। इन वृत्तियो के आधार पर रहते हुए जो ऋषि जीवन यापन करते थे, वे यायावर थे।

पाँचवाँ अध्याय

मौर्यकाल में आयुर्वेद साहित्य

(३६३-२११ ई० पूर्व)

इस काल से सम्बन्धित मुख्य साहित्य कौटिल्य का अर्थशास्त्र और अशोक के शिलालेख है। इन लेखों में उसने अपने राज्य शासन का वर्णन किया है।

सिकन्दर के आक्रमण के समय देश भिन्न-भिन्न राज्यो मे विभक्त था, जिस तरह कि बुद्ध के समय देश में सोलह जनपद थे। विशेषत भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में बहुत से पर्वतीय राजा थे। इनमें तक्षशिला, जो कि विद्या का एक बडा केन्द्र बौद्धकाल में था, स्वतन्त्र था, उसका राजा स्वतन्त्र था, जिसने सिकन्दर के दूत के आने पर उससे सन्धि कर ली थी। उसने और उसके पुत्र आम्भि ने बुखारा में ही सिकन्दर के पास दूत द्वारा भारतीय आक्रमण के समय सहायता का वचन दिया था और बदले में उसकी रक्षा का वचन माँगा था। तक्षशिला के राजा की पडोसी राजा पौरव (पोरस) से दुश्मनी थी, अत वह चाहता था कि आक्रान्ता की सहायता लेकर पडोसी राज्य को कुचल सकूँ। पौरव का राज्य झेलम और रावी के बीच में था, वह अपना राज्य फैलाने के लिए दोनो नदियो के पार के प्रदेश में हाथ फैला रहा था। पौरव ने तक्षशिला के राजा की भाँति आक्रान्ता का साथ न देकर उससे लोहा लेना सोचा, इसके लिए उसने पडोसी राज्यो को मिलाया। केवल रावी पार के कठो को वह अपने सगठन में नही ला सका।

इसी प्रकार अष्टक राज्य, अश्वक, आयुध जीवियो, कठ, क्षुद्रक, मालवक आदि बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे और वे सब स्वतन्त्र थे। इन सबके साथ लडते हुए सिकन्दर की सेना का मनोबल एव शारीरिक शक्ति थक गयी थी, इसलिए इसने व्यास से आगे बढना अस्वीकार कर दिया और वापस लौटी। लौटते समय यह शरद् और मूषिक प्रदेश में से गजरी। यहाँ पर ब्राह्मणो का राजा मुसिकानूस (मुचकर्ण) था। इसकी राजधानी अलोर (वर्तमान सक्खर) थी। ओने सिक्रितस का कहना है कि यहाँ के लोग अपनी आयु और स्वास्थ्य के लिए प्रसिद्ध हैं। ये लोग प्राय १३० वर्ष तक

जीते हैं। चिकित्सा को वे अन्य सारे विज्ञानो से ऊपर मानते और उसका विशेष अध्ययन करते हैं—(डा० त्रिपाठी—पृष्ठ १०७)।

जीते हुए प्रदेश को वह भिन्न-भिन्न रूप मे शासित कर गया। झेलम और व्यास के बीच का राज्य पौरव की प्रभुता मे रखा गया, झेलम के पश्चिम में आम्भि और कश्मीर में अभिसार के राजा को अधिपति बनाया गया और इसके राज्य में हजारा जिला भी सम्मिलित कर दिया था।

इससे स्पष्ट है कि देश मे स्वतन्त्रता की चाह थी। आयुधजीवी ब्राह्मण-राज्य मे ब्राह्मणो का आधिपत्य था, जो सिंहासन के नियन्ता और वहाँ की राजनीति के सूत्र का सचालन करते थे। उन्होने घोषणा की थी कि विदेशी आक्रान्ता का प्रतिरोध करना चाहिए, प्रतिरोध न करनेवाले राजाओ की निन्दा की और गणराज्यो को उभाड़ा। (हिन्दू सभ्यता)।

यहाँ पर इतना और समझना आवश्यक है कि इन राज्यो में से एक बड़ा मार्ग था, जो कि काबुल से चलकर सीधा मगध तक पहुँचता था। भारत के दूसरे छोर पर मगध के नन्दो का बडा भारी राज्य था, जिसकी सीमा गगा का कांठा था।

यह महापथ ईरान और सिन्ध के रेगिस्तान को बचाता हुआ सीधे उत्तर की ओर चित्राल और स्वात की घाटियो की ओर जाता है। इसी पथ में 'बलख' पडता है, जो कि हरा-भरा, फलोवाला देश है। यहीं पर भारतीय, ईरानी, शक और चीनी चारो महा जातियाँ मिलती थी। यहीं पर व्यापार में आदान-प्रादान होता था। बलख से चलकर महाजनपथ पूर्व की ओर चलते हुए बदख्शा, वखा, पामीर की घाटियो को पार करते हुए काशगर पहुँचता था। बलख के दक्षिणी दर्वाजे से महापथ भारत को जाता था। हिन्दुकुश और सिन्धु नदी को पार करके यह रास्ता तक्षशिला पहुँचता था और वहाँ पाटलिपुत्रवाले महाजनपथ से जा मिलता था। यह महाजन-पथ मथुरा में जाकर दो शाखाओ में बँट जाता था, एक शाखा पटना होती हुई ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह को चली जाती थी और दूसरी शाखा उज्जयिनी होती हुई पश्चिम समुद्र तट पर स्थित भरुकच्छ के बन्दरगाह पहुँचती थी [डा० मोतीचन्द्र।]

बलख से होकर तक्षशिला तक इस महा जनपथ को कौटिल्य ने हैमवत पथ कहा है। (चरक में "हिमवत पार्श्वे" पढ़ते हैं)। यह हैम पथ तीन खडो में बाँटा जा सकता है; एक बलख खण्ड, दूसरा, हिन्दुकुश खण्ड और तीसरा भारतीय खण्ड।

बलख का उल्लेख बहुत प्राचीन काल से भारतीय साहित्य में है। महाभारत से

पता चलता है कि यहाँ पर खच्चरों की बहुत अच्छी नस्ल होती थी। चीन के रेशमी कपडो, पश्मिनों, इत्र, गन्ध आदि का व्यापार किया जाता था।

हिन्दुकुश की पर्वतमाला में अनेक पगडंडियाँ है, इनमें नदियाँ बहुत हैं, इसलिए रास्ता नदियों के किनारे-किनारे चलता है। इसी रास्ते के बीच में कपिश या कपिशा एक प्रसिद्ध स्थान आता है। युवान च्वाङ के अनुसार कपिशा में सब देशो की वस्तुएँ मिलती थीं। इसी स्थान से भारत का मध्य एशिया से व्यापार चलता था। पाणिनि ने अपने व्याकरण में कपिशा का उल्लेख किया है (४।२।९९)। यहाँ की द्राक्षा प्रसिद्ध थी "कापिशायिनी द्राक्षा।" कापिशी से लम्पाक होकर जलालाबाद का प्राचीन रास्ता पजशीर की घाटी को छोडकर आगे बढता है। युवान च्वाङ ने जलालाबाद को भारत की सीमा कहा है। सिकन्दर ने इसी प्रदेश को जीता था। परन्तु बीस वर्ष बाद सैल्युकस प्रथम ने इसे चन्द्रगुप्त मौर्य को वापस कर दिया था। इसके पीछे बहुत दिनो तक यह प्रदेश विदेशी आक्रान्ताओं के हाथ में रहा और अन्त में काबुल के साथ मुगलो के अधीन हो गया। अंग्रेजी युग में भारत और अफगानिस्तान का सीमान्त प्रदेश बना।

गान्धार की पहाडी सीमा के रास्तो का कोई ऐतिहासिक वर्णन नही मिलता। गान्धार की राजधानी उस समय पुष्करावती थी। पेशावर की नीव तो सिकन्दर के चार सौ बरस बाद पडी। भारत का महापथ अटक पर सिन्ध पार करता है, इस नदी के दाहिने किनारे पर उद्भाड या उदक्भाड नाम का अच्छा घाट था। यहाँ सब पथ मिलते थे। यहाँ से महापथ सीधे पूरब जाकर होती मर्दान पहुँचता था, जहाँ शहबाज गढी में अशोक का शिलालेख है।

बलख से लेकर तक्षशिला तक रास्ते का ज्ञान बौद्ध-साहित्य में कम मिलता है। महाभारत में अर्जुन के दिग्विजय में इसका वर्णन विस्तार से है। उत्तर कुरु भी इसी रास्ते पर था, ('विजित्य य प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरूनकुप्य वसु वासवोपम'— भारवि। सुश्रुत में उत्तर कुरु का नाम है, चरक में नही है)। इसी तरफ पारद, वग, कितव, हारहूर (हैरात के रहनेवाले) रहते थे, जिनके नाम से इन देशो के नाम पडे अथवा इन देशो के नाम से इन जातियो के नाम पडे।

तक्षशिला से होकर महा जनपथ काशी और मिथिला तक चलता था। बनारस से तक्षशिला का रास्ता घने जगलो मे से जाता था, इसमें डाकुओं और पशुओं का बराबर भय बना रहता था। तक्षशिला उस समय भारतीय और विदेशी व्यापारियो का मिलन केन्द्र था। बनारस, श्रावस्ती, सौरेय्य के व्यापारी तक्षशिला में व्यापार करते थे।

तक्षशिला से लेकर मथुरा तक चलनेवाले रास्ते का विवरण बौद्ध साहित्य में, महाभारत में ठीक मिलता है। जीवक तक्षशिला से भद्रकर, उदुम्बर और रोहीतक होते हुए मथुरा पहुँचा था। भद्रकार की पहिचान स्यालकोट से की जाती है, उदुम्बर पठानकोट का इलाका था, रोहीतक आजकल का रोहतक है। वक्षुनदी और हिन्दुकुश के बीच के जनपद का नाम वाह्लीक था। यही का वैद्य काकायन था, जिसका उल्लेख चरक संहिता, भेल संहिता, नावनीतक में है। वाह्लीक का आजकल का नाम बल्ख है। इसके साथ ही मूजान या मृजवान का छोटा-सा राज्य लगता था, इस देश के निवासी मौजायन कहलाते थे (सुश्रुत में मौञ्जवान, जिस सोम का उल्लेख है, वह यही पर होता था। (सुश्रुत चि० अ० २९।२८–२९)।

कौटिल्य ने इस स्थिति को पहिचाना और तक्षशिला से मगध की यात्रा करके एक बड़े राज्य को जन्म देने का प्रयत्न किया। इसमें उसे चन्द्रगुप्त का साथ मिल गया। जिसके लिए उसने प्रथम पश्चिमीय सीमा के पर्वतीय राजा पर्वतेश्वर की सहायता से नन्दराज्य को समाप्त किया, क्योंकि प्रजा उससे सन्तुष्ट नही थी। इसके पीछे स्थिति सँभल जाने पर पर्वतेश्वर को भी नष्ट कर दिया। यह सब एक देशप्रेम का उज्ज्वल उदाहरण है। तक्षशिला का वैभव इस समय भी कम नही हुआ था। चाणक्य को यही का विद्यार्थी और पीछे यही का अध्यापक कहा जाता है। जीवक के गुरु आत्रेय को भी यही का अध्यापक बताया गया है। काकायन वाह्लीक भिषक् भी यही से अवश्य सम्बन्धित रहा होगा। इसी तक्षशिला में चन्द्रगुप्त विद्याध्ययन के लिए आया था। चाणक्य ने उसे यही से पहचाना और परखा, उसे साथ में लिया और एक नये राष्ट्र को जन्म दिया। उस समय पाटलिपुत्र तक रास्ते का वर्णन तथा चाणक्य के श्रम का उल्लेख जातकों में बहुत कुछ मिलता है।

चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित मौर्यवंश में आयुर्वेद से सम्बन्धित घटना 'विषकन्या' तथा 'विषयुक्त भोजन' की है। विषकन्या के द्वारा चाणक्य ने पर्वतेश्वर को मारा था और विष भोजन से नन्दों का नाश किया था। मुद्राराक्षस में एक प्रसिद्ध वैद्य के मारने का भी उल्लेख है, जो कि राक्षस के कहने से चन्द्रगुप्त को मारने के लिए आया था।

चाणक्य ने जब एकछत्र साम्राज्य बनाया तब उसने तक्षशिलावाला इलाका लेने के लिए आक्रमण किया। उस समय सिकन्दर के उत्तराधिकारी सिल्युकस के साथ युद्ध हुआ, जिसमें सिल्युकस हार गया। तब जो शर्तें हुईं उसके अनुसार सिल्युकस ने चन्द्रगुप्त को हेरात, कन्दाहार, काबुल की घाटी, और बिलोचिस्तान दिया

था। इसी में कन्दाहार की राजधानी तक्षशिला थी। इस प्रकार मौर्य राज्य की सीमा पश्चिम में सुरक्षित हो गयी थी।

पूर्व में ताम्रलिप्ति बन्दरगाह कलिंग के राज्य का था, इसको जीतने का प्रयत्न नन्द ने तथा चन्द्रगुप्त के पुत्र बिम्बिसार ने किया था। परन्तु इन दोनो को इसमें सफलता नहीं मिली, अन्त में सम्राट् अशोक ने कलिंग विजय किया।

इस समय उत्तरीय भारत में मगध और कलिंग ये दो बडे राज्य थे। इसीसे इन्ही के नाम पर दो मान-परिभाषाएँ आयुर्वेद में चलती हैं (कलिंग से मागध-मान श्रेष्ठ है, यह वचन सर्वथा पक्षपातपूर्ण है, दोनो मानो की प्रतिष्ठा थी)। इस प्रकार से मौर्य-राज्य का विस्तार पूर्व, दक्षिण में हो गया। जिससे एक बडा साम्राज्य स्थापित हो गया। इसी राज्य का चिह्न अशोक का सिंहवाला स्तम्भ था, जो हमारे गणराज्य का प्रतीक बना हुआ है।

इस बडे साम्राज्य को चलानेवाला, उसकी नींव रखनेवाला कौटिल्य-चाणक्य था, जिसने शासनसूत्रों को अपनी अर्थशास्त्र-पुस्तक में अंकित किया है। इसी पुस्तक के आधार पर मौर्यवंश का शासन था। चन्द्रगुप्त के राज्यकाल का वर्णन मैगस्थनीज ने अपनी पुस्तक 'इन्डिका' में किया है। वह आज नही मिलती, परन्तु उसके उद्धरण दूसरे स्थानो में मिलते हैं। उनके आधार पर चिकित्सा के विषय में मैगस्थनीज की सूचना निम्न है—

"भारतीय चिकित्सकों की प्रशंसा करते हुए मैगस्थनीज ने कहा है कि 'वे अपने शास्त्र के बल पर अनेक सन्तान उत्पन्न करा सकते हैं, तथा दवाइयों द्वारा इच्छानुसार नर अथवा मादा बच्चे भी पैदा कर सकते हैं' (तुलना कीजिए सग्रह शा १।६०-६१, ६५)। उनके बनाये मलहम और लेप (प्लास्टर) सुप्रसिद्ध हैं। दवाइयों के बजाय वे भोजन को ठीक से सचालित करके रोगों को दूर किया करते हैं।

अर्थशास्त्र में पशुओं के वैद्य को 'अनिकस्थ' और मनुष्यो का उपचार करनेवाले को 'चिकित्सक' कहा गया है। राज्य की तरफ से ब्राह्मणों की तरह चिकित्सकों को भी गाँवों में करमुक्त भूमि दी जाती थी, जो इस बात का प्रमाण है कि मौर्य सरकार चिकित्सकों को बहुत बढावा देती थी, जिससे वे अपने शास्त्र में कुशलता प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहें।'—[सम्राट्चन्द्र गुप्त मौर्य—पायरी, पृष्ठ २०६]।

कौटिल्य अर्थशास्त्र

इस अर्थशास्त्र के कर्त्ता चाणक्य हैं, इनके दूसरे नाम विष्णुगुप्त, मल्लनाग, कौटिल्य, द्रमिल, पक्षिल स्वामी, वात्स्यायन और अगल हैं (अभिधानचिन्तामणि)

चणक का पुत्र होने से चाणक्य, कुटिल गोत्र होने से कौटिल्य कहा जाता है। इस अर्थशास्त्र की समाप्ति पर स्वयं चाणक्य ने कहा है—'स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रञ्च भाष्यञ्च'—स्वयं विष्णुगुप्त ने इस शास्त्र का सूत्र और भाष्य लिखा है।[1]

कामन्दक ने अपने नीतिशास्त्र का प्रयोजन कौटिल्य अर्थशास्त्र का सक्षिप्तीकरण बताया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में विष्णुगुप्त को नमस्कार किया है। दण्डी ने दशकुमार चरित में, बाण ने कादम्बरी में कौटिल्य की नीति का उल्लेख किया है। मल्लिनाथ की टीका में भी अर्थशास्त्र का उल्लेख है।

मेगस्थनीज़ राजदूत ने चन्द्रगुप्त के शासनकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, इसमें चाणक्य का कहीं उल्लेख नहीं। चाणक्य और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध का पता विष्णुपुराण, वायुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों से चलता है। मुद्राराक्षस का सारा कथानक चाणक्य और चन्द्रगुप्त को नायक मानकर लिखा गया है। इसमें इतना स्मरण रखना चाहिए कि चाणक्य को स्वतः राजकार्य से कोई मतलब नहीं था, उसकी अन्तिम प्रतिज्ञा नन्दवंश का नाश और चन्द्रगुप्त को राज्य देना, प्रजा को योग्य शासक सौंपना था। राज्य को स्थिर करने के लिए योग्य मंत्री राक्षस को सौंपकर वह चन्द्रगुप्त से पृथक् होकर अपने स्वाभाविक कर्म अध्ययन-अध्यापन में लग गया। अर्थशास्त्र के अन्त की पुष्पिका में स्वयं कहा है—

"येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः ।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ॥"

जिसने शास्त्र, शस्त्र और नन्दराजा के अधीन हुई भूमि का क्रोध के कारण बहुत जल्दी उद्धार कर दिया, उसी विष्णुगुप्त कौटिल्य ने इस शास्त्र को बनाया है।

जब राजदूत मेगस्थनीज़ आया होगा तब मौर्य चन्द्रगुप्त पुराना हो गया होगा। राजुका, पाषण्डेलु, समाज महामाता आदि पारिभाषिक शब्द अर्थशास्त्र की भाँति अशोक के शासन लेखों में भी है।

अर्थशास्त्र की रचना चरकसंहिता के समान गद्य-पद्यमय है। आपस्तम्ब सूत्र, बौधायन धर्मसूत्र भी इसी प्रकार लिखे गये हैं। इसका निश्चित क्रम है, एक विषय एक स्थान पर है (चरकसंहिता में यह बात नहीं मिलती, सुश्रुत में है)। कुछ पद

---

१ चाणक्य नाम अर्थशास्त्र में नहीं है; परन्तु पंचतन्त्र में है—'अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि, वात्स्यायनका कामसूत्र अर्थशास्त्र की शैली पर है।

पाणिनि के अनुसार नहीं है, यथा— 'औपनिपत्क' के स्थान पर औपनिपदिक (काम सूत्र में भी 'औपनिपदिकमाचरेत्' यही पाठ है'), रोचन्ते के स्थान पर रोचयन्ते, चातुराश्रिका के स्थान पर चतुरश्रिका पाठ है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र की बहुत अधिक समानता कामसूत्र से होने के कारण इसको चौथी सदी का भी माना जाता है।

अर्थशास्त्र की आयुर्वेद ग्रन्थों से समानता—(१) अर्थशास्त्र की भाषा और शैली चरक से मिलती है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार से चरकसंहिता में भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत दिखाकर अन्त में आत्रेय ने अपना मत स्थापित किया है, उसी प्रकार इसमें भी है। (देखिए सूत्र स्थान अ २६।८, अ २५,) परन्तु अष्टाग सग्रह मे सबके मत दे दिये हैं, अपना मत स्पष्ट नहीं किया। यथा, विषप्रतिषेध ४०वें अध्याय में, नग्नजित, विदेहपति, आलम्बायन, धन्वन्तरि का मत दिखाकर कह दिया "मुनिना येन तूक्त तत्सर्वमिह दर्शितम्।"

(२) तंत्रयुक्ति—चरक संहिता में ३६ तंत्रयुक्तियाँ बतायी गयी है (सि १२।४१)। इन तंत्रयुक्तियो से शास्त्र स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार से सूर्य के कारण कमलवन और प्रदीप से घर प्रकाशमान हो जाता है, उसी प्रकार तंत्रयुक्तियो से शास्त्र का प्रबोधन और प्रकाशन होता है (सि अ १२।४७)। इसलिए सुश्रुत संहिता और अष्टाग सग्रह में भी तंत्रयुक्तियाँ ग्रन्थ समाप्ति में दी गयी है। संग्रह में उत्तर स्थान की समाप्ति पर है। सुश्रुत में तंत्रयुक्तियाँ ३२ बतायी गयी है। (द्वात्रिंशत् तन्त्रयुक्तयो भवन्ति शास्त्रे—उत्तर अ ६५।३,), संग्रह में तंत्रयुक्तियाँ चरक के समान दी गयी है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में ३२ बत्तीस तंत्रयुक्तियाँ बतायी गयी है। सुश्रुत संहिता और कौटिल्य की तंत्रयुक्तियां समान है। संग्रह और चरक की समान है (भट्टारहरिचन्द्रने चार अधिक मानी हैं,—परिप्रश्न, व्याकरण, व्युत्क्रान्त-अभिधान और हेतु।)

आयुर्वेद विषय—राजपुत्रो से राजा की रक्षा-प्रकरण में कौटिल्य ने अत्रिपुत्र के जातीसूत्रीय अध्याय (चरक शा अ ८) का स्पष्ट उल्लेख उद्देश्य रूप में किया है। चरक के इस अध्याय लिखने का यही अर्थ है कि उत्तम सतान उत्पन्न हो। इसलिए कहा है—

जिन स्त्री-पुरुषो के शुक्र-शोणित और गर्भाशय निर्दोष हो और जो अच्छी सतति चाहते हो, उनके लिए अच्छी सतान प्राप्त करने का उपाय कहते है (अ ८।३ ') अब चाणक्य का वचन देखिए—

९

"तस्माद् ऋतुमत्या महिष्या ऋत्विजश्चरुमैन्द्रवार्हस्पत्य निर्वपेयु । आपन्नसत्त्वाया कौमारभृत्यो गर्भमर्मणि प्रजनने च वियतेत् ।" (विनया १७।२५-२६)

अत्रिपुत्र ने ऋत्विज द्वारा यज्ञ विधान विस्तार से दिया है। उसमें सम्पूर्ण प्रक्रिया स्पष्ट लिखी है (शा अ ८ १०-१४)। गर्भ रहने पर गर्भ की रक्षा में निपुण वैद्य तथा प्रजनन में निपुण वैद्य इसकी देख-रेख करे।

उद्देश्य दोनो का 'श्रेयसी प्रजा' का है। चाणक्य का अपना मत सबसे पीछे है। इसमे पूर्व प्रत्येक आचार्य का मत चाणक्य ने दिया है। चाणक्य ने मूल वस्तु को ही पकडा है, इसी से उसकी जानकारी सही है। अत्रिपुत्र ने भी कहा है कि प्रजापति को उद्देश्य मानकर उस स्त्री की कामना पूर्ण करने के लिए यज्ञ करे ('तस्या कामपरिपूर्णार्थं काम्यामिष्टि निर्वर्त्तयेद्' 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु इत्यनयर्चा'—शा अ ८।११)।

भोजन में विष-परीक्षा—राजाओं के शत्रु, मित्रो की अपेक्षा अधिक होते हैं। ये लोग समीपवर्त्ती नौकर आदि के द्वारा राजा के खान-पान में विष दे देते है, स्त्रियाँ सौभाग्य के लोभ में (वशीकरण के लिए) तथा अन्यो के कहने से राजा को विष दे देती हैं। यह विष अन्न-पान के सिवाय वस्त्र, माला, आभूषण, शय्या, स्नानजल, अवलेप आदि के रूप में भी दिया जा सकता है। इसलिए इन वस्तुओं की परीक्षा करनी चाहिए।

परीक्षा करने के लिए राजा को अपने पास कुलीन, स्नेही, विद्वान्, आस्तिक, उत्तम आचारवाले, चतुर, मित्रभूत, निश्चल, पवित्र, नम्र, आलस्यरहित, व्यसनो से दूर, निरभिमानी, अक्रोधी, असाहसिक, वाक्य के अर्थ को जानने में कुशल, आयुर्वेद के आठो अगो में निपुण, शास्त्रानुसार जिसने आयुर्वेद मे योग और क्षेम प्राप्त किये हो, जिसके पास नाना प्रकार की विषनाशक औषधियाँ (अगद) हो, सब प्रकार के सात्म्य को समझनेवाले वैद्य को रखना चाहिए (सग्रह सू अ ८।४)। कौटिल्य ने विषचिकित्सा में निपुण वैद्य के लिए 'जाङ्गली वैद्य' नाम दिया है।[1]

इसलिए विषविद्या को जाननेवाले तथा अन्य चिकित्सक पुरुष भी राजा के समीप रहें। चिकित्सक को उचित है कि वह औषधालय से स्वय खाकर परीक्षा की हुई औषधि को लेकर राजा के सामने ही उस औषधि में से कुछ थोडी-सी, उसके पकाने-

---

१ युद्ध के समय चिकित्सको को रखने का उल्लेख अर्थशास्त्र में है—"चिकित्सकाः शस्त्रयत्रागदस्नेहवस्त्रहस्ता. स्त्रियाश्चान्नपानरक्षिण्यः पुरुषाणामुद्धर्षणीयाः पृष्ठतस्तिष्ठेयु ॥" (साग्रामिक. १०।३।६२)

वाले तथा पीसनेवाले पुरुष को खिलाकर एव स्वय चखकर राजा को दे। इसी तरह से मद्य और पानी को भी समझना चाहिए। (अर्थशास्त्र विनया २१।२६)

चाणक्य ने इसी प्रकार राक्षस के भेजे वैद्य के द्वारा बनाये गये विषयुक्त अन्न-पान की परीक्षा करके चन्द्रगुप्त की जान बचायी थी।

चाणक्य ने राजा के स्नान कराने में, अगो के दवाने में, विस्तर आदि विछाने में, वस्त्रो के धोने, माला आदि कार्यो में दासियो को ही नियुक्त करने के लिए कहा है (अ २१।२८)।

भोजन करने से पूर्व राजा को अग्नि में तथा पक्षियो को बना हुआ अन्न देकर वलि-वैश्वदेव विधि करनी चाहिए (इससे अन्न की परीक्षा भी हो जाती है)। विप मिश्रित अन्न को अग्नि में डालने से अग्नि की लपटें और घुवाँ दोनो नीले रग के निकलते है, इनमें चट-चट शब्द होता है। विप मिश्रित अन्न खाने पर पक्षियो में विपत्ति और मृत्यु होती है। विषयुक्त अन्न की भाप मोर की गर्दन के समान रगवाली होती है, तथा विषवाला अन्न बहुत जल्दी ठण्डा हो जाता है, हाथ में छूने से या जरा तोडने से उसका रग बदल जाता है, उसमें गाँठ-सी पड जाती है और वह अच्छी तरह पकता भी नहीं। दाल आदि व्यजन विपयुक्त होने पर बहुत जल्दी सूख-से जाते हैं। यदि इनको फिर आग पर रखकर गरम किया जाय तो फट जाते हैं, झागो का रग कुछ काला-सा रहता है। इनकी स्वाभाविक गन्ध और स्पर्श नष्ट हो जाता है। द्रव, तरल वस्तुओ में विप मिला होने पर उसमें अपनी आकृति विकृत दीखती है। झागो का समूह अलग और पानी अलग रहता है, इसके ऊपर रेखा-सी दीखती है।

घी, तैल, ईख के रस आदि में विष मिला होने पर नीली रेखाएँ दिखाई देती है। दूध में ताम्र वर्ण की, शराव और पानी में काले रग की, दही में श्याम, शहद में सफेद रग की रेखाएँ दीखती है। गीले द्रव्यो में विप मिला होने पर वे बहुत जल्दी मुर्झा जाते हैं, दुर्गन्ध आने लगती है, काले, नीले या श्यामवर्ण हो जाते हैं। सूखे द्रव्यो में विप मिला होने पर वे बहुत जल्दी चूर हो जाते हैं, इनका रग भी बदल जाता है। विप मिला होने पर कठिन द्रव्य मृदु और मुलायम द्रव्य कठिन हो जाता है। विपयुक्त वस्तु के समीप रेंगनेवाले छोटे-छोटे कीडे आदि की मृत्यु हो जाती है।

विछाने और ओढने के कपडो पर विप का योग करने पर कपडो पर उस-उस स्थान पर काले या भिन्न वर्ण के धब्बे पड जाते हैं। उस स्थान पर सूती कपडो के तन्तुओ का और ऊनी कपडो के बालो का रोवाँ उड जाता है। सोना-चाँदी आदि

धातुओ की तथा स्फटिक आदि मणियो की बनी वस्तुएँ विषयुक्त होने पर मैली कीचड़-जैसी हो जाती हैं। इनकी स्निग्धता, कांति, भारीपन, प्रभाव स्पर्श आदि गुणो का नाश हो जाता है। (अर्थशास्त्र २१।९-२२)।

उपर्युक्त विवरण की तुलना के लिए संग्रह सू अध्याय ८ में १० से १७ तक की कण्डिका तथा सुश्रुत-कल्पस्थान २८ से ३३ अध्याय १ में देखा जा सकता है। इनमें विस्तार से अन्नपरीक्षा दी गयी है। घरो में पशु-पक्षी पालने का उद्देश्य जहाँ मकान की शोभा है, वहाँ पर अन्न की परीक्षा का भी अभिप्राय है (वेश्मनो विभूषार्थं रक्षार्थं चात्मन सदा। सन्निकृष्टास्तत कुर्याद्राजस्तान् मृगपक्षिण ॥ १।३३)।

विष देनेवाले व्यक्ति की पहचान—विष देनेवाले पुरुष का मुख कुछ सूखा-सा तथा विवर्ण हो जाता है, बातचीत करते समय वाणी लड़खड़ाती है, पसीना आ जाता है, घबराहट के कारण शरीर में जम्भाई और कँपकँपी आती है; साफ रास्ता होने पर भी बेचैनी के कारण वह बार-बार गिर पड़ता है। यदि कोई दो व्यक्ति अपनी बातें कर रहे हो तो वह ध्यान से सुनने लगता है—कही मेरे सम्बन्ध में तो बाते नही कर रहे हैं, कोई बात पूछने पर झट क्रोध आ जाता है, अपने कार्यों में और अपने स्थान पर उसका चित्त स्थिर नही रहता, इधर-उधर हड़बड़ाया हुआ-सा रहता है (तुलना कीजिए सुश्रुत . क अ १।१८-२२; संग्रह. सू अ ८।१८ से)।

राजा को विष से बचाने के लिए राजा के वैयक्तिक कार्यों में—स्नान, अनुलेपन, माला, वस्त्र परिधान आदि में मुख्यत दासियो को नियुक्त करने की सम्मति कौटिल्य ने दी है। दासियाँ स्वय अथवा अपनी आँखो के सामने वस्त्र और माला राजा को दें, जिससे इनमें विष का सन्देह न हो। स्नान के समय उपयोग की वस्तुएँ—उबटन, चन्दन, पटवास तथा सिर पर लगाने के सुगन्धित वस्तुओ को दासियाँ अपनी छाती और बाहुओ पर लगाकर पहले देख ले फिर राजा के उपयोग में दें। यही बात अन्य वस्तुओ के विषय में भी समझें (तुलना कीजिए—सु क अ १।२५-२७; संग्रह सू. अ ८।१४।१७)।

कौटिल्य मे रत्नो और धातुओ की परीक्षा विस्तार से दी गयी है, किस भूमि में कौन-सी धातु मिलेगी या मिलने की सम्भावना है, इसका भी इसमे उल्लेख है। सामान्यत जिन धातुओ में अधिक भार होता है, वे अधिक सारवान होती है। सुवर्णाध्यक्ष के कार्यों के उल्लेख में 'विशिखा' शब्द आया है। यह शब्द बहुत महत्त्व का है। वर्तमान सराफे का नाम विशिखा है। ऐसा श्री उदयवीर शास्त्री जी का मत है। यह शब्द चरकसहिता में (सू अ २९।९ में) तथा सुश्रुत में (सू अ १०

तारा देवी

अवलोकितेश्वर

में) आता है, वहाँ इसका अर्थ गली (रथ्या) किया गया है[1]। शुद्ध सोने की पहचान में स्वर्ण कमल के पराग के समान रंगवाला, मृदु, स्निग्ध और शब्द रहित श्रेष्ठ बताया गया है।

इस अर्थशास्त्र का कुप्य शब्द चन्दन आदि की बढ़िया लकड़ी बाँस तथा छाल आदि के लिए आता है (अनुवादक श्री उदयवीर जी शास्त्री)। कुप्याध्यक्ष को चाहिए कि भिन्न-भिन्न स्थानों के वृक्षों तथा जंगलों की रक्षा करनेवालों से बढ़िया लकड़ी मँगवाये। इन लकड़ियों में सागून, तिनिश, धन्वन, अर्जुन, मधूक, तिलक, साल, शिंशप, अरिमेद, राजादन, शिरीष, खदिर, सरल, ताल, सर्ज, अश्वकर्ण, सोमवल्कल, कश (बब्बूल—इसी से कसना शब्द बना है), आम, प्रियक, धव आदि हैं। ये सब आयुर्वेद में चिकित्सा कार्य में वर्णित है।

इसी प्रकार कालकूट, वत्सनाभ, हालाहल, मेषशृंगी, मुस्ता, कुष्ठ, महाविष, वेल्लितक, गौरार्द्र आदि विषों का उल्लेख है। इसके आगे तोल का उल्लेख है। तोल के लिए जो बटखरे बनाये जायँ वे मगध या मेकल देश में उत्पन्न होनेवाले पत्थर के बनाने चाहिए (इसी से आज भी गया की पत्थर की खरलें, तामड़ा पत्थर या उड़दिया पत्थर की अच्छी मानी जाती हैं)।

नागरिक का कर्त्तव्य बताते हुए (नगर की रक्षा करनेवाला नागरिक) कौटिल्य ने कहा है कि 'जो पुरुष हथियार आदि से लगे हुए घावों की चिकित्सा छिपाकर करता है या रोग अथवा जनपदोध्वंसक रोगों को फैलानेवाले द्रव्यों का छिपकर उपयोग करता है, इनकी चिकित्सा करनेवाला चिकित्सक यदि गोप या स्थानिक को इनके सम्बन्ध में सूचना दे देता है, तो वह अपराधी नहीं समझा जा सकता। परन्तु यदि चिकित्सक सूचना न दे उसे भी अपराधी की भाँति समझना चाहिए। इसी प्रकार जिस घर में ये कार्य होते हों, उसके मालिक को भी चिकित्सक की भाँति सूचना देनी चाहिए और यदि वह न दे तो उसे भी दोषी समझे (प्रकरण ५६।११)।

---

१. विशिखा शब्द का अर्थ कौटिल्य अर्थशास्त्र के टीकाकार श्री शास्त्री उदयवीर जी ने 'स्वर्ण का व्यापार करनेवाले व्यापारियों का बाजार' किया है। जो ठीक भी है। श्री डाक्टर वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने बताया है कि बाण ने कादम्बरी के उज्जयिनी-वर्णन में और कालिदास ने मेघदूत में उज्जयिनी के वर्णन में सर्राफे का ही चित्र खींचा है। सब बाजारों में सर्राफा का महत्त्व सबसे अधिक है। इस बाजार से ही देश की समृद्धि का पता लग जाता है।

कुष्ठ और उन्माद के रोगियो के विषय मे चिकित्सक तथा उनके समीप में रहनेवाले व्यक्ति प्रमाण होते हैं। नपुसक के विषय मे स्त्रियाँ, मूत्र में झाग न उठना, पानी में विष्ठा का डूब जाना प्रमाण है (प्रक ७२।१२)।

महामारी को फैलने मे रोकने के उपाय—वर्षा के वन्द हो जाने पर इन्द्र, गगा, पहाड, और समुद्र की पूजा करवाये। औपनिषदिक उपायों (आगे १४वें अध्याय में कथित) से कृत्रिम व्याधियों का (जो कि इन औपनिषदिक तथा अन्य रूप से पैदा की जाती है) प्रतीकार करे। स्वाभाविक-प्राकृतिक व्याधिभय का वैद्य चिकित्सा के द्वारा तथा सिद्ध, तपस्वीजन शान्ति कर्म और प्रायश्चित्त आदि से दूर करें। मरक (सक्रामक) व्याधियो को दूर करने के लिए भी यही उपाय काम में लाना चाहिए (प्रकरण ७८।२०)।

पशुओ में महामारी फैलने पर स्थान-स्थान पर शान्ति कर्म तथा पशुओ के अपने-अपने देवता की हाथी के लिए सुब्रह्मण्यम्, घोडे के लिए अश्विनी, गाय के लिए पशुपति, भैंस के लिए वरुण, बकरी के लिए अग्नि, आदि की पूजा कराये।[1]

सर्प का भय होने पर मत्र और औषधियो के द्वारा विषवैद्य उनका प्रतीकार करे, अथवा नगरनिवासी मिलकर उसे मार डालें, अथवा अथर्ववेद को जाननेवाले पुरुष अभिचार-क्रिया से साँप को मार दें। पर्वपर नागपूजा कराये (प्रकरण ७८।५०)।

आशु मृतक परीक्षा—अर्थशास्त्र का यह प्रकरण अद्यतन जूरिस प्रूडैन्स से सम्बन्धित है। इसमें मृत शरीर की परीक्षा, तथा मृत्यु के कारण, शव को सुरक्षित रखने के उपाय बताये गये हैं। यथा—

आशु मृतक व्यक्ति (जो सहसा मृत हुआ हो) के शरीर को तैल में डालकर (रखकर) परीक्षा करे (तैल में रहने से वह सडता नही)। जिसका मूत्र निकल गया हो, मल निकल गया हो, पेट खाली हो, हाथ पैरो पर सूजन आयी हो, आँखें फटी हो (बाहर निकली हो), गले में निशान हो तो समझना चाहिए कि गला घोटकर मारा गया हो।

यदि इसकी बाहें और टाँगें सिकुडी हुई हो तो समझना चाहिए कि इसे लेटा कर फाँसी दी गयी है। यदि हाथ-पैर और पेट फूला हो, आँखें अन्दर में धँसी हो। नाभि ऊपर को उठी हो तो समझना चाहिए कि इसे शूली पर चढाकर मारा गया है।

---

१ तुलना कीजिए, सुश्रुत सू. अ ६।१९-२०।

जिसकी गुदा और आँख बाहर निकल गयी हो, जीभ कट-सी गयी हो, पेट फूला हो, उसे पानी मे डुबोकर मारा समझना चाहिए।

जो खून से भीगा हो, शरीर के अवयव टूट-फूट गये हो उसे लाठियो और रस्सियो से मारा समझना चाहिए। जिसका शरीर जगह-जगह से फट गया हो उसे मकान से गिरकर मरा समझना चाहिए। जिसके हाथ, पैर, दाँत, नाखून, कुछ काले पड गये हो, मास, रोएँ और खाल छिन्न हो गये हो, मुख से झाग आती हो, उसे जहर देकर मारा समझना चाहिए।

यदि लक्षण ऊपर के समान ही हो, परन्तु किसी कटे हुए स्थान से रक्त निकल रहा हो तो समझना चाहिए कि इसे साँप ने या किसी विषैले कीडे ने काटा है। जिसने अपने वस्त्र इधर-उधर बिखेर-से रखे हो तथा जिसे कै और दस्त बहुत आये हो उसके विषय में धतूरा आदि उन्मादक वस्तुओ का सन्देह करना चाहिए।

विष से मरे व्यक्ति के विषय में बचे हुए खान-पान की परीक्षा करनी चाहिए (यह परीक्षा पक्षियो से—'वयोभि' पाठ भी है—करानी चाहिए)। पेट में अन्न का सर्वथा परिपाक होने पर हृदय का (मेरे विचार से आमाशय के ऊर्ध्व भाग का, जिसके लिए आजकल कार्डिक औरीफिक शब्द बरता जाता है, क्योकि यह हृदय के पास रहता है) कुछ हिस्सा काटकर उसे अग्नि में डाले, इसमें से यदि चिट-चिट शब्द आये एव वर्षाकालिक इन्द्रधनुष के समान नीला लाल रग दिखाई दे तो इसको विषयुक्त समझे। जलाये हुए पुरुष के अधजले हृदय प्रदेश को देखकर या मृत व्यक्ति के नौकरो को वाक्पारुष्य तथा दण्डपारुष्य से पीडित करके विष देनेवाले का पता लगाना चाहिए।

इस सारे प्रकरण में (८३वाँ प्रकरण) मृत्यु के कारणो को पता लगाने तथा मारने-वाले व्यक्ति के लक्षण, उसके स्वभाव का चित्रण स्पष्ट रूप से मिलता है।

औपनिषदिक अधिकरण—श्री उदयवीर जी शास्त्री के अनुसार औषधि और मत्रो के रहस्य को उपनिषद् कहते है (क्योकि ये दोनो बातें गुरु के समीप में रहकर ही सीखी जाती है—लेखक), इनके लिए यह प्रकरण है। इसमें परघात प्रयोग, प्रलम्भन में (औषधि और मत्रो के द्वारा भूख, प्यास नष्ट करने या आकृति बदलने से शत्रु को ठगना, प्रलम्भन है) अद्भुतोत्पादन एव प्रलम्भन में भैषज्य मन्त्र प्रयोग दो प्रकरण पृथक्-पृथक् है। इनके बाद इन उपायो का प्रतिकार बताया गया है।

इन प्रयोगो में भिन्न-भिन्न औषधियो का, पशु-पक्षियो का सहयोग लिया गया है। चरकसहिता तथा अन्य ग्रन्थो में विरुद्ध अन्न-पान विषय में इस प्रकार की जानकारी दी गयी है (चरक चि अ २६, सग्रह सू अ ८ में)।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में यह विषय राजनीति की दृष्टि से आया है। निशान्त प्रणिधि तथा आत्मरक्षा प्रकरण आयुर्वेद से बहुत अधिक मिलते हैं। इनमें राजा की रक्षा विषप्रयोग से विशेष रूप में बतायी गयी है। इन्ही विष प्रयोगो का एक रूप विषकन्या भी है, जिसका उपयोग चाणक्य ने पर्वतेश्वर के मारने में किया था।

विषकन्या—का अर्थ विषमयी कन्या से है। इस कन्या के निर्माण में विशेष उपाय किये जाते थे। कन्या को जन्म से ही कोई विष बहुत ही थोडी मात्रा में—जिससे इसको हानि न हो, देना प्रारम्भ करते हैं। यह विष धीरे-धीरे कन्या के लिए सात्म्य बन जाता है। धीरे-धीरे इसकी मात्रा बढाते जाते हैं। अन्त मे इसकी मात्रा यहाँ तक पहुँचा देते हैं, जो कि सामान्यत दूसरो के लिए घातक हो जाती है। जिस प्रकार कि विषैला कीडा अपने विष से नही मरता उसी प्रकार यह कन्या भी इस विष से नही मरती, न इसको कोई हानि होती है। कीडे का विष दूसरे के लिए घातक होता है, उसी प्रकार यह कन्या भी दूसरो के लिए विषमय होती है (आजकल हॉर्स सीरम बनाने की भी यही विधि है, इसी विधि से सर्प विष की चिकित्सा के लिए 'एन्टीवीनम' बनता है)। यह विष कन्या के सब अग-प्रत्यगो मे व्याप्त हो जाता है, जिससे जूँ, खटमल आदि जन्तु मर जाते हैं। पुष्पो की माला त्वचा के सम्पर्क से जल्दी मुर्झा जाती है। यह सामान्य परीक्षा है।[१] [यदल्पमल्प क्रमतो निषेवित विष च जीर्णं समुपैति नित्यश । ततस्तु सर्वं न निबाध्यते नर दिनैर्भवेत्सप्तभिरेव सात्म्यकम्—कल्याण कारक]

इसलिए चाणक्य ने राजा के लिए सूचना दी है—

अन्तर्गृहगत. स्थविरस्त्रीपरिशुद्धा देवीं पश्येत्। न कांचिदभिगच्छेत्॥ २७।२२।

---

१. आजन्मविषसयोगात् कन्या विषमयीकृता।
स्पर्शोच्छ्वासादिभिर्हन्ति तस्यास्त्वेतत् परीक्षणम्॥
तन्मस्तकस्य संस्पर्शात् म्लायते पुष्पपल्लवी।
शय्याया मत्कुणैर्वस्त्रे यूकाभिः स्नानवारिणा॥
जन्तुभिर्म्रियते ज्ञात्वा तामेव दूरतस्त्यजेत्॥
न च कन्यामविदिता सस्पृशेदपरीक्षिताम्।
विविधान्कुरुते योगान्कुशलाः खलु मानवाः॥ (संग्रह. सू. अ. ८।)

२. विषकन्योपयोगाद्वा क्षणाद् जह्यादसून्नरः॥ (सुश्रुत. क. अ. १.)

अन्त पुर में जाकर राजा अपने निवास के ही मकान में विश्वस्त वृद्ध परिचारिका से परीक्षा की हुई देवी राजमहिषी को देखे। किसी रानी को लक्ष्य करके स्वय ही उसके स्थान पर न जाय।

अशोक द्वारा किये गये आयुर्वेद कार्य—मौर्यवश में दो ही प्रतापी राजा विशेषत मुख्य हैं—एक चन्द्रगुप्त और दूसरा अशोक। चन्द्रगुप्त के राज्य की जानकारी कौटिल्य अर्थशास्त्र के आधार पर मिलती है। अशोक के राज्य शासन की जानकारी उसके शिलालेखो से होती है। इन शिलालेखो में लोगो के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में जो उसने अपनी आज्ञाओ में सूचनाएँ उत्कीर्ण करायी हैं, वे आज भी हमारे गौरव की बात है।

अशोक के मानव-कल्याण के कार्यो में—

१ पशुवध बन्द करना—अशोक ने धीरे-धीरे अपनी रसोई में शाक को छोडकर सब पाक बन्द कर दिये और स्वय निरामिष हो गया (प्रथम शिलालेख में)।

२ दूसरे शिलालेख के अनुसार अशोक ने मनुष्य और पशुओ दोनो की चिकित्सा का प्रबन्ध सारे राज्य में किया, इसके लिए देश-विदेश में अस्पताल बनाये। इस प्रकार चिकित्सा सम्बन्धी प्रबन्ध दक्षिण के पडोसी राज्यो में चोलो, पाड्य, सातिम पुत्रो, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी (सिहलन्) तथा यवन राज्यो में किया (दूसरे और तेरहवें शिलालेख में)।[1]

३ अशोक ने प्रत्येक आधे कोस पर कूप और विश्रामगृह बनवाये।

४ जहाँ पर औषधियो के पौधे नही थे, वहाँ पर दूसरे स्थानो से पौधे मँगवाकर लगवाये। मनुष्य और पशुओ के लिए (परिभोगाय पशुमनुषाणाम्) उसने वट वृक्ष और आम्रवन लगवाये।

५ दूतो को उसकी ओर से परार्थ कार्य के सम्पन्न करने की भी हिदायत कर दी गयी थी, जिससे सम्राट् प्राणियो के प्रति अपने ऋण से मुक्त हो सके (प्राचीनभारत का इतिहास—डाक्टर त्रिपाठी)।

मौर्य शासन चन्द्रगुप्त मौर्य से प्रारभ होता है, इसने ३२१ से २९७ ई० पू० तक राज्य किया, इसके पीछे इसके पुत्र बिन्दुसार ने २९७ से २७२ ई० पूर्व तक राज्य किया। बिन्दुसार का पुत्र अशोक हुआ, जिसने अपने दूसरे भाइयो को मारकर राज्य प्राप्त किया। इसका राज्यकाल २७२ से २३२ तक चालीस वर्ष का है। इसके आगे

---

१. स्कन्दपुराण में तथा अन्य पुराणो में आरोग्यदान का बहुत महत्त्व बताया गया है, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं।

कुणाल, दशरथ आदि राजा हुए। अन्तिम राजा बृहद्रथ था—जिसका राज्यकाल १९१ से १८४ ई० पू० है। इनमें प्रतापी सम्राट् अशोक ही हुआ, जिसने अपने राज्य का विस्तार किया, और फिर स्नेह तथा प्रेम से शासन किया। यह प्रेम का शासनभाव कलिंग की विजय के पीछे अशोक मे आया था।

मान—कलिंग पूर्व का बन्दरगाह था। पूर्व का सब व्यापार जो समुद्री रास्ते से होता था, वह सब कलिंग बन्दर ताम्रलिप्ति से होता था। इसलिए यह एक स्वतंत्र बलिष्ठ राज्य था। मान के विषय में कहा जाता है कि मान का प्रारम्भ, नाप-तोल के बट्टों का प्रारम्भ, नन्द से हुआ है ('नन्दोपक्रमणिमानानि'–पाणिनिसूत्र २।४।२१) उदाहरण मे नन्दोपक्रमण शूर्य, नन्दोपक्रमण द्रोण, काशिका में उदाहरण दिये हैं, शूर्य और द्रोण दो माप हैं। शूर्य परिमाण पर ही आज छाज का व्यवहार देहात में होता है। देहातो में भार, छाज, गोणी शब्द आज भी एक मान को बताते हैं। गोणी से अभिप्राय गधे, टट्टू या बैल पर लादनेवाली बोरी से है, जिसमें अनाज भरते है। इसको कुम्हार या गड़ेरिये ऊन मे बनाते हैं। इसका एक निश्चित मान लम्बाई-चौडाई का होता है। भार भी इसी प्रकार एक वजन है। खेतो में गेहूँ आदि अनाज कट जाने पर इसके भार बाँधे जाते हैं। इनमें से एक-एक भार काटनेवाले को दिया जाता है। यह भार प्राचीनकाल में अन्दाजे से तोल में बँधते थे। वही शब्द तोल सख्यक आज देहातो में चलता है, यही बात शूर्य-छाज के साथ है, यह भी तोलवाची है)।

प्राचीन काल में मगध और कलिंग ये दो मान इन दोनो राज्यो के कारण प्रसिद्ध थे जैसा कि हम पूर्व पृष्ठो पर लिख चुके हैं। इनमें श्रेष्ठता की कल्पना (मगध मान श्रेष्ठ बताया गया है) पीछे की है। वास्तव मे कोई भी मान न श्रेष्ठ है और न कम है। नन्द का राज्य बहुत विस्तृत था, इसलिए माप-तोल के लिए बटखरो का प्रारम्भ नन्द ने किया, तभी से मागध मान प्रसिद्ध हुआ। कलिंग जनपद स्वतंत्र था, इसलिए उसकी परम्परा अलग से चलती रही (डाक्टर अग्रवाल का पाणिनि कालीन का भूगोल)।

पशु चिकित्सा—हाथियो के सम्बन्ध में कौटिल्य ने लिखा है कि जहाँ अधिक गरमी हो वहाँ हाथियो को न ले जाय क्योंकि इनका पसीना बाहर न निकलने से इनमें कुष्ठ हो जाता है। पानी में न नहाने से, पर्याप्त जल न पीने से अन्दर का दाह बढकर इनको अन्धा कर देता है (हस्तिनो ह्यन्त स्वेदा कुष्ठिनो भवन्ति। अनवगाहमानास्तोयमपिबन्तश्चान्तरवक्षाराच्चान्धी भवन्ति ॥ अमियास्य कर्म ९।४८-४९)।

मिनाण्डर और मिलिन्द प्रश्न

मौर्य सम्राटो की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होने लगी थी। अशोक के पीछे कोई भी प्रतापी राजा नही हुआ। ऐसी स्थिति म पास के पडोसी राजाओ ने भारत पर आक्रमण किया। इनमें मुख्य आक्रान्ता मिनाण्डर था (जिनका पाली नाम मिलिन्द है)। इसकी राजधानी साकल(वर्तमान स्यालकोट)थी। मिनाण्डर यवन था, इसके आक्रमण के समय मगध की गद्दी पर पाटलिपुत्र में पुष्यमित्र राजा था। वह शुग वश का था। इनके समय में महा भाष्यकार पतञ्जलि हुए हैं। उन्होने अपने महाभाष्य में 'जिन यवनो का निर्देश किया है, वह इनके लिए ही है, यथा—'अरुणद् यवन माध्यमिकाम्', 'अरुणद् यवनो नाकेतम्'। 'माध्यमिका' नामक गाँव मथुरा के पास है। यह सम्भवत प्राचीन मुख्य नगर था, जिसे मिनाण्डर ने जीता था। इसी प्रकार से साकेत, अयोध्या को जीता था। इसके आगे ये नहीं बढे। गार्गीपुराण में भी मथुरा और पचाल देश जीतने का उल्लेख है। यह समय सम्भवत ईसा से प्रथम शती पूर्व का है।

साकल नगर मद्र देश में था। मद्र देश का उल्लेख महाभारत और छान्दोग्य उपनिषद् (३ ३१, ७।१) में है। पाण्डवो का मामा शल्य मद्र देश का ही था। मद्र देश चिनाब और रावी के बीच में स्थित था। सिकन्दर ने यहीं पर दूसरे पौरव को पाया था, प्रथम पौरव जिसके साथ उसका सग्राम हुआ था उसका राज्य जेहलम और चिनाव के बीच के द्वाबे में था, जिसकी सीमा इससे छूती थी। शाकल दो वार विदेशियो के हाथ म गया—एक वार सिकन्दर के समय और दूसरी वार मिनाण्डर के समय। मौर्य सम्राटो की शक्ति के क्षीण होने के साथ भारतवर्ष की पश्चिम सीमा कमजोर हो गयी थी। कावुल, पुष्कलावती, तक्षशिला के प्रान्त यवनो के (इन्डोग्रीक, भारत यूनानी) हाथों में चले गये थे।

मिनाण्डर के राज्य के विस्तार का पता वहुत कुछ उसके सिक्कों से चलता है। इसके सिक्के कावुल से लेकर मथुरा-बुन्देलखण्ड तक पाये गये हैं। कुछ लोगो की मान्यता है कि भडौंच तक उसके सिक्के ईसा की प्रथम शती के तीसरे चरण तक चलते थे। उत्तर में कश्मीर में सिक्के मिले हैं। सिक्को पर राजा की शकल वहुत सुन्दर आयी है, लम्बी नाक के साथ मूर्त्ति वडी ही सजीव मालूम पडती है। कुछ सिक्को पर शकल तरुण अवस्था की है और कुछ पर वृद्धावस्था की। इससे पता चलता है कि इसका राज्यकाल वहुत लम्वा था। सिक्को के एक तरफ ग्रीक भाषा में और दूसरी

ओर पाली भाषा मे अभिलेख है, (महरजस तद्रतम मेनन्द्रस)। कुछ सिक्को पर दौडते घोडे, ऊँट, हाथी, सूअर, चक्र या ताड के पत्ते खुदे है। चक्रवाले सिक्को से यह प्रमाणित होता है कि यह बौद्ध था। एक सिक्का जो मिला है, उसमे एक तरफ पाली मे 'महरजस धमिकस मेनन्द्रस' लिखा है। धमिकस शब्द धामिकस्य का पाली रूप है। इससे स्पष्ट है कि वह बौद्ध था (श्री जगदीश काश्यप)। यह राजा बहुत न्यायी था। इसके फूलो (भस्मावशेष) पर बडे-बडे स्तूप बनवाये गये।

सागल (साकल, स्यालकोट) नगर का वर्णन—यवनो का वाणिज्य व्यवसाय का केन्द्र सागल नाम का एक नगर था। वह नगर नदी और पर्वतो से शोभित रमणीय भूमि भाग में बना, आराम, उद्यान, उपवन, तडाग, पुष्करिणी से सम्पन्न, नदी, पर्वत और वन मे अत्यन्त रमणीय था*। उस नगर का निर्माण दक्ष कारीगरो ने किया था। अनेक प्रकार की विचित्र दृढ अटारी और कोठे थे। नगर का सिंहद्वार विशाल और सुन्दर था। भीतरी गढ, गहरी खाई और पीले प्राकार से घिरा हुआ था। सडक, आँगन और चौराहे सभी अच्छी तरह बँटे थे। दुकानें अच्छी तरह सजी-सजाई और बहुमूल्य सौदो से भरी थी। जगह-जगह पर अनेक प्रकार की सैकडो सुन्दर दानशालाए बनी थी। यह नगर सभी प्रकार के मनुष्यो से गुलजार था। बडे-बडे विद्वानो का केन्द्र था। काशी-कोटूम्बर आदि स्थानो के बने कपडो की बडी-बडी दुकानें यहाँ पर थी। सभी प्रकार के धन-धान्य और उपकरणो से भण्डार कोष-पूर्ण था। उत्तर कुरु की तरह उपजाऊ और आलकनन्दा देवपुर की भाँति शोभा सम्पन्न यह नगर था।

जिस प्रकार गगा नदी समुद्र से जा मिलती है, उसी प्रकार सागल नामक उत्तम नगर में राजा मिलिन्द (मिनान्दर) नागसेन के पास गया। अन्धकार को नाश करनेवाले, प्रकाश को धारण करनेवाले तथा विचित्र वक्ता (नागसेन के पास) राजा ने जाकर अनेक विषयो के सम्बन्ध में सूक्ष्म प्रश्न पूछे।

जो प्रश्न पूछे गये उनको लेकर ही मिलिन्द प्रश्न नामक ग्रन्थ की रचना हुई है। इन प्रश्नो का उत्तर अभिधर्म, विनय, सूत्रो के अनुकूल, उपमाओ तथा न्यायो से दिया

---

* आराम, बड़े-बड़े बाग, उद्यान, फुलवाड़ी, उपवन, बगीची, छोटा बाग—जहाँ पिकनिक के लिए जाते है। काशी में इनके लिए बगीची शब्द चलता है। तडाग, कहीं खोदे हुए या पक्के बने बडे-बड़े तालाब, पुष्करिणी, छोटे तालाब जिनमें सीढियाँ हो, जो घर के समीप या उसमें ही होती है।

गया है। इनमें से आयुर्वेद या चिकित्सा से सम्बन्धित प्रश्न और उनका उत्तर यहाँ पर दिया गया है।[1]

स्वप्न के विषय में—भन्ते नागसेन! सभी स्त्री-पुरुष स्वप्न देखते हैं; अच्छे भी बुरे भी, पहले का देखा हुआ भी और पहले का नहीं देखा हुआ भी, पहले का किया हुआ भी और पहले का नहीं किया हुआ भी, शान्ति देनेवाला भी और घबड़ा देनेवाला भी, दूर का भी और निकट का भी और भी अनेक प्रकार के, हजारों तरह के। यह स्वप्न है क्या चीज? कौन इनको देखता है?

महाराज! स्वप्न चित्त के सामने आनेवाली निर्देश-सूचना (निमित्त-काश्यप) है। महाराज छः प्रकार के स्वप्न आते हैं—१ वायु भर जाने से स्वप्न आता है, २ पित्त के प्रकोप से, ३ कफ बढ़ जाने से स्वप्न आते हैं, ४ देवताओं के प्रभाव में आकर स्वप्न आते हैं, ५ बार-बार किसी काम को करते रहने से उसका स्वप्न आता है; ६ भविष्य में घटनेवाली बातों का भी कभी-कभी स्वप्न आता है। महाराज इन छः में जो अन्तिम भविष्य में होनेवाली बातों का स्वप्न आता है, वही सच्चा होता है, बाकी दूसरे झूठ (पृष्ठ ३६५)। गाढ़ी नींद के हलकी हो जाने पर जो एक खुमारी की-सी अवस्था होती है उसीमें स्वप्न आते हैं। चित्त के काम करने पर स्वप्न आते हैं।

(इसकी तुलना कीजिए—"नातिप्रसुप्त पुरुष स्वप्नफलानफलास्तथा। इन्द्रियेण मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा॥ दृष्टं श्रुतानुभूत च प्रार्थित कल्पितं तथा। भाविकं दोपज चैव स्वप्न सप्तविध विदु॥ तत्र पञ्चविध पूर्वमफलमिपगादिशेत्॥ चरक इ अ ५।४२, ४३, भाविकम्-भाविशुभाशुभफलसूचकम्, दोपजम्-उल्वणवातादि-दोपजन्यम्—चक्रपाणि)।

इसके आगे दर्पण का उदाहरण देकर स्वप्न को नागसेन ने समझाया है (३६५-३६८)।

काल मृत्यु और अकाल मृत्यु—भन्ते नागसेन! जितने जीव मरते हैं, सभी काल मृत्यु से ही मरते हैं या कुछ अकाल से (जिन्दगी पूरा होने के पहले ही) भी?

महाराज! कुछ काल मृत्यु से भी और कुछ अकाल मृत्यु से भी।

भन्ते नागसेन! कौन कालमृत्यु से मरते हैं और कौन अकाल मृत्यु से?

---

१. यह विषय श्री जगदीश काश्यप की पुस्तक 'मिलिन्द प्रश्न' के आधार पर है।

(नागसेन ने अनेक उदाहरण देकर महाराज को यह बात समझायी। यथा—फल पकने पर और पहले भी गिर जाते हैं)।

महाराज! क्या आपने देखा है कि आम के वृक्ष से, जामुन के वृक्ष से, या किसी दूसरे फल के वृक्ष से फल पक जाने पर भी गिरते हैं और पकने के पहले भी?

हाँ, भन्ते देखा है।

महाराज! वृक्ष से जो फल गिरते हैं, वे सभी काल से ही गिरते हैं, या अकाल से भी?

भन्ते! जो फल पक कर और बढकर गिरते हैं वे काल से गिरते हैं, किन्तु जो कीडा खा जाने, लाठी चलाये जाने, आँधी, पानी या भीतर ही भीतर सड जाने से गिरते हैं, वे अकाल से गिरते हैं।

महाराज! इसी तरह जो पूरे बूढे होकर मरते हैं, वे काल मृत्यु से मरते हैं और जो अपने कर्म के कारण, बहुत चलने-फिरने के कारण, या काम के अधिक भार रहने के कारण मरते हैं उनकी अकाल मृत्यु समझनी चाहिए (तुलना कीजिए—"एव वादिन भगवन्तमग्निवेश उवाच—किन्तु खलु भगवन्! नियतकालप्रमाणमायु सर्व नवेति। त भगवानुवाच—इहाग्निवेश–भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते। २ तस्मादुभयतृष्टत्वादेकान्तग्रहणमसाधु। निदर्शनमपि चात्रोदाहरिष्याम॥ वि अ. ३।३३–३८; कालाकालमृत्व्वोस्तुखलु भावाभावयोरिदमध्यवसित न—"य कश्चिन् म्रियते स काल एव म्रियते, नहि कालच्छिद्रमस्ति" इत्येके भाषन्ते, तच्चासम्यक्। २–लोकेऽप्येतद् भवति—काले देवो वर्षति अकाले देवो वर्षति, काले शीतमकाले शीतं, काले तपत्यकाले तपति; काले पुष्पफलमकाले पुष्पफलमिति। तस्मादुभयमस्ति काले मृत्युरकाले च, नैकान्तिमत्र॥ शा अ ६।२८)।

सात कारणो से अकाल मृत्यु—१ भोजन न मिलने से, २ पानी न मिलने से; ३ साँप का काटा आदमी योग्य उपचार न मिलने से, ४ जहर दिया आदमी उचित औषध न मिलने से, ५ आग में पडा आदमी, ६ पानी में डूबा आदमी, ७ तीर लगा आदमी अच्छा वैद्य न मिलने से घाव के कारण मर जाता है।

मृत्यु के आठ कारण—महाराज! जीव आठ प्रकार से मरते हैं—१. वायु के उठने से, २ पित्त के विगड जाने से, ३. कफ के बढ जाने से, ४. सन्निपात हो जाने से, ५ मौसम के विगड जाने से (तुलना कीजिए—हेतुस्तृतीय परिणामकाल—चरक शा अ २।४०), ६ रहन-सहन में गडवड़ होने से (तुलना कीजिए—प्रज्ञापराधो विषमास्तयार्थ्या—शा अ २।४०), ७ किसी भी बाहरी कारण से;

८ कर्म फल के आने से, (तुलना कीजिए—१ जितेन्द्रिय नानुतपन्ति रोगास्तत्काल-युक्त यदि नास्ति दैवम्॥ २।४२, २ निर्दिष्ट दैव शब्देन कर्म यत् पौर्वदेहिकम्। हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते॥ चरक शा अ १।११६)।

व्रण-चिकित्सा—हिंसा को समझाते हुए नागसेन ने कहा कि "कल्पना करो कि एक व्रण की चिकित्सा करते हुए एक अनुभवी वैद्य और शल्य चिकित्सक तेज गन्धवाली और काटनेवाली खुरदरी मलहम का लेप कर देता है, उससे व्रण की सूजन मिट जाती है, कल्पना करो कि वह उस व्रण को नश्तर से चीर देता है और क्षार से जला देता है। इसके पीछे वह इसको किसी क्षारीय द्रव से धुलवा कर एक लेप लगा देता है, जिससे अन्त में घाव भर जाता है, और वह व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है।

हे राजन्! अब बताओ, क्या चिकित्सक ने मलहम का लेप, नश्तर से चीरना, क्षार से जलाना, क्षार से धोना, यह सब कार्य हिंसा से प्रेरित होकर किये थे।

इसके आगे भन्त नागसेन ने राजा को प्यासे, आग की ढेरी, भारी मेघ, साँप का विष, तीर का निशाना, थाली की आवाज़, धान की फसल, आदि की उपमा देकर काल मृत्यु और अकाल मृत्यु को समझाया। ("भन्ते नागसेन! आश्चर्य है, अद्भुत है! आपने कारणों को अच्छा दिखाया है। अकाल मृत्यु होती है, इसे प्रमाणित करने के लिए कितनी उपमाएँ दी। अकाल मृत्यु होती है, इसे साफ कर दिया।' (पृष्ठ ३७९)।[1]

वैद्य की शिक्षा—सुश्रुत में चिकित्सा कर्म की शिक्षा के विषय में एक अध्याय है (योग्यासूत्रीय)। इसका अभिप्राय क्रियात्मक शिक्षा में शिष्य को निपुण करना है, क्योंकि बहुत श्रुत होने पर भी कर्म में अयोग्य होता है।

इसी बात को भदन्त नागसेन ने उपमा रूप में कहा है—

'महाराज! कोई वैद्य या जर्राह पहले किसी गुरु को खोजकर उसके पास जाता है। फिर उसे अपनी सेवाएँ देकर या वेतन देकर सारी विद्या सीखता है—छुरी कैसे पकडी जाती है, कैसे चीरा जाता है, कैसे निशान लगाया जाता है, कैसे छुरी चलायी जाती है, चुभे हुए को कैसे निकाला जाता है, घाव को कैसे धोना चाहिए, उसे कैसे सुखाना चाहिए, उस पर कैसे मलहम लगाना चाहिए, रोगी को कैसे उलटी कराना चाहिए, कैसे जुलाब देना चाहिए, कैसे रसायन देना चाहिए। उसकी शिष्यता में

---

१ 'सत्य बतेद प्रवदन्ति लोके नाकालमृत्युर्भवतीति सन्त।'—वा.रा ५।२८।३; 'ध्रुव ह्यकाले मरण न विद्यते'—(वा. रा. २।२०।५१)

सब बातें सीखने के पीछे ही वह स्वतंत्र रूप से किसी रोगी का इलाज अपने हाथ में लेता है (पृष्ठ ४३४)।

वेदनाओं का मूल क्या है? अग्निवेश ने भी अत्रिपुत्र से पूछा था कि "कारण वेदनाना किं—शा अ १।१३; इसका उत्तर अत्रिपुत्र ने दिया है "धीधृतिस्मृति-विभ्रंश सम्प्राप्ति कालकर्मणाम्। असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दु ख हेतव ॥" शा अ १।९८। बुद्धि-भ्रंश, धृति-भ्रंश, स्मृति-भ्रंश, काल-सम्प्राप्ति, कर्म-सप्राप्ति, असात्म्यार्थ सयोग ये दु खो के कारण हैं। इसी को भन्त नागसेन तथा मिलिन्द के प्रश्न उत्तर में देखते हैं—

'भन्ते ! विना कर्मों के रहे सुख या दु ख नही हो सकता। कर्मों के होने से ही सुख और दुःख होते हैं। यह भी एक दुविधा आपके सामने रखी गयी है, इसे खोलकर समझायें।

नही, महाराज ! सभी वेदनाओ का मूल कर्म ही नही है। वेदनाओ के होने के आठ कारण है। वे आठ कौन से हैं ? (१) वायु का विगड जाना, (२) पित्त का प्रकोप होना, ३ कफ का बढ जाना, ४ सन्निपात दोप हो जाना; ५ ऋतुओ का वदल जाना, ६ खाने-पीने में गडवड होना, ७ वाह्य प्रकृति के दूसरे प्रभाव और ८ अपने कर्मो का फल होना, इन आठ कारणो से प्राणी नाना प्रकार के सुख-दु ख भोगते है। महाराज ! जो ऐसा मानते हैं कि कर्म के ही कारण लोग सुख-दु ख भोगते हैं, इसके अलावे कोई दूसरा कारण नही है, उनका मानना गलत है।

महाराज ! यदि सभी दु ख कर्म के कारण उत्पन्न होते है, तो उनको भिन्न-भिन्न प्रकारो में नही बाँटा जा सकता। महाराज ! वायु विगडने के दस कारण होते हैं, १. सर्दी, २ गर्मी, ३ भूख, ४. प्यास, ५ अति भोजन, ६. अधिक खडा रहना, ७ अधिक परिश्रम करना, ८ बहुत तेज चलना, ९ वाह्य प्रकृति के दूसरे प्रभाव, १० अपने कर्म का फल। इन दस कारणो में पहले नौ पूर्व जन्म या दूसरे जन्म में काम नहीं करते, किन्तु इसी जीवन में काम करते हैं। इसलिए यह नही कह सकते कि सब सुख और दु ख कर्म के कारण ही होते हैं।

महाराज ! पित्त के कुपित होने के तीन कारण हैं—१ सर्दी, २ गर्मी, ३. कुसमय भोजन करना। महाराज—कफ वढ जाने के तीन कारण है, १ सर्दी, २ गर्मी, ३ खीने-पीने में गडवडी करना। इन तीनो दोपो में किसी के विगडने से खास-खास कष्ट होते हैं। मूर्ख लोग सभी को कर्मफल से ही होनेवाले समझते हैं। इनके सिवाय पुनर्जन्म (८९ पृ०), काल के विपय में (६३), संसार की उत्पत्ति और उससे

मुक्ति (पृ० ६५); आत्मा का अस्तित्व प्रश्न (६८), कर्मफल के विषय में (९०), पेट में कीड़े (१२६), कड़ुवी दवा, गोमूत्र का उपयोग (२१२), आदि विषय सक्षेप से स्थान-स्थान पर आये है।[1]

भदन्त नागसेन से ही प्रभावित होकर मिनाण्डर वौद्ध वना था और अशोक की भाँति उसने वौद्ध धर्म के प्रचार में शक्ति लगायी थी।

दिव्यावदान

अवदान (प्राकृत-अपादन) वौद्ध साहित्य में महायान से सम्वन्वित कथाएँ है। जातको में भगवान् वुद्ध से सम्वन्वित कथानक ही है। अवदान में वुद्ध के अतिरिक्त दूसरो की भी कथाएँ है। ये एक प्रकार से हिन्दुओ के पुराणो की भाँति है। इन कथाओ से मनुष्यो को धर्मोपदेश दिया गया है।

'अवदान शतक' का समय ईसा की दूसरी शती माना जाता है, क्योकि तीसरी शती में इसका चीनी अनुवाद प्राप्त था। यही समय दिव्यावदान का है। अवदान में वहुत से प्रचलित श्लोक मिलते है। उदाहरण के लिए निम्न श्लोक दिव्यावदान में दो स्थानो पर आता है—

'त्यजेद् एक कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥' (सघनकुमारावदान पृ० ४२५)

यह श्लोक पचतन्त्र में भी इसी रूप में मिलता है (काकोलूकीयम्—८२)। इसी प्रकार से रुद्रायणावदान (पृ० ५३७) में यही श्लोक इसी रूप में मिलता है। चूडापक्षावदान में (पृष्ठ ४७४) मृत मूपक वणिक् की कथा वहुत प्रसिद्ध है। इस प्रकार से इस अवदान में पचतन्त्र तथा अन्य देशो में प्रसिद्ध कथाओ, श्लोको का उल्लेख मिलता है।

पचतन्त्र की रचना गुप्त काल के आसपास मानी जाती है। अवदानो की रचना का काल भी ईसा की दूसरी शती से लेकर चौथी शती के वीच का या इसके आसपास माना गया है। इन कथाओ में कही-कही पर आयुर्वेद सम्वन्वी उल्लेख हैं। उसके कुछ उदाहरण यहाँ हैं—

आयुर्वेद सम्वन्धी विपय

ऊर्ध्व गुद रोग—इस रोग का उल्लेख अष्टाग सग्रह में हुआ है। इस रोग में अर्श,

---

१. ये विषय चरक सहिता और सुश्रुत सहिता में भी मिलते है। चरक सहिता में इनका विस्तार से उल्लेख है।

गुल्म, कफ आदि से रुकी वायु ऊपर मुख में आती है, जिससे मुख में दुर्गन्ध आती है, इसको ऊर्ध्वगुद रोग कहते हैं[1]।

कुनालावदान (२७) में अशोक को यह रोग होने का उल्लेख है। राजा अशोक ने जब कुनाल को तक्षशिला में भेज दिया तब उसको महान् रोग उत्पन्न हुआ। इसमें उसके मुख से मल आने लगा, तब रोमकूपों से दुर्गन्ध आने लगी; इसकी चिकित्सा न हो सकी। यह देखकर राजा ने कहा—कुनाल को बुलाओ, उसे राज्य सौंपूंगा। इस प्रकार की जिन्दगी से क्या लाभ ? यह सुनकर तिष्यरक्षिता चिन्ता में पड गयी। उसने सोचा यदि कुनाल को राजगद्दी मिल गयी, तब तो मैं मरी। उसने अशोक से कहा–'मैं तुमको स्वस्थ करूँगी, किन्तु वैद्यो का आना रोक दो।' राजा ने वैद्यों का आना बन्द कर दिया। अब तिष्यरक्षिता ने वैद्यो से कहा 'यदि कोई व्यक्ति इसी प्रकार के रोग से पीडित आये, वह स्त्री या पुरुष हो, उसे मुझे दिखाना। कोई आभीर इसी रोग से आक्रान्त हुआ। उसकी पत्नी ने वैद्य के पास जाकर उसके रोग की चर्चा की। वैद्य ने कहा 'रोगी ही यहां आये, रोग देखकर औषधि दूंगा।' पत्नी पति को वैद्य के पास ले गयी। वैद्य उसे तिष्यरक्षिता के पास ले गया। तिष्यरक्षिता ने इसको गुप्त स्थान में ले जाकर मार दिया। मरने के बाद पेट चीरकर उसने उसके पक्वाशय स्थान को देखा। वहाँ उसे आन्त्र में बडा कृमि मिला। जब यह कृमि ऊपर को जाता है तब दुर्गन्ध आती है, नीचे जाने पर नीचे दुर्गन्ध आती है। उसने मरिच पीसकर इस पर डाली, फिर भी यह नही मरा। इसी प्रकार पिप्पली और सोठ पीसकर डाली, (उससे भी इसे कुछ नही हुआ)। फिर बहुत मात्रा मे प्याज दी, उसके लगने से कृमि मर गया। मल मार्ग से बाहर निकल गया। उसने यह सब बात राजा से कही, और कहा, 'देव! आप प्याज खायें, आप स्वस्थ हो जायेंगे।' राजा ने कहा—'देवि! मैं क्षत्रिय हूँ, कैसे पलाण्डू खाऊँगा[2]।' देवी ने कहा—'देव! खाना ही चाहिए, जीवन के लिए औषध है।' राजा ने प्याज खायी। वह कृमि मरकर मल मार्ग से निकल गया, राजा स्वस्थ हो गया। राजा ने प्रसन्न होकर तिष्यरक्षिता को वर दिया।[3]

---

१. अध. प्रतिहतो वायुरर्शोगुल्म कफादिभि ।
यात्यूर्ध्वं वक्त्रदौर्गन्ध्य कुर्वन्नूर्ध्वगुदस्तु स.॥—(सग्रह. उत्तर. अ. २५.)

२. "द्विजा नाश्नन्ति तमतो दैत्यदेहसमुद्भवम्"—राहु के गले से गिरी रक्त के बूँदों से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य रसोन लहसुन और पलाण्डु नही खाते। (सग्रह उत्तर. अ. ४९)

३ दिव्यावदान—(डा० वासुदेवशरण अग्रवाल सम्पादित, पृष्ठ ३८६)।

अत्यग्नि—धर्मरूच्यवदान (१८) में, श्रावस्ती के एक ब्राह्मण की पत्नी की कथा है। ब्राह्मणी के गर्भवती होने पर उसे अत्यग्नि की शिकायत हो गयी। सब कुछ खा लेने पर भी इसकी तृप्ति नहीं होती थी। ब्राह्मण दुखी होकर ज्योतिपियो और वैद्यो के पास तथा तत्रविदो के पास गया और उनसे कहा कि आप चलकर देखें कि उसको क्या रोग है अथवा भूत ग्रह प्रवेश है या अन्य मरण चिह्न है। उसके अनुसार ही उपचार करूँ। उन्होंने ब्राह्मणी की इन्द्रियों में कुछ भी वैपरीत्य नहीं देखा। तब उन्होंने ब्राह्मणी से पूछा कि कब से यह शिकायत तुमको हुई। उसने कहा—गर्भवती होने के साथ ही यह शिकायत आरम्भ हुई है। तब ज्योतिपी और वैद्यो ने कहा कि इसको और कोई बीमारी नहीं, न भूतग्रह प्रवेश है। इसको गर्भावस्था के कारण ही अत्यग्नि है।[1]

कृमि—बुद्ध के उपदेश को बताते हुए कृमि और सूर्य की उपमा दी गयी है। जब तक सूर्य उदय नहीं होता तभी तक कृमि चमकता है। सूर्य के उदय होने से कृमि भी नहीं चमकता। इसी प्रकार से जब तक तथागत नहीं बोलते तभी तक तार्किक जोर दिखाते हैं, ज्ञानी के बोलने पर न तो तार्किक चूं करता है और न श्रोता। सब चुप हो जाते हैं।

गोशीर्ष चन्दन[2]—गुप्तकाल में इस चन्दन की बहुत प्रशसा है, कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी चन्दन के बहुत से भेदो का उल्लेख है। इनकी पहचान दी गयी है। इसमे गोशीर्ष चन्दन का भी उल्लेख है (गोशीर्पक कालताम्रगन्धि च—२।११।४५)। इसी गोशीर्ष चन्दनवाले एक वणिक् की कथा है। इस गोशीर्पक से राजा का ज्वर शान्त हुआ (अत्रान्तरे सौपीरकीयो राजा दाहज्वरेण विक्लवीभूत। तस्य वैद्यैर्गोशीर्पचन्दनम् उपदिष्टम्। गोशीर्षचन्दनेनासौ राजा स्वस्थीभूत—पूर्णावदान, पृ० २९)

सुप्रियावदान (आठवाँ, पृ० ९७) में दिव्य ओपधियों के प्रकरण में शखनाभी का उल्लेख है। शखनाभी नामौपधी दिवा धूमायते रात्री प्रज्वलति)।

अवदान-कथाएँ धर्म का उपदेश करनेवाली हैं, इनमें आयुर्वेद का विषय उतना ही आता है, जितना सामान्य रूप में प्रचलित था या आवश्यक था, इसलिए ये सक्षिप्त उदाहरण हैं।

---

१. देखिए, अत्यग्नि. चरक चि अ १५।२१७-२२८

२ गोशीर्ष चन्दन की विशेष जानकारी के लिए अत्रिदेव विद्यालकार की "प्राचीन भारत के प्रसाधन" पृ० १३५ देखें।

छठवाँ अध्याय

कुषाण काल

(२१० ई० पूर्व से १७६ ई० तक)

कनिष्क और चरक संहिता—अशोक के समय में भारत और चीन का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। अशोक ने अपने धर्म प्रचारक चीन भेजे थे। चीनियों ने कुछ भारतीय नाम अपना लिये थे। सीता (यारकन्द) नदी के भारतीय नाम को अपनाकर चीनी लोग उसे आज तक सीतो कहते हैं। तारीम के कोठे में भारतवर्ष की जनता और सभ्यता बहुत अधिक जम गयी थी, इसलिए प्राचीन इतिहास में इसे चीन हिन्द (Ser-India) कहते हैं। इस इलाके में ऋषिक (यूचि) लोग रहते थे। हूणों से भगाये जाने के कारण ऋषिक लोग धीरे-धीरे हिन्दूकुश के इस पार भी उतरने लगे। कम्बोज देश से हिन्दूकुश के घाटों को पारकर स्वात और सिन्ध की दूनों में होकर वे सीधे गान्धार की तरफ आ निकले। हिन्दूकुश के दक्खिन उनकी पाँच छोटी-छोटी रियासतें बनीं। कुछ समय पीछे कुषाण नाम का एक शक्तिशाली व्यक्ति उनमें सरदार बन गया। उसने बाकी चारों रियासतों को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। पीछे से पह्लवराज्य के कमजोर होने पर उसने समूचे अफगानिस्तान, कपिश, पश्चिमी-पूरबी गान्धार (पुष्करावती, तक्षशिला) को जीत लिया। बलख, कम्बोज तथा चीन हिन्द के कुछ हिस्से पर तो उसका अधिकार पहले ही था। कुषाण को इतिहास में कफ्स कहते हैं। दीर्घ शासन के बाद अस्सी वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई (अन्दाजन ३० ई० में)।

कुषाण का बेटा विम कफ्स था। कुषाण बौद्ध था और विम शैव था। इसने समूचा पंजाब, सिन्ध और मथुरा जीत लिया। इसकी राजधानी बदख्शा थी। इसका राज्यकाल अन्दाजन ३० से ७७ ई० है।

कनिष्क—विम कफ्स का उत्तराधिकारी सुप्रसिद्ध राजा कनिष्क हुआ है। उसने खेतान के राजा विजयकीर्त्ति के साथ मिलकर फिर मध्य देश पर चढाई की। उन्होंने साकेत (अयोध्या) को घेर लिया और उसके बाद पाटलिपुत्र को भी जीता। यहाँ से कनिष्क प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष को अपने साथ ले गया। मध्यदेश और मगध

पूरी तरह कनिष्क के हाथ में आ गये और वहाँ उसके क्षत्रप राज करने लगे। प्रसिद्ध शक सवत् जो ७८ ईसवी में शुरू होता है, कनिष्क का चलाया हुआ है।

कनिष्क ने प्राय बीस वर्ष राज्य किया। इसी समय (७३-१०२ ई०) चीन के एक सेनापति ने सारे मध्य एशिया को जीतकर बडा साम्राज्य बनाया। कनिष्क को भी चीन-हिन्द में उस सेनापति से हारना पडा। उसने पुष्करावती से हटकर पुरुषपुर (पेशावर) बनाया और बदख्शा से अपनी राजधानी वहाँ उठा लाया। पेशावर और अन्य स्थानो पर उसने अपने स्तूप, विहार आदि बनवाये। अपनी राजधानी को उसने विद्या का केन्द्र बनाया। महाकवि अश्वघोष के अतिरिक्त आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य चरक भी उसकी सभा में थे (डाक्टर त्रिपाठी के अनुसार मातृचेट, नागार्जुन, वसुमित्र, पार्श्व भी थे)। कनिष्क की प्रेरणा से चौथी बौद्ध सगीत कश्मीर में श्रीनगर के पास हुई। उसके सिक्को पर उसका नाम 'कनिष्क शाहानुशाह' अर्थात् शाहो का शाह लिखा होता है। शको के सरदार शाहि कहलाते थे। (इतिहास प्रवेश, जयचन्द्र विद्यालकार के आधार पर)।

चरक सहिता

वर्त्तमान उपलब्ध चरक सहिता में (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित) मुख्य पृष्ठ पर निम्न वाक्य लिखे मिलते हैं—

'महर्षिणा पुनर्वसुनोपदिष्टा, तच्छिष्येणाग्निवेशेन प्रणीता चरकदृढबलाभ्या प्रतिसस्कृता चरक सहिता'

प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ की पुष्पिका में निम्न वचन मिलते हैं—प्रथम अध्याय का नाम और नीचे दूसरा वचन—"इति ह स्माह भगवानात्रेय"

प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में पुष्पिका का प्रारम्भ निम्न प्रकार से होता है—

इत्याग्निवेशकृते तन्त्रे चरक सस्कृते नाम—अध्याय—समाप्त ॥

ग्रन्थ समाप्ति की अन्त पुष्पिका का यह क्रम चिकित्सा स्थान के चौदहवें अध्याय तक चलता है। पन्द्रहवें अध्याय से यह बदलता है—

इत्यग्निवेश कृते तन्त्रेऽप्राप्ते दृढबल सपूरिते नाम अध्याय ॥[1]

---

१ यह क्रम निर्णयसागर की प्रकाशित चरकसहिता के आधार पर है; कलकत्ता से प्रकाशित पुस्तको में चिकित्सा स्थान के कुछ अध्यायो में व्यतिक्रम है। इसका विचार आगे किया गया है।

इससे पुस्तक का सम्वन्व पुनर्वसु, आत्रेय, अग्निवेश, चरक और दृढवल इन पाँच के साथ आता है। पुनवर्सु और आत्रेय इन दो से एक ही व्यक्ति अभिप्रेत है, क्योकि चरक सहिता में वहुत स्थानो पर "पुनर्वसुरात्रेय" एकत्र पाठ है। यथा, सू अ. २२।१३। पुनर्वसु नाम इनका पुनवर्सु नक्षत्र मे उत्पन्न होने से पडा और आत्रेय नाम अत्रिपुत्र होने से हुआ। शिशु का एक नाम नक्षत्र के ऊपर भी रखने का विघान चरक सहिता में है (द्वे नामनी कारयेन्नाक्षत्रिक नामाभिप्रायिक च-शा अ ८।५०)। इसलिए वास्तव मे चार ही व्यक्ति हैं, जिनका सम्वन्व वर्त्तमान चरक सहिता से है। आत्रेय, अग्निवेश, चरक और दृढवल।

आत्रेय गुरु या उपदेष्टा हैं, और अग्निवेश शिष्य या पूछनेवाला है। सूत्र स्थान के प्रारम्भ में अग्निवेश के साथी पाँच और भी शिष्य हैं, यथा—भेल (ड) जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षारपाणि। इन छ शिष्यो को आत्रेय ने शाश्वत हेतु लिंग और औपघ तीन स्कन्वोवाला आयुर्वेद सिखाया। इन सव ने अपनी-अपनी सहिताएँ वनायी। इनमें मुख्य तत्र अग्निवेश का ही वनाया हुआ था—उसी का अधिक प्रचार हुआ। इसका कारण उसकी वुद्धि की विशेपता ही थी, ऋपि के उपदेश में कोई अन्तर नही था (सू अ ३२)।

आत्रेय ने समान रूप से सवको शास्त्र का ज्ञान कराया था। शास्त्र का ज्ञान उस समय अनेक प्रकार से कराया जाता था। उपनिपद् काल में ज्ञानप्राप्ति की परिपाटी भिन्न थी। इसमें शिष्य गुरु के आश्रम में रहकर, उसके समीप वैठकर ही ज्ञान प्राप्त करता था। इसमें ज्ञानदाता ऋपि प्राय शालीन थे—वे शाला वनाकर रहते थे—शिष्य लोग ज्ञानपिपासा से उनके पास पहुँचते थे।

दूसरा ढग ज्ञान देने का वुद्ध भगवान् का था। इसमें वे स्वय ज्ञान पिपासा से आलारकालाम और उद्दक रामपुत्र के आश्रम में गये थे। परन्तु वे स्वत कभी आश्रम वनाकर नही वैठे। केवल चतुर्मास के लिए एक स्थान पर रहते थे। आनन्द, शारिपुत्र, मौद्गलायन आदि शिष्यो को साथ में लेकर चारिका (चक्रम, भ्रमण) करते थे और इसी समय कभी-कभी उपदेश, ज्ञान, शिक्षा देते थे। इसमें शिष्य प्रश्न करते थे और वे उसका समावान करते थे तथा समय-समय पर स्वत भी शिक्षा देते थे।

इस प्रकार की शिक्षा में वे अपने एक शिष्य को ही केन्द्र वनाकर उसे ही सम्वोघन करके शिक्षा देते हैं। वुद्ध भगवान् ने जो भी वचन कहे वे प्राय आनन्द को सम्वोघन करके कहे हैं। इन्ही वचनो का उनके समय या उनके पीछे सग्रह करके लिपिवद्ध किया गया है। ये सव संग्रह भगवान् वुद्ध के पीछे के है। इन्ही सग्रहो का विषय क्रम से पृथक्-

पृथक् सग्रह करके ग्रन्थ लिखे गये है। यथा—सूत्र, विनय और अभिधम्म। इनको त्रिपिटक (तीन पिटारी) कहते है। प्रवचनकाल और ग्रन्थ प्रणयन काल मिश्रित था।

भगवान् बुद्ध ने भिन्न-भिन्न स्थानो पर अनेक लोगो को विभिन्न परिस्थितियो में जो उपदेश दिये थे उनका सग्रह सूत्र पिटक में किया गया है। विनय पिटक में भिक्षुओ की रहन-सहन के नियमो का सग्रह है—आचार्य्य के प्रति कर्त्तव्य, शिष्य के प्रति कर्त्तव्य, मठ में रहने आदि के नियम है। अभिधम्म पिटक के ग्रन्थ गूढ और गम्भीर है। बौद्ध साहित्य में ये तीनो पिटक अलग-अलग है।

चरक सहिता में भी यही चारिका (चक्रम, भ्रमण) क्रम से अग्निवेश को आत्रेय ने शिक्षा दी है। आत्रेय एक स्थान पर नही रहते थे। वे हिमालय, कैलाश, काम्पिल्य में घूमते फिरते थे। इन वचनो को पुन इनके शिष्यो ने अपनी बुद्धि के अनुसार लिपिबद्ध किया। लिपिबद्ध करके इनको ऋषियो के सामने सुनाया (सू अ १।३३)।

चरकसहिता के अनुसार आत्रेय के वचनो को अग्निवेश ने लिपिबद्ध किया था। ये वचन पीछे सस्कृत हुए, जिस प्रकार कि बुद्ध के वचनो का सस्कार भिन्न-भिन्न समयो में होनेवाली सगीतियो में हुआ था। परन्तु चरक सहिता में जिस प्रकार से आत्रेय के वचनो को गूँथनेवाले अकेले अग्निवेश है उसी प्रकार प्रतिसस्कर्त्ता भी अकेला चरक है, और उसके पीछे दृढवल उसे पूर्ण करता है।

आत्रेय कौन थे—इसका विचार आयुर्वेद परम्परा प्रकरण में विस्तार से किया जायगा। यहाँ पर इतना ही स्पष्ट करना आवश्यक है कि चरक सहिता में पुनर्वसुरात्रेय, कृष्णात्रेय और भिक्षुक आत्रेय, तीन आत्रेय आते हैं। भिक्षुक शब्द वानप्रस्थी के लिए आता है, (गौतम ने भिक्षु शब्द तृतीय आश्रम के लिए प्रयुक्त किया है—हिन्दू सभ्यता १३२)। कौटिल्य ने वानप्रस्थी के लिए अग्निहोत्र आवश्यक कहा है। 'वानप्रस्थस्य ब्रह्मचर्य भूमौ शय्या जटाजिनधारणमग्निहोत्र वन्यश्चाहार'—१।३।११) इसी से आत्रेय को अग्निहोत्र करता हम पाते है (चि १४।३, चि १९,२ चि २९।३)

पुनर्वसुरात्रेय और कृष्णात्रेय दोनो एक है। चरकसहिता में ये शब्द पर्य्यायवाची है (त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टा कृष्णात्रेयेण धीमता—च सू अ ११)। भेलसहिता में कृष्णात्रेय नाम अपने गुरु के लिए कई बार आया है (कृष्णात्रेय पुरस्कृत्य कथाश्चक्रु र्महर्षय—पृष्ठ २८, अशीतिक नर विद्यात् कृष्णात्रेयवचो यथा—पृ ९८)। महाभारत में भी कृष्णात्रेय नाम आता है ('गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्। देवर्षिचरित गार्ग्य कृष्णात्रेयश्चिकित्सनम्'—शा अ २१०)। इसलिए दो ही आत्रेय रहे, पुनर्वसुरात्रेय और भिक्षुकआत्रेय। पुनर्वसुरात्रेय का तीसरा नाम 'चन्द्रभागि'

है, चन्द्रभागाया अपत्य चान्द्रभागि या चान्द्रभाग ये दो रूप बनते हैं (एक में बा ह्वादिदिभ्यश्च—पा अ. ४।१।९६ से अपत्य अर्थ में इञ् हुआ, जिससे चान्द्रभागि बना; शिवादिभ्योऽण्—पा अ ४।८।११२ से अण् होने पर चान्द्रभाग बनता है। इससे कुछ विद्वान् आत्रेय की माता का नाम चन्द्रभागा कहते हैं (यथा प्रश्न भगवता व्याहृत चान्द्रभागिना—चरक सू अ १३, सुश्रोता नाम मेधावी चान्द्रभागमुवाच ह (भेल. पृ. ३९)।

इसमें यह सम्भव है कि आत्रेय का सम्बन्ध चन्द्रभागा नदी से, जो कश्मीर से निकलती है, (वर्त्तमान चनाव) रहा है। वे उस देश मे उत्पन्न हुए हो। कुछ भी हो भिक्षुरात्रेय और पुनर्वसुरात्रेय, इन्ही का आयुर्वेद से सम्बन्ध था।

तक्षशिला में जब जीवक पढने गया था, वहाँ पर आयुर्वेद के आचार्य आत्रेय थे, ऐसा कई विद्वान् कहते हैं (तक्षशिला के आत्रेय भारतीय आयुर्वेद के पहले प्रसिद्ध आचार्य थे—'इतिहासप्रवेश' में जयचन्द्र विद्यालकार)[1] पाणिनि की जन्मभूमि भी इसी तरफ शलातुर (वर्त्तमान यूसुफ जई के इलाके में आता है) नामी गाँव था। बौद्ध ग्रन्थो में जीवक के गुरु का नाम न देकर 'दिशा प्रमुख आचार्य' नाम दिया गया है। यदि इनकी सगति बिठानी हो तो तक्षशिला का आचार्य भिक्षुक आत्रेय को मान सकते है, और पुनर्वसरात्रेय को काम्पिल्य, पञ्चाल क्षेत्र, चैत्ररथवन, पचगङ्ग, धनेशायतन, कैलास, हिमालय के उत्तरपार्श्व में घूमनेवाला मान सकते हैं। यही पुनर्वसुरात्रेय अग्निवेश के गुरु थे, जो घूमते हुए शिष्यो को उपदेश देते थे; चारिका करते हुए शिक्षा का दान करते थे। भिक्षुक आत्रेय तक्षशिला में आयुर्वेद पढाते थे। चरकसहिता में तक्षशिला का उल्लेख नही है, इसलिए पुनर्वसुरात्रेय का सम्बन्ध तक्षशिला से नही रहा, यह स्पष्ट है।

पुनर्वसुरात्रेय का अध्यापन क्षेत्र विस्तृत था। वे अपने साथ शिष्य समुदाय को लेकर चारिका (चक्रमण) करते हुए उपदेश देते थे। इसी उपदेश को अग्निवेश ने लिपिबद्ध किया। चरक ने इसका प्रतिसस्कार किया। प्रतिसस्कर्ता के कार्यों का उल्लेख चरक सहिता के अन्त में दिया गया है—

---

१. भिक्षु विशेषण इनको शालीन वानप्रस्थी या बौद्ध सिद्ध करता है; उपसम्पदा लेने पर भिक्षु सज्ञा होती है। आत्रेय के साथ लगा कृष्ण विशेषण पुनर्वसु का कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध बताता है। इसी कृष्ण यजुर्वेद से चरक भी सम्बन्धित थे। वैशम्पायन के अन्तेवासी चरक कहाते थे। वैशम्पायन का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से है।

'विस्तारयति लेशोक्तं सक्षिप्यातिविस्तरम् ।
सस्कर्त्ता कुरुते तन्त्र पुराण च पुनर्नवम् ॥' (चरक सि अ १२।३६)

सस्कर्त्ता वस्तु को सक्षेप में नही, विस्तार से समझा देता है, जो वस्तु विस्तार से नही हो, उसे सक्षिप्त कर देता है, इस प्रकार से पुराने तत्र को फिर से नया (समयानुकूल) बना देता है। इसी दृष्टि से कई लोगो की मान्यता है कि इन सहिता में 'भवति चात्र या भवन्ति चात्र' नाम से जो वचन आये है, वे सस्कर्त्ता के है। परन्तु यह ग्रन्थकर्त्ता की अपनी परिपाटी है। यह सभव है कि ग्रन्थ के अन्त में तत्र श्लोका, या तत्र श्लोको से आये वचन सस्कर्त्ता के हो। क्योकि ज्वरनिदान के अन्त में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि गद्य में वर्णित वस्तु को जब पुन श्लोक (पद्य में) में कहा जाता है, उसे पुनर्वचन नही समझना चाहिए। यह तो स्फुट तथा सुगम करने के लिए होता है (नि अ १।४१)। उनके आगे श्लोको में अध्याय का सक्षेप आ जाता है। सम्भवत यह सक्षेप सस्कर्त्ता का है।

एक मत यह भी है कि बुद्ध के उपदेश वचनो में से भिन्न-भिन्न वचन प्रकरण एव विषय क्रम से पृथक् करके ही सूत्र, विनय, अभिधम्म तीन त्रिपिटक बने थे। इसलिए सम्भवत अग्निवेश द्वारा सगृहीत वचनो को चरक ने विषय अनुसार क्रमबद्ध किया हो। परन्तु इस विषयवार क्रम की छँटनी अग्निवेश ने स्वत की है। यह अधिक सगत है, क्योकि भेल सहिता का कोई सस्कर्त्ता नही है। उसमें भी विषय-विभाग इसी प्रकार से है। इसलिए सस्कर्त्ता के वचन चरक में अध्याय के अन्तिम वचन "तत्रश्लोका" रूपी है। इसीलिए अन्त में स्थान-स्थान पर पढने है—"भगवानग्निवेशाय प्रणताय पुनर्वसु (नि अ १।४४), आत्रेयेणाग्निवेशाय भूताना हितकाम्यया—(चि अ १। ३४६)। ये वचन तीसरा व्यक्ति ही कह सकता है, यह तीसरे व्यक्ति प्रतिसस्कर्त्ता चरक थे।

चरक कौन थे ? इसका विवेचन 'आयुर्वेद-परम्परा' में विस्तार से किया गया है। यहाँ पर इतना ही लिखना पर्याप्त है कि चरक एक शाखा का नाम है, जिसका सम्बन्ध वैशम्पायन से है। *वैशम्पायन के साथ होने से इनका सम्बन्ध स्वत कृष्ण यजुर्वेद से* है (पुनर्वसुरात्रेय भी कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित थे, इसलिए उनके नाम के साथ कृष्ण विशेषण लगा था, जिससे वे दूसरे आत्रेय से भिन्न प्रतीत हो)। इस शाखावाले चरक कहाये थे। उनमें से किसी एक ने इस सहिता का प्रतिसस्कार किया है।

इसी शाखावाला चरक कनिष्क का राजवैद्य था। 'चरक' शब्द उपनिषद् में बहुवचन में आया है।' 'मद्रेषु चरका पर्यव्रजाम (बृहद् ३।३।१।) मद्र से अभिप्राय

स्यालकोट के इलाके से है जो कि रावी और जेहलम के बीच का है। गान्धार देश भी इससे बहुत दूर नहीं। इस प्रदेश में चरक शाखा के लोग रहते होंगे, जो चिकित्सा कार्य में निपुण होते थे। कनिष्क का राज्य भी इसमें था, उसकी राजधानी पेशावर भी इसी प्रदेश के समीप में है। इसलिए इस शाखा का कोई चरक कनिष्क का राजवैद्य रहा होगा। उसीने चरक संहिता का प्रतिसंस्कार किया, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। ग्रन्थ में कनिष्क की या उसके राज्यकाल की झलक जिस प्रकार से अश्वघोष की उपलब्ध रचनाओं में नहीं मिलती, उसी प्रकार इस संहिता में भी नहीं है। यह भी सम्भव है कि इस शाखा के किसी अन्य चरक ने इस संहिता का संस्कार किया हो, और कनिष्क का राजवैद्य दूसरा चरक रहा हो। 'आत्रेय' शब्द भी बहुवचन में मिलता है, परन्तु चरक संहिता से सम्बन्धित आत्रेय के साथ पुनर्वसु एवं कृष्ण विशेषण लगा होने से स्पष्ट हो जाता है। चरक के साथ कोई विशेषण नहीं। इसलिए किसी एक के प्रति निश्चित नहीं कह सकते। कनिष्क का राजवैद्य चरक था। इसके मानने में कोई आपत्ति या बाधा नहीं, परन्तु इसी ने चरक संहिता का प्रतिसंस्कार किया यह सन्दिग्ध है, क्योंकि चरक शब्द बहुवचनान्त मिलता है, जो कि एक शाखा से सम्बन्ध रखनेवालों का सूचक है।

दृढबल—का दूसरा नाम 'कापिलबलि' था। (चरक चि अ ३०)। कपिलबल का पुत्र होने से इनका यह नाम पडा। ये पंचनदपुर के रहनेवाले थे (चरक चि. सि १२)। पंचनदपुर कश्मीर देश में था, जैसा राजतरंगिणी में कल्हण ने लिखा है" (राज २४६, २५०)।

वितस्ता और सिन्धु नदी जहाँ पर मिलती है, जहाँ पर आज पञ्जपनोर (पञ्चनोर) नाम का स्थान है, वही 'पंचनदपुर' था। इसलिए दृढबल को कश्मीर देश का कह सकते हैं।

पञ्जपनोर नाम का स्थान कश्मीर नगर से उत्तर में साढे तीन कोस की दूरी पर त्रिगाम्य-वितस्ता (जेहलम)—सिन्ध-क्षीरभवानी और आञ्चार इन पाँच नदियों के संगम के पास स्थित है। ऐसा श्री जीयालाल जी ने श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य को बताया है। संग्रह में 'कपिलबलस्त्वाह' कहकर कपिलबल का उल्लेख किया गया है (सू अ २० पृष्ठ १६४) कपिलबल दृढबल के पिता थे।

दृढबल का समय वाग्भट से पूर्व का है, क्योंकि अष्टांग संग्रह में उसके वचन उद्धृत मिलते हैं। जैज्जट ने भी अपनी निरन्तरपदव्याख्या नामक चरकटीका में दृढबल के वचन प्रमाण रूप में उपस्थित किये हैं। वाग्भट और जैज्जट का समय चौथी शताब्दी

है। इसलिए उससे पूर्व इसका समय होना चाहिए। दृढवल से पूरित भाग में जया, विष्णु, वासुदेव, कृष्ण का नाम आता है। इससे स्पष्ट है कि गुप्तकाल में जब कृष्ण वासुदेव की पूजा चल पडी थी, उस समय इसकी रचना हुई है। मन्त्रो में 'हिलि' शब्द का प्रयोग गुप्तकाल में प्रसिद्ध मातगी विद्या का द्योतक है (देखिए—नावनीतक मे मातगी विद्या)। मन्त्र रचना गुप्तकाल की है—

'पिज्यनाण इम चात्र सिद्ध मंत्रमुदीरयेत् ।
मम माता जया नाम जयो नामेति मे पिता ।
सोऽहं जयजयापुत्रो विजयोऽथ जयामि च ॥
नम पुरुषसिंहाय विष्णवे विश्वकर्मणे ।
सनातनाय कृष्णाय भवाय विभवाय च ॥
तेजो वृषाकपे. साक्षात्तेजो ब्रह्मेन्द्रयोर्यमे ।
यथाहं नाभिजानामि वासुदेवपराजयम् ।
मातुश्च पाणिग्रहण समुद्रस्य च शोपणम् ।
अनेन सत्यवाक्येन सिध्यतामगदोह्ययम् ।
हिलिमिलि सस्पृष्टे रक्ष सर्वभेषजोत्तमे स्वाहा ॥'

(चि.अ.२३।९०-९४.)

२—वाग्भट में मद्यपान का वर्णन दृढवल के मद्यपान की ही छाया है—जो कि स्पष्ट गुप्तकाल के वैभव की उत्तम झांकी है—

'देशे यथर्तुकेशस्ते कुसुमप्रकरीकृते ।
सरसा समते मुख्ये धूपसमोदवोधिते ॥
सोपधाने सुसस्तीर्णे विहिते शयनासने ।
उपविष्टोऽयवा तिर्यक् स्वशरीरसुखे स्थित ॥
सौवर्णै राजतैश्चापि तथा मणिमयैरपि ।
भाजनैर्विमलैश्चान्यै सुकृतैश्च पिबेत् सदा ॥
रूपयौवनमत्ताभि शिक्षिताभिर्विशेषत ।
वस्त्राभरणमाल्यैश्च भूषिताभिर्यथर्तुकै ॥
शौचानुरागयुक्ताभि प्रमदाभिरितस्तत ।
सवाह्यमान इष्टाभि पिबेन्मद्यमनुत्तमम् ॥'

(चरक. चि. अ. २४।१३-२०)

वाग्भट का वर्णन इससे मिलता है—

"स्नात प्रणम्य सुरविप्रगुरून् ययास्व, वृत्ति विधाय च समस्त पर्वरगुहस्य।
आपानभूमिमय गन्धजलाभिषिक्तामादारमण्डपसमीपगता श्रयेत।
स्वास्तृतेऽथ शयने कमनीये, मित्रभृत्यरमणीसमवेत।
स्व यशः कथकचारणसघैरुद्घृत निशमयन्नति लोकम्॥
विलासिनीना च विलासशोभि गीतं सनृत्यं कलतूर्यघोषै.।
काञ्चीकलापैश्चलकिङ्किणीकै. क्रीडाविहङ्गैश्च कृतानुनादम्॥
मणिकनकसमुत्थैरावनेयैर्विचित्रै सजलविविधलेखाक्षौमवस्त्रावृताङ्गैः।
अपि मुनिजनचित्तक्षोभसम्पादिनीभिश्चकितहरिणलोलप्रेक्षणीभि. प्रियाभिः॥
यौवनासवमत्ताभि विलासाधिष्ठितात्मभि सञ्चार्यमाण युगपत्तन्वङ्गीभिरितस्तत॥"

(हृदय. चि अ. ७।७५-७८; ८०.)

इससे स्पष्ट है कि दृढबल गुप्तकाल के प्रारम्भ में वाग्भट से पूर्व हुआ। इसका समय चतुर्थ शती का पूर्वभाग या तृतीय शती का उत्तरार्द्ध होगा।

दृढबल की देन—चरक संहिता के चिकित्सा स्थान के अन्त में दृढबल ने कहा है कि इस संहिता में सत्रह चिकित्सा अध्याय, कल्पस्थान और सिद्ध स्थान नहीं मिलते थे। उनको दृढबल ने भिन्न-भिन्न स्थानो से एकत्रित करके पूर्ण किया, जिससे यह तंत्र पूरा हो जाय।

चिकित्सा स्थान के सत्रह अध्यायो में विवाद है, कि कौन-से सत्रह अध्याय दृढबल ने पूरे किये। चिकित्सा स्थान में दो क्रम मिलते हैं।

प्रथम क्रम निर्णय सागर का (बम्बई का) क	द्वितीय क्रम कलकत्ता प्रकाशन में ख
१ रसायन	१ रसायन
२ वाजीकरण	२ वाजीकरण
३ ज्वर	३ ज्वर
४ रक्तपित्त	४ रक्तपित्त
५ गुल्म	५ गुल्म
६ प्रमेह	६ प्रमेह
७ कुष्ठ	७ कुष्ठ
८ राजयक्ष्मा	८ राजयक्ष्मा

९ उन्माद	९ अर्श
१० अपस्मार	१० अतिसार
११ क्षत	११ विसर्प
१२ शोथ	१२ मदात्यय
१३ उदर	१३ द्विव्रणीय
१४ अर्श	१४ उन्माद
१५ ग्रहणी	१५ अपस्मार
१६ पाण्डु	१६ क्षत
१७ श्वास	१७ शोथ
१८ कास	१८ उदर
१९ अतिसार	१९ ग्रहणी
२० छर्दि	२० पाण्डु
२१ विसर्प	२१ श्वास
२२ तृष्णा	२२ कास
२३ विष	२३ छर्दि
२४ मदात्यय	२४ तृष्णा
२५ द्विव्रणीय	२५ विष
२६ त्रिमर्मीय	२६ त्रिमर्मीय
२७ ऊरुस्तम्भ	२७ ऊरुस्तम्भ
२८ वातव्याधि	२८ वातव्याधि
२९ वातशोणित	२९ वातशोणित
३० योनिव्यापद्	३० योनिव्यापत्

प्रथम आठ अध्यायों में एकमत है, पिछले पाँच अध्याय दृढबल के हैं, इसमें दोनों सस्करण समान हैं। चक्रपाणि का कहना है कि प्रथम आठ अध्याय और द्वितीय क्रम के नौ से तेरह अध्याय छोडकर शेष को दृढबल ने पूरा किया है। माधवनिदान के टीकाकार विजयरक्षित ने २६,२७,२८ अध्यायों को दृढबल से सम्बन्धित बताया है। इसके अतिरिक्त (क) विभाग के ५,१६,१७,२२,२३ या ख भाग के १९,२०,२१,२४ और २५ को पिछले लेखकों ने दृढबल के नाम से उद्धृत किया है।

अष्टागहृदय के टीकाकार अरुणदत्त ने ग्रहणी रोग की टीका में (क भाग का १५ वां अध्याय) दृढबल का मत दिखाते हुए कहा है—

रसाद् रक्तं ततो मासं मासान्मेदस्ततोऽस्थि च ।
अस्थ्नो मज्जा तत शुक्रं शुक्राद्गर्भ प्रसादज. ॥
इत्युक्तवन्तमाचार्यं शिष्यस्त्विदमचोदयत् ।
रसाद् रक्त विपदशात् कथं देहेऽभिजायते ॥

चार पाण्डु, श्वास, तृष्णा, विपको (क भाग के–१६,१७,२२ और २३ को) विजयरक्षित ने माधवनिदान की टीका में उद्धृत किया है।[1]

अव केवल वारह अध्याय रहते है, जिनके विपय में सन्देह है। अर्श, अतिसार, विसर्प, का (क भाग के १४, १९, २१) उल्लेख नावनीतक में हुआ है। नावनीतक का समय भी दृढवल का समय है , (गुप्तकाल के आसपास का समय है) इसलिए ये अध्याय सम्भवत दढवल से पूर्व के हों[2]।

मदात्यय और द्विव्रणीय (क भाग के २४ और २५) अध्यायो को चरक के टीकाकार जज्जट ने अपनी निरन्तरपदव्याख्या में चरकाचार्य से सम्बन्धित वताया है—

---

१ व्यायाममम्ल लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम् ।
निषेव्यमाणस्य प्रदूष्य रक्त दोपास्त्वच पाण्डुता नयन्ति ॥
रक्तमित्युपलक्षण, तेन त्वक् मासमपि दूष्यत्वेन वृढवलेन पठितम् । (मा.नि. टीका.)
हिक्काश्वास—यदाह दृढवल —कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ ।
च चि. अ. १७.

तृष्णा—दृढवलेन तु पञ्चतृष्णा पठिता, वातपित्तश्लेष्मामोपसर्गजा इति।
मूर्च्छा (विष)—यदुक्तं दृढवलेन—

लघुरूक्षमाशुविशद व्यवायी तीक्ष्ण विकाशी सूक्ष्मं च ।
उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्त विषं तज्ज्ञै. ॥ (मा. नि १७-१५ टीका)
ते तैलादौ व्यस्तास्तीव्रा सन्ति, विषमद्ययोस्तु तीव्रतरा ।
अतस्तैलादिभिर्न मोह , किन्तु विषमद्याभ्यामिति । (मा टीका)

२ जामनगर से प्रकाशित चरकसहिता (भाग १, पृष्ठ १०४ में) नावनीतक का समय दृढवल से पूर्व माना गया है। परन्तु नावनीतक में अष्टाग सग्रह की भाँति लशुन की प्रशस्ति है। गुप्तकाल के ग्रन्थो में लशुन की प्रशस्ति, इसके खाने पर विशेष जोर देना यह इस समय की विशेषता है, जिस प्रकार कि इस समय के वारीक झीने वस्त्र, उनकी चुन्नट विशेष है। इसलिए नावनीतक दृढवल के पीछे का होना चाहिए।

२४ वाँ अध्याय—चरकाचार्यसंस्कृतश्चायमध्यायः।

२५ वाँ अध्याय—आचार्यप्रणीतश्चायमध्याय ।

इस प्रकार से ख भाग के ९, १०, ११, १२, १३ ये पाँच अध्याय चरक के पक्ष में आते है। इस प्रकार से कलकत्ता से मुद्रित (ख भाग) पोथी के पिछले सत्रह अध्याय दृढवल से पूर्ण किये गये हैं। इनमें भी ग्रहणी, पाण्डु, श्वास, तृष्णा, विष ये पाँच अध्याय टीकाकारो के अनुसार दृढवल से पूर्ण किये गये है। इसलिए केवल सात ही अध्याय सन्दिग्ध रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि चक्रपाणिदत्त के समय तक (११वी शताब्दी तक) क्रम सुरक्षित था। इसके पीछे क्रम वदला। कलकत्ता की छपी पुस्तक (देवेन्द्र-नाथसेन, उपेन्द्रनाथ सेन द्वारा प्रकाशित) में ख भाग का ही क्रम है। वम्बई की प्रकाशित पुस्तको में क भाग का क्रम है।

दृढवल ने सुश्रुत का श्लोक पूर्णत लिया है (चरक चि अ २६।११३-११४, 'आन ह्यते यस्य विशुष्यते च' आदि सुश्रुत उत्तर अ २२।६ से उद्धृत है।)

इस प्रकार पुनर्वसुरात्रेय से उपदेश की गयी अग्निवेश की वनायी, चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत और दृढवल से पूरी की गयी वर्त्तमान चरक सहिता आज उपलब्ध है।

सहिता की रचना—अन्य सहिताओ से भिन्न है। वैदिक सहिताओ में मत्र रचना छन्दोवद्ध है। इस रचना में गद्य और पद्य दोनो मिले हैं। कृष्ण यजुर्वेद में मत्रो तथा विनियोग दोनो का मिश्रण है, शुक्ल यजुर्वेद में केवल मत्र-भाग सगृहीत है। इस दृष्टि से चरक सहिता की रचना का साम्य कृष्ण यजुर्वेद के साथ है।[1]

१—सहिता की रचना का ढग अपनी विशेपता लिये है। अष्टाग सग्रह में कौटिल्य

---

१ यह किंवदन्ती है कि एक बार वैशम्पायन मुनि के हाथ से ब्रह्महत्या हो गयी थी। गुरु ने शिष्यों से प्रायश्चित्त करने को कहा। याज्ञवल्क्य ने कहा कि मैं अकेला प्रायश्चित्त कर लूंगा, शेप शिष्यो को छोड दीजिए। इस पर गुरु क्रुद्ध हो गये और उससे विद्या वापस मांगी। याज्ञवल्क्य ने उसे वमन कर दिया, जिसे तित्तिरो ने चुग लिया। याज्ञवल्क्य को सूर्य ने पुन वेदाध्ययन कराया। इससे इनकी सहिता वाजसनेयी हुई और तित्तिरों से चुगी विद्या की तैत्तरीय सहिता वनी। जिन शिष्यो ने आचार्य वैशम्पायन का प्रायश्चित्त किया था; वे चरक या चरकाध्वर्यु कहलाये। शतपथ में चरक या चरकाध्वर्यु शब्द प्रतिपक्षी, विरोधी के लिए कहीं-कहीं आता है। ब्रह्महत्या करनेवाले को कुछ वर्षो तक वरावर फिरना होता था यही उसका चरक था।—श्री हरिदत्तजी शास्त्री, ऋक् सूत्रसग्रह की भूमिका में।

अर्थशास्त्र की भांति प्रथम अध्याय में सब अध्याय क्रम, विषय निरूपण दे दिया गया है। सुश्रुत में भी इसी परिपाटी का अनुसरण हुआ है। कामसूत्र में भी जो कि चौथी शती का है, यही प्रथा अपनायी गयी है। परन्तु चरक संहिता में विषय सूची, अध्याय-नाम, सूत्र-स्थान के अन्तिम अध्याय में पीछे से दिया गया है। इसमें सूत्र-स्थान के लिए 'श्लोक-स्थान' शब्द का भी व्यवहार हुआ है, जो कि आयुर्वेद की अन्य संहिताओं में नहीं मिलता।

२—इसमें, पाषण्ड शब्द का उल्लेख नहीं है। गो, ब्राह्मण इनके प्रति सम्मान, पूजा भाव मिलता है। सुश्रुत संहिता में गो शब्द पूजा के लिए नहीं आता। वहाँ अग्नि, विप्र और भिषक् तीन का ही उल्लेख है, इसमें भी दधि, अक्षत, अन्न, पान और रत्न से पूजा करने का उल्लेख है (सूत्र अ ५।७), परन्तु चरक संहिता में इस रूप में पूजा का उल्लेख नहीं है, और गो-ब्राह्मण शब्द एक साथ मिलता है। अन्य स्थानों पर 'द्विज' शब्द से ब्राह्मण ही लेना ऐसा कोई नियम नहीं है। द्विज शब्द पूजा अर्थ के लिए है (चरक-सूत्र अ १५।९)। जिस प्रकार से विप्र शब्द ब्राह्मण अर्थ को ही नियमित करता है, उस प्रकार से द्विज शब्द नहीं है, (संस्काराद् द्विज उच्यते) जिनके संस्कार होते हैं, वे द्विज हैं, इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों के लिए यह शब्द है। इसी से काम्पिल्य के वर्णन में "द्विजातिवराध्युषिते"—(वि अ ३।३) शब्द का अर्थ चक्रपाणि ने 'महाजनसेविते' किया है। महाभारत मे यक्ष के "क पन्था" प्रश्न का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने लोक व्यवहार में व्यवहार का निर्णय करने के लिए कहा है "महाजनो येन गत. स पन्था"—आरण्यकपर्व। इसी बात को उपनिषद् में आचार्य शिष्य से समावर्त्तन के समय कहता है "अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणा सम्मर्शिन युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामा स्यु यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्तेथा"—(तैत्तिरीय ११।३)। इसलिए दोनों संहिताओं में समय का बहुत अन्तर है। सुश्रुत में ईश्वर शब्द भगवान् तथा कर्त्ता के रूप में है, (यथा-अग्नि के लिए—जाठरो भगवानग्नि ईश्वरोऽन्नस्य पाचक। (सूत्र अ ३५।२७) २ स्वभावमीश्वर कालम्—शा अ १)। पाषण्ड शब्द भी सुश्रुत में है (पाषण्डाश्रमवर्णाना सपक्षाकर्म-सिद्धये—सू अ २९।५)। चरक संहिता में ईश्वर शब्द भिन्न अर्थ में है। ईश्वर शब्द की कल्पना परमात्मा के अर्थ में पीछे की गयी है। चरक में प्रजापति, ब्रह्मा शब्द मिलते हैं, परन्तु इस अर्थ में ईश्वर शब्द नहीं "या पुनरीश्वराणा वसुमता वा सकाशात्—(सू अ ३०।२९) में आया ईश्वर शब्द ऐश्वर्यशाली अर्थ में है।

३—चरकसंहिता में मुख्यत उत्तरीय भारत का उल्लेख है। इसमें भी मुख्यत

उत्तरीय पश्चिमीय प्रदेश का। पूर्व में काम्पिल्य अन्तिम सीमा है। वाकटिक काल में (२८८ से २४० ईसवी) काम्पिल्य का नाम सुनाई नहीं देता, इसके स्थान पर 'अहिच्छत्रा' नाम प्रचलित होता है। काम्पिल्य नाम संहिताओं में बहुत पुराना है (तैत्तिरीय संहिता ६-४।१९।१, मैत्रायणी संहिता ३।१२।२०, काठक संहिता ४।८, आदि में)।

इसके अतिरिक्त बाह्लीक, पह्लव, चीन, शूलीक, यवन और शक ये सब नाम जो चरक संहिता में (चि अ ३०।३१६ में) मिलते है, वे सब पश्चिम भारत की जातियां है। हिन्दूकुश पर्वत और वक्षु नदी के बीच का बड़ा जनपद 'बाह्लीक' था। जिसे आजकल बल्ख कहते हैं।

बाह्लीक से मध्य एशिया की ओर चलने पर पह्लव जनपद पड़ता है, जिसकी भाषा पहलवी (ईरानी) है। पहलवी का आर्य भाषा से बहुत सम्बन्ध है, पारसियों का धर्मग्रन्थ अवेस्ता इसी भाषा में है। अम्बष्ठ और वृष्णीक नाम भी चरक में है ('चण्डालट्रविडाम्बष्ठ '—इन्द्रिय० ५।२१)।

पार्थव जाति को पुरानी फारसी और संस्कृत में पह्लव कहते थे। इन पह्लवों ने अपना राज्य शक स्थान से हरउवती की तरफ बढ़ाया, वहाँ से बढ़कर काबुल के यूनानी राज्य को जीता और गान्धार तथा सिन्ध को भी शकों से छीन लिया (लगभग ४५ ई० पू०)। शकों का राज्य कहीं पर भी न रह गया। हरउवती के पह्लवों ने लगभग ईसवी सन् के शुरू तक अफगानिस्तान, पंजाब और सिन्ध पर राज्य किया।

इन पह्लव राजाओं में स्पलिरिष, उसके बेटे अय या अज और अय के बेटे गुदफर का विस्तृत राज्य रहा। स्पलिरिष ने काबुल जीता। अज और गुदफर समूचे उत्तर पश्चिम भारत के राजा थे। पह्लव राजा प्राय बौद्ध थे, हिन्दूकुश के दक्खिन के या यूनानी सिक्कों की तरह शकस्थान के इन राजाओं के हरऊवती में चलनेवाले सिक्कों पर भी प्राकृत अक्षर लिखी रहती थी। इसका अर्थ यह है कि काबुल और कन्दहार के प्रदेश तब स्पष्ट रूप से भारत में गिने जाते थे—(जयचन्द्र विद्यालकार)।

शक और चीन—हमारे देश में जिस समय अशोक राज्य करता था, लगभग उसी समय में चीन में एक बड़ा राजा हुआ, जिसने वहाँ की छोटी-छोटी नौ रियासतों को जीतकर सारे चीन को एक कर दिया। चीन के उत्तर ईतिश और आमूर नदियों के बीच में हूण रहते थे। ये लोग चीन पर आक्रमण करते थे। इनसे बचाने के लिए इसने अपने समूचे देश की उत्तरी सीमा पर एक दीवार बनवायी थी। तब हूणों ने पश्चिम की तरफ रुख किया। तुर्क और हूण एक ही जाति के दो नाम हैं। मध्य एशिया से कास्पियन और काले सागर के उत्तर में जो जातियाँ रहती थी वे सब शक परिवार

की थी। शक लोग भी आर्य थे, परन्तु तव तक वे जगली और खानावदोश थे। शको से मिलनेवाली एक और जाति इनसे सटे प्रदेश कासून (तिब्बत और मगोलिया के बीच चीन का जो भाग गर्दन की तरह निकला है) मे रहती थी इस जाति को चीनी लोग 'यूचि' कहते थे। सस्कृत की पुस्तको मे इसी को 'ऋपिक' कहा गया है। यूचि या ऋपिको के पडोस मे तारीम नदी के उत्तर तरफ लुखार लोग रहते थे।

हूणो ने पश्चिम हटकर ऋपिको पर हमले किये (१७६-१६५ ई०पू०) और उन्हे मार भगाया। ऋपिक लोग वहाँ से भाग कर लुखार देश में जा पहुँचे और वहाँ के राजा वने। जव वहाँ से भागना पडा तव लुखारो को अपने साथ खदेडते हुए वे पश्चिम की ओर वढे, और थियानशान पर्वत को पार कर गये (कुछ विद्वान थियान शान पर्वत को ही 'उत्तर कुरु' कहते है, उत्तरकुरु का नाम सुश्रुत मे है चि अ। परन्तु चरक मे नही है)। वहाँ से उनकी एक शाखा दक्खिन झुककर कम्वोज देश अर्थात् पामीर वदख्शा की तरफ वढी और दूसरी शाखा ने सुग्व दोआवा में शको की खास वस्ती पर हमला किया। ऋपिको की अपेक्षा लुखारो की सख्या अधिक थी, इसी से इतिहास मे लुखार अधिक प्रसिद्ध है।

सुग्व से खदेडे जाकर शक हरात से घूमकर लूटमार करते हुए शक स्थान की पुरानी वस्ती में जाने लगे। हरात और शक स्थान तव पार्थव राज्य में थे। इसलिए सवसे पहले पार्थवो से वास्ता पडा। दो पार्थव राजा लडाई मे मारे गये। (१२८-१२३ ई० पू०)। किन्तु पीछे से इनका दमन मिथ्रदास (रय) ने किया। उसके आक्रमण से घवरा कर शको ने भारत की ओर मुख किया और हमारे सिन्ध प्रान्त पर अधिकार कर लिया (लगभग १२०-११५ ई०पू०)। सिन्ध मे उनकी ऐसी सत्ता जम गयी कि वहाँ पर शक द्वीप कहलाने लगा और पश्चिमी लोग उसे हिन्दी शकस्थान कहने लगे। यहाँ से वे उज्जैन, मथुरा, पजाव में फैले।

यवन—पुराणो के अनुसार इस देश का नाम भारतवर्ष है। यह हिमालय के दक्षिण और समुद्र के उत्तर कहा गया है। भरतो की प्रजाओ का निवास होने से इसका नाम भारतवर्ष है। इसमें कुल सात पर्वत हैं, महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमन्, ऋक्ष गोडेवाना के पहाड, (गोडवाना के पहाड) विन्ध्य और पारिपत्र (विन्ध्य का पश्चिम भाग अरावली तक), जहाँ भरत के वशज रहते है। इसके पूर्व में किरात और पश्चिम मे यवन वसते है। मध्य में आर्य वसते है।

शूलीक—चीन से आगे मध्य एशिया का प्रदेश शूलीक है, यहाँ की भाषा का नाम शूली है। आजकल इसको कास्कर कहते है।

' इससे स्पष्ट है कि चरक सहिता का मुख्य सम्बन्ध भारत की पश्चिम सीमा से तथा उत्तर में हिमालय पर्वत से (पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश) सम्बन्ध रहा है। इसी से उनका वाह्लीक भिषक् काकायन के साथ विचार विनिमय करने का उल्लेख कई स्थानो पर मिलता है (सू स्थान अ १, सू अ १२, सू अ २५, सू अ २६, शा अ ६ में)। चरक के अनुसार वाह्लीक में और भी वैद्य थे, उनमें कोकायन की ख्याति अधिक थी (सू अ २६।५)। तक्षशिला भी इसी प्रदेश में था, जो विद्या का केन्द्र था—जहाँ पर दिक् प्रमुख आचार्य रहते थे। आत्रेय का नाम आयुर्वेद के आचार्य के रूप में तक्षशिला के साथ सम्बद्ध कहा जाता था। सम्भवत भिक्षु आत्रेय से इसका अभिप्राय हो। पुनर्वसु आत्रेय भी इसी समय इसी प्रदेश मे हुए हो और यही स्थान उनका मुख्य विचरने का हो। क्योकि इस स्थान की जानकारी, हिमालय की दिव्य औषधियो का वर्णन जितना मिलता है, उतना अन्य स्थानो का नही है। काम्पिल्य को छोडकर शेष सम्पूर्ण चरक सहिता में आत्रेय को हिमालय में या उसके प्रदेशो में विचरता पाते है। चरक सहिता में मलयाचल, पारिपत्र, विन्ध्य तथा सह्याद्रि पर्वतमाला से उत्पन्न नदियो के जलो का उल्लेख है (सू अ २७।२१०-२१२)। सम्भवत यह वचन सुनने से हो या प्रतिसस्कर्त्ता हो, क्योकि इसके अधिक नाम भी है—सात्म्य दक्षिणत पेया मन्थश्चोत्तरपश्चिमे (चि अ ३०।३१८) में दक्षिण शब्द राजपूताने, दक्षिण की जानकारी नही, अन्धक, द्रविड कच्छ, काठियावाड के अर्थ में आया है, आज भी वहाँ रावडी, लप्सी का अधिक रिवाज खाने में है। मध्य देश में अश्मक अवन्ति का स्थान है। यह उल्लेख वहुत सक्षेप में है, सम्भवत व्यापार के सिलसिले में जो लोग इन स्थानो से उधर आते थे उनकी जानकारी से यह लिखा हो, अथवा प्रति सस्कर्त्ता चरक ने इसे वढाया हो, मूल वचन 'क्षीरसात्म्यश्च सैन्धवा'—(३१६।½) तक ही हो। इसलिए चरक का उपदेश काल वुद्ध के आसपास जवकि तक्षशिला विद्या का केन्द्र रहा, तव का है, जो कि लगभग ६०० ई० पू० का आता है। प्रतिसस्कर्ता चरक का समय कनिष्क का हो सकता है। वुद्ध के समय में ही विद्या का केन्द्र उत्तर पश्चिम में था, इसलिए काशी आदि जनपदो से शिष्य वहाँ पर शिक्षा के लिए जाते थे। उसी समय की तथा उसी स्थान की जानकारी चरक सहिता में मिलती है।

चरक सहिता में अर्थशास्त्र के शब्द—राज्यो की छोटी इकाई से लेकर वडी से वडी इकाई का क्रम से नाम कीर्त्तन किया गया है। इनके साथ विशेष प्रान्तो का भी उल्लेख किया गया है—

१ क्षार का अधिक उपयोग नही करना चाहिए। इस प्रसग में—

'ये ह्येन ग्रामनगरनिगमजनपदा सततमुपयुञ्जते त आन्ध्यपाण्ड्यखालित्य-पालितभाजा हृदयापकर्त्तिनश्च भवन्ति। तद्यथा प्राच्याश्चीनाश्च।' (वि अ १।१७)।

२ लवण का अधिक उपयोग नही करना चाहिए—इस प्रसग में—

'ये ह्येन ग्रामनगरनिगमजनपदा सततमुपयुञ्जते, ते भूयिष्ठ ग्लास्नाव शिथिल-मासशोणिता अपरिक्लेशसहाश्च भवन्ति। तद्यथा—वाह्लीकसौराष्ट्रिक सैन्धव-सौवीरका ते हि पयसाऽपि सह लवणमश्नन्ति॥' (वि अ १।१८)।

ग्राम सबसे छोटी इकाई थी, उसके पीछे नगर, फिर निगम तब जनपद था।[1] इनका स्पष्टीकरण 'हिन्दूसभ्यता' में देखिए।

सिन्धुजनपद—सिन्धु नदी के पूर्व में सिन्ध सागर दुआब का पुराना नाम सिन्धु था। सिन्ध् में जिसके पूर्वज रहते थे अर्थात् जिसका निकास सिन्धुजनपद से था, उसकी सज्ञा सैन्धव थी। (सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ—४।३।९२) काशिका मे सक्तुसिन्धु और पानसिन्धु उदाहरण दिये गये हैं। ये दोनो नाम भोजन की आदतो के अनुसार हैं। चरक में इनको दूध पीनेवाला कहा गया है (क्षीरसात्म्याश्च सैन्धवा –चि अ ३०।३१७)। महाभारत में सिन्धु के राजा जयद्रथ को क्षीरान्नभोजी कहा गया है (द्रोण पर्व ७७।१८) जयद्रथ सौवीर (आधुनिक सिन्ध का उत्तरी भाग) और उसके ऊपर दक्षिण सिन्धु जनपद का राजा था। क्षीर-भोजन दक्षिण-सिन्धु की विशेषता समझी जाती है (ते हि पयसाऽपि सह लवणमश्नन्ति–(चरक वि अ १।१८), काठियावाड, कच्छ में आज भी खिचडी दूध के साथ खाने की चलन है)।

सौवीर—वर्त्तमान काल के सिन्धु प्रान्त या सिन्ध नद के निचले कोठे का पुराना नाम सौवीर जनपद था। भारतीय साहित्य मे सिन्धु-सौवीर यह दो जनपदो का नाम जोडे के रूप में प्रसिद्ध था। भौगोलिक दृष्टि से दोनो की सीमाएँ परस्पर सटी हुई थी। सौवीर जनपद की राजधानी रोरुव (सस्कृत सरौक) वर्त्तमान रोडी है। यहाँ पर पुराने शहर के भग्नावशेष हैं। रोडी के उस पार सिन्धु के दक्षिण किनारे पर सक्खर

---

१ पाणिनि ने कहीं तो ग्राम और नगर में भेद माना है जैसे, प्राचा ग्रामनगराणाम्" (७।३।१४) सूत्र में और कहीं पर ग्राम शब्द से नगर का भी ग्रहण किया है—जैसे, वाहीक ग्राम (४।२।११७) उदीच्य ग्राम (४।२।१०९ में)। पतजलि ने कहा है कि कितनी जनसख्या होने से ग्राम और कितनी जनसख्या होने से नगर कहलाते हैं; इस विषय में लोक को प्रमाण मानना चाहिए (न नु च भो य एव ग्रामास्तन्नगरम्। कथ ज्ञायते? लोकत। तत्राति निर्वन्धो न लाभ ७।३।१-४)।'पाणिनिकालीन भारतवर्ष'से।

प्रसिद्ध नगर है, जिसका पुराना नाम शार्कर था। यहाँ के गोत्रो में आनी प्रत्यय लगता है (जैसे, वास्वानी, कृपलानी, गिडवानी)। प्राचीन काल में 'मैमतायनी'—इसका उदाहरण है, जिसका नाम चरकसहिता के सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में आया है (मैत्रेयो मैमतायनि—१।१७)।

सौराष्ट्र—सिन्ध के ठीक दक्षिण में कच्छ जनपद है। पाणिनि ने कच्छी मनुष्यो को काच्छक कहा है। पाणिनि के समय कच्छ नाम प्रसिद्ध था, चरक के समय सौराष्ट्र नाम प्रसिद्ध हुआ। काशिका में कच्छ देश से सम्वन्धित तीन उदाहरण दिये हैं—काच्छक हसितम् (कच्छवालो के हँसने का ढग), काच्छक जल्पितम् (कच्छवालो के वोलने का ढग), काच्छिका चूडा (कच्छवालो के सिरकी चुटैया का ढग)।

वाह्लीक—हिन्दुकुश के उत्तर पच्छिम में वाह्लीक, उत्तर-पूर्व में कम्वोज, दक्षिणपूर्व में गधार और दक्षिण पश्चिम में कपिश था। इस प्रकार गन्धार, कपिश, वाह्लीक और कम्वोज इन चार जनपदो का एक चौगड्डा था। वाह्लीक का आजकल का नाम वदख्शा है। कम्वोज के पश्चिम में वक्षु के दक्षिण और हिन्दुकुश के उत्तर पश्चिम का प्रदेश वाह्लीक जनपद था। महरौली स्तम्भ के लेख के अनुसार चन्द्र-नामक राजा ने वाह्लीक तक अपना विस्तार किया था। इस चन्द्र की पहिचान चन्द्र गुप्त द्वितीय से की जाती है। चरक में काकायन को वाह्लीक भिपक् कहकर याद किया गया है पादताडित में वाह्लीक देश के काकायन गोत्री ईशानचन्द्र वैद्य के पुत्र हरिचन्द्र का नाम आता है (देखिए चरक सहिता के टीकाकार भट्टार हरिचन्द्र)।

चरक सहिता में नये शब्द—चरक सहिता में कुछ शब्द उस समय के प्रसिद्ध लोक साहित्य से सीधे आये हैं, यथा—उपनिषद्, शल्य, सूत्र, शाखा आदि। सूत्र, शब्द तत्र के अर्थ में आया है, सूत्र शब्द ग्रथित पुष्पो के धागे के अर्थ में है—

"तत्रायुर्वेद शाखा-विद्या सूत्रं ज्ञानं शास्त्र, लक्षण तन्त्रमित्यनर्थान्तरम्—

(सू अ १०।३१)

यथा सुमनसा सूत्र सग्रहार्थं विधीयते।
सग्रहार्थं तथाऽर्थानामृषिणा सग्रह कृत ॥ (सू अ ३०।८९)

२ 'ससग्रहव्याकरणम्'—यह शब्द इसी रूप में काशिका में आता है। ससग्रह व्याकरणमधीते"—सग्रह का अर्थ वहाँ वार्त्तिको से है, व्याकरण को वार्त्तिको के साथ पढता है, चरक सहिता में यह शब्द "त्रिविधायुर्वेदसूत्रस्य ससग्रहव्याकरणस्य सत्रि-विधौपधग्रामस्य प्रवक्तार" (सू अ २९।७) में आया है, यहाँ पर सग्रह और व्याकरण का अर्थ चक्रपाणि ने सामान्य, विशेष किया है, परन्तु यह विशद समाधान नही दीखता।

त्रिविध सूत्र-हेतु-लिग-औषधि को सक्षेप और विस्तार या भाष्य के साथ कहनेवाला यह अर्थ अधिक सगत है।[1]

३ चरक मे अध्यापन के लिए शिष्य का नासावश का सीधा होना आवश्यक कहा गया है। चीनी और मगोलियनो का नासावश दवा रहता था (आर्यप्रकृति-मक्षुद्रकर्माणमृजुचक्षुर्मुखनासावशम्-वि अ ८।८)। इसलिए सम्भवत उस समय आयुर्वेदाध्यापन आर्य लोग ही करते थे।

४ चरक सहिता में कुछ शब्द बौद्ध साहित्य से सीधे आये हैं, यथा खुड्डक शब्द, यह शब्द खुद्दक का रूपान्तर है (खुद्दक निकाय), इसका शुद्ध रूप क्षुद्रक है। इसी प्रकार जेन्ताक के लिए विनय पिटक मे जन्ताक शब्द आता है। इम घर में भी धूमनेत्र इसी प्रकार बनाने का उल्लेख है।

बौद्धो में चार ब्रह्म विहार हैं। यथा—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा (बौद्धधर्म दर्शन, नरेन्द्रदेवजी कृत, पृष्ठ ९४)। चरक सहिता में भी कहा है—

'मैत्री कारुण्यमार्त्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम्।
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधेति ॥' (सू अ ९।२६)

योग दर्शन मे भी (समाधि पाद ३३ सूत्र) इनका उपयोग चित्त प्रसादन के लिए बताया गया है। ये चारो ब्रह्म विहार कहे जाते हैं।[2]

इन सब विचारो से यह निश्चित है कि पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश को उपदेश बुद्ध के समय के आस-पास दिया है। अग्निवेश ने उसे लिपिबद्ध किया। चरक ने कनिष्क के समय इसका प्रति सस्कार किया और उस समय का सात्म्य आदि नयी बातें इसमे मिलायी। इसके पीछे जो भाग इस सहिता के नही मिले (सम्भवत चरक को नही मिले, अथवा इसके पीछे लुप्त हो गये हो) उनको दृढवल ने अपने काश्मीर प्रदेश के आस-पास से ढूँढकर पूरा किया। इन भागो का मिलना पश्चिमोत्तर प्रान्त में ही सुलभ था, क्योकि आत्रेय का मुख्य जीवन उधर ही बीता था और वही पर तक्षशिला विद्या का बडा केन्द्र था। कनिष्क की राजधानी भी उधर ही थी। कनिष्क का वैद्य चरक भी वही था। इसलिए सामग्री मिलने का वही स्थान था, जहाँ से दृढवल ने सामग्री एकत्र करके इस सहिता को पूरा किया।

---

१. शास्त्र की परीक्षा में कहा गया है—'सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रमम्'—इससे सक्षेप और भाष्य दोनो का ज्ञान वैद्य को होना उचित है।

२ इस सम्बन्ध में "चरकसहिता का अनुशीलन", पृष्ठ १५० देखना चाहिए।

'अखण्डार्थं दृढबलो जात पञ्चनदे पुरे।
कृत्वा बहुभ्यस्तन्त्रेभ्यो विशेषोञ्छशिलोच्चयम् ॥
सप्तदशौषधाध्याय सिद्धिकल्पैरपूरयत् ॥'

उञ्छ और शिला वृत्ति से—कही पर तो कण-कण चुनकर और कही पर सम्पूर्ण वाक्य या पद अथवा वाक्यसमूह तन्त्रों में से एकत्रित करके दृढबल ने चिकित्सा के १७ अध्याय, सिद्धि और कल्प सम्पूर्ण पूरे किये।

इस प्रकार से उपलब्ध चरक सहिता का सम्बन्ध पुनर्वसुरात्रेय, अग्निवेश, चरक और दृढबल इन चारो से है और इनमें से अग्निवेश को यदि छोड दें तो तीनो का सम्बन्ध भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्त से है।

चरक सहिता का विश्लेषण—चरक सहिता में दो रूप उपदेश के मिलते हैं, एक में पुनर्वसुरात्रेय स्वत शिष्यो को उपदेश देते हैं, यथा, विमान स्थान के तृतीय अध्याय में "वनविचारमनुविचन् शिष्यमग्निवेशमब्रवीत्, दृश्यन्ते हि खलु सौम्य!" इसमें स्वत शिष्य को उपदेश दिया है, शिष्य के लिए सौम्य विशेषण उपनिषद् के सम्बोधन का स्मरण करा देता है (यह सम्बोधन सुश्रुत में नही है, उपनिषदो के "सदेव सौम्येदमग्रमासीत्" आदि वचनो में शिष्य के लिए सौम्य शब्द आता है)। दूसरे प्रकार के उपदेश में अग्निवेश पूछता है और आत्रेय उसका उत्तर देते हैं, यथा—इसी अध्याय में कालमृत्यु-अकालमृत्यु सम्बन्धी प्रश्न, ज्वर रोगी के लिए गरम पानी क्यो दिया जाता है, ये प्रश्न अग्निवेश ने किये और आत्रेय ने उनका उत्तर दिया।

इन दो प्रकार के व्याख्यानो के अतिरिक्त सम्भाषा रूप में भी विषय का प्रतिपादन मिलता है, (यथा—सू अ २५, सूत्र अ २६, शा अ ३ में)। पुनर्वसुरात्रेय ऋषियो के साथ बैठकर जब विचार करते थे, उस समय जो वचन-प्रतिवचन चलते थे, उनको अग्निवेश ने अपनी स्मृति से लिपिबद्ध किया। इस प्रकार के विचार विनिमय से जो लाभ होते हैं, और क्यों शिष्य को इनके समय उपस्थित रहना चाहिए, इसका बहुत अच्छा स्पष्टीकरण स्वत सहिता मे किया गया है। (वि अ ८।१५)। इसलिए चरक सहिता में यह परिपाटी मिलती है। सुश्रुत में इस प्रकार का वचन-प्रतिवचन, सभाषा विधि नही मिलती।

चरक सहिता का क्षेत्र काय-चिकित्सा तक सीमित है। इसलिए जहाँ पर भी दूसरे शास्त्र का विषय आता है, वहाँ पर उस शास्त्र के ज्ञाता से सहायता लेने को कहा अथवा वस्तु का सक्षेप में प्रतिपादन किया। उनका कहना है कि पराविकार, दूसरे के अधि-

कार के विपय मे विस्तार से कहना ठीक नही। परन्तु शिष्य को समझाने के लिए विपय का उल्लेख किया है। -

चरक सहिता की भाषा—भापा और शैली दोनो ही सरल है। भापा में लम्बे वाक्य भी है (यथा, कल्प स्थान मे आनूप देश का वर्णन) और छोटे भी वाक्य है, (यथा, सूत्र स्थान के आठवें अध्याय में सद्वृत्त का उल्लेख)। भापा का प्रवाह अविच्छिन्न, स्वाभाविक है। इसमे कठिन शब्दो का प्रयोग नही है। सामान्यत बोलचाल की भापा तथा प्रतिदिन आँखो के सामने आनेवाले उदाहरण दिये गये है।

शैली की विशेपता मे ऋपियो के साथ बैठकर विचार करना है। चरक सहिता मे जितने ऋपियो का उल्लेख हमको मिलता है, उतना किसी भी आयुर्वेद-पुस्तक में नही है। बहुत-से ऋपियो का नाम बहुत प्राचीन है। यथा—जमदग्नि, वशिष्ठ, भृगु, अगस्त्य आदि), कुछ ऋपियो के नाम नये है (यथा–वडिश, शरलोमा, काप्य, कैंकशेय, हिरण्याक्ष (काशिक), भरद्वाज के साथ कुमारशिर विशेपण नया है।

इनमें से कुछ ऋपि स्वतन्त्र रूप से वाद-विवाद मे भाग लेते है, (यथा, भरद्वाज का शारीरस्थान में गर्भावक्रान्ति प्रकरण में), और कही पर समूह में विचार चलता है (यथा सूत्र अ २५ और २६ मे) कही पर गुरु स्वत ही विपय के सम्बन्ध में शकाएँ बताकर उनका समाधान करते है (यथा सू अ ११ मे पुनर्जन्म के विपय में), कही पर अग्निवेश ही बहुत-से प्रश्न पूछ बैठते है (यथा शा अ १ ओर २ में) और पुनर्वसु आत्रेय उनका समाधान करते है। समाधान में बहुत ही सरल मार्ग अपनाया गया है, यथा—

अतीत, अनागत और वर्त्तमान इन तीन वेदनाओ में भिपक् किस वेदना की चिकित्सा करता है? अग्निवेश के इस प्रश्न का उत्तर आत्रेय ने बहुत ही सरलता से दिया है—'वैद्य तीन कालो की वेदनाओ की चिकित्सा करता है। 'लोक में हम देखते है कि कहा जाता है कि यह तो वही पुराना शिरदर्द है, यह तो पहलेवाला ज्वर है, इन प्रसिद्ध वचनो से बीती हुई बीमारी का फिर से आना पता चलता है। इनमें अतीत रोगो की चिकित्सा होती है।

पहले भी पानी की बाढ आयी थी। इस बार फिर नही आयी, इसलिए अभी से बाँध बनाना चाहिए। यह सोचकर जैसे धवाँ बाँधा जाता है, उसी प्रकार से पिछली बीमारी लौट न आये, इसके लिए वैद्य प्रथम से ही उपाय करता है। यह अनागत चिकित्सा है। रोगो के पूर्वरूप दीखने पर ही जो चिकित्सा की जाती है, वह अनागत है।

वर्त्तमान वेदनाओ में सुख कारण के सेवन से दुःखो की एक लम्बी पक्ति समाप्त हो जाती है और सुख भी होता है (सामान्य सर्दी लगने पर यदि इसकी चिकित्सा प्रारम्भ

का समावेश है। वादमार्गों मे चरक मे प्रतिष्ठापना, जिज्ञासा, व्यवसाय, वाक्यदोष, वाक्यप्रशसा, उपालम्भ, परिहार, अभ्यनुज्ञा, हेत्वन्तर, अर्थान्तर आदि पद नये हैं, न्याय दर्शन में इनका विचार नही। जाति और निग्रह-स्थान के भेद भी न्याय-दर्शन की भाँति चरक में नही है।

न्यायदर्शन की भाँति ईश्वर की सत्ता पृथक् चरक में नही है। कार्य और कारण सम्बन्ध को आत्मा की सिद्धि के लिए माना है। न्याय ने इसे ईश्वर सिद्धि में घटाया है। योगदर्शन सम्मत ईश्वर भी चरक मे नही आया। योग दर्शन मे अष्ट विध ऐश्वर्य का उल्लेख दूसरे रूप मे ही चरक में आया है। (शा अ १) योग को मोक्ष का प्रवर्त्तक माना है। योग-ज्ञान में सब प्रकार की वेदनाओ की समाप्ति कही गयी है।

चरक सहिता मे पुनर्जन्म, पुरुष और रोग की उत्पत्ति, आत्मा सम्बन्धी प्रश्नो का विचार बहुत ही स्वतत्र रूप में है। चरक सहिता में आस्तिक का अर्थ है, जो पुनर्जन्म को माने और पुनर्जन्म को जो नही मानता वह नास्तिक है। यह अर्थ पाणिनि के सूत्र "अस्ति नास्ति दिष्ट मति" (४।४।६०), के अनुसार ठीक है, परन्तु मनुस्मृति के अनुसार जो कि वेद को न माननेवाले व्यक्ति को नास्तिक कहते है,—ठीक नही है ('योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विज । स साधुभि वहिष्कार्य्यो नास्तिको वेदनिन्दक ॥' —मनु २।११)।

चरक सहिता में वेद को ही आप्तागम (आप्तो का शास्त्र) माना है, इसकी प्रामाणिकता स्वतत्र रूप से स्वीकार की है, इसके साथ वेद के साथ जिसका मेल बैठता हो, परीक्षा करनेवालो ने जिसको बनाया हो, (अच्छी प्रकार से जाँच-पडताल करने पर जो निश्चय हुआ हो), सज्जनो ने जिसका समर्थन कर दिया हो, लोक के कल्याण, उपकार के लिए बनाया हो (धन के लिए या स्वार्थवश न बना हो), ऐसा शास्त्र विषय भी आप्तागम होता है (सू अ ११।२७ स्वामी दयानन्दजी की भी यही मान्यता है कि वेद स्वत प्रमाण है, शेष ग्रन्थ वही तक प्रमाण है, जहाँ तक वे वेद के साथ अनुकूल है)

चरक का दर्शन किसी एक दर्शन के ऊपर निर्भर नही है, साख्य, योग, न्याय और वैशेषिक इन सब का स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है। साथ ही स्वतत्र विचारो का भी प्रतिपादन दीखता है। ईश्वर सम्बन्धी मान्यता इसमें नही है। आचार सम्बन्धी सदाचार पर ही जोर है, जैसा कि भगवान् बुद्ध का सिद्धान्त और उपदेश था।

प्रत्यक्ष ज्ञान किन कारणो से नही होता, इस विषय में चरक सहिता और साख्य-कारिका का मत एक ही है। यथा—

चरक सहिता मे अन्न, पान के सम्बन्ध मे विशेप जानकारी दी गयी है, लगभग वीस-पच्चीस तरह के चावलो का उल्लेख है। कश्मीर में आज भी प्रसिद्ध राजमाप का उल्लेख है, गेहूँ और जौ, मूंग, चावल का प्राय उपयोग होता था। माम वर्ग का विभाग पक्षियो के रहन-सहन की प्रवृत्ति के अनुसार किया गया है। यह विभाग वहुत सरल और सक्षिप्त है (सू अ २७।५३-५५)। शाक वर्ग में प्राय पत्रशाक या द्रवाश वहुल शाको का ही उल्लेख है। फलवर्ग में फलो के गुण विवेचन तो है, परन्तु चिकित्सा में अनार के सिवाय दूसरे किसी फल का उपयोग नही है, केले का उपयोग विशेप रोग (स्त्री रोग मे) मे है। द्राक्षा का उपयोग मुख्य रूप से है। सुरावर्ग मे नाना प्रकार के मद्यो का वर्णन है। जलवर्ग में आकाश से गिरा पानी देश-काल के अनुसार किस प्रकार परिवर्तित हो जाता है, इसका उल्लेख है। इसके आगे गोरस वर्ग है—जिसमें दूध, दही, घी आदि का गुण-दोप विवेचन है। इक्षुवर्ग मे गन्ने के रस तथा इससे वनने-वाली वस्तुओ के गुड, मत्स्यण्डिका (राव), खण्ड शर्करा (मोटी मिश्री, कालपी या मुलतानी मिश्री) का उल्लेख है। इसी में मधु के चार प्रकारो का वर्णन है। इसके आगे कृतान्न वर्ग, वनी हुई वस्तुओ के विपय में है। स्नेहो तैल, लवण-क्षार का आहार योगी वर्ग मे उल्लेख किया है। मूली आदि जो वस्तुएँ हरी खायी जाती हैं, उनका हरितवर्ग में उल्लेख है। अन्त मे आहार-सम्वन्धी सूक्ष्म विवेचन करके यह अध्याय समाप्त किया है।

वैद्य-भेद—चिकित्सा व्यवसाय में उस समय भी ठगी चलती थी, इसी से कहा गया है—"राज्ञा प्रभावात् चरन्ति राष्ट्राणि"—(चरक सू अ २९।८)। इसलिए सामान्य जनता को छद्मचर वैद्यो का पता वताने के लिए उनकी विशेप पहचान वताई गयी है (सू अ २९।९)। इनको लोक के लिए काँटा कहा गया है, जिस प्रकार रास्ते मे पडे काँटे से वचकर चला जाता है, उसी प्रकार इनसे वचकर रहना चाहिए। ये रोगो को शरीर में प्रविष्ट कराते हैं, रोग वढाते हैं और प्राणो को वाहर निकालते हैं। सुश्रुत में राजा की सम्मति चिकित्सा कर्म मे लेना आवश्यक वताया गया है (राज्ञानु ज्ञातेन, सू अ १०।३)।

इनके दो भेद हैं—छद्मचर और सिद्धसाधित। छद्मचर वैद्य तो वैद्यो का रूप वनाकर, उनके समान दिखावा रखकर मनुष्यो को ठगते है। सिद्ध साधित वैद्य—जिन वैद्यो ने धन, मान, प्रतिष्ठा पायी है जिनके ज्ञान की ख्याति होती है, उनके नाम के वहाने से (अपना नाम वैसा रखकर या अपने को उनका शिष्य वताकर) कमाते हैं (सू अ ११।५०-५१-५२)। इनसे मनुष्यो को वचना चाहिए।

इनके विपरीत जो वैद्य प्राणो को शरीर में प्रविष्ट करते है और रोगो को बाहर निकालते हैं, जो प्रयोग के ज्ञान-विज्ञान-सिद्धि में सिद्ध है, उनको 'प्राणाभिसर' कहा गया है। ऐसे वैद्यो के लिए नमस्कार है। (तेभ्यो नित्य कृत नम)।

इस प्रकार के वैद्य भी जव कभी वहुत जोखम का काम करते थे—जिसमें प्राणो का सशय होता था, उस समय सव भाई वन्धुओ के सामने सम्पूर्ण स्थिति स्पष्ट करके राजा को सूचित करके चिकित्सा कर्म करते थे, जिससे पीछे अपयश या वदनामी न हो। (चि अ १३।१७५-१७७)।

किसी वडे रोग से रोगी के स्वस्थ होने पर उसे सव जाति-बन्धुओ को दिखाया जाता था, जिससे वैद्य को यश मिले (चरक सहिता में वैद्य के लिए चिकित्सा कर्म मे धन का इतना महत्त्व नही जितना मान का है, स्थान-स्थान पर मान-यश की रक्षा रखने का विधान है) अच्छी तथा परिश्रम से किसी औषध के सिद्ध होने पर उसका विज्ञापन, सूचना देने का उल्लेख भी चरक में है [सि अ १२।१९-(१)]।

वैद्य के लिए या अन्य व्यक्तियो के लिए धन की आवश्यकता का उल्लेख चरक सहिता में है "नह्यत पापात् पापीयोऽस्ति यदनुपकरणस्य दीर्घमायु " (सू अ ११।५), विना साधनो के जीवन विताना सवसे वडा पाप है। साधनो के लिए धन एकत्र करे। इसके लिए सज्जनो से सम्मानित वृत्तियो का अवलम्वन करने को कहा है।

पेशे और साथी—चरक के समय जीवन के उपयोगी सव पेशे चालू थे। यथा—पाचक, स्नापक, स्नान करानेवाले, चापी करनेवाले सवाहक, उठाने-विठानेवाले, उत्थापक, सवेशक, औषधि पेषक, गाने-वजानेवाले, किस्से-कहानी सुनानेवाले, श्लोक सुनानेवाले, इतिहास-पुराण में कुशल देशकाल को समझनेवाले व्यक्ति रोगी के पास रहते थे (सू अ १५।७)।

कलाओ में कुशल, धन धान्य से समृद्ध, परस्पर अनुकूल रहनेवाले, समान प्रकृति, एक ही आयु के, कुल-माहात्म्य-दाक्षिण्य-शील-पवित्रता से युक्त, नित्य प्रति काम में लगे, प्रसन्न चित्त, शोक-चिन्ता से मुक्त, प्रिय वोलनेवाले, समान शील, विश्वासी, जिनके सामने केवल एक ही कार्य हो (नाना उलझनो में न फँसे हो) ऐसे साथी चुनने चाहिए।[1]

चरक सहिता का ढाँचा—चरक सहिता का ढाँचा एक विशेष क्रम से वना है। सम्पूर्ण सहिता को आठ स्थानो मे वाँटा है। यथा—सूत्र (श्लोक) स्थान, निदान स्थान, विमान स्थान, शारीरिक स्थान, इन्द्रिय स्थान, चिकित्सा स्थान, कल्प स्थान

---

१. विस्तृत ज्ञान के लिए चरकसहिता का अनुशीलन (सास्कृतिक) देखना चाहिए।

और सिद्धि स्थान। अध्यायो की कुल सख्या एक सौ वीस है। यही सख्या सुश्रुत सहिता में भी है। मनुष्य की आयु एक सौ वीस वर्ष पाँच दिन मानी गयी है,[1] लोक मे भी प्रचलित है—माठा सो पाठा–साठ का होने पर पकता है। इसमे पांच दिन छोड दिये जायँ तो उसी दृष्टि से इन सहिताओ मे अध्याय सख्या निश्चित की गयी है। सूत्र स्थान और चिकित्सा स्थान मे तीस-तीस अध्याय है, विमान स्थान, निदान स्थान, शारीरिक स्थान मे आठ-आठ अध्याय, इन्द्रिय स्थान, कल्प स्थान और सिद्धि स्थान में वारह-वारह अध्याय है।

सूत्र स्थान सवसे मुख्य स्थान है। इसमे सहिता का सम्पूर्ण विपय सूत्र रूप मे आ गया है। जिस प्रकार से भिन्न-भिन्न प्रकार के कुसुमो को सूत्र मे पिरो दिया जाता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न विपयो को इस सूत्र मे अत्रिपुत्र ने पिरो दिया है। यह सूत्र-स्थान चार-चार अध्यायो मे विभक्त करके सात विपय प्रतिपादित किये हैं। यथा—प्रथम चार अध्याय भेपज चतुष्क है, अगले चार स्वस्थ वृत्तिक, इसके आगे क्रमश चार-चार अध्याय-निर्देश सम्वन्धी, प्रकल्पना चतुष्क, रोगाध्याय, योजना चतुष्क, अन्नपान चतुष्क है। शेप दो अध्याय सग्रह अध्याय हैं। यह क्रम अन्य किसी सहिता मे इस रूप में नही हे।

निदान स्थान मे मुख्य आठ रोगो का उल्लेख है। विमान स्थान में—दोप-भेपज का विशेप ज्ञान कराया गया है। शारीर स्थान में शरीर सम्वन्धी ज्ञान कराने मे आत्मा, मन, इन्द्रिय आदि का, योग तथा अन्य आध्यात्मिक विपय तथा शरीर सम्वन्धी ज्ञान दिया गया है। इसी में उत्तम सतान की उत्पत्ति, पालन सम्वन्धी विपय आता है। अगला इन्द्रिय स्थान है। इन्द्रिय का अर्थ आत्मा है। इसलिए इसमें मृत्यु सम्वन्धी लक्षणो का उल्लेख हैं।[2] चिकित्सा स्थान के प्रथम दो अध्याय रसायन और वाजीकरण से सम्वन्धित है। शेष अध्यायो मे प्रथम निदान स्थान में कहे गये आठ अध्यायो

---

१. 'समा षष्टिर्द्विघ्ना मनुज करिणा च पञ्चक निशा'—ज्यौतिष, हाथी का यौवनकाल साठवें वर्ष में आता है, यथा—"भद्राणा षष्टिवर्षाणां प्रश्रुतानामनेकधा। कुञ्जराणा सहस्रस्य बल समधिगच्छति।" सुश्रुत चि अ २९।१६.

२. 'रिष्टसमुच्चय'—दुर्गदेवाचार्यकृत, भारतीय विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित हुई है। इसमें रोगो के रिष्ट वर्णित है। यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है। इसका कर्त्ता जैन था। इसमें नाना प्रकार के मत्र दिये गये है।

रिष्ट के तीन भेद कहे गये हैं। यथा—

की चिकित्सा कहकर अन्य रोगों की चिकित्सा कही गयी है (कलकत्ते से प्रकाशित पुस्तकों में बम्बई से प्रकाशित पुस्तकों के अध्याय क्रम में यहाँ अन्तर है)। कल्प स्थान में वमन-विरेचन की कल्पना कही गयी है। सिद्धि स्थान में वमन-विरेचन वस्तु के विषय में विस्तृत जानकारी है। इसमें इनसे होनेवाली व्यापदो की औषधि से सिद्धि बतायी गयी है(सम्यक् प्रयोग चैव कर्मणा व्यापन्नाना च व्यापत्साधनानि सिद्धिषूप-देक्ष्याम—सू अ ४)।

इन सब स्थानो में आयुर्वेद के हेतु, लिंग और औषध इन तीन सूत्रो में वर्णित किया गया है। इस वर्णन में उस समय की सास्कृतिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक जानकारी विशेष रूप में मिलती है। चरक सहिता केवल आयुर्वेद-चिकित्सा का ही प्रतिपादन करती है, ऐसी मान्यता ठीक नही। यही सही कि प्राचीन या आधुनिक व्याख्या-कर्त्ताओं का ध्यान इस ओर नही गया। इस सहिता से उस समय की अध्यापन विधि, भाषा, विश्वास रूपी मान्यता है, देवतावाद-पूजा आदि बातो पर बहुत उत्तम प्रकाश पडता है।

यह सहिता इतनी महत्त्वपूर्ण है कि वाग्भट ने अपने ग्रन्थ अष्टाग सग्रह तथा अष्टाग हृदय में "इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षय"—इस वचन से अध्याय का प्रारम्भ किया है।

टीकाएँ—चरक सहिता पर बहुत-सी टीकाएँ है। इनमें से निम्नलिखित प्रसिद्ध है—

१ भट्टार हरिचन्द्र की बनायी चरकन्यास नामक व्याख्या। बाण ने हर्षचरित मे भट्टार हरिचन्द्र के गद्य की प्रशसा की है।[1] इस टीका का कुछ अश श्री मस्तराम

'पिण्डस्य च पदस्य रूपस्य भवति त्रिविकल्पम्।
जीवस्य मरणकाले रिष्ट नास्तीति सन्देह ॥' १७॥

(चरक में—'नत्वरिष्टजातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते। मरण चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरःसरम्॥' इन्द्रि २।५

१ 'पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थिति।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥' (हर्षचरित, प्रथमोच्छ्वास १२।)

वाक्पति के बनाये गौडवहा नामक प्राकृत काव्य में—(छाया रूप से)—

'भासे ज्वलनमित्रे कुन्तिदेवे च यस्य रघुकारे।
सौबन्धवे च बन्धे हारीचन्द्रे च आनन्द ॥'

तीसटाचार्य विरचित चिकित्सा कलिका में तीसटाचार्य के पुत्र चन्द्रट ने कहा है—

शास्त्री ने छापा था। महान विश्यामलक विरचित पादताडित (जो कि गुप्त-काल की रचना है) में वाह्लीक के रहनेवाले काकायन गोत्री वैद्य ईशानचन्द्र के पुत्र हरिचन्द्र का नाम आता है। महेश्वर विरचित विश्वप्रकाश कोश के अनुसार ये साहसाङ्क नृपति के राजवैद्य थे। राजशेखर ने काव्य मीमासा में हरिचन्द्र और चन्द्रगुप्त का विशाला अर्थात् उज्जयिनी में एक साथ उल्लेख किया है—(चतुर्भाणिक—पृष्ठ १७९)।

२ जैज्जटाचार्य विरचित निरन्तरपदव्याख्या नामक टीका। इसको लाहौर से मोतीलाल बनारसीदास ने छापा था। इसका कुछ अश बीच से त्रुटित है। जैज्जट वाग्भट का शिष्य था। (इति वाग्भटशिष्यस्य जेज्जटस्य कृतौ निरन्तरपदव्याख्याया चिकित्सा स्थाने रसायनाध्याय समाप्तिमगमत्)। जैज्जट ने मदात्यय चिकित्सा में भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है, इसलिए जैज्जट इनके पीछे हुए।

३ चक्रपाणिदत्त की आयुर्वेद दीपिका व्याख्या। यह टीका आजकल विशेष सम्मानित है। चक्रपाणिदत्त गौड देश में वैद्य जाति के अन्दर लोध्रवली सज्ञक दत्तकुल में उत्पन्न हुए थे। गौडाधिपति नयपालदेव की पाकशाला के अधिकारी एवं मन्त्री नारायणदत्त के पुत्र थे। इनके छोटे भाई का नाम भानुदत्त था। नयपाल का राज्यकाल ग्यारहवी शती का मध्य है। चक्रपाणिदत्त के बनाये चिकित्सा-सग्रह (चक्रदत्त), द्रव्यगुण-सग्रह बहुत प्रसिद्ध है। इन्होने सुश्रुत सहिता

'व्याख्यातरि हरिश्चन्द्रे श्रीजैज्जट नाम्नि सति सुधीरे च।
अन्यस्यायुर्वेदे व्याख्या धाष्टर्च्य समावहति ॥'

विश्वप्रकाश कोष के प्रारम्भ में—भट्टार हरिचन्द्र के वंशधर महेश्वर ने कहा है—

'श्रीसाहसाङ्क नृपतेरनवद्यवैद्य-विद्यातरग पदमद्वयमेव बिभ्रत्।
यश्चन्द्रचारुचरितो हरिचन्द्र नामा स्वव्याख्यया चरकतन्त्रमलञ्चकार॥
(विश्वप्रकाश १।५).

साहसाङ्क नृपति से द्वितीय चन्द्रगुप्त अभिप्रेत है। इसका राज्यकाल ३७५ से ४१५ ईस्वी तक था। भट्टार हरिश्चन्द्र का भी यही समय था। विशेष जानकारी के लिए निर्णयसागर की प्रकाशित चरकसंहिता में श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य की भूमिका देखनी चाहिए। महान् विश्यामलक विरचित 'पादताडितकम्' में कांकायन गोत्री ईशानचन्द्र वैद्य के पुत्र हरिचन्द्र का उल्लेख है। इस पर डा० अग्रवाल की टिप्पणी देखिए (पृ० १७९).

के ऊपर भी भानुमती टीका की थी। मुक्तावली तथा शब्दचन्द्रिका ये दो ग्रन्थ इनके बनाये कहे जाते हैं। मुक्तावली आयुर्वेद का शब्द-कोष है। इसमें आयुर्वेदीय ओषधियों के गुण और कर्म वर्णित हैं। चक्रपाणि टीका में आयुर्वेद के तथा उनसे सम्बन्धित पचास से ऊपर आचार्यों के नाम तथा उनके ग्रन्थों का उल्लेख आया है। आज उनमें से कई ग्रन्थ प्राय नहीं मिलते।

४ शिवदास सेन विरचित तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या—शिवदास सेन गौड देश (बंगाल में) मालञ्चिका ग्राम में उत्पन्न हुए थे,[1] इनके पिता का नाम अनन्त सेन था। बार्बकशाह, गौडदेश के अधिपति के समाश्रित थे। बार्बरशाह का राज्यकाल १४५७ से १४७४ ईस्वी तक था। मालञ्चिका गाँव पवना जिले में है।

शिवदास सेन ने चरक पर तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या, चक्रदत्त पर तत्त्व-चन्द्रिका व्याख्या, द्रव्यगुण सग्रह पर द्रव्यगुण सग्रह व्याख्या, अष्टागहृदय पर अष्टागहृदय तत्त्वबोध नामक व्याख्या की है।

५ नवीन व्याख्यानकारो मे श्री योगीन्द्रनाथ सेन की चरकोपस्कार तथा श्री गङ्गाधर कविरत्न की जल्पकल्पतरु व्याख्या है। इनमें चरकोपस्कार व्याख्या अपूर्ण है, परन्तु विद्यार्थियों के लिए बहुत ही हृदयङ्गम, सरल है। जल्पकल्पतरु व्याख्या दार्शनिक व्याख्या है।

भेल सहिता

पुनर्वसु आत्रेय के छ शिष्य थे—अग्निवेश, जतुकर्ण, पराशर, क्षीरपाणि, भेल और हारीत। इन सबने अपनी-अपनी सहिताएँ बनायी और ऋषियो समेत बैठे आत्रेय को सुनायी थी। इनमें से केवल दो सहिताएँ मिलती है, एक अग्निवेश की बनायी चरक से प्रतिसस्कृत चरकसहिता और दूसरी भेलसहिता। भेलसहिता त्रुटित रूप में है, जितना भी अश मिला है, उससे स्पष्ट है कि यह सहिता अग्निवेश के सहपाठी की ही है। इसमें बहुत से वचन उसी सहिता के उसी रूप में मिलते हैं।

---

१. मालञ्चिकाग्रामनिवासभूमौ गौडावनीपालभिषग्वरस्य।
अनन्तसेनस्य सुतो विधत्ते टीकामिमा श्री शिवदाससेन ॥'
(चक्रदत्त टीका)

योऽन्तरङ्गपदवीं दुरवापा छत्रमप्यतुलकीर्त्तिरवाप।
गौडभूमिपतेर्बार्बकसाहात् तत्सुतस्य सुकृतिन कृतिरेषा ॥
(द्रव्यगुण सग्रह व्याख्या)

अध्यायो का नामकरण भी बहुत मिलता है, शकाएँ भी एक-जैसी ही हैं। इस सहिता का प्रचार बहुत नही हुआ, जैसा कि अष्टागहृदय के वचन से स्पष्ट है (भेडाद्या–कि)।

भेलसहिता की छपी पुस्तक कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है। यह ग्रन्थ त्रुटित है। इस सहिता मे पृथिवीकाय, अप्काय, वायुकाय, तेज काय आदि शब्दो का उल्लेख है, (पृष्ठ ८७), बौद्ध साहित्य दीर्घ निकाय (१ से ५५ पृष्ठ) मे पृथिवीकाय, आपोकाय, ब्रह्मकाय, देवकाय आदि शब्द मिलते हैं।

भेलसहिता में कुछ नये विचार भी है। यथा—मन मस्तिष्क में रहता है, इसके बिगडने से उन्माद होता है (चित्त हृदयसश्रितम्—चित्त हृदय मे रहता है। हृदय से मस्तिष्क लेना या दिल लेना यह स्पष्ट न्ही। श्री दुर्गाशकर भाई जी ने मस्तिष्क लिया है। सबसे प्रथम मन दूपित होता है, फिर चित्त, चित्त के पीछे बुद्धि दूपित होने से उन्माद होता है—चि अ ८)।

हृदय का वर्णन सुश्रुत के वर्णन से मिलता है। यथा—

'पुण्डरीकस्य सस्थान कुम्भिकाया फलस्य च।
एतयोरेव वर्ण च विभर्त्ति हृदय नृणाम् ॥
यथा हि सवृत्त पद्म रात्रौ चाहनि पुष्यति।
हृत्तदा सवृत्त स्वप्ने विवृत्त जाग्रत. स्मृतम् ॥' (भेल सूत्रस्थान अ. २१).

सुश्रुत मे हृदय का उल्लेख (शा अ ४।३२) इसी के आधार पर है। हृदय से रस (रक्त) निकलता है और फिर शिराओ द्वारा इसी मे लौट आता है। यह बात चरक-सुश्रुत में नही है। चरक मे हृदय का ऐसा उल्लेख भी नही है।[१]

भेलसहिता का प्रचार किसी समय अवश्य रहा होगा, क्योकि इसके कुछ योग नावनीतक में आते हैं।

डल्लन ने भेल सहिता का उल्लेख किया है "इदानी भेलभालुकिपुष्कलावतादीना शल्यतन्त्रविदा मतेन विपमज्वरोत्पत्तिमभिधाय . (सुश्रुत उत्तरतन्त्र ३९। अ मे टीका)।

---

१ श्री दुर्गाशकर केवलराम जी शास्त्री जी की मान्यता है कि सुश्रुत के उत्तर तन्त्र के पीछे और नावनीतक के पूर्व ३०० ईस्वी के आस-पास इस सहिता की रचना हुई है। यह विचार अधिक सम्मत नहीं लगता, क्योकि इस काल की भौगोलिक, सास्कृतिक झलक उपलब्ध भेलसहिता में नहीं है; जब कि इस समय के दूसरे ग्रन्थो में वह है।

भेल सहिता का पाठ टीकाकारों ने उतारा है, यथा—माधवनिदान में ज्वर रोग की टीका में विजय रक्षित ने—"भेलोऽपि पैत्तिक पठयते।

आमाशयस्थ पवनो ह्यस्थिमज्जागतोऽपि वा।
कुपित कोपयत्याशु श्लेष्माण पित्तमेव च॥'

शिवदास सेन जी ने भी इस सहिता का पाठ उद्धृत किया है—

'नागर देवकाष्ठ च धन्याक बृहतीद्वयम्।
दद्यात् पाचनक पूर्व ज्वरिताय ज्वरापहम्॥'

भेल सहिता का काल—भेल सहिता या वर्तमान चरक सहिता का काल अर्थात् ६०० ई० पू० है (भेल सहिता की भूमिका)। आत्रेय का शिष्य होने से इसकी रचना प्राय अग्निवेश के बनाये चरक से मिलती है। चैत्ररथ वन का उल्लेख, गर्भ का कौन-सा अग प्रथम बनता है, भरद्वाज और आत्रेय का गर्भावक्रान्ति प्रश्न पर एक समान विवाद, इनको उसी समय का सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

भेल सहिता का विश्लेषण—भेल सहिता की रचना चरकसहिता के समान सूत्र स्थान, निदान, विमान, शारीर, चिकित्सा, कल्प और सिद्ध स्थान रूप में है। इस सहिता की बहुत-सी बाते चरक सहिता में मिलती हैं और कुछ अधिक भी है, (यथा —गुल्म पदार्थ और उनका स्वभाव—"दुष्टाना हन्तुकामाना परप्राणभृता यथा। हन्त्य-श्वरथयानाना सघातो गुल्म इष्यते॥ एव देहरसादीना धातूना विप्रकर्षणम्। ससर्गो गुल्म इत्युक्त सघातो गुल्म उच्यते॥ स्तम्भिनिस्तम्भिनीनातु (?) वल्लीना वीरुधा-मपि। सघातो गहन गुल्मस्तद्वद्गुल्मस्तु देहिनाम्॥ अमूर्त्तत्वाद्धि वा तस्य सवृत्तिर्नोप-जायते। सुवाय पित्तश्लेष्माणौ मारुतो गुल्मता व्रजेत्॥ मधूच्छिष्टमय पिण्ड चिन्वन्ति भ्रमरा यथा। तथा रो (को)ष्टे (ष्ठे)षु पवनो धातूस्तान् विचिनोत्यपि॥" 'सुवाय' शब्द इसमें स्पष्ट नहीं)।

चरक सहिता में महा, चतुष्पाद अध्याय में (सू अ १०) आत्रेय और मैत्रेय का सवाद चिकित्सा की सफलता एव निष्फलता के विषय में है। भेल सहिता में यही प्रश्न आत्रेय और भद्र शौनक के बीच में है (न त्वेता बुद्धिमात्रेय शौनकस्यानुमन्यते)॥

'पपतये कारण पक्तु यथा पात्र धनानि (त्रेन्धनानला)।
विजेतुर्विजयो (ये) भूमि (मे) श्चमू (म्व) प्रहरणानि च॥
मृद्दण्डचक्रसूत्राद्या कुम्भकाराहते यथा।
नावहन्ति गुणान् वैद्यादृते पादत्रय भिषक्।
विद्यात्तस्मात् चिकित्साया प्रधान कारण भिषक्॥' (सूत्र नवाँ).

चरक सहिता में ये श्लोक इसी प्रकार सू अ ९ मे ही आते है। इसी प्रकार गर्भ का कौन-सा अग प्रथम वनता है, इस सम्वन्ध में चरक सहिता की भाँति भिन्न-भिन्न ऋपियो के मत दिये गये हैं। इन मतो मे कुछ ऋपियो के मत दोनो सहिताओ में समान है (पक्वाशयो गुदमिति भद्रशौनक —चरक, पश्चा (क्व) द्गु(गु)द इति शौनक — भेल, २—नाभिरिति-भद्रकाप्य –चरक, नाभिरिति खण्डकाप्य-भेल, ३—शिर पूर्वमभिनिवर्त्तते कुक्षाविति कुमारशिरा भरद्वाज —चरक, शिर इति भरद्वाज – शरीरस्य तन्मूलत्वात्—भेल)। कुछ नाम नये भी है, यथा, पराशर का मत, चरक में यह मत काकायन का कहा गया है। भेल में आत्रेय का जो मत इस विपय में दिया गया है, वह चरकसहिता के मत से भिन्न है।

उदररोग की चिकित्सा में शस्त्रकर्म दोनो सहिताओ में एक ही प्रकार का है। सर्प विपवाले फल से भी चिकित्सा समान रूप से कही गयी है।

कुष्ठरोग मे खदिर का उपयोग विशेप रूप से दिया गया है। कुप्ठ में खदिर का विशेप उपयोग सुश्रुत मे भी है (चि अ ९।७०)। चरकसहिता में खदिर का उपयोग अवश्य आता है, परन्तु इसके लिए इतना जोर नही मिलता जितना भेल और सुश्रुत में है।

भेल सहिता में आत्रेय के लिए कृष्णात्रेय, पुनर्वसुरात्रेय, चान्द्रभागि शब्द प्राय आते हैं। जिससे स्पष्ट है कि इस भेल सहिता का सम्वन्ध अग्निवेश के गुरु आत्रेय से है, जैसा कि सहिता में भी कहा गया है "इति ह स्माह भगवानात्रेय"।

हारीत सहिता

वर्त्तमान काल में उपलब्ध हारीत सहिता वहुत अर्वाचीन है। कलकत्ते में १८८७ में यह छपी थी। पीछे गुजराती और हिन्दी मे छपी। इसकी भाषा, रचना-शैली पूर्णत अनार्प है। चक्रपाणि, विजयरक्षित आदि ने हारीत सहिता के जो उद्धरण दिये हैं, वे इसमें नही मिलते।

इसी प्रकार से अग्निवेश के नाम से कहा जानेवाला अजननिदान भी नवीन कृति है, क्योंकि इसके कुछ पाठ सुश्रुत सहिता में है, चरक सहिता में नही है।

अग्निवेश सहिता, जतुकर्ण सहिता, पाराशर सहिता, क्षीरपाणि सहिता प्राचीन काल में थी। इनके पाठ टीकाकारो ने उद्धृत किये है। आज वे उपलब्ध नही है। विशेष जानकारी के लिए प्रत्यक्ष शारीरम् तथा काश्यपसहिता का उपोद्घात देखना चाहिए।

सातवाँ अध्याय

नागवंश

भारशिव-वाकाटक और सुश्रुत संहिता

(लगभग १७६-३४० ई०)

पृष्ठ भूमि—अशोक के बाद के मौर्य राजा निकम्मे और कर्त्तव्य-विमुख निकले। उन्होंने अपनी कमजोरी को अशोक की क्षमा नीति से ढांपने का झूठा प्रयत्न किया। २१० ई० पू० में यह साम्राज्य टूटने लगा और भारत वर्ष चार मण्डलो में बँट गया, मध्यदेश, पूरब, दक्षिण और उत्तरापथ। इनमे नये राज्य उठ खडे हुए।

सबसे प्रथम दक्षिण और पूरब के मण्डल स्वतत्र हुए। दक्षिण मे सिमुल नाम के एक ब्राह्मण ने अपना राज्य स्थापित किया। इसके वश का नाम सातवाहन (= सालवाहन पाकृत) है। इसका प्रारम्भ महाराष्ट्र में हुआ। पीछे से यह आन्ध्र मे भी फैल गया और आन्ध्रवश कहलाने लगा (वाकाटक वश भी वाकाट स्थान से उत्पन्न होने के कारण वाकाटक कहलाया)। इस वश का राज्य अनेक उतार-चढाओ के साथ ४५० वरस तक वना रहा। कलिंग में २१० ई० पू० एक क्षत्रिय ने अपना राज्य स्थापित कर लिया था।

मौर्य साम्राज्य की निष्क्रियता से ऊबकर प्रजा और सेना विगड गयी थी। इसी से सेनापति पुष्यमित्र शुग ने समूची सेना के सामने वृहद्रथ राजा को मारकर शासन सँभाला। इसने मद्रदेश (स्यालकोट) तक विजय की। वौद्धो का दमन किया। इसका वेटा अग्निमित्र था (जिसको लेकर कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक लिखा)। इसका पौत्र वसुमित्र था। पुष्यमित्र के पीछे शुगो का आधिपत्य मथुरा तक जरूर वना रहा। इसके सामन्त मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्वी, भारहुत में राज्य करते थे (इस समय पाचाल क्षेत्र की राजधानी अहिच्छत्रा थी, काम्पिल्य नही—इसे स्मरण रखना चाहिए, चरक में काम्पिल्य राजधानी कही गयी)। शुग राजा पाटलिपुत्र के वजाय अयोध्या मे और कभी-कभी विदिशा (भेलसा) में भी रहते थे।

उत्तर की तरफ पर्याप्त उतार-चढाव हुए जिससे अफगानिस्तान और पश्चिमी पजाव मे चार यवन राज्य वन गये थे। एक कापिशी मे, दूसरा पुष्करावती में, तीसरा

तक्षशिला में, चौथा शाकल में। इन सब राज्यों के बहुत से सिक्के अब तक मिलते हैं। शाकल का राजा मिनाण्डर (महेन्द्र था)।

इन यूनानी राज्यों और शुंग साम्राज्य के बीच पूर्वी पंजाब, राजपूताना, काठियावाड में बहुत-से गणराज्य बन गये थे। इनमें सतलज के निचले कांठे पर यौधेय नाम का एक मजबूत गणराज्य था। कुणिन्द नाम का शक्तिशाली राज्य हिमालय की तराई में व्यास से जमुना तक था। दक्षिण में सातवाहन वंश के राजा राज्य करते थे। परन्तु पश्चिम में ऐसी कोई शक्ति नहीं उठी। इसी कारण इसकी राजधानी उज्जैन के लिए चारों तरफ की शक्तियों में छीना-झपटी रही (क्योंकि यह मुख्य स्थान था, यहाँ से दक्षिण-पूरब का रास्ता खुलता है)। इसलिए उज्जैन कई शताब्दियों तक रणस्थली रहा। शकों का पहला धावा काठियावाड और उज्जैन पर हुआ। शकों ने १०० ई० पू० में सम्भवत उज्जैन जीता और ५८ वर्षों तक राज्य किया। तब प्रतिष्ठान (पैंठन) से आकर राजा विक्रमादित्य ने (गौतमी पुत्र शातकर्णी) इनको हराया। शकों का संहार करके विक्रम संवत् चलाया।

दूसरी शती ई० पू० में भारत में चार बड़ी शक्तियाँ थी, पाँचवी शक्ति के रूप में शक आये थे। मध्यदेश के शुंग राज्य और उत्तरापथ के राज्यों को शकों ने मिटा दिया था (कनिष्क शक था)। तब केवल दो शक्तियाँ बची थी, एक शक और दूसरी सातवाहन। सातवाहनों की समृद्धि अद्वितीय थी। सातवाहनों ने शकों को जड से उखाड फेंका था। गौतमीपुत्र का बेटा वासिष्ठी पुत्र पुलुमावी बहुत योग्य राजा था। सातवाहनों में से एक राजा हाल में बहुत प्रसिद्ध हुए जिनकी बनाई सप्तशती है।

सातवाहनों का राज्य दूसरी शती के अन्त में टूटने लगा। आन्ध्र देश में इस समय ईक्ष्वाकु वंश ने राज्य किया, उसकी राजधानी श्री पर्वत (कृष्णा नदी के दक्षिण नालमलै पर्वत गुण्टूर जिले में) थी। काठियावाड में छोटे-छोटे गण राज्य बन गये।[1]

भारशिवों का उदय—दूसरी शती ई०पू० के अन्त में विदिशा (भेलसा) में क्षत्रियों का राज्य था। नहपान शक ने जब विदिशा जीता तब वे सिन्ध और पार्वती के संगम पर पद्मावती (आधुनिक पदमपवाया) में चले गये। ७८ ई० में भारत में ऋषिकतुखारों का (कुषाणों का) साम्राज्य स्थित होने पर स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए नर्मदा के दक्षिण जंगलों में जा बसे। इन्हीं नाग क्षत्रियों के नाम से नागपुर बसा। दूसरी शती के मध्य में (लगभग १४०-१७० ई०) में राजा नवनाग हुआ। उसने अपने जंगल

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार के 'इतिहास प्रवेश' के आधार पर।

के आसरे ने आधुनिक बघेलखंड के रास्ते गंगा-कांठे की तरफ बढ़कर तुखार साम्राज्य के पूर्वी छोर पर चोट की। कौशाम्बी को जीत लिया और कान्तिपुर (मिर्जापुर के पास आधुनिक कन्तित) में अपना नया राज्य बनाया। कान्तिपुर के राजा शिव के उपासक थे, इन्होंने अपने वंश का नाम भारशिव रखा*। नवनाग के उत्तराधिकारी वीरसेन (लगभग १७०-२१० ई०) ने मथुरा से भी तुखार सत्ता उठा दी। पद्मावती और मथुरा में भी नाग राजवंश की शाखाएँ स्थापित हो गयीं। इनके लिए ताम्र पत्र पर लिखा है —

"अंशभारसन्निवेशितशिवलिंगोद्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादितराजवंशानाम् पराक्रमाधिगत-भागीरथी अमलजलमूर्द्धाभिषिक्तानाम् दशाश्वमेध अवभृतस्नानानाम् भारशिवानाम्"

उन भारशिवों (के वंश) का, जिनके राजवंश का आरम्भ इस प्रकार हुआ था कि उन्होंने शिव लिंग को अपने कंधे पर वहन करके शिव को भलीभाँति परितुष्ट किया था, वे भारशिव जिनका राज्याभिषेक उस भागीरथी के पवित्र जल से हुआ था, जिसे उन्होंने

---

* इस विषय को डाक्टर के० पी० जायसवाल ने बहुत ही विस्तार से 'अन्धकार युगीन भारत' में स्पष्ट किया है। कुषाण काल से गुप्तवंश के बीच का समय इससे पहले अन्धकार में था।

भारशिवों की शिव के साथ बहुत समानता थी। इनके नामों के पीछे नाग शब्द आता था, शिवजी के चारों ओर जैसे गण रहते थे—इनके राज्य के चारों ओर भी गणराज्य थे। जिस प्रकार शिवजी बराबर योगियों की तरह रहते हैं, उसी प्रकार भारशिवों का शासन भी बिलकुल सरल था। उनकी कोई भी बात शानदार नहीं थी। उन्होंने कुशन साम्राज्य के सिक्कों और उनके ढंग की उपेक्षा की और फिर से पुराने हिन्दू ढंग के सिक्के बनाने आरम्भ किये। उन्होंने शानशौकत नहीं बढ़ायी। शिव के समान उन्होंने जान-बूझकर दरिद्रता अंगीकार की। उन्होंने हिन्दू प्रजातन्त्रों को स्वतन्त्र किया और उन्हें इस योग्य कर दिया कि वे अपने यहाँ के लिए जैसे सिक्के चाहें, वैसे सिक्के बनायें और जिस प्रकार चाहें, जीवन निर्वाह करें। ये लोग अश्वमेध करते थे, परन्तु एकराट् या सम्राट् नहीं बनते थे। सदा राजनीतिक शैव बने रहे और सार्व राष्ट्रीय दृष्टि से साधु और त्यागी रहे।—'अन्धकार युगीन भारत' पृष्ठ ११०।

अपने पराक्रम से प्राप्त किया था, वे भारशिव जिन्होंने दस अश्वमेध करके अवभृथ स्नान किया था।

दूसरे राजाओं ने दो या चार अश्वमेध यज्ञ किये थे; इन्होंने दस अश्वमेध यज्ञ किये थे, इसीलिए ये मूर्धाभिषिक्त कहे गये हैं। ये दस अश्वमेध सम्भवत बनारस के दशाश्वमेध घाट पर ही किये गये हों, क्योंकि इनकी राजधानी कान्तिपुर इसी के पास है। काशी—शिव का निवास स्थान माना जाता है।

भारशिवों ने गंगा तट पर पहुँचकर अपने देश को राष्ट्रीय संकटों से मुक्त करने का भार अपने ऊपर लिया था। (कुशाणों के राज्यकाल में हिन्दूजाति बौद्धों को जिस दृष्टि से देखती थी, उसका उल्लेख महाभारत वन पर्व १८८ में आया है। यथा—उस समय आन्ध्र, शक, पुलिन्द, यवन, कम्बोज, वाह्लीक और आभीर शासन करेंगे। वेदों के वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे। शूद्र लोग ब्राह्मणों को 'भो' कहकर बुलायेंगे, ब्राह्मण इनको आर्य कहेंगे। लोग इहलौकिक बातों में बहुत अनुरक्त होंगे। सब कर्मकाण्ड और यज्ञ लुप्त हो जायेंगे। उस समय सब एक वर्ण हो जायेंगे। देवताओं की पूजा वर्जित कर देंगे, हड्डियों की पूजा करेंगे—(यह स्पष्ट संकेत बुद्ध या मिलिन्द के अस्थि शेषों पर बने स्तूपों से है, देवताओं के पवित्र स्थानों पर एडूक—बौद्ध स्तूप बनेंगे—जिनके अन्दर हड्डियाँ रखेंगे, यह संकट था)।

भारशिव राजाओं के समय बौद्ध धर्म की बहुत अधिक अवनति हो गयी थी। उसने अहिन्द स्वरूप धारण कर लिया था। इसका कारण यही था कि उसने कुशानों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। इससे इनकी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता नष्ट हो गयी थी। परन्तु स्थिति इतनी बदल गयी थी जिससे न वैदिक समाज वापस आ सकता था और न वैदिक धर्म अपने पुराने रूप में (कर्मकाण्ड) में लौट सकता था। बौद्ध धर्म के कारण जनता के विचारों में बहुत परिवर्तन आ गये थे। इसलिए वैदिक धर्म को जगाने की जो लहर उठी वह बौद्ध धर्म के सुधार की सब प्रवृत्तियों को लेकर चली।

बौद्ध धर्म आचार प्रधान था। ईश्वर और देवताओं की पूजा के लिए उसमें जगह न थी। जन साधारण का काम बिना देवता के चल नहीं सकता था। अनार्यों में भी जडपूजा का स्थान और मान है। शूरसेन देश में वासुदेव कृष्ण की पूजा चलती थी। भारत में जितने भी देवता पूजे जाते थे, उनमें विष्णु, शिव, सूर्य, स्कन्द आदि की भिन्न-भिन्न शक्तियों के सूचक विभिन्न रूप हैं। यही अवतार वाद की कल्पना बनी। पहले देवताओं की पूजा यज्ञों द्वारा होती थी, अब उनकी मूर्त्ति बनाकर मन्दिरों में पूजा की जाने लगी। मूर्त्तियाँ देवताओं की शक्ति का प्रतीक समझी जाने लगी।

४।२९ में "दक्षिणपथगाश्च गन्धा वातघ्नानि"—सुगन्धित द्रव्य दक्षिण में ही होते हैं—इसलिए उनका उल्लेख है।

श्रीपर्वत का वर्तमान नाम नालमलै है। गुंटूर जिले में कृष्णा नदी के किनारे नागार्जुन-कोंड अर्थात् नागार्जुन की पहाड़ी पर कई शिलालेख मिले हैं। इनके आधार पर श्रीपर्वत की ठीक स्थिति का ज्ञान हो जाता है। इन पहाड़ियों के बीच में एक उपत्यका या घाटी है, इन पहाड़ियों पर उन दिनों किलेबन्दी थी। सैनिक कार्यों के लिए यह स्थान बहुत ही उपयुक्त था, एक दृढ गढ का काम देता था। इस स्थान पर बौद्धों के संगमरमर के कुछ स्तूप मिलते हैं, उनके आधार पर इस स्थान का नाम 'श्रीपर्वत' निश्चित किया गया है। यह अनुश्रुति बहुत पुरानी है कि सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु और विद्वान् नागार्जुन श्रीपर्वत पर चला गया था। उसकी मृत्यु यहीं पर हुई थी। इसी से उन पहाड़ी को आजतक नागार्जुनी कोंड कहते हैं। युवानच्वांग ने लिखा है कि नागार्जुन सातवाहन राजा के दरबार में रहता है। (हर्षचरित में भी बाण ने इसका उल्लेख किया है—"नागलोक से वासुकी से प्राप्त मोतियों की एक लडी मन्दाकिनी नामकी माला को लाकर अपने मित्र समुद्राधिपति सातवाहन नामके राजा को नागार्जुन ने दी थी। वही माला आचार्य दिवाकर ने हर्ष को दी थी)। नागार्जुन और सातवाहन की मैत्री का सम्बन्ध प्रसिद्ध है। नागार्जुन ने सातवाहन राजा को बौद्ध धर्म का सार एक पत्र में लिखकर भेजा था। सुहृल्लेख नामक उस पत्र का अनुवाद तिब्बती भाषा में सुरक्षित है।

सातवाहन काल दूसरी और तीसरी शताब्दी का है। नागार्जुन का समय भी इसी के आस-पास होना चाहिए। नागार्जुन सिद्ध थे, उनका निवास श्रीपर्वत था, इसलिए सिद्धि प्राप्ति के लिए वह महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा।[1] वज्रयान (महायान

---

[1] 'भगवति, सेदानीं सौदामिनी समासादिताश्चर्यमन्त्रसिद्धप्रभावा श्रीपर्वते कापालिकव्रते धारयति॥'—मालती माधव।

'अद्य किल भर्ता श्री पर्वतादागत्य श्रीखण्डनामधेयस्य धार्मिकस्य सकाशादकाल कुसुमसजननदोहद शिक्षयित्वात्मन. परिगृहीता नवमल्लिका कुसुमसमृद्धिशोभिता करिष्यतीति तत्रैव वृत्तान्त ज्ञातु देव्या प्रेषितास्मि॥'—रत्नावलि २रा अंक।

१ महाभारत में, आरण्यपर्व में, श्री पर्वत का उल्लेख है—

'श्री पर्वत समासाद्य नदीतीरमुपस्पृशेत्।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोक च गच्छति॥

से निकला—बौद्ध वाममार्ग पन्थ) छठी ई० में आन्ध्र देश के श्रीपर्वत पर पहले पहल प्रकट हुआ। वज्रयान ने बुद्ध को वज्रगुरु बनाया। वज्रगुरु उसे कहते है, जिसे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो। सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए अनेक गुह्य साधनाएँ करनी पडती थी।

वाकाटक—समुद्रगुप्त की विजयो से प्राय एक सौ बीस वर्ष पूर्व वाकाटक राज्य की नीव पडी। आजकल के पन्ना शहर के पास किलकिला नामक छोटी-सी नदी है, जो आगे केन में जा मिलती है। इस किलकिला प्रान्त में भारशिवो का एक सामन्त और सेनापति रहता था, जो विन्ध्यशक्ति के नाम मे प्रसिद्ध था। यही वाकाटक या विन्ध्यवश का था।

भारशिव साम्राज्य की सब शक्ति वाकाटको के हाथ में चली गयी थी। भारशिव राज्य में मालवा प्रान्त, बघेलखण्ड से बस्तर तक का इलाका और दक्खिन कोशल का छत्तीस गढ था। वाकाटको ने अब दक्षिण प्रदेश जीते। इससे सातवाहन, इक्ष्वाकु राजवश (जिसका सम्बन्ध श्रीपर्वत से था) की समाप्ति हुई। वाकाटक और पल्लव वश का आपस में बहुत सम्बन्ध था।

विन्ध्यशक्ति के बेटे प्रवरसेन ने ६० वर्ष तक राज्य किया, इसके समय साम्राज्य की बहुत उन्नति हुई। भारशिव सम्राट् भवनाग ने अपनी इकलौती बेटी प्रवरसेन के बेटे गौतमीपुत्र वाकाटक को दी थी और अपने दोहते को उत्तराधिकारी बनाया था। इस प्रकार से दोनो वश एक हो गये। प्रवरसेन के पीछे जितने राजा हुए उन सब के नामो के पीछे सेन शब्द आता है। प्रवर सेन के बाद उसका पोता रुद्र सेन गद्दी पर बैठा था। रुद्रसेन प्रथम का पुत्र पृथिवी षेण हुआ। पृथिवी षेण की राजनीति, बुद्धिमत्ता वीरता और उत्तम शासन की बहुत प्रशसा की जाती है। इसने कुन्तल के राजा को जीता था और इसकी कन्या से विवाह किया था। कुन्तल देश कर्नाटक देश (कदम्ब देश) का एक अग था। इस पृथिवी षेण प्रथम के पुत्र रुद्र सेन द्वितीय का विवाह चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की कन्या प्रभावती से हुआ था। इस प्रभावती गुप्त का जन्म सम्राज्ञी कुबेरनागा के गर्भ से हुआ था, जो नागवश की राजकुमारी थी।

श्री पर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युति।
न्यवसत् परमप्रीतो ब्रह्मा च त्रिदशैर्वृत ॥' ८६।१६-१७

आठवीं से ग्यारहवीं शती तक ८४ सिद्ध हो चुके थे। इनमें ही एक सिद्ध नागार्जुन था, जिसका सम्बन्ध वज्रयान से था। सिद्ध होने से इसे सिद्धियाँ प्राप्त थीं। इसने ही रसायनशास्त्र को जन्म दिया था। आयुर्वेद में रसशास्त्र का विकास इसी से हुआ।

वाकाटकों ने त्रिकूट, कुन्तल, आन्ध्र राजाओं पर विजय प्राप्त कर ली थी, भारशिवों से उत्तराधिकार में जो मिला था वह इससे अलग था। इनकी राजधानी का नाम चनका या काचनका था। वाकाटकों में प्रवर सेन और रुद्र सेन ये दो बहुत प्रतापशाली हुए। यह निश्चित है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में ही पृथिवी षेण प्रथम और रुद्र सेन द्वितीय हुए थे।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने एक नयी नीति चलायी थी। जो राज्य किसी समय उनके वंश के शत्रु थे उनके साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करता था। इसी से उसने अपनी कन्या प्रभावती का विवाह वाकाटक शासक रुद्रदमन द्वितीय के साथ कर दिया था। कदम्ब राजा की एक कन्या का विवाह अपने वंश के एक राजकुमार से कर दिया था। स्वयं उसने अपना विवाह कुबेरनागा के साथ किया जो कि नाग राजकुमारी थी।

वाकाटकों का जिस भाग में प्रत्यक्ष शासन था, उसकी सीमा दक्षिण में कुन्तल की सीमा से मिलती थी। दक्षिण के आन्ध्र पल्लव भी वाकाटकों के समान भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। पल्लवों से पहले इक्ष्वाकु वंश राज्य करता था, इनकी राजधानी श्री पर्वत थी। सातवाहनों के पतन के बाद इनका अभ्युदय हुआ। समुद्रगुप्त ने पल्लवों को जीता था।

पृथिवी षेण का दूसरा पुत्र अपने पिता के पीछे गद्दी पर बैठा था। इसका नाम प्रवर सेन द्वितीय था। इसका पुत्र नरेन्द्र सेन आठ वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा था। इसने योग्यता से शासन किया था। इसका विवाह कुन्तल के राजा की कन्या 'अज्झिता' के साथ हुआ था। इससे स्पष्ट है कि इसका कुन्तल पर प्रभाव था या उससे घनिष्ठ मैत्री थी।

इस प्रकार दक्षिण से सम्बन्ध विशेष रूप में वाकाटक काल में होता है। यही समय सुश्रुत संहिता का होना चाहिए क्योंकि इसमें दक्षिण देश का उल्लेख, बौद्धों के प्रति घृणा ब्राह्मणों के प्रति विशेष आदर, वर्णभेद आदि बातें मिलती हैं।

सुश्रुत संहिता

सुश्रुत संहिता में उपदेष्टा काशिराज धन्वन्तरि है। श्रोता रूप में सुश्रुत-औपधेनव, वैतरणी, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित आदि हैं। सम्पूर्ण सुश्रुतसंहिता सुश्रुत को सम्बोधन करके कही गयी है। सुश्रुत के लिए 'वत्स' विशेषण प्रायः आता है (उपनिषदों में शिष्य के लिए सौम्य सम्बोधन प्रायः आता है)। सुश्रुत ने शल्यशास्त्र के अध्ययन की इच्छा प्रकट की थी, इसलिए धन्वन्तरि ने इसी अंग का उपदेश दिया। इस अंग की प्रमुखता का कारण भी बता दिया है, क्योंकि प्राक्काल में देवताओं,

४ बौद्ध भिक्षुओं के बरतनेवाले वस्त्र सघाटी को (दो चादरें सीकर ऊपर ओढने का वस्त्र जो कि कटि से ऊपर ओढा जाता है) घृणित वस्तुओं के साथ पढा है, पुरीष कौक्कुट केशाश्चर्म सर्पत्वच तथा। जीर्णा च भिक्षुसघाटी धूपनायोपकल्पयेत् ॥ (उत्तर ३३।६) डल्हण ने भिक्षु का अर्थ शाक्य भिक्षु बौद्ध परिव्राजक किया है। यही श्लोक काश्यप सहिता मे भी आया है—("कुक्कुटस्य पुरीष च केशाश्चर्म पुराणकम्। जीर्णा च भिक्षुसघाटी सर्पनिर्मोचन घृतम् ॥ धूपमेत प्रयुञ्जीत सन्ध्या-काले मुखडकरम ॥ बालगुरुचिकित्सा पृष्ठ ७०)। सहिता में इस प्रकार का उल्लेख नही आता।

५ सुश्रुत सहिता मे राम-कृष्ण का नाम स्पष्ट आता है (महेन्द्र रामकृष्णाना ब्राह्मणाना गवामपि। तपसा तेजसा वापि प्रशाम्यध्व शिवाय वै ॥ चि अ ३०।२७)। इसमें राम से बलराम और कृष्ण भी—भागवत सम्प्रदाय का उल्लेख ज्ञात होता है, जो कि शूरसेन देश में विशेष प्रचलित था। हिन्दू धर्म का यह रूप दूसरी क्रान्ति में आया जो कि प्रथम शताब्दी से चौथी शताब्दी के बीच का समय था। यह लहर चली थी पुराने वैदिक धर्म को जगाने के लिए, परन्तु इससे नया पौराणिक धर्म चल पड़ा (इतिहास प्रवेश)।

सुश्रुत का प्रतिसस्कर्त्ता नागार्जुन था, इसमे कोई भी प्रमाण नही मिलता। डल्हण ने किस आधार पर यह निश्चय किया, इसकी भी साक्षी नही मिलती। यदि बौद्ध नागार्जुन जिसे चौरासी सिद्धो मे भी गिना गया है, इस उपलब्ध सुश्रुत से सम्बन्धित था, इसके लिए कोई भी पुष्ट प्रमाण नही है।

सुश्रुत का दक्षिण भारत और उत्तर भारत भूमि से परिचय—चरक सहिता का भौगोलिक क्षेत्र मुख्यत भारत का पश्चिमोत्तर प्रान्त है। सुश्रुत का परिचय लगभग सारे भारत से है। पूर्व मे कलिंग देश से है। सुश्रुत मे जो मान दिया है, वह कलिंग मान के अनुसार ही है। उत्तर में काश्मीर नाम (चि अ ३०।३२), उत्तरकुरु (चि अ २९।१७) का उल्लेख आता है। उत्तर कुरु को आजकल यानशान कहते है, जिसका अर्थ देवताओं का पर्वत है। डाक्टर मोतीचन्द्र जी ने उत्तर कुरु का अपभ्रश रूप ऋारैन माना है। जिसकी पहिचान चीनी इतिहास के लूलान से की है, यह शक शब्द है (सार्थवाह पृष्ठ ११)।

हिमालय पहाड की चोटी पर, सह्याद्रि, महेन्द्र पर्वत, मलयाचल, श्रीपर्वत, देवगिरि, सिंधु नदी, आदि है। (चि अ २९।२७-३०)।

सहिता का विभाग—सूत्रस्थान मे ४६ अध्याय, निदान-स्थान मे १६; शारीर स्थान में १०, चिकित्सास्थान में ४०, कल्पस्थान मे ८, और उत्तर तत्र मे ६६ अध्याय है। उत्तरतत्र को छोडकर मुख्य शल्यतन्त्र शेप अध्यायो में वर्णित है।

सुश्रुत का प्रवक्ता एक राजा है, इसीलिए इस प्रवचन में अभिमान है (अह धन्वन्तरिरादिदेवो—सू० १।३१), आयुर्वेद का दान करने के लिए माँगनेवालो के लिए—अर्थिम्य—याचको के लिए देना कहा है। चरक सहिता या अन्य सहिताओ मे ऐसे वचन नही मिलते, अपितु रोग शान्ति के उद्देश्य से—आरोग्य के हेतु इसका प्रचार मिलता है। काशिराज का उपदेश एक ही स्थान पर बैठकर है स्थान-स्थान विचरण करते हुए नही है। इस समय अध्ययन उपनिपद् की भाँति अन्तेवासी रूप मे होता है, चरको की भाँति नही होता, जो कि गुरु के साथ घूम-घूम कर विद्याध्ययन करते थे।

सुश्रुत मे चरक सहिता के समान ऋषि समूह के साथ विचार विनिमय; ऋषियो के भिन्न-भिन्न मत नही मिलते। न इसमे न्याय, वैशेपिक, योग आदि दर्शनो का चरक जितना उल्लेख मिलता है। साख्य मत से पुरुष की उत्पत्ति बतायी गयी है। इन्द्रियो को पच महाभूतो से सम्बद्ध माना है। साख्य मे इन्द्रियो की उत्पत्ति अहकार से मानी गयी है (साख्यकारिका २२—प्रकृतेर्महास्ततोहङ्कारस्तस्माद् गणश्च पोडशक) साख्य मे वैकारिक अहकार से ग्यारह इन्द्रियाँ और पच तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। सुश्रुत मे पचतन्मात्राओ की उत्पत्ति भूतादि अहकार से मानी गयी है। यह दोनो में भेद है।

सुश्रुत के समय में भी भिन्न-भिन्न वाद प्रचलित थे। वैद्यक शास्त्र में इन सब वादो का उपयोग किया गया है। भिन्न-वाद—

'स्वभावमीश्वर काल यदृच्छां नियति तथा।
परिणाम च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिन.।' (शा. अ. १।११)

स्थूल बुद्धिवाले प्रकृति को भिन्न-भिन्न रूप मे समझते हैं। कोई इसको स्वभाव रूप में जानता है, कोई इसका कर्त्ता ईश्वर मानता है, कोई काल, कोई यदृच्छा अपने आप बनी रहती है। कोई इसे नियति, भाग्य का परिणाम गिनता है और कोई इसे परिणाम रूप मानता है। आयुर्वेद में इन सब मान्यताओ का उपयोग कहीं पर मिलता है, यथा—काँटो में तीक्ष्णता, मृत-पक्षियो में चित्र-विचित्र रग स्वभाव का परिणाम है। मनुष्य जड है। आत्मा सुख-दु ख का स्वामी है, यह ईश्वर की

मानसोल्लास अ ३।४।२३०); इसका यौवन साठ वर्ष में आता है; इसकी आयु १२० वर्ष होती है। यौवनकाल वय का मध्यकाल है।

सत्ता वताता है। सृष्टि का प्रलय ऋतु चक्र यह काल से होता है। तृण और अरणी के सयोग से अग्नि की उत्पत्ति यदृच्छा है। उत्पत्ति में धर्म-अधर्म को कारण मानना नियति वाद है। प्रकृति से महान्, महान् से अहकार की उत्पत्ति परिणाम-वाद है।

शल्य तत्र का क्रियात्मक ज्ञान से सम्बन्ध अधिक होने के कारण इसकी शिक्षा देने के लिए "योग्यासूत्रीय" अध्याय सुश्रुत में दिया गया है। इसमें किस कर्म का किस वस्तु पर अभ्यास करे, उसका विशेष उल्लेख है, यथा—कूष्माण्ड, दूधी, तरबूज, खीरा, ककडी आदि वस्तुओं में छेदन कर्म का अभ्यास दिखाना चाहिए। ऊपर को काटना, नीचे को काटना आदि कार्य भी इन्हीं पर दिखाना चाहिए। मश्क, वस्ति, प्रसेवक (चमडे की थैली) आदि पानी एव कीचड से भरी वस्तुओ में भेदन कर्म दिखाये। बालवाली खाल पर लेखन कार्य को, मरे हुए पशुओं की सिराओं में तथा कमलनाल में वेधन कर्म को दिखाये। घुण से खायी लकडी में, सूखी तुम्बी के मुख में ऐषण कार्य को, कटहल, बिम्बी, बिल्वफल की मज्जा मे एव मृत पशु के दाँतो में आहर्य कार्य को दिखाये। सूक्ष्म-घट्ट दो वस्त्रों में, कोमल त्वचाओं मे सीवन कार्य का अभ्यास कराये। पुस्त (मिट्टी या लकडी के बने मौडल), के अग-प्रत्यगो पर पट्टी का अभ्यास करना चाहिए। मृदु मास के टुकडो पर अग्नि और क्षार का अभ्यास कराये। (सू० अ० ९।४)।

शवच्छेद सीखने का भी उपाय वताया गया है। शल्य शास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान बिना सशय के जाननेवाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह मृत शरीर का शोधन करके अगप्रत्यग का निश्चय करे। जो वस्तु आँख से पृथक् देख ली जाती है, शास्त्र से भी जिसे समर्थन प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार दोनो प्रकार से जानना ही ज्ञान को बढाता है। इसलिए सपूर्ण अगोवाले, विष से न मरे हुए, बहुत लम्बी बीमारी से न मरे, एक सौ वर्ष की आयु से कम व्यक्ति के शव मे से आत्र और मल निकाल कर पुरुष के शव को बहते हुए जलवाली नदी में पिञ्जरे के अन्दर मूँज, वल्कल, कुश, सन आदि से लपेटकर एकान्त स्थान में रखकर गलाये। भली प्रकार नरम हो जाने पर इसको निकालकर सात दिन तक खस, बाल, बाँस, वल्वज की बनायी किसी एक कूर्च्ची (ब्रश) से धीरे-धीरे रगडते हुए त्वचा से लेकर अन्दर और बाहर के प्रत्येक अग-प्रत्यग को देखना चाहिए (शा० अ० ५।४७-४९)।

व्रणितागार (अस्पताल)—रोगी के लिए सबसे प्रथम एक घर चाहिए। इसमें रोगी की शय्या, पीडारहित, असकुचित (पर्याप्त लम्बी-चौडी), सुन्दर गद्देवाली, रमणीय होनी चाहिए। शय्या का सिरहाना पूर्व की ओर रखना चाहिए। इस

पर शस्त्र रखना चाहिए ।[1] इस शय्या के पास मित्र लोग नयी-नयी बातें सुनाकर रोगी के व्रण की तकलीफ दूर करते रहें, ये मित्र उसे बराबर सान्त्वना देते रहें ।

रोगी के पास स्त्रियो का जाना (स्त्री परिचारिकाएँ) निषिद्ध किया गया है। विशेषत गम्य, ग्राम्यधर्म के योग्य स्त्रियो का दर्शन, इनके साथ बात-चीत, इनका स्पर्श सर्वथा ही छोड देना चाहिए (अगम्य स्त्रियो का तो प्रश्न ही नही) । क्योकि कभी अकस्मात् स्त्रीदर्शन से शुक्रस्राव हो जाय तो ग्राम्यधर्म के बिना भी वे विकार उत्पन्न हो जाते हैं। (सू० अ० १९।१४-१५)।

रोगी के खान-पान का विधान बताकर उसकी आधिदैविक चिकित्सा भी कही गयी है। यह आधिदैविक चिकित्सा मन की तथा शरीर की पवित्रता से सम्बन्ध रखती है। रोगी को नख और बाल कटाकर साफ श्वेत वस्त्र धारण करके रहना चाहिए। मन की शान्ति, मगल, देवता, ब्राह्मण, गुरु की आज्ञा में सदा तत्पर रहना चाहिए। यह सब इसलिए है कि हिंसा में रुचि रखनेवाले, बडे शक्तिशाली, महेश, कुवेर, कार्तिकेय की आज्ञा पालन करनेवाले राक्षस मास एव रक्त की चाह से व्रणी रोगी के पास आते हैं। इनके आने का उद्देश्य पूजा प्राप्त करना या गतायुष को मारना है। ये अनुचर जितेन्द्रिय, सावधान पुरुष को नही मार सकते। इसलिए सुन्दर घर में (साफ घर में) मगल, सुन्दर, अनुकूल कथाओ को सुनता रहे (यह सब कृमि, जर्म्स के लिए कहा गया है, सग्रह मे इनको भूत शब्द से कहा है। सग्रह, उत्तर १७) जर्म्स की एक ही प्रवृत्ति है, केवल आहार प्राप्त करना। दूसरा इनको कोई कार्य नही, आहार भी मास, रक्त, वसा का ही है। सदा ये अन्धकार में रहते हैं। (आधी रात में या अन्धकार में आक्रमण करते हैं) । इनसे बचाने के लिए रोगी मे आत्मबल, मनोबल लाने के लिए यह उपचार है।

यंत्रशस्त्र—शस्त्र कर्म के उपयोगी साधनो को यत्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, जलौका के रूप में चार अध्यायो में वर्णन किया है। यत्रो की सख्या एक सौ एक बतायी गयी है। इनमें प्रधान यत्र हाथ ही है। मन और शरीर में जिससे कष्ट पहुँचे उसे शल्य

---

१. प्रसवकाल में सूतिका के सिरहाने या उसके पास लोहे की कोई वस्तु कैंची, चाकू, कील आदि रखने का रिवाज आज भी है। सम्भवत. अकेला रहने पर रोगी कभी स्वप्न में या अन्य प्रकार से डर जाय तब शस्त्र पास में रहने से थोडा-सा बल मिले इसलिए यह सुविधा की गयी हो।

कहते हैं (सुश्रुत के मत से शोक और चिन्ता भी शल्य है)। इन शल्यों को निकालने के लिए यन्त्र है।

यन्त्र छ प्रकार के हैं—स्वस्तिक, संदंश, ताल, नाडी, शलाका और उपयन्त्र। यन्त्रकर्म चौबीस प्रकार के हैं, परन्तु चिकित्सक को चाहिए कि अपनी बुद्धि से और भी कर्मों को सोच ले। यन्त्रों में बारह दोष होते हैं, यथा—बहुत मोटा होना, सार न होना (टूट जाना, कमजोर), बहुत लम्बा, बहुत छोटा, पकड में न आना, कठिनाई से पकडा जाना, टेढ़ापन, ढीला रहना, बहुत उठा होना, जोड का ढीला होना, कोमल मुख; पकड ढीली रहना—ये बारह दोष यन्त्रों के हैं।

शस्त्रों की संख्या बीस है। ये सब शस्त्र अच्छी पकडवाले, अच्छे लोहे के, उत्तम धारवाले, देखने में सुन्दर जिनके मुख आपस में ठीक तरह मिलते हों, भयानक डरावने नहीं होने चाहिए। शस्त्र का टेढा, कुण्ठित, टूटा हुआ, खुरदुरी धारवाला (आरी के समान), बहुत मोटा, बहुत छोटा, बहुत लम्बा, बहुत तुच्छ होना दोष है। इनमें आरी का खुरदरी धारवाला होना अच्छा है।

शस्त्रों की धार चार प्रकार की होती थी। भेदन कार्य में आनेवाले शस्त्रों की धार मसूर के पत्ते के समान मोटी, लेखन कार्य के शस्त्रों की धार मसूर के पत्ते की मोटाई से आधी, वेधनशस्त्रों की धार तथा विस्रावण शस्त्रों की—बाल के समान, छेदनशस्त्रों की धार आधे बाल के समान होती थी। इन शस्त्रों की पायना (पानी चढाना) तीन प्रकार की है, क्षार में, पानी में और तेल में। शस्त्रों को तेज करने के लिए चिकनी शिला होती है। इसका रंग उडद के समान काला, धार को सुरक्षित रखने के लिए सिम्बल के डिब्बे होते हैं (विनयपिटक में भी इस प्रकार के डिब्बे, थैलों का उल्लेख भिक्षुओं के लिए कहा गया है)।

शस्त्र की तीक्ष्णता की पहचान—जब अच्छी प्रकार से तेज किया शस्त्र बाल को काट सके, *अच्छी प्रकार बना हो, ठीक प्रकार से उचित रूप में बना हो*, तब उचित रूप में पकडकर काम में लगाना चाहिए। इन शस्त्रों को बढिया लोहे से बनाना चाहिए। इनके लिए अपने कर्म में होशियार, लुहार से तीक्ष्ण शुद्ध लोहे के शस्त्र बनवाने चाहिए।

क्षार, अग्नि और जलौका के लगाने-बनाने रखने आदि के विषय में पूर्ण जानकारी दी गयी है। इसके आगे कर्णबन्धन के विषय में उल्लेख है। कर्णबन्धन का विषय आगे भी चिकित्सा स्थान में (चि० अ० २५ में) आया है। ऐसा पता चलता है कि इस समय कर्णवेधन पर तथा कान की पालि लम्बी करने की प्रथा बहुत विस्तृत रूप में

थी। कान की पाली को बढाने के लिए इसमे छेदन करके इसमें वर्धनक–छल्ले पहनाये जाते थे। इन छल्लो से कई वार पाली कट जाती थी। इस पाली को जोडने के लिए पन्द्रह प्रकार के वन्धन तथा तैल आदि वताये गये हैं[1]। कानो के वटाने का विस्तृत उल्लेख, इसमे होनेवाले उपद्रव, इनका प्रतिकार सुश्रुत में जितने विस्तार से है, इतने विस्तार से इससे पूर्व की और इससे पीछे की सहिताओं में नही है।

प्लास्टिक सर्जरी—इसी प्रसग मे अन्य स्थान से मास काटकर या कपोल के मास से नाक वनाने का उल्लेख है।[2] नासासन्धान विधि के अनुसार ओष्ठसन्धान विधि का भी उल्लेख है। इस प्रसग से स्पष्ट है कि कर्णवेधन की भाँति नासिकावेधन करके इनमें आभूषण पहने जाते थे। सम्भवत ओठ में भी पहने जाते हो, या जन्म से अथवा किसी अन्य प्रकार से इनका छेदन होने पर इनके वनाने की विधि का उल्लेख है। चिकित्साशास्त्र मे सुश्रुत के अन्दर ही सवमे प्रथम लिखित प्रमाण इस सम्वन्ध में मिलता है।

सुश्रुत में अश्मरी, अर्श, उदररोग, मूढ गर्भ तथा व्रणो के उपक्रम आदि चीर फाड सम्वन्धी जानकारी स्पष्ट रूप से दी गयी है। भयकर शल्य कर्मों में—जहाँ पर प्राणों का सशय हो, वहाँ पर उत्तरदायित्व पूर्ण व्यक्ति की रजामन्दी लेकर—अन्यों को (राजा को) सूचित करके शस्त्र कर्म करना चाहिए, जिससे पीछे अपयश न मिले। शस्त्र कर्म करने से पूर्व तथा शस्त्रकर्म के समय तथा इसके पीछे के लिए जो आवश्यक सूचनाएँ है, उन सव के विषय में सूचना दी गयी है।

---

१. सुश्रुत में 'शूक रोग' नाम से एक रोग का उल्लेख है। शूक एक प्रकार का कीडा है, जिसके शरीर पर वाल-वाल होते हैं। इसका उपयोग लिंग, कान आदि वढाने के लिए अन्य वस्तुओ के साथ किया जाता था (सू. नि. अ. १४।४)। इसके उपयोग से रोग होते थे। कानो की पाली बढ़ाने का रिवाज था। यथा—

'लोध्रकासीसमातंगबलाकल्कैस्तिलोद्भवम्।
तैलं संसाधितं लिंगयोनिकर्णविवर्धनम्॥' (अनंग रग)

२. 'विश्लेषितायास्त्वथ नासिकाया वक्ष्यामि सन्धानविधिं यथावत्।
नासाप्रमाणं पृथिवीरुहाणा पत्रं गृहीत्वा त्ववलम्बितस्य॥
तेन प्रमाणेन हि गण्डपार्श्वादुत्कृत्य वद्धत्वच नासिकाग्रम्।
विलिख्य चाशु प्रति संदधीत तत् साधु वन्धैर्भिषगप्रमत्त।' (सु. सू. अ. १६।२७।२८)

कल्पस्थान में राजाओं की रक्षा विष से कैसी करनी चाहिए, विष का प्रयोग किन-किन स्थानों से और किस-किस प्रकार हो सकता है, इसकी पूरी जानकारी दी गयी है। रसोईघर का प्रबन्ध, भोजन की परीक्षा, धूप, वायु, मार्ग, जल, वस्त्र, माला, खडाऊँ, कंघी आदि में विष प्रवेश होने पर इनकी सफाई कैसे करनी चाहिए—ये सब बातें विशेष रूप से लिखी गयी हैं। इस प्रकरण में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि वायुमण्डल मे जब विषसंचार हो तो नगाडे (दुन्दुभि) पर अगद (विष नाशक औषधियाँ) का लेप करके इसे बजाना चाहिए। इसके बजाने से जो शब्द वायु में गति उत्पन्न करता है, उससे वायु का विष नष्ट होता है, जहाँ तक इसकी आवाज जायगी वहाँ तक विष नष्ट हो जायगा।[1]

इसी संहिता में ग्रहो के नाम, उनकी उत्पत्ति तथा अन्य जानकारी सबसे प्रथम सामने आती है। ग्रहो की पूजा जो कि सम्भवत पहली या दूसरी शताब्दी के समय चली थी, इसमें पूर्ण रूप से दी गयी है। ग्रहशान्ति के लिए बलि, चतुष्पथो पर स्नान आदि कर्म बताये गये है। भिन्न-भिन्न ग्रहो की पूजा वर्णित है, नवग्रह पूजा का उल्लेख सुश्रुत में ही है। चरकसंहिता में पूतना का नाम है, परन्तु सुश्रुत में पूतना, अन्ध पूतना, शीत पूतना तीन नाम हैं। चरक में इस नाम को लेकर बच्चे को डराना मना किया है (शा० ज० ८)।

ग्रहो के अतिरिक्त अमानुषोपसर्ग प्रतिषेध अध्याय में (उत्तर० अ० ६३)—निशाचरो के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख है। इसमें अदृश्य वस्तु का भविष्य ज्ञान, उसकी अस्थिरता, मनुष्यो से अधिक क्रिया जिस रोगी में मिलती है उसे ग्रह से आक्रान्त बताया गया है। यह ग्रह विज्ञान सुश्रुत में सबसे प्रथम मिलता है। इसके आगे इसी समय की काश्यप संहिता में विस्तार से देखने में आता है।[2]

---

१. 'एतेन भेर्यः पटहाश्च दिग्धा नानद्यमाना विषमाशु हन्यु ।
दिग्धा पताकाश्च निरीक्ष्य सद्यो विषाभिभूता ह्यविषा भवन्ति ॥'
(सु क अ ५।७२).

'अनेन दुन्दुभि लिम्पेत् पताका तोरणानि च ।
श्रवणाद् दर्शनात् स्पर्शात् विषात् सम्प्रतिमुच्यते ॥' (क. अ ६।४).

२ काश्यप संहिता में रेवती को ही 'षष्ठी', 'धरणी', मुखमण्डिका कहा गया है। आज जो छठी की पूजा चलती है जिसका बाण ने भी कादम्बरी में उल्लेख किया है, वह यही षष्ठी-रेवती है। 'धरणी' नाम बौद्ध साहित्य में देवता का हैं।

सुश्रुतसंहिता का मुख्य सम्बन्ध शल्य शास्त्र से है। शल्य चिकित्सा में जीवाणु एक मुख्य वस्तु है, इनको संहिता में निशाचर रूप से व्यक्त किया गया है। इनके कार्य को ठीक प्रकार से न समझने पर, इनका प्रत्यक्ष ज्ञान न होने पर इनको ग्रह, देवता से सम्बद्ध बताया गया है। जहाँ भी विचित्रता तथा मनुष्य में अधिक पराक्रम-प्रवृत्ति देखने में आयी उसे देवता या ग्रह के साथ जोडा गया है। यह प्रथा चरक में नही है।

सुश्रुत के टीकाकार—सुश्रुत की टीका श्री जैज्जट ने की थी। ऐसा उल्लेख डल्लन और मधुकोश की व्याख्या से ज्ञात होता है। जैज्जट नाम कैयट, मम्मट की भाँति टकारान्त होने से इनको कश्मीर का बताया गया है। यह वाग्भट के शिष्य थे।

सुश्रुत के दूसरे टीकाकार गयदास थे। इनकी टीका का नाम पंजिका था। डल्लन ने बार-बार गयदास का नाम लिखा है। गयदास के पाठ का अनुकरण किया है। गयदास जैज्जट के पीछे डल्लन से पूर्व लगभग सातवी या आठवी शती में हुए थे? गयदास की टीका पंजिका या न्यायचन्द्रिका का निदानस्थान की १९३८ की तृतीय आवृत्ति में निर्णय सागर प्रेस से छपी है। बहुत स्थानो पर डल्लन की टीका से अधिक स्पष्ट और विस्तृत है। गयदास की शरीरस्थान की टीका भी है, ऐसा सुनने में आता है।

डल्लन—डल्लनाचार्य या डलणाचार्य मथुरा प्रदेश के रहनेवाले थे, ऐसा कविराज गणनाथ सेन जी का कहना है। ये दसवी शती के पास हुए थे। मथुरा के पासवाले भादानक देश के भरतपाल नामक वैद्य के पुत्र और सहपाल राजा के प्रीतिपात्र थे। सहपाल राजा मथुरा प्रदेश के किसी भाग का सामन्त था। डल्लन ने इसको भादनक नाथ कहा है। यह महपाल भारत के इतिहास में प्रसिद्ध बंगाल के पालवंश का सम्भवत महीपाल का पूर्वज होगा, ऐसी मान्यता गणनाथ सेन की है। पाल राजाओं की सत्ता दसवी-ग्यारहवी शती में बंगाल से बाहर भारत में भी फैल चुकी थी, यह इतिहास प्रसिद्ध है। सम्भवत इनमें से किसी का सामन्त हो।

चक्रपाणिदत्त ने डल्लण का नाम अपनी टीका में नही लिखा, परन्तु इसके मत का खण्डन किया है। चक्रपाणिदत्त का समय ग्यारहवी शती का है। इससे डल्हण चक्रपाणि से पहले दसवी शती में हुए होगे। यह मानना सही है। गणनाथ सेन जी के मत से चक्रपाणिदत्त ने डल्हण का मत बिना नाम लिए बहुत उद्धृत किया है। इसलिए आगे लिखा हालदार का मत चिन्तनीय है।

डल्हण की टीका में सरलता, प्राचीन पाठो का संग्रह, विद्यार्थियो के लिए उपयोगी टीका है। भानुमती टीका में जो कि चक्रपाणिदत्त की है, पाण्डित्य अधिक है।

इमी मे डल्हण की टीका निवन्ध सग्रह का प्रचार सवसे अधिक है। यही सुश्रुत की मम्पूर्ण टीका है।

डल्हण ने अपनी टीका में जैज्जट, गयदास के उपरान्त पजिककार भास्कर, टिप्पनकार मावव तथा ब्रह्मदेव का उल्लेख किया है। कार्त्तिक या कार्तिक कुट, सुधीर, सुकीर का उल्लेख है। इसके सिवाय टिप्पणीकार लक्ष्मण का नाम कही पर मिलता है। इस ममय सुश्रुत पर डल्हण की ही सम्पूर्ण टीका मिलती है, गयदास और चक्रपाणिदत्त की अपूर्ण है।

चक्रपाणिदत्त की टीका का नाम भानुमती है। इसका नाम तात्पर्यतिका भी है। इस टीका मे चक्रपाणि ने भट्टार हरिचन्द्र के वहुत से उद्धरण दिये है। सरस्वती-भवन पुस्तकालय, वनारस में भानुमती टीका सम्पूर्ण रूप में थी। वह ब्रिटिश म्यु-जियम में चली गयी है। (डाक्टर पी० चटर्जी डी० एस० पी०), चक्रपाणि दत्त ने सुश्रुत के रक्तसचार के सिद्धान्त पर वहुत ही विशद वर्णन लिखा है, (सम्भवत इसी को श्री हाराण चन्द्र कविराज जी ने अपनी टीका में 'तन्त्रान्तरे' के नाम से उद्धृत किया है। इसमें रक्तसचार का वर्णन आधुनिक रूप में मिलता है, यथा—'चतु - प्रकोष्ठ हृदय वामदक्षिणभागत । तस्याधो दक्षिणी कोष्ठी गृहीत्वाऽशुद्धशोणितम् ॥' इत्यादि)।

टीकाकारो के विपय में श्री गुरुपद शर्मा हालदार ने अपने ग्रन्थ वृहत्त्रयी में अच्छा विवेचन किया है। इसमे वहुत-सी वातें ऐसी है जिनके विपय में अभी विचार विनिमय की पर्याप्ति गुजाइश है। सक्षेप में उनकी विवेचना का आधार भी डल्हण की टीका है, जिसमें उसने पूर्व के टीकाकारो का मत या नाम उल्लेख किया है। (यह तिथि नाम का क्रम सन्दिग्ध है केवल टीकाकारो की जानकारी के लिए लिखा है) यथा—

१ डल्हण ने विप्रचण्डाचार्य का मत लिखा है, कीथ ने इसको प्राकृत प्रकाशक के कर्त्ता वररुचि के समय का माना है जिससे स्पष्ट है कि पाँचवी-छठी शती में यह जीता था।

२ सातवी या आठवी शती में वग देश के समीपवर्त्ती शिलाह्रद ग्राम में माववकार ने प्रश्न सहस्रविवान नामक अन्य सुश्रुत श्लोक वार्त्तिक वनाया था। प्रोफेसर विल्सन ने 'दी मैटेरिया मैडिका औफ दी हिन्दूज' की भूमिका मे लिखा है कि आठवी सदी में हारुन और मंसूर के राज्यकाल (७७३ ईस्वी) में चरक, सुश्रुत निदान का अरवी भापा में अनुवाद हो चुका था। यह अनुवाद मूल भापा से किया गया था अथवा पारसी भापा में किये अनुवादो से उलथा किया गया, इसको

निश्चित रूप से नही कह सकते। श्री डाक्टर पी० सेरे ने भी अपनी पुस्तक 'दी हिस्ट्री आफ हिन्दू कैमिस्ट्री' में इसका समर्थन किया है। यह भी पता चलता है कि खलीफा हारुण-अल-रसीद की सभा में मका नाम का राजवैद्य और अल्वेरुनी नाम का वैयाकरण रहता था। इन्होंने माधवनिदान का अनुवाद अरबी भाषा में किया था।

३ नवी या दसवी शती के बीच में 'कार्त्तिक कुण्ड' नाम के किसी वैद्य ने सुश्रुत की टीका लिखी थी। यह सुना जाता है कि सिद्धयोग का प्रणेता वृन्द कुण्ड इनका ज्ञातिबन्धु था। कार्तिक कुण्ड ने चरक की भी टीका लिखी है।

४ नवमी शती जैज्जट का समय है (वास्तव में जैज्जट का समय वाग्भट के साथ ही है जो सम्भवत ५वी शती के आसपास है), इसने भी सुश्रुत की टीका लिखी थी, जो कि बहुत प्रामाणिक थी। श्री हालदार महोदय जैज्जट और जज्जट को भिन्न मानते हैं। इस दृष्टि से जज्जट का नवी शताब्दी में होना सम्भव है।

५ दसवी शताब्दी में सुवीराचार्य ने सुश्रुत संहिता की व्याख्या लिखी थी। निश्चल ने चिकित्सा सग्रह टीका रत्नप्रभा में लिखा है 'तत्र सुविस्तरं सुवीरजेज्जटौ जल्पित-वन्तौ, तदसारमिति चन्द्रिकाकार (गयदास)। इससे स्पष्ट होता है कि सुवीर ने भी कोई व्याख्या की थी।

६ दसवी-ग्यारहवी शताब्दी में भास्कर भट्ट ने सुश्रुत पञ्जिका लिखी थी। पञ्जिका का अर्थ हेमचन्द्र ने "टीका निरन्तरा व्याख्या पञ्जिका पदभञ्जिकेति" किया है। अमरकोष की टीका में रघुनाथ ने पंजिका का अर्थ 'टीका ग्रन्थस्य विषमपद-व्याख्यायिका समस्तपदव्याख्यायिका तु पञ्जिकेति" ॥ पंजिका व्याख्या अब नही मिलती। परन्तु १६५६ ईस्वी मे कवीन्द्राचार्य की ग्रन्थ सूची में इसका नाम मिलता है।

७ दसवी और ग्यारहवी शती में गयदास हुए है। गयदास को चन्द्रिकाकार भी कहा जाता है। इनकी टीका की बहुत प्रसिद्धि थी। इनकी टीका के नाम वृहत् पंजिका, न्याय चन्द्रिका आदि थे। रत्नप्रभा में निश्चल ने लिखा है—"गौडेश्व-रान्तरङ्ग श्री गयदासेन दर्शितम्"। सम्भवत गौडाधिपति महीपाल के ये राजवैद्य थे। चक्रपाणि महिपाल के पुत्र नयपाल के प्रधान मन्त्री थे। इनकी लिखी केवल निदान स्थान की पंजिका मिलती है।

८ तीसट के पुत्र चन्द्रट ने भी सुश्रुत की पाठ-शुद्धि की थी ('सुश्रुते पाठशुद्धिञ्च तृतीया चन्द्रटो व्यधात्')। यह न तो व्याख्याकार थे और न प्रतिसंस्कर्त्ता।

९ ग्यारहवी शताब्दी में कुमार भार्गवीय ग्रन्थ के कर्त्ता भानुदत्त के कनिष्ठ भ्राता चक्रपाणिदत्त ने सुश्रुत संहिता की भानुमती टीका की थी। टीका के नाम से भानु के साथ इनका सम्बन्ध ज्ञात होता है। डल्हण का समय इससे पूर्व मानना ठीक है। उनने भानुमती टीका का उल्लेख नहीं किया। हालदार का मत इस सम्बन्ध में संदेहात्मक है।

१० ग्यारहवी शताब्दी में ब्रह्मदेव ने सुश्रुत पर टिप्पणी और व्याख्या लिखी थी। डल्हण ने ब्रह्मदेव का नाम अपनी व्याख्या में लिखा है।

११ वंगसेन के पिता गदाधर ने सुश्रुत संहिता पर एक व्याख्या लिखी थी। इनका समय ग्यारहवी शती है। माधवनिदान की मधुकोष टीका में विजयरक्षित ने निदान की व्याख्या इनके नाम से दी है। इन्होंने चिकित्सासार संग्रह (वंगसेन) बनाना प्रारम्भ किया था, परन्तु पूरा नहीं किया। इसको वंगसेन ने समाप्त किया।

१२ ग्यारहवीं और बारहवी शती में किसी समय गयीसेन ने सुश्रुत की व्याख्या लिखी थी। ये वंगदेशवासी विषपाटा ग्राम में रहते थे ('एक पुनर्गयीसेनो भेदेनैव चतुर्विध। विषपाटाभव श्रेष्ठस्तिकायिपुरजस्तथा॥' भरत मल्लिक के वैद्यकुल से)।

१३ तेरहवी शताब्दी में डल्लणाचार्य ने निबन्धसंग्रह की व्याख्या लिखी थी। वैद्य समाज में इसका बहुत आदर है। डल्लण और डल्हण पर्य्याय है। डल्लण ने टीका में वंगभाषा के कुछ नाम दिये हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि ये वंगभाषा को जानते थे। यथा—बन्धूक, बादुली (६३ पृ०), पनस, काटल (४४८ पृ०), तरक्षु, जरप (४७९), अश्वतर, वेसर (४७३ पृ०), पानीयविडाल, भोदड़ (४७५), शम्बूक, शामूक (४७७ पृ०)। डल्हण का समय चक्रपाणि-दत्त से पहले दसवी शती है। इसने भानुमती टीका का उल्लेख नहीं किया है।

१४ १९०५ ईस्वी में गंगाधर के शिष्य श्री हारायण चन्द्रजी ने सुश्रुत की टीका लिखी थी। इसे १९१७ में पूरा किया।[1]

श्री हालदार महोदय ने सुश्रुत के उत्तर तंत्र को प्रतिसंस्कर्त्ता का बनाया हुआ माना है। इसके विषय में जो विवेचना की है, वह हृदयंगम नहीं है। आयुर्वेद ग्रन्थों

---

१ हालदार महोदय का मत अनिर्णीत है। डल्हण चक्रपाणि से पहले दसवीं शती में हुए हैं। उन्होंने भानुमती या दूसरों की टीका का उल्लेख नहीं किया, यही प्रमाण उनको दसवीं शती का बताता है।

मे उत्तर तत्र, उत्तर स्थान, या खिलस्थान नाम से परिशिष्ट रूप में भाग मिलते है; जिनमे कि मुख्य भाग से बचे विपयो का सामान्य रूप से वर्णन किया जाता है। हार्नले महोदय का जो वचन प्रमाण रूप में दिया गया है, वह केवल कल्पना मात्र है। 'वृहत् सुश्रुत' इम नाम की सगति जोडने के लिए ही कल्पस्थान मे यह नाम देकर उत्तर तत्र को 'यवीय सुश्रुत' या सुश्रुत कह दिया है, जिसकी कोई सगति नही। ग्रन्थ का अन्तिम श्लोक (सहोत्तर त्वेदधीत्य सर्व ब्राह्म विधानेन यथोदितेन। न हीयतेऽर्थान् मनसो-ऽभ्युपेतादेतद्वचो ब्राह्ममतीव सत्यम्॥ उत्तर० अ० ६६।१७)। इसमें एक सौ वीस सख्या मुख्य ग्रथ की है, उत्तर तत्र तो परिशिष्ट होने से उसके अध्यायो की गणना नही है। यह आज की परिपाटी से भी ठीक है। आयुर्वेद के ग्रन्थो में एक सौ वीस अध्यायो की एक परम्परा है, जो सुश्रुत के मुख्य भाग में भी निभायी गयी है।

विलुप्त तत्र और सहिताएँ

आयुर्वेद के आठ अग है। इन अगो पर पृथक्-पृथक् तत्र बने थे। कुछ सहिताएँ जिस शाखा में बनी थी, उसी ऋपि के नाम पर प्रसिद्ध हुई। प्राचीनकाल में शिक्षा पद्धति का विकास चरणो और शाखाओ में हुआ है, इसीसे आयुर्वेद के पर्यायो मे शाखा और सूत्र में पर्याय रूप से दिये गये है (तत्रायुर्वेद शाखा, विद्या, सूत्र, ज्ञान, शास्त्र, लक्षण तन्त्रमित्यनर्थान्तिरम्—सूत्र अ० ३०।३१)। शाखा और चरण का नाम ऋपि के नाम में होता था। एक शाखा या एक चरण में कई विपयो के ग्रन्थ बनते थे, और ये सब ग्रन्थ उसी शाखा या चरण के नाम से कहे जाते थे। एक प्रकार से ये शाखा और चरण उस समय के ज्ञान के विद्यापीठ थे (जिस प्रकार आज एक ही विश्व-विद्यालय में कई विपयो की पढाई होती है, और उसके सब स्नातक उसी विद्यापीठ के नाम से प्रसिद्ध होते हैं)। इसलिए एक ही ऋपि के नाम पर श्रौत सूत्र, और आयुर्वेद ग्रन्थ दोनो मिलते हैं, यथा—आश्वलायन और आलम्बायन ऋपि के नाम पर दोनो विपयो के ग्रन्थ मिलते है। इसका इतना ही अभिप्राय है कि ये एक शाखा मे बने हैं, न कि एक ऋपि के बनाये हैं।[१] इस दृष्टि से देखने पर नामो की बहुत कुछ समस्या सुलझ जाती है।

ग्रन्थो का नाम टीकाओ में आये नामो से सग्रह करके कविराज गणनाथ जी ने 'प्रत्यक्ष-शारीरम्' के उपोद्घात में एक पूर्ण जानकारी वचनो को उद्धृत करके दी है।

---

१ 'पाणिनि कालीन भारतवर्ष'—(डाक्टर अग्रवाल) इस विषय में देखा जा सकता है।

उसके आधार पर तथा अन्य जानकारी से यहाँ पर केवल तन्त्रों का नाम लिखा जाता है—

कायचिकित्सा सम्बन्धी तन्त्र —१-अग्निवेश संहिता, २-भेड संहिता, ३-जतूकर्ण संहिता ४-पाराशर संहिता (संग्रह में इसका मत बहुत स्थानों पर उद्धृत है, यथा—अ० २१।१७), सू० ५-हारीत संहिता (आज जो छपी संहिता हारीत के नाम से मिलती है, उससे यह भिन्न है, क्योंकि हारीत के नाम से उद्धृत वचन उपलब्ध संहिता में नहीं हैं। प्रकाशित हारीत संहिता आधुनिक समय की है, भाषा बहुत सामान्य है), ६-क्षारपाणि संहिता, ७-खरनाद संहिता, ८-विश्वामित्र संहिता, ९-अरिन्द्र संहिता, १०-अत्रि संहिता, ११-मार्कण्डेय संहिता, १२-आश्विन संहिता, १३-भारद्वाजसंहिता, १४-भानुपुत्र संहिता।

शल्य चिकित्सा सम्बन्धी तन्त्र—१-औपधेनव तन्त्र, २-औरभ्र तन्त्र, ३-वृद्धसुश्रुत तन्त्र, ४-सुश्रुत तन्त्र, ५-पौष्कलावत तन्त्र, ६-वैतरण तन्त्र, ७-वृद्ध भोज तन्त्र, ८-भोज तन्त्र, ९-कृतवीर्य तन्त्र, १०-करवीर्य तन्त्र, ११-गोपुररक्षित तन्त्र, १२-भालुकी तन्त्र, १३-कपिलबल तन्त्र, १४-सुभूति गौतम तन्त्र।

शालाक्य सम्बन्धी तन्त्र—१-विदेह तन्त्र, २-निमि तन्त्र, ३-काकायन तन्त्र, ४-गार्ग्यतन्त्र, ५-गालवतन्त्र, ६-सात्यकि तन्त्र, ७-भद्र शौनक तन्त्र, ८-शौनक तन्त्र, ९-कराल तन्त्र, १०-चक्षुष्य तन्त्र, ११-कृष्णात्रेय तन्त्र, १२-कात्यायन तन्त्र।

भूत विद्या सम्बन्धी तन्त्र—१-अथर्वतन्त्र (कविराज गणनाथ सेनजी का कहना है कि इसका पृथक् तन्त्र नहीं है, सुश्रुत, चरक में ही ग्रहों का जो वर्णन है, वह इससे सम्बन्धित है। काश्यप संहिता में रेवती कल्प या रेवती ग्रह सम्बन्धी अध्याय इसी विषय से सम्बन्धित है)।

कौमार भृत्य सम्बन्धी तन्त्र—१-वृद्धकाश्यप संहिता (काश्यप संहिता के उपोद्घात में पण्डित हेमराजशर्मा जी ने चार काश्यप लिखे हैं—कौमार भृत्याचार्य, वृद्धकाश्यप और काश्यप दो, अगदतन्त्राचार्य-वृद्धकाश्यप और काश्यप दो। रावणकृत प्राचीन बालतन्त्र में काश्यप और वृद्धकाश्यप दो नाम आते हैं। इस कौमारभृत्यतन्त्र में आचार्य रूप से वृद्धकाश्यप ही अभिप्रेत है। काश्यप से अभिप्राय सम्भवत कौमारभृत्याचार्य काश्यप से है। डल्हण ने सुश्रुत की व्याख्या में काश्यप का नाम लिखा है। मधुकोश में वृद्ध काश्यप के नाम से दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं। ये श्लोक अगद तन्त्र विषयक होने से दोनों काश्यप भिन्न दीखते हैं। एक का सम्बन्ध (काश्यप का) अगदतन्त्र से और दूसरे का (वृद्धकाश्यप का) कौमार भृत्य से है, ऐसा प्रतीत होता है। चरक

और अष्टागसंग्रह में कश्यप और काश्यप दो ही आचार्य कहे गये हैं—"अंगिरा जामदग्निश्च वसिष्ठ कश्यपो भृगु । काकायन कैंकगेयो धौम्यो मारीचिकाश्यपौ' ॥ सू०अ० १, अष्टाग सग्रह में 'धन्वन्तरिभरद्वाजनिमिकाश्यपकश्यपा' —सू० अ० १ ।

२-काश्यपसहिता, ३-मनकसहिता, ४-लाट्यायनसहिता, ५-आलम्बायन सहिता; ६-उशन सहिता, ७-बृहस्पतिसहिता ।

रसायन तत्र १—पातञ्जलतत्र, २—व्याडितत्र, ३—वशिष्ठतत्र, ४—माण्डव्यतत्र, ५—नागार्जुनतत्र, ६—अगस्त्य तत्र, ७—भृगु तत्र, ८—कपिञ्जल तत्र, ९—कक्षपुट तत्र, १०—आरोग्यमजरी, (कक्षपुटतत्र और आरोग्य मजरी का सम्बन्ध तत्र नागार्जुन से कहा जाता है)

वाजीकरण तंत्र—कुचुमार तन्त्र (यह आधुनिक दीखता है, १९२२ में महामहोपाध्याय श्री मथुराप्रसाद दीक्षित जी ने इसे प्रकाशित किया है।)

इन विलुप्त तत्र या सहिताओ के अतिरिक्त बहुत से नाम और भी हैं, जो कि टीकाओ मे आते हैं। इन नामो में मनुष्य का नाम ही मिलता है; सहिता का उल्लेख नही। नाम कीर्त्तन से यह समझा जाता है कि इन्होंने कुछ लिखा होगा। उदाहरण के लिए—

अष्टागसग्रह में दारुवाही, नग्नजित्, का नाम आता है। अरुणदत्त के अष्टागहृदय की टीका में और भी नाम आये हैं। वृन्दकृत सिद्धयोग की टीका में श्रीकण्ठ ने बहुत से आचार्यो का नाम लिखा है। इसी प्रकार मे शिवदास सेन जी और चक्रपाणि ने जिन ग्रन्थो या आचार्यो का उल्लेख अपनी टीकाओ में किया है, उनके भी ग्रन्थ उस समय प्राप्य होंगे। सामान्यत उनका अध्ययन नही होता होगा। ये पुस्तकें आज की दृष्टि से सहायक या स्पष्टीकरण के रूप में बरती जाती थी। मूल ज्ञान के लिए प्रसिद्ध सहिताएँ ही थीं। इस से आज हमारे सामने कायचिकित्सा सम्बन्धी चरकसंहिता, अष्टागसग्रह, शल्यचिकित्साओ में सुश्रुत सहिता; कौमारभृत्य विषय में जीवनतंत्र या काश्यपसहिता अवशिष्ट हैं।

काश्यपसंहिता या वृद्धजीवक तंत्र

नेपाल के राज्य गुरु श्री प० हेमराज शर्मा जी ने अपने ग्रन्थ सग्रह में से इस ग्रन्थ को प्रकाशित करवाया है। यह ग्रन्थ खडित रूप में है। श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। इस सहिता का सम्बन्ध कौमार भृत्यतत्र से है।

काश्यपसहिता की भी चरक-सुश्रुत के समान परम्परा है। जिस प्रकार चरक सहिता का मूल उपदेशक पुनर्वसु आत्रेय हैं, उसी प्रकार काश्यप सहिता के उपदेष्टा

मारीच काश्यप हैं। ऋचीक के पुत्र जीवक ने काश्यप के बनाये तंत्र का सक्षेप किया है। कलियुग में यह तंत्र नष्ट हो गया था, पीछे से जीवक के वंशज वात्स्य ने इसका प्रतिसंस्कार किया है।[1]

चरक संहिता में मारीच काश्यप नाम तीन स्थानो पर आता है (सू अ १।१२, सू अ १२। शा अ ६।२१,)। दारुवाह का नाम काश्यपसंहिता में आता है। (सू वेदना), (सू रोगाध्याय)। (चक्रपाणि ने भी दारुवाह का उल्लेख किया है। चि अ ३।७४ की टीका में)। आत्रेय के शिष्य रूप में भेल और नग्नजित् का नाम है (गान्धारभूमौ राजर्षिनग्न (नग्न) जित्स्वर्गमार्गग। सगृह्य पादौ प्रपच्छ चान्द्रभाग पुनर्वसुम् ॥) नग्नजित् के पुत्र स्वर्जित का उल्लेख शतपथब्राह्मण में है। इस प्रकार से पुनर्वसु आत्रेय, भेल, नग्नजित्, दारुवाह, वार्योविद, मारीच, काश्यप ये सब वैद्य विद्या के आचार्य ऐतरेय-शतपथ काल से अर्वाचीन नही, थोडा बहुत आगे-पीछे के हैं। यह मान्यता श्रीहेमराज जी की है।

बौद्ध साहित्य में प्रसिद्ध जीवक से यह वृद्धजीवक भिन्न है, क्योंकि दोनो के कार्य में अन्तर है। यह जीवक बालरोग की चिकित्सा का उपदेश करता है। महावग्ग के जीवक ने शस्त्रकर्म किये हैं। कौमारभृत्य के आचार्य रूप में जीवक का उल्लेख नावनीतक में है। उपलब्ध संहिता के उपदेष्टा भले ही अग्निवेश के समय के हो, परन्तु प्रतिसंस्कर्त्ता वात्स्य बहुत पीछे के हैं। कनखल का नाम इस संहिता में है ('गगाह्लदे कनखले निमग्न पचवार्षिक।' कनखल का नाम कालिदास के मेघदूत में आता है—'तस्माद् गच्छेरनुकनखल शैलराजावतीर्णा'—पूर्वमेघ ५३), कालिदास का समय चौथी शताब्दी है, उसके आस-पास ही इसके प्रति संस्कर्त्ता का समय होना चाहिए। इस संहिता के काल विभाग में उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी-जैसे जैन साहित्य के पारिभाषिक शब्दो का होना, मातगी विद्या का उल्लेख, अव्यक्त से अहकार आदि सोलह विकारो की उत्पत्ति, सुश्रुत के अनुसार साख्यमत से उल्लेख, कृतयुग के मनुष्यो का गर्भ में केवल

---

१ 'जीवको निर्गततमा ऋचीकतनय शुचि।
जगृहेऽग्रे महातत्र सञ्चिक्षेप पुन स तत् ॥
तत. कलियुगे तत्र नष्टमेतद् यदृच्छया।
अनायासेन यक्षेण धारित लोक भूतये ॥
वृद्धजीवकवश्येन ततो वात्स्येन धीमता।
अनायासं प्रसाद्याथ लब्ध तत्रमिदं महत् ॥'

सात दिन रहना, अभेद्य, अच्छेद्य, अस्थि रहित शिर, जन्म से ही सब कार्यों के करने की क्षमता आदि अद्भुत कल्पनाओं का उल्लेख इसके प्रति संस्कर्त्ता का सुश्रुत के पीछे होना प्रामाणित करता है (श्री दुर्गाशंकर शास्त्री)।

काश्यपसंहिता कालीन भूगोल और समय—काश्यप संहिता में भिन्न-भिन्न देशों तथा भिन्न-भिन्न जातियों का उल्लेख है। ये जातियाँ प्राय वर्णसंकर या म्लेच्छ हैं। यथा—सूत, मागध, वेन, पुक्कस (पुलकस), इस जाति की स्त्रियाँ पर सौती घर में टगरिन का काम करती थी—छोटी जात–मिलिन्द प्रश्न), प्राच्यक, चण्डाल, मुष्टिक आदि ये जातियाँ देश में उस समय तक उत्पन्न एवं प्रसिद्ध थीं। कुलिन्द, किरात आदि जातियों का निवास स्थान यमुना का उद्गम स्थान है, जहाँ पर यह नीचे मैदान में आती है। हिमालय की तराई में ये सब जातियाँ थीं।

देशों के नाम—कुरुक्षेत्र, कुरु, नैमिपारण्य, पाञ्चाल, माणीचर, कौसल, हारीत-पाद, चर, शूरसेन मत्स्य, दशार्ण (इसका उल्लेख मेघदूत में भी है), शिशिराद्रि, सारस्वत, सिन्धु, सौवीर, विपाद् (व्यास), और सिन्धु के बीच के छावे के लोग, कश्मीर, चीन, अपरचीन, खश, वाह्लीक दासेरक, शात सार, रामण (रामठ), तथा इनसे अगले देशों के मनुष्यों के सात्म्य का उल्लेख किया गया है (कल्प-भोजनकल्प–४१।४३)।

काशी, पुण्ड्र, अंग, कवंग, काच, आनूपक (कोकण), कौशल देशवासियों को तीक्ष्ण द्रव्य देने चाहिए। कलिंग, पट्टनवासिन, दक्षिण देशवासी, नर्मदा के पास के व्यक्तियों के लिए पेया सात्म्य होती है।

मातंगी विद्या, लशुनकल्प—अष्टांग संग्रह में रसोन का उपयोग विशेष रूप में वर्णित है। रसोनका उपयोग कल्परूप में रसायन दृष्टि से करने का उल्लेख है। नावनीतक का प्रारम्भ ही लशुनकल्प, लशुन सेवन से हुआ है। काश्यपसंहिता में भी लसुन कल्प विस्तार से दिया गया है। लशुन का उपयोग मुख्यत शक-कुषाणों के संसर्ग से चला है। इसकी गन्ध के कारण द्विज इसे नहीं खाते थे। इसका प्रचार हो, इसीलिए तीसरी सदी के समय की काश्यप संहिता में तथा गुप्तकाल के संग्रह नाव-नीतक में इस पर जोर दिया गया है। लशुनकल्प या लशुन के उपयोग का इतना विस्तृत उल्लेख प्राचीन संहिताओं में नहीं है।

बौद्धों की महामायूरी विद्या का उल्लेख संग्रह में (महाविद्या च मायूरी शुचिस्त श्रावयेत्सदा—उत्तर अ ८) तथा नावनीतक (छठे प्रकरण) में आता है। काश्यप संहिता में मातंगी विद्या का उल्लेख किया गया है। यह भी बौद्धों की एक विद्या है जो कि

दैवी बाधा, रोग आदि कष्टों को दूर करने के लिए पढ़ी जाती है ('मातंगी नाम विद्या-पुण्या दुःस्वप्नकलिरक्षोघ्नी पापकल्मषाभिशापमहापातकनाशनी'—रेवतीकल्प)। इस विद्या का उपयोग बरतने की विधि पूर्ण रूप से वर्णित है। महामायूरी विद्या (नावनीतक, पृ. १४८) से विधि बहुत मिलती है (रेवतीकल्प, पृ. १६७)।

भाषा—काश्यप संहिता की भाषा सामान्य संस्कृत है, परन्तु इसमें कुछ विशेषता भी है। यथा—"नाम्ना लिंगनी जातहारिणी भवति, य एव वेद।' रेवतीकल्प।

जो ऐसा जानता है, (य एव वेद)—यह वचन इस रूप में प्राचीन संहिताओं में नहीं है। उपनिषद् में इसी रूप में मिलता है (अन्नादो भवति य एव वेद—छान्दो ३।१३।) इसके साथ ही भद्रकाली नाम (लशुनकल्प १०८) भी आता है, जो कि निश्चित गुप्तकाल के आसपास का है। सामान्यतः भाषा में अन्य भाषा के शब्द नहीं। भाषा तथा रेवतीकल्प, ग्रहों का उल्लेख, लिंगनी, परिव्राजिका, श्रमणका, कण्ठनी, निर्ग्रन्थी, चीरवल्कलधारिणी, तापसी, चारिका, जटिनी, मातृमण्डलिकी, देवपरिवारिका, वेक्षणिका, जातहारिणी का उल्लेख है। ये सब सम्प्रदाय उस समय प्रचलित थे। इनमें हिन्दू, जैन, बौद्ध सब का उल्लेख है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न जातियों का उल्लेख विस्तार से इसमें मिलता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न तापसों का उल्लेख यहाँ पर है (रेवतीकल्प)।[1]

इनमें से कुछ पहचाने जा सकते हैं। यथा-लिंगनी—इसके लिए भारवि के किरात का पहला श्लोक सहायक है "स वर्णलिङ्गी विदितः समाययौ"—इसमें लिंग, चिह्न धारण करनेवाला साधु अनुमोदित है। इसी प्रकार तापस, जो कि तप करते थे, यथा पंचाग्नि-तप या वृक्ष की भाँति (स्थाणु रूप में) होकर तप करते थे, परिव्राजिका—संन्यासिनी, श्रमणका—भिक्षुणी, चीरवल्कलधारिणी—चीथड़े या वल्कल को टुकड़े करके पहनने वाली चरिका—घूमनेवाली, जटिनी—जटा रखनेवाली; मातृमण्डलिकी—सप्तमाताओं की पूजा करनेवाली, देवपरिवारिका—वासुदेव, कृष्ण, बलराम, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न की पूजा करनेवाली, वेक्षणिका (ईक्षतेर्नाशब्दम् के अनुसार प्रत्यक्ष को ही माननेवाली), जातहारिणी (?)। काश्यप संहिता में एक श्लोक सुश्रुत संहिता का मिलता है। यथा—

---

१. बाण ने हर्षचरित में बहुत-से सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। यथा—'आर्हत, मस्करी, श्वेतपट, पाण्डुरिभिक्षु, भागवत, वर्णी, केशलुंचन, कापिल, जैन, लोकायतिक, कणाद, औपनिषद्, ऐश्वर, कारणिक, कारन्धमी (धातुवादी, रसायन बनानेवाले), धर्मशास्त्री, पौराणिक, साप्ततन्तव, शाब्द, पांचरात्रिक, इनके सिवाय अन्य भी मत-मतान्तर माननेवाले थे।' (हर्षचरित, आठवाँ उच्छ्वास)

"कुक्कुटस्य पुरीषं च केशाश्चर्म पुराणकम् ।
जीर्णा च भिक्षुसङ्घाटीं सर्पनिर्मोचनं घृतम् ॥'
(बालग्रह· चिकि· काश्यप)

'पुरीषं कौक्कुट केशाश्चर्म सर्पत्वच तथा ।
जीर्णा च भिक्षु सङ्घाटीं धूपनायोपकल्पयेत् ॥' (सुश्रुत उ. ३३।६)

दोनो के पाठ साम्य से काश्यप सहिता सुश्रुत के पीछे की है। भौगोलिक उल्लेख तथा लशुनकल्प से गुप्त काल के प्रारम्भ या तीसरी सदी के आस-पास की दीखती है। लशुन-कल्प का या लशुन और पलाण्डु का प्रचार गुप्तकाल के साहित्य में ललित भाषा में मिलता है। नावनीतक, सग्रह, हृदय इनमें इस पर विशेष बल दिया गया है। मातगी विद्या, तथा सग्रह की महामायूरी विद्या, नावनीतक में महामायरी विद्या का पाठ इस बात को पुष्ट करता है कि कुषाण-काल के पीछे बनी है।

काश्यप सहिता की विशेषता—भारत में पुत्र जन्म के पीछे छठी की जो पूजा प्रचलित है, इसका उल्लेख सहिता में स्पष्ट रूप में विस्तार से दिया गया है—

षष्ठी के पाँच भाई हैं, जिनमें एक भाई स्कन्द है। तुम भाइयो के बीच में रहने से षण्मुखी होगी, नित्य लालन की जायेगी। तुम छठी हो, इसलिए छठी सदा पूजा की जायेगी। इसलिए सूतिका षष्ठी (छठी), पक्ष षष्ठी की पूजा करनी चाहिए।

'भ्रातॄणा च चतुर्णा वै पञ्चमो नन्दिकेश्वरः ।
भ्राता त्वं भगिनी षष्ठी लोके ख्याता भविष्यसि ॥
यथा मां पूजयिष्यन्ति तथा त्वां सर्वदेहिन· ।
अस्मत्तुल्यप्रभावा त्वं भ्रातृमध्यगता सदा ॥
षण्मुखी नित्यललिता वरदा कामरूपिणी ।
षष्ठी च तिथि· पूज्या पुण्या लोके भविष्यति ॥
तस्माच्च सूतिका षष्ठीं पक्षषष्ठीं च पूजयेत् ।
उद्दिश्य षण्मुखीं षष्ठीं तथा लोकेषु नन्दति ॥'
(बालग्रहचिकित्सा, पृष्ठ ६७)

इसी प्रकार दाँतो के नाम, इनकी उत्पत्ति, दन्तसपत् (सूत्र अ २०) का विस्तृत उल्लेख इसी सहिता में है। मनुष्यो के दाँत बत्तीस होते हैं। इनमें से आठ दाँत तो (अकल की दाढ़) अपने आप एक बार उत्पन्न होते हैं। शेष चौबीस दाँत द्विज, दूसरी बार उत्पन्न होते हैं। जितने मासो में दाँत बैठते है, उतने ही दिनो में फूटते हैं। जितने मासो में उत्पत्ति के पीछे निकलते हैं, उतने ही वर्षो में गिरते है (प्रथम दाँत का

उद्गम छठे मास में होता है, छठे वर्ष में प्रथम दाँत गिरता है) । मध्य के ऊपर के दो दाँतो का नाम राजदन्त है, ये पवित्र है। इनके टूटने पर श्राद्ध करने योग्य नही रहता। मनुष्य अपवित्र होता है। इनके पार्श्व के दाँत वस्त है। इसके आगे दाढ है, और शेप दाँत हानव्य (हनुप्रदेश में उत्पन्न) कहे जाते है। कन्याओ के दाँत जल्दी निकलते है। इनके निकलने में पीडा कम होती है, क्योकि इनके मसूडे पोले और कोमल होते है। लडको के दाँत देर मे निकलते हैं, और इनमे पीडा होती है।

दाँतो का भरा होना, समान होना, घनता (ठोसपन), शुभ्रता, स्निग्धता, श्लक्ष्णता, निर्मलता, निरामयता, रोग रहित होना, क्रमश कुछ ऊँचे होते जाना, मसूडो की समता, रक्तता, स्निग्धता, वडा-ठोस-मजवूत जड का होना दाँतो की सम्पत्ति है। दाँत का कम होना, टेढा या वढा होना, काला होना, मसूडो का दाँतो से पृथक् न दीखना अप्रशस्त है।

फक्क रोग—जिसे आजकल 'रिकैट' कहा जाता है, इसी सहिता में सवसे प्रथम आता है। जिस धात्री का दूध कफ से दूपित होता है, उसे फक्का कहते है। इस दूध के पीने से वच्चे में फक्क रोग हो जाता है। जिससे बच्चा एक साल का होने पर भी पैरो से नही चल सकता। यह फक्क रोग तीन प्रकार का है—१ दूध से पैदा होनेवाला, २ गर्भ में उत्पन्न, ३ किसी रोग के कारण होता है। जव माता गर्भवती हो, तव दूध मे सहसा परिवर्त्तन आ जाता है। इस दूध के पीने से वच्चे में यह रोग हो जाता है।

इस रोग की चिकित्सा में कल्याणक, पट्पल, ब्राह्मी घृत देने का विधान है (ब्राह्मी घृत शूद्र के लिए निपिद्ध है, क्योकि इस घृत के पीने से शूद्रा के वच्चे मर जाते है)।

कटु तैल कल्प—तैल का रोग में इतनी वडी मात्रा मे उपयोग वहुत कम है। चरक सहिता में तैल की महिमा वर्णित है। तैल के प्रयोग से दैत्य लोग वृद्धावस्था से शून्य, रोगरहित; श्रम से न थकनेवाले (जितश्रमा), युद्ध में अति वलवान् हुए थे। (सू अ २७।२८८)। रोग में विना औपधियो का तैल इतनी वडी मात्रा में इसी सहिता में वरता गया है। इसके पीछे की सहिताओ में भी यह नही है।

इस तैल का उपयोग प्लीहा की वृद्धि में वताया गया है। प्लीहा रोग की शान्ति के लिए इससे उत्तम औपध दूसरी नही है। रोगी को कल्याणक या पट्पल घृत से स्निग्ध करके कटु तैल पिलाना चाहिए। तैल को रोगी के अग्निवल के अनुसार देना चाहिए, सामान्यत वडी मात्रा ४८ तोला (१२ पल) है और मध्यम मात्रा २४ तोला (छै पल) छोटी मात्रा १६ तोला (चार पल) है। रोगी की प्रकृति के अनुसार इसको औपधियो

से सस्कृत देने का भी विधान लिखा गया है। कटु तैल के समान शतावरी, शतपुष्पा-कल्प भी इस संहिता की अपनी विशेषता है।

काश्यप संहिता का ढांचा और भाषा—काश्यप संहिता की रचना चरक संहिता एव सुश्रुत संहिता की रचना की भाँति हुई है। इसमें उत्तरतत्र के स्थान पर खिल स्थान है। प्राप्त काश्यप संहिता मे सूत्रस्थान, विमानस्थान, शारीरस्थान, इन्द्रियस्थान, चिकित्सास्थान, सिद्धिस्थान, कल्पस्थान और खिलस्थान है। निदानस्थान मिला नही, क्योंकि विमानस्थान को तीसरा स्थान लिखा गया है। सिद्धिस्थान कल्पस्थान से पहले आया है।

काश्यप संहिता के विमानस्थान की रचना चरक संहिता के विमान स्थान से बहुत मिलती है, परन्तु साथ ही कुछ अधिक भी दिया गया है। यथा शिष्योपक्रमणीय विमान में ब्राह्मण को हविष्य ओदन की दक्षिणा देना, गुरु के अग का स्पर्श आदि विचार अधिक हैं।

शिष्य का अनुशासन चरक संहिता का अनुकरण करता है। वाद सम्बन्धी जितना पाठ काश्यप संहिता का उपलब्ध है, उसमें भी चरक संहिता का अनुसरण है। आयुर्वेद सम्बन्धी, आयु क्या है ? आयुर्वेद के अग, किनको पढना चाहिए, किसलिए पढ़ना चाहिए, इसका प्राथमिक तत्र क्या है, किस वेद से इसका सम्बन्ध है, नित्य है या अनित्य, अतीत-अनागत-वर्त्तमान इन तीन वेदनाओ में भिषक् किस वेदना की चिकित्सा करता है, आदि प्रश्न चरक संहिता की भाँति है। इनका उत्तर भी लगभग उसी प्रकार है।

इन्द्र ने कश्यप, वशिष्ठ, अत्रि और भृगु इन चार ऋषियो को आयुर्वेद सिखाया था। यह शास्त्र चारो वर्णो के लिए है। आयुर्वेद के आठो अगो में कौमारभृत्य अग सब से मुख्य है। इसमें भी आयुर्वेद का सम्बन्ध अथर्ववेद से बताया गया है। वेदो का आश्रय आयुर्वेद ही कहा गया है (आयुर्वेदमेवाश्रयन्ते वेदा)। जिस प्रकार से दक्षिण हाथ में अगूठा चारो अँगुलियो से नाम और रूप में पृथक् रहता हुआ भी इन चारो अँगुलियो पर आधिपत्य करता है, उसी प्रकार आयुर्वेद भी चारो वेदो से नाम और रूप में पृथक् रहता हुआ भी इन पर शासन करता है। वेदो में भी धर्म-अर्थ-काम युक्त पुरुष निश्रेयस का विचार किया जाता है। इसमें भी त्रिवर्ग के सारभूत पुरुष निश्रेयस का विचार होता है। जिस प्रकार देश को न जाननेवाले मनुष्य देश को जाननेवाले के पास जाते है, इसी प्रकार वेदना होने पर शिक्षा, कल्प, सूत्र, निरुक्त, आदि के ज्ञाता आयुर्वेदज्ञ के पास पहुँचते हैं। इसलिए हम कहते है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद से पाँचवाँ आयुर्वेद है।

चरक संहिता में जिस प्रकार अत्रिपुत्र के अग्निहोत्र करने का उल्लेख है (हुताग्नि-

होत्रम्–चि अ १९); उसी प्रकार काश्यप संहिता मे हुताग्निहोत्र शब्द आता है (हुताग्निहोत्रमासीनम्–विशेषकल्प २ हुताग्निहोत्र–विसर्प)। 'हेतुर्लिंगौषध' शब्द चरक संहिता में इसी रूप में मिलता है। (सू अ १।२४), काश्यपसंहिता में भी यह शब्द इसी रूप में मिलता है। (हेतुलिंगौषधज्ञानै –विशेषकल्प)।

जातिभेद—चरक संहिता में वर्णभेद से चिकित्सा भेद नही है। संग्रह और हृदय मे भी नही है। यह भेद सुश्रुत संहिता में सबसे प्रथम मिलता है (शा अ १०) उसके बाद इस संहिता में है। यथा—

शूद्र को ब्राह्मी घृत नही पीना चाहिए, उससे इसका नाश होता है। यदि शूद्र स्त्री इस घी को पीती है, तो उसकी संतान मर जाती है, मरने के पीछे स्वर्ग नही पहुँचते इनका धर्म लुप्त हो जाता है (फक्क चिकित्सा)। (स्वर्ग को जाने की भावना चरक एव संग्रह में नही है)।

नये शब्द—ऋतु उत्पत्ति बताते हुए उत्सर्पिणी (उन्नतिकाल), अवसर्पिणी (अवनतिकाल) इन दो शब्दो का उल्लेख आता है। ये शब्द जैन शास्त्र में मिलते हैं। इनके आगे कृतयुग में मनुष्यो के शरीर का नाम 'नारायण' कहा गया है। इसका गर्भ में वास सात दिन कहा गया है। उत्पन्न होते ही यह सब कार्यो को करने में समर्थ होता है। इसको भूख, प्यास, थकान, ग्लानि, भय, ईर्षा, कुछ भी नही होता। न यह स्तन पीता है, धर्म-तप-ज्ञान-विज्ञान बहुत होता है। त्रेता में जो शरीर उत्पन्न होते हैं, उनका नाम अर्धनारायण है, इनमें एक अस्थि होती है। शरीर सिकुड और फैल नही सकता। गर्भावस्था का समय आठ मास है। यह स्तन्य (दूध) पीता है। द्वापर में कैशिक नामक शरीर उत्पन्न होता है। कलियुग में प्रज्ञप्ति पिशित शरीर उत्पन्न होता है। इसमें ३६३ अस्थियाँ होती है (भेल संहिता में भी यही संख्या है)।

नारायण शब्द सबसे प्रथम इस संहिता में आता है। पीछे की संहिताओ में (संग्रह-हृदय में) यह शब्द नही देखा जाता।

पंचमहाभूत, इन्द्रियो की उत्पत्ति का क्रम सांख्य दर्शन से सम्मत है। मन को अतीन्द्रिय माना गया है। महदादि सब क्षेत्रो को अव्यक्त कहा गया है। क्षेत्रज्ञ को नित्य, अचिन्त्य और आत्मा नाम दिया गया है। शरीर, इन्द्रिय, आत्मा, सत्त्व के समुदाय को पुरुष कहते है। ज्ञान का होना और न होना मन का लक्षण है, मन एक और अणु है, इत्यादि विवेचना चरक संहिता के आधार पर है।

अध्यायो का नामकरण भी चरक संहिता के अनुसार प्राय मिलता है। यथा—अतुल्य गोत्रीय-चरक में, असमानगोत्रीय शारीर-काश्यप में, गर्भावक्रान्ति, जाति-सूत्रीय नाम दोनो में एक समान है।

धूपदान (अर्चेदादित्यमुद्यन्त गन्धधूपार्घ्यवार्जपै । क्षीयमाण च शशिनमस्त्यान्त च भास्करम् ।। नपश्येद् गर्भिणी नित्य नाप्युभौ राहुदर्शने ।)के योग काश्यपसहिता में बहुत हैं। नाना प्रकार के धूप---कौमारधूप, माहेश्वर, भद्रङ्कर, रक्षोघ्न, दशाग, गृहधूप आदि हैं। धूपदान विधि विस्तार से दी गयी है(धूपकल्प)। धूपो की उत्पत्ति अग्नि से बतायी गयी है। इनका मुख्य उपयोग राक्षस, भूत, पिशाच और रोगो को दूर करने में है।

सातवाँ अध्याय

गुप्त काल

पूर्व गुप्त साम्राज्य

समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त

वाकाटक प्रवर सेन के मरते ही समुद्रगुप्त ने वाकाटक साम्राज्य पर हमला कर दिया। तीन-चार चढाइयो में ही उसने वाकाटक राज्य को जीत लिया। इसके पीछे समूचे गुजरात काठियावाड को जीतकर सारे भारत का 'महाराजाधिराज' वन गया। इसकी विजय का वृत्तान्त इलाहावाद किले में कौशाम्वीवाली लाट पर खुदा है। समुद्रगुप्त के सिक्के काठियावाड तक मिलते हैं।

मगव और अन्तर्वेद को जीतकर समुद्रगुप्त ने दक्खिन-पूरब तक मुख किया। मगव-कोशल (छत्तीस गढ), महाकान्तार (वस्तर) जीतता हुआ वह आन्ध्र देग की तरफ वढा। यहाँ इसका कलिंग, आन्ध्र के सरदारो तथा काची के पल्लवराजा सिंह-वर्मा के छोटे भाई विष्णु गोप ने मुकावला किया। युद्ध में ये हार गये और अवीनता स्वीकार करने पर छोड दिये गये। इस प्रकार वाकाटक राज्य के दो पहलू जीतकर समुद्रगुप्त ने इसके केन्द्र पर चढाई की। जिसमें प्रवरसेन का वेटा रुद्रदेव मारा गया। इस प्रकार से समुद्रगुप्त का राज्य कावुल-सिंहल तक छा गया था। सबने उसे अपना अविपति मान लिया था। इस विजय के उपलक्ष मे उसने अश्वमेघ किया। वह स्वय विद्वान् तथा काव्य एव सगीत में निपुण था। वह और उसके वगज विष्णु के उपासक थे (इतिहास प्रवेश के आवार पर)।

समुद्रगुप्त के पिता का नाम चन्द्रगुप्त था, जो कि घटोत्कच का पुत्र था। घटोत्कच को गुप्त (श्री गुप्त) का उत्तराविकारी कहा जाता है। गुप्तवश का अभ्युदय वास्तव में चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में हुआ। इसकी उपाधि महाराजाधिराज थी। यह इसके वश में चलती रही। सिक्को पर इसका नाम तथा इसकी रानी कुमारदेवी का नाम अकित है। कुमारदेवी लिच्छवी वश की कन्या थी, इसलिए समुद्रगुप्त लिच्छवियो का दौहित्र था। इसी सम्वन्व से लिच्छवियो की सहायता मिलने पर समुद्रगुप्त ने मगध में वाकाटक राज्य को परास्त किया। अशोक के वाद प्रतापी राजा समुद्रगुप्त ही

हुआ। समुद्रगुप्त ने लम्बे समय तक राज्य किया। इसकी मृत्यु ३८० ईस्वी के आस-पास हुई थी। समुद्रगुप्त की विजय कीर्त्ति इलाहाबाद के स्तम्भ पर जो हरिषेण ने खुदवायी है, वह उत्तम साहित्य का गद्य-पद्यमय रचना का सुन्दर उदाहरण है।

समुद्रगुप्त के पीछे प्रतापी राजा इसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय हुआ, जिसने अपने भाई की वधू ध्रुवदेवी की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखा था। पीछे इसने चन्द्रगुप्त द्वितीय से विवाह कर लिया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता की भाँति सग्राम यात्रा की, इसने पश्चिम को प्रथम जीता। इसका मुख्य अभियान गुजरात और काठियावाड के शको के प्रति था। इसमे चन्द्रगुप्त बहुत समय तक मालवा में रहा। इसकी पुष्टि भेलसा के पास उदयगिरी के स्तम्भ से होती है। इसमे रुद्रदामन तृतीय केवल हारा ही नही, उसका सारा राज्य भी छिन्न-भिन्न हो गया। यह सम्भवत पाचवी शताब्दी का समय है। पश्चिम मे जो क्षत्रप ३०० साल से राज्य कर रहे थे, इस समय उनका अन्त हुआ। इस प्रकार से इसका राज्य बगाल की खाडी से लेकर अरब समुद्र तक पश्चिम में फैल गया था। इस समय पश्चिम देशो से व्यापार सम्बन्ध स्थापित होने के कारण पश्चिमीय सभ्यता का प्रसार प्रारम्भ हो गया था। विक्रमादित्य उपाधि थी, जो इस चन्द्रगुप्त ने धारण किया था। यह उपाधि सम्भवत समुद्रगुप्त से इनको मिली थी[1]। विक्रमादित्य की सभा के कालिदास आदि नौ रत्न-वाली बात इसी के साथ सम्बन्धित है। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजय यात्रा का वर्णन दिल्ली की कुतुबमीनार के पास खडे लोहे के स्तम्भ पर खुदा है, परन्तु इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण नही है। सिन्धु को पार करके (सात मास मे) इसने वाह्लीक को जीता था। समुद्रगुप्त ने जिन कुशाणो को जीता था, उन्होने उसके मरने के पीछे शिर उठाया था। जिनके साथ लडते समय रामगुप्त कैद हो गया था। अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को

---

१. कालिदास ने रघुवश में रघु की जिस यात्रा का उल्लेख किया है, वह इसी की विजययात्रा का उल्लेख है, ऐसा बहुत मानते हैं। इसके प्रमाण में वहाँ पर प्रचलित 'स्यापा' रिवाजा का उल्लेख बताते हैं देखिये डा० अग्रवाल का हूण सम्बन्धी लेख।

'तत्र हूणावरोधाना भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपोलपाटनादेशि बभूव रघुचेष्टितम्॥' (रघु. ४।६८.)

इस पद में 'कपोलपाटला' पाठ के स्थान पर ऊपर का पाठ मानते है एव 'सिन्धुतीरविचेष्टनैः' के स्थान पर 'वंक्षुतीरविचेष्टनैः' पाठ मानते हैं।

देने पर छूटा था। इस समय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शको को परास्त किया था, जिससे प्रसन्न होकर ध्रुवदेवी ने चन्द्रगुप्त से शादी की थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पडोसी राजाओ से विवाह सम्बन्ध करके मित्रता बढायी। उसने नाग वंश में विवाह किया, अपनी कन्या प्रभावती का रुद्रसेन द्वितीय से विवाह किया।

इसी समय चीनी यात्री फाईयान आया था, जो कि लगभग दस वर्ष तक भारत में रहा (४०० से ४११ तक)। दौर्भाग्य से उसने इस समय के विषय में कुछ नही लिखा। चन्द्रगुप्त द्वितीय का समय गुप्तकाल का यौवन था। इस समय कला, विज्ञान, साहित्य की उन्नति चरम सीमा पर थी। इसका श्रेय समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय को है, जिससे यह समय 'स्वर्णयुग' के नाम से इतिहास मे प्रसिद्ध है। समुद्रगुप्त ने विजय यात्रा को प्रारम्भ किया था, उसके पुत्र चन्द्रगुप्त ने इसको पूरा किया और समुचित सघटित बनाया।

साहित्य के क्षेत्र में कालिदास इसी समय के कवि हैं, ज्योतिष में वराहमिहिर इसी समय हुए।[1]

अष्टाग सग्रह और वाग्भट

इस समय की अकेली पुस्तक वाग्भट की बनायी अष्टागसग्रह है। अष्टागहृदय इसी का पद्यमय सक्षिप्त रूप है। चरक और सुश्रुत के पीछे यही सहिता है। अष्टाग-सग्रह और अष्टागहृदय ये दोनो एक ही लेखक की कृतियाँ है (जिस प्रकार आजकल गोदान से सक्षिप्त गोदान बनाया गया है—दोनो के कर्त्ता प्रेमचन्द्र ही हैं)। सग्रह में गद्य और पद्य मिला है। उसे वृद्ध वाग्भट कहा जाता है। वाग्भट के पिता का नाम सिंह-गुप्त था। इसके पितामह का नाम वाग्भट था। गुरु का नाम अवलोकितेश्वर था। यह बौद्धधर्म को माननेवाला था। इत्सिग ने इसके सम्बन्ध मे लिखा है, जिससे कुछ विद्वान् इसको ७वी सदी में ले जाते हैं, जो उचित नही जँचता, जैसा हम आगे देखेंगे। अष्टागहृदय सहिता का अनुवाद तिब्बती भाषा मे भी हुआ है।[2] गुप्तकाल में पिता-

---

१. 'दी क्लासिकल एज'—पुस्तक भारतीय विद्या भवन के आधार पर—
'धन्वन्तरिक्षपणकाऽमरसिंहशकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासा ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपते सभाया रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

२. इसी समय हस्त्यायुर्वेद, अश्वशास्त्र (शालिहोत्र) की रचना हुई थी।

मह का नाम रखने की प्रवृत्ति मिलती है। यथा, चन्द्रगुप्त का बेटा समुद्रगुप्त, समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय हुआ।

इस समय भारतीय साहित्य में पश्चिमीय विज्ञान ने प्रवेश कर लिया था। वराह-मिहिर की पच सिद्धान्तिका में पितामह, रोमक, पौलिस, वाशिष्ठ और सूर्य के सिद्धान्त है। इनमे पिछले चार सिद्धान्त अधिक वैज्ञानिक है। कुछ लोगो की मान्यता है कि चार सिद्धान्त ग्रीक ज्योतिष से लिये गये है (इसी से शायद कहा है—'म्लेच्छा हि यवना-स्तेपु सम्यक्शास्त्रमिद स्थितम्। ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद्द्विज ॥ वृहत्सहिता २।) ४)। इसमें दूसरे और तीसरे नाम के विषय में कोई सन्देह का स्थान नही है।

इसी प्रकार चिकित्सा पर भी पश्चिम का प्रभाव दीखता है। इसमे पलाण्डु के वर्णन मे वाग्भट ने कहा है—

'यस्योपयोगेन शकाङ्गनाना लावण्यसारादिविनिर्मितानाम्।
कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विदेव ॥'
(संग्रह॰ उत्तर. अ. ४९)

शक स्त्रियों की कपोलकान्ति से चन्द्रमा भी लज्जित होता है। यह कपोल कान्ति पलाण्डु के सेवन से आयी है। शक स्त्रियो की कपोल कान्ति की प्रशसा कालिदास ने भी की है—

'यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमद न स॰।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥' (रघु. ४।२१).

पलाण्डु-मद्य-मास तीनो का सम्बन्ध इसी ग्रन्थ कर्त्ता ने वताया है। इनमे एक भी वस्तु विना दूसरे और तीसरे के पूर्ण नही होती ('सुतीव्रमारुतव्याधिघातिनो लशुनस्य च। मद्यमासवियुक्तस्य प्रयोगे स्यात् कियान् गुण ॥' 'आनूप जागलं मासं विधिनाप्युपकल्पितम्। मद्य सहायमप्राप्य सम्यक् परिणमेत् कथम् ॥' (सग्रह. चि. अ ९)।

इसी समय नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी। बौद्ध यात्री इत्सिग दस वर्ष तक नालन्दा में रहा था। उसने लिखा है कि "पहले (वैद्यक) की आठ शाखाए आठ पुस्तको में थी, परन्तु अब एक व्यक्ति ने उन सब का सग्रह करके एक पुस्तक बनायी है। हिन्दुस्तान के वैद्य उसका अनुसरण करके चिकित्सा करते है (रिकार्ड औफ वुद्धिस्ट प्रैक्टिस—में डा हार्नले)। इत्सिग का ऊपर का कथन वाग्भट के अष्टागसग्रह के ऊपर घटता है। इत्सिग का समय ६७५ से ६८५ के आस-पास है। परन्तु वाग्भट इससे पूर्व हुए है। व्याकरण से सम्बन्धित वाग्भट इससे भिन्न है, जिसके विषय में भर्तृहरि ने

कहा है—"हन्ते कर्मण्युपष्टम्भात् प्राप्तमर्थे तु सप्तमी । चतुर्थी वाधिकामाहुश्चूर्णि-भागुरिवाग्भटा ॥' (महाभाष्यदीपिका), अष्टागसग्रह के टीकाकार वाग्भट के शिष्य इन्दु ने उत्तरतत्र अ ५० की टीका में लिखा है—

पदार्थयोजनास्तु व्युत्पन्नाना प्रसिद्धा एवेत्यत आचार्येण नोक्ता । तासु च भवतो हरे श्लोकौ—

'ससर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरण लिंग शब्दस्यान्यस्य सन्निधि. ॥
सामर्थ्यमौचितिर्देश कालो व्यक्ति स्वरादय ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव ॥' अनयोरर्थ .—

इसमें प्रथम कारिका भर्तृहरि विरचित वाक्यपदीय २।३१७ में उपलब्ध होती है। दूसरी कारिका यद्यपि काशी सस्करण में उपलब्ध नही होती, तथापि प्रथम कारिका की पुण्यराज की टीका पृष्ठ २१६ पक्ति १६ से द्वितीय कारिका की व्याख्या छपी है। इसीसे प्रतीत होता है कि द्वितीय कारिका मुद्रित ग्रन्थ में छूट गयी है। वाक्यपदीय के कई हस्तलेखो में द्वितीय कारिका उपलब्ध है (सस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास पृष्ठ २६१)।

प्रख्यात ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर जो शक सवत् ४२१ [५५६ ईस्वी] में हुआ है, उसने बृहत्सहिता के कादर्पिक प्रकरण [अ० ७६] में माक्षिक आदि औषधियो का एक पाठ दिया है, जो कि अष्टागसग्रह में से [उत्तर स्थान अ० ४९] लिया गया है। इस लिए वाग्भट का समय पाँचवी शती के आसपास निश्चित है। 'कलौ-वाग्भटनाम्ना तु' कलियुग में वाग्भट नाम का धन्वन्तरिका अवतार होगा या प्रसिद्ध वैद्य होगा ऐसी दन्त कथाएँ इसकी ख्याति बताती हैं। प्रबन्ध चिन्तामणि में कहा गया है कि वाग्भट ने राजा भोग का यक्ष्मा रोग औषध की गन्ध से अच्छा कर दिया था। ये सब दन्त कथाएँ इसकी ख्याति के लिए हैं [श्री दुर्गाशकर जी शास्त्री]।

वाग्भट का जन्म स्थान सिन्धु था। इनके पिता का नाम सिह गुप्त और पितामह का नाम वाग्भट था। गुरु का नाम अवलोकितेश्वर था, उनका धर्म बौद्ध था। इतना परिचय ग्रन्थ कर्त्ता ने स्वत दिया है।[1]

---

१. "भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून्मे पितामहो नामधरोऽस्मि यस्य ।
सुतो भवत्तस्य च सिंहगुप्तस्तस्याप्यह सिन्धुषु लब्धजन्मा ॥
समधिगम्य गुरोरवलोकितात् गुरुतराच्च पितु प्रतिभां मया ॥'
(सग्रह. उत्तर. अ ५०).

अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय—वाग्भट का नाम इन दोनो सहिताओ के साथ जुडा है। अष्टागसग्रह पद्य और गद्य दोनो मे है, अष्टागहृदय केवल पद्य में है। दोनो में पद्य-लालित्य तथा गद्य की रचना उत्तम कोटि की है। विषय का वर्णन इसमे विशेष आकर्षक है। मद्यपान के लिए जो सुन्दर श्लोक वनाये गये हैं, यह इसकी अपनी विशेपता है। ये श्लोक दोनो सहिताओ मे एक-से है। इसके अतिरिक्त वहुत से वाक्य एव वस्तु एक ही मिलते हैं। हेमाद्रि ने अपनी टीका में अष्टागसग्रह का पाठ पूर्णत उठाया है, जिससे विपय साफ हो जाता है।

दोनो सहिताओ मे 'अलिञ्जर' शब्द आता है (अलिञ्जरा पद्मपुटाभिधाना—सग्रह चि अ ९), यह शब्द गुप्तकाल का ही है, जिसका अर्थ वडे मटके हैं। इसी प्रकार रचना में भिन्न-भिन्न छन्दो का योग, लम्बे-लम्बे वाक्यो की सुन्दर रचना (सू अ २१।४ में) इनको गुप्त कालीन सिद्ध करती है।[1] गुप्त काल की कला का सजीव चित्रण वाग्भट ने मदात्यय-प्रकरण में किया है।

वाग्भट ने प्रथम यौवन काल में सुश्रुत-चरक तथा अन्य सहिताओ के आधार पर (जैसे—पराशर, आदि का मत—सू अ २१ में, नग्नजित्—विदेह का मत—विषप्रतिप्रतिषेध में) सग्रह को वनाया। सग्रह वहुत विस्तृत हो गया था। हृदय वनाया, जैसा स्वय उन्होंने लिखा है—इसके वाद आठ अगोवाले आयुर्वेद समुद्र का मन्थन करने से जो अष्टागसग्रह रूप वडी अमृत राशि मैंने प्राप्त की थी, उसी के आधार पर जो व्यक्ति थोडे परिश्रम से वहुत अधिक फल की इच्छा करते है, उनके लिए यह अष्टागहृदय पृथक् ग्रन्थ वनाया है। इस हृदय को पढ लेने पर सग्रह ठीक प्रकार से समझकर अच्छी प्रकार चिकित्सा कर्म का अभ्यास करके वैद्यो से नही घवराता। चरक आदि अन्य वडे-वडे ग्रन्थो को पढनेवाला दूसरे वैद्यो को यदि पराजित कर देता है, तो इसमें कोई आश्चर्य नही है। (हृदय अ ४०।८०, ४०।८३) दोनो सहिताओ का कर्त्ता एक है, केवल आयु एव काल का भेद है। मनुष्य आयु ज्यो-ज्यो वढती है, त्यो-त्यो उसका अनुभव ज्ञान विकसित होता जाता है और उसके विचारो में प्रौढता तथा परिपक्वता आ जाती है। यह प्रौढता और परिपक्वता अष्टागहृदय में स्पष्ट है। उस समय पुन सस्करण होने की इतनी सम्भावना नही थी, जितनी आज है। इसलिए हृदय में जो नयी वस्तु या कुछ योग मिलते हैं, वे पिछले अनुभव एव ज्ञान के परिणाम रूप ही हैं। दोनो का कर्त्ता एक

---

१. संग्रह में वच्चो का जो वर्णन आया है, वह कालिदास के शिशु वर्णन से मिलता है।

ही है। नाम साम्य, भाव साम्य, वाक्य साम्य, रचना साम्य और क्रम साम्य ये सब बातें इनमें भेद नही बताती।

बौद्ध वाग्भट—वाग्भट स्वय बौद्धधर्म का अनुयायी था। इसीलिए उसने वैदिक मत्र देने के साथ बौद्धो का मत्र भी दिया है। (सग्रह सू अ २७।१३-१४) बौद्धो के दशकर्म का उल्लेख सग्रह में हैं—

"दशकर्मपथान् रक्षन् जयन्नभ्यन्तरानरीन्।' (सू अ ३।१६).

सौन्दरानन्द में भी इन दश कर्म पथो का उल्लेख है—

'इति कर्मणा दशविधेन परमकुशलेन भूरिणा।
भ्रशिनि शिथिलगुणोऽपि युगे विजहार तत्रमुनिसश्रयान् जन ॥'
(सौन्दर ३।३७).

१ प्राणातिपात विरति, २ अदत्तदान दानविरति, २ काममिथ्याचार विरति, ४ मृपावाद विरति, ५ पिशुनवचन विरति, ६ परुषवचन विरति, ७ प्रलाप विरति, ८ अभिध्या विरति, ९ अव्यापाद, १० असम्यक् दृष्टि विरति। इन दस प्रकार के पापो को छोडना चाहिए।

इसी प्रकार 'शास्ता' (सू अ ३।१२०) बुद्ध का नाम लेकर अपनी शय्या पर जाय, धारणी जो बौद्धो का मत्र (सू अ ८।१०१,९९) आर्या-अवलोकितेश्वर और आर्यतारा ये बोद्धो के देवता हैं (सू अ ८।९४), आर्या-अवलोकितेश्वर तो बुद्ध के रूपान्तर है, एक बोधिसत्त्व की सज्ञा है, जो वर्त्तमान कल्प के अधिष्ठाता हैं।

'आर्यावलोकित पर्णशवरीमपराजिताम्।
प्रणमेदार्यतारा च सर्वज्वरनिवृत्तये ॥' (चि अ २)

इस अवतरण में आर्यावलोकित, पर्णशवरी, अपराजिता, आर्यतारा आदि सब बौद्ध देवताओं का उल्लेख है। इसी प्रसग में चरक में विष्णुसहस्रनाम, महादेव की पूजा का उल्लेख है ('सोम सानुचरेदेव समातृगणमीश्वरम्। पूजयन् प्रयत शीघ्र मुच्यते विषमज्वरात्' चि अ ३।३१०)।

उत्तर स्थान में एक स्थान पर द्वादशभुजी अवलोकितेश्वर का उल्लेख है—

'ईश्वर द्वादशभुज नाथमार्यावलोकितम्।
सर्वव्याधिचिकित्सा च जपन् सर्वगुहान् जयेत् ॥' (उत्तर. अ. ८)

इसमें आर्यावलोकित के साथ ईश्वर नाम जोडकर पूरा नाम आर्यावलोकितेश्वर होता है। इसकी द्वादश भुजाओ की मूर्त्ति की कल्पना वाग्भट के समय हो गयी थी।

देवी अपराजिता—इसका उल्लेख उत्तर तंत्र में आया है (भूर्जे रोचनया विद्या लिखितामपराजिताम्। विविना माधिता भूतैं सर्वैरप्यपराजिताम्' । ८) । गोरोचना से भूर्जपत्रपर लिखकर पूजा करे।[1]

सग्रह के मगलाचरण में "वुद्धाय तस्मै नम" कहकर वुद्ध को नमस्कार किया है । हृदय के मगलाचरण में साक्षात् वुद्ध का नाम न लेकर नमस्कार करने की प्रथा गुप्त-कालीन है। 'अपूर्व वैद्य' शब्द ही गुप्तकाल में वुद्ध के लिए प्रचलित था; इसीलिए सग्रह में स्थान-स्थान पर 'भैपज्यगुरवे' शब्द आता है (सू अ २७।१४)। "नमश्च-क्षुपरिशोवनराजाय तथागतायार्हते सम्यक् सवुद्धाय"—(सू अ ८) में वुद्ध को नमस्कार किया है। वुद्ध के लिए वैद्यराज शब्द आता है (स वैद्यराजोऽमृतभेपज-प्रद—ललितविस्तर) अमृत औपध देकर भवरोग के हरनेवाले वैद्यराज है।

रोग समूह को नष्ट करनेवाले उत्तम वैद्य के लिए कहा गया है कि उसका कर्म उसी प्रकार प्रशसनीय है, जैसे—महावोविसत्त्वो के चरित (सग्रह उ ५०)।

सग्रह और हृदय दोनो में महामायूरी विद्या का उल्लेख मिलता है (सग्रह उत्तर-अ ८, हृदय उत्तर ५।५१)। महामायूरी वौद्धो के पाँच वडे मत्रो में से एक थी जो पचरक्षा के नाम से प्रमिद्ध है । चौथी और आठवी शती के वीच मे कई वार सस्कृत महामायूरी का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ है। पहिला अनुवाद भिक्षुपो श्रीमित्र ने ३१७ और ३२२ के वीच में किया। दूसरी वार कुमार जीव (४०२ से ४१२) ने महामयूरी का नया अनुवाद प्रस्तुत किया। इन अधूरे अनुवादो के तीन पूरे चीनी अनु-वाद भी मिले हैं। पहला सघवर्मन ने (५१६ ईस्वी), दूसरा इत्सिग ने (७०५ ईस्वी), तीसरा अमोघवज्र ने (७४६-७७१ मे) किया है । तिव्वती भाषा में भी शिलेन्द्रवोधि, ज्ञानसिद्धि और शाक्यप्रभ के लिए महामायूरी के अनुवाद तजूर के संग्रह मे मिले हैं। इससे ज्ञात होता है कि चौथी शती से ७वी शताव्दी तक महामयूरी का अत्यधिक प्रचार था। वाग्भट और वाणभट्ट दोनो के उल्लेख इस पृष्ठ भूमि में समझे जा सकते है।

सग्रह में वौद्ध पारिभाषिक शब्द 'धारिणी' का भी उल्लेख आया है (धारिणीमिमा धारयन्—सू अ ८), धारणी का अभिप्राय देवता के ध्यान मत्र से है।" "मायूरी, महा-मयूरी आर्या, रत्नकेतु, धारिणी" इनको दोनो समय सूतिकागार में पढने के लिए कहा गया है। (उत्तर० अ० १)।

---

१. वौद्ध ग्रन्थो में गणेश को पददलित करनेवाली देवी अपराजिता कही गयी है। इसकी मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं।

किया और जिन्होंने गुरु से सुनकर इनमें से किस में श्रद्धा करनी चाहिए ? यह समझना चाहिए (स्मरण करनेवालो की अपेक्षा सुननेवालो का ज्ञान प्रत्यक्ष होने से अधिक प्रामाणिक है, मैंने गुरु अवलोकितेश्वर से सुना है, इसलिए मेरी रचना अधिक प्रामाणिक है)। अथवा जिन्होंने स्मरण किया था, उन्हीं की परम्परा से मैंने इस शास्त्र को पढा है। इसलिए अभिधाता वक्ता का विचार करना व्यर्थ है। मैनफल वमन कराता है; त्रिवृत्त विरेचन कराता है; इसको मैं कहूँ या अत्रि कहें तो वक्ता के कहने से गुणो में अन्तर नही आता। जिसमें ठीक और बुरा पहिचानने की बुद्धि नही होती, वही लोक में प्रचलित रेखा का अनुसरण करता है—रेखा का फकीर होता है (साध्व साध्विवि-विवेकयुक्तोलोकपक्तिकृतभक्तिविशेष ।' ऐसा व्यक्ति मूर्ख ही होता है; विद्वान तो अच्छी कही बात को पसन्द करता है (बालिशो भवति नो खलु विद्वान् सूक्त एव रमते मतिरस्य—सग्रह उत्तर)।

सग्रह में कही गयी यह बात हृदय में और भी स्पष्ट तथा जोर देकर कही गयी है—यदि केवल चरक ही पढते हो तो सुश्रुत में वर्णित रोगो को नही समझ सकते; यदि सुश्रुत को पढते हो तो चरक मे कही दोष दुष्य काल, वल, आदि का ज्ञान ठीक से नही होता। वस्तु के पक्षपात में जिसका मन फँसा हो, ऐसा मूर्ख अच्छे कहे वाक्य में आदर न रखकर सारी आयु भर ब्रह्मा से कहे प्रथम आयुर्वेद को भले पढ़ता रहे। वक्ता के कहने से ही द्रव्य की शक्ति मे भिन्नता नही आती। इसलिए मत्सर बुद्धि को छोड़कर मध्यस्थता निरपेक्षता का सहारा लेना चाहिए। वात को तैल, पित्त को घी, कफ को मधु शान्त करता है, इसमें वक्ता कहने मात्र से अन्तर नही आता।

यदि यह हठ है कि ऋषि प्रणीत ही ग्रन्थ पढने है, तो चरक-सुश्रुत को छोड़कर भेल, जतुकर्ण आदि के ग्रन्थ क्यो नही पढते—वे भी ऋषि प्रणीत हैं। इसलिए अच्छे वचनो को, विना वक्ता का विचार करके ग्रहण करो (हृदय उत्तर. अ. ४०-८४-८८)।

अन्त में दोनो सहिताओ में एक ही प्रकार से ससार की मगल कामना की गयी है, जिसमें भगवान् वुद्ध का वचन 'वहुजन हिताय, वहुजनसुखाय, चरत भिक्षवे, चरत भिक्षुवे' का ही भाव है, यथा—

> 'हृदयमिव हृदयमेतत्सर्वायुर्वेदवाङ्मयपयोधेः।
> कृत्वा यच्छुभमाप्त शुभमस्तु परं ततो जगत.॥' (हृदय. उत्तर. अ. ४०।९)
> इति मुनिवचनानां जीवितोपश्रयाणामभिलषितसमृद्धौ कल्पवृक्षोपमानाम्।
> यदुदितमिह पुण्यं कुर्वतो मेऽनुवादं भवतु विगतरोगो निर्वृतस्तेन लोक॥'
>
> (उत्तर.)

ग्रन्थ में मगल कामना नाटको के अन्तिम भरत वाक्य का स्मरण दिलाती है, जो गुप्तकाल की प्रथा है। इसी समय प्राय नाटको की रचना हुई है।

सग्रह की रचना—वाग्भट ने सग्रह के प्रारम्भ में स्पष्ट कर दिया है कि सब तन्त्रो का सग्रह करके उनसे सार भाग लेकर मै अष्टाग सग्रह बनाता हूँ। इस सग्रह में अस्थान, अति विस्तार सक्षेप, और पुनरुक्ति दोष नही है। सग्रह में जो परम्परा दी गयी है, उसमें पुनर्वसु के साथ धन्वन्तरि, भारद्वाज, निमि, काश्यप, कश्यप सबका उल्लेख इन्द्र के पास जाने में किया है। इनके शिष्यो मे अग्निवेश, हारीत, भेड के साथ माण्डव्य, सुश्रुत, कराल का नाम भी सुना जाता है। इसलिए इन सबके शास्त्रो का सग्रह जरूर कर्त्ता ने किया है। उदाहरण के लिए भेल सहिता से तथा चरकसहिता से मिलाकर इसे लिखा है, यथा—

'स्नानं सुगन्धै स्नानीयैं कृत्वा त्वगनुलेपनम्। इत्यादि

भेल के "कान्ता सुमध्यवयस" के स्थान पर, "मध्य वय किञ्चिदिव स्पृशन्त" सग्रह ने रखा है। दोनो की रचना गुप्तकालीन सस्कृत का भेद स्पष्ट कर देती है।

इतना ही नही विविधगणसग्रह अध्याय (सू अ १६) मे ओषधियो का सूखा विषय ऐसे सुन्दर छदो में वर्णित किया गया है, जिससे याद करने में कठिनाई नही होती। इसी प्रकार चरकसहिता का महाकषाय की औषधियाँ भी छदोबद्ध कर दी गयी जिससे इनको याद कर लिया जाय।

चरक सहिता का सम्पूर्णत अनुकरण करते हुए भी विषय को स्पष्ट किया गया है। यथा, चरक में शरीर के उपस्तम्भ आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य कहे गये हैं (सू अ ११)। सुश्रुत में ब्रह्मचर्य के कारण क्लीवता कही गयी है, चरक में भी वीर्य के प्रतिघात से क्लीवता का उल्लेख है। इसलिए ब्रह्मचर्य का अर्थ स्पष्ट कर दिया, यह अर्थ वही है, जो कि मनुस्मृति का है अर्थात् ऋतुकाल में सहवास करने पर भी गृहस्थ ब्रह्मचारी ही रहता है, इसी से कहा "मन शरीरस्थितिमात्रमेव सेवेद्व्यवाय न च तत्पर स्यात्'—यह बीच का मार्ग निकाल दिया। इस प्रकार से दोनो चरक-सुश्रुत की सगति बनायी गयी है।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति के 'पचपिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात्परवारिणि'—इस वाक्य को इसी रूप में ले लिया है (सू अ ३।७१)—दूसरे के बनाये तालाब में से मिट्टी के पाँच पिण्ड निकाल कर ही स्नान करना चाहिए।

अष्टाग सग्रह में अपने समय के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो का प्रतिपादन बहुत ही सरलता से किया गया है, यथा—वात, पित्त, कफ इन दोषो में सन्निपात होने पर किस दोष का

प्रथम शमन करना चाहिए इसके लिए भिन्न-भिन्न विचार दिये गये है (सू अ २१।-१६-२५)।

पराशर का मत है कि वात-पित्त-कफ के सन्निपात में समान बल होने पर प्रथम वायु का शमन करना चाहिए, क्योकि वायु ही इन सबको चलानेवाला है। नेता के जीत लेने पर उसके साथ सम्पूर्ण सेना हार जाती है। दूसरे आचार्य स्थान के अनुसार दोप का शमन कहते है। उनके मत से प्रथम कफ को जीतना चाहिए। शिर, छाती, कण्ठ ये कफ के स्थान है, कफ के इन स्थानो में रहने से अन्न में रुचि नही हो सकती। रुचि न होने से औषध-अन्न का पाचन नही होगा। इसलिए प्रथम कफ को शान्त करना चाहिए, यही कफ शरीर के द्वार का अर्गल है। अत पित्त या वायु का शमन करना चाहिए। तीसरा विचार सुश्रुत का है—सुश्रुत का कहना कि सब रोगो में एक ही विचार सर्वत्र नही है। ज्वर, अतिसार में पित्त, कफ, वायु इस क्रम से दोषो को शान्त करना चाहिए। चौथा विचार कि ज्वर में प्रथम कफ, फिर पित्त और अतमें वायु को शान्त करना चाहिए। क्योकि आमाशय के ज्वर में उत्क्लेशित होने से पित्त के लिए दी गयी औषधि कफ को और भी वढायेगी। इसलिए जव ये दोष अपने स्थान में स्थित हो तब कफ, पित्त और वायु इस क्रम से इनको शान्त करना चाहिए।

इस प्रकार से उस समय के भिन्न-भिन्न विचार स्पष्ट कर दिये गये हैं। इसी प्रकार विप के वेगो में नग्नजित और विदेह के मत दिये गये है (सप्तमे मरण वेग इति नग्नजितो मतम्। २ सप्तेति वेगामूर्च्छाद्या विदेहपतिना स्मृता। ३ आश्रय. सप्त-सप्तानामित्यालम्बायनोऽब्रवीत्। ४. वेगान् धन्वन्तरिस्तद्वत् सर्पदष्टस्य मन्यते॥ मुनिना येन यत्तूक्त तत्सर्वमिह दर्शितम्)। यह कहकर सब आचार्यो के मत दिखा दिये गये है।[1]

वस्तु का प्रतिपादन तथा उसमें विप्रत्तिपत्ति बहुत ही सुन्दरता से समझायी गयी है। यथा—आँख तेज का प्रतिनिधि है, यही चक्षु सूर्य या धूप से फिर कैसे दूषित होती

---

१. सग्रह के टीकाकार इन्दु ने इस पर बहुत अच्छा श्लोक दिया है—

'स्मर्त्तारो वयमागमस्य न पुनः कर्तुं व्यवस्था क्षमाः
क्रान्ते वर्त्मनि तैर्न भावगहने बुद्धिः प्रविच्छत्यलम्।
पारावारदृश. करामलकवत् पश्यन्ति भावान् सुख,
ये तेषां रसना प्रयातु गदितं यद्युक्तमत्रास्फुटम्॥'

है ? इसे चाकू या शस्त्र और पत्थर के उदाहरण से समझाया है (अश्मनो जन्म लोहस्य तत एव च तीक्ष्णता। उपघातोऽपि तेनैव तथा नेत्रस्य तेजस ॥ हृदय सू अ २३।२१)। लोहा पत्थर मे ही निकलता है, पत्थर से ही तेज होता है और पत्थर पर गिरकर ही कुण्ठित हो जाता है।

इसी प्रकार गर्भ धारण के समय जीव के आने को मणि (लैन्स) में सूर्य की किरणो के आने से समझाया है। सूर्य की किरणें लैन्स मे आती नही दीखती है, परन्तु तिनके आदि जलाने के कार्य से उनका आना स्पष्ट होता है। इसी प्रकार जीव का आना प्रतिदिन आनेवाली वृद्धि से ज्ञात होता है ('तेजो यथाऽर्करश्मीना स्फटिकेन तिरस्कृतम् नेन्धन दृश्यते गच्छत्सत्त्वो गर्भाशय तथा॥' हृदय शा १।३)।

ये दोनो उदाहरण अष्टाग हृदय मे है, जो ग्रन्थकर्त्ता के प्रौढ विचारो की पुष्टि एव अनुभव के द्योतक है, क्योकि विषय को सरल बनाने के लिए ही ये उदाहरण है। सग्रह में जितने ऊहापोह विचार विनिमय, भिन्न-भिन्न मत मिलते है, हृदय में वे नही है। हृदय में विषय बहुत ही सरल ढग से प्रतिपादित किया गया है। हृदय के अध्यायो की सख्या भी एक सौ बीस है, जो आयुर्वेद प्रणाली मे युक्तिसगत है। सग्रह में अध्याय सख्या एक सौ पचास है। इसमें सुश्रुत का शल्य अग तथा चरक का काय चिकित्सा अग एव उस समय के भिन्न-भिन्न विचार सबका सग्रह किया गया है। इसलिए ग्रन्थ का कलेवर बढना स्वाभाविक है।

चरक के सिद्धिस्थान में दी गयी बस्तियो का चलन सम्भवत सुश्रुत के समय में ही कम हो गया था। सग्रह के समय मे तो इनका अवश्य बहुत प्रचार नही दीखता। बस्तियाँ ही आवश्यक है—चरक से सम्मत है। सुश्रुत के शल्य अग में विस्तार, नये यत्र शस्त्र तथा नवीन क्रिया का उल्लेख मिलता है। अजन के विषय में अजन शोधन, अजन लगाना इसके सम्बन्ध में सग्रह से अधिक विवेचना अन्यत्र नही है। योनि व्रणेक्षण यत्र तथा पलको के बाल उखाडने के लिए तथा सूक्ष्म शल्य को निकालने के लिए एक सदेश का अधिक उल्लेख किया है। दूसरा यत्र मुचुण्डी (मोचना) है, शल्यनिर्घातनी यत्र नया वाग्भट ने कहा है, इसका उपयोग शरीर में गहरे घुसे शल्य को निकालने मे किया जाता था। वाग्भट ने यत्रो-शस्त्रो तथा शल्यचिकित्सा का पूर्णत क्रियात्मक रूप वर्णित किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ के पढने से यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकर्त्ता ने प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष किया है, कोई भी वस्तु या वाक्य ऐसा नही जिसमे कठिनाई, अस्वाभाविकता की झलक दीखे। यदि चरक-सुश्रुत के प्रति ऋषि या आर्ष का प्रश्न हटा दिया जाय तो सग्रह ग्रन्थ अकेला ही दोनो शास्त्रो का सम्यक् ज्ञान करा सकता है।

चिकित्सा कर्म के सम्बन्ध में जो ग्रन्थकर्त्ता ने कहा है कि "स्वभ्यस्तकर्मा भिपगप्रकम्प्य·, आकम्पत्यन्यविशालतन्त्र" ठीक ही है।

अष्टाग हृदय के व्याख्याकार—भिपगाचार्य हरिशास्त्री पराडकर का कहना है कि अष्टागसग्रह पर जैज्जट आदि की वनायी दो-तीन टीकाएँ थी । इस समय इन्दु की शशिलेखा टीका मिलती है। यही एक टीका सम्पूर्ण है। त्रिचूर के मगलोदय प्रेस से वैद्य टी० रुद्रपारशव ने १९२६ में इसे प्रकाशित किया था।

इन्दु की टीका का नाम शशिलेखा है, शशिकला रूप से शकर को नमस्कार किया है "प्रोद्भासि स्वच्छशखस्फुटशशिकलोद्दामवैशद्यहृद्या" इससे स्पष्ट है कि इन्दु ब्राह्मण या वैदिक सस्कृति को मानते थे। वाहट की उक्तियाँ कठिन हैं, उनका परिष्कार करने के लिए इसने व्याख्या की है—

'दुर्व्याख्याविपसुप्तस्य वाहटस्यास्मदुक्तयः ।
सन्तु सवित्तिदायिन्यःसदागमपरिष्कृताः ॥'

इन्दुका उल्लेख हेमाद्रि की अष्टागहृदय की टीका (सू अ ७। श्लोक ४०) में है ।[१] इससे पुराना उल्लेख नही मिलता। इसलिए १३वी शती से पूर्व इन्दु की स्थिति निश्चित है। इसके साथ ही केरल के वैद्यो में प्रचलित दन्तकथा के आधार से तत्र-युक्तिविचार नामक ग्रन्थ के लेखक वैद्य नील मेघ ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में इन्दु और जैज्जट को वाग्भट का शिष्य कहा है। इन्दु ने अष्टाग हृदय पर भी टीका की थी, ऐसी हरिशास्त्री पराडकर जी की मान्यता है। दक्षिण में अष्टाग सग्रह का विशेप प्रचार है—उनका कहना है कि—

'अष्टागसग्रहे ज्ञाते वृथा प्राक्तत्रयोः श्रमः ।
अष्टांगसग्रहेऽज्ञाते वृथा प्राक्तत्रयोः श्रमः ॥'

अष्टांग हृदय के टीकाकार—अष्टागहृदय पर सवसे अधिक टीकाएँ हुई हैं। आयुर्वेद के किसी ग्रन्थ पर शायद इतनी अधिक व्याख्याएँ नही हुई। चरक, सुश्रुत के टीकाकार जैज्जट जैसे विद्वानो ने इसकी टीका की है। शिवदास सेन जी ने चरक, चक्रदत्त, द्रव्यगुण सग्रह की टीका के साथ इस पर भी टीका लिखी है, जिसका उत्तर तत्र जयपुर से प्रकाशित हुआ है। इसमें पराडकर जी ने हरिश्चन्द्र को भी अप्टाग

---

१. मधु क्षौद्रम्, मार्द्वीकम् इत्यरुणदत्तः, मैरेयो धान्यासव·, इति चन्द्रनन्दन·, वर्जरासव इत्यरुणदत्त. इन्दुश्च । मैरेयो धातकीपुप्पगुडधान्यक्षसहित.—इति माधवकारः ॥

हृदय का टीकाकार माना है। किस आधार पर यह लिखा है, यह पता नहीं; हरिश्चन्द्र तो वाग्भट से पहले हो गये हैं। अरुणदत्त और हेमाद्रि ने अष्टांगसंग्रह के कुछ वचन अपनी टीका में ऐसे दिये हैं, जो प्रकाशित संग्रह में नहीं मिलते।

पराडकर जी ने ३८ टीकाओं का उल्लेख किया है, जिनमें ११ के कर्त्ताओं का पता नहीं। इस तालिका में कर्णाटी, द्राविडी, केरली आदि टीकाओं का उल्लेख है। इन टीकाओं में से ३ टीकाएँ छपी हैं। सर्वांग सुन्दर तथा आयुर्वेद रसायन। शेष में से नौ टीकाओं का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

१. आशाधर की उद्योत टीका—इसका उल्लेख पीटर्स ने आशाधर के ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए किया है। परन्तु ऑफ्रेट के 'केटलॉगस कैटलॉग' में इसकी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख नहीं। आशाधर सपादलक्ष का जैन विद्वान् था और १२४० ई० में विद्यमान था।

२ चन्द्रनन्दन की पदार्थचन्द्रिका—ऑफ्रेट में इसकी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख है। श्री पराडकर के पास इसकी हस्तलिखित प्रति है। चन्द्रनन्दन का हेमाद्रि और डल्हण ने उल्लेख किया है, इसलिए यह दसवीं शती से पूर्व हुए हैं।

३ रामनाथ की टीका की हस्तलिखित प्रति का भी ऑफ्रेट में उल्लेख है, सूत्रस्थान की टीका वेंकटेश्वर प्रेस में छपी है।

४ टोडरमल्ल की टीका का उल्लेख भी इसी में है। श्री पराडकर जी को भी इसकी हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई थी। यह टोडरमल्ल मुगल बादशाह अकबर के मंत्री थे। इनके नाम पर 'टोडरानन्द' नाम का वैद्यक ग्रन्थ बना है।

५ पाठ्या नाम की एक टीका का भी उसमें उल्लेख है।

६-७ हृदय प्रबोधिका और बालप्रबोधिका—इन दो टीकाओं का भी इसमें उल्लेख है।

८ भट्ट नरहरि या नृसिंह कवि भट्ट शिवदेव के पुत्र की वाग्भट खंडन-मंडन टीका का भी इसमें उल्लेख है।

९. दामोदर की संकेतमंजरी का भी इसमें उल्लेख है।

१० अरुणदत्त की सर्वांगसुन्दरी टीका सम्पूर्ण मिलती है। यह अरुणदत्त मङ्गलदत्त का पुत्र आयुर्वेद तथा संस्कृत साहित्य का अच्छा ज्ञाता था। इसने अनेक आयुर्वेद तंत्रों में से उतारा किया है। टीका में अरुणदत्त ने अपने बनाये पद्य भी लिखे हैं। अरुणदत्त वैदिक धर्मावलम्बी था, यह वस्तु मंगलाचरण से स्पष्ट है। अरुणदत्त का समय—वाचस्पति ने माधवनिदान पर आतंकदर्पण नाम की टीका

लिखी है। इस टीका के प्रारम्भ में उसने लिखा है कि स्वय विजयरक्षित और श्रीकण्ठ की मधुकोश टीका देखी है । विजयरक्षित ने चक्रदत्त का उल्लेख किया है, तथा आँख की रचना मे अरुणदत्त के मत का खण्डन किया है, यहाँ पर अरुणदत्त का नाम नही लिखा, परन्तु अरुणदत्त के दिये मत से सर्वथा विपरीत मत है (अ हृ उ अ १२, श्लोक १ की टीका)।

वाचस्पति ने टीका के आरम्भ श्लोक में कहा है कि उनके पिता हम्मीर राज्य की सभा में और इनके बडे भाई महम्मद राजा की सभा में थे। हर्नले का विचार है कि महम्मद से महम्मद गोरी लेना चाहिए (११९३ से १२०५ई०)। परन्तु विजयरक्षित का समय १२३९ ई० योगरत्नमाला के लेखक गुणाकर ने लिखा है। परन्तु यह उल्लेख देखने मे नही आया (श्री दुर्गाशकर जी का कहना है)। इसके आधार पर हर्नले तीनो विद्वानो का समय इस प्रकार मानते है—

अरुणदत्त—१२२० ई० के लगभग, विजयरक्षित १२४० ई० के लगभग, वाचस्पति १२६० ई० के लगभग।

विजयरक्षित का समय हर्नले ने १२४० ही माना है, यह शकास्पद है। विजयरक्षित के शिष्य श्रीकण्ठ ने हेमाद्रि का उल्लेख किया है। इसलिए विजयरक्षित और श्रीकण्ठ का १३०० ई० से पूर्व होना सम्भव नही और वाचस्पति को इनके पीछे १४०० ई० में होना चाहिए। उनके लिखे मुहम्मद मुहम्मदगोरी नही, परन्तु पीछे के दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन मुहम्मदशाह (१२९६ से १३१६ ई०) या मुहम्मद तुगलक (१३२५ से १३५१) इनमें से कोई एक होना चाहिए। हम्मीर रणथम्भोर के चौहान हम्मीर का समय १२८२ से१३०१)होना चाहिए। ऐसा सब विवेचना से स्पष्ट होता है।

अरुणदत्त का समय जिसका उल्लेख हेमाद्रि ने किया है, १२२० ई० से पूर्व होना चाहिए। क्योंकि उसने सातवी शती के बाण और आठवी शती के माघ का उल्लेख किया है, परन्तु उसके पीछे के किसी कवि का उल्लेख नही किया। इसलिए सम्भवत वृन्द एव चक्रपाणि के समय का होना चाहिए, जो कि १२०० के समय सम्भावित है।

हेमाद्रि—अष्टागहृदय पर दूसरी टीका हेमाद्रि की है। इस टीका का नाम आयुर्वेदरसायन है, यह सूत्रस्थान, कल्पस्थान पर पूरी है। निदान चिकित्सा स्थान पर पाँच छ अध्यायो की है।

यह हेमाद्रि चतुर्वर्ग चिन्तामणि ग्रन्थ के कर्त्ता के नाम से सस्कृत साहित्य के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। यह देवगिरी के यादव राजा महादेव (१२६० से १२७१ ई० तक)और उनके अनुयायी रामचन्द्र (१२७१ से १३०९ ई०) का मत्री था। इसने बहुत से

सस्कृत ग्रन्थ लिखे हैं। हेमाद्रि या हेमोदपन्त के नाम से महाराष्ट्र में बहुत से पुराने बोध काम हुए हैं। हेमाद्रि ने आयुर्वेद रसायन टीका चतुर्वग चिन्तामणि बनाने के पीछे (१२७१ से १३०९) लिखी है, ऐसा विचार श्री पी० के गोडे का है। उनका यह आधार आयुर्वेद रसायन के प्रारम्भिक श्लोको के ऊपर है।[1] हेमाद्रि की टीका विद्वत्ता की सूचक और उल्लेखो उद्धरणो से भरी हैं। इस टीका में अष्टागसग्रह का बहुत भाग आ जाता है। लेखक को अष्टागसग्रह का हिन्दी अनुवाद करने में पर्याप्त पाठ इसी से मिला है। इसमें मूल अष्टाग हृदय के अध्यायो का क्रम बदलकर पृथक् पृथक् स्थानो के अध्यायो को प्रकरणवार लेकर टीका की है। यह फेरफार उसन 'सुख सग्रहण' के लिए अपने आप किया है, ऐसा उनका अपना कहना है (सम्भवत अष्टाग का वचन "सक्षेपाय क्रमोऽन्यथा" यह वचन अनुसृत किया है)।

हेमाद्रि ने अपना परिचय चतुर्वर्गचिन्तामणि के प्रारम्भ मे दिया है। मन्दिर-निर्माण की विशेप पद्धति हेमाद्रि ने चलायी थी; सुधा चूर्ण लेपादि के विना भी शिला जोड़ी जा सकती है।

शिवदास सेन की टीका—अष्टाग हृदय पर श्री शिवदाससेन जी की टीका उत्तर स्थान पर श्री ज्योतिपचन्द्र सेन ने जयपुर में स्वामी लक्ष्मीराम जी ट्रस्ट से प्रकाशित करायी है। इस टीका में सरलता है, तथा टीका सक्षिप्त है। इसमें कही-कही पर पाठ परिवर्तन भी है जिससे अर्थ स्पष्ट होता है (उत्तर स्थान अ ३० के ३८वें श्लोक में 'वूगस्य पत्र' के स्थान पर 'पूगस्य पत्रम्' दिया है)। इससे अर्थ स्पष्ट हो गया है।

---

१. हेमाद्रिणा चतुर्वर्गचिन्तामणिविधायिना।
तदुक्तव्रतदानादिसिद्धङ्गारोग्यसिद्धये ॥२॥
क्रियतेऽष्टागहृदयस्यायुर्वेदस्य सुग्रहा।
टीका चरकहारीतसुश्रुतादिमतानुगा ॥ ३ ॥
हेमाद्रिर्नाम रामस्य राज्ञ श्री करणेष्वधि ॥

अरुणदत्त हेमाद्रि से पहले हुए हैं। हेमाद्रि ने सू अ ७।४० की टीका में अरुणदत्त का नाम लिखा है। हेमाद्रि की टीका का कौशल सू अ १।१८, सू अ ३।१; सू अ ५।२३, सू अ ६।७५, सू अ ६।१०५-११२-१५८ आदि में देखा जा सकता है। टीका में कुछ विषय ऐसे भी हैं जो प्रकाशित सग्रह में नहीं मिलते।

हेमाद्रि ने चतुर्वर्ग चिन्तामणि के सिवाय आयुर्वेद रसायन टीका (अष्टाग हृदय की), कैवल्यदीपिका मुक्ताफल टीका, शौनक कृत प्रणवकल्प की टीका लिखी है।

(लेखक ने अप्टागहृदय के अनुवाद में इसका उपयोग किया है)। शिवदाससेन जी ने सुश्रुत का पाठ अपनी टीका में स्थान-स्थान पर दिया है।

मग्रह में वावची, कुक्कुटी (इमका उल्लेख काश्यप सहिता में भी है) का उल्लेख किया है। सग्रह में भी काप्ठौपवियो का ही विशेप उल्लेख है। धातुओ का उपयोग भस्म के रूप मे नही है। चरक-सुश्रुत की भाँति सूक्ष्म रज के रूप में माना जा सकता है। स्वर्ण का उपयोग घिसकर करने का उल्लेख है। लोह के उपयोग करने के लिए लोहे के पतले पत्र (तिल के समान) वनाकर इनको अग्नि में लाल करके इक्कीस वार आँवले के स्वरस में भिगोये। फिर इनको आँवले के रस में डुवोकर एक मास तक राख की ढेरी में दाव देना चाहिए। वीच-वीच में निकाल कर लोहे के दण्ड से इसको चलाना चाहिए। जव रस सूख जाय तव और डाल दे। इस प्रकार से जव यह रस एक साल में द्रव वन जाये तव इसका उपयोग करे। इसी प्रकार तावाँ, चाँदी, सुवर्ण से भी पृथक्-पृथक् वनाये (रसा ४९)। इसके अतिरिक्त स्वर्ण का उपयोग अन्य रूप मे भी दिया गया है, जिसमें सम्भवत सुवर्ण को घिसकर या इस प्रकार से वनाकर उपयोग किया जाता होगा या वर्क वनाकर सीधा उपयोग करते होंगे। जो मनुष्य दीर्घायु चाहते हैं, वे सुवर्ण को शखपुप्पी के साथ खायें, मेधा की इच्छा रखनेवाले वचा के माथ, लक्ष्मी की चाह रखनेवाले कमलगट्टे के साथ, वाजीकरण चाहनेवाले विदारी के साथ स्वर्ण का उपयोग करें।

अष्टाग हृदय की रचना—यह हृदय सग्रह का ही सार रूप है। इसके अध्याय एक सौ वीस है। इसका विभाग सग्रह के अनुसार है—सूत्रस्थान, शारीरस्थान, निदान स्थान, चिकित्सास्थान, कल्पस्थान और उत्तर तत्र। उत्तर तत्र पर श्री शिवदास सेन जी की टीका भी है। अप्टाग सग्रह का प्रचार सवसे अधिक हुआ। इसकी जितनी टीकाएँ मिलती है, उतनी टीकाएँ किसी भी सहिता की नही। तिव्वती भापा में अनुवाद हुआ, जर्मनी में इसका अनुवाद हुआ। यही इसके प्रसार का प्रमाण है। ग्रन्थकर्त्ता वाग्भट ने इसको इसी उद्देश्य से वनाया था। इसके लिए लघु वाग्भट नाम प्रचलित है, वृहत् वाग्भट नाम सग्रह के लिए है।

वाग्भट ने मध्यम मार्ग का अवलम्वन करने के लिए स्पष्ट रूप से इसी मे लिखा है "अनुयायात् प्रतिपद सर्ववर्मेपु मध्यमाम्"—कदम-कदम पर सव धर्मो में मध्यम मार्ग को पकडे। इसी से वैदिक मत्रो के साथ वौद्ध मत्रो का भी उल्लेख है। स्वय भी लोगो के लिए कहा है कि "माध्यस्थ्यमवलम्वताम्" निरपेक्ष रूप से सचाई का पालन कीजिए, किसी के प्रति विशेप आग्रह न रखिए।

इन दोनो सहिताओ में अव्यक्त, महान्, अहकार, पचतन्मात्र आदि सृष्टि क्रम साख्य विचार तथा वाद-प्रतिवाद, गुण, कर्म, द्रव्य, सामान्य आदि न्यायदर्शन के विचार, मोक्ष का साधन योग प्रवृत्ति आदि योग दर्शन विचार इसमे विलकुल नही किया गया। केवल क्रियात्मक दृष्टिकोण ही अपनाया गया है। इसी से सत्त्व, रज और तम के लिए गुण शब्द प्रयोग न करके महागुण शब्द वरता गया है। शीत-रूक्ष आदि को गुण कहा गया है। सग्रहकार ने पच महाभूत से ही अपना कार्य चला लिया है, इससे पूर्व के तत्त्वो का प्रश्न ही नही उठाया, क्योकि चिकित्सा में इन्ही पाँच भूतो से काम रहता है।

दोनो सहिताओ में छद रचना कौशल मिलता है। सग्रह पर केवल इन्दु की ही टीका है। इन्दु वाग्भट के शिष्य थे। हृदय पर पैंतीस से अधिक टीकाएँ है। शिवदास सेन जी तक ने इस पर टीका लिखी थी। इसकी प्रसिद्धि का कारण इसका सरल, लालित्यमय भाषा, गेयश्लोक रचना, सक्षिप्त एव उपयोगी होना है।

वाग्भट मे लिखित बौद्ध देवता

बौद्ध दार्शनिक और तार्किक विद्वान् असग, नागार्जुन, दिङ्नाग, वसुवन्धु, आर्यदेव, चन्द्रकीर्त्ति, शान्तिदेव, और धर्मकीर्त्ति के द्वारा प्रशस्त और स्वर्ण दिन इस पाँचवी-छठी शती में समाप्त हो गये। इस समय स्तोत्र, स्तव के दिन कश्मीर में सरवजनामित्र ८वी शती में आरम्भ हुए। अव धर्म में मुद्रा, (हाथो की अँगुलियो की विशेष स्थिति या शरीर की विशेष स्थिति), मण्डल (अलौकिक चित्र) क्रिया (विधि) चर्या (अन्त और बाह्य शुद्धि) आ गयी। यह विशेष प्रकार की साधना कुछ रूप में यौगिक क्रिया से और कुछ देवी-देवताओ की पूजाओ के साथ सम्मिलित हो गयी थी। अथर्ववेद में वर्णित अलौकिक शक्ति की आराधना वैदिक प्रक्रिया में प्रचलित थी। इस आराधना को मत्रो से पृथक् करना सरल नही था। वुद्ध ने अपने अनुयायियो को मत्रो से तो पृथक् किया, परन्तु उनकी विचारधारा को किसी रूप में एक स्थान में केन्द्रित नही किया। जिससे दीर्घ निकाय में एक पूरा प्रकरण (रक्षा नामक आत्तनातीय) है, जिसमें यक्ष, गन्धर्व आदि आत्माओ से रक्षा करने का उल्लेख है। महामायूरी, धरणी का उल्लेख विनयपिटक में है।

धरणी—पीछे से जिनको तत्र कहा गया है, उनका प्रारम्भिक रूप धरणी कहा जाता था। यह महायान सूत्र का एक भाग था। ललित विस्तर या सन्धि निर्मोचन सूत्र (लगभग दूसरी शती ईस्वी) तक धरणी का रूप स्पष्ट नही था। इनको मत्र ही समझा जाता था, जैसा कि ईसा की चौथी शती में वने कारण्डवव्यूह से स्पष्ट है।

इससे महायान के प्रारम्भ ग्रन्थ स्वर्णप्रभाशसूत्र के एक प्रकरण में बताया गया है कि देवता सूत्र लिखने पढनेवालो की आपत्तियो से रक्षा करते हैं। सद्धर्मपुण्डरीक मे कुछ धरणियाँ हैं, जो मनुष्य की रक्षा करती है। पीछे से बहुत-सी धरणियाँ बनी, जो मनुष्यो की नाग, यक्ष, राक्षस तथा अन्य दुष्ट आत्माओ से रक्षा करती हैं। इसके अतिरिक्त ये धरणियाँ राज्यदण्ड, साँप, हिंसक पशु, अग्नि, चोर, रोग, पाप और मृत्यु से बचाती है। इसके पीछे धरणी मृत्यु के समय शान्ति देनेवाली, इच्छित चाह को पूरी करनेवाली, यहाँ तक कि बोधि चित्त-निर्वाण तक देनेवाली मानी जाने लगी। (इसी से प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के समय महामायूरी के पाठ का उल्लेख बाण ने हर्षचरित मे किया है)। धरणी नाम काश्यपसहिता में रेवती के बीस नामो में आया है (काश्यप सहिता पृष्ठ ६७)।

मत्र ताडपत्र पर लिखकर कवच आदि के रूप में धारण किये जाते थे। पीछे से धरणी मत्रपद बोधिसत्त्व, बुद्ध और दूसरे देवताओ के लिए बनाये गये। पूजा मूर्ति या चित्ररूप मे प्रचलित हुई, जिसकी सूचनाएँ पुस्तको मे दी हुई है। जो व्यक्ति इस पूजा को करवाता था उसे विद्याधर कहते थे, जिनसे वह पूजा करता था, उसे धरणी या मत्र कहते थे, और इसी को विशेष शब्दो में विद्याराजनी (महामायूरी विद्याराजनी) कहते थे, जिसके लिए यह पूजा की जाती थी उस व्यक्ति को यजमान कहते थे।

धरणी का प्रादुर्भाव ईसा की चौथी शती से आठवी शती के बीच मे हुआ है। बहुत अधिक धरणीवाली पाण्डुलिपियाँ गिलगित, पूर्वीय तुर्किस्तान और मध्य एशिया से मिली हैं। ये गुप्तकालीन ईसा की सातवी शती की लिपि में लिखी हैं।

धरणी या मत्रपद का तान्त्रिक गुप्त यौगिक क्रियाओ से बहुत कम सम्बन्ध है। धरणी का महत्त्व मत्र पद के पुन-पुन उच्चारण पर निर्भर करता है, जो कि अवलोकितेश्वर की पूजा के लिए लगभग एक मास तक किया जाता था। इसमें न तो शक्ति की उपासना है और और न मुद्रा, मण्डल, क्रिया या चर्या का उल्लेख है।

अवलोकितेश्वर और तारा—धरणियो में बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की पूजा है।[1] अवलोकितेश्वर का स्थान "पोत्तलक" है। यह स्थान दक्षिण मे कही श्री धान्यकात्यक (अमरावती) के पास है। ईसा की चौथी शती में बने कारण्डवव्यूह में बोधिसत्त्व का प्रथम देवता, (आदि बुद्ध, आदिनाथ वज्र) नाम से कहा है। इसमें 'तारा'

---

१ ईश्वर द्वादशभुज नाथभार्यावलोकितम्।
सर्वव्याधिचिकित्सन्त जपन् सर्वगुहान् जयेत्॥ (संग्रह)

देवी का नाम नही, परन्तु महेश और उमा का उल्लेख है, जो कि अवलोकितेश्वर के रूप हैं। इससे स्पष्ट है कि महायान में उस समय उमा-महेश्वर का स्थान था, जो कि पीछे तन्त्रयान में विकसित हुआ।

इस ग्रन्थ में सबसे प्रथम हमको "ओं मणिपद्म हुँ"—यह मन्त्र देखने में आता है (आज भी लामा अपने चक्र को घुमाते हुए इस मन्त्र को बोलते रहते हैं)। यह मन्त्र अवलोकितेश्वर का हृदय कहा जाता है, इसमें त्रिपिटक का नवाग ज्ञान समाविष्ट कहा जाता है। इसी से इसको साधक 'सारी-महाविद्याराजनी' कहते है।

इससे स्पष्ट है कि ईसा की चौथी शती में बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर पूजा का मुख्य देवता था और देवी तारा इस समय तक बौद्धिक पूजा में सम्मिलित नही हुई थी।

'मञ्जुश्रीमूलकल्प' में बोधिसत्त्व मञ्जु श्रीदेवी की पूजा लिखी गयी है, परन्तु जो मनुष्य दुःखों से शान्ति चाहते हैं, उनके लिए तारादेवी की पूजा भी लिखी है। गुह्य समाज में बुद्ध विरोचन को प्रथम बुद्ध कहा है, जिससे बहुत से बुद्ध स्त्री रूप मे उत्पन्न हुए, इन रूपो के नाम लोचना, मामकी, पाण्ड्रवासिनी और सम्यतारा थे। मञ्जु श्री मूलकल्प में तारा के नाम भिन्न आये हैं। यथा—भृकुटी, लोचना, मामकी, श्वेता, पाण्ड्रवासिनी, सुतारा, इनको महाभद्रा नाम से कहा गया है[1]। ग्रन्थ मे तारा देवी को विद्याराजनी कहा है, जो दुनिया के कष्टो से छुडानेवाली है। इसका कार्यक्षेत्र यद्यपि पूर्व है, तथापि यह सारे ससार में घूमती है।

तारा का उद्गम और इसकी अपार शक्ति की प्रशसा सबसे प्रथम 'महाप्रत्यगिरा-धारिणी' में मिलता है। यह ग्रन्थ मध्य एशिया से प्राप्त हुआ गुप्तकालीन सातवी शती की लिपि में लिखित है। इसका अनुवाद चीनी भाषा में प्रसिद्ध तान्त्रिक अमोघवज्र ने (७०४–७७४ ईस्वी में) किया था। इसमें तारादेवी का वर्ण श्वेत, वज्र की माला धारण किये हुए, हाथ में वज्र लिए, मुकुट में विरोचन की मूर्त्ति बनी हुई बताया गया है। ईसा की आठवी शती में होनेवाले कश्मीर देश के कवि सर्वजनमित्र ने तारा-

---

१. सुश्रुत में तार, सुतार शब्द आते हैं (तार सुतार स सुरेन्द्रगोप—कल्प अ ३।१४), डल्हण ने इन शब्दो का अर्थ क्रमश चाँदी, पारा और सुवर्ण किया है। पारे के लिए सुतार शब्द मेरे देखने में नहीं आया। सुतार -सुतारा यदि माना जाय या सुतार ही रखें तो भी इस शब्द की समानता सुतारा से बहुत है। बौद्ध साहित्य में सुतारा या तारा शब्द मिलता है। इसलिए सुश्रुत का समय जो निश्चित किया गया है (वाकाटक काल का) वह ठीक ही लगता है।

देवी की स्तुति में एक स्तोत्र वनाया था। इस स्तोत्र का स्रग्धरा छन्द है। इसमें यह देवी निर्वल व्यक्ति के लिए शक्तिदात्री रूप मे वतायी गयी है। कष्टो को दूर करने-वाली, सव दुखो से छुडानेवाली वर्णित है।

ईसा की सातवी शती के वाद से तारास्तोत्र वहुत मिलते है। तारादेवी को प्रज्ञा या प्रज्ञापारमिता नाम दिया गया। इसको सव वुद्धो की माता तुल्य तथा अवलोकितेश्वर की सहचरी कहा गया, जो मैत्री और करुणा के प्रतीक है। हिन्दुओ में यही तारा और अवलोकितेश्वर दोनो पुरुष और शक्ति के रूप में पूजित हुए हैं। ब्राह्मण इन्ही को शिव और शक्ति के रूप में पूजा करते है। जिसमें शक्ति ससार के वन्धन से छुटाकर मोक्ष देनेवाली है। शिव या पुरुष ससार में वन्धन का कारण है। वौद्धिक दर्शन भी लगभग इसी वात को वताता है, जिसमें व्रह्मा की समानता आदि बुद्ध से, शक्ति की समानता तारा या प्रज्ञा से जो मोक्ष का कारण है, शिव की समानता अवलोकितेश्वर से है। इसमें अन्तर केवल इतना ही है शिव या पुरुप ससार-वन्धन का कारण है, और अवलोकितेश्वर मैत्री और करुणा का दूत या प्रेरक है है।

तान्त्रिक सिद्धान्तो मे जल्दी ही ऐसे परिवर्तन हुए जिससे तारा को बुद्ध की शक्ति माना जाने लगा। इससे, वुद्ध और तारा में वही सम्वन्ध स्थापित हो गया जो शिव का पार्वती के साथ है। आदि वुद्ध को व्रह्मा माना गया है।[1]

जैनागम पद्मावती पूजा स्तोत्र में आता है—

तारा त्व सुगतागमे भगवती गौरीति शैवागमे
वज्रा कौलिकशासने जिनमते पद्मावती विश्रुता।
गायत्री श्रुति शालिनां प्रकृतिरित्युक्तासि साख्यागमे
मातर्भारति किं प्रभूतभणितैर्व्याप्तं समस्त त्वया॥

आर्या—का उल्लेख वाग्भट में आया है (सग्रह सू अ ८।९४)। डा० अग्रवाल ने कादम्वरी (पृष्ठ ८० में) में आर्या से वृद्धा आर्या, विमाता लिया है। लोक में विमाता की पूजा छठी के दिन होती है। आर्या का अर्थ शिशु माता किया है—"पुरुपेपु यथा रुद्रस्तथा आर्या प्रमदास्वपि । आर्या माता कुमारस्य पृथक् कामार्थमिज्यते (२।१९-४०)। कुशाण काल मे इस देवी का पद वहुत ऊँचा था। मथुरा में मिले शिला फलक पर "आयवती प्रतियापिता आर्यवती अर्हत पूजाये"—यह लिखा है (देखिये कादम्वरी पृष्ठ ८० पाद टिप्पणी)।

---

१. दी एज औफ इम्पीरियल कन्नौज—भारतीय विद्या भवन बम्वई से प्रकाशित, पृष्ठ २६०-२६२ के आधार पर।

नावनीतकम्

आयुर्वेद के दो ग्रन्थ इसी समय के दीखते हैं। इनमें नावनीतक की मूल प्रति को मेजर जनरल वावर पाण्डुलिपि कहा जाता है क्योंकि वावर ने इसे काशगर से प्राप्त किया था। इसमें आयुर्वेद के नुस्खो का सग्रह है। इसकी रचना चतुर्थ शती के लगभग मानी जाती है। इसमें आत्रेय, क्षारपाणि, जतुकर्ण, पराशर, भेल, हारीत तथा सुश्रुत का उल्लेख है। इसमें लशुनकल्प सवसे प्रथम दिया गया है। इसमें सात प्रकरण है—

प्रथम प्रकरण में—लशुनकल्प, सूत्रस्थान, परिभापा, आश्च्योतन, मुखलेप, अजन, शिरोलेप और मिश्रित योग हैं। द्वितीय प्रकरण में ग्रन्थ रचना का उद्देश्य यह कहा है—

प्राक्प्रणीतैर्महर्षीणा योगमुख्यैस्समन्वितम्।
वऽक्ष्येहं सिद्धसनिकर्षं नाम्ना वै नावनीतकम्॥
नानाव्याधि परीताना नृणा स्त्रीणाञ्च यद्हितम्।
कुमाराणा हित यच्च तत्सर्वमिह् वक्ष्यते॥
समासरतवुद्धीना भिपजा प्रीतिवर्द्धनम्।
योगवाहुल्यतश्चापि विस्तरज्ञ मनोनुगम्॥

प्राचीन ऋपियो के मुख्य योगो को मैं नावनीतक—मक्खन रूप में साररूप में—कहता हूँ (सग्रह रूप में रचना इस समय से आयुर्वेद में प्रारम्भ होती है, योगसग्रह सम्वन्धी ग्रन्थों का यहीं से प्रारम्भ होता है। इसी शृखला में आगे वृन्दमाधव, योग-तरगिणी, चक्रदत्त, माधव निदान, वगसेन आदि सग्रह ग्रन्थो का सकलन आरम्भ होता है) इसमें नाना प्रकार के रोगो से पीडित पुरुपो, स्त्रियो और वच्चो के लिए योग कहे गये हैं। ये योग प्राय सव पुस्तको से सगृहीत हैं। चरक-सुश्रुत के साथ भेल सहिता के भी योग इसमें मिलते हैं। इसी प्रकरण में मुख्य योगो का सग्रह है। इसमें चूर्ण, गुटिका, घृत, तैल, प्रकीर्ण योग, वस्ति, वृष्ययोग, अजन विधान, वलीपलित योग, हरीतकी कल्प, शिलाजतुकल्प, चित्रककल्प (लशुनकल्प भी यही चाहिए था, अथवा इस पर जोर देने के लिए इसको प्रारम्भ मे रख दिया है) और मिश्रक योग हैं। तृतीय प्रकरण में मिश्रक योग और सिद्ध योग हैं। चतुर्थ प्रकरण में सिद्धमत्र, पाशक केवली मत्र है। पाँचवें प्रकरण में मत्र विपय आता है। छठे प्रकरण में अगदतत्र और महा-मायूरी मत्र है। सातवें प्रकरण में आनन्द महामायूरी मत्र है। इसी प्रकरण में यश मित्र का नाम आता है (अनया आनन्द महामायूरी विद्याराजया तथागतभापिताया यशमित्रस्य रक्षा करोमि)।

भेलसहिता से १५ योग और चरकसहिता से २९ योग नावनीतक में लिये गये

हैं। इनके सिवा और भी योग है। नावनीतक के समय मत्र-तत्र का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। योगो के सम्बन्ध में एक-एक योग काकायन, सुप्रभ, निमि, उशनस, वाडवली, बृहस्पति के नाम आते हैं। अगस्त्य धन्वन्तरि और जीवक के नाम से दो-दो योग आये हैं। काश्यप के नाम से योगो की एक पूरी सूची दी गयी है। इनमें से बहुत से योग अन्यत्र नही मिलते। सम्भवत नावनीतक लेखक ने लोक में प्रसिद्ध योगो का सग्रह किया है, जैसा कि इसका नावनीतक नाम बताता है। इन सग्रहीत योगो के सिवा लेखक का अपना बहुत कम अश है।

नावनीतक में बौद्धो की मायूरी, महामायूरी विद्या विस्तार से दी गयी है। इस विद्या का प्रचार उस समय अवश्य रहा होगा। इसका उल्लेख वाग्भट ने भी किया है। अमृतप्राश घृत का पाठ चिकित्सा-कलिका और अष्टागहृदय का मिलता है, परन्तु नावनीतक के पाठ में बकरी के मास के रस का उल्लेख नही। यह सम्भवत हिंसा की दृष्टि से छोड दिया होगा।

"नमस्तथागतेभ्य" में तथागत शब्द बुद्धदेव के लिए ही प्रचलित है, यहाँ पर बहुवचन में प्रयुक्त है, सग्रह में एक ही वचन में है (नमश्चक्षु परिशोधनराजाय तथागतायार्हते सम्यक् सम्बुद्धाय—सू० अ० ८।१००)। इसी प्रकार 'उर उद्घातेषु' के स्थान पर 'उरोद्घातेषु कहा है। 'ह्रीवेर' के स्थान में 'हिरिवेरम्', तेजस्विनी के स्थान पर 'तेजोवती' कहा है। विभक्ति का व्यत्यय भी हुआ है, प्राग्भक्ताद् के स्थान पर 'प्राग्भक्तम्' कहा। सन्धि व्यत्यय भी है, सूपौदनम् के स्थान पर सूपोदनम्, समास व्यत्यय–रात्र्यन्ध के स्थान पर रात्रिमन्ध आता है। पदव्यत्यय भी मिलता है, भापते के स्थान पर भापति, आधत्ते के स्थान पर आधत्ति कहा है। इसीलिए श्री हरप्रसाद शास्त्री का कहना है—

"विद्वान बौद्ध पण्डितो ने भी अपाणिनीय पदो का अधिकत प्रयोग किया है।"

श्री गुरुपदशर्मा हालदारकी मान्यता है कि नावनीतक का सस्कार पीछे हुआ है। नावनीतक के चौदहवें अध्याय में जीवक नाम आता है (भार्गी सपिप्पली पाठा पयस्या (मधुनासह)। (श्लैहि) मकया लिहेच्छर्घा इति होवाच जीवक ॥१४।७४)। जीवक प्राय ईसा से ६०० वर्ष पूर्व हुए थे। ये वचन बहुत पीछे के हैं। काश्यप के शिष्य जीवक अभिप्रेत होने पर सन्देह नही रहता।

चक्रपाणि ने भी इस पुस्तक का सहिता रूप में उल्लेख किया है। दसवी शताब्दी से तेरहवी शताब्दी के बीच में चन्द्रटाचार्य्य, चक्रपाणि दत्त, निश्चलकार आदि ने इसका उल्लेख कही पर नावनीतक का नाम देकर और कही पर बिना नाम देकर किया है,

सोलहवी शताब्दी मे होनेवाले श्री शिवदास सेन ने चरक-तत्त्वप्रदीप में इसके श्लोक दिये हैं। ये श्लोक मूल ग्रन्थ से उद्धृत हैं अथवा निश्चल प्रणीत रत्नप्रभा से, यह नहीं कहा जा सकता। कवीन्द्रकृत ग्रन्थसूची में (१६५६) नावनीतक का नाम नहीं मिलता, इस समय तक इसका लोप सम्भवत हो चुका होगा। निश्चल तथा शिवदास ने अपने-अपने ग्रन्थों मे नावनीतक का नाम न लेकर यह श्लोक दिया है—

निदिग्धिकाया स्वरस ग्राह्येद् यन्त्रपीडितम्।
चतुर्गुणे रसे तस्मिन् घृतप्रस्थ विपाचयत्॥

यही श्लोक उपलब्ध नावनीतक में दूसरे अध्याय में (५३वाँ) है। इसलिए यह स्पष्ट है कि प्राचीनो ने जिस नावनीतक का उल्लेख किया है, वह इससे अभिन्न है। सोलहवी शताब्दी मे इसका पूर्णत लोप हो गया होगा। क्योकि उसके बाद इसका कही भी उल्लेख नही मिलता। पीछे 'काशगढ़' स्थान से यह प्राप्त हुआ।

प्राचीन काल मे कश्मीराधिपति महाराज कुश ने तिब्बत से उत्तर चीन राज्य को जीतकर इस राज्य की देखरेख के लिए 'कुशगड' नाम से एक विशाल दुर्ग बनवाया था। प्रथम शताब्दी के अन्त में कश्मीर नरेश का देहान्त होने पर कुशगड राज्य पुन चीन के वश में आ गया था। इसके पीछे कुशानाधिपति कनिष्क ने चीन राज्य को जीतकर इस प्रदेश को अपने अधीन कर दिया, जिससे कुशगढ़ राज्य भी इसके राज्य में आ गया था। यहाँ पर कनिष्क ने बौद्धो के बहुत से उपनिवेश बसाये थे। कनिष्क की पुष्पपुर (पेशावर) और कपिशा दोनो राजधानियाँ थी। इन बौद्धों में कुछ वैद्य भी थे—जिन्होंने वहाँ नावनीतक सुरक्षित रखा होगा। इसका प्रचार करने के लिए इसमें सब ऋषियो के नाम कीर्त्तन कर दिये गये। इसमें काशिराज वक्ता और सुश्रुत पूछनेवाले हैं (उत्पन्नास्यो म (मु) निमुपगत सुश्रुत काशिराज, किन्वेतन्स्यादथ स भगवानाह तस्मै यथावत्॥)

सुश्रुत और काशिराज का सम्बन्ध देखकर श्री हालदार इसका सम्बन्ध सुश्रुत संहिता के साथ जोड़ते हैं। परन्तु सुश्रुत में रसोन की इतनी प्रशसा या गुण कथन नही है। चरक की भाँति सामान्य उल्लेख है, वह भी रसायन रूप में नही। लशुन का मुख्य वर्णन नावनीतक, काश्यप सहिता, अष्टाग सग्रह और अष्टाग हृदय में ही मिलता है। यह चारो सहिताओ में अति विस्तृत रूप में है, इसके उपयोग के प्रति लोगो को आकर्षित करने के लिए उत्तम छन्दो में, लालित्यपूर्ण वर्णन किया गया है, यथा—

'दृष्ट्वापत्रै. हरितहरितैरिन्द्रनील प्रकाशै
कन्दै कुन्दस्फटिककुमुदेन्दुशशखाभ्रशुभ्रै॥' (नावनीतक)

इसलिए नावनीतक का रचनाकाल इन सहिताओ के आसपास ही होना चाहिए, जब कि भारत की सस्कृति से शक-यवनो का सम्बन्ध पूरा हो गया था। वैदिकधर्मावलम्वी प्राय इसको म्लेच्छ वस्तु समझकर नही खाते।

'न भक्षयन्त्येनमतश्च विप्रा. शरीरसंपर्कविनि.सृतत्वात्।
गन्धोग्रतामप्यत एव चास्य वदन्ति शास्त्राधिगमप्रवीणाः॥' (नावनीतक)

'राहोरमृतचौर्येण लूनाद्ये पतिता गलात्।
अमृतस्य कणा भूमौ ते रसोनत्वमागता.॥
द्विजानाश्नन्ति तमतो दैत्यदेहसमुद्भवम्।
साक्षादमृतसम्भूतेर्ग्रामिणीः स रसायनम्॥' (संग्रह)

'एतच्चाप्यमृतं भूमौ भविष्यति रसायनम्।
स्थानदोषात्तु दुर्गन्धं भविष्यत्यद्विजोपगम्॥' (काश्यप)

लशुन के उपयोग के प्रति लोगो को आकृष्ट करने के लिए इसकी प्रशस्ति विशेष रूप में दी गयी है।

इसलिए सुश्रुत सहिता के साथ नावनीतक का सम्वन्ध सुश्रुत और काशिराज से जोडना युक्तिसगत नही है। यह उल्लेख तो केवल अपने वाक्य में जोर तथा आदर उत्पन्न करने के लिए है। नावनीतक के प्रारम्भ में जो सुन्दर छन्द रचना (कुमार सम्भव के हिमालय वर्णन से मिलता है) है, वह इसको किसी भी प्रकार दूसरी शती तो क्या, तीसरी शताब्दी से पहले नही पहुँचाती। इतनी समासवहुल रचना तीसरी शताब्दी के अन्त की है, यही इसे इस काल में रखने का पुष्ट प्रमाण है।

सम्भवत सग्रहग्रन्थो में नावनीतक सवसे प्रथम है; क्योकि इसमें सवके प्रयोगो का सग्रह है। हरीतकी के विषय में लिखा है:

'हित हयाना लवणं प्रशस्तं जलं गजानां ज्वलनं गवां च।
हरीतकी श्रेष्ठतमा नराणां चिकित्सिते पङ्कजयोनिराह॥'

हरीतकी के भेद भी इसमें कहे गये है (विजया त्रिवृत्ता रोहिणी चैव पूतनाऽमृता। जीवन्ती चाभया चैव सप्त योनिर्हरीतकी)। इनके रक्षण भी हरीतकी कल्प में दिये गये है। नवें अध्याय में नेत्राञ्जन हैं। अजन नाना प्रकार के हैं; नेत्ररोग प्रतिकार योग, रात्र्यन्धता प्रतीकारयोग आदि। दसवें अध्याय में केशराज, केशरञ्जन योग दिये गये हैं। शिलाजतुकल्प में शिलाजतु की उत्पत्ति चरक के अनुसार दी है—

'हेमाद्या सूर्यसन्तप्ताः स्वमल गिरिधातव.।
स्निग्धाभं गुरुभृतत्स्नाभं वमन्ति तच्छिलाजतु॥' (नावनीतक)

'हेमाद्या॰ सूर्यसन्तप्ता॰ स्रवन्ति गिरिधातव ।
जत्वाभं मृदुमृत्स्नाभं यन्मलं तच्छिलाजतु ॥' (चरक)

चौदहवें अध्याय में कुमारभृत्या प्रकरण है, जिममें प्राय लिखा है कि "काश्यपस्य वचो यथा"। इममे स्पष्ट है कि यह प्रथम योगमग्रह ग्रन्थ है, जो कि सुगमता के लिए किया गया है। इमका समय लगभग चौथी शताब्दी के आसपास है। नावनीतक के तृतीय खण्ड में नखीतैलम्, माणिभद्रतैलम् (चिकित्सा में माणिभद्र का नाम सग्रह और हृदय में है), आत्रेयसम्मत तैलम्, नारायणसम्मततैलम् ये नाम तैल की महत्ता के रूप में दिये गये है, जो कि उस समय की परिपाटी थी।

कामशास्त्र, वात्स्यायन कृत

भारतीय ऐतिहासिक गुप्तकाल को स्वर्णयुग कहते है। यह काल अनेक प्रतापी राजाओं के उदय होने के कारण प्रकाशित है। इमके अतिरिक्त इस काल में भारतीय सभ्यता और सस्कृति अपनी उत्कर्ष सीमा को पहुँच गयी थी।

लोग अपना समय सुख से विताते थे। फाहियान ने तत्कालीन सुख सम्पत्ति का वड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उससे पता चलता है कि उस समय के लोगो ने अपने रहने के लिए वडे-वड़े महल वनवाये थे। महाकवि शूद्रक ने वसन्तसेना के घर का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसका घर एक वहुत वडा महल था, जिसमें सात प्रकोष्ठ (घरों के चौंक) वने हुए थे। इन महलो की सीढियो पर अनेक रत्न जडे थे, और वाहर चूने से सफेदी की गयी थी। वसन्तसेना के महल में आजकल की तरह खिडकियाँ थी।

उस समय उद्यान, पक्षिपालन, वाहन आदि का शौक नागरिकों को था। वालो का शृगार, केश विन्यास पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

सामाजिक जीवन में आनन्द लाभ के लिए भिन्न-भिन्न उत्सव होते थे। वात्स्यायन ने इनके पाँच विभाग किये है—सामूहिक यात्रा, समाज गोष्ठी, सभापानक, उद्यान भ्रमण और समस्याक्रीडा (कामसूत्र १।४।१४)। फाहियान ने पाटलिपुत्र के वर्णन में प्रतिवर्ष होनेवाले रथयात्रा का वर्णन किया है।

इनके अतिरिक्त आखेट, मेडो, भैंसो, कुक्कुटो को लडाना, (इतश्चापनीतयुद्धस्य मल्लस्येव मर्द्यते ग्रीवा मेषस्य—मृच्छ अ॰ ४) मनोरजन के साधन थे। जुआ भी मनोरजन का उत्तम साधन था (द्यूत हि नाम पुरुषस्य असिहासन राज्यम्—मृच्छ॰ अ॰ २)। मृच्छकटिक में जुआ खेलने का वहुत विशद वर्णन है। कालिदास ने चौपड खेलने का वर्णन किया है (कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित् करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन। रत्नागुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान् ॥रघु॰ ६।११)।

खान-पान भी बहुत आनन्दमय था। मद्यपान की प्रथा थी, सम्भवतः इसमें दोष नही था, जैसा सग्रह के वर्णन से स्पष्ट है। कालिदास ने भी मदिरापान का उल्लेख किया है।[1]

इस प्रकार के सुखी जीवन के लिए तीसरे पुरुषार्थ के सूचनार्थ इस समय वात्स्यायन ने कामसूत्र की रचना की है। वात्स्यायन इनका गोत्र नाम प्रतीत होता है; असली नाम क्या था, यह स्पष्ट नही। न्यायसूत्रो पर भाष्य करनेवाले भी वात्स्यायन हैं। श्री वासुदेव उपाध्याय ने इनका व्यक्तिगत नाम पक्षिल स्वामी लिखा है। ये दक्षिण भारत के रहनेवाले थे। हेमचन्द्र ने अपने 'अभिधान चिन्तामणि' में इनका एक नाम द्रामिल दिया है। द्रामिल द्राविड का ही दूसरा रूप प्रतीत होता है। दिङ्नाग ने वात्स्यायन भाष्य का खण्डन किया है, इसलिए इन्हें दिङ्नाग से पूर्व होना चाहिए। डा० तुशी के अनुसार इनका समय ईसा की चौथी शताब्दी है।

कामसूत्र की रचना कौटिल्य-अर्थशास्त्र के ढग पर सूत्र रूप में हुई है। अध्यायों के अन्त में विषय का सक्षेप श्लोको में दिया है। इस ग्रथ में आभीरो के समान ही आन्ध्र लोग सामान्य शासक रूप में वर्णित हैं। यह घटना २२५ ईसवी के बाद की होगी, जब आन्ध्रो का राज्य नष्ट हो गया था। इसलिए इस ग्रन्थ का समय चौथी या पाँचवी शताब्दी मानने में कोई आपत्ति नही।

इस ग्रन्थ के सात भाग हैं, जिनमें तत्कालीन हिन्दू समाज के सुसस्कृत (फैशनेबुल) नागरिको के उत्सवप्रिय आनन्दमय विलासी जीवन का जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसके वर्णन में शरीर के स्वास्थ्य की दृष्टि से, आरोग्यशास्त्र के अनुसार अनेक उपयोगी सूचनाए दी हैं। यह सब मनुष्य के लिए आवश्यक एवं उपयोगी होने से लिखा है, जिसका ज्ञान प्रत्येक नागरिक के लिए जरूरी है। यथा—

---

१ श्री वासुदेव उपाध्याय "गुप्त साम्राज्य का इतिहास"।

फाहियान ने इसके विपरीत लिखा है—उसका कहना है कि—"सारे देश में कोई अधिवासी न हिंसा करता है; न मद्य पीता है, और न लहसुन-प्याज ही खाता हैं। केवल चाण्डाल ही ऐसा करते हैं। जनपद में न तो लोग सूअर और मुर्गी पालते हैं, और न जीवित पशु ही बेचते हैं, न कहीं सूनागार है और न मद्य की दुकानें हैं। केवल चाण्डाल ही मछली मारते हैं, मृगया करते तथा मांस बेचते हैं"—फाहियान का यह वर्णन सम्भवतः ब्राह्मणो के लिए ही है। वे ही लशुन नहीं खाते थे ("द्विजा नाश्नन्तिमतो दैत्यदेहसमुद्भवम्"—संग्रह. उत्तर. अ. ४०)।

नागरिक का वृत्त—विद्या समाप्त करके व्यक्ति को गृहस्थ आश्रम में आना होता है। गृहस्थ के लिए अपना घर होना आवश्यक है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह नगर में (८०० ग्रामो के समूह में), पत्तन में (राजधानी मे), खर्वट मे (दो सौ ग्रामसमूह में), महति (चार सौ ग्राम समूह या द्रोणमुख) में अपना निवास स्थान बनाये। यह ऐमे स्थान पर होना चाहिए जहाँ सद्गृहस्थ रहते हो अथवा जीविका प्राप्ति सुगम हो।

घर के पास में जलाशय और वृक्ष, वाटिका लगानी चाहिए। घर में अलग-अलग कक्षा प्रत्येक कार्य के लिए होनी चाहिए। सामान्यत घर के दो विभाग हो, एक विभाग दिन के लिए और दूसरा अन्त पुर या शयनकक्ष। मकान को नाना प्रकार से सजाया जाय। पलग के सिराहने में कूर्चस्थान (देवतास्थापन—'जयमगला') और चौकी रहनी चाहिए। चौकी पर अनुलेपन, माला, शृगारदान, इत्रदान, विजौरी की छाल और पान रहने चाहिएं। पास ही वीणा, चित्रफलक आदि वस्तु रखनी चाहिएँ।

नित्यकर्म—प्रात काल उठकर दैनिक कार्य करके, दन्तधावन, अनुलेपन, धूप, माला धारण करके, ओठो पर मोम, हाथ पैरो पर आलक्तक लगाकर दर्पण मे मुख देखकर, पान खाकर काम में लगे। स्नान तो प्रति दिन करना चाहिए। उवटन दूसरे दिन लगाना चाहिए। तीसरे दिन फेनक (रीठे आदि के पानी) से सिर धोना, चौथे दिन हजामत करानी चाहिए। भोजन पूर्वाह्ण और अपराह्ण में करना चाहिए। भोजन के पीछे तोता-मैना आदि पक्षियो से विनोद करे, वटेर, मुर्गा, मेंढो का युद्ध देखे, मुसाहिवो के साथ बैठकर विनोद करे, दिन मे आराम करे। तीसरे पहर गोष्ठी विहार करे। सायकाल में सगीत सुने। रात्रि में धूप से सुगन्वित घर में शयन करे।

औपनिपदिक प्रकरण—कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस नाम का एक प्रकरण है, वह एक प्रकार से परिशिष्ट रूप में है। कामसूत्र मे यह प्रकरण इसी रूप में है। इसमें नाना प्रकार की औपधियों का उल्लेख है, यथा—सुन्दरताकारक तगर, कूठ, तालीस पत्र का अनुलेपन, भिन्न-भिन्न वशीकरण औपधियाँ, वाजीकरण प्रयोग में उच्चटा और मुलहठीयुक्त शर्करा मिश्रित दूध। इसके सिवा मेप-मुष्क, वकरे के अण्ड, विदारी, कौंच का उपयोग भी वर्णित है। उरद का दूध में उपयोग मधु और घृत के साथ करने का विधान है। चरक की भाँति चटकाण्ड रस का चावलो और दूध के साथ सेवन भी लिखा है। शतावरी, गोखरू, श्रीपर्णी का उपयोग भी वताया गया है। अन्त में कहा है—

'आयुर्वेदाच्च वेदाच्च विद्यातन्त्रेभ्य एव च ।
आप्तेभ्यश्चाववोद्धव्या योगा ये प्रीतिकारकाः ॥
न प्रयुञ्जीत सदिग्धान्न शरीरात्ययावहान् ।
न जीवघातसंवद्धान्नाशुचिद्रव्यसंयुतान् ॥'

ऐसे योगो को आयुर्वेद से, वेद से या अन्य तत्रो से जानना चाहिए, परन्तु सदिग्ध या शरीर को हानि पहुँचानेवाले योग नही वरतने चाहिए । जिन योगो में प्राणियो की हिसा हो, जो अपवित्र द्रव्यो से बनते हो, उनको नही वरतना चाहिए ।[1]

पिछले कामशास्त्र के ग्रन्थो में (अनगरग, पचसायक, कुचुमारतत्र में) इस प्रकरण को विस्तार से वर्णित किया है । कुचुमारतत्र में प्राय योग ही है । वल-वृद्धि एव पुष्टि के लिए अश्वगन्धा का उपयोग तैल, चूर्ण या घी के रूप में वताया है । चक्रदत्त, भावप्रकाश आदि ग्रन्थो में वात्स्यायन के योगो की छाया मिलती है ।

वाल काले करने तथा वाल सफेद करने आदि के जो योग दिये हैं, वे कौटिल्य-अर्थ-शास्त्र से भिन्न होने पर भी इसी अर्थ को सिद्ध करनेवाले तथा अस्थायी हैं । वाल काले करने के लिए मेहदी का उपयोग है । श्वेत वालवाला व्यक्ति हास्यास्पद होता है—

'स्रग्गन्धवधूपाम्वरभूषणाना न शोभते शुक्लशिरोरुहाणाम् ।
यस्मादतो मूर्द्धजरागसेवां कुर्याद् यथैवाञ्जनभूपणानाम् ॥' (नित्यनाथ) ।

बृहत्सहिता

वराहमिहिर गुप्त-काल के सवसे प्रवान ज्योतिपी थे । इनका समय ५०५ ई० है । इनकी वनायी हुई बृहत्सहिता ज्योतिप का प्रसिद्ध ग्रन्थ है । वराहमिहिर विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय के नवरत्नो में एक थे । इसी सहिता का यह प्रसिद्ध श्लोक है —

---

१ आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थो में (सुश्रुत में) शूक रोग का उल्लेख है । इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती । कामसूत्र में लिंगवर्धक योगो में शूको का उल्लेख है—सम्भवत उनके उपयोग से ये रोग होते होगे—"एवं वृक्षजाना जन्तूना शूकैरुपलिप्तं लिङ्ग दशरात्र तैलेन मृदितं पुन. पुनरुपलिप्त पुन. प्रमृदितमिति जातशोफं खट्वायामवोमुखस्तदन्तरे लम्वयेत् । तत. शीतकषायैः कृतवेदनानिग्रहं सोपक्रमेण निष्पादयेत् । स यावज्जीव शूकजो नाम शोफो विटानाम् ॥" ७।२।२६ । "अश्वगन्धा-सवरकन्दजलशूकवृहतीफलमहिषनवनीतहस्तिकर्णवज्रवल्लीरसैरेकैकेन परिमर्दन मासिक वर्धनम् ॥" ७।२।२६

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम् ।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विज ॥

म्लेच्छ-यवन (मुसलमान-ग्रीक) भी इस ज्योतिपशास्त्र को भली प्रकार जानते है, वे भी ऋपियो के समान पूजनीय है, फिर दैव को जाननेवाले द्विजातियो की बात क्या कहें ?

ज्योतिप का ग्रन्थ होने पर भी इसमें बहुत-सी बाते अन्य विपयो से सम्बन्धित हैं। इसमें आयुर्वेद से सम्बन्धित विपय भी आये है। यथा—

वज्रलेप—प्रासाद या मकान बनाने मे वज्रलेप का प्रयोग किया जाता है, इससे देवालय, वलभी, देवप्रतिमा, कूप, भित्ति आदि हजार वर्ष स्थायी होते हैं। इसको बनाने में वनस्पतियो या धातुओ का उपयोग होता है। यथा—

(१) आम, तिन्दुक, कच्चा कैथ, सेमल के फूल, सल्ल के बीज, धन्वन की छाल, वच, इनका एक द्रोण जल में क्वाथ करे। जब आठवाँ भाग रह जाय तब इसमें श्रीवास का रस (गोद), गुग्गुल, भिलावा, कुन्दरू, सर्जरस (विरोजा), अलसी, बेल का गूदा, इनका कल्क मिला दे। यह वज्रलेप है। (२) सीसक आठ भाग, कास्य दो भाग, पीतल एक भाग, इनको मिलाकर पिघलाये। यह वज्रसघात है। सम्भवत प्रतिमाओ को जोडने में इसका उपयोग होता होगा।

वाजीकरण प्रयोग—वाजीकरण योगो को "कान्दर्पिकम्" नाम से दिया गया है। प्राय सारे प्रयोग वनस्पतियो से सम्बन्धित हैं। इनमें नवीनता नही है। यथा— (१) कौच की जड से सिद्ध दूध निर्बलता नही आने देता। (२) उरदो को दूध या घी में पकाकर छ ग्रास खाये और ऊपर से दूध पिये। (३) विदारी के चूर्ण को विदारी के रस की अनेक बार भावना देकर, इसको चीनी मिले दूध से पिये। (४) आँवले के चूर्ण को आँवले के रस से कई बार भावना देकर खाये, और ऊपर से दूध पिये। (५) सोनामाखी, पारद, मधु, लोहचूर्ण, हरीतकी, शिलाजीत, विडङ्ग, घी इनको मिलाकर इक्कीस दिन खाये। तिल, अश्वगन्धा, साठी चावल, वस्ताण्ड, गोखरू आदि का उपयोग भी वाजीकरण में है। वाजीकरण ओषधियो से अग्निमान्द्य होना सम्भव है, इसलिए उसका उपाय भी बतलाया है कि अजवायन, सैन्धव नमक, हरड, सोठ, पिप्पली इनके चूर्ण को मट्ठा या गरम पानी के साथ खाना चाहिए।

वाजीकरण औपध सेवन करते समय अति अम्ल, अति तिक्त, नमक, कटु रस, क्षार, अति शाक, अति भोजन नही करना चाहिए, इससे दृष्टि और शुक्र की हानि होती है। जो वस्तु शुक्र को बढाती है, वह दृष्टि को भी लाभदायक है, और जो शुक्र को हानि करती है, वह दृष्टि को भी हानिकारक है।

रत्नपरीक्षा—रत्नों का उपयोग शुभ-अशुभ फल देनेवाला है, इसलिए रत्नो के सम्बन्ध मे ज्योतिष मे बहुत विचार है। शुभ रत्न से शुभ फल होता है और अशुभ रत्न से अमगल होता है। इसलिए परीक्षा करके रत्नो को धारण करना चाहिए।

रत्नो का नाम, इनकी उत्पत्ति आदि विवेचना इस सहिता में है। वेणा नदी के किनारे पर शुद्ध हीरा उत्पन्न होता है। (वेणा नदी सम्भवत वेत्रवती नदी है, जो विन्ध्याचल के पास है, अथवा जो ऋक्ष पर्वत से चेदि देश मे निकलकर गोदावरी में मिलकर मछलीपत्तन के पास समुद्र में मिलती है वह 'वेन गगा' नदी है)। वेणा नदी के किनारे का हीरा शुद्ध होता है। कोशल देश (सम्भवत दक्षिण कोशल—छत्तीसगढ का इलाका) का हीरा शिरीष फूल के समान होता है। सौराष्ट्र का हीरा ताम्रवर्ण होता है, सोपारा का हीरा काला होता है। लाल-पीला हीरा क्षत्रियो के लिए, श्वेत ब्राह्मणो के लिए, शिरीष के समान हीरा वैश्यो के लिए, काला शूद्रो के लिए शुभ है (आयुर्वेदप्रकाश मे वैश्यो के लिए पीला हीरा शुभ कहा है)।

उत्तम हीरा—सब वस्तुओ से अभेद्य, न कटनेवाला, वजन में हलका, जल में जिसकी किरणें चमके, स्निग्ध, विद्युत, अग्नि, इन्द्रधनुष के समान कान्तिवाला हीरा उत्तम है। दोष—काकपद (कौए के पैर का चिह्न), मक्षिका (मक्खी), केश का चिह्न होना, कोई और धातु का मेल, शर्करा से युक्त, बुलबुले होना, टूटा होना, आगे को जो हीरे चपटे हो वे अच्छे नहीं। अशुभ या दोष युक्त हीरा धारण करने से भाई-बन्धुओं की हानि, धननाश होता है। शुभ हीरा धारण करने से विद्युत्, विष, शत्रु-भय का नाश होता है। (अ० ८०)

मोती की उत्पत्ति हाथी, साँप, सीप, शख, बादल, बाँस, तिमि मत्स्य, शूकर से बतायी है।[1] मोती प्राप्ति के आठ स्थान है—सिहल, पारलौकिक (?), सौराष्ट्र,

---

१. आयुर्वेदप्रकाश में—'अष्टौ मौक्तिकभूमय –करिकिरित्वक्सारमत्स्याम्बुमुक्कम्बूरगातिशुक्तयोऽत्र चरमोत्पन्नं पुनर्विश्रुतम् ॥' करी हाथी, किरी वराह, त्वक्सार बाँस, मत्स्य मछली, अम्बुमुक् मेघ, कम्बू शंख, उरग साँप, अतिशुक्ति मोती; ये आठ मोती के स्थान हैं।

हीरे के दोष—'बिन्दु काकपदं यव किलमलो रेखेति नाम्नोदिता
दोषा. पंच पवे ....॥'

हीरे के गुण—'अच्छत्वं लघुताऽष्टफलता षट्कोणता तीक्ष्णता।
एतान् पंच गुणान् गृणन्ति गुणिनो देवोपभोग्ये पवौ ॥'

ताम्रपर्णी, पारशव, कौबेर, पाड्य, हैम (?)। भिन्न-भिन्न स्थानो में उत्पन्न मोतियो का रग, चमक, आकार भिन्न-भिन्न होते है।

हाथियो, वराहो, साँपो के मोतियो का उल्लेख भी इसी प्रकरण में है। भिन्न-भिन्न सख्यावाली मोतियो की माला के नाम भिन्न-भिन्न हैं। एक हजार आठ लडी की माला इन्द्रच्छन्द कही है। दो हाथ की माला का नाम विजयच्छन्द है। एक सौ आठ लडी की या इक्यासी लडी की माला देवच्छन्द है। जितने चाहिए उतने मोतियो से बनी, हाथ भर लम्बी मोती की माला एकावली–एकलडी कही जाती है। इस माला के बीच में इन्द्रनील आदि कोई दूसरा रत्न हो तो इसका नाम यष्टी हो जाता है।

मुक्ता की भाँति पद्मराग और मरकत की परीक्षा सहिता मे दी गयी है।

दातुन—दाँतो को स्वच्छ करने के लिए प्रति दिन दातुन करने का विधान आयुर्वेद में है (सुश्रुत चि० अ० २४)। किन वृक्षो की दातुन उपयोगी है, यह भी लिखा है। परन्तु बृहत्सहिता में कुछ अधिक सूचनाएँ दी हैं, यथा—न जाने हुए, पत्तो से युक्त, युग्म-पर्व, गाँठदार वृक्षो की दातुन नही करनी चाहिए, जो दातुन बीच से चीरी हो, वृक्ष पर ही सूख गयी हो, जिस पर छाल न हो, उस दातुन को नही बरतना चाहिए। विककत (वैंकड), बेल, गम्भारी की दातुन से दाँतों में ब्राह्मी द्युति आती है, क्षेम वृक्ष (?) से उत्तम भार्या मिलती है, बरगद की दातुन से उन्नति होती है, आक की दातुन से तेज वृद्धि, महुए की दातुन से पुत्र लाभ, अर्जुन वृक्ष की दातुन से प्रियत्व मिलता है। इसी प्रकार शिरीष, करज, पिलखन, चमेली, पीपल, बेर, कटेरी, कदम्ब की दातुन के फल लिखे है (अध्याय ८५)।

पटराग—चरकसहिता में बच्चो के वस्त्रो को धूप देने के लिए कुछ ओषधियो का उल्लेख है (शा० अ० ८)। बृहत्सहिता में भी अनेक प्रकार की गन्ध बतलायी है। वास्तव में गन्धो की सख्या असीमित है, एक गन्ध को दूसरी, तीसरी गन्ध से मिलाने पर अनन्त भेद हो जाते है। इसी से इसमें भी गन्धो के बहुत से भेद कहे गये है।

गन्ध के द्रव्य प्राय गिने हुए है, यथा—तुरुष्क, व्याघ्रनख, स्पृश्या, अगरु, दमनक, तगर, मुस्ता, बालक, शैलेयक, कर्चूर, कपूर, कस्तूरी, नागपुष्प, चोर, मलय, प्रियगु, भूतकेशी, मासी, श्रीवास। इन सब वस्तुओ से दो-तीन चीजो को दो-चार भाग की भिन्नता से मिलाने पर नाना प्रकार की सुगन्ध बनती है। धनिया और कपूर की उत्कट गन्ध होने से इनका सदा एक भाग लेने का विधान है, अधिक लेने से ये सब गन्धो को दबा लेते है। राल, गुड, श्रीवास, नख इनकी धूप अलग-अलग देनी चाहिए। पीछे कस्तूरी और कर्पूर मिला देना अच्छा है।

आयुर्वेद में सुगन्ध का उपयोग शरीर और वस्त्रो पर करने का उल्लेख है (चरक, सू० अ० ५।९६–९७)। आयुर्वेद की दृष्टि स्वास्थ्य की है, ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि इस विषय मे सौभाग्य, प्रीति, दीर्घायु की हैं। परन्तु दोनो में इनका उपयोग एक समान कहा गया है, यही इसका अभिप्राय है। आयुर्वेद मे उल्लिखित गन्धर्वनगर (चरक० सू० अ० ९।१४) का स्पष्टीकरण भी बृहत्संहिता में मिल जाता है।

उत्तर गुप्तसाम्राज्य और कन्नौज का राज्य

(लगभग ४५५-६९६ ईसवी)

चन्द्रगुप्त द्वितीय के पश्चात् उसका पुत्र कुमार गुप्त गद्दी पर बैठा। इसने ४० वर्ष (४१५–४५५ ई०) तक शान्तिपूर्वक राज्य किया। वाकाटक राज्य मे यही समय प्रभावती के पुत्र प्रवरसेन और उसके पुत्र नरेन्द्रसेन के शासन में बीता। राजगृह और पाटलिपुत्र के बीच नालन्दा स्थान में कुमार गुप्त ने महाविहार की स्थापना की थी। आगे चलकर यह एक महान् विद्यापीठ बन गया। यह युग अद्वितीय शान्ति और समृद्धि का था।

चौथी शताब्दी के अन्त मे हूण टिड्डी दल की तरह संसार पर छा गये। ये जहाँ पहुँचते वहाँ गाँव और बस्तियाँ जलाते, मारकाट मचाते, अपने जगलीपन और बर्बरता का परिचय देते। इनका अभियान मध्य एशिया से प्रारम्भ हुआ था। एक शाखा वोल्गा नदी को लाँघकर यूरोप को गयी और रोम राज्य पर मँडराने लगी। इससे आजकल का प्रसिद्ध नगर हगर (हुगरी) बना और उनके भाई बन्धुओ के नाम से बुलगारिया हुआ।

हूणो की दूसरी बाढ मध्य एशिया के तुखार राज्यो पर टूटी (लगभग ४२५ ई०)। वहाँ की समृद्धि को नष्ट किया। तुखार राज्य को जीतकर हूणो ने ईरान के सासानी राज्य पर हमले किये। सासानी के राजा यज्दगुर्द द्वितीय को हराकर हूणो का एक दल अफगानिस्तान लाँघता हुआ पजाब तक बढ आया। कुमार गुप्त की मृत्यु के समय गुप्तो का राज्य डगमगा गया था। इसका बेटा समुद्र गुप्त एक तरफ हूणो का मुकाबला कर रहा था और दूसरी ओर मालवा के विद्रोही गणो से जूझ रहा था। तीन महीने के बाद सब पर विजय पाकर समुद्र गुप्त अपनी माँ के पास उसी प्रकार पहुँचा जैसे कृष्ण देवकी के पास गये थे। इसके बारह वर्ष के शासन काल में गुप्त साम्राज्य ज्यो का त्यो बना रहा।

गुप्त साम्राज्य का अन्तिम राजा बालादित्य था, वही शायद भानुगुप्त था। बीच में कोई प्रतापी राजा नही हुआ। ५०० ईसवी के लगभग गन्धार के हूण राजा तोरमाण 'शाही जऊल्ल' ने गुप्त राज्य को कमजोर पाकर पजाव से मालवा तक का राज्य वश में कर लिया। भानुगुप्त ने इससे युद्ध किया (५१० ई० में) परन्तु पीछे तोरमाण के बेटे मिहिरकुल को अपना अधिपति मान लिया। मिहिरकुल ने अपनी राजधानी शाकल (स्यालकोट) बनायी, वह अपने को पशुपति (शिव) कहता था। भानुगुप्त बालादित्य ने कुछ समय पीछे इस पर पुन चढाई की, जिसमें मिहिरकुल हार गया और कश्मीर में शरण ली। पीछे वहाँ के राजा को छल से मारकर गद्दी पर बैठ गया।

पंजाब, थानेसर और मालवा को गुप्तसम्राट् हूणो से न बचा सके, तब वहाँ की सारी प्रजा एकत्र होकर यशोवर्मा नामक व्यक्ति के नेतृत्व में लडी और उसने हूणो को करारी हार देकर देश का शासन सम्हाला। यशोवर्मा ने बालादित्य को जगल में खदेडा और कमजोर गुप्तो का राज्य वश में किया। लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) के कांठे से महेन्द्र पर्वत (उडीसा) तक, हिमालय से पश्चिम समुद्र तक समूचा देश उसे अपना राजा मानने लगा। यशोवर्मा का एक विजयस्तम्भ मन्दसोर में है, जिस पर ५३२ ई० लिखा है। इसके साथ इतिहास का प्राचीन काल समाप्त होकर मध्य काल प्रारम्भ होता है—जो एक हजार वर्ष का है।

मौखरि राजा—यशोधर्मा ने अपना कोई राजवश नही चलाया। छठी शताब्दी के शुरू में गुप्त सम्राटो के वश से एक शाखा निकली, जिसके राजाओ ने अगली शतियो तक इतिहास में विशेष भाग लिया। इन को पिछले गुप्त कहते हैं। इनका वास्तविक अधिकार केवल मगध-बगाल पर था। इन गुप्तो के मुकाबले में अन्तर्वेद के ठीक बीच दक्खिन पचाल की राजधानी कन्नौज में मौखरि नाम का एक नया राज-वश उठ खडा हुआ। इसकी राजधानी थानेसर थी। इनकी सबसे प्रथम प्रसिद्धि हूणो के युद्ध में हुई थी। सम्भवत यशोवर्मा की सेना की हरावल में ये रहे हो।

सबसे प्रसिद्ध और प्रतापी राजा प्रभाकर वर्धन (५९० से ६०५ ई०) हुआ[1]। यह सम्भवत महासेन गुप्त का भानजा था। इसने उत्तरापथ की ओर अपनी शक्ति बढायी। पहले इसने कश्मीर से हूणो को खदेडा, फिर सिन्ध, गुर्जर (पजाब-मारवाड)

---

१ प्रभाकरवर्धन के वश को 'वर्धन वश' नाम भी दिया गया है। इसी को पुष्पभूति वश कहा है। वास्तव में वह बैस वश का था। (इतिहासप्रवेश)

और गन्धार के राजाओ को वश में किया। तब दक्खिन की ओर झुका और लाट देश (भरुच-सूरत) पर चढाई कर मालवा के राज्य को जीत लिया। मालवा के राजा महासेन गुप्त प्रथम ने अपने दो बेटे कुमार गुप्त और माधव गुप्त उसे सौंपे।

प्रभाकर वर्धन की तीन सन्तानें हुईं—राज्यवर्धन, हर्षवर्धन और राज्यश्री। राज्यश्री का विवाह मौखरि राजा अवन्तिवर्मा के बेटे ग्रहवर्मा के साथ हुआ था। इस समय की समूची जानकारी कवि बाण ने अपने हर्षचरित मे दी है। किस प्रकार छल से राज्यवर्धन को गौड के राजा ने मारा, राज्यश्री को मालवे के राजा ने कैद मे डाला, किस प्रकार से छूटकर वह विन्ध्याचल मे गयी, वहाँ पर सती होने के समय हर्ष ने किस प्रकार बचाया, यह सब जानकारी हर्षचरित से मिलती है।

हर्षवर्धन के समय (६३० ई०) युवानच्वाङ नामक एक चीनी यात्री भारत में आया था। वह दस साल यहाँ रहकर ६४० ई० में अफगानिस्तान, चीनहिन्द होकर वापस गया। हर्ष के साथ भी वह कुछ समय रहा, देश के एक छोर से दूसरे छोर तक घूमा और उसने अपना यात्रावृत्तान्त लिखा।

राज्यश्री को वापस लाकर हर्ष ने राज्य उसे सौप दिया और स्वय शीलादित्य नाम से उसका प्रतिनिधि होकर देख-देख करने लगा। अब कुरु और पचाल दोनो राज्यो की शक्ति हर्ष के हाथ में आ गयी। अब उसने दिग्विजय प्रारम्भ किया। छ वर्ष तक वह पूर्व से पच्छिम तक समूचे प्रदेशो को जीतता रहा। कामरूप के राजा भास्कर वर्मा का उसने स्वय अभिषेक किया। सिन्धुराज को कुचलकर उसका राज्य छीना। शशाक हर्ष के आगे झुककर बच सका। वलभी के राजा ध्रुवसेन ने हर्ष से हार मानी। हर्ष ने उसे सामन्त बनाकर अपनी इकलौती बेटी उसको ब्याह दी। किन्तु पुलकेशी (द्वितीय) को नर्मदा के किनारे पर हर्ष हरा नही सका, और यहाँ पर उसे पराजय का मुख देखना पडा। नर्मदा ही दोनो राज्यो की सीमा बनी। हर्ष की अन्तिम चढाई ६४३ ई० में उडीसा के गजाम प्रदेश पर हुई।

हर्ष जैसा विजेता था, वैसा योग्य शासक भी था, शीलादित्य उसका नाम सार्थक था, शील और सच्चरित्रता की मूर्ति था। उसने एक-पत्नीव्रत धारण किया और आजन्म उसे निभाया। ६४७ ई० में हर्ष की मृत्यु हुई। गुप्तकाल में चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय जिस प्रकार साहित्य की उन्नति, विद्वानो का सम्मान, राजाश्रय मिला, उसी प्रकार हर्ष के समय कवि बाण को भी राजाश्रय मिला। हर्ष स्वय विद्वान् एव साहित्य-सेवी था। हर्षवर्धन का अपना कोई पुत्र नही था।

कवि वाण

वाण ने हर्षचरित में हर्ष का और अपना वर्णन करने में आयुर्वेद सम्बन्धी कुछ प्रसग दिये हैं। यथा—

१ हर्षचरित में वाण ने अपने चवालीस मित्रों—सहायकों की तालिका दी है। इनमें मत्रविद और वैद्यों में भिलुकपुत्र मदारक, जाङ्गुलिक (विषवैद्य या गारुडी) मयूरक, मत्रसाधक कराल, धातुवाद-विद् (रसायन या कीमिया बनानेवाला) विहगम और असुर विवर-व्यसनी लोहिताक्ष—पाताल में घुसने की विद्या जाननेवाला भी था।

२ हर्ष स्कन्धावार पार करके राजद्वार पर आया। ड्योढी के भीतर सब लोगों का आना-जाना रोक दिया गया था। जैसे ही वह घोडे से उतरा उसने सुषेण नामक वैद्यकुमार को भीतर से आते हुए देखा और पिता की हालत पूछी। सुषेण ने कहा—अभी तो अवस्था में सुधार नहीं है, आपके मिलने से शायद हो जाय।

३ प्रभाकरवर्धन की चिकित्सा में पौनर्वसव (आत्रेय शास्त्र का ज्ञाता) अठारह वर्ष का एक रसायन नामक वैद्य था, जो राजकुल में वश परम्परा से आ रहा था। यह आयुर्वेद के आठों अगों में निपुण था, इसको राजा ने अपने पुत्र के समान ही पाला था। यह स्वभाव से ही अति चतुर और व्याधियों के पहचानने में निपुण था[1]।

४ वाण ने कादम्बरी में (द्रविड साधु वर्णन प्रकरण में)पारे से सोना बनाने, पारे के सेवन, असुर विवर प्रवेश और श्रीपर्वत का उल्लेख किया है।[2]

चिकित्साकलिका

चिकित्साकलिका का कर्ता तीसट है। इसके पुत्र चन्द्रट ने इसकी व्याख्या की है। इस व्याख्या के साथ मेरे सहपाठी श्री जयदेव विद्यालकार आयुर्वेदाचार्य कृत

---

१ अधिक जानकारी के लिए 'संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद' पुस्तक देखनी चाहिए।

२. पारे से सोना बनाने या कीमिया (धातुवाद) की धुन वायु की तरह उसके मस्तक में भर गयी थी। कच्चे पारे का रसायन खाकर उसने काल-ज्वर ही बुला लिया था। श्रीपर्वत से सम्बन्धित अचम्भों की सैकडों बातें उसे याद थीं।

परिमल हिन्दी व्याख्या के साथ श्री नरेन्द्रनाथ मित्र जी ने १९८३ विक्रमी में इसे प्रकाशित किया था।

चिकित्साकलिका में तीसट और चन्द्रट का सम्बन्ध स्पष्ट है, यथा—

'तीसटसूनुर्भक्त्या चन्द्रटनाम्ना भिषङ्मतश्चरणौ।
नत्वा पितुश्चिकित्साकलिकाविवृत्तिं समाचष्टे॥
व्याख्यातरि हरिचन्द्रे श्रीजेज्जटनाम्नि सति सुधीरे च।
अन्यस्यायुर्वेदे व्याख्याधार्ष्ट्यं समावहति॥'

इससे स्पष्ट है कि तीसट के पुत्र चन्द्रट ने इसकी व्याख्या की है। टकारान्त नाम होने से इनका कश्मीर देशी होना सम्भावित है (कैयट, मम्मट, जैज्जट आदि नाम कश्मीर में प्रसिद्ध हैं)। तीसट को कुछ लोग वाग्भट का पुत्र बताते हैं। इनका आधार भाण्डारकर प्राच्य संशोधन की 'चिकित्साकलिका' की एक प्रति है, जिसमें ग्रन्थ की समाप्ति पर "इति वाग्भटसूनुना तीसटदेवेन रचित चिकित्साशास्त्रम्" यह लिखा है। परन्तु ग्रन्थकर्त्ता और व्याख्याकार दोनों ने ही न तो ग्रन्थ के प्रारम्भ में न अन्त में वाग्भट का उल्लेख किया है। केवल पिता को नमस्कार किया है। ग्रन्थ समाप्ति में भी सुश्रुत का नाम है, वाग्भट का नाम नहीं। साथ ही सारी पुस्तक में वाग्भट की भाँति बौद्ध धर्म की झलक सर्वथा नहीं मिलती। कहीं भी एक वस्तु ऐसी नहीं, जिसमें इसका वाग्भट के साथ सम्बन्ध प्रतीत हो सके।

'सूर्याश्विधन्वतरिसुश्रुतादीन् भक्त्या नमस्कृत्य पितुश्च पादान्।
कृता चिकित्साकलिकेति योगैर्माला सरोजैरिव तीसटेन॥ १॥
हारीतसुश्रुतपराशरभोजभेलभृग्वग्निवेशचरकादिचिकित्सकोक्तैः।
एभिर्गणैश्च गुणवद्भिरतिप्रसिद्धैर्धन्वन्तरीयरचना रुचिरप्रपञ्चैः॥ २॥'

इन नामों में वाग्भट का उल्लेख नहीं है। टीकाकार चन्द्रट ने भी आदि शब्द की व्याख्या में वाग्भट का उल्लेख नहीं किया।[1] इसलिए संग्रह और हृदय के कर्त्ता वाग्भट को तीसट का पिता मानना युक्तिसंगत नहीं है।

---

१. नावनीतक में देखिए—

'आत्रेयहारीतपराशरभेलगर्गशाम्बव्यसुश्रुतवशिष्ठकरालकाप्याः।
सर्व्वौषधिरसगणाकृतिवीर्यनामजिज्ञासवः समुदिता शतश प्रचेरु॥'

इसमें भी जिन आचार्यों के नाम हैं, वे ही आचार्य चिकित्साकलिका में भी वर्णित हैं।

तीसट का समय—तीसट ने अपनी पुस्तक की समाप्ति शुभकामना के साथ की है। यह मगलमय प्रशस्ति इसे गुप्तकाल का प्रमाणित करती है । ग्रन्थ समाप्ति पर शुभकामना नाटकों की परम्परा में है, जो हमको सबसे प्रथम सग्रह और हृदय में मिलती है । इस परिपाटी को टीकाकार चन्द्रट ने भी "आरोग्य तेन गच्छन्तु सन्त सन्मार्गगामिन" कहकर निभाया है । साथ ही यह पक्ति वाग्भट के प्रसिद्ध श्लोक "भिपजा साधुवृत्ताना भद्रागमशालिनाम् । अभ्यस्तकर्मणा भद्र भद्र भद्राभिलाषिणाम्" की याद कराता है । इससे स्पष्ट है कि इसका समय वाग्भट के आसपास है, और उनकी झलक इसमें है । इसलिए वाग्भट का समय ही या उसके थोडा पीछे का उसका समय है ।

चिकित्साकलिका का विश्लेपण—यह एक प्रकार का योग-सग्रह है, परन्तु नावनीतक से अधिक विस्तृत है । इसमें प्राय सब योग काष्ठौपधियो के है । शिवा-गुटिका (शीर्पचिकित्सा २७०) इसी में सबसे प्रथम मिलती है, इसको पीछे चक्र-दत्त ने लिया । इसमें चार सौ श्लोक है ('निरूपिता वृत्तशतै चतुर्भिर्योगै स्रगञ्जैरिव लीसटेन', लाहौर की छपी प्रति में चार सौ ही श्लोक है, दक्षिण भारत कोटायम की छपी में ४०७ है) । इसमें योग प्राय सगृहीत है । यथा—हिंगुपचक ('विश्वौपधेन रुचकेन सदाडिमेन स्यादम्लवेतसयुत कृतहिंगुभागम्') भेल मुनि के नाम से सगृहीत है (२४८) । हिग्वष्टक चूर्ण भी इसी में दिया गया है (२९४) । इसमें लिखित धूप काश्यपसहिता से भिन्न है । यथा—दशाग धूप (३७५) को भृगु के पुत्र शुक्राचार्य का कहा गया है, इसका पाठ काश्यपसहिता के दशाग धूप से सर्वथा भिन्न है (उसमें सरसो श्वेत है—कलिका मे नही है, और भी वस्तुएँ भिन्न है) । विजयधूप चिकित्सा-कलिका में नया है । ये धूप भूत-विद्यातत्र में दिये गये है । भूतविद्या नाम से एक अध्याय चिकित्सा कलिका में है, और भूतविज्ञानीय एव भूतप्रतिपेध नामक दो अध्याय अष्टागसग्रह में है । चरक और सुश्रुत में इस रूप में पृथक् कोई अध्याय नही । दोनो में यह समानता है । इसमें आयुर्वेद के आठो अगो की पृथक्-पृथक् चिकित्सा कही गयी है ।

चिकित्साकलिका में वाग्भट के सग्रह की भाँति नये-नये सुन्दर छन्द मिलते हैं । यथा—

'सघृतमधु बलात्रयस्य चूर्णं समधुसितायुतमुच्चटोद्भवश्च ।
समुद्गमथ मुद्गमापपर्ण्योरमृतलतामलकत्रिकण्टकनाम् ॥' १९७ ॥

इसमें 'पुष्पिताग्रा' छन्द है। "अमृतलतामलकत्रिफण्टका नाम्" यह पूरा वाक्य कवि लोलिम्बराज ने अपने वैद्यजीवन मे लिखा है। काले तिलो के साथ आँवले का रसायन के रूप में व्यवहार इसका नया योग है।

काय-चिकित्सा का विषय जितने विस्तार से वर्णित है, शेष अग उतने ही सक्षेप मे हैं। रसायन एव शल्य प्रकरण को बिलकुल सक्षेप में कहा गया है। बहुत से रसायनो को एक साथ एक ही श्लोक मे कह दिया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में दोषो के विषय मे सम्पूर्ण, परन्तु महत्वपूर्ण जानकारी दे दी गयी है। शरीरप्रकरण भी सक्षिप्त है। मुख्य विस्तार चिकित्सा के योगो का है। बहुत-से योग जो आज प्रचलित हैं (व्याघ्री हरीतकी, भार्गी गुड, चित्रक हरीतकी आदि) वे इसी में से लिये गये हैं। सक्षेप मे उस समय जो योग वैद्यो मे मुख्यत बरते जाते थे वे इसमें और नावनीतक में सगृहीत हैं। नावनीतक के योगो की अपेक्षा इसमें प्रसिद्ध नुस्खे अधिक हैं। इस प्रकार योगसग्रह के ग्रन्थो मे यह कृति प्रथम है।

इसकी टीका करते हुए चन्द्रट ने कहा है—

> 'चिकित्साकलिकाटीका योगरत्नसमुच्चयम्।
> सुश्रुते पाठशुद्धिञ्च तृतीया चन्द्रटो व्यधात्॥'

चन्द्रट ने चिकित्सा-कलिका की टीका, योगरत्नसमुच्चय तथा सुश्रुत की पाठशुद्धि ये तीन कार्य किये। इस समय केवल टीका ही मिलती है, शेष दोनो का पता नही (योगरत्नाकर इससे भिन्न है और बहुत पीछे का है, जिसके कर्त्ता का पता नही)। इतना स्पष्ट है कि उस समय योगसग्रह ग्रन्थो का पर्याप्त आदर था और ऐसे ग्रन्थो की रचना अधिक की जाती थी, क्योकि इससे आर्थिक लाभ अधिक होता था। इसी से ग्रन्थकर्त्ता ने स्वय कहा है—

> 'स्वल्पश्रुतस्य भिषज किल सुश्रुतादि
> शास्त्रोदधौ मतिरबोधदृढप्रमूढा।
> अस्मद्विधग्रथितयोगसमुच्चये तु
> बध्नाति बुद्धिमबुधः सुभिषग्वरो वा॥'

जिसने थोडे शास्त्रो का अध्ययन किया है, ऐसे वैद्य की बुद्धि सुश्रुत आदि शास्त्ररूपी समुद्र मे अज्ञानवश प्रसरित नही हो सकती, परन्तु हमारे द्वारा बनाये योगसमुच्चय मे तो मूर्ख तथा पण्डित दोनो की बुद्धि अच्छी प्रकार प्रसृत होती है।

आठवाँ अध्याय

मध्य काल

(६४७ से १२०० ई०)

शुक्रनीति, माधवनिदान, वृन्दमाधव, चक्रदत्त, वगसेन

हर्ष की मृत्यु ६४७ या ६४८ ईनवी में हुई थी। उसके पीछे देश में अराजकता फैल गयी (अराजकता को सस्कृत में मछलियो की दशा कहते है—जयचन्द्र)। हर्षवर्धन के मत्री—ओलनशुन (अर्जुन) ने उसकी गद्दी सँभाली। इसकी शक्ति भी तिब्वत के राजा और नेपाल की सेना ने युद्ध में तोड दी, यह कैद करके चीनी सम्राट् के पास भेजा गया। आसाम में भास्कर वर्मन् और मगध में माधव गुप्त के पुत्र आदित्य सेन ने (६७२ ई०) स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की। पश्चिम और उत्तर पश्चिम की शक्तियाँ भी अब स्वतन्त्र हो गयी। इनमें राजपूताने के गुर्जर, कश्मीर के करकोटक मुख्य थे। इन्होंने अगली शती में राजनीति का सूत्र अपने हाथ में लिया।

अर्जुन के पीछे कन्नौज के राजा यशोवर्मा का नाम सबसे प्रथम सामने आता है (७२५ से ७४० ईसवी तक)। यशोवर्मा को कश्मीर के राजा ललितादित्य ने हराया था। यशोवर्मा की राजसभा के पण्डित भवभूति थे, जिनको ललितादित्य अपने साथ कश्मीर ले गया था[1]। यशोवर्मा किस वश का था, यह पता नही। उसका नाम और सिक्के मौखरियो की शैली के है। उसके पीछे के राजा मण्डिकुल के थे। हर्षवर्धन के मामा का लडका और सेनापति भण्डि था। जान पडता है कि यशोवर्मा के पीछे साम्राज्य उसके सेनापति के वश के हाथ में चला गया। ललितादित्य के उत्तराधिकारी जयापीड ने कन्नौज के नये सम्राट् वज्रायुध को हराकर पहाडो में नेपाल तक राज्य बनाया।

---

१ राजतरगिणी से पता चलता है (४।१३४) कि भवभूति कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा के सभापण्डित थे—

'कविवाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवित।
जितो राजा यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥'

इस प्रकार कन्नौज का राज्य टूटने पर पाल, गग, राष्ट्रकूट, प्रतिहार राज्यो का उदय हुआ (७४३–७९० ईसवी के लगभग)। मगध और बगाल में जब अराजकता फैली, तो प्रजा ने श्रीगोपाल के हाथ मे राज्यलक्ष्मी सौंप दी—उसे अपना राजा चुना (७४३ ई०)। कलिंग (उडीसा) मे इस समय तक गगवश स्थापित हो चुका था। महाराष्ट्र–कर्णाटक के अतिम चालुक्य राजा से सामन्त दन्तिदुर्ग राष्ट्रकूट ने राज्य छीन लिया था (७५३ ई०)। राष्ट्रकूट का असली अर्थ प्रान्त का शासक है, इसी से पीछे राठौड बना। इसी समय गुर्जर देश के राजा नागभट ने सिन्ध के मुसलमानो को हराकर अपना राज्य स्थापित किया, इसकी राजधानी भिन्नमाल थी। इसके पुरखा किसी राजा के प्रतिहार(द्वारपाल) थे, इसी से इसके वशजो के साथ प्रतिहार शब्द जुड गया।

मगध और गौड राज्य में गोपाल का उत्तराधिकारी उसका पुत्र धर्मपाल हुआ (७७०–८०९ ई०)। नागभट के भाई के पोते प्रतिहार राजा वत्सराज ने धर्मपाल को चुनौती दी और उसे युद्ध में हराया। परन्तु इन दोनो पर राष्ट्रकूट कृष्ण के बेटे ध्रुव-धारावर्ष (७८३–७९३ ई०) ने चढाई की। इसने दोनो को हराया। लाट और मालवा प्रान्तो के लिए राष्ट्रकूटो और प्रतिहारो में लडाई रहती थी।

धर्मपाल का उत्तराधिकारी देवपाल हुआ (८१०–८५१ ई०)। यह भी योग्य शासक था। पाल राजा सब बौद्ध थे। धर्मपाल ने भागलपुर के पास विक्रमशिला नामक एक महाविहार बनवाया था, यह भी नालन्दा की तरह बाहर के बौद्ध देशो में शीघ्र प्रसिद्ध हो गया। इसके बेटे देवपाल ने मगध के राज्य को पूर्वी भारत का साम्राज्य बना दिया। इसके सेनापति ने प्राग्ज्योतिष (आसाम) और उत्कल को जीत लिया। विन्ध्य में अमोघवर्ष से तथा नागभट की मृत्यु के बाद उसके पुत्र रामभद्र से भी लोहा लिया था।

परन्तु ८३६ ईसवी में पासा पलटा, रामभद्र के बेटे भोज या मिहिर भोज ने कन्नौज को जीता और उसे अपनी राजधानी बनाया। कश्मीर की सीमा तक उसने अपना राज्य बढाया। पालो का राज्य तब केवल राढ देश (पश्चिमी बगाल) और सम-तट पर रह गया था। पूरबी बगाल में भी एक चन्द्र वश खडा हो गया था, जिसकी राजधानी विक्रमपुर (ढाका) थी। भोज के पचास वर्ष बाद (८३६–८९० ईसवी) मे उसके बेटे महेन्द्रपाल के शासन (८९१ से ९०७ ई०) में कन्नौज की राज्य-लक्ष्मी फिर उठी और वह फिर राजधानी बना। महेन्द्रपाल का बेटा महीपाल गद्दी पर बैठा। इसके समय (९१६ ई०) कन्नौज की फिर अवनति हुई और वह उजडा।

बंगाल के पाल-वंशी राजाओं ने ९५० ई० तक मगध को वापस ले लिया, परन्तु बंगाल को वे न ले सके और वहाँ एक कम्बोज वंश स्थापित हो गया। दसवीं सदी के अन्त तक पालवंशी राजा महीपाल (९७५ से १०२६ ई० लगभग) ने फिर धीरे-धीरे अपने पुरखों का राज्य बना लिया। पहले इसने काम्बोज देश का अन्त कर उत्तरी बंगाल लिया (लगभग ९८४ ई०) और फिर मगध। अपने राज्यकाल के अन्त में उसने मिथिला को भी ले लिया (१०२३ ई०)। महीपाल राजा का पुत्र ही नयपाल था, जिसकी रसशाला-पाकशाला के सूदाध्यक्ष श्री चक्रपाणि दत्त के पिता नारायण थे। पिता के मरने पर चक्रपाणि प्रथम सूदाध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए और पीछे से प्रधान मंत्री बने। १०४० ईस्वी में नयपाल ने महाराज पदवी धारण की थी।

अन्तर्वेद का साम्राज्य कमजोर होने पर विन्ध्य मेखला के सामन्त स्वतन्त्र हो गये। यमुना के दक्खिन में विदर्भ और कलिंग तक पुराना चेदि देश था। इस युग में दक्खिन का भाग चेदि और उत्तर का भाग जेजाकभुक्ति या जझौती कहलाता था। चेदि के कलचुरी वंश की राजधानी त्रिपुरी (जबलपुर के पास तेवर) थी। जझौती में चन्देल वंश राज्य करता था। इसकी राजधानी पहले महोबा, फिर खजुराहो थी।

चेदि और जझौती के पश्चिम मालवे में परमार राजपूतों का एक राज्य था। इसकी राजधानी धारा थी। उत्तरी राजपूताने में चौहानों का एक स्वतन्त्र राज्य बन गया था, जिसकी राजधानी साँभर थी। गुजरात में मूलराज सोलंकी ने (९६० ई०) में एक राज्य बनाया, जिसकी राजधानी अणहिल्ल पाटन थी। ओहिन्द के शाहियों का राज्य पंजाब तक फैला था[1]। इन राज्यों के बीच कन्नौज का प्रतिहार राज्य भी बना रहा।[1]

ओहिन्द के शाहियों में ही एक राजा जयपाल (९८६ ई० लगभग) था, जब सुबुक्-तगीन ने अपना राज्य पूरब और उत्तर की ओर बढ़ाना चाहा तब इसने जयपाल के किले जीते। सुबुक्-तगीन के मरने के पीछे जयपाल ने फिर सिर उठाया और अपनी शक्ति बढ़ाने लगा। इस समय इसका युद्ध सुबुक्-तगीन के पुत्र महमूद गजनवी से हुआ, जिसमें यह हारा और अपने बेटे आनन्दपाल को ओल रखकर कैद से मुक्त हुआ। इस हार से दुखी होकर इसने अपने को आग में जला दिया। तब महमूद ने आनन्दपाल को भी मुक्त कर दिया। यह महमूद की पहली चढ़ाई थी। उसने भारतवर्ष पर कुल १७ चढ़ाइयाँ की थीं।

---

१. अटक से १६ मील उत्तर में उदभाण्डपुर है। अब इसे ओहिन्द कहते हैं। पहले यहीं से अटक-सिन्ध नदी पार की जाती थी। (सार्थवाह)

आनन्दपाल के साथ महमूद की कई लडाइयाँ हुई और अन्तिम लडाई में आनन्दपाल मारा गया। इसके पुत्र त्रिलोचनपाल ने कर देना मजूर किया और अपने दो हजार सैनिक सुलतान की सेवा मे दिये। चार वर्ष तक दोनो में शान्ति रही। महमूद ने १०१४ ई० में फिर चढाई की। इनमे कश्मीर का राजा तुग और त्रिलोचनपाल दोनो हारे, जिनसे महमूद का मुल्तान और पंजाब पर दखल हो गया। इनके बाद वह और आगे बढने लगा। उसने थानेसर पर धावा बोला, फिर १०१८ मे एक लाख सेना के साथ अन्तवद पर चढाई करके मथुरा और कन्नौज को लूटा। राजा राज्यपाल गंगा पार भाग गया था। महमूद की अन्तिम चढाई १०२३ ई० मे हुई, जिसमें उसने सोमनाथ का मन्दिर लूटा। महमूद ने कश्मीर पर १०२१ मे चढाई की, परन्तु वहाँ पर हार कर वापस गया। कश्मीर ही इससे बचा था। महमूद की मृत्यु १०२३ ई० मे हुई।

महमूद के ही शासन काल मे अल्बेरूनी भारत में आया था। इसने पेशावर और मुलतान में पण्डितो से सस्कृत पढी। महमूद के सिक्को पर कलमे का सस्कृत अनुवाद मिलता है—'अव्यक्तमेक मुहम्मद अवतार', नृपति-महमूद अय टको महमूदपुरे घटे हतो जिनायन सवत्' . अर्थात् एक अव्यक्त (ला इलाह इल्लिलाह), मुहम्मद अवतार (मुहम्मद रसूल इल्लाह), राजा महमूद। यह महमूदपुर (लाहौर) की टकसाल मे पीटा गया, जिन (हजरत) के अयन (भागने) का सवत् ।

राजा जयचन्द्र—कन्नौज में चन्द्र गहड्वार का पोता गोविन्द्रचन्द्र (१११४–११५४) इसका पुत्र विजयचन्द्र और विजयचन्द्र का पुत्र जयचन्द्र भी प्रबल और योग्य राजा हुए। ये काशी के भी राजा कहलाते थे। राजा चन्द्र की सभा में ही श्रीहर्ष पण्डित थे, जिनके बनाये नैषधचरित से पता चलता है कि उस समय चरक सुश्रुत के पठन का रिवाज था ('देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिल, स्यादस्या नलद विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षम. ।' (४।११६) इसमें सुश्रुत, चरक और नलद शब्द श्लेष रूप मे हैं)। बारहवी शती तक मगध और अग गहड्वार के अधीन रहे (११९४ ई०)।

जयचन्द्र ११७० ई० में गद्दी पर बैठा। जयचन्द्र के शासन-काल की सबसे बडी घटना शहाबुद्दीन गोरी का हमला था। ११९१ में पृथ्वीराज ने तलावडी के मैदान मे गोरी को परास्त किया था। इस पराजय का बदला लेने के लिए अगले वर्ष उसने फिर चढाई की जिसमें पृथ्वीराज मारा गया। इसमें जयचन्द्र लडाई से पृथक् रहा। अगले वर्ष ११९४ में गोरी ने कन्नौज की ओर प्रस्थान किया और चन्दावर तथा इटावे

के बीच लडाई हुई। युद्ध में जयचन्द्र मारा गया, इसका राज्य इसके पुत्र हरिश्चन्द्र को लौटा दिया गया। हरिश्चन्द्र ने कब तक राज्य किया इसका पता नहीं। परन्तु १२२६ ईसवी में गंगा यमुना का दोआबा मुसलमानों के हाथ में था।

चिकित्साकर्म सम्बन्धी उल्लेख—इस समय राजपूत राज्यों में परस्पर कलह थी। परस्पर लड़ाई झगडे चल रहे थे। इसी ईर्ष्या से सूर्यमल और पृथ्वीराज (चाचा और भतीजे) ने मालव देश पर आक्रमण किया। इसमें सूर्यमल बहुत जख्मी हुए थे। इन जख्मों की चिकित्सा वैद्यों ने की थी। इसके सम्बन्ध में लिखा है—

१—"सूर्यमल और पृथ्वीराज दोनों थककर हट गये थे। जिस समय पृथ्वीराज सूर्यमल से मिलने के लिए आए उस समय शस्त्रवैद्य उनके जख्म सी रहे थे। पृथ्वीराज को आया देखकर सूर्यमल उससे मिलने के लिये उठे हुए। इससे उनके सब जख्मों के टाँके टूट गये। पृथ्वीराज ने पूछा—चाचा क्या हाल है? सूर्यमल ने कहा—तुमको देखकर सब कुछ भूल गया हूँ।"—भारतवर्ष का इतिहास—ज्ञानमण्डल से प्रकाशित

२—कन्नौज के राजा जयचन्द राठौर का मृत शरीर उसके कृत्रिम दांत से ही पहचाना गया था, जब वह शहाबुद्दीन—शम्सुद्दीन के साथ लड रहा था (११९४ ई०)। भारतवर्ष का इतिहास—एलिफिन्स्टन कृत,[1] पृष्ठ ३५६

---

१. दांत बनाने के सम्बन्ध में और भी जानकारी मिलती है, यथा—टूटे हुए दांत को जोडने की विधि बहुत समय से भारतीयों को ज्ञात थी। इसके लिए हाथी दांत को लेकर इसे इस प्रकार से गढा जाता था कि वह टूटे हुए दांत की भाँति बैठ सके। यह एक दृष्टि से विशेष कारीगरी थी। इसके पीछे मृत शरीर से वास्तविक दांत लेकर उनका व्यवहार होने लगा। कभी-कभी जीवित व्यक्ति के भी दांत लेकर इनको सोने, चाँदी से मढ़कर लगाया जाता था। जबड़े में जिस स्थान पर दांत बैठाना होता था, उसका माप एक कम्पास के द्वारा लिया जाता था। दांत को हाथीदांत में खरादकर पीछे आरी से इसे अलग करते थे। मसूड़ों पर एक लेप (Pigment) लगा दिया जाता था। स्थान पर बैठाकर इसे बाहर से छीलकर या कुरेदकर ठीक कर दिया जाता था। भारतीयों में मुख में खराब दांत के स्थान पर मुक्तासीप, बिल्लौर या सीप के दांत लगवाने की प्रथा सामान्य थी। मुख में मनुष्य के दांतों को कृत्रिम प्लेट में बैठाने से पूर्व उनको शिखर पर से काटकर इनकी नली साफ कर ली जाती थी। इसे थोडा बढ़ाकर ऐसा बना लिया जाता था कि कृत्रिम प्लेट या अस्थि के (दांत के) पार्श्व से आनेवाली पिन इसमें जाकर इसे बांध सके। स्वर्ण की प्लेट के

इस समय के आयुर्वेद साहित्य पर प्रकाश डालते हुए स्वर्गीय गौरीशंकर हीराचन्द्र जी ओझा ने लिखा है कि—"इसी समय इन्दुकार के पुत्र माधवकर ने 'रुग्विनिश्चय' या 'माधवनिदान' नामक एक उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ आज भी निदान के सम्बन्ध मे बहुत प्रामाणिक समझा जाता है। इसमे रोगो के निदान आदि पर बहुत विस्तार से विचार किया गया है। वृन्द के सिद्धयोग मे ज्वर आदि की विवेचना बहुत विस्तार से दी गयी है। चक्रपाणिदत्त ने १०६० ई० मे सिद्धयोग के आधार पर चिकित्सासग्रह नामक ग्रन्थ लिखा था। इस समय के अन्त में १२०० ई० के लगभग शार्ङ्गधर ने शार्ङ्गधर सहिता लिखी, इसमे अफीम और पारे आदि औषधियो के वर्णन के अतिरिक्त नाडीविज्ञान के भी नियम दिये गये हैं (नाडीविज्ञान का प्रथम उल्लेख इसी मे है—लेखक)। पारे का इस समय बहुत प्रचार था। अल्बेरूनी ने भी पारे का वर्णन किया है। वनस्पतिशास्त्र के सम्बन्ध में कई कोश भी लिखे गये, जिनमे शल्य-प्रदीप और निघण्टु प्रसिद्ध हैं।"—मध्यकालीन भारतीय सस्कृति—पृष्ठ ११९

पशु-चिकित्सा भी कम उन्नत नही थी। इस विषय पर बहुत ग्रन्थ मिलते हैं। पालकाप्य कृत गजचिकित्सा, गजायुर्वेद, गजदर्पण (जिसका हेमाद्रि ने उल्लेख किया है), गजपरीक्षा, वृहस्पति रचित गजलक्षण, गो-वैद्यशास्त्र, जयदत्त कृत अश्वचिकित्सा, नकुलकृत शालिहोत्र शास्त्र, अश्वतत्र (इसका उल्लेख राय

लिए छाप (impression) मोम पर लेकर उसका मधूच्छिष्ट प्रतिबिम्ब (cast) बनाया जाता था। मोम को बत्ती की ज्वाला के सामने धीमे-धीमे गरम करके सावधानी के साथ नरम किया जाता था।

—इडियन डैन्टल जर्नल, स० ३-१९३१ (डैन्टीस्ट्री इन एनसियन्ट इडिया—एन० एन० वैरी)।

जे० एच० बैडकौक (J H Badcock) ने लिखा है कि 'यह भली प्रकार ज्ञात है कि गिरे हुए दांत से जो गड्ढा रह जाता था, उसे भारतीय भली प्रकार से भर देते थे, इस कार्य में वे स्वर्ण के छोटे टुकडे काम में लाते थे, बौन्टीयस (Bontius) ने लिखा है कि युवावस्था में जिनके दांत गिर जाते थे; वे स्वर्ण के दांत उनके स्थान पर लगवाते थे। कैरियर (Carrir) ने लिखा है कि 'भारतवर्ष के जिन स्थानो में दांत का कालापन सौन्दर्य पसन्द किया जाता है, वहाँ पर दांतो के बीच में स्वर्ण के छोटे-छोटे पत्तर लगा दिये जाते थे। कृत्रिम दांत बनाने के लिए मोतियो का प्राय. उपयोग होता था। (डैन्टीस्ट्री इन एनसियन्ट इण्डिया—लेखक एन० एम० चौकसी)

मुकुट की .अमरकोश की टीका में है), गण-रचित अश्वायुर्वेद (सिद्धयोग सग्रह) अश्वलक्षण, हयलीलावती (मल्लिनाथ ने इसका उल्लेख किया है) आदि ग्रन्थ मिलते है। अधिकाश में ये ग्रन्थ हिन्दू शासन के ही समय के है।

तेरहवी सदी में पशुचिकित्सा सम्बन्धी एक सस्कृत ग्रन्थ का फारसी में अनुवाद किया गया था। इसमें निम्नलिखित ग्यारह अध्याय है —

१ घोडो की जाति, २ उनकी सवारी और उनकी पैदाइश, ३ अस्तबल का प्रबन्ध, ४ घोडो का रग और जातियाँ, ५ उनके दोष, ६ उनके अग-प्रत्यग, ७ उनकी बीमारी और चिकित्सा, ८ उनका दूषित रक्त निकालना, ९ उनका भोजन, १० उनको हृष्ट-पुष्ट बनाने के साधन, ११ दाँतो से आयु को जानना।

पशु-चिकित्सा के साथ-साथ पशु विज्ञान और कृमि-शास्त्र भी अत्यन्त उन्नत था। भारतीय विद्वान् पशुओ के स्वभाव, प्रकृति आदि से पूर्णतया परिचित थे। पशुओं के शरीरविज्ञान को भी वे भली प्रकार जानते थे। घोडे के दाँतो को देखकर उसकी आयु का पता लगाने की प्रथा भारत में पुरानी है। सर्पो की भिन्न-भिन्न जातियाँ इनको मालूम थी। भविष्य पुराण में पाया जाता है कि वे वर्षा ऋतु के पूर्व सग करते है, और अनुमानत छ मास के बाद सर्पिणी २४० अडे देती है। बहुत से अडे तो माता-पिता खा जाते है, और बचे अडो से दो मास में बच्चे स्वय निकल आते हैं। सात दिन में काले हो जाते है, और १५–२० दिन में उनके दाँत निकल आते है। तीन सप्ताहो में उनमें विष उत्पन्न हो जाता है, छ मास में साँप केंचुली उतारते है। उनकी त्वचा पर २४० सन्धियाँ होती है। डल्हण ने लिखा है कि लाटचायन कृमियो और सरीसृपो (रेंगनेवाले जन्तुओ) के विषय में प्रामाणिक विद्वान् है। उसने कृमियो के भिन्न-भिन्न अगो पर भी विचार किया है,[1] यथा—

'कटुभिर्बिन्दुलेखाभि पक्षै पादैर्मुखैर्नखै ।
शूकै कण्टकलांगूलै सश्लिष्टै पक्षरोमभि ॥
स्वनै प्रमाणै सस्थानै लिंगैश्चापि शरीरगै ।
विषवीर्यैश्च कीटानां रूपज्ञान विभाव्यते ॥'—कल्प

---

१. सिकन्दर के सेनापति निर्याकस ने लिखा है कि—'यूनानी लोग सर्पविष दूर करना नहीं जानते थे, परन्तु जो मनुष्य इस दुर्घटना में पडे, उन सबको भारतीयो ने ठीक कर दिया।' हिस्ट्री ऑफ मेडिसन-वाइज। दाहक्रिया और उपवास चिकित्सा में भी भारतीय प्रवीण थे।

हमारे समय के आस-पास के जैन पण्डित हंसदेव का लिखा 'मृग-पक्षी शास्त्र' भी अपने विषय का बहुत उपयोगी और प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसमें सिंहो का वर्णन करते हुए उनके छ भेद—सिंह, मृगेन्द्र, पचास्य, हर्यक्ष, केसरी और हरि कहकर उनकी विशेषताएँ बतायी हैं। शेर के अतिरिक्त हंसदेव ने व्याघ्र, चरख, भालू, गैंडे, हाथी, घोडे, ऊँट, गधे, गाय, बैल, बकरी, भैंस, हरिण, गीदड, बदर, चूहे आदि अनेक पशुओं और गरुड, हंस, बाज, गिद्ध, सारस, कौआ, उल्लू, तोता, कोयल आदि नाना पक्षियो का विस्तृत विवरण दिया है। इनकी किस्में, वर्ण, युवावस्था, सभोग योग्य अवस्था, गर्भ-काल, इनकी प्रकृति, जाति, आयु तथा इनके भोजन, निवास आदि विषयो पर प्रकाश डाला गया है। हाथी का भोजन गन्ना बतलाया है।

भारतीयो ने ही सबसे पहले औषधालय और चिकित्सालय बनाना प्रारम्भ किया था। फाहियान (४०० ई०) ने पाटलिपुत्र के एक औषधालय का वर्णन करते हुए लिखा है कि यहाँ सब गरीब और असहाय रोगी आकर इलाज कराते हैं। उनको आवश्यकतानुसार औषध दी जाती है। उनके आराम का पूरा खयाल रखा जाता है। यूरोप में सबसे पहला औषधालय विंसेंट स्मिथ के कथनानुसार दसवी सदी मे बना था। ह्युआन च्वाग ने भी तक्षशिला, मतिपुर, मथुरा और मुलतान आदि की पुण्यशालाओं के नाम दिये हैं, जिनमें गरीबो और विधवाओ को मुफ्त औषध, भोजन और वस्त्र दिये जाते थे।

वर्तमान यूरोपियन चिकित्साशास्त्र का आधार भी आयुर्वेद है। लार्ड एंपथिल ने एक भाषण में कहा था कि मुझे यह निश्चय है कि आयुर्वेद भारत से अरब में और वहाँ से यूरोप में गया। अरब का चिकित्साशास्त्र संस्कृत ग्रन्थो के अनुवाद पर निर्भर था। खलीफाओ ने कई संस्कृत ग्रन्थो का अरबी मे अनुवाद कराया। भारतीय चिकित्सक चरक का नाम लैटिन में परिवर्तित होकर अब भी विद्यमान है। नौशेरवाँ का सम-कालीन बर्जोह्येह (Barzohyeh) भारत में विज्ञान सीखने आया था। प्रो० साचू के अनुसार अल्बेरूनी के पास वैद्यक और ज्योतिष विषयक संस्कृत ग्रन्थो के अनुवाद विद्य-मान थे। अल्मनसूर ने आठवी सदी में भारत के कई वैद्यक ग्रन्थो का अरबी में अनु-वाद कराया। प्राचीन अरब-लेखक सैरेपिन ने चरक को प्रामाणिक वैद्य मानते हुए उसका वर्णन किया है। हारूँ रशीद ने कई वैद्यो को अपने यहाँ बुलाया था। आयु-र्वेद अरब से ही यूरोप मे गया, यह निश्चित है।

अरब और भारत के सम्बन्ध (चिकित्सा विषय में)—भारतवर्ष से अरबो को गणित तथा फलित ज्योतिष के सिवा जो तीसरी विद्या मिली वह चिकित्सा की है।

चिकित्साशास्त्र की कुछ पुस्तकें उम्वी वंश के समय में ही मुरयानी और यूनानी भाषाओं के द्वारा अरबी में आ चुकी थीं। हारूँ रशीद की चिकित्सा करने के लिए भारत से मनक (माणिक्य) नामक वैद्य बुलाया गया था और उसके इलाज से खलीफा अच्छे हुए। इस प्रकार से भारतीय चिकित्सा की ओर राज्य का ध्यान गया। बरामकी ने इसके प्रचार में बहुत मदद की। याहिय बिन खालिद बरमकी ने अपना एक आदमी इस-लिए भारत भेजा कि वह जाकर भारत की जड़ी बूटियाँ लाये और एक वैद्य का सरकारी विभाग में इसलिए नियुक्त किया कि संस्कृत की चिकित्सा विषयक पुस्तकों का अनुवाद कराया जाय। खलीफा मवफ्फ़िक और बिल्लाह अल्वासी ने भी हिजरी तीसरी शताब्दी में कुछ आदमी भारत में दवाइयों की जाँच के लिए भेजे थे।

संस्कृत की चिकित्सा सम्बन्धी जिन पुस्तकों का अनुवाद अरबी में हुआ उनमें दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं, एक सुश्रुत, जिसे अरबी लोग 'ससरो' कहते हैं। यह पुस्तक दस प्रकरणों में थी, इसमें रोगों के लक्षण, चिकित्सा और औषधियों का वर्णन है। याहिया बिन खालिद बरमकी की आज्ञा से मनका ने इसका अनुवाद इसलिए किया था कि बर-मकी के चिकित्सालय में इसी के अनुसार इलाज हो। दूसरी पुस्तक चरक थी, जिसका अनुवाद फारसी में हुआ था। अब्दुल्लाह बिन अली ने फारसी से अरबी में इसका अनुवाद किया था। तीसरी पुस्तक का नाम इब्न नदीम में 'सन्दस्ताक' और याकूबी की छपी प्रति में सन्दशान है। एक और प्रति में सन्वस्तान है। इसका संस्कृत रूप 'सिद्धि-स्थान' है। इब्न नदीम ने अरबी में इसका अर्थ खुलासा कामयाबी और याकूबी ने सूरत कामयाबी बतलाया है। इसका अनुवाद बगदाद के चिकित्सालय के प्रधान इब्न दहन ने किया था। चौथी पुस्तक का नाम याकूबी ने 'निदान' बताया है। इसमें चार सौ रोगों के केवल लक्षण या निदान बतलाये गये हैं। उनकी चिकित्सा नहीं बतायी गयी है।

एक और पुस्तक थी जिसमें जड़ी-बूटियों के भिन्न-भिन्न नाम थे। एक-एक जड़ी के दस-दस नाम दिये गये थे। सुलेमान बिन इसहाक़ के लिए मनका पण्डित ने इसका अरबी में अनुवाद किया था। एक और पुस्तक थी जिसका विषय था कि भारतीय और यूनानी दवाओं में से कौन दवाएँ ठण्डी हैं और कौन-सी गरम हैं, किस दवा की क्या शक्ति और क्या प्रभाव है? इसका अरबी अनुवाद हुआ था।

रूसा नाम की हिन्दू विदुषी की एक पुस्तक का भी अनुवाद हुआ था, जिसमें

१ 'अरब और भारत के सम्बन्ध'—सैय्यद सुलेमान नदवी, पशुचिकित्सा तथा अधिक जानकारी के लिए इसे देख सकते हैं।

विशेषत स्त्री-रोगो की चिकित्सा दी गयी थी। एक पुस्तक मे गर्भवती स्त्रियो की चिकित्सा लिखी थी, एक मे जडी-बूटियो का सक्षिप्त परिचय था, एक में नशे की वस्तुओ का उल्लेख था।

मनऊदी ने लिखा है कि राजा कोरश के लिए चिकित्साशास्त्र की वडी पुस्तक लिखी गयी थी, जिसमे रोगो के कारण, चिकित्सा, औषधियो की पहचान और जडी-बूटियो के चित्र वनाये गये थे। यूनानी दवाओ मे एक प्रसिद्ध दवा 'इतरी फल' है, मुहम्मद ख्वारिज्मी ने (हि० चौथी शताब्दी मे) इसे तिरीफल (त्रिफला) लिखा है। उसकी दूसरी दवा अत्रजात है जो आम से वनती है। सवसे विलक्षण शब्द वहत (या भत्त ?) है, ख्वारिज्मी का कहना है कि यह रोगियो का भाजन है। यह सिन्धी शब्द है, यह एक प्रकार का भात है जो दूध और घी मे चावल पकाकर वनाया जाता है। इसे खीर भी समझ सकते है।

मसाले और औशषियो के नाम—सन्दल (अरवी), चन्दन (सस्कृत या हिन्दी), सन्दल (उर्दू)। जायफल को यही कहा जाता है। भल्लातक को अरवी मे वलादर, हरीतकी को हलीलज, सोठ को जजीवल, एला को हेला, पिप्पली को फिल-फिल, नीलोत्पल को नीलोफर कहते है।

साँपो की विद्या (गारुडी विद्या)—भारत के लोग साँपो के प्रकार जानने और उनके काटे की झाड-फूंक और जन्तर-मन्तर करने के लिए प्रसिद्ध है। राय नामक एक पण्डित की लिखी हुई इस विद्या की एक पुस्तक का अरवी में अनुवाद हुआ था, जिसमे साँपो के भेदो और विपो का वर्णन था। अरवी मे एक और भारतीय पण्डित की पुस्तक का उल्लेख है, जो इसी विद्या पर थी (उयूनल अम्वा फी तव्रकातुल अतिव्वा —पृ० ३३, मिस्र)।

विष विद्या—जकरिया कजवीनी ने अपनी आसारुल् विलाद नामक पुस्तक मे हिन्द या भारत के प्रकरण मे वेश (विप)नामक एक जडी का उल्लेख किया है। इसके द्वारा राजाओ की आपस में मित्रता के छल से एक दूसरे को मारने की कथा लिखी है। यह वेश हिन्दी का विप है। युद्ध विद्या के सम्वन्ध मे अरवी मे चाणक्य या शानाक पण्डित की जो पुस्तक है, उसका नाम पहले आ चुका है। उसका अन्तिम प्रकरण भोजन और विप के सम्वन्ध में था। जान पडता है कि इसके सिवा इसकी कोई और भी पुस्तक थी, जिसमें विशेप रूप से विपो का वर्णन था और जो हिजरी सातवी शताब्दी (ईसवी तेरहवी शताब्दी) तक अरवी भापा में मिलती थी। क्योकि इब्न अबी उसैवअ ने सन् ६६८ हिजरी (१२७० ई०) मे इस पुस्तक का पूरा वर्णन इस प्रकार किया है—

इस पुस्तक में पाँच प्रकरण है। याह्यिा बिन खालिद वरमकी के लिए मनका या माणिक्य पण्डित ने अबू हातिम बलखी की सहायता से फारसी मे इसका अनुवाद किया था। फिर अब्बास बिन सईद जौहरी ने खलीफा मामूँ रशीद (२१८ हि०) के लिए दुबारा अनुवाद किया था। इब्न अदीम की सूची मे इसी प्रकार की एक और पुस्तक का नाम मिलता है (इब्न नदीम), जिसका अरबी में अनुवाद हुआ था। परन्तु उसमें पुस्तक के मूल लेखक का नाम नहीं दिया है।

अरबी के लेखों मे भारत के जिन पण्डितो और वैद्यो के नाम आये है, वे इस प्रकार है—वहला, मनका, बाजीगर (विजयकर?), फलवर फल (कल्पराय कल?), सिन्दबाद। ये सब नाम जाहिज (सन् २५५ हि०) ने दिये है। इसके आगे उसने आदि-आदि लिख दिया है। इनको याह्यिा बिन खालिद वरमकी ने भारत से बगदाद बुलाया था। ये सब चिकित्सक और वैद्य थे।

इब्न अबी उसैबअ ने उन वैद्यो में से मनका और वहला के बेटे का, जो शायद मुसलमान हो गया था और जिसका नाम सालह था, उल्लेख किया है। इब्न नदीम ने एक और नाम इब्न दहन लिखा है, और यही तीनो बगदाद में उस समय के प्रसिद्ध वैद्य थे। एक दूसरे स्थान पर उसने उन भारतीय पण्डितो के नाम दिये है, जिनके चिकित्सा और ज्योतिष के ग्रन्थो का अरबी में अनुवाद हुआ था। वे नाम इस प्रकार है—बाखर, राजा, मनका, दाहर, अनकू, जनकल, अरीकल, जवभर, अन्दी, जवारी।

मनका—इब्न अबी उसैबअ ने अपनी तारीखुल अतिब्बा में लिखा है कि यह व्यक्ति चिकित्साशास्त्र का बहुत बडा पण्डित था। एक बार हारूँ रशीद बीमार पडा। बगदाद के सब चिकित्सक उसकी चिकित्सा करके हार गये। तब एक आदमी ने भारत के इस चिकित्सक का नाम लिया। यात्रा का व्यय आदि भेजकर यह बुलाया गया। इसकी चिकित्सा से खलीफा अच्छे हो गये। खलीफा ने इसको पुरस्कार आदि देकर मालामाल कर दिया। फिर यह राज्य के अनुवाद विभाग मे संस्कृत पुस्तकों के अनुवाद का काम करने के लिए नियत किया गया। क्या हम इस मनका को माणिक्य समझें?

सालेह बिन वहला—यह भी भारतीय चिकित्सा शास्त्र का पण्डित था। इब्न अबी उसबअ ने इसको भी भारत के उन्ही बिन चिकित्सको में रखा, जो बगदाद में थे। एक बार जब खलीफा हारूँ रशीद के चचेरे भाई का मूर्च्छा या मिरगी का रोग हो गया और दरबार के प्रसिद्ध यूनानी ईसाई चिकित्सक बखतीशू ने कह दिया कि यह अब नहीं बच सकता, तब जाफर बरमकी ने इस भारतीय चिकित्सक को उपस्थित

किया और कहा कि इसी का इलाज होना चाहिए। खलीफा ने मान लिया और इसने वडे मार्के की चिकित्सा की।

इब्न दहन—यह वरमकियो के चिकित्सालय का प्रधान था और उन लोगो में से था जो सस्कृत से अरवी में अनुवाद करने के काम पर लगाये गये थे। प्रोफेसर जखाऊ ने 'इण्डिया' नामक ग्रन्थ की भूमिका में इस दहन नाम का मूल रूप जानने का प्रयत्न किया है। उनकी जाँच का परिणाम यह है कि यह नाम धन्य या धनन होगा। यह नाम शायद इसलिए रखा गया है कि यह नाम धन्वन्तरि से मिलता जुलता है, जो मनु के शास्त्र में देवताओ का वैद्य वताया गया है।

शुक्रनीति

शुक्रनीति का समय नवी शती के आस-पास का माना जाता है। यह राजनीति से सम्वन्धित है। शुक्र का नाम ही उशना है। पचतत्र में आता है—"उशना वेद यच्छास्त्र यच्च वेद वृहस्पति । स्त्रीवुद्धया न विशिष्येते तस्माद् रक्ष्या कथ हि ता ॥" (मित्रभेद १९६।) कालिदास ने भी इनके नीतिशास्त्र की प्रशसा की है—

'अध्यापितस्योशनसापि नीतिं प्रयुक्तरागप्रगधिर्द्विषस्ते।
कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि सिन्धोस्तटावोघ इव प्रवृद्ध. ॥' कुमार.३।६

इन्द्र ! यदि आपका शत्रु शुक्राचार्य से भी नीतिशास्त्र पढकर आया होगा, तव भी अत्यन्त भोग की इच्छा को ऐसा दूत वनाकर उसके पास भेजूंगा कि वह उसके धर्म और अर्थ दोनो का उसी प्रकार से नाश कर दे जिस प्रकार वरसात में वढी हुई नदी का वहाव दोनो तटो को वहा ले जाता है।

इसलिए शुक्र का नीतिशास्त्र वहुत प्रचलित प्रतीत होता है। नीतिशास्त्र में कौटिल्य की भाँति आयुर्वेद के विपय यत्र-तत्र मिलते हैं। इसकी रचना पद्यमय है जो वहुत साधारण है।

वैद्य का लक्षण—आयुर्वेद में हेतु, लिंग और औषध ये तीन ही मुख्य है ("हेतुलिंगौषधज्ञान स्वस्थातुरपरायणम् । त्रिसूत्र शाश्वत पुण्य वुवुधे य पितामह ॥" चरक० सू० अ० १।२४)। इन तीन के ज्ञान में आयुर्वेद शास्त्र सीमित है ("त्रिविधस्यायुर्वेदसूत्रस्य ससग्रहव्याकरणस्य प्रवक्तार ।" चरक० सू० अ० २९।७)। इसी से तीन सूत्रो के ज्ञाता को वैद्य कहा गया है—

'हेतुर्लिगौषधोभिर्यो व्याधीना तत्त्वनिश्चयम्।
साध्यासाध्ये विदित्वोपक्रमेत स भिषक् स्मृतः ॥' शु० २।८३

जो रोग के कारण, लक्षण और औषधि को वास्तव में पूर्णतः समझता है, साध्या-साध्य विकार को जानकर चिकित्सा प्रारम्भ करता है, वह वैद्य है (तुलना कीजिए, प्राणाभिसर वैद्य के लक्षणों में—"सुखसाध्यकृच्छ्रसाध्ययाप्यप्रत्याख्येयानां च रोगाणां व्यपगतसन्देहा।" सू० अ० २९।७)।

औषधि संचय—राजा को और वस्तुओं के साथ औषधियों का भी संग्रह करना चाहिए। कौन औषधि किस समय संग्रह करनी चाहिए, इनका विशद उल्लेख अत्रि-पुत्र ने किया है ("तत्र यानि कालजातान्यागतसम्पूर्णप्रमाणरसवीर्यगन्धानि कालात-पाग्निसलिलपवनजन्तुभिरनुपहतगन्धवर्णरस—स्पर्शप्रभावाणि शुक्लवासा सम्पूज्य देवता अश्विनौ गोब्राह्मणांश्च कृतोपवास प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा गृह्णीयात्" कल्प अ० १।१०)। इसी प्रकार जनपदोद्ध्वंस रोग फैलने से पूर्व औषधियों का संचय करना चाहिए, क्योंकि वायु, उदक, देश, काल में विकार आने से औषधियाँ भी विकृत हो जाती हैं ("प्राक् च भूमेर्विरसीभावाद् उद्धरध्वं सौम्य! भैषज्यानि यावन्नो-पहतरसवीर्यविपाकप्रभावाणि भवन्ति।" वि० अ० ३।४)।

'गृह्णीयात् सुप्रयत्नेन वत्सरे वत्सरे नृप।
औषधीनां च धातूनां तृणकाष्ठादिकस्य च॥' शु० १।१८५

प्रति वर्ष राजा प्रयत्नपूर्वक औषधि, धातु, तृण, काष्ठ आदि का संचय करता रहे।

आयुर्वेद—आयु जिसमें जानी जाती है, वह आयुर्वेद है। आयु के लिए हितकारी और अहितकारी द्रव्य, गुण, कर्मों का जिसमें ज्ञान होता है, वह आयुर्वेद है (चरक० सू० अ० ३०।२३)। यह आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है (चरक० सू० अ० ३०।२१)। शुक्रनीति में आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद कहा है, जिसमें आयु को हेतु, लक्षण और औषधि से जानते हैं, वह आयुर्वेद है—

'विन्दत्यायुर्वेत्ति सम्यगाकृत्यौषधिहेतुतः।
यस्मिन् ऋग्वेदोपवेदः स चायुर्वेदसंज्ञकः॥' शु० ४।७७

कला—कामसूत्र में चौंसठ कलाओं की गणना है, उनमें एक कला आसव-मद्य बनाने की भी है, "पानकरसरागासवयोजनम्"—पानक, रस, राग और आसव बनाने की कला का सीखना। प्राचीन काल में आसवविज्ञान मुख्य ज्ञान था, इसी से अग्निवेश ने अत्रिपुत्र से पूछा—"आसवानामिदानीमनपवादं लक्षणमनतिसंक्षेपेणोपदिश्यमानं शुश्रूषामहे—इति।" (सूत्र० अ० २६।४८) इसी कला को शुक्रनीति में कहा है—

'मकरन्दासवादीनां मद्यादीनां कृतिः कला।
शल्यगूढाहृतौ ज्ञानं शिराव्रणव्यधे कला॥' शु० ४।१२

'कट्टुभिर्विन्दुलेखाभि पक्षै पादै मुखैर्नखै ।
शूकै कण्टकलागूलै सश्लिष्टै पक्ष्मरोमभि ॥' (कल्पस्थान)

इनी प्रकार से शौनकसहिता और आलम्वायन सहिता है। आलम्वायन सहिता का पाठ निदान-टीका में श्रीकण्ठ ने दिया है—"नैति रक्त क्षताद् यस्य लताघाते न राजिका । न लोमहर्प शीताद्भि वर्जयेत्त विपार्दितम् ॥"

(तुलना कीजिए—चरक० चि० अ० २३।३३–३४।) आलम्त्रायन का एक पाठ श्रीकण्ठ ने वृन्द के सिद्धयोग की टीका में दिया है—"सगृह्य सर्प हस्ताभ्या पुच्छे वक्त्रे च सात्त्विक । स दष्टव्यस्तत सर्पो द्विस्त्रिश्चतुरथापि वा ॥" (६८।५ की टीका)

ये सहिताएँ ऋपियो के नाम पर मिलती है, इसके सम्वन्व में डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल का कहना है कि ये ग्रन्थ इन ऋपियो के नाम से प्रसिद्ध चरण या शाखान्तर्गत है। प्राचीन काल में ऋपियो के नाम से चरण और शाखा चलती थी, शिप्य उसी से अपनी गुरुपरम्परा का परिचय देते थे। इसमें वे गौरव भी अनुभव करते थे (जिस प्रकार से आज अपनी उपाधि के पीछे विश्वविद्यालय का नाम लिखते है)।

चरण वैदिक विद्यापीठ थे—चरण उस प्रकार की शिक्षा-सस्था थी, जिसमे वेद की एक शाखा का अध्ययन शिप्यसमुदाय करता था और जिसका नाम मूल सस्थापक के नाम पर पडता था। इसका प्रवन्ध सघ के आदर्श पर होता था ("चरणशब्द शाखानिमित्तक पुरुपेपु सुवर्त्तते"—काशिका २।४।३) चरक में शाखा शब्द आयुर्वेद के अर्थ में आया है, जिस चरण में या शाखा में आयुर्वेद-विद्या का अध्ययन होता था, उस चरण के अन्दर वननेवाली सहिता उसी चरण के नाम से प्रसिद्ध होती थी)। वैदिक साहित्य के विविध अगो का विकास चरणो में हुआ था। पाणिनि के समय से पूर्व ही चरणो में वैदिक साहित्य का इतना विकास हो चुका था (सूत्र ४।२।६६, ४।३।१०५)। श्रौतसूत्र या कल्पग्रन्थों के वाद धर्मसूत्रों की रचना भी (आयुर्वेद सहिताओ की भी) चरण साहित्य के अन्तर्गत हो गयी थी। एक ही चरण के छात्र परस्पर सब्रह्मचारी कहलाते थे। विद्वानो को चरण-जनित गौरव—प्रसिद्ध चरणो की सदस्यता के आधार पर समाज मे आदर मिलता था ('काठिकया श्लाघते'—कठ होने के नाते अपना वडप्पन दिखाता है, 'कतर कठ, कतम कठ'—इन दोनो में कौन कठ है, और इन सवमें कौन कठ है—'पाणिनि कालीन भारत वर्प')। इस प्रकार आयुर्वेद मे ऋपियो के नाम से मिलनेवाली भिन्न-भिन्न सहिताएँ ऋपियो से वनी होने की अपेक्षा ऋपियो के नाम से प्रसिद्ध चरणो के अन्दर वनी मानना वहुत युक्तिसगत एव वुद्धिगम्य है। इस प्रकार से इनके निर्माण का समय जानना वहुत कुछ सरल हो जाता है।

माधवनिदान और माधवकर[1]

चिकित्साकलिका में तीसट ने अपने ग्रन्थ का प्रयोजन बताते हुए कहा है—'जिसने स्वल्प शास्त्रो का अध्ययन किया है—ऐसे वैद्य की सुश्रुत आदि शास्त्ररूपी समुद्र में अज्ञानवश बुद्धि प्रसरित नही होती, परन्तु हमारे बनाये हुए योगसमुच्चय में तो मूर्ख और पण्डित दोनो चिकित्सको की बुद्धि अच्छी प्रकार प्रवेश करती है।' इसी प्रकार इन्ही कारणो से निदान सम्बन्धी वचनो का पृथक् सग्रह करना पडा —

'नानातंत्रविहीनाना भिपजामल्पमेवसाम् ।
सुख विज्ञातुमातङ्कमयमेव भविष्यति ॥' (निदान. ३)

अनेक शास्त्रो के ज्ञान से शून्य अल्प बुद्धिवाले वैद्यो को रोगो का ज्ञान सुगमता से कराने के निमित्त यही रोगविनिश्चय नामक ग्रन्थ सहायक होगा। इसमें कर्त्ता ने ऊपर इतना अधिक कह दिया कि "सद्भिपजा नियोगात्" सद्वैद्यो की प्रेरणा या आज्ञा से मै यह कार्य कर रहा हूँ। आज यह सग्रह बहुत प्रसिद्ध है (निदाने माधव श्रेष्ठ)। ग्रन्थकर्त्ता माधव ने अपने ग्रन्थ का नाम रोगविनिश्चय रखा है (निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्), परन्तु लोक में निदान या माधवनिदान नाम ही प्रसिद्ध हैं। इसमें प्रारम्भ में पच निदान लक्षण देने के पीछे ज्वर, अतिसार आदि रोगो का निदान चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि ग्रन्थो में से सग्रह करके एकत्र किया गया है। निदान में आवश्यक वचनो को लिया गया है।

माधवकर का समय—अरबी प्रमाण इसको सातवी शताब्दी का बताता है, क्योकि अल्बेरुनी कहता है कि "उससे पहले अल्वासीद खलीफा के समय जिन सस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा मे हुआ था, उनमें माधवनिदान भी था।" खलीफा हारून् अल्-रशीद की सभा में मनका नाम का राजवैद्य और अल्बेरुनी नामका वैयाकरण था। मनका नामक भारतीय वैद्य ने हारून अल् रशीद को किसी भयानक रोग से स्वस्थ किया था। इसी के उपलक्ष्य में उसे वहाँ प्रतिष्ठा मिली थी। इसने वहाँ पर कई सस्कृत ग्रन्थो का अनुवाद किया था, जिनमें शरक् (चरक),

---

१. सिद्धसारसहिता या सारसंग्रह नामक एक ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति नेपाल से मिली है। इसका लेखक रविगुप्त है। रविगुप्त बौद्ध था। वैद्य होने के साथ कवि और नैयायिक भी था। सर्वांगसुन्दरी टीका में जिस रविगुप्त के सिद्धसार का उल्लेख है, वह यही है। यह रविगुप्त आठवीं शती में हुआ है (देखिए—जर्नल ऑफ आयुर्वेद—अप्रैल १९२६, पृष्ठ ३७३; श्री दुर्गाशकर भाई)।

सन्नद् (सुश्रुत) इन ग्रन्थो के साथ निदान भी था (—प्रत्यक्ष शारीर, उपोद्घात)। आठवी शताब्दी में ही सुरजिद् वैद्य ने माधवनिदान के आधार पर लघुनिदान लिखा था, जिसका उल्लेख मधुकोश की टीका में मिलता है। इससे इनका समय सातवी शताब्दी निश्चित होता है।

माधव ने वाग्भट के वचनो का सग्रह किया है। वृन्द और चक्रपाणि ने रोग-विनिश्चय के क्रम से ही अपने-अपने ग्रन्थो में चिकित्सा कही है। इसलिए इनसे पूर्व और वाग्भट के पीछे इनका समय आता है। चक्रपाणिदत्त का समय ग्यारहवी शती है। चक्रपाणिदत्त ने अपना चिकित्सासारसग्रह ग्रन्थ वृन्द के सिद्धयोग के आधार पर बनाया है। इसलिए वृन्द का समय चक्रपाणिदत्त से पहले का है। इसके बनाये ग्रन्थो की प्रतिष्ठा देखकर ही इसके ऊपर से रचना की है। इस ख्याति के लिए यदि एक सौ या दो सौ वर्ष का समय समझें तो वृन्द का समय ९वी शती के आस-पास आता है। वृन्द से एक सौ या दो सौ वर्ष पूर्व माधव का समय आता है, जो सातवी शती के आस-पास का है।

माधव को इन्दु का पुत्र कहा जाता है। नाम के पीछे कर आने से कविराज गण-नाथ सेनजी इसको बगाली मानते हैं। माधवकर ने रत्नमाला नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी लिखा था, तीसरा ग्रन्थ द्रव्य-गुण पर बनाया था (—प्रत्यक्ष शारीर, उपोद्घात)।[1]

टीकाकार—माधवनिदान की दो टीकाएँ प्रसिद्ध है—(१) श्री विजयरक्षित और उसके शिष्य श्रीकण्ठ की मधुकोश टीका, (२) श्री वाचस्पति वैद्य की बनायी आतकदर्पण टीका। ये टीकाकार चौदहवी शताब्दी में हुए है। विजयरक्षित और श्रीकण्ठ का समय हेमाद्रि के पीछे है, ये चौदहवी शती के पूर्वार्द्ध में हुए है, और वाचस्पति चौदहवी शती के उत्तरार्द्ध में (माधवनिदान, निर्णयसागर प्रेस का उपोद्-घात)।

विजयरक्षित की टीका में स्थान-स्थान पर विवेचनात्मक नैपुण्य की झलक मिलती है। इन्होंने आयुर्वेद की सहिताओ का गहन अध्ययन किया था। यह शिवभक्त थे। इनके शिष्य श्रीकण्ठ ने गुरु की अधूरी टीका को पूर्ण करने के अतिरिक्त वृन्द के सिद्धयोग की

---

१ ७८६ ई० में खलीफा हारूनुलरशीद के समय काबुल पर अरबों ने चढाई की और नगर के बाहर एक विहार को लूटा। पुराने रिश्ते के कारण खलीफा भारत से विद्वानो को बगदाद बुलाते और उन्हें वहाँ वैद्य आदि के पदों पर रखते थे। अरब विद्यार्थियों को वे पढ़ने भारत भेजते थे—इतिहासप्रवेश।

कुसुमावली टीका भी लिखी है। यह भी आयुर्वेद का विद्वान् था। इसने भी अपनी टीका मे बहुत-सी सहिताओ का उल्लेख किया है। यह भी शिवभक्त था।

वृन्द-कृत सिद्धयोग

चिकित्साकलिका के ढग पर वृन्द ने अपना सिद्धयोग बनाया है। इसमे रोगक्रम माधवनिदान के अनुसार रखा है। अपने अनुभव मे आये योगो का सग्रह इसमें किया है।

'नानामतप्रथितदृष्टफलप्रयोगै. प्रस्तावबाक्यसहितैरिह सिद्धयोग ।
वृन्देन मन्दमतिनात्महितार्थिनाऽय सलिख्यते गदविनिश्चयप्रक्रमेण ॥'

ग्रन्थकर्त्ता ने शिव और चण्डी की प्रार्थना से मगलाचरण किया है ('ध्यात्वा शिव परमतत्त्वविचारवेद्य चण्डीमभीष्टफलदा सगण गणेशम्')।

वृन्द ने चरक, सुश्रुत और वाग्भट से योगो का सग्रह तथा अन्य वचन उद्धृत किये है (कुष्ठ का मणिभद्र यक्षवाला योग, विरेचनाविकार ७४।१६—१७—वाग्भट का है)। इसके योग क्रियात्मक है (विरेचनाधिकार ७४ मे एरण्ड तैल की प्रयोग विधि)। चक्रपाणि ने वृन्द के योगो को अपने ग्रन्थ में लिया है (वृन्द के शूलाधिकार का २६।५८ वॉ श्लोक पूर्णत चक्रदत्त में है)। इससे स्पष्ट है कि चक्रपाणि वृन्द के पीछे हुए है। माधव के पीछे होने मे रोगक्रम में उसका अनुसरण किया है। स्नायुक रोग का वर्णन माधवनिदान मे नही है। वृन्द ने विस्फोटाधिकार के अन्दर इसका उल्लेख किया है ('शाखासु कुपितो दोप शोथ कृत्वा विसर्पवत्	स स्नायुक इति स्यात· क्रियोक्ता तु विसर्पवत् ॥'१५—१७)। इसकी चिकित्सा भी दो श्लोको में दी है। चक्रदत्त ने वृन्द के शब्दो में ही स्नायुक रोग की चिकित्सा लिखी है। चक्रदत्त ने इस रोग का निदान नही लिखा, परन्तु वृन्द का कहा निदान ही स्वीकार किया है। चक्रदत्त के टीकाकार श्री शिवदास सेनजी ने लिखा है कि 'स्नायुक रोग'—नारू नाम से पश्चिम देश में प्रसिद्ध है, यह रोग रुग्विनिश्चय में नही, वृन्द ने इसका उल्लेख किया है। वृन्द का पाठ देकर उसकी व्याख्या की गयी है। चक्रदत्त ने स्वय सिद्धयोग में से योग लेना स्वीकार किया है ('य. सिद्धयोगलिखितानधिकयोगानत्रैव निक्षिपति केवलमुद्—धरेद्वा')।

चक्रदत्त का समय ग्यारहवी शती है। इसलिए वृन्द का समय लगभग नवी शती या दशमी शती होना सम्भव है। क्योंकि इस ग्रन्थ के प्रचार और ख्याति के लिए समय भी चाहिए। सिद्धयोग की ख्याति बहुत हुई होगी, इसी से चक्रपाणिदत्त-जैसे विद्वान् को इसको आधार बनाना पडा।

वृन्द के टीकाकार का कहना है कि पश्चिम में (मारवाड में) होनेवाले रोगो का उल्लेख विशेष रूप से ग्रन्थकर्त्ता ने किया है, इसके आधार पर इसका पश्चिम भारत का होना सम्भव है।

ज्वर से लेकर वाजीकरण तक सत्तर अधिकारो में चिकित्सा के सिद्धान्त प्रारम्भ में देकर सक्षेप में निदान देते हुए चिकित्सा क्रम कह दिया है। पीछे के अध्यायो में स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, वस्ति, धूम, नस्य आदि का वर्णन करते हुए ८१वें अध्याय मे स्वस्थाधिकार कहा है। इसमें सद्वृत का भी उल्लेख किया है। अन्तिम अधिकार मिश्रकाधिकार है, जिसमें चिकित्सा के चार पाद, मान-परिभाषा आदि विषय हैं।

इस ग्रन्थ की एक ही टीका—कुसुमावली है, जिसे श्रीकण्ठ ने बनाया है ('श्री-कण्ठदत्तभिषजा ग्रन्थविस्तारभीरुणा।' टीकाया कुसुमावल्या व्याख्या मुक्ता क्वचित् क्वचित् ॥')। इनका समय १४वी शती है। इनकी टीका सम्भवत कही-कही रह गयी थी, उसे नागर वश में उत्पन्न भाभल्ल के पुत्र नारायण ने पूरा किया। यह आनन्दाश्रम से प्रकाशित पुस्तक के अन्त में लिखा है।

ग्रन्थ की विशेषता—योग-सग्रह ग्रन्थो में प्रथम विस्तृत ग्रन्थ सम्भवत यही है इसमें रोग का निदान नही दिया गया है। इसका कारण सम्भवत माधवनिदान ग्रन्थ की ख्याति थी। इसलिए उसे छोडकर चिकित्सा के दृष्टिकोण से ही इस ग्रन्थ की रचना हुई है। इसी से परिभाषा प्रकरण को विस्तार से दिया है, यही परिभाषा आज भी मान्य है। इस ग्रन्थ में खनिज धातुओ का प्रयोग बहुत कम है, परन्तु लोह और मण्डूर का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है। इसमें मण्डूर को चूर्ण करके, अग्नि मे जलाकर प्रयोग करने का भी उल्लेख मिलता है—

> 'गोमूत्रशुद्ध मण्डूर त्रिफलाचूर्णसयुतम्।
> विलिह्न्मधुसर्पिर्भ्यां शूल हन्ति त्रिदोषजम् ॥' २६।३३
> 'मण्डूरस्य पलान्यष्टौ गोमूत्रेऽर्धाढके पचेत्।
> क्षीरप्रस्थ च तत्सिद्ध पक्तिशूलहर नृणाम् ॥' २७।२४

इसी प्रकार मे मण्डूरवटिका, शतावरीमण्डूर, गुडमण्डूर आदि योग है। लोह का प्रयोग भी पर्याप्त है—

> 'अक्षामलकशिवाना स्वरसे पक्व सुलोहज रेणुम्।
> सगुड यद्यनयुङ्क्ते मुञ्चति शूली त्रिदोषज शूलम् ॥
> कलायचूर्णस्य भागौ द्वौ लोहचूर्णस्य चापर ॥
> लिह्याद्वा त्रैफल चूर्णमयश्चूर्णसमायुतम् ॥' २७।३७, ५०।५२

मण्डूर और लोहे का प्रयोग शूल रोग में ही है। इन दो धातुओं के सिवाय अन्य धातु का उपयोग इसमे नही है। ज्वर में, शूल में पात्र में पानी भरकर शरीर के ताप को कम करने या सेक करने का विधान इसमे है, जो पूर्णत क्रियात्मक हैं (कास्य-राजत-ताम्राणि भाजनानि च सर्वत । परिपूर्णानि तोयस्य शूलरयोपरि निक्षिपेत् ॥२६।१६, तोय-शीत ज्ञेयम्—टीका)। ज्वर में रोगी के दाह, बेचैनी, अधिक उष्णिमा को शान्त करने का क्रियात्मक उपाय—

'उत्तानसुप्तस्य गभीरताम्रकास्यादिपात्र प्रणिधाय नाभौ ।
तत्राम्बुधारा बहुला पतन्ती निहन्ति दाह त्वरित सुशीता ॥' (१।१०४)

रोगी की नाभि पर ताम्र-कासा आदि धातु के जो पात्र उष्णिमा के लिए सुवाहक हो उन गहरे पात्रो को रख देना चाहिए। इन पात्रो में शीतल जल की मोटी धार गिरानी चाहिए। इससे रोगी का दाह शान्त होता है। इस प्रकार से इसमें सरल, उपयोगी योगो का सग्रह है।

अष्टाग सग्रह में लिखित प्रसिद्ध शिवागुटिका का उल्लेख चिकित्साकलिका और चक्रदत्त में है, परन्तु वृन्द ने सिद्धयोग में नही दिया है। सम्भवत इसका कारण इसकी लम्बी विधि है। सिद्धयोग के योग सक्षिप्त एव सरल हैं। रसायन योग भी इसी ढग पर दिये गये हैं।

भाषा-सुन्दर और ललित है, उपमाएँ मनोहर हैं—

'तिमिर रागता याति रागात्काचत्वमेति च ।
काचात्सजायते नीली तदाऽन्धो जायते नर. ॥' (६१।११७)
'यस्त्रैफल चूर्णमपथ्यवर्जी साय समश्नाति हविर्मधुभ्याम् ।
स मुच्यते नेत्रगतै विकारैर्भृत्यैर्यथा क्षीणधनो मनुष्य. ॥ (६१।१२०)

नागार्जुन से कही अजनवर्त्ति का उल्लेख इसमें है (नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके। नाशनी तिमिराणा च पटलाना तथैव च ॥६१।१५०)। इससे स्पष्ट है कि नागार्जुन ने जिस लोह शास्त्र का उल्लेख किया था तथा जिसका उल्लेख चक्रदत्त ने किया है ('नागार्जुनो मुनीन्द्र शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनम् । तस्यार्थस्य स्मृतये वयमेतद् विशदाक्षरै ब्रूम ।' रसायन, १५) वह विधान वृन्द के समय तक प्रचलित नही था। यो लोह का प्रयोग चरक, सुश्रुत, सग्रह में है, परन्तु वह रसशास्त्र से भिन्न प्रकार का है। लोह, अभ्रक, ताम्र का मारण प्रयोग चक्रदत्त में प्रथम मिलता है।

वृन्द के समय इनका प्रचार प्राथमिक रूप में था। चक्रदत्त में अधिक मिलता है, इसके आगे रसौषध मिलने लगती है।

राजमार्त्तण्ड

भोजराज इसके कर्त्ता कहे गये हैं। भोजराज के नाम से अलंकार, ज्योतिष आदि के ग्रन्थ मिलते हैं, डल्हण ने भोज के जो वचन दिये हैं, वह भोज इसके कर्त्ता से भिन्न हैं। विजयरक्षित, श्रीकण्ठ, चक्रपाणि ने भी भोज के वचन उद्धृत किये हैं (प्रत्यक्ष-शरीर पृष्ठ २५-२६)। राजमार्त्तण्ड के साथ राज शब्द लगा होने से इसका कर्त्ता राजा भोज कहा जाता है (धारा नगरी के राजा भोज के सिवाय ८३६ ई० में रामभद्र का बेटा भोज या मिहिर भोज हुआ जिसने कन्नौज को जीतकर भिन्नमाल के स्थान पर अपनी राजधानी कन्नौज को बनाया था। ग्रन्थकर्त्ता अपने को महाराज नाम से कहते हैं। राजा भोज विद्वानों का आश्रयदाता रूप में प्रसिद्ध हैं, सम्भवतः किसी पण्डित ने उनके नाम से यह रचना की हो जिस प्रकार श्रीहर्ष के नाम से प्रसिद्ध रत्नावली नाटिका, नागानन्द को बाण का कहा जाता है, परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है, इस अवस्था में यह केवल कल्पना भी हो सकती है)। लेखक ने स्वयं कहा है "योगाना संग्रहोऽयं नृपतिशतशिरोविष्ठितांघ्रिेन राज्ञा।"

राजमार्त्तण्ड में कर्णपालीवर्धन के लिए, लेप-तैल, घृत दिये हैं। इसी प्रकार श्रोणि वृद्धि के योग दिये हैं। इस प्रकार के योग सिद्धयोग या चक्रदत्त में नहीं हैं। इस प्रकार के लेप इसको अन्तःपुर के आन-पान का प्रमाणित करते हैं, जो कि १०वीं या ११ वीं शती का है। इसमें कुछ प्रयोग सुन्दर हैं यथा—आरोपिते मूर्धनि शीत-वारिकुम्भे शमं गच्छति तत्क्षणेन। असृक्प्रवाह प्रदरामयोत्थ स्त्रीणां नदीस्रोत इवावरोधात् ॥३०८॥ स्त्रियों के मध्य भाग को पतला करने का योग इसी में मिलता है "अतिमुक्तस्य मूलं तक्रेण समं निपीतमबलानाम्। प्रतनु विवर्त्ते मध्यं कसेरुरथवा समध्वाज्य'॥३४७॥ अन्त में पशुरोग चिकित्सा दी है। कबूतरों में रंगभेद का कारण इनका खान पान बताया है "पारावतेभ्यः क्रमशः कुसुम्भमसूरमुद्गैः परिपोषितेभ्यः। भवन्त्यपत्यानि सितारुणानि नीलच्छवीनि च वधूप्रसगात्" ॥४१७॥

चक्रपाणिदत्त का चिकित्सा सार संग्रह [चक्रदत्त]

चक्रपाणिदत्त ने अपना परिचय चक्रदत्त के अन्त में दिया है, जिसमें उसने अपने को गौडाधिपति नयपाल की पाकशाला के अधिकारी नारायण का पुत्र बताया है। इनके बड़े भाई का नाम भानु था। महीपाल का समय लगभग ९७५-१०२६ ई० है।

महीपाल ने धीरे-धीरे अपने पुरखो के राज्य का उद्धार किया। अन्तिम काल (१०२३ मे) इसने मिथिला पर भी अधिकार कर लिया था।'

महीपाल के बाद उसका पुत्र नयपाल राजा हुआ। नयपाल का युद्ध कभी कर्ण के साथ हुआ था (१०४१-१०७२ ई०)। इनमे बौद्ध दार्शनिक दीपङ्कर श्रीज्ञान अथवा अतीश ने दोनो पक्षो मे सन्धि करा दी थी। नयपाल का पुत्र विग्रहपाल हुआ। विग्रहपाल की मृत्यु के पश्चात् इसके तीन पुत्रो मे राजगद्दी के लिए झगडे हुए। इस लडाई-झगडे मे पाल राज्य सकुचित होकर छोटा हो गया। विग्रह पाल का तीसरा पुत्र रामपाल अपने दूसरे भाई शूरपाल के मरने के बाद गद्दी पर बैठा। इसने ४५ वर्ष राज्य किया। इस समय पाल राज समाप्ति पर था। इसके मरने के साथ-साथ यह और भी क्षीण हो गया। सामन्त धीरे-धीरे सिर उठाने लगे और वे स्वतत्र हो गये। रामपाल का बेटा कुमारपाल हुआ। इसका मत्री वैद्यदेव स्वतत्र होकर राज्य करने लगा। विजयसेन सामन्त के उदय मे मदनपाल को बगाल छोडना पडा था, पालो का अधिकार बिहार के एक भाग पर रह गया था। यहाँ पूर्व मे सेनो से तथा पश्चिम गाहडवालो से घिरे हुए अपने दिन पूरे किये। पालवश की अन्तिम झाँकी ११७५ ई० के एक अभिलेख में मिलती है, जो गोविन्द पाल के शासन के १४ वे वर्ष का है (प्राचीन भारत का इतिहास डा० त्रिपाठी)।

सेन वश—दसवी शती से ही कनाडे सिपाही भारत भर में प्रसिद्ध थे। १०८० ई० के करीब विजयसेन और नान्यदेव दो कनाडे सैनिको ने पाल राजाओ से बगाल और तिरहुत छीनकर दो नये राज्य स्थापित किये। इसी विजयसेन से बगाल मे सेनवश चला, जिसने पालवश के पीछे वहाँ का शासनसूत्र चलाया।

विजयसेन ने ६२ वर्ष (१०९५ से ११५८ ई० के लगभग) राज्य किया, युद्ध में अनेक प्रदेश जीते। इसने गौडनरेश मदनपाल पर आक्रमण किया था। (मदनपाल निघण्टु, जो आयुर्वेद का प्रसिद्ध निघण्टु है, जिसका बगाल में बहुत प्रचार है, वह इसी का बनाया कहा जाता है। बगाल मे पालो को विजय सेन ने भगाया था, इसका उल्लेख राजशाही जिले के देवपाडा के एक शिलालेख मे मिलता है। विजयसेन शिव-भक्त और श्रोत्रियो का उपासक था।

विजयसेन के बाद बल्लालसेन गद्दी पर बैठा। इसने राज्य का रक्षण किया। यह

---

[1] 'विद्याकुलसम्पन्नो भिषगन्तरङ्ग उच्यते; लोध्रवली कुलीन—लोध्र वली-सञ्ज्ञकदत्तकुलोत्पन्न'—शिवदास सेन।

की सख्या अधिक है, भस्मो का, धातुओ का प्रयोग अधिक है। इन प्रयोगो में प्रारम्भिक अवस्था भी मिलती है। यथा—

लोहामृतम्

(१) 'तनूनि लोहपत्राणि तिलोत्सेघसमानि च।
कशिकामूलकल्केन सलिप्य सर्षपेण वा ॥
विशोष्य सूर्यकिरणैः पुनरेवावलेपयेत्।
त्रिफलाया जले ध्मात वापयेच्च पुनः पुन ॥
तत· सचूर्णित कृत्वा कर्पटेन तु छानयेत्।
भक्षयेन्मधुसर्पिभ्या यथाग्न्ये तत् प्रयोजयेत् ॥"

(२) 'मण्डूर शोधित पत्रीं लोहजा वा गुडेन तु।
भक्षयेन्मुच्यते शूलात् परिणामसमुद्भवात् ॥'

लोह का स्थाली पाक, भानुपाक, ताम्रमारण, अभ्रक शुद्धि इसमे दी है। इसी से कहा है—

'नागार्जुनो मुनीन्द्र शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनम्।
तस्यार्थस्य स्मृतये वयमेतद् विशदाक्षरैर्ब्रूमः ॥'

चक्रपाणि ने वृन्द के योगों में कुछ परिवर्तन भी किया है, फलश्रुति भी कम कही है। नये योग भी मिलाये हैं। उस समय जो नये द्रव्य चिकित्सा में वरते जाते थे उनको भी लिखा है। मुख्यत आदि से अन्त तक सिद्धयोग का अनुसरण किया गया है।

द्रव्यगुणसग्रह में द्रव्यो का सग्रह, अनुपान आदि बातो की विवेचना है। इसकी टीका श्री शिवदास सेन ने बहुत ही प्रकाण्ड विद्वत्ता से की है। रसवीर्य-विपाक, प्रभाव की विवेचना तथा शूक-धान्य, शालि आदि की टीका इस विषय का पूर्ण ज्ञान कराने मे समर्थ है। यद्यपि यह एक प्रकार का सग्रह है, परन्तु इसमें पर्याप्त स्वतन्त्र रचना मिलती है।

चरक पर चक्रपाणिदत्त ने आयुर्वेददीपिका (चरकतात्पर्य) नाम की टीका लिखी है। इसमें इन्होने अपने गुरु का नाम नरदत्त दिया है। ये वगदेश के अन्तर्गत वीरभूमि के समीप मयूरग्राम में लोध्रवश, दत्तकुल मे उत्पन्न नारायणदत्त के पुत्र थे। इनके पिता गौडाधिपति नयपाल के महानस—पाकशाला के अध्यक्ष थे। पिता

---

१. काशिका, श्वेत आक की जड।

के मरने पर चक्रपाणिदत्त पहले महानस के अधिकारी बने और पीछे से विद्या-वृद्धि के कारण मंत्री हुए—

"गौडाधिनाथरसवत्यधिकारपात्र-नारायणस्य तनय सुनयोऽन्तरङ्गात् ।
भानोरनुप्रथितलोध्रवली कुलीन श्रीचक्रपाणिरिह कर्त्तृ पदाधिकारी ॥'
(चक्रदत्त)

शिवदास सेन ने पात्र का अर्थ मंत्री और अन्तरग का अर्थ विद्या-कुल से सम्पन्न भिषक् किया है। शिवदास सेन मगलाचरण से स्वय वैष्णव प्रतीत होते है। सेनान्त नाम से इनका बगाली होना स्पष्ट है। ये स्वय अपने को गौडदेश के मालञ्चिका ग्राम का निवासी और गौड देश के राजा के वैद्य अनन्तसेन का पुत्र कहते हैं। इनका काल-निर्णय गौडराज बार्बकशाह् से अपने पिता के अन्तरग पदवी और छत्र प्राप्त करने के उल्लेख से हो जाता है। बार्बक शाह् का समय १४५७ से १४७४ है। शिवदास ने अष्टागहृदय पर भी टीका की है—

'आसीत् सभाया शिखरेश्वरस्य लब्धप्रतिष्ठ किल साहिसेन ।
वाणीविलास कविसार्वभौम विजित्य य प्राप यशो दुरापम् ॥
काकुत्स्थसेनस्तनयो ततोऽभूत्तस्यापि लक्ष्मीधरसेननामा ।
तस्मादभूद्धुरणस्तनूजस्तस्याप्यनन्तस्तनयोऽस्य जज्ञे ॥
मालञ्चिकाग्रामनिवासभूमेर्गौडावनीपालभिषग्वरस्य ।
अनन्तसेनस्य सुतो विधत्ते टीकामिमा श्रीशिवदाससेन ॥'

द्रव्यगुण-सग्रह् की टीका में थोडा अधिक है—

योऽन्तरङ्गपदवीं दुरवापा छत्रमप्यतुलकीर्त्तिमवाप ।
गौडभूमिपतिबार्बकशाहात् तत्सुतस्य सुकृतिन कृतिरेषा ॥

श्री शिवदास सेन ने चक्रदत्त की टीका में मण्डूकपर्णी का मानामानी नाम दिया दिया है, राढ और वग में इसे थूलकुडि या थानकुनि कहते हैं। कूचविहार, रगपुर, राजशाही प्रान्तो में मानामानी कहते है, इससे भी शिवदास सेन वीरभूमि के प्रतीत होते हैं। (वनौषधिदर्पण का उपोद्घात)

वग सेन

वृन्द के सिद्धयोगसग्रह और चक्रपाणिदत्त के चक्रदत्त से मिलता वग सेन का चिकित्सासारसग्रह है। ग्रन्थकर्त्ता अपने को कान्तिकावास में उत्पन्न एव गदाधर का पुत्र कहते है ("कान्तिकावासनिर्जातगदाधरसूनुना। क्रियते वगसेनेन चिकित्सासार-सग्रह ॥") मगलाचरण से ये शिवभक्त तथा सेन नाम से वगदेशीय प्रतीत होते हैं।

इन्होंने स्नायुक रोग की चिकित्सा और निदान वृन्द में से लिया है, परन्तु उसमें अपनी ओर से वृद्धि की है, इसलिए ये वृन्द के पीछे हुए हैं। चक्रदत्त के ग्रहणी-अधिकार में 'रसपर्पटी' का पाठ है। इसके विषय में चक्रपाणिदत्त ने स्वयं कहा है—'निबद्धा चक्रपाणिना'—इसे चक्रपाणि ने बनाया है। वगसेन ने रसायनाधिकार में इसी को 'गन्धक-रसपर्पटी' के नाम से लिखा है। इसलिए वगसेन चक्रपाणिदत्त के पीछे हुए हैं। अभ्रक लोह पारद, गन्धक ताम्र आदि खनिज द्रव्य-धातुओं का उपयोग चक्रदत्त और वगसेन में प्राय एक-सा है। हेमाद्रि ने वगसेन में से बहुत उद्धरण लिया है। इसलिए चक्रपाणिदत्त के पीछे और हेमाद्रि से पूर्व इनका समय आता है। बगाल से महाराष्ट्र तक ग्रन्थकर्ता की प्रतिष्ठा पहुँचने के लिए कम से कम पचास वर्ष तो अपेक्षित हैं, इसलिए वगसेन का समय १२०० ईसवी के आस-पास आता है। कविराज गणसेन इनको शार्ङ्गधर के पीछे और भावमिश्र से पहले का बताते हैं (प्रत्यक्षशारीर उपोद्घात),। यह विचारणीय है।

वगसेन पीछे का योगसग्रह होने से इसमें अधिक क्रियात्मक रूप आया है। यथा—स्नायुक रोग में स्नायुक के टूटने से होनेवाले विकारो का उल्लेख है 'बाह्वोर्यदि प्रमादेन त्रुट्यते जघयोरपि। सकोच खञ्जता चापि छिन्न नून करोत्यसौ॥' इसी प्रकार नया जल लगने तथा उसकी चिकित्सा भी कही है—"महार्द्रकयवक्षारौ पीत्वा चैवोष्णवारिणा। नानादेशोद्भवञ्चैव वारिदोषमपोहति॥' इसके अतिरिक्त पानीयभक्त वटी खर्परसायन, लोहाभ्रक, सर्वतोभद्रलोह आदि नये योग इसमें मिलते हैं। धातुओ का चिकित्सा मे उपयोग चक्रदत्त की अपेक्षा इसमें अधिक है। इसमें कर्ता ने द्रव्यगुणसग्रह भी जोड दिया है। लोह की विस्तृत जानकारी, खान की भिन्नता से गुण में भेद, भिन्न-भिन्न देशो के लोहे के गुण (इसी प्रसग मे पाणिदेश का उल्लेख) इसमें जितने विस्तार से मिलते हैं उतने अन्यत्र नही देखने में आये। लोह का उपयोग जो आरम्भ काल मे सामान्य रूप से था वृन्द के समय (नवी शती) मे कुछ बढा, चक्रदत्त ने इसकी पाकविधि का विस्तार किया। वगसेन ने इसकी उत्पत्ति, विशेषता, गुण-धर्म तथा प्रयोग विधि का विस्तार किया। शङ्करलोह नामक योग (अर्शोऽधिकार) इसका प्रसिद्ध है। इसके सिवाय तान्त्रिक प्रयोग भी इस समय अधिक थे। वृन्द के सिद्धयोग मे सुख-प्रसव के लिए च्यवनमन्त्र तथा दूसरे चित्रो को दिखाया दिया है, परन्तु इसने कछुए का सिर, बिल्ली की आते, बन्दर कुत्ते का सिर, इनका अजन तथा अन्य रूप में प्रयोग मिलता है। इससे स्पष्ट है कि यह विषय प्रचलित हो गया था।

सोढल गदनिग्रह के कर्त्ता निश्चित होते हैं। इसलिए गदनिग्रह-कर्त्ता का १२वी शती में होना असदिग्ध प्रतीत होता है। रायकवाल जाति गुजरात में ही है, अत ये गुजराती थे।

सोढल के बनाये गदनिग्रह में दस खण्ड है। पहले प्रयोग खण्ड मे चूर्ण, गुटिका, अवलेह, आसव, घृत, तैल सम्बन्धी छ अधिकार है। इन अधिकारो मे ५८५ से अधिक प्रत्यक्षफल दिखानेवाले योगोका सग्रह है। इसमें कहे हुए बहुत से प्रयोग प्रकाशित पुस्तको मे नही मिलते। शेप नौ खण्डो मे कायचिकित्सा, शालाक्य, शल्य, भूततन्त्र, बालतन्त्र, विपतत्र, रसायन, वाजीकरण, पञ्चकर्माधिकार नामक प्रकरण है। प्रारम्भ में सक्षिप्त निदान कहकर चिकित्सा कही गयी है।

सोढल को माधवनिदान के साथ वृन्द की भी खबर थी। चक्रदत्त की खबर सम्भवत सोढल को नही थी। चक्रदत्तवाले रसयोग सोढल मे नही है। सोढल वगसेन का समकालीन है, परन्तु यह गुजराती है और वगसेन वगाली है। वगसेन को चक्रदत्त का ज्ञान होना सम्भव है सोढल को चक्रदत्त या वगसेन का ज्ञान होना आवश्यक नही। रसोन का उपयोग वगाल मे पहले प्रारम्भ हुआ होगा।

सोढल के गुजराती होने से गुजरात में होनेवाली जो औपधियाँ अन्य निघण्टुओं में नही मिलती। वे इनके बनाये निघण्टु मे है। इन वनस्पतियो के नाम वर्तमान कालीन नामो से मिलते है।

चिकित्सा में से योगों को पृथक् करने की शैली का प्रारम्भ इस गुजराती वैद्य ने १२वी शती में प्रारम्भ किया, यह इसकी विशेपता है। इसके पीछे शार्ङ्गधर ने इसे अपनाया। प्राचीन सहिताओं की भाँति कायचिकित्सा, शालाक्य आदि विभाग भी इसने रखे, परन्तु इसको पूर्णत निभा नही सका। अश्मरी आदि शल्यतत्र के रोग काय-चिकित्सा में आ गये है। ग्रन्थी, अपची, सद्योव्रण आदि रोगो को शालाक्यतत्र के रोगों के पीछे लिखकर माधव एव वृन्द के प्रसिद्ध क्रम मे अन्तर कर दिया है। शस्त्रचिकित्सा शल्याधिकार में नहीं है। सक्षेप में सोढल के ग्रन्थ का प्रचार गुजरात या अन्यत्र कम देखने में आता है।

ग्रन्थ की विशेपता—पृथक् फार्मेकोपिया भाग होने से औपध निर्माण मे सुभीता हो गया। यह विभाग सम्भवत इसलिए किया है कि उस समय एक नाम से कई निर्माण-विधियाँ प्रचलित होगी। इनमे सोढल को जो योग मान्य होगे वे पृथक् दे दिये है। उदाहरण के लिए, फलघृत स्त्रीरोग में प्रसिद्ध है, परन्तु सोढल ने एक फलघृत बालग्रह के लिए दिया है (प्रयोग खण्ड १।३९३)। वडवानल चूर्ण, अग्निमुख चूर्ण, वैश्वानर

चूर्ण के कई पाठ इनमें दिये है, जो भिन्न-भिन्न रोगों के लिए है। इससे स्पष्ट है कि एक योग के नाम से कई नुसखे उस समय चल पड़े थे, जिनको कि सोढल ने लिखना प्रारम्भ किया। साथ ही योगों का प्रक्रियानुसार—कल्पना के भेद से पृथक्-पृथक् संग्रह किया।

इनमें कल्प बहुत अधिक दिये गये है। सुवर्णकल्प, कुकुमकल्प, अम्लवेतस कल्प नये कल्प है जो अन्यत्र नही मिलते। अम्लवेतस नाम से जो वस्तु बाजार में मिलती है, वह इनके वर्णन से सर्वथा भिन्न है ("तेषां फलेभ्यो निर्यास सोऽम्लत्वादम्लवेतस")। इनमें निर्यास को अम्लवेतस कहा है। रसोन, पलाण्डु-कल्प संग्रह-हृदय की भाँति है। रसायन में तिल का प्रयोग अकेला इसी में है। आज भी काठियावाड में इसका रिवाज है ("दिने दिने कृष्णतिलप्रकुञ्च समश्नत शीतजलानुपानम। पोष शरीरस्य भवत्यनल्पो दृढा भवन्त्यामरणाच्च दन्ता ॥")। इसकी उपमाएँ बहुत सुन्दर है, ग्रन्थकर्ता का रसायनप्रकरण संग्रह के आधार पर है।

नवाँ अध्याय

मुगल साम्राज्य और अंग्रेजी संगठन

[११७५ से १८३६ ई० तक]

नाडी ज्ञान तथा संग्रह ग्रन्थ (रसवाले)

महमूद के बाद गजनी की सल्तनत धीरे-धीरे क्षीण होती गयी। गजनी से हरात के रास्ते में फ़रारुद नदी के दून में गोर नामक प्रदेश है। वहा के पठान सरदार अलाउद्दीन ने महमूद के वंशज बेहराम को हराकर (१११८–५१ ई०) गजनी से भगा दिया, फिर उसके बेटे खुसरो के समय (११५२-६०) में गजनी को सात दिन तक लूटा और जलाकर खाक कर दिया। अलाउद्दीन का भतीजा शहाबुद्दीन बिन साम या मुहम्मदबिन साम (साम का बेटा मुहम्मद) था, यही इतिहास में शहाबुद्दीन गोरी के नाम से प्रसिद्ध है।

शहाबुद्दीन ने हिन्दुस्तान जीतने का सकल्प किया। गजनी लेने के पीछे उसने उच्चके राजा की रानी को अपनी तरफ मिलाकर वह राज्य जीत लिया और तब मुलतान और सिन्ध पर भी अधिकार कर लिया। ११७८ में उसने गुजरात पर चढाई की, परन्तु इसमें असफल होकर अजमेर और दिल्ली की ओर मुख किया। गजनी छिन जाने से खुसरो लाहौर भाग आया था, परन्तु गोरी ने उसके बेटे से पंजाब छीन लिया (११८५-८६)। फिर दिल्ली प्रदेश की सीमा पर सरहिन्द का किला ले लिया, परन्तु तरावडी के मैदान में (पानीपत के पास) पृथ्वीराज से हारकर लौट गया। परन्तु अगले वर्ष जब इसी मैदान में फिर युद्ध हुआ तो पृथ्वीराज कैद होकर मारा गया। फिर वह सीधा अजमेर गया, दिल्ली में अपने दास तुर्क 'कुतुबुद्दीन ऐबक' को शासन करने के लिए छोड गया और अजमेर को अपने अधिकार में करके लौट गया। अन्तिम बार ११९४ मे शहाबुद्दीन ने कन्नौज पर चढाई की। उसका यह युद्ध कन्नौज के राजा जयचन्द के साथ चन्दावर मैदान में हुआ। इस लडाई मे जयचन्द मारा गया।

अजमेर और कन्नौज के जिन अंशो पर मुसलमान विजेता काबू कर सके वे मुस्लिम अमीरो में बाँट दिये गये। ११९७ ई० के बाद मुसलमानो ने चुनार का किला कन्नौज के सामन्तो से ले लिया और मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी नामक तुर्क सरदार को सौंप दिया। चुनार से मुहम्मद ने मगध तक हमले किये। मगध में पिछली शती

भर कोई स्थिर राज्य नही रहा था। वहाँ गोविन्दपाल की हैसियत एक सामान्य सामन्त जैसी थी। ११९९ ई० में मुहम्मद ने २०० सवारो के साथ हमला किया और बौद्ध भिक्षुओ के विहार को किला समझकर घेर लिया। बौद्ध भिक्षु और चारा न देखकर लड़े, परन्तु मारे गये। पीछे से आक्रामक ने यहाँ पर पुस्तकों के सग्रह को जला दिया, क्योंकि कोई उनको पढनेवाला नही था। उस विहार के नाम से उस शहर को विहार कहने लगे, पीछे समूचे मगध प्रांत को विहार कहने लगे।

विहार जीत लेने के पीछे मुहम्मद बिन बख्तियार ने सेन राजाओं के गौड देश पर चढाई की। उनकी राजधानी लखनौती लेकर उसे ही अपनी राजधानी बनाया।[1] लक्ष्मणसेन के बेटे केशवसेन और विश्व रूपसेन उससे बराबर लडते रहे। वे अपनी राजधानी ढाका के पास सुवर्णग्राम (सोनार गाव) ले गये। दक्खिनी-पूरबी बगाल में से सौ बरस तक सेन राजाओ का अधिकार रहा। मुहम्मद बिन बख्तियार की मृत्यु १२०५-६ ईसवी में हुई।

दिल्ली का गुलाम वश (१२०६ से १२९० ई०)—शहाबुद्दीन के मरने के पीछे उसके उत्तराधिकारी ने दिल्ली का राज्य दास कुतुबुद्दीन को सौंप दिया। उसके पीछे दिल्ली की गद्दी पर गुलाम वश का राज्य रहा। शहाबुद्दीन पठान था और कुतुबुद्दीन तुर्क था। चार वर्ष के पीछे कुतुबुद्दीन लाहौर में मारा गया (१२१० ई०)। दिल्ली की कुतुबमीनार उसकी बनवायी कही जाती है।

कुतुबुद्दीन की मृत्यु के पीछे इसका गुलाम और दामाद इसके पुत्र को हटाकर स्वय गद्दी पर बैठा, उसका नाम इल्तुतमिश था। इसी समय उत्तर-पूरबी एशिया में एक भारी लहर उठी। पाचवी, छठी, सातवी शती की भांति मगोलो ने अपनी विजय यात्रा प्रारम्भ की। इनका नेता 'चिङ्हिर हान, (चगेज खान) था। मगोलों ने तुर्किस्तान के तमाम मुस्लिम राज्यों को उखाड फेंका (१२१९ ई०)। अफगानिस्तान को भी

---

१ यह कहानी प्रसिद्ध है कि सिर्फ १८-२० सवारो के साथ, जिन्हें लोग घोडा बेचनेवाले समझते थे, बख्तियार के बेटे ने नदिया के राजमहल पर आक्रमण किया और लक्ष्मणसेन दूसरी तरफ से भाग निकला। परन्तु नदिया कभी सेनो की राजधानी नहीं थी और राजा लक्ष्मणसेन ११७० ई० से पहले ही मर चुका था। तीसरे लखनौती जीतने के ५५ बरस पीछे १२५५ ई० में नदिया पहले-पहल मुसलमानो के कब्जे में आया।

चगेज ने तुर्को से छीन लिया। इसके पीछे पौने दो शताब्दियो तक अफगानिस्तान मगोलो के अधिकार में रहा। ये मगोल दिल्ली के तुर्को के लिए सदा आतङ्क का कारण रहे।

पहले पहल १२२१ ईस्वी मे ख्वासिज्म (खीवा प्रदेश) के तुर्क शाह जलालुद्दीन का पीछा करते हुए चगेज सिन्ध नदी के किनारे तक पहुचा। जलालुद्दीन सिन्ध में भाग आया था। चगेज के लौटने पर इल्तुतमिश ने पजाब और सिन्ध प्रान्तो पर कब्जा किया।

मुहम्मद बिन बख्तियार की मृत्यु के पीछे लखनौती की ५-६ साल की मारकाट के बाद खिलजी अमीरो ने गयासुद्दीन उवज को गद्दी पर बैठाया। इल्तुतमिश ने बिहार और गौड को भी जीत लिया। तब से १२८८ ई० तक गौड प्राय दिल्ली के अधीन रहा। उसके पीछे इल्तुतमिश ने मालवा, गुजरात, मारवाड को जीता। इल्तुतमिश की मृत्यु १२३६ ई० मे हुई।

इसके बाद इसकी बेटी रजिया सुल्ताना गद्दी पर बैठी। यह कुशल और वीर स्त्री थी। तुर्को ने स्त्री का शासन नही स्वीकार किया और बगावत हुई, जिसको दबाते हुए १२४० ईसवी में रजिया मारी गयी।

रजिया के पीछे उसके छोटे भाई नासिरुद्दीन महमूद को गद्दी पर ने बैठाया गया। इसने अपना मत्री बलबन को बनाया, जो कि नासिरुद्दीन के पीछे दिल्ली की गद्दी पर बैठा। यह एक योग्य शासक और, वीर था, इसने मगोलो पर निगाह रखने के लिए मुलतान में अपने बेटे को हाकिम बनाया। पूर्व में लखनौती का हाकिम अपने बेटे नासिरुद्दीन महमूद उर्फ बुगरा को बनाया। १२८५ मे मगोलो ने फिर चढाई की, जिसमें मुलतान में इसका बेटा मुहम्मद मारा गया। फारसी और हिन्दी का प्रसिद्ध कवि मलिक खुसरो भी जो मुहम्मद का साथी था—इसमें कैद हुआ। अगले बरस बलबन भी चल बसा। इसके पीछे इसका पोता, बुगरा का लडका गद्दी पर आया। बुगरा के शासन के चार साल बाद इसके सेनापति खिलजी ने इसे मारकर गुलाम वश का अन्त १२९० ई० में कर दिया।

खिलजी वश—यह १२९० से १३२५ ई० तक रहा। इसका प्रारम्भ जलालुद्दीन खिलजी से हुआ और अन्त ३० बरस के शासन में हुआ। इसमें प्रसिद्ध शासक अलाउद्दीन खिलजी हुआ, जिसने गुजरात, राजपूताना और दक्खिन को जीता था।

तुगलक वश (१३२५-१३९८)—इसका प्रारम्भ गयासुद्दीन तुगलक से है। इसकी मृत्यु इसके स्वागत में शहर के बाहर लकडी के बनाये एक तोरण (कुश्क) के इसके ऊपर गिरने से हुई थी। यह तोरण इसके बेटे जूना (मुहम्मद तुगलक) ने बनवाया

था। पर्वतेश्वर के भाई वैरोचन की मृत्यु भी चाणक्य ने इसी प्रकार करवायी थी।[1] इसमें प्रतापी एवं मशहूर शासक मुहम्मद तुगलक हुआ, जो कि सनकी भी था। यह अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद ले गया था, फिर दिल्ली लाया। इसने चीन जीतने के लिए एक लाख आदमियों की सेना भेजी थी, जो रास्ते में ही मर गयी, केवल दस आदमी बचे थे।

मुहम्मद तुगलक के गद्दी पर बैठते ही १३२६ में मेवाड़ स्वतंत्र हो गया था। इसका राजा हम्मीर था जो गुहिलोत वंश का था। इसी के यहाँ माधवनिदान की आतंकदर्पण टीका बनानेवाले वाचस्पति का पिता प्रमोद था, और बड़ा भाई मुहम्मद तुगलक के यहाँ था।

तैमूर की चढ़ाई—मुहम्मद के अन्तिम दिनों में उसका शासन ढीला पड़ गया था। राजपूताना, दक्षिण तथा पूर्व में बहुत से छोटे-छोटे राज्य बन गये थे। मुहम्मद की मृत्यु १३५१ ई० में हुई। इसके पीछे इसका चचेरा भाई फीरोज तुगलक गद्दी पर बैठा, परन्तु इसके वंशज निकम्मे निकले। इनके समय पुरानी दिल्ली और फीरोज खां की बसायी नयी दिल्ली में दो अलग-अलग सुलतान थे। इसी समय मध्य एशिया में एक महान् विजेता प्रगट हो चुका था। इसका नाम तैमूर था। यह चगताई वंश का तुर्क था। इसने १३९८ में भारत पर चढ़ाई की। इसने अफगानिस्तान जीतकर काबुल नदी के उत्तर का काफिरिस्तान (कापिशी नगरी) को जीता और पंजाब होता हुआ दिल्ली आया और दिल्ली से मेरठ होता हुआ हरिद्वार की शिवालिक पहाड़ियों के रास्ते कांगड़ा, कश्मीर को जीतता हुआ वापिस समरकन्द चला गया। इसने लूट ही की, कोई राज्य नहीं बनाया। इससे भारत में छोटी-छोटी रियासतें बन गयीं, जो राज्य दिल्ली शासन में थे, वे भी अब स्वतंत्र हो गये। दिल्ली साम्राज्य मटियामेट हो गया।

प्रादेशिक राज्य (१३९८ से १५०९ ई० तक)—दिल्ली साम्राज्य टूटने पर जौनपुर, मालवा और गुजरात ये तीन रियासतें बहुत शक्तिशाली हो गयीं। मेवाड़ में लाखा का शासन था, उसने उसका जीर्णोद्धार किया। तिरहुत और बंगाल का शासन राजा गणेश और शिवसिंह ने सम्भाला। पूरब और दक्खिनी भारत में स्वतंत्र राज्य बने। इनमें दक्षिण में विजयनगर नामक हिन्दू राज्य था, इसके राजा देवराय थे जो योग्य शासक थे। सिन्ध पर तैमूर की चढ़ाई का कोई असर नहीं पड़ा। कश्मीर भी पीछे स्वतंत्र

---

१. 'देवतागृह प्रविष्टस्योपरि यंत्रमोक्षणेन गूढभित्ति शिला वा पातयेत्।' कौटिल्य० पाँचवाँ अध्याय १६८।१.

हो गया। तैमूर के मरने के बाद उसके उत्तराधिकारियो के पास केवल काबुल बचा था। इसी समय अर्थात् १४९७ ईसवी में वास्को दगामा आशा अन्तरीप का चक्कर काटकर पुर्तगाल से भारत के पश्चिमी तट कालीकट पर पहुचा। मलाबार के सरदारो ने अपना व्यापार बढाने की गरज से इन आगन्तुको को यहा कोठियाँ बनाकर पैर जमाने का अवसर दिया। १५१० में पुर्तगालियो के सेनापति आल्बुकर्क ने बीजापुर से गोवा छीनकर इसे राजधानी बनाया और फिर वे धीरे-धीरे शक्ति बढाने लगे।

सन्त और सुधारक सम्प्रदाय—इस युग मे रामानन्द हुए जिनके शिष्य कबीर थे, महाराष्ट्र के पढरपुर में विसोवा खेचर हुए जिनके शिष्य नामदेव थे। गुरु नानक का जन्म (१४६८-१५३८ ई०) पजाब मे हुआ था। बगाल में सन्त चैतन्य (१४८५ से १५३३ ई०) पैदा हुए। इन्होने वैष्णव धर्म का प्रचार किया, बौद्ध भिक्षु और भिक्खुनियो को वैष्णव धर्म की दीक्षा दी। मारवाड की प्रसिद्ध मीरा बाई जो राणा सागा की पुत्रवधू थी, चैतन्य से १३ बरस पीछे हुई (१४९८ से १५४६ ई०)।

साहित्य—चौदहवी-पन्द्रहवी सदी ने देशी भाषाओ के साहित्य को प्रोत्साहन मिला। यह प्रोत्साहना सन्तो से तथा मुसलमानो से अधिक मिला। भारतीय विद्वान् अबतक सस्कृत मे ही लिखते थे। मलिक खुसरो ने (१२५३-१३२५ ई०) सबसे पहले खडी बोली मे कविता की। बगाल मे चण्डीदास ने बगाला मे, मैथिल विद्यापति ने मैथिली मे कविता की। तामिल में कवि कम्बन् की रामायण इस समय का (१३वी शती का) रत्न है।

मध्य काल का ज्ञान और अर्वाचीन काल का प्रारम्भ—गुप्त युग में भारतवर्ष का ज्ञान और सभ्यता जहाँतक पहुच चुकी थी उसके एक हजार वर्ष बाद तक ससार में कुछ उन्नति नही हुई। मगोलो और अरबो द्वारा भारत और चीन का ज्ञान पश्चिमी यूरोप तक इसी समय पहुँचा, जिसमें दस गुणोत्तर गणना अरब ने भारत से ली और और अरब से यूरोप में गयी, हमारे अको को हिन्दसे कहा गया। लकडी के ठप्पो से कागज पर छापने की पद्धति चीन से यूरोप में गयी। मगोलो ने यूरोप में बारूद पहुँचायी। छापने की कला मे जर्मनो ने सीसे के ठप्पे पीछे बनाये, जिससे प्रकाशन मे सरलता आ गयी। नाविको के लिए दिग्दर्शक यत्र भी इसी समय बना।

आयुर्वेद साहित्य—इतने बडे समय मे केवल टीकाएँ या सग्रह ग्रन्थो के अतिरिक्त कोई बडा ग्रन्थ गुप्त साम्राज्य के पीछे आयुर्वेद साहित्य में नही मिलता। आयुर्वेद साहित्य में इस एक हजार वर्षों के अन्दर और आगे भी नये युग के आने तक कोई विशेष मूल्यवान् ग्रन्थ नही बना। ग्रन्थो की सख्या इस समय बहुत हो गयी, परन्तु वे सब

संग्रह मात्र है। इस समय निघण्टु और रसशास्त्र का विकास पूर्णत हुआ। इन दो विषयो पर स्वतत्र रूप से ग्रन्थ रचना हुई है। वास्तव में चिकित्सा में जल्दी सफलता के लिए रसशास्त्र का विकास अब होने लगा था। निघण्टु की रचना सम्भवत मुगलो या तुर्कों के सम्पर्क से प्रारम्भ हुई होगी। उनकी चिकित्सा पद्धति मे निघण्टु शास्त्र का विशेष महत्त्व है। उसी महत्त्व से आयुर्वेद मे भी पृथक् निघण्टु शास्त्र बना।

नाडी-विज्ञान का प्रारम्भ भी इसी समय की विशेषता है। रावण के साथ इसका सम्बन्ध जोडना ही इसको स्पष्ट करता है कि यह राक्षसी ज्ञान है। मगोल या दूसरी पश्चिमी जातियो के सम्पर्क मे आने से यह ज्ञान भारत मे भी प्रचलित हुआ। इसलिए इस समय की सहिताओ में तथा ग्रन्थो में परीक्षा विधि मे इसका भी समावेश हो गया।

मुगल साम्राज्य (१५०९-१७२० ई०)—हम्मीर वश का राजा सागा पश्चिमी भारत मे जब अपनी शक्ति बढा रहा था, तब उत्तर पश्चिमी पजाब में तैमूर का एक वशज अपने पैर जमाने की कोशिश में था। यह था बाबर जो कि सागा से एक वर्ष पूर्व पैदा हुआ था। इसकी माँ चगेज खा के वश की थी। बाबर ने ११ बरस की उम्र मे गद्दी सँभाली थी। बाबर को उज्वगो से हारकर समरकन्द से भागना पडा। वहाँ से भाग करके उसने काबुल को वश में किया। यही से उसने बदख्शा को भी १५०९ ई० में वश में किया। बाबर ने पाच बरसो मे काबुल के राज्य को सगठित करके १५१९ में पहली चढाई भारत पर की। इस चढाई मे बाबर ने बन्दूको और तोपो का प्रयोग किया। भारतवासियो के लिए ये वस्तुएँ नयी थी।

उस समय की राजनीति ने इब्राहीम लोदी से तग आकर बाबर को भारत में बुलाया। पजाब के हाकिम दौलत खा ने, लोदी के चाचा अलाउद्दीन ने तथा राणा सागा के दूतो ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए उत्साहित किया कि बाबर दिल्ली तक राज्य शासन ले ले और आगरे तक राणा सागा ले ले। इस दशा मे बाबर ने भारत पर चढाई की। बाबर ने दो आक्रमणो में जमुना तक प्रदेश काबू कर लिया। पानीपत के मैदान में इब्राहीम लोदी ने बाबर का सामना किया। बाबर के पास ७०० यूरोपियन (फिरगी) तोपें थी, जिससे चार-पाच घटो की लडाई में अफगान सरदार हार गये। बाबर का दूसरा प्रसिद्ध युद्ध राणा सागा के साथ खानवा में हुआ, जिसमे बाबर जीता। इसी से बाबर उत्तरीय भारत का राजा बन गया था। पूरब को उसके बेटे हुमायू ने जीतकर अवध, जौनपुर और गाजीपुर के इलाके इसमें मिला दिये। पानीपत, खानवा और घाघरा (चेदि) को जीतने से उसका साम्राज्य बदख्शा से बिहार तक फैल गया। १५३० में आगरे में उसका देहान्त हुआ, उसको काबुल में दफनाया गया था।

वावर के पीछे हुमायू (१५३०-१५५४ ई०) गद्दी पर वैठा। हुमायू के भाई कामरान को वल्गी, कन्दहार का राज्य मिला था। हुमायू का राज्य अन्तर्वेद में वचा था। पच्छिम मे मालवा को जीतना और पूरव में अफगानो को वश में करना, इन दोनो कार्यो में उसकी सारी शक्ति समाप्त हो गयी। मालवा-गुजरात में वहादुरशाह ने और पूरव मे शेरशाह ने उसे तग कर दिया। शेरशाह ने उसे पश्चिम पजाव तक खदेड दिया था। शेरशाह से खदेडा जाकर हुमायू सिन्ध की ओर भागा। शेरशाह ने रोहतास नाम का एक गट नमक की पहाडियो में वनाना प्रारम्भ किया, जिनसे कावुल और कश्मीर के आक्रमणो को रोका जा सके। यह काम उसने टोडरमल खत्री को सौंपा था (सम्भवत इन्ही के नाम पर टोडरानन्द आयुर्वेद की पुस्तक प्रसिद्ध है)।

शेरशाह का साम्राज्य कन्दहार-कावुल और कावुल की सीमाओ से कूचविहार की सीमा तक पहुँच गया था। पूरवी मालवा को जीत लेने से सीमा गढ-कटका राज्य से मिल गयी थी। शेरशाह वहुत योग्य शासक था। भूमि को मापकर कर लेने की व्यवस्था सवसे प्रथम इन्होंने भारत मे चलायी। वगाल से पेशावर तक सडके आजम इसी की वनायी हुई है। परगने वनाने का काम इसी का पहला था। परगनो में एक शासक शान्ति स्थापना के लिए रहता था और दूसरा अमीन, जो कर वसूल करता था। सैनिको को वेतन नगद दिया जाता था। सडको के द्वारा इसने सोनार गाव से रोहतास होकर अटक को मिला दिया था। आगरा को वुरहानपुर से और चित्तौड से, लाहौर को मुलतान से सडको द्वारा जोड दिया था। सडको पर भोजन और पानी का प्रवन्ध हिन्दू और मसलमानो के लिए किया गया था। अकवर ने इसी की शासन-व्यवस्था की नकल की।

शेरशाह की मृत्यु (१५४५ ईसवी) के चार मास पीछे ही ईरान के शाह की मदद से हुमायू ने कन्दहार जीत लिया। कामरान से कावुल छीन लिया। शेरशाह के वाद उनके वेटो का राज्य चला। परन्तु पीछे विहार-वंगाल के पठान स्वतत्र हो गये। इसी समय हुमायू ने लाहौर जीत लिया, वहा से आगे वढकर दिल्ली पर दखल किया। अपने १३ वरस के वेटे अकवर को सेनापति वैराम खाँ की सरक्षकता में पजाव का हाकिम वनाया और दिल्ली में ६ मास शासन करने के पीछे वह चल वसा।

अकवर को वसीयत मे पजाव और दिल्ली मिली और कावुल उसके छोटे भाई को मिला। वैराम खाँ की मदद से अकवर ने दिल्ली का शासन पुन हेमू से छीन लिया था। अकवर ने १५६२ में वैराम खाँ को हज के लिए भेज दिया और स्वय विजय प्रारम्भ की। अकवर के सेनापतियो ने मालवे के सुलतान वाजवहादुर को हराया। धीरे धीरे अकवर

ने राजपूताना, मेवाड, उडीसा जीत लिये। गुजरात और वगाल जीतकर अकवर उत्तर भारत का एक छत्र सम्राट् वन गया था। १५७६ ई० में अकवर के साम्राज्य के वरावर दुनिया में और कोई भी राज्य न था।

अकवर की शासन व्यवस्था शेरशाह की ही थी। जमीन का वन्दोवस्त वही था, टोडरमल ने इसे ठीक किया, वही इस काम में उसका मददगार था। माप के लिए गज और वीघा का मान ठीक किया गया। अकबर के राज्य में १५८० ई० मे वारह सूवे थे। पीछे से दक्षिण जीतने पर वरार, खानदेश और अहमदनगर तीन नये सूवे वने। अकवर की मृत्यु १६०५ ई० में हुई।

अवुलफजल के लिखे अकवरनामे का एक भाग आइने अकवरी है। अकवर ने सगीत और चित्रण कला को प्रोत्साहना दी। इस समय सन्त साहित्य वहुत वना—सूरदास, तुलसीदास, गुरु अर्जुनदेव, दादू, मलूक, रविदास आदि सन्त इसी समय हुए।

अकवर के पीछे जहागीर, शाहजहा और औरगजेव तेजस्वी वादशाह हुए। इस समय देश की राजनीति प्राय स्थिर रही। औरगजेव के समय इसमें हिलोलें उठी थी, जिससे उसके पीछे यह साम्राज्य चरम सीमा पर पहुँचकर गिरता चला गया।

१६वी सदी में अराकान के तट पर पुर्त्तगाली वस गये थे। चटगाव इन फिरगियो का अड्डा था, इनका काम लूट-पाट करना था, ये लूट का आधा हिस्सा राजा को देते थे। १६०० ई० में पूरव का व्यापार तोडने के लिए इग्लैंड में ईस्ट इण्डिया कम्पनी वनी थी। इसे व्यापार करने का एकाधिकार मिला था। अग्रेजो ने सूरत में व्यापारी कोठी खोली। इनके राजा का दूत सर टामस रो अजमेर में जहागीर से मिला। अग्रेजो को भारत में व्यापार करने की आज्ञा मिली। १६२२ ईसवी में फ्रासीसी व्यापारी भी भारत पहुंचे।

शाहजहा के शासनकाल में मुगल साम्राज्य का वैभव खूव चमका। उसे देखकर विदेशी चकित थे। तख्ते ताऊस, ताजमहल, आगरे में मोतीमसजिद, दिल्ली शहर इसी समय वने। इस समय वैभव विलास वढ गया था। नये व्यसन और नये रोग इस समय में आये (भावप्रकाश में फिरग रोग का उल्लेख इसी समय का है)। तमाखू का पहला प्रवेश वीजापुर में १६०५ में पुर्त्तगालियो से हुआ, जो कि यूरोप में अमेरिका से पहुँचा था। १६१६ ई० में पजाव में और १६१८-१९ में दिल्ली-आगरा में ताऊन या प्लेग पच्छिम से आयी।

आयुर्वेद साहित्य—साहित्य में काव्य रचना के सिवाय कुछ नही था। विहारी की सतसई मुगल काल के वैभव युग की ऐयाशी का पूरा प्रतिविम्व है। इस विलास-

मय जीवन का प्रतिविम्ब इस समय के आयुर्वेद साहित्य में मिलता है। रसौपवियो तथा वाजीकरण योगो की फलश्रुति इसका देदीप्यमान उदाहरण है। सम्भवत मुगलो के विलासी, ऐयाशी जीवन के लिए ही वैद्यो को ये योग और ये रचनाए वनानी पडी। क्योकि मनसवदार प्रथा राज्य में रहने से, मनसवदारो को वडी-वडी तनख्वाहें मिलती थी। परन्तु इनके मरने के वाद सम्पत्ति का वारिस वादशाह होता था। इसलिए ये लोग अपने जीवन काल में ही पैसे को खुले हाथ से खर्च करते थे। इसी विलासमय जीवन को पूरा करने के लिए आयुर्वेद में मकरध्वज आदि रसो की फलश्रुतियाँ वढायी गयी। इस प्रकार के जीवन को निभाने के लिए ही वास्तव में रसशास्त्र का प्रयोग वना, जिससे कि रसौपव में अफीम, सखिया आदि वस्तुओ का मिश्रण हमको इसी समय सवसे प्रथम मिलता है। शुक्रस्तम्भन के लिए अफीम तथा शक्ति के लिए सखिये का उपयोग सम्भवत मुसलमानो के सम्पर्क से हमने लिया है। पोस्त के डोडे का भी उपयोग हम करने लगे थे ("पोस्तक तुलसी दीप्य नागवल्लीदल तथा।" वृहद्योगतरंगिणी—११८।७)। सुश्रुत में वर्णित उपदश रोग को फिरग रोग ही माना जाने लगा था। ("दद्यात् फिरगामयके भिपग्भि म्वेच्छ विवेय किल पथ्यमस्य। तैलाम्लवर्ज निखिलव्रणघ्न घृतानुपानैरुपदशसूर्य ॥" वृ० यो० ११७।३७)। चन्द्रोदय आदि रसो की फलश्रुति इसी वैभव को पूरा करने के लिए है।

मुगल काल का अन्त—शाहजहाँ की वीमारी की खवर से चारो तरफ अव्यवस्था फैल गयी। शाहजहाँ की मृत्यु १६५८ में हुई, इसी समय गद्दी के लिए भ्रातृयुद्ध चला, जिसमें सव भाइयो को मारकर १६६१ ई० में औरगजेव गद्दी पर वैठा। औरगजेव का जीवन वरावर युद्ध में वीता, अधिक समय दक्खिन में उलझा रहा, वह उस तरफ से कभी भी निश्चिन्त नही रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्तरी भारत की ओर विशेष ध्यान नही रहा। इससे आसाम स्वतन्त्र हो गया। यही वात उत्तर पश्चिमी सीमा पर हुई। यहाँ के पठान हजारा जिले तक वढ आये। औरगजेव की धर्मान्ध नीति ने राज्य की नीव को वहुत हिला दिया। दक्षिण में शिवाजी और वुदेलखड में छत्रसाल ने इसको परेशान कर दिया था।

औरंगजेव वहुत वृद्ध होकर मरा। औरगजेव वसीयत छोड गया था कि उसका साम्राज्य तीनो वेटो में वाँट दिया जाय। परन्तु आजम नही माना और लडाई में मारा गया। दिल्ली की गद्दी पर शाह आलम वहादुरशाह के नाम से वैठा। इसने लगभग दस साल राज्य किया। इसकी मृत्यु के वाद (१७१२ ईसवी) चारो वेटो में परस्पर लडाई हुई। सवसे छोटे की जीत हुई। वह जहाँदारशाह के नाम से गद्दी

पर बैठा। जहाँदारशाह को सैयदबन्धुओं की मदद से फर्रुखसियर ने हरा दिया, वह पकड़ा गया और मारा गया। इसके आगे राज्यसूत्र सैयदबन्धुओं के हाथ में धीरे-धीरे पहुँच गया। सैयदबन्धुओं ने फर्रुखसियर को कैद करके बहादुरशाह के एक पोते को गद्दी पर बैठा दिया, जो कि तपेदिक से मर गया था। उसका एक भाई फिर बादशाह बना। वह भी इस रोग से मर गया।

फर्रुखसियर के विवाह के समय अंग्रेज डाक्टर हैमिल्टन आया था, उसने फर्रुखसियर की बवासीर की बीमारी का इलाज किया था (१७१५ ई०)। फर्रुखसियर ने उसे इनाम देना चाहा, तब उसने स्वयं कुछ लेने के बजाय यह प्रार्थना की कि बंगाल में अंग्रेज जो विलायती माल बेचें उस पर चुंगी न ली जाय।

फर्रुखसियर के बाद बहादुरशाह का तीसरा पोता गद्दी पर सैयदबन्धुओं की सहायता से बैठा। इसका नाम मुहम्मदशाह था। यह बहुत कमजोर और दीन बादशाह हुआ। इसके समय मराठों ने दिल्ली पर चढ़ाई की और नादिरशाह का आक्रमण हुआ। मुहम्मदशाह के बाद अहमदशाह दिल्ली की गद्दी पर आया। इस बीच में रुहेलों की ताकत पर्याप्त बढ़ गयी थी। साथ ही पूरब में अंग्रेजों के और दक्षिण में फ्रेंच के पैर जम चुके थे।

अहमदशाह की मृत्यु के पीछे आलमगीर द्वितीय गद्दी पर बैठा। इसके पीछे शाह आलम हुआ। यह डर के मारे इलाहाबाद से ही शासन करता रहा। ये सब नाम मात्र के शासक थे। शाह आलम के समय अंग्रेजों ने अवध तक हाथ फैला लिये थे और शाह आलम को दिल्ली की गद्दी दिलवाने में बहुत हिस्सा लिया था। इसी समय दक्षिण में मराठों ने और पश्चिम से अहमदशाह अब्दाली ने कई हमले किये। परिणाम यह हुआ कि शाह आलम एक प्रकार से मराठों का मातहत बादशाह रह गया। चार वर्ष बाद इसने अंग्रेजों से सन्धि कर ली। १७८८ में रुहेलों ने इसे अन्धा कर दिया और १८०६ में अंग्रेजों की पेंशन खाता हुआ मरा।

शाह आलम के पीछे अकबर द्वितीय (१८०६–१८३७ ई०) और बहादुरशाह (१८३७–१८५७) बादशाह हुए, ये दोनों अंग्रेजों के अधीन पेंशन पानेवाले थे। बहादुरशाह का शासन दिल्ली में लाल किले के अन्दर ही सीमित रह गया था।

औरंगजेब की मृत्यु के पीछे मरहठों की शक्ति, फ्रेंच लोगों की प्रगति दक्षिण में, बंगाल में अंग्रेजों के पैर तथा रुहेलखण्ड में रुहेलों की शक्ति पनपी। अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति से फ्रेंच लोगों को दक्षिण से बाहर किया, फिर पश्चिम की ओर आगे बढ़ते गये। पानीपत के मैदान में अहमदशाह अब्दाली की और मरहठों की लड़ाई ने भारत

के भाग्य को पलट दिया । दिल्ली के बादशाह निर्बल हो गये थे, इससे कम्पनी को अवसर मिला । पहले जो कम्पनी व्यापार के लिए भारत में आयी थी, वही अब यहाँ पर पैर जमाकर राजा बनने को सोचने लगी । गद्दी के लिए सौदेबाजी करते हुए वे दिल्ली के ही नही, अपितु सारे भारत के शासक बन गये और मुगल बादशाह लाल किले की चहार दीवारी में सीमित हो गये । यह सब इन दो सौ साल में हो गया ।

चिकित्सा सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्य

मुगलकाल में चिकित्सा की स्थिति क्या थी, इस सम्बन्ध में कुछ थोडा-सा पता आइने अकबरी से चलता है । मुसलमान या तुर्क अपने साथ अपने देश के हकीम लाये, अंग्रेज या यूरोप के दूसरे लोग अपने साथ वही के चिकित्सक लाये । इस प्रकार से उत्तर भारत में वैद्यक देशी चिकित्सा के पनपने की स्थिति नही रही । दक्षिण में महाराष्ट्र के अन्दर हिन्दू राज्य रहने से वहाँ पर देशी चिकित्सा का विस्तार हुआ । वहाँ पर ही इस समय संग्रह-ग्रन्थ अधिक बने । ठेठ दक्षिण मे आयुर्वेदीय चिकित्सा का प्रारम्भिक रूप, पचकर्म विधि, वस्ति चिकित्सा, धारा स्नान आदि जो आज हमको बचा मिलता है, वह इसी का परिणाम है । अष्टागसंग्रह या अष्टाग-हृदय का प्रचार दक्षिण में आज भी अधिक है । महाराष्ट्र में संग्रह ग्रन्थो की चिकित्सा उस समय चलती रही । बगाल के चक्रदत्त या वगसेन का प्रचार कम हुआ, परन्तु इनके ढग पर बहुत से संग्रहग्रन्थ तैयार हुए ।

मुगलो का जीवन विलासी था, उनमें शान-शौकत की अधिकता रही । ऐसी अवस्था मे उनके लिए उसी प्रकार की चिकित्सा चली । जैसा कि जहाँगीर के विषय में लिखा है—

"महमूद ने आवदार से कहा कि हकीम अली के पास जाकर थोडा-सा हलके नशे-वाला शरबत ले आ । हकीम ने डेढ प्याला भेजा । सफेद शीशी में बासन्ती रग का बढिया मीठा शरबत था । मैंने पिया । बहुत ही विलक्षण आनन्द प्राप्त हुआ । उस दिन से शराब पीना आरम्भ किया । फिर यह दिन पर दिन बढता गया । नौ वर्ष में यह दशा हो गयी थी कि दो-आतिशा (दो बार खीची हुई) शराब के १४ प्याले दिन को और ७ प्याले रात को पीता था । सब मिलाकर अकबरी ६ सेर हुई ।"

"यहाँ तक नौबत पहुँच गयी थी कि नशे की अवस्था में हाथ-पैर काँपने लगते थे । प्याला हाथ में नही ले सकता था , दूसरे लोग प्याला हाथ में लेकर पिलाते थे । हकीम अब्दुल फतह का भाई हकीम हमाम पिताजी के विशिष्ट पार्श्ववर्त्तियो में

था। उसे बुलाकर सारी दशा कह सुनायी। उसने कहा कि पृथ्वीनाथ, आप जिस प्रकार अर्क पीते हैं,—उससे ६ महीने में रोग असाध्य हो जायगा, फिर कोई उपाय न रहेगा।"

अकवर के पेट में जव तीव्र दर्द हुआ और उसका सहन करना सामर्थ्य से वाहर हो गया, तव उसे सन्देह हुआ कि मुझे विप दिया गया है, इसमें उसे अपने विश्वसनीय हकीम जैसे व्यक्ति पर भी साजिश में सम्मिलित होने का सन्देह हुआ।" (दरवारे अकवरी, पृष्ठ १७८,१७९,२०३)

अकवर के राज्य में कासिम खाँ को जल और स्थल का सेनापति इसलिए वनाया गया कि फूल-पत्ते, जडी-वूटियो की उन्नति हो।

अकवर के समय वहुत-सी पुस्तको का अनुवाद फारसी में हुआ, जैसे—रामायण, महाभारत, हरिवश। ज्योतिप के ताजक का भी अनुवाद हुआ। खानखाना अवुल फजल ने ज्योतिप पर एक मसनवी लिखी थी। परन्तु आयुर्वेद के किसी ग्रन्थ का अनुवाद इस समय होने का पता नही चलता। इस समय में चिकित्सा हकीमी ही अधिक चलती थी। उसकी अपनी कितावें थी।

शेख फैजी के मरने के पीछे उसकी पुस्तको का सग्रह शाही खजाने में चला गया। जव उसकी सूची वनी तो प्रथम श्रेणी की पुस्तको में काव्य, चिकित्सा, फलित ज्योतिप और सगीत की पुस्तकें थी (अकवरी दरवार—भाग २, पृष्ठ ३९९)। अवुल फजल ने अपने भाई फैजी के सम्वन्ध में लिखा है कि "वह कविताएँ करने, पहेलियाँ आदि वनाने या कूट-काव्य, इतिहास, कोश, चिकित्सा तथा सुन्दर लेख लिखने में अद्वितीय था।" (अकवरी दरवार—भाग २, पृष्ठ ३९५)

फैजी की तवीयत १००३ हिजरी में खराव हुई। दमा तग करने लगा। चार महीने पहले यक्ष्मा हुआ था। अन्त समय में उसने सव वाता की ओर से अपना मन हटा लिया था। और भी कई रोग एकत्रित होने लगे थे। फैजी की मृत्यु १० सफर १००४ हिजरी में हुई। फैजी के पिता शेख मुवारक गरदन में फोडा निकलने (सम्भवत प्रमेहपिडिका, कार्वकल) से मरे थे। ऐसी वीमारी प्राय होती थी। (अकवरी दरवार—भाग २, पृष्ठ ३६५)

इटैलियन लेखक का विवरण

इस समय की चिकित्सा का उल्लेख इटैलियन लेखक निकोलियो मैन्युसी [Niccolao manucci) ने अपनी पुस्तक 'मोगल इण्डिया' (Stori-do-mogor)

मे दिया है।[१] लेखक स्वय चिकित्सक था। इसे औरगजेव और शाह आलम के समय कई वार राजमहल में चिकित्सा कार्य करना पडा। विप के रोगियो की, आँतो के फटने की चिकित्सा के अतिरिक्त कई वार शिरावेध (फस्द खोलने की) चिकित्सा इसने की थी। इनके वर्णन से स्पष्ट है क उस समय वस्ति (एनीमा) का चलन नही था, उसके लिए कोई भी समुचित साधन नहीं थे, और न इसका उपयोग ही कोई जानता था—जैसा कि लौहर में काजी की औरत की चिकित्सा से स्पष्ट है। शाह आलम के लिए भी जव इसने एनीमा भेजा तव वहाँ भी कोई इसका उपयोग नही जानता था। वस्ति देने के लिए इसने उस समय एक नया तरीका अपनाया। इसने गाय का ऊधस् (Udder) लेकर उसमे हुक्के की नली लगाकर काम चलाया था।

इसके वर्णन से पता चलता है कि राजमहल में वहुत से हकीम थे, ये भिन्न-भिन्न विपयो में निपुण थे। इनकी विद्या के अनुसार इनके नाम थे, यथा—हकीमी वुजुग (वडा हकीम), हकीम उल्मुल्क (राजवैद्य), हकीम विना (आँख का हकीम), हकीम मुहसिन, हकीम जानवस्त्र, हकीम मुमीन, हकीमी मुजैयँन, हकीम फाजिल (निर्देशक चिकित्सक), हकीम अब्दुलफतह, हकीम तरकवखान, हकीम सलाह, हकीम नब्ज (नब्ज का हकीम), हकीम अलैयर, हकीम नादिर हकीम खुदा दोस्त, हकीम वदन (शरीर का चिकित्सक), अफलातून उज जमाना, अरस्तू उज जमाना, जालीनूस उस जमाना, वकरात उज जमाना, आदि कई नाम थे, जो कि इनके पद एव कार्य के सूचक होते थे।

प्लास्टिक सर्जरी—उस समय प्लास्टिक सर्जरी का भी चलन था, उसने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। उसके लिखे अनुसार—"औरगजेव ने वीजापुर पर १६७० ईसवी में आक्रमण किया। उस समय वीजापुरवाले यदि किसी मुगल को पत्ते काटते या घास-फूस इकट्ठा करते हुए देखते थे, उसे वे पकडकर ले जाते थे। उसको जान से न मारकर उसकी नाक काटकर छोड़ देते थे। मुगल जर्राह इनकी नाक ठीक कर देते थे। ऐसी कई नाक वनी हुई मैंने देखी हैं। इसके लिए जर्राह भ्रुवो के ऊपर माथे पर से मास काटकर उसे नाक के ऊपर आने देते थे। वहाँ पर इस मास को जोड़कर नाक पर इस प्रकार विठाते थे कि वह दूसरे मास के साथ वैठ जाय। इसके ऊपर वे

---

१. यह पुस्तक कई भागो में है, इसे रायल एशियाटिक सोसाइटी ने प्रकाशित किया है। ये सव उद्धरण भाग २ से लिये गये है।

जख्म को भरनेवाला लेप लगा देते थे। थोडे समय में व्रण भर जाता था। मैंने इस प्रकार की नाकें वनी देखी हैं।"

सिरा वेध—पागलपन की अवस्था में तथा कई अन्य अवस्थाओ में जव शरीर में रक्त का दवाव वढ जाता था (उसने इसे रक्त का वढना लिखा है) तव रक्त निकाला जाता था। उसने इस प्रकार की कई घटनाओ का उल्लेख किया है। रक्त निकलवाने का राजकुमारियो, वेगमो और राजकुमारो में सामान्य रिवाज था। लेखक ने कहा है कि वेगमो और राजकुमारियो के रक्त निकालने पर उसे दो सौ रुपया और एक सराफ़ा उपहार में मिलता था। राजकुमार का रक्त निकालने पर चार सौ रुपया, एक सराफ़ा और एक घोडा भेंट दिया जाता था। शाह आलम प्रत्येक वार रक्त की मात्रा पूछता था कि कितना रक्त निकाला गया।

इसी प्रकार एक पागल का उल्लेख किया गया है, जो उसके दवाखाने में घुस गया था। उसने नौकरो से पकडवाकर उसका सिरा वेध किया, जिससे वह स्वस्थ हो गया था।

प्रसव में चिमटो के उपयोग और भगन्दर रोग की चिकित्सा का उल्लेख उसने किया है। गोआ के प्रेसीडेन्ट को भगन्दर (Fistula) था, उसने एक डच डाक्टर के द्वारा उसे स्वस्थ करवाया था।

दाहकर्म—महल की एक औरत वीमार हो गयी, इसको आँतो की तकलीफ थी। इस तकलीफ को कोई भी अच्छा नही कर सका था। उस डाक्टर को वुलाया गया, उसने देखा दवाई देने से कोई लाभ नही। इसलिए उसने लोहे के छल्ले को आग में लाल गरम करके नाभि पर दाग दिया। इससे आँतो में गति चल पडी, आँतें अपना काम करने लगी। इससे उसने समझा कि उदरशूल, वक्षण या आँतो के अवरोध मे इस प्रकार का दाह वहुत उपयोगी है।

इसी प्रकार का दाहकर्म हैजा-कालरा (Mort-de-chien) के लिए वताया है। यह उस समय प्रचलित था। इसमें लोहे की शलाका गरम करके उससे एडी के तव तक वीच में जलाते थे जव तक रोगी गरमी या दाह का अनुभव न करे।

सुश्रुत में भी यही चिकित्सा विसूचिका में वतायी है—

'साध्यासु पार्ष्ण्योर्दहन प्रशस्तमग्निप्रतापो वमन च तीक्ष्णम्।'

(सु. उ अ. ५६। २)

महल में वीमारो के लिए अलग स्थान (वीमारखाना) था, वहाँ पर उनकी सेवा-परिचर्या की जाती थी। रोगी वहाँ से अच्छें होकर या फिर मरकर ही वाहर होते थे। जव कोई मर जाता था तव वादशाह मृतक की सव जायदाद ले लेता था।

यदि रोगी कोई अधिकारी होता था, तो वादशाह पहले पहल उसे देखने जाता था। इसके पीछे दूसरो से उसका समाचार पुछवाता था।

मुगल दरवार में चिकित्सक वहुत सोच-विचार कर परीक्षा करके रखे जाते थे। महल मे जव उनका प्रवेश होता था, तव उनको सिर से पैर तक ढाप दिया जाता था। महल मे हिंजडे चिकित्सक को ले जाते थे। परीक्षा के लिए नब्ज दिखायी जाती थी। रक्त निकालने के समय भी केवल वही स्थान नगा किया जाता था, जहाँ से रक्त निकालना होता था। चिकित्सक को कई वार अप्रिय कार्य—विप देना भी करना पडता था। उसने अपनी पुस्तक में शाहजहाँ को विष देने की घटना का उल्लेख किया है, औरगजेब ने हकीम के द्वारा शाहजहाँ को विप दिलाना चाहा, परन्तु हकीम ने उसे स्वय खाकर प्राण त्याग दिये।

उस डाक्टर की इतनी सफलता देखकर मुसलमान हकीम उससे ईर्ष्या करने लगे थे। कई वार उससे भी अनुचित काम को कहा गया (यथा गर्भ गिराने, विप देने के लिए)। मिर्जा सुलेमान वेग की चिकित्सा उसने रक्त निकालकर ही की थी, जव कि हकीम उसका गरम इलाज कर रहे थे, जिससे वह मर जाता। इसी प्रकार से उसने महावत खाँ को विप देने का भी उल्लेख किया है, जिसके लिए उसे उत्तरदायी समझा गया, परन्तु पीछे स्पष्ट हो गया कि उसका इसमें हाथ नही था।

इस प्रकार से हम देखते है कि औरगजेव, शाह आलम के समय में ही राजमहलो में तथा जनता में यूरोपियन चिकित्सा का प्रवेश हो गया था, उनकी प्रतिष्ठा जमने लगी थी। जव रोगी हकीमो से स्वस्थ नही होते थे, तव इनकी सहायता ली जाती थी, उस समय के हकीम भी इनका मुकावला नही कर पाते थे।

नाडी ज्ञान और सग्रह-ग्रन्थ (रसवाले)

नाडी ज्ञान—मुगल काल से पहले रोग को जानने के उपाय तीन प्रकार के (आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान) अथवा छ प्रकार के ("पचभि श्रोत्रादिभि प्रश्नेन चेति"—मु०अ० १०।४) थे। प्रश्न का सम्वन्ध होने से नाडी ज्ञान की विशेषता नही दीखती। परन्तु मुगलकाल में जव परदे की प्रथा वहुत वढी हुई थी, तव यह परीक्षा सरल न रहने से नाडीज्ञान का विकास हुआ। यह विकास सबसे प्रथम हकीमो में हुआ होगा, क्योकि उनकी स्थिति इसकी उत्पत्ति के लिए सहायक थी। आक्रामको के साथ उनके हकीमो के द्वारा यह भारतवर्ष में भी आया, इसलिए जव शासन स्थिर हो गया, तव यहाँ के निवासियो ने भी इसे अपना लिया। इसी से सबसे प्रथम

नाडी ज्ञान हमको शार्ङ्गधर में मिलता है (शार्ङ्गधर, पूर्व, अ० ३ में)। इससे पता लगता है कि इस समय वैद्य के लिए नाडी ज्ञान आवश्यक हो गया था।

स्पर्श परीक्षा को ही विस्तृत बनाकर उससे नाडी ज्ञान का विस्तार किया गया (जिस प्रकार आज श्रवण-शक्ति के ज्ञान से स्टैथस्कोप द्वारा रोग ज्ञान होता है, इसी प्रकार त्वचा के स्पर्शज्ञान से रोग का ज्ञान किया जाता था)। नाडी गति की धीमी या उतावली, भारी या हल्की, कठिन या मृदु तथा पक्षियों की चाल से समता करके रोग ज्ञान किया जाने लगा। यह परीक्षा भी एक प्रकार से अनुमान पर ही आश्रित है। इसमें रोगी के सब अंगों की परीक्षा—प्रत्यक्ष ज्ञान परीक्षा को एक प्रकार से छोड दिया जाता था, जो इस काल में विशेषत स्त्री-जाति की दृष्टि से आवश्यक था। इसलिए नाडी ज्ञान का विकास हुआ। शार्ङ्गधर से कुछ समय पूर्व ही इसका विकास हुआ होगा, क्योंकि इससे पहले के ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं है।

शार्ङ्गधर, भावप्रकाश, अथवा दक्षिण भारत की गदसजीवनी, वैद्यशास्त्र, बृहद्-योग तरंगिणी, योगरत्नाकर आदि ग्रन्थों में नाडी ज्ञान का प्रकरण होने के अतिरिक्त नाडीशास्त्र पर स्वतन्त्र पुस्तकें भी लिखी गयी। इनमें कुछ पुस्तकें दक्षिण भारत में और कुछ उत्तर भारत में लिखी गयी हैं। इनमें कणाद का नाडीविज्ञान बहुत प्रसिद्ध है। बम्बई में हिन्दी भाषान्तर और कविराज गंगाधर की व्याख्या के साथ यह प्रकाशित हुआ है। श्री यादवजी महाराज ने रावणकृत नाडीविज्ञान ग्रन्थ को अपनी आयुर्वेदग्रन्थमाला में प्रकाशित किया है। नाडीविज्ञान सम्बन्धी लगभग छोटे-बडे ४६ ग्रन्थ मिलते हैं, इनमें बहुत से हस्तलिखित हैं। प्राचीन ग्रन्थों में से आजकल नाडीविज्ञान, नाडीज्ञानतन्त्र, नाडीदर्पण, नाडीज्ञानतरंगिणी, नाडीज्ञान शिक्षा और नाडीज्ञानदीपिका प्रसिद्ध है। इनमें से रघुनाथप्रसाद रचित नाडीज्ञानतरंगिणी गुजराती अनुवाद के साथ १९०८ में प्रकाशित हुई है। नाडीदर्पण हिन्दी भाषान्तर के साथ बम्बई में छपा है। शेष चारो कलकत्ता में प्रकाशित हुई हैं।

सक्षेप में नाडी ज्ञान का प्रचार इस देश में १३वीं सदी में हुआ है। यह विश्वास हो गया था कि वैद्य लोग नाडी देखकर रोग पहचान लेते हैं।[1] वास्तव में 'नब्बाज' नब्ज देखने में होशियार हकीम ही थे, उनमें ही यह शब्द प्रसिद्ध था।

---

१. इस सम्बन्ध में नाना प्रकार की दन्तकथाएँ प्रचलित है। हाथ में नाड़ी पर धागा बाँधकर रोग पहचानना, नाडी से खाये हुए भोजन का ज्ञान करना आदि बहुत-सी बातें हकीमों और वैद्यों के लिए सुनी जाती है।

वास्तव में नाडी ज्ञान अभ्यास के ऊपर आश्रित है। जिस प्रकार वीणा के तारो की झकार द्वारा जाननेवाला व्यक्ति कर्णध्वनि मे शव्दलहरी के राग को पहचान लेता है, उमी प्रकार अगुली की त्वचा के स्पर्श से, नाडी स्पन्दन का अनुभव लेकर चिकित्सक अपने ज्ञान से रोग को समझता है।[1] इसके अभ्याम से रोग को समझनेवाले अनुभवी वैद्य और हकीम अव भी मिलते है। जिससे इस परीक्षा, इस ज्ञान का भी महत्त्व है, विशेपत जव स्टैथ्सकोप द्वारा श्रवणेन्द्रिय रोगज्ञान में सहायक है, उसी प्रकार मे अगुली के माध्यम से त्वगिन्द्रिय का भी रोग परीक्षा में महत्त्व मानना पडता है।

रस-योगवाले ग्रन्थ—गुप्त काल के पीछे यदि भारत के चरमोत्कर्प का कोई समय आया तो वह मुगल काल ही था। देश की सम्पदा शाहजहाँ के समय फूट पडी थी, जिसके कारण यूरोप के लोग ललचाये और इवर आने लगे। अकवर से लेकर शाहजहाँ तक का समय शान्ति तथा ऐश्वर्य का युग था। इस समय भोग-विलास ऐश्वर्य वहुत अधिक वढ गया था। इसी विलासमय जीवन को पूरा करने तथा इससे उत्पन्न रोगो को जल्दी अच्छा करने के लिए रसविद्या का चिकित्सा में प्रवेश हुआ। इससे प्रथम रसशास्त्र कीमियागरी-धातुवाद-सोना या चाँदी वनाने के लिए सिद्धो के पास था। उनमें ही इसका प्रचार था, जो इसको वहुत छिपाकर रखते थे, सर्व-साधारण को उसका ज्ञान नही देते थे। परन्तु इस समय में इसका उपयोग धीरे-धीरे चिकित्सा में वढा। इससे पूर्व धातुओ का उपयोग जो मिलता है, वह चूर्ण-रज के रूप में मिलता है। इसमें भी वहुत कम धातुओ का उपयोग है, प्रवाल का उपयोग चरक में चि० अ० १८।१२५, चि० अ० २६।५६ में है, वह भी चूर्णरूप में है—जो वर्त्त-मान पिप्टी है। भस्म तथा पारे का उपयोग इसी काल में प्रारम्भ होता है।

---

१. 'जले स्थले चान्तरिक्षे प्रसिद्धा यस्य या गति।
सैवोपमानमत्र स्यात् प्रसिद्धगुणयोगत॰॥
न शास्त्रपठनाद् वापि शश्वदध्ययनादपि।
स्पर्शनादिभिरभ्यासादेव नाडीविवेकभाक्॥
नाडीगतिरियं सम्यग् अभ्यासेनैव गम्यते।
नान्यया शक्यते ज्ञातुं बृहस्पतिसमैरपि॥' (आयुर्वेदसंग्रह)

नाडी ज्ञान के सम्वन्ध में जानकारी के लिए ताराशंकर वन्द्योपाध्याय के वँगला में लिखित, साहित्यसंसद अकादमी दिल्ली से हिन्दी में प्रकाशित ('आरोग्यनिकेतन') उपन्यास को इस सम्वन्ध में देखना अच्छा है।

सामान्य रूप से चक्रदत्त में कुछ धातुओ का उपयोग आ गया है, परन्तु पारे के साथ धातुओ का उपयोग इसी समय से प्रारम्भ होता है।[1]

अफीम और सखिया का उपयोग जो इस काल में चला वह स्पष्ट मुसलमान हकीमो की देन है। इससे पूर्व चिकित्सा में इतनी तेज औषधियाँ नही वरती गयी थीं। परन्तु रहन-सहन, जीवन के ऐश आराम के लिए इन वस्तुओ का उपयोग प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे इनका चिकित्सा में भी उपयोग वढा। गुप्त काल में मद्य, लशुन, प्याज, मास आया था, इस काल में मद्य के साथ अफीम, भाग, सखिया चिकित्सा में आते हैं। ये वस्तुएँ हमको हकीमो से मिली हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नही। इनका सवसे प्रथम उल्लेख शार्ङ्गधर सहिता में मिलता है।

शार्ङ्गधर सहिता

प्रकाशित शार्ङ्गधर सहिता में शार्ङ्गधर को दामोदर का पुत्र कहा गया है ("इति श्रीदामोदरसूनुना श्रीशार्ङ्गधरेण विरचिताया श्रीशार्ङ्गधरसहितायाम्")। ग्रन्थकर्त्ता ने इस सहिता में अपने विषय में कुछ नही लिखा। परन्तु शार्ङ्गधरपद्धति में ग्रन्थकर्त्ता ने अपना परिचय दिया है। उसके अनुसार शाकम्भरी देश में हम्मीर नाम का राजा हुआ है, जोकि चौहान वश का था। उसकी सभा में राघवदेव नाम का ब्राह्मण था। उसके तीन पुत्र हुए—गोपाल, दामोदर और देवदास। दामोदर के तीन पुत्र हुए, जिनमें शार्ङ्गधर सवसे वडे, इनसे छोटे लक्ष्मीधर और सवसे छोटे कृष्ण थे। शार्ङ्गधर ने शार्ङ्गधरपद्धति वनायी।

शार्ङ्गधरपद्धति में जिस हम्मीर का उल्लेख है, वह मेवाड का राजा हम्मीर ही दीखता है। वह स्वय विद्वान् और विद्वानो का आदर करता था। उसी के नाम पर हम्मीरकाव्य सस्कृतसाहित्य में प्रसिद्ध है। उसकी सभा में विद्वान् रहते थे। उसका समय १२२६ ई० का है। शाकम्भरी देश से साभर झील का प्रदेश अपेक्षित है।[2] इसलिए शार्ङ्गधरपद्धति के ग्रन्थकर्त्ता दामोदर हैं।

---

१. इस विषय में श्री यादवजी त्रिकमजी लिखित 'रसामृतम्' की भूमिका देखनी चाहिए।

२. 'पुरा शाकम्भरीदेशे श्रीमान् हम्मीरभूपति।
चाहुवाणान्वये जात ख्यात शौर्य इवार्जुन॥
तस्याभवत्सभ्यजनेषु मुख्य परोपकारव्यसनैकनिष्ठ।
पुरन्दरस्येव गुरुर्गरीयान् द्विजाग्रणी राघवदेवनामा॥

शार्ङ्गधरसहिता मे ग्रन्थकर्ता ने केवल इतना कहा है कि मैं शार्ङ्गधर सज्जनो को प्रसन्न करने के लिए मुनियो से कहे और चिकित्सको से अनुभूत योगो का सग्रह करता हूँ। थोडी आयु और कम बुद्धिवाले जो कि सब ग्रन्थ नही पढ सकते उनके लिए यह सहिता है (अ० १३।१२९)। इसी से लघुत्रयी में इसका स्थान है। इस सहिता में ग्रन्थकार ने अपना कोई परिचय नही दिया है। इससे यह सहिता पद्धति से भिन्न है।

सहिता और पद्धति में दोनो वस्तुएँ भिन्न है। पद्धति में चिकित्सा सम्बन्धी उल्लेख विलकुल नही है। शार्ङ्गधरपद्धति में लोहे पर पानी चढाने (Tempering) का एक योग दिया है जिसमें पिप्पली, सैन्धवनमक, कूठ को गोमूत्र में पीसकर लेप बनाये। इसे शस्त्र पर लगाकर आग में गरम करके पानी में वुझाना चाहिए, इसी को सुश्रुत में पायना कहा है (पिप्पली सैन्धव कुष्ठ गोमूत्रेण तु पेपयेत्)। शार्ङ्गधरसहिता में ऐसा कोई उल्लेख पायना विपयक नही है। इससे स्पष्ट है कि दोनो का विपय भिन्न है। विपय भिन्न होने से लेखक भी पृथक् मानने होगे। पद्धतिकार ने अपने को वैद्य नही कहा है, केवल कवि कहा है। भापा, धार्मिक भावना, कवित्व शक्ति दोनो में भिन्न होने से दोनो के कर्त्ता पृथक् है। शार्ङ्गधरसहिता का उल्लेख हेमाद्रि ने किया है। इस दृष्टि से भी पद्धतिकार से १५० वर्ष के लगभग पूर्व वैद्य शार्ङ्गधर का समय आता है। शार्ङ्गधर मे अफीम का उल्लेख होने से यह १२०० ई० के पूर्व की नही हो सकती (शुक्त की व्याख्या में हेमाद्रि ने शार्ङ्गधर म० अ० १०।७ में से शुक्त का लक्षण उद्धृत किया है—अष्टागहृदय सू० ५।७६ की टीका)। हेमाद्रि का समय १२६०—१३०९ ईसवी है।

गोपालदामोदरदेवदाससज्ञा वभूवुस्तनयास्तदीया.।
नेत्रावतारा इव चन्द्रमौलेरपाकृतध्वान्तगणास्त्रयोऽपि ॥
तेषा मध्ये यस्तु दामोदरोऽभूदुत्पाद्य त्रीनात्मजान्वीतरागः।
भागीरथ्या शुद्धदेह विधाय ज्ञानादात्मन्येव निष्ठा जगाम ॥
ज्येष्ठ' शार्ङ्गधरस्तेषा लघुर्लक्ष्मीधरस्ततः।
कृष्णोऽनुजस्तेषां त्रयस्त्रेताग्नितेजसः ॥

श्री परशुराम शास्त्रीजी ने अपनी भूमिका शार्ङ्गधर सहिता में शाकम्भरी देश से अम्वाले का प्रदेश लिया है, वह ठीक नहीं। शाकम्भरी देवी का मन्दिर सहारनपुर जिले में भी है। शाकम्भरी नाम से साँभर का प्रदेश ही लेना उचित है।

चक्रपाणि के पुत्र भावसिंह के पुत्र थे। इन्होंने हस्तीकान्तपुरी के राजा जयसिंह के राज्य में टीका लिखी है। हस्तीकान्तपुरी के पास चर्मण्वती नदी बहती थी (चर्मण्वती-चंबल पूर्वी राजस्थान की नदी है)।[1] निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित श्री परशुराम वैद्य द्वारा सम्पादित शार्ङ्गधरसंहिता में इनको जो बंगाल के प्रसिद्ध चक्रपाणि का वंशज लिखा है, वह ठीक नही है। चक्रपाणि लोध्रावली कुल में उत्पन्न हुए थे, इनका कुल श्रीवास्तव्य है (आज भी इस तरफ 'श्रीवास्तव' लोग मिलते हैं)। ग्रन्थ के अन्त मे शकाब्द दिया है, उसमे ग्यारह के आगे संख्या लुप्त है। यदि इसमें कोई भूल न हो तो इसे ११९९ शक माना जा सकता है, इसके अनुसार १२७७ ईसवी आता है। इस समय मे जैसलमेर के अन्दर जैतसी नाम का एक राजा हो भी चुका है। इसलिए आढमल्ल का समय तेरहवी शती के पीछे का नही होना चाहिए।

शार्ङ्गधरसंहिता के दूसरे टीकाकार काशीराम हैं, जिन्होंने शाह सलीम के समय में टीका लिखी है ("श्रीमत्शाहसलेमस्य राज्ये कन्यागते रवौ")। शाह सलीम अकबर का पुत्र। इसलिए इनका समय सोलहवी शती है। यह काशीराम कृष्णभक्त थे।

शार्ङ्गधरसंहिता के हिन्दी, गुजराती, बँगला, मराठी में अनुवाद हुए हैं, जिससे पता चलता है कि इसका प्रचार उत्तर भारत तथा मध्य भारत में विशेष रहा। माधव-निदान के समय से संग्रह ग्रन्थ बनने का जो क्रम चला वह इस समय तक समाप्त नही हुआ—अपितु आगे और भी बढा। उन संग्रहो मे शार्ङ्गधरसंहिता भी सम्मिलित कर ली गयी। ये संग्रह मुख्यत. कायचिकित्सा विषयक हैं। इस प्रकार से बने ग्रन्थो का उल्लेख आगे किया गया है, जिनमे से कुछ मुख्य ग्रन्थो का सामान्य परिचय और शेष केवल नाम दे दिये गये है।

शार्ङ्गधर की भाँति यह एक बडा संग्रह है। इसमें शार्ङ्गधर संहिता से अधिक विषयो का समावेश है। इसमें (११७-३७ मे) फिरंग रोग का नाम है इससे स्पष्ट है कि भावप्रकाश से पूर्व इसकी रचना हुई है। इसमे पोस्त, मस्तकी आदि यूनानी औषधियो का उल्लेख है ("पोस्तक तुलसी दीप्य नागवल्लीदल तथा"—११८।७,

---

१. 'हस्तीकान्तपुरी पुरा पुरजिता काशीव विद्वज्जनै-
व्याप्ता यत्र सरः सरिद्गुणवरा चर्मण्वती पापहा।
यस्यां हृद्गतवासुदेवचरणद्वन्द्वाम्बुजः क्ष्मापतिः,
ख्यातो धर्म इवास्ति धर्मगतिषु श्रीजैत्रसिंहः प्रभुः॥' (टीका. ९)

बृहद्योगतरंगिणी।

पूर्व होना चाहिए। भावमिश्र के वर्णित फिरग रोग का पृथक् उल्लेख इसमें नही है, परन्तु उपदश रोग के लिए कहे गये 'उपदशान्ध सूर्यरस' की फलश्रुति में फिरग रोग का नाम (११७।३७) आता है। साथ ही 'मस्तकी' का उल्लेख जो कि पहले ग्रन्थो में नही है, इसमें मिलता है ('विडङ्ग मस्तकी चैव'—११७।३३)। मस्तकी रूमी मस्तकी है, जो कि यूनानी औषधि है। भावमिश्र ने फिरग रोग का वर्णन विस्तार से किया है। फिरगी शब्द पुर्तगाल से आये व्यक्तियो के लिए प्रथम प्रचलित हुआ। इनका आने का सबसे प्रथम समय १४९७ ई० है, जब कि वास्कोदगामा कालीकट के किनारे पहुँचा। भावप्रकाश के कर्त्ता के समय यह फिरग रोग विशेष रूप से प्रसारित हुआ था, इसी से उसने इसे पृथक् लिखा। त्रिमल्ल भट्ट के समय इसको उपदश का ही एक रूप समझा जाता था इसलिए पृथक् उल्लेख नहीं किया। इससे भावमिश्र के समय से पचास साठ वर्ष पूर्व इसका समय रख सकते हैं, जो पन्द्रहवी शती के अन्त का या सोलहवी शती के प्रारम्भ का है। इस ग्रन्थ की एक प्राचीन प्रति १७३२ शकाब्द की लिखी मिली है। जोली ने लिखा है कि त्रिमल्ल के एक ग्रन्थ की प्रति १४९८ की मिली है (पृ० २)। इसलिए इसका समय सोलहवी शती के प्रारम्भ का मानना उचित है।

इस ग्रन्थ में वाग्भट, चरक, सुश्रुत, वृन्द, तीसट, शार्ङ्गधर, रसरत्नप्रदीप, राजमार्त्तण्ड, रसमजरी, रसेन्द्रचिन्तामणि, सारसग्रह आदि ग्रन्थो से उद्धरण दिये गये हैं। श्री दुर्गाशकर शास्त्री जी का कहना है कि शखद्राव का वर्णन इसी में प्रथम मिलता है। इसमे भावप्रकाश का नाम नही है, नाम चक्रदत्त का भी नही है। इसका कारण यही है कि ठेठ दक्षिण में वगाल की पुस्तको का प्रचार नही हुआ था। चक्रदत्त का काम वृन्द के सिद्ध योग से हो गया होगा। इसलिए नाम का इतना महत्त्व नहीं, जितना कि फिरग रोग तथा शखद्राव के उल्लेख का है।

ज्वरसमुच्चय और ज्वरतिमिरभास्कर

ज्वरसमुच्चय नाम के ग्रन्थ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ नेपाल के राजगुरु स्वर्गीय श्री हेमराज शर्मा के सग्रह में है, ऐसा उन्होने काश्यपसहिता के उपोद्घात में लिखा है। इसका उल्लेख करते हुए उन्होने लिखा है कि इनमें एक प्राचीन अक्षरो में लिखित, परन्तु अपूर्ण पुस्तक है। इसके अन्त में नेपाली सवत् ४४ दिया है। दूसरी प्रति नेवार अक्षरो में लिखी है; लिपि के अनुसार इसका समय भी ८०० वर्ष होना चाहिए। इनमें आश्विन, भारद्वाज, कश्यप, चरक, सुश्रुत, भड, हारीत, यात्र, जतूकर्ण, कपिलवल आचार्यो के ज्वर सम्वन्धी वचन उनके नाम के साथ सगृहीत हैं। इसमे ज्वर सम्वन्धी

काश्यप के बहुत से वचन उद्धृत हैं। काश्यपसंहिता के उपोद्घात में ये वचन इसमें से उद्धृत हैं। इससे इतना स्पष्ट है कि प्राचीन काल से पृथक्-पृथक् रोगविषयक ग्रन्थ बनने लगे थे (शार्ङ्गधर के नाम से 'त्रिशती वैद्यक' नाम का एक ग्रन्थ केवल ज्वर से ही सम्बन्धित है, यह बहुत पीछे का है)।

ज्वरतिमिरभास्कर नामक ग्रन्थ भी ज्वरसमुच्चय की भाँति ज्वर से ही सम्बन्धित है। इसके रचयिता का नाम चामुण्डा है। चामुण्डा का ग्रन्थ पीछे का होने से इसमें सन्निपातों का वर्णन है; जिसका उल्लेख पुराने ग्रन्थों में होना सम्भव नहीं। बीकानेर में ज्वरतिमिरभास्कर की हस्तलिखित एक प्रति है, जो १४८९ की लिखी है (जोली की मैडिसिन, पृष्ठ ४)। रसमकेतकलिका भी चामुण्डा की लिखी होनी चाहिए, क्योंकि एक हस्तलिखित प्रति में संवत् १५३१ (१४७५ ईसवी) लिखा है।

त्रिशती

इसी शतक में, सम्भवतः १५वीं शती में वैद्य देवराज के पुत्र शार्ङ्गधर ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें केवल ज्वर का निदान और चिकित्सा ही लिखी है। क्योंकि सब रोगों का राजा ज्वर है, इसलिए उसी का ज्ञान कराने के लिए इसे बनाया है। इसमें पशु-पक्षी-वनस्पतियों में होनेवाले ज्वर के नामों का उल्लेख किया हुआ है। ज्वर तीसरे दिन, चौथे दिन क्यों आता है, इसका सुश्रुत के अनुसार वर्णन किया गया है। दोष जिस-जिस प्रकार से आमाशय में पहुँचते हैं, उसी क्रम से ज्वर होते हैं (२११-२१४)। सन्निपात ज्वर की चिकित्सा विशेष रूप से है।

शार्ङ्गधर नागर ब्राह्मणों के वंश में उत्पन्न हुए थे। यह इसी लिए सम्भवतः गुजरात के रहनेवाले थे। इन्होंने कविता का रस देने के साथ-साथ (कवित्वश्रुति-कौतुकात्) ज्वर की चिकित्सा कही है। इसकी संस्कृत टीका वैद्य वल्लभ भट्ट ने की है। टीका का नाम भी 'वैद्यवल्लभा' रखा है। यह ग्रन्थ बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

वीरसिंहावलोक

आयुर्वेद में पुनर्जन्म तथा पूर्व कर्म को माना गया है। इसलिए कुछ व्याधियाँ कर्मजन्य मानी गयी हैं ("निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत् पौर्वदैहिकम्। हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते। न हि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते। क्रियाघ्ना कर्मजा रोगा प्रशमं यान्ति तत्क्षयात्॥" चरक शा अ १।११६-१७)। प्राचीन ग्रन्थों में इस पर विशेष लेख नहीं मिलता। पीछे से ज्योतिषशास्त्र और वैद्यक के विचार मिलाकर कर्मविपाक सम्बन्धी ग्रन्थ बने।

ज्योतिप और आयुर्वेद का समन्वय अप्टागसग्रह के समय प्रारम्भ हो गया था। ("आधानजन्मनिधनप्रत्यवराख्य विपत्करे। नक्षत्रे व्याधिरुत्पन्न क्लेशाय मरणाय वा॥ ज्वरस्तु जात षड्रात्रादश्विनीपु निवर्त्तते। भरणीपु च पञ्चाहात् सप्ताहात् कृत्तिकासु च॥" इत्यादि सर्वरोग निदान १।२१-३२)। पीछे से हारीत सहिता और वीरसिंहावलोक में विस्तार से इसकी चर्चा मिलती है।[1]

वीरसिंहावलोक में ज्योतिप-शास्त्र की दृष्टि से भिन्न-भिन्न रोगो के कारण तथा उपाय लिखित है। इस ग्रन्थ के लेखक तोमर वश के वीरसिंह हैं। इनका समय १३८३ ईसवी है। इसी प्रकार का दूसरा ग्रन्थ 'सारग्राहक कर्मविपाक' है, जिसकी हस्तलिखित प्रति मिली है। जोली के अनुसार इसका समय १३८४ ई० है (पृष्ठ ५)। वीरसिंहावलोक के सम्बन्ध में लेखक ने स्वयं कहा है--

'दैवज्ञागमधर्मशास्त्रनिगमायुर्वेददुग्धोदधी-
नामथ्य स्फुरदात्मबुद्धिगिरिणा विश्वोपकारोज्ज्वलम्।
आलोकामृतमातनोति विबुधैरासेव्यमत्यद्भुतं
श्रीमत्तोमरदेववर्मतनय श्रीवीरसिंहो नृपः॥'

मोहमन विलास

शार्ङ्गधर के समय से पूर्व मुसलमानो का असर वैद्यक-शास्त्र पर आ गया था; इसी से अफीम आदि का उल्लेख मिलता है। महमूद शाह के समय में (१४११ ई०)

---

१. उपलब्ध हारीतसंहिता बहुत ही अर्वाचीन समय की है। इसमें कर्मजन्य रोगों के लिए विस्तार से लिखा गया है, यथा—

'कर्मजा व्याधयो ये च तान्वद त्वं महामते। आत्रेय उवाच—
कर्मजा व्याधय. सर्वे भवन्ति हि शरीरिणाम्।
सर्वे नरकरूपा. स्यु. साध्यासाध्या भवन्त्यमी॥ (२।१।५.)
ब्रह्मघ्नो जायते पाण्डु. कुष्ठी गोवधकारक.।
राजघ्नो राजयक्ष्मी स्यादतिसार्योपघातकः॥
स्वाम्यङ्गनाभिगमने मेहा रोगा भवन्ति हि।
गुरुजायाप्रसगेन मूत्ररोगोऽश्मरीगद.॥
स्वकुलजाप्रसगाच्च जायते च भगन्दर.॥' (२।१।१३-१५.)

इनकी चिकित्सा दान, पुण्य, प्रायश्चित्त से बतायी गयी है।

कालपी के मोहमन विलास नामक मुसलिम ने एक ग्रन्थ लिखा था, जिसका विषय वाजीकरण और स्त्री-बालकों की चिकित्सा था (जोली मेडिसिन—५ पृष्ठ)।

शिशु रक्षारत्न

पृथ्वीमल्ल ने बालकों की चिकित्सा पर पृथक् ग्रन्थ लिखा था। इसमें मदनपाल-निघण्टु का उल्लेख है। इसलिए जोली इसका समय १४००ई० से पीछे का मानता है।

शिशुरोग पर कल्याण का बालतंत्र नामक एक ग्रन्थ है। यह काशी में १५८८ ईसवी (१६४४ विक्रमी) में बना है। इनके कर्त्ता वैद्य कल्याण का मूल स्थान गुजरात था। ये प्रश्नोरा ब्राह्मण थे। तीसरा ग्रन्थ रावणकृत 'कुमारतंत्र' है, जिसका समय ज्ञात नहीं है। यह ग्रन्थ भाषाटीका के साथ खेमराज श्रीकृष्णदास के यहाँ बम्बई में छपा है।

स्त्री-विलास

सोलहवीं शती के अन्त में या सत्रहवीं शती के अन्दर गुजरात के श्रीगौड जाति के वैद्य देवेश्वर ने स्त्री-विलास नाम का एक ग्रन्थ लिखा था, इसमें स्त्री-रोग-चिकित्सा का वर्णन है।
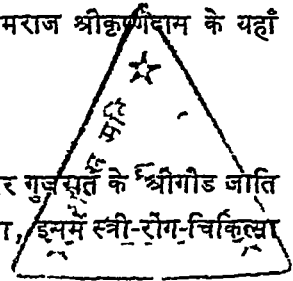
काश्यप संहिता

इस नाम से विष-चिकित्सा सम्बन्धी एक ग्रन्थ १९३३ में मैसूर में छपा है, इसका समय निश्चत नही।

भावप्रकाश

शार्ङ्गधर, वगसेन और वृहद्योग तरंगिणी के पीछे भावप्रकाश ही हेतु-लिंग-औषध रूप में सम्पूर्ण चिकित्सा का ग्रन्थ है। लघुत्रयी में इसका स्थान होने से इसका प्रचार भी बहुत हुआ। भावप्रकाश के कर्त्ता भावमिश्रने अपने पिता का नाम श्री मिश्र-लटकतनय कहा है। इससे अधिक अपना परिचय नही दिया। जोली इसको बनारस का रहनेवाला बताते हैं (जोली मेडिसिन पृ० २)। श्री गणनाथ सेन इसे कान्य-कुब्ज (कन्नौज) का कहते हैं। भाव प्रकाश में फिरंग रोग, चोपचीनी, शीतला आदि का उल्लेख मिलता है। फिरंगी-पोर्चगीज इस देश में पन्द्रहवी शती में आये अवश्य, परन्तु उत्तर भारत से इनका सम्बन्ध सोलहवीं शती में हुआ, जब इन्होंने बंगाल में व्यापार करना प्रारम्भ किया। व्यापार के सम्बन्ध मे इनका भारतीयो के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध हुआ। जिसके कारण यहाँ जो नया रोग उत्पन्न हुआ, उसका नाम

भावमिश्र ने फिरंग रखा। इसलिए इनका समय सोलहवी शती से पहले नही आता। जोली का कहना है कि टुवीन्जन में भावप्रकाश की एक प्रति १५५८ ईसवी की है, इसलिए इससे पीछे का यह नही।

भावमिश्र ने शारीर वर्णन सुश्रुत-चरक में से गतानुगतिक रूप से उद्धृत किया है (प्रत्यक्ष शारीर)। चरक शब्द के अर्थ में मिथ्यावाद इसी से प्रारम्भ हुआ है; जिसमें इनको शेषनाग का अवतार बताकर भ्रम उत्पन्न किया गया है।[1]

वाग्भट के पीछे बने सर्वांग-चिकित्सावाले ग्रन्थो में योगतरगिणी (बृहत्) के बाद यही आता है। शल्य-शालाक्य की विवेचना में उसका ज्ञान बहुत ही सक्षिप्त है। नये प्रचलित योगो का सार लिखा गया है। चोपचीनी का फिरंग रोग में उल्लेख भावमिश्र ने ही किया है। लोक में प्रसिद्ध शीतला का वर्णन इसी ने किया है। शीतलास्तोत्र इन्ही का प्रथम आविष्कार है अथवा कही से उद्धृत किया है, यह पता नही। इतना ठीक है कि उस समय के विचारो का प्रतिबिम्ब इस ग्रन्थ में पूर्णरूप से मिलता है। आम्रपाक, मदनमजरी वटी आदि नये योग भी इसमें हैं।

भावप्रकाश के पूर्व खण्ड, मध्यम खण्ड और उत्तर खण्ड ये तीन खण्ड है। उत्तर खण्ड बिलकुल छोटा है। पूर्व खण्ड और मध्यम खण्ड प्रथम भाग और द्वितीय भागो में विभक्त है। प्रथम खण्ड में अश्विनीकुमार और आयुर्वेद के आचार्यों की उत्पत्ति से प्रारम्भ करके सृष्टिक्रम, गर्भ प्रकरण, दोष और धातु वर्णन, दिनचर्या, ऋतुचर्या आदि विषय देकर पीछे निघण्टु दिया है। इसमें प्रतिनिधि द्रव्यो का भी उल्लेख है। पक्वान्न का भी उल्लेख इसमें है। निघण्टु क्रम राजनिघण्टु आदि के अनुसार ही है। पूर्व खण्ड के दूसरे भाग में मान परिभाषा, धातुओ का जारण-मारण, पच कर्म विधि है। मध्यम खण्ड में ज्वर आदि रोगो की चिकित्सा है। इस चिकित्साक्रम में शोढल की भाँति शल्य-शालाक्यादि क्रम नही अपनाया। अन्तिम उत्तर खण्ड में वाजीकरण अधिकार है। इस प्रकार से अपने समय की चिकित्सा पद्धति का अनुसरण किया गया

---

१ चरक एक प्रकार के शिष्य होते थे, जो कि गुरु के पास अपना अध्ययन समाप्त करके देश-देशान्तरो में घूमकर ज्ञान प्राप्त करते थे (जैसे पाणिनि)। पाणिनि ने 'माणवचरकाभ्यां खञ्' (५।१।११) सूत्र में माणव के साथ चरक का उल्लेख किया है। वैशम्पायन का नाम भी चरक पड़ गया था। एक स्थान से दूसरे स्थान पर ज्ञान प्राप्त करने या देनेवालों के लिए चरक शब्द था (फारसी में चरक व्रण को कहते हैं)।

है। मुसलमानो के तीन सौ वर्ष के शासन में भी प्रचलित यूनानी वैद्यक के वैद्यो की आँखो के सामने होने पर भी उसका असर इन पर नही हुआ। सका सवूत यह भावप्रकाश है। दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि हममें उदारता की कमी रही और हमने दूसरो से कुछ भी सीखा नही, अपने तक ही सीमित रहे।

भावमिश्र की वनायी 'गुणरत्नमाला' नाम की हस्तलिखित एक पुस्तक इडिया आफिस के पुस्तकालय में है, ऐसा जोली का कहना है (जोली मेडिसिन पृ ३)।

टोडरानन्द

सोलहवी शती का दूसरा ग्रन्थ टोडरानन्द है, इसे मकवर के मत्री टोडरमल का लिखा कहा जाता है। अकवरी दरवार में टोडरमल की विद्वत्ता के सम्वन्ध में लिखा गया है—"इनकी विद्या सम्वन्धी योग्यता केवल इतनी ही जान पडती है कि अपने दफ्तर के लेख आदि भली भाँति पढ-लिख लेते थे। लेकिन इनकी तवीयत नियम आदि वनाने और सिद्धान्त निश्चित करने में इतनी अच्छी थी कि उसकी प्रशसा नही हो सकती।" (भाग ३, पृष्ठ १३९)

इसी में आगे चलकर लिखा है कि "राजा साहव ने हिसाव-किताव के सम्वन्ध में एक छोटी-सी पुस्तक लिखी थी। उसी के गुर याद करके वनिये और महाजन दुकानो में और देशी हिसाव जाननेवाले घरो और दफ्तरो के कामो में वडे-वडे अद्भुत कार्य करते है।" (भाग ३, पृष्ठ १४२)

इससे अनुमान होता है कि इनके आश्रित या प्रशसक किसी विद्वान् ने इनके नाम से यह पुस्तक लिख दी है। टोडरमल खत्री थे। इनका जन्म पजाव में हुआ था। एशिया सोसायटी के अनुसार इनका जन्म-स्थान अवध प्रान्त का लहरपुर नामक स्थान है। विधवा माता ने अपने इस होनहार पुत्र को वहुत ही दरिद्रता की अवस्था में पाला था।

योगचिन्तामणि

सोलहवी अथवा सत्रहवी शताब्दी में जैन हर्षकीर्त्ति सूरि का लिखा योगचिन्तामणि ग्रन्थ है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति १६६६ की प्राप्त हुई है (जोली मेडिसिन पृ० ३)। इसमें फिरग रोग का वर्णन है, इस दृष्टि से यह भावप्रकाश के पीछे वना प्रतीत होता है।

वैद्यजीवन

सत्रहवी शताब्दी में वना, सक्षिप्त परन्तु चमत्कारमय सुन्दर काव्य वैद्यजीवन है। इसके लेखक कवि लोलिम्वराज है। यह ग्रन्थ सक्षिप्त तथा सुन्दर, मनोहर-ललित

भाषा में लिखा होने से लोक में बहुत प्रिय हुआ है। इसकी बहुत-सी टीकाएँ हुई हैं, अनेक भाषाओं में अनुवाद किये गये हैं। इसकी एक हस्तलिखित प्रति १६०८ ईसवी की मिली है। लोलिम्बराज के पिता का नाम दिवाकर भट्ट था। लोलिम्बराज ने वैद्यावतंस नाम का एक दूसरा ग्रन्थ भी लिखा है।

वाग्भट के समय जो छंदालंकार-प्रियता हमको मिलती है, उसी की झलक इतने सालों पीछे सोलहवीं शती में वैद्यजीवन में मिलती है। लोलिम्बराज ने ग्रन्थ के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है—

'गदभञ्जनाय चतुरैश्चरकाद्यैर्मुनिभिर्नृणा करुणया यत्कथितम्।
अखिलं लिखामि खलु तस्य स्वकपोलकल्पितमिहास्ति न किञ्चित् ॥'

लोलिम्बराज की कविता शृङ्गार रसप्रधान है—

'पित्तज्वरे किं रसफाण्टलेपैः किं वा कषायैरमृतेन किं वा।
पेयं प्रियाया मुखमेकमेव लोलिम्बराजेन सदानुभूतम् ॥'

ग्रन्थकर्त्ता की काव्यरचना-चातुरी के लिए निम्न पद्य पर्याप्त है—

'भिन्दन्ति के कुञ्जरकर्णपालिं किमव्ययं व्यथित रते नवोढा।
सम्बोधनं किं नु. रक्तपित्तं निहन्ति वामोरु वद त्वमेव ॥'

"सिंहा, न-न, सिंहानन"—अडूसा रक्तपित्त को शान्त करता है। वैद्यजीवन में अपनी पत्नी को सम्बोधन करते हुए कवि ने बहुत-से योग कहे हैं।

वैद्यजीवन के सिवाय सत्रहवीं शती में अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। उदाहरण के लिए जगन्नाथ का योगसंग्रह १६१६ में, सुखबोध १६४५ मे, कवि चन्द्र का चिकित्सा-रत्नावलि १६६१ ई० में, रघुनाथ पण्डित का वैद्यविलास १६९७ ई० में और विद्यापति का वैद्यरहस्य १६९८ ई० में लिखा गया है।

चिन्तामणि वैद्य का प्रयोगामृत और नारायण का वैद्यामृत अठारहवीं शती में लिखे गये हैं (जोली)। इसी शताब्दी में माधव ने आयुर्वेदप्रकाश नामक रस-ग्रन्थ की रचना की है। माधव ने भावप्रकाश का उल्लेख किया है। इसकी हस्तलिखित प्रति इण्डिया आफिस में है, जिसका समय १७८६ विक्रमी (१७१३ ईसवी) है।

माधव के नाम से पाकावली नाम का एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। गोंडल के ठाकुर साहब द्वारा लिखित इतिहास में जय कवि के लिखे ज्वरपराजय काव्य का उल्लेख है, इसका समय १७९४ ईसवी है।

योगरत्नाकर

वैद्यों में अतिशय बरता जानेवाला ग्रन्थ योगरत्नाकर भी अठारहवीं शती का बना

हुआ है। योगरत्नाकर का प्रचार तथा इसकी औषधियाँ महाराष्ट्र में अविक वरती जाती है। इसके ग्रन्थकर्त्ता का नाम ज्ञात नही, परन्तु इसकी एक हस्तलिखित प्रति १६६८ शकाब्द की आनन्दाश्रम के पास है। इसलिए १७४६ ई० से पूर्व यह ग्रन्थ लिखा जा चुका है, इसमें सन्देह नही है।

योगरत्नाकर मे चोपचीनी का नाम तथा इससे वननेवाली औषवियाँ भाव-प्रकाश ने अविक आयी हैं। चोपचीनी पाक, चोपचीनी चूर्ण इसमें है (उपदंश चिकित्सा)। फिरगरोग-निदान जो भावप्रकाश में आता है, वह इसमें नहीं, परन्तु लिगार्श, लिगवर्ति रोगो का उल्लेख है।

इसमें विरोजा ('कम्पिल्लक विरोजा सिन्दूर सोरक तथा'—उपदशचिकित्सा), कवाव चीनी के लिए कवाव (कवाव गौरी गद तुल्य वीज'—कुष्ठरोगचिकित्सा) नाम आये हैं, जो वहुत आधुनिक एव यूनानी नाम हैं। तम्वाकू के गुण-दोष इसमें वर्णित हैं। सम्भवत यह पहला ग्रन्थ है, जिसमें तम्वाकू के नाम और हुक्के का उल्लेख है। हुक्के के लिए धूमयत्र प्रकाशक शब्द आया है। तम्वाकू को दाँत की पीडा का शामक कहा गया है ('दन्तरुक्शमन चैव कृमिकण्डूविनाशनम्')। इसके लिए लिखा है—

'मदपित्तभ्रमकरं वमनं रेचन स्मृतम्।
दृष्टिमान्द्यकर चैव तीक्ष्णशुक्रकर तथा॥
तस्यैव धूमपानं तु विशेषाद्हृदि शुक्रहृत्।
वमनस्य प्रभावेण वृश्चिकादिविषं हरेत्॥'

आयुर्वेदोक्त कामकला का वर्णन तथा इस विषय का उल्लेख इस ग्रन्थ में विस्तार से दिया गया है। इस विषय में विस्तार से लिखनेवाला यही प्रथम ग्रन्थ है। इसमें रायपुरी शर्करा का उल्लेख है, सम्भवत यह शर्करा रायपुर (सम्भवत मध्य भारत का रायपुर हो) में वनती होगी (आज भी कालपी मिश्री, मुलतानी मिश्री नाम से वढिया मिश्री मोटी साफ मिश्री मिलती है)।[1] इसमें कूट श्लोक भी आते हैं—

'पानीयं पानीयं शरदि वसन्ते पानीयम्।
नादेयं नादेयं शरदि वसन्ते नादेयम्॥'

शरद् ऋतु में पानी पीना चाहिए, वसन्त में पानी कम पीना चाहिए। शरद् ऋतु में नदी का जल पीने योग्य नही होता ऐसी वात नही, अपितु पीने योग्य होता है,

---

१ इसी से मैं अनुमान करता हूँ कि लेखक विदर्भ का रहनेवाला है। महाराष्ट्र में इसका प्रचार इस अनुमान की पुष्टि करता है।

वसन्त ऋतु में नदी का जल नही पीना चाहिए। इसमें नये रस भी आते है। यथा—सुवर्णभूपति रस राजयक्ष्मा रोग के लिए कहा गया है, इस योग का महाराष्ट्र में वहुत प्रचार है।

योगरत्नाकर, वृहद्योगतरगिणी की भाँति का एक सग्रह ग्रन्थ है। इसमें चक्रपाणि के द्रव्यगुणसग्रह का प्रसिद्ध श्लोक शाकों के सम्वन्ध में उद्धृत है ('शाकेपु सर्वेपु वसन्ति रोगा सहेतवो देहविनाशनाय। तस्माद् वुध शाकविवर्जन हि कुर्यात्तथाम्लेपु स नैव दोप ॥')। इससे स्पष्ट है कि द्रव्यगुणसग्रह को ग्रन्थकर्त्ता ने देखा है।

योगरत्नाकर का क्रम प्राय वृहद्योगतरगिणी के समान है, उसी के अनुसार रोगपरीक्षा, द्रव्यगुण, निघण्टु और रोग वर्णन है। यह वर्णन उसकी अपेक्षा विस्तृत है। इसमें भी अन्य ग्रन्थो से उद्धृत पाठ तथा योग आये है। स्थान-स्थान पर लेखक ने नाम निर्देश भी किया है। वैद्यजीवन के शृगार की झलक भी इसमें मिलती है ('सार भोजनसार सार सारङ्गलोचनावरत । पिव खलु वार वार नो चेन्मुधा भवति ससार ॥')। भरता—जो कि वैगन को आग मे भूनकर फिर छीलकर सिल पर पीसकर वनाया जाता है, इस व्यजनविशेप का भी उल्लेख है ('लवणमरिचचूर्णे-नाऽऽवृत रामठाढ्य दहनवदनपक्व निम्वुतोयेन युक्तम्। हरति पवनसघ श्लेष्महन्तृ प्रसिद्ध जठरभरणयोग्य चारुभोज्य भरित्यम् ॥')। इस प्रकार से नये-नये व्यजनो का उल्लेख भी इसमें मिलता है।

ज्वर चिकित्सा में विदेह, वाग्भट, वृद्ध वाग्भट (अप्टागसग्रह के लिए), चक्रदत्त के नामो का उल्लेख स्पष्ट मिलता है (वृहद्योगतरगिणी में वृन्द का नाम है, चक्रपाणि का नाम नही है)। योगरत्नाकर में रोगो की पथ्यापथ्य विधि दी गयी है। इससे पहले ग्रन्थो मे पथ्यापथ्य सम्वन्धी विचार नही हुआ है। इसी से कर्त्ता ने कहा है—("आलोक्य वैद्यतन्त्राणि यत्नादेप निवध्यते। व्याधिताना चिकित्सार्थ पथ्यापथ्य-विनिश्चिय ॥ निदानौपधपथ्यानि त्रीणि यत्नेन चिन्तयेत्। तेनैव रोगा शीर्यन्ते शुष्के नीर इवाङ्कुरा ॥")। इस समय तक के सग्रह-ग्रन्थो में यही ग्रन्थ अन्तिम और प्रामाणिक है, ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नही।

तेरहवी शताव्दी से प्रारम्भ करके अठारहवी शताव्दी तक वने ग्रन्थो का सक्षिप्त उल्लेख आ गया है। इससे इन छ सौ वर्षो में वने आयुर्वेद ग्रन्थो का सामान्य परिचय मिल जाता है। इस समय में जो भी प्रसिद्ध ग्रन्थ वने, वे प्राय सग्रह-ग्रन्थ है और इनमें से कोई भी अकेला ग्रन्थ चिकित्सा का ज्ञान करा सकता है। इनमें हेतु, लिंग और औपध

रूप से चिकित्सा कही गयी है। इसी समय योगसग्रह-ग्रन्थ बने, जिनसे चिकित्सा सरल हो गयी, एव बहुत-सी पुस्तको की जरूरत कम हो गयी।

इस समय के सब ग्रन्थो का उल्लेख यहाँ नही हुआ, क्योकि बहुत-से ग्रन्थ नष्ट हो गये हैं और बहुत-से अभी अप्रकाशित हैं। बहुतो का नामोल्लेख भी अभी सूचियो में नही आया। जोली या दूसरे लेखको ने तिथिक्रम से पुस्तको का जो उल्लेख किया है, उसी के आधार पर यहाँ लिखा गया है। इसमें जो प्रकाशित एव अप्रकाशित ग्रन्थ नही आये, उनका उल्लेख यहाँ पर किया गया है। उसमें कुछ ग्रन्थ आधुनिक भी हैं, परन्तु इनकी रचना पुराने ढग की है।[1]

प्रकीर्ण ग्रन्थ

अजननिदान—अजनाचार्य कृत रोगविनिश्चय विपयक सक्षिप्त ग्रन्थ है। इसको खेमराज श्रीकृष्णदास ने बम्बई से प्रकाशित किया है। श्री राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा तथा निर्णयसागर प्रेस में शार्ङ्गधरसहिता मूल के साथ प्रकाशित है। अजननिदान का कर्त्ता अग्निवेश को कहा है। यह अग्निवेश आत्रेय के शिष्य अग्निवेश से भिन्न है। इसमे सुश्रुत तथा माधवनिदान के पाठ आये हैं।

अभ्रककल्प—इसका उल्लेख गोडल ठाकुर साहब के लिखे इतिहास मे है।

अजीर्णामृतमजरी—काशिराज कृत निघण्टुरत्नाकर की दूसरी आवृत्ति के प्रथम भाग में प्रकाशित हुई है।

अनुपानतरगिणी—गुजराती भापा के साथ महादेव रामचन्द्र जागुष्टे ने प्रकाशित की है।

अनुपानदर्पण—भापा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

आयुर्वेद-सुषेणसहिता—भापा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

अर्कप्रकाश—रावण कृत, भापा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

आरोग्यचिन्तामणि—पण्डित दामोदर कृत।

कल्याणकारक—उग्रादित्य रचित, १९४० में सोलापुर से प्रकाशित।

---

१ ग्रन्थो की सूची श्री दुर्गाशकर केवलराम जी शास्त्री के 'आयुर्वेद का इतिहास' गुजराती से ली गयी है। शास्त्री जी ने यह सूची रसयोगसागर में दी पुस्तको की सूची, गोडल के ठाकुर साहब के इतिहास में दी हुई तथा वनौषधिदर्पण के आधार पर तैयार की है।

कामरत्न—कर्त्ता का नाम रसयोगसागर में नही है। वेंकटेश्वर प्रेस में छपा है, इसमें कर्त्ता का नाम योगेश्वर नित्यनाथ है।

कालज्ञान—भाषा टीका के साथ, वेकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

कूट मुद्गर—माधव का बनाया सक्षिप्त चिकित्सा ग्रन्थ है। वेकटेश्वर प्रेस मे भाषा टीका के साथ छपा है।

गोरक्षसहिता—इसके कर्त्ता गोरखनाथ हैं, अप्रकाशित।

गौरीकाचलिका—चिकित्सा ग्रन्थ, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित। इसमें मत्र-तत्र, ज्योतिष और चिकित्सा है।

चमत्कारचिन्तामणि—गोविन्दराज कृत—गोडल के इतिहास में इसका नाम है।

चिकित्साकर्म-कल्पवल्ली—काशीराम चतुर्वेदी सकलित, वेकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

चिकित्सांजन—वन्द्योपाध्याय कृत, अप्रकाशित।

चिकित्सारत्नाभरण—सदानन्द दाधीच विरचित।

चिकित्सारहस्यम्—हारीत मुनि विरचित।

चिकित्सासार—गोपालदास कृत, अप्रकाशित।

द्रव्यगुणशतक—त्रिमल्ल भट्ट कृत, वेकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

धात्री मजरी—कर्त्ता का नाम अज्ञात है। गोडल के इतिहास में है।

नरपतिजयचर्या—सवत् १२३२ में धारा के आम्रदेव के पुत्र नरपति द्वारा अणहिलवाडा में लिखा ग्रन्थ है। यह शकुनशास्त्र का ग्रन्थ है। सस्कृत टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस में छपा है।

नामसागर—इन्द्रदेव का बनाया, अप्रकाशित।

नारायणविलास—नारायण भूपति का बनाया हुआ।

पथ्यापथ्य—महामहोपाध्याय विश्वनाथ कविराज कृत, भाषा टीका के साथ छपा है। ये उडीसा के महाराज प्रतापरुद्र गजपति के चिकित्सक थे।

पथ्यापथ्यनिघण्टु—कवि श्रीमुख कृत, गोडल के इतिहास में इसका उल्लेख है।

परिभाषावृत्तिप्रदीप—गोविन्दसेन कृत।

पारदयोगशास्त्र—शिवराम योगीन्द्र कृत।

प्रयोगचिन्तामणि—राममाणिक्य सेन विरचित, कलकत्ता से प्रकाशित। गोडल के इतिहास में इसका लेखक माधव लिखा है।

प्रयोगसार—गोडल के इतिहास में नाम है, कर्त्ता का नाम नही है।

रसकौमुदी—माधव विरचित।

रसज्ञानम्—ज्ञानज्योति विरचित।

रसचडांशु—दत्तात्रेय सगृहीत, प्रकाशित।

रसचिन्तामणि—अनन्तदेव विरचित, भाषा टीका के साथ वेकटेश्वर प्रेस में छपा।

रसलरगमालिका—जनार्दन भट्ट कृत।

रसपारिजात–वैद्य शिरोमणि कृत, रस योग सागर में नाम नही लिखा।

रसप्रदीप—प्राणनाथ वैद्य रचित। गोडल के इतिहास में कर्त्ता का नाम वीसलदेव और सवत् १४८३ लिखा है। भाषा टीका के साथ वेकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

रसबोधचन्द्रोदय–कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित।

रसमंजरी—शालिनाथ विरचित, भाषा टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित।

रसरत्नकौमुदी—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित।

रसरत्नप्रदीप—रामराज विरचित, श्री भानुदत्त विद्यालकार ने लाहौर से प्रकाशित किया है।

रसरत्नमणिमाला—वैद्य बाबाभाई अचलजी सगृहीत, अप्रकाशित।

रसराजशंकर—रामकृष्ण विरचित।

रसराजशिरोमणि—परशुराम विरचित।

रसराजसुन्दर—दत्तराम सगृहीत, प्रकाशित।

रससग्रहसिद्धान्त—गोविन्दराम विरचित।

रससारसग्रह—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित।

रसाध्याय—काशी सस्कृत सीरीज़ में १९३० में छपा।

रसामृत—वैद्येन्द्र पण्डित कृत, १४९५ में बना।

रसायनपरीक्षा—कर्त्ता अज्ञात, अप्रकाशित।

रसालंकार—भट्ट रामेश्वर विरचित, अमुद्रित।

रसावतार–माणिक्यचन्द्र जैन विरचित, वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य के पास है।

रसायनप्रकरण—मेरुतुग नाम के जैन साधु ने १३८७ ईसवी में बनाया।

रसायनकल्पद्रुम—रामकृष्ण भट्ट विरचित।

रसेन्द्ररत्नकोश—देवेन्द्र उपाध्याय विरचित।

रामविनोद—पद्मरग कृत, रसग्रन्थ।

रोगनिदान—धन्वन्तरि कृत, अप्रकाशित।

लोहपद्धति—सुरेश्वर विरचित, आयुर्वेद ग्रन्थमाला में प्रकाशित।

वाणीकरी—वाणीक विरचित ।

विषोद्धार—ग्रन्थकार अज्ञात, अप्रकाशित, विविध विष-विषयक ग्रन्थ ।

वैद्यकल्पद्रुम—रघुनाथप्रसाद कृत, प्रकाशित ।

वैद्यकौस्तुभ—श्री मेवाराम विरचित, १९२८ में प्रकाशित हुआ है ।

वैद्यचिन्तामणि—कर्त्ता अज्ञात ।

वैद्यचिन्तामणि—वैद्य चिन्तामणि (लघु)—दोनो का कर्त्ता अज्ञात ।

वैद्यदर्पण—कल्याण भट्ट के पुत्र प्राणनाथ वैद्य द्वारा वनाया गया, अप्रकाशित ।

वैद्यरत्न—केदारभट्ट सगृहीत, वेकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित ।

वैद्यवल्लभ—हस्तिरुचि कृत भाषा टीका के साथ वेकटेश्वर प्रेस में छपा है, १६७० ईसवी मे लिखा गया, कर्त्ता का नाम गोडल के इतिहास में इतिहाससूरि है ।

वैद्यवृन्द—नारायण कृत, अप्रकाशित ।

वैद्योत्तस—श्री राजसुन्दर वैद्य विरचित, सीलोन मे छपा है ।

शतयोग—कर्त्ता अज्ञात ।

सर्वविजयी तत्र—कर्त्ता अज्ञात ।

सिद्धान्तमजरी—अप्रकाशित, वनौषधिदर्पण की उपक्रमणिका में इसका कर्त्ता वोपदेव लिखा है ।

सूतप्रदीपिका—कर्त्ता अज्ञात ।

हसराजनिदान—हसराज कृत भाषा टीका सहित, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित ।

हरिताल कल्प—

हितोपदेश—जैनाचार्य श्री कठसूरि विरचित, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित ।

हितोपदेश—परमेश्वराचार्य श्री कण्ठशिव पण्डित विरचित, अप्रकाशित ।

(इनके सिवाय) काकचण्डीश्वर तत्र, बालतत्र—शिशु चिकित्सा ग्रन्थ, महीधर-पुत्र कल्याण वैद्य कृत, श्री वेकटेश्वर प्रेस में छपा । योगतरगिणी—श्री मल्लभट्ट कृत चिकित्सा ग्रन्थ । नाडीप्रकाश—शकर सेन कृत, प्रकाशित । नाडीपरीक्षा चिकित्सा कथन—सजीवेश्वर शर्मा के पुत्र रत्नपाणि शर्मा कृत, नाडीविज्ञान और चिकित्सा ग्रन्थ, अप्रकाशित । रसेन्द्रकल्पद्रुम—द्रविड देशवासी वैदिक ब्राह्मण नीलकान्त भट्ट के पुत्र महामहोपाध्याय रामकृष्ण भट्ट विरचित । वैद्यरहस्य—वशीधर के पुत्र विद्यापति प्रणीत चिकित्सा ग्रन्थ, वेंकटेश्वर प्रेस में मुद्रित । शरीरनिश्चयाधिकार—गर्भावस्था में स्त्री को किस प्रकार का आहार-विहार करना चाहिए, इसका उल्लेख है । इसके कर्त्ता भवानीप्रसाद के शिष्य रामदास है, अप्रकाशित ।

शतश्लोकी—वोपदेव कृत चूर्ण, गुटिका, लोह, घृत, तेल एव क्वाथ विषयक वात-श्लेष्मकमय ग्रथ—यह वेंकटेश्वर प्रेस में छपा है। क्षेमकुतूहल—कृष्णशर्मा कृत चिकित्सा ग्रन्थ—आयुर्वेद ग्रन्थमाला में प्रकाशित। साध्यरोग रत्नावली—श्यामलाल कृत चिकित्सा ग्रन्थ। वालचिकित्सापटल—ग्रन्थकार का पता नही, अप्रकाशित। सारसग्रह—चक्रपाणि कृत चिकित्सा ग्रन्थ, अप्रकाशित। निवन्ध, सग्रह—वैद्यक पारिभाषिक शव्दार्थ विषयक ग्रन्थ, कर्त्ता का नाम अज्ञात, अप्रकाशित। वैद्यामृतलहरी—मथुरानाथ शुक्ल कृत, ज्वर चिकित्सा विषयक। उपवनविनोदन—शार्ङ्गधर कृत चिकित्सा ग्रन्थ, अप्रकाशित। सन्निपातमंजरी—भवदेव कृत चिकित्सा ग्रन्थ, अप्रकाशित। रससकेतकलिका—चामुण्डा कृत। रससारामृत—रामसेन कृत रस ग्रन्थ, अप्रकाशित। गूढवोधक—हेरम्व सेन कृत, कुछ रोगो के लक्षण और चिकित्सा लिखी है, अप्रकाशित। रसरत्नाकर—नित्यनाथ विरचित, बृहत् रस ग्रन्थ। वैद्यामृत—नारायण कृत रस ग्रन्थ। वैद्यकल्पद्रुम—शुकदेव कृत चिकित्सा ग्रन्थ, वेंकटेश्वर प्रेस में छपा। वैद्यमन उत्सव, वैद्यसजीवनी—वम्वई से प्रकाशित। प्रयोगचिन्तामणि—राममाणिक्य सेन विरचित, चिकित्सासग्रह, कलकत्ता से प्रकाशित। रसराजलक्ष्मी—वुक्कदेव राजा के राज्यवैद्य, सायणाचार्य के समकालीन विष्णुदेव पण्डित के पुत्र रामेश्वर भट्ट कृत।

तिथिक्रम से इस काल के प्रसिद्ध ग्रन्थकर्त्ता[1]

१३वीं शताव्दी में—

गोपालकृष्ण भट्ट—रसेन्द्रसारसग्रह के कर्ता।

डल्हणाचार्य—सुश्रुत पर निवन्धसग्रहटीका के लेखक।

नारायण भट्ट—कण्ठप्रकाश और वैद्यचिन्तामणि के कर्त्ता, श्रीकण्ठ कृत कुसुमवल्ली पर भी इन्होने टिप्पणी लिखी थी।

शार्ङ्गधर—शार्ङ्गधरसहिता के लेखक।

१३वीं–१४वीं शताव्दी में—

वोपदेव—केशव भिषक् के पुत्र, मुग्धवोध व्याकरण के कर्त्ता, इन्होने वैद्यक-शास्त्र पर वहुत से ग्रन्थ लिखे थे।

महादेव पण्डित—हिकमतप्रकाश कृत, हाकिमि चिकित्साकार।

---

१ श्री गुरुपद हालदार शर्मा वी० एल० लिखित 'वृद्धत्रयी' से सकलित।

वाग्भट चतुर्थ—शब्दार्थचन्द्रिका गुप पाठ।

वाचस्पति वैद्य—आतंकदर्पण नामक निदान टीका कर्ता।

विश्वनाथ कविराज—पथ्यापथ्य निघण्टु तथा अलकार में साहित्यदर्पण के कर्ता।

नित्यनाथ या सिद्धनाथ—रसरत्नाकर, रसरत्नमाला, कामरत्न, योगसार के कर्त्ता।

आशाधर—अष्टागहृदय के टीकाकार।

त्रिविक्रमदेव भट्ट—लौहप्रदीप-कारक।

नरहरि पण्डित—राजनिघण्टु नामक वैद्यक कोष कार।

शार्ङ्गधर द्वितीय—वैद्यवल्लभ, ज्वरत्रिशती के कर्त्ता।

हेमाद्रि—अष्टागहृदय पर आयुर्वेद रसायन टीका लिखी।

१४वीं शताब्दी—

काशीनाथ द्विवेदी—रसकल्पलता, चिकित्साक्रमवल्ली, अजीर्णमजरी, शार्ङ्गधर-संहिता के ऊपर गूढार्थदीपिका टीका इन्होंने लिखी।

जयदेव कविराज—रसकल्पद्रुम, रसामृत के कर्ता।

विष्णुदेव पण्डित के पुत्र रामेश्वर भट्ट ने रसराजलक्ष्मी ग्रन्थ बनाया था।

वीरसिंह—वीरसिंहावलोकन ग्रन्थ, दुर्गाभक्तितरगिणी।

१४-१५वीं शताब्दी—

गगादास सूरि—वैद्यसारसग्रह के कर्त्ता, गोपालदास के पुत्र, कृष्णदास के भाई।

गोविन्दाचार्य—रससार, सन्निपातमजरी के कर्त्ता।

नारायणदास कविराज—चिकित्सापरिभाषा, वैद्यवल्लभ के ऊपर सिद्धान्त-सचय तथा ज्वरत्रिशती नामक दो टीकाओं के कर्त्ता।

मदनपाल—मदनपाल निघण्टु के कर्त्ता, सगीत-शास्त्र में आनन्दसजीवन ग्रन्थ भी लिखा है।

माधवाचार्य (द्वितीय)—सर्वदर्शनसग्रह के प्रणेता, रसेश्वर दर्शन के कर्त्ता।

रुद्रधर भट्ट—सन्निपातकलिकाकृत्, शार्ङ्गधरसहिता के ऊपर गूढान्तदीपिका टीका इन्होंने लिखी (काशीनाथ की टीका का नाम गूढार्थदीपिका है)।

विश्वनाथ सेन—उत्कल के राजा गजपति प्रतापरुद्र के सभापण्डित, पथ्यापथ्य-विनिश्चय के लेखक तथा चक्रपाणि के सर्वसारसग्रह के ऊपर सारसग्रह नामक टीका के लेखक।

१५वीं शताब्दी—

खरे, चिन्तामणि शास्त्री—ने रसरत्नसमुच्चय की सरलार्थप्रकाशनी नामक टीका लिखी।

ढुण्ढुकनाथ—रसेन्द्रचिन्तामणि नामक रसशास्त्र के प्रणेता।

रामकृष्ण भट्ट—रसेन्द्रकल्पद्रुम के कर्त्ता और उसी की वैद्यरत्नाकर टीका लिखनेवाले। यह सम्भावना है कि शृङ्गाररसोदय के प्रणेता रामकवि इनके पुत्र थे।

रामराजा या रामराय—विजयनगर के राजा सदाशिव से इसने सिंहासन लिया था। वैद्यकशास्त्र के रसरत्नप्रदीप, रसदीपिका और नाडीपरीक्षा नामक ग्रन्थ लिखे थे,

हेमाद्रि—ईश्वर सूरि के पुत्र, इन्होंने १४६८ ईसवी में लक्ष्मणप्रकाश नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें आयुर्वेद के प्रवर्त्तक वहुत से मुनियो के नाम थे।

१५वीं १६वीं शताब्दी—

मथनसिंह—माल भूमि के राजवैद्य, इन्होंने रसनक्षत्रमालिका नाम का रस-ग्रन्थ लिखा था, स्वच्छन्दभैरव रस की निर्माणपद्धति स्पष्ट की।

शिवदास सेन—मालविका के रहनेवाले, इनके वनाये वहुत से ग्रन्थ है, चरक-तत्त्वप्रदीपिका, अष्टागहृदय के ऊपर तत्त्ववोध टीका, चक्रदत्त के ऊपर तत्त्व-चन्द्रिका टीका, द्रव्यगुणसग्रह की द्रव्यगुणसग्रह टीका, चरक पर टीका।

१६वीं शताब्दी—

टोडरमल—टोडरानन्द के कर्त्ता, टोडरमल-अकवर के सचिव थे।

भावमिश्र—भावप्रकाश और गुणरत्नमाला के कर्त्ता।

रामकृष्ण वैद्यराज—राजा कनकसिंह के सभापण्डित। कनकसिंह-प्रकाशन नामक वैद्यक ग्रन्थ के प्रणेता।

रामचन्द्रदास गुह—रसचिन्तामणि या रसेन्द्रचिन्तामणि, रसरत्नाकर और रसपारिजात के प्रणेता। वगाल के आयुर्वेदजगत् में विशेष सम्मानित है। इनकी वहुत-सी टीकाएँ है। इनमें से १८वी शताब्दी में मीरजाफर के वैद्य रामसेन कवीन्द्रमणि की वनायी विशेष प्रशसनीय है। १३वी शताब्दी में गोपालकृष्ण भट्ट के वनाये रसेन्द्रसारसग्रह के समकक्ष रसेन्द्रचिन्तामणि है।

शुभचन्द्र—जीवक तत्र के प्रणेता—इसमें वुद्ध कालीन जीवक का चरित वर्णित है।

रामसेन कवीन्द्रमणि—मीर जाफर के राजवैद्य। इन्होंने गोपालकृष्ण भट्ट के बनाये रसेन्द्रसारसग्रह के ऊपर इसी नाम की टीका लिखी थी। रामचन्द्र गुह कृत रसेन्द्रचिन्तामणि के बहुत लोकप्रिय होने से इन्होंने उस पर भी अर्थबोधिका नाम की टीका लिखी थी।

देवदत्त—धातुरत्नमाला के प्रणेता।

१८वीं १९वी शताब्दी

गगाधर कविराज—इन्होंने चरक पर जल्पकल्पतरु टीका, योगरत्नावली, आग्नेय आयुर्वेदीय भाष्य आदि ग्रन्थ बनाये थे। १७९८ ईसवी मे यशोहर ग्राम मे उत्पन्न हुए और १८८५ मे इनकी मृत्यु हुई। प्रसिद्ध चिकित्सक थे, इनकी शिष्य-परम्परा बहुत बडी थी। इन शिष्यों में स्वामी लक्ष्मीरामजी जयपुर, श्री योगीन्द्रनाथ सेन कलकत्ता तथा श्री हारायणचन्द्र चक्रवर्त्ती कलकत्तावाले प्रसिद्ध है।

धनपति—दिव्यरसेन्द्रसार नामक रसग्रन्थ कर्ता।

नारायणदास वैद्य—प्रयोगामृत के कर्त्ता चिन्तामणि के गुरु। इन्होंने राजवल्लभ कृत द्रव्यगुण पर टीका की थी। मधुमती नामक नाना औषधवाला वैद्यक ग्रन्थ लिखा था।[1]

कवितावली में क्षयरोग और मृगाङ्क

तुलसीदासजी का काल सत्रहवी शती माना जाता है। इस समय तक रसयोगो का (पारा आदि का) उपयोग बहुत प्रचलित था। इसी प्रकार की मृगाङ्क औषध क्षयरोग के लिए आयुर्वेद में प्रसिद्ध है, यथा—

स्याद् रसेन सम हेम मौक्तिक द्विगुण तत·।
गन्धकञ्च सम तेन रसपादन्तु टकणम्॥
सर्वं तद्गालक कृत्वा काजिकेन च पेपयेत्।
भाण्डे लवणपूर्णाख्ये पचेद् यामचतुष्टयम्॥
मृगाङ्कसज्ञ. स ज्ञेयो रोगराजनिवृत्तन॥

—आयुर्वेदसग्रह, राजयक्ष्मारोगाधिकार।

---

१ इस सूची में श्री हालदार महोदय ने बगाल से सम्बन्धित कविराजो-वैद्यो का ही नाम मुख्यत दिया है। श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री जी ने गुजरात के वैद्यो की जानकारी अधिकतः दी है। शेष प्रान्तो में भी वैद्य थे, परन्तु उनके सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया।

मृगाङ्क से महामृगाङ्क, राजमृगाङ्क योग बनाये गये हैं। सम्भवत प्रथम मृगाङ्क ही प्रचलित होगा, पीछे इसमें वृद्धि करके ये दोनो योग बनाये हों। तुलसीदासजी ने भी रावण को राजरोग बताया है। इस रोग की औषधि देवता, सिद्ध, मुनिगण ने बहुत की, परन्तु कुछ लाभ नहीं हुआ। तब रस-वैद्य हनुमानजी ने लका के सोने और रत्नो को फूंककर मृगाङ्क बनाया—

रावनु सो राजरोगु बाढत विराट-उर,
दिनु दिनु विकल, सकल सुख रांक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर, सिद्ध, मुनि,
होत न विसोक, औत पावै न मनाक-सो॥
राम की रजाई तें रसाइनी समीर सुनु
उतरि पयोधि पार सोंधि सरवाक सो।
जातुधान-बुट पुटपाक लक जातरूप
रतन जतन जारि कियो है मृगाङ्क सो॥
(कवितावली, सुन्दरकाण्ड २५)

(इस सम्बन्ध की सूचना डाक्टर जगन्नाथ शर्मा, रीडर हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने दी है, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।)

दसवाँ अध्याय

दक्षिण भारत में आयुर्वेद

वसवराजीयम् और कल्याणकारकम्

अशोक की कलिंग और दक्षिण की विजय के पीछे उत्तर भारत का सम्बन्ध दक्षिण के साथ वाकाटक काल मे मिलता है। भारशिव साम्राज्य गगा-काँठे से नागपुर-वस्तर तक फैला हुआ था। भारशिव साम्राज्य की सव शक्ति धीरे-धीरे वाकाटको के हाथ में चली गयी थी। वाकाटक वश का आदि पुरुष विन्ध्यशक्ति था, जिसने २४८ से २८४ ई० तक राज्य किया। इसके उत्तराधिकारियो ने अव दक्षिण प्रान्त को जीतना प्रारम्भ किया। इस प्रकार से शातवाहन और आन्ध्र के इक्ष्वाकु राजवश का अन्त हुआ। वीरकूर्च्च उर्फ कुमार विष्णु नामक एक सरदार ने, जो नागसम्राट् का दामाद था, इस समय आन्ध्र देश जीता और तामिल देश पर चढाई कर काची को भी जीता (लगभग २५५-६५ ई०)। वीरकूर्च्च का वश पल्लव वश कहलाया। वाकाटक और पल्लव वश में घनिष्ठ सम्वन्ध दिखाई पडता है।

वीरकूर्च्च के वेटे शिवस्कन्द वर्मा ने काची पर अपना अधिकार दृढ किया (लगभग २८०-२९५ ई०)। इस पर भी तामिल राजाओ ने पल्लवो से अपना मुकावला जारी रखा। शिवस्कन्द वर्मा के पोते विजयस्कन्द वर्मा को काची फिर से जीतनी पडी (२९७-३३२ ई०)। दक्षिण-पूर्वी कर्णाटक में इस समय काण्व ब्राह्मणो का एक राजवश पल्लवो के सामन्त रूप में गग-वश नाम से स्थापित हुआ।

खास कर्णाटक में मयूर शर्मा नामक व्यक्ति ने पल्लवो और वाकाटको से स्वतत्र होकर अपना राज्य स्थापित किया (लगभग ३२५ ई०)। मयूर शर्मा कादम्व वश का था, और अपने को चुटु शातवाहनो का अधिकारी मानता था। उसने अपरान्त (कोकण) तक जीतना चाहा, परन्तु वाकाटको ने महाराष्ट्र और कोकण पर अपना अधिकार जमाये रखा और कादम्व राज्य कर्णाटक या कुन्तल में ही रहा।

इसी समय मगध मे भी नयी शक्ति उठ खडी हुई थी। २७७ ई० के करीव साकेत प्रदेश में गुप्त नामक एक राजा था। गुप्त का वेटा घटोत्कच हुआ। घटोत्कच का वेटा चन्द्रगुप्त था। चन्द्रगुप्त ने ३१९-२० में राज्य पाया। उसके वशजो ने तव से गुप्त सवत् का आरम्भ माना। इसका वेटा समुद्रगुप्त ३४० में गद्दी पर आया।

दिग्विजयी समुद्रगुप्त ने सम्राट् प्रवर सेन के मरते ही वाकाटक राज्य पर हमला किया। तीन-चार चढाइयो में वाकाटक राज्य को और एक चढाई में गुजरात-काठियावाड को जीतकर इसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। इसके पीछे इसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने दक्षिण पर चढाई की और उसके राजवश को सदा के लिए मिटा दिया (३९० ई०)।[1] विष्णुपद पहाड पर उसकी इन विजयो की याद में एक लोहे का स्तम्भ खडा किया गया, जिसे ११वीं शती में राजा अनगपाल दिल्ली उठवा ले आया था। वहाँ महरौली में उस लोहे की कीली पर उसकी कीर्त्ति अभी तक खुदी हुई है। इन विजयो के कारण उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की।

वाकाटक-नागवश के समय जिस प्रकार उत्तर भारत में साहित्य और कला का विस्तार हुआ, उसी प्रकार दक्षिण में भी कला का विकास हुआ। आन्ध्र देश में इक्ष्वाकु राजाओ के समय अमरावती स्तूप को और भी सुन्दर किया गया। नागार्जुनी कोण्डा स्तूप का मूर्त्ति-चित्रो से अलकृत जगला वना। महाराष्ट्र की अजन्ता पहाडी में, जिसमें पिछले मौर्यो, शातवाहनो के समय के दो-एक गुहामन्दिर थे, वाकाटक राजाओ के समय वैसे अनेक नये और विशाल मन्दिर काटे गये। अजन्ता गुहाओ की दीवारो पर गुप्त युग में और बाद में चित्र भी लिखे गये, जिनमें से कुछ अब तक मौजूद हैं।

द्रविड देश मे आयुर्वेद

दक्षिण में शकराचार्य, सायण, माधव-जैसे विद्वान्, भारवि, राजशेखर-जैसे कवि हुए। उसी प्रकार से आयुर्वेद का सिद्ध सम्प्रदाय वहाँ विकसित हुआ। इस सिद्ध सम्प्रदाय का प्रारम्भ अगस्त्य से माना जाता है। दक्षिण में सस्कृति का विस्तार करनेवाले अगस्त्य ऋषि माने जाते हैं। पौराणिक कथा के अनुसार वे विन्ध्याचल पर्वत की ऊँचाई को रोकने के लिए उससे अपने वापस आने तक न बढने का वचन लेकर दक्षिण में चले गये और तब से वही रह गये। वहाँ पर आत्रेय-सुश्रुत के सम्प्रदाय का कोई महत्त्व नही।

---

१ कालिदास ने रघुवश में रघु की दक्षिण विजय का जो वर्णन किया है वह चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही है। इसने वहाँ के राजाओ को जीतकर पुन उनका राज्य दे दिया था।

'दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्या रवेरपि।
तस्यामेव रघो पाण्ड्या प्रताप न विषेहिरे॥
ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासार महोदधे।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यश स्वमिव सचितम्॥' (रघु ४।५०-५१)

दक्षिण भारत की श्रुत-परम्परा के अनुसार अगस्त्य सम्प्रदाय का प्रथम महादेव ने पार्वती को उपदेश किया। इसके पीछे नन्दीश्वर को पार्वती ने, नन्दीश्वर ने धन्वन्तरि को, धन्वन्तरि ने अगस्त्य को उपदेश किया। अगस्त्य ने चुलस्त्य को, उसने तेरायर को उपदेश किया और उससे अठारह या बाईस सिद्धो को वैद्यक विद्या प्राप्त हुई। इस परम्परा मे अगस्त्य का उपदेशक धन्वन्तरि है, जो कि उत्तर भारत की परम्परा से मिलती है। इससे स्पष्ट है कि उत्तर भारत के सस्कार दक्षिण में भी पहुँचे है, इनको ले जानेवाला चाहे अगस्त्य हो या काल, जिसने दोनों का मेल कराया।

अठारह या बाईन सिद्धो के पीछे इनके दो भेद हो गये—(१) वड सम्प्रदाय और (२) तेन सम्प्रदाय। जिन सिद्धो ने सस्कृत भाषा मे ग्रन्थ बनाये अथवा सस्कृत ग्रन्थो का द्रविड भाषा में अनुवाद किया, उनको वड साम्प्रदायिक का कहते है और जिन्होने द्रविड भाषा में गन्थ लिखे है, उनको तेन साम्प्रदायिक कहते है।

अगस्त्य-सम्प्रदाय के गन्थो में मुख्यत रसकर्म का उपदेश है। इस रसकर्म में रसार्णव मे वर्णित प्रक्रिया से भेद है। फिर भी इसमें रसकर्म का प्राधान्य है। इसका प्रारम्भ सिद्धो से है, इसलिए इसे सिद्ध सम्प्रदाय कहते है। रसविद्या के प्रचार के साथ ही वहाँ पर अगस्त्य-सम्प्रदाय का प्रचार हुआ है। दक्षिण भारत का यह सिद्ध सम्प्रदाय उत्तर भारत के रस-सम्प्रदाय से प्रक्रिया तथा अन्य बातो में भिन्न है। इसमें उत्तर भारत से पृथक् नये योग मिलते है। 'वसवराजीयम्' ग्रन्थ में, जो कि चिकित्सा का ग्रन्थ है, बहुत-से नये योग दिये है। इसको सस्कृत मे नागपुर के वैद्य श्री गोवर्धन शर्मा छागाणी जी ने प्रकाशित किया है। इसमें कुछ पाठ कल्याणकारक से उद्धृत किये गये है।

नाडीपरीक्षा-विधि वृद्धत्रयी—चरक, सुश्रुत, अष्टागसग्रह में नहीं है। पिछले ग्रन्थो में यह कहाँ से आयी इसका उचित उत्तर नही मिलता। द्रविड भाषा के पुराने गिने जानेवाले ग्रन्थो मे नाडीज्ञान और मूत्रपरीक्षा-विधि दी हुई है, इसको देखने से यह सम्भावना की जा सकती है कि नाडीज्ञान दक्षिण से उत्तर में आया (अधिक सम्भावना यही है कि उत्तर में यह ज्ञान मुसलमानो या यवनो के सम्पर्क से आया)।

द्रविड प्रदेश से वैद्यक सिंहल द्वीप तक पहुँचा। आनन्दकन्द नामक ग्रन्थ का कर्त्ता मन्थानभैरव सिंहल द्वीप की राजसभा का वैद्य कहा जाता है। अनेक रसग्रन्थो को देखकर रसरत्नसमुच्चय की रचना करनेवाले लेखक ने जिस मन्थानभैरव का उल्लेख किया है, सम्भवत यह वही है। तान्त्रिक रसवैद्य दक्षिण मे ठेठ सिंहल द्वीप तक फैले हुए थे। नागार्जुन कोडा और श्रीपर्वत ये दोनो स्थान दक्षिण में ही है, इनका सिद्ध

सम्प्रदाय एव तन्त्रसिद्धि से बहुत सम्बन्ध है। सिद्ध सम्प्रदाय का विकास यही पर हुआ है। द्रविड रसविद्या और उत्तर की रसविद्या के मूलरूप तन्त्र लगभग एक ही थे, ऐसी सम्भावना है।

सिंहल द्वीप के वैद्यक-साहित्य में ७-८ ग्रन्थो के नाम प० डी० गोपालाचार्लु जी ने गिनाये है, इनमे भैषज्यमजूपा पाली भाषा में लिखा हुआ ग्रन्थ है। इसमें अधिक भाग वनस्पतियो का है और थोडा भाग रसयोगो का है। सारसक्षेप सिंहल भाषा मे है, सारार्थसग्रह, भेपजकल्प, योगशतक आदि ग्रन्थ सस्कृत भाषा में है। योगशतक के ऊपर सस्कृत टीका भी है, इसमें योगो का सग्रह है। सिंहल द्वीप के वैद्य इसी के अनुसार चिकित्सा करते हैं। योगरत्नाकर नामक ग्रन्थ मयूरपाद भिक्षु के नाम से प्रसिद्ध वैद्य ने बनाया है, यह भी योगसग्रह है।

केरल मे आयुर्वेद

केरल यद्यपि द्रविड देश नही, तथापि दक्षिण भारत का अन्तिम सिरा है, यहाँ पर अप्टागसग्रह का बहुत प्रचार है। वास्तव में वृद्धत्रयी के अन्दर अप्टागहृदय का ही पठन-पाठन चलता है। सामान्य लोगो के लिए तो इसके सिवाय दूसरा वैद्यक ग्रन्थ नही, ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नही। परन्तु केरल के वैद्यक में कुछ विशेषता है। वहाँ पर स्नेह-स्वेदादि करके वमन-विरेचन आदि पच कर्म करने की प्रथा है। वहाँ की चिकित्सा में इन कर्मो का विशेष महत्त्व है और इन कार्यो के लिए विशेप साधन बरते जाते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि केरल में कुछ वैद्य गीली और सूखी औपधियाँ बेचने का धधा करते है और केरल में अगदतन्त्र का बहुत प्रचार है। कई वैद्यकुटुम्ब पुरातन काल से विपवैद्य का काम करते है।

केरल में अप्टवैद्य नाम से प्रसिद्ध आठ वैद्यकुटुम्ब है। इनके मूल पुरुष परशुरामजी (अवतार) से अप्टाग आयुर्वेद के एक-एक अग में पारगत हुए थे, ऐसी दन्तकथा है। ये नम्बूदरी ब्राह्मण हैं और अच्छी स्थिति के है।[1]

यह सम्भावित है कि केरल के वैद्यक साहित्य में अप्टाग सग्रह की इन्दु द्वारा शशि-कला टीका बनी हो। पीछे से भदन्त नागार्जुन लिखित रसवैशेपिक सूत्र नाम का ग्रन्थ तथा इसके ऊपर नरसिंह कृत भाष्य केरलदेश में लिखा गया है। इस रसवैशेपिक सूत्र में आरोग्य शास्त्र की मीमासा है। रसवैशेपिक सूत्र का कर्त्ता भदन्त नागार्जुन

---

१ यह विषय तथा अगला विषय श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री जी के आयुर्वेद साहित्य से लिखा है।

दूसरे नागार्जुन से भिन्न है, यह केरल का बौद्ध सन्यासी था। इसके टीकाकार नरसिंह भी केरल के हैं। टीकाकार का समय श्रीशकर मेनोन के अनुसार आठवी शती और सूत्रकार का समय इससे पूर्व पाँचवी से सातवी शती के बीच का है। परन्तु इस समय को निश्चित करने मे जो तर्क दिये गये है, वे सचोट नही है।

तन्त्रयुक्ति-विचार नामक ग्रन्थ नीलमेघ वैद्य का बनाया हुआ है। नीलमेघ वैद्य का दूसरा नाम वैद्यनाथ था। इस ग्रन्थ के मगलाध्याय मे इन्दु और जैज्जट को पढाते हुए वाहट का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि इसके कर्त्ता वाग्भट और जैज्जट के पीछे हुए हैं[1], कब हुए यह कहना कठिन है, परन्तु शकर मेनोन नीलमेघ वैद्य को शकराचार्य का समकालीन मानते हैं। फिर भी इसमें उनकी युक्तियाँ हृदयग्राही नही है। परन्तु अष्टागहृदय की प्रियता, वाग्भट विषयक दन्तकथा और तन्त्रयुक्तिविचार जैसे ग्रन्थों की रचना केरल मे उत्तर भारत के आयुर्वेदिक ग्रन्थो का दक्षिण में प्रचार बताती हैं।

रसोपनिषद नाम का पार्वती-परमेश्वर सवादरूप अठारह अध्यायो का एक ग्रन्थ त्रिवेन्द्रम् सस्कृत सीरीज से प्रकाशित है। इसमें रसविद्या द्वारा धातु निकालने तथा कीमियागिरी की बातें रसहृदय आदि ग्रन्थो से भिन्न प्रकार की नही है, इसमें रसयोग नहीं हैं। सम्भवत यह रसमहोदधि-जैसे किसी बडे ग्रन्थ का एक भाग होगा। केरल के वैद्यवर कालिदास के नाम से वैद्यमनोरमा नाम का एक रसग्रन्थ आयुर्वेद ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है।

इनके सिवाय धाराकल्प (स्वेदकर्मपद्धति के लिए उपयोगी), हरमेखला (त्रिवेन्द्रम सस्कृत सीरीज मे प्रकाशित), सहस्रयोग (बेंगलोर से प्रकाशित), आरोग्यकल्पद्रुम, सर्वरोगचिकित्सारत्न, चिकित्सामूल आदि ग्रन्थ केरल मे प्रसिद्ध हैं।

कर्णाटक मे आयुर्वेद

पूज्यपाद नाम के जैन आचार्य का पूज्यपादीय नामक सस्कृत ग्रन्थ कर्णाटक मे प्राचीन गिना जाता है। परन्तु जैन वैद्य उग्रादित्याचार्य स्वय कहते है कि वे राष्ट्रकूट

---

१ इसके सम्बन्ध में निम्न श्लोक प्रसिद्ध है—

'लम्बश्मश्रुकलापलम्बुजनिभच्छायाद्युति वैद्यका-
न्तेवासिन इन्दुजेज्जटमुखानध्यापयन्त सदा।
आगुल्फामलकञ्चुकाञ्चितदरालक्ष्योपवीतोज्ज्वलत्
कण्ठस्यागरुसारमज्जितदृश ध्याये दृढ वाग्भटम् ॥'

राजा नृपतुग के वैद्य थे। इस कारण से नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इनका समय है। परन्तु कर्णाटक में कन्नड भाषा मे वैद्यक ग्रन्थ लिखनेवाले बहुत-से वैद्य हो गये है। इनमें जैन मगल राज जो १३६० ई० में हुए है, उन्होंने विषचिकित्सा सम्बन्धी खगेन्द्र-मणिदर्पण नाम का बडा ग्रन्थ कन्नड मे लिखा है, जिसमे स्थावर विष चिकित्सा का विषय पूज्यपादजी की पुस्तक में से लेने का स्वयं उल्लेख किया है। इसके पीछे ब्राह्मण अभिनवचन्द्र १४०० ईसवी में हुए है। इन्होंने चन्द्रराज के ग्रन्थों में से उदाहरण लेकर अश्ववैद्य नामक नवीन ग्रन्थ कन्नड भाषा में लिखा है। जैन देवेन्द्र मुनि ने बालग्रह-चिकित्सा नामक ग्रन्थ लिखा है।

रामचन्द्र, चन्द्रराज आदि ने अश्ववैद्यक, कीर्तिमान नामक चालुक्य राजा ने गौ-चिकित्सा और वीरभद्र ने पालकप्य के गजायुर्वेद के ऊपर कन्नड भाषा में टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त वाग्भटचिन्तामणि आदि ग्रन्थो के कन्नट भाषा में पुराने काल से भाषान्तर मिलते है।

आन्ध्र देश में आयुर्वेद

आन्ध्र देश के वैद्य चिन्तामणि और बसवराजीयम् नाम के दो सस्कृत ग्रन्थो का मुख्यत उपयोग करते है। चिन्तामणि ग्रन्थ का कर्त्ता वल्लभेन्द्र नियोगी ब्राह्मण कुल का वैद्य था। इस ग्रन्थ में नाडी, मूत्र आदि की परीक्षा के साथ ज्वरादि रोगो की निदानसहित चिकित्सा लिखी है। चिकित्सा में चूर्ण, गुटिका, अवलेह आदि के साथ रसयोग भी है।

इसी प्रकार का दूसरा अति प्रचलित ग्रन्थ बसवराजीयम् है। कर्णाटक में लिंगायत मत के मुख्य प्रचारक १२वी शती के बसव का बनाया यह ग्रन्थ है। परन्तु इस ग्रन्थ में पूज्यपादीयग्रन्थ में से तथा नित्यनाथ के ग्रन्थ में से पाठ लिये गये है। रसयोग पुष्कल है, अफीम भी बरती गयी है, इस दृष्टि से यह ग्रन्थ १३ वी शती से पुराना नही हो सकता। ज्वरादि रोगों की निदान-चिकित्सा वर्णन करनेवाला यह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में आन्ध्र देश में प्रसिद्ध कुछ योग भी मिलते है। कुछ योग आन्ध्र पद्य में है। आन्ध्र में मिलनेवाली कुछ औषधियाँ इसमें है।

इस ग्रन्थ में माधवनिदान के नाम से रसयोग दिये गये है। यह विचित्रता है। श्री गोवर्धन शर्मा छांगाणी जी का कहना है कि लिपिकरो का प्रमाद है, इसके स्थान पर माधव कल्प चाहिए (भूमिका बसवराजीयम् की)।

दक्षिण भारत के वैद्यक साहित्य का उल्लेख करते हुए प० डी० गोपालाचार्लु जी ने

आयुर्वेदसूत्र का भी उल्लेख किया है। यह आयुर्वेदसूत्र ग्रन्थ योगानन्द भाष्य सहित मैसूर में १९२२ में छपा है। परन्तु जो सूत्र ग्रन्थ देखने मे आता है, उससे प्राचीनता की प्रतीति नही होती। शिवतत्त्वरत्नाकर, जगन्नाथ सूरि के पुत्र मगलगिरी की रस-प्रदीपिका आदि रस ग्रन्थ दक्षिण भारत मे वडी सख्या में वने है।

इन रसगन्थो के अतिरिक्त दक्षिण में कुछ सग्रह ग्रन्थ भी वने है। उदाहरण के लिए—श्रीनाथ पण्डित की परहितसहिता है, इसमे शल्य-शालाक्यादि आठ अगो का वर्णन है। सम्भवत भावप्रकाश की भाँति होगा (देखा नही)। आन्ध्र ब्राह्मण त्रिमल्ल भट्ट की वृहद्योगतरगिणी, परम शैवाचार्य श्रीकण्ठ की वनायी योगरत्नावली, इसके पीछे भपजसर्वस्व, धन्वन्तरिविलास, सन्निपातचन्द्रिका, योगशतक, धन्वन्तरिसारनिधि, राजमृगाङ्क, प्रश्नोत्तररत्नमाला, गद्यसजीवनी, उमामहेश्वर-सवाद आदि गन्थ दक्षिण भारत मे वने हैं। इसके पीछे नाडीज्ञानविनिर्णय, पड्-विध नाडीतत्र, नाडीनक्षत्रमाला, नाडीज्ञान आदि नाड़ीपरीक्षा के ग्रन्थ, श्री-कण्ठनिदान जैसे निदान ग्रन्थ तथा अभिधानरत्नमाला, आयुर्वेदमहोदधि, पदार्थ-चन्द्रिका, अभिधानचूडामणि, द्रव्यगुणचतुश्लोकी, अष्टागहृदय निघण्टु आदि ग्रन्थ-भी दक्षिण भारत में वने हैं।

स्वर्गीय प० डा० गोपालाचार्लु के अकेले निवन्ध के आधार पर इस विपय का उल्लेख स्वर्गीय श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री जी ने किया है, उसी के आधार पर यहाँ लिखा है।

वसवराजीयम्

इस ग्रन्थ को सस्कृत में सशोधित करके स्वर्गीय श्री गोवर्धन शर्मा छागाणी जी ने नागपुर से प्रकाशित किया है। इसकी भूमिका में इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में उन्होने प्रकाश डाला है। यह ग्रन्थ रुद्र सम्प्रदाय से सम्बन्धित माना जाता है। भारतवर्प में चिकित्सा के दो सम्प्रदाय थे, एक ब्राह्म सम्प्रदाय और दूसरा रुद्र सम्प्रदाय। ब्राह्म सम्प्रदाय में दक्ष, इन्द्र, धन्वन्तरि, भारद्वाज, काश्यपवाली परम्परा है, रुद्र सम्प्रदाय में पारद का उपदेश रसशास्त्र के रूप में हुआ। इसी शैव सम्प्रदाय में सिद्धो द्वारा रसशास्त्र का विस्तार हुआ। इन सिद्धो मे मन्थानभैरव नाम का सिद्ध हुआ ('मन्थानभैरवश्चैव काक-चण्डीश्वरस्तथा'—रसरत्नसमुच्चय)।

('मन्थानभैरवो योगी सिद्धवुद्धश्च कन्थडी'—तन्त्रान्तर)। इस प्रकार से दो धाराएँ चिकित्सा में चली। दक्षिण में रुद्र सम्प्रदाय के स्थान पर अगस्त्य सम्प्रदाय नाम का विस्तार हुआ। इसी सम्प्रदाय से सम्वद्ध यह ग्रन्थ है।

इसमें पचीस प्रकरण हैं। इनमें नाडी परीक्षा, रस-भस्म-चूर्ण, गुटिका, कषाय, अवलेह आदि रूप में ज्वर आदि रोगों का निदान और चिकित्सा विस्तार से कही गयी है। इसके सब प्रयोग शास्त्रसम्मत तथा अनुभव-सिद्ध दीखते हैं। अनेक प्राचीन शास्त्रों की सहायता लेकर यह ग्रन्थ बनाया गया है।

वसवराज का समय—भारत में चालुक्यों का जैसा साम्राज्य था वैसा राष्ट्रकूटों का नही था। ५३९ विक्रमी में चालुक्य जयसिंह ने राष्ट्रकूटों से राज्य छीनकर वातापी (बागलकोट के समीप 'बादामी' नामक) नगरी बनायी। इसमें इसके उत्तराधिकारी ग्यारह पुरुषों ने राज्य किया। इनमें अन्तिम राजा कीर्त्तिवर्मा से राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ने राज्य ले लिया था। इसने अपनी राजधानी मान्यखेट (हैदराबाद राज्य में 'मालखेड' नाम का स्थान) बनायी। लगभग दो सौ वर्षों तक राष्ट्रकूटों का साम्राज्य बना रहा। परन्तु १०३० विक्रमी में पारस्कर गृह्यसूत्र के भाष्यकार कर्कराज राष्ट्रकूट को मारकर चालुक्य तैलप द्वितीय ने अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त किया था। इसी के वंशज सोमेश्वर ने अपनी राजधानी कल्याण में (निजाम राज्य में 'कल्याणी' नामक) बनायी। यहीं पर ११३३-११८३ में कश्मीरी कवि बिल्हण ने विक्रमाकदेवचरित और चौरपञ्चाशिका आदि काव्य लिखे थे। यहीं पर याज्ञवल्क्य-स्मृति की मिताक्षरा टीका विज्ञानेश्वर ने लिखी थी। इस टीका के अन्त में विज्ञानेश्वर ने कल्याण नगर और इसके राजा विक्रमादित्य का यशोगान किया है। इसी विक्रमादित्य का पौत्र जगदेकमल्ल था, जिसके सेनापति विज्जल ने अपने स्वामी तैलप तृतीय की सेना में विद्रोह उत्पन्न करके राज्य ले लिया था। विज्जल हैहयवंश (कलचुरी) का प्रतापी राजा हुआ। विज्जल जैन धर्मावलम्बी था। शैव और जैनों में परस्पर बहुत विवाद हुआ। इसमें वसव नाम के किसी ब्राह्मण ने जिन मत की तुलना में वीरशैव (लिंगायत) मत की स्थापना की।

कन्नड (कर्णाटकी) भाषा में लिखे वसवपुराण से स्पष्ट है कि विज्जल ने वसव को अपना मन्त्री बनाया था। परन्तु जब वसव ने लिङ्गायत प्रचारकों को बहुत धन देना प्रारम्भ किया तब विज्जल ने क्रुद्ध होकर उपदेशकों के सहित इसे कल्याणी से निकाल दिया। इस समय भागते हुए वसव द्वारा भेजे हुए जयदेव लिंगायत ने राज-प्रासाद में घुसकर विज्जल को मार दिया।[1]

---

१ चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भी माना है कि—विज्जल का प्रधान मन्त्री वसव था; यह महा विद्वान्, तत्त्वज्ञानी ब्राह्मण था। इसने प्राचीन प्रणाली को तोड़कर

वसवराज का निवासस्थान आन्ध्र था, यह शिवलिंग का उपासक ('लिंगमूर्त्ति-मह भजे'—पृष्ठ २९०, ३९०, ३५०, ३७७) था, इसके गुरु का नाम जगम था ('श्री जगमेशपादाब्जभृङ्गम्'—पृष्ठ २२६)। यह वीर शैव मत को मानता था। इसके पिता आराध्य रामदेशिक के शिष्य थे, पिता का नाम नम शिवाय था। ग्रन्थकर्ता अपने आप काव्य में कुशल, वैद्यशिरोमणि नीलकण्ठ वश मे उत्पन्न, कोट्टूर ग्राम का रहनेवाला था, यह स्वय इसने ग्रन्थ के अन्त में लिखा है।"[१]

वसवराजीय की समीक्षा—ग्रन्थकर्त्ता ने इसके प्रारम्भ में जो भूमिका दी है, उसमे स्पष्ट है कि इसके निर्माण में चरक, माधव कल्प, भैरव कल्प, वाग्भट, सिद्ध-रसार्णव, भेपजकल्प, देवीशास्त्र, ज्योतिप, काशीखण्ड, शरीरसूत्र, कर्मविपाक, रेवण कल्प आदि ग्रन्थ रत्नो को देखकर लोकोपकार के लिए इसे वनाया। ग्रन्थकर्त्ता को अपने पर वहुत अधिक विश्वास था, इसलिए उसने लिखा है—

कृते तु चरक. प्रोक्तस्त्रेताया तु रसार्णव ।
द्वापरे सिद्धविद्या भू कलौ वसवक स्मृत ॥

सतयुग में चरक, त्रेता मे रसार्णव, द्वापर में सिद्ध विद्या और कलियुग में वसव वैद्य अथवा इनके वनाये ग्रन्थ समादृत होंगे।

अपनी भगिनी प्रतिलोम विवाह से विज्जल को व्याही थी। जैनो का कहना है कि इसकी भगिनी विज्जल की उपपत्नी थी। वसव 'आराध्य' नामक मत का अनुयायी था। वीर शैवो के गुरु आराध्य और जगम हैं। इनमें आराध्य ब्राह्मण हैं, शेष जगम कहे जाते हैं। ये सव सिर में शिवलिंग को धारण करते हैं।

१ प्रत्येक प्रकरण के प्रारम्भिक के मगल में कर्त्ता ने शिव की उपासना की है—

'कन्दर्पनागपञ्चास्यं गजदैत्यविनाशनम् ।
महाताण्डवशालीन लिङ्गमूर्त्तिमह भजे ॥
श्रीनीलकण्ठवशाब्धिचन्द्रमा वसवाह्वय. ।
वक्ष्यामि नृपराजीयमह वैद्यशिखामणिम् ॥' (प्रकरण २१)

अन्त में लिखा है—"इति श्रीनीलकण्ठचरणारविन्द-तीर्थप्रसादपारावारविहार-भोगपारीणनिडिमामिडिभगिसत्सम्प्रदायकाराध्यरामदेशिकशिष्योत्तमनम शिवायसत्पुत्रपवित्रकविताचातुरीधुरीणवैद्यजनशिरोभूषणनीलकण्ठकोट्टूरुवसवराजनामधेयप्रणीतश्रीवसवराजीये (आन्ध्रतात्पर्यसहिते) पंचविंशप्रकरणं समाप्तम्।"

वसवराजीय ग्रन्थ में जहाँ दूसरे आचार्यो के योगो का सग्रह है, वहाँ पर जैन श्री पूज्यपाद के योगो का भी समावेश है, उदाहरण के रूप में—

१ भ्रमणादि वात की चिकित्सा में गन्धक रसायन का पाठ देते हुए लिखा है—

'अशीर्ति वातरोगाश्च ह्यर्शास्यष्टविधानि च ।
मनुष्याणा हितार्थाय पूज्यपादेन निर्मित ।।' (पृष्ठ ११०, प्र० ६)

२ कालाग्नि रुद्ररस या अग्नितुण्डी के पाठ मे भी पूज्यपाद का नाम आया है—

'अशीतिवातजान् रोगान् गुल्म च ग्रहणीगदान् ।
रस कालाग्निरुद्रोऽय पूज्यपादविनिर्मित ।।' (पृष्ठ १०३, प्र० ६)

इससे स्पप्ट है कि यह ग्रन्थ पूज्यपाद के पीछे वना है । इसमें निदान और चिकित्सा साथ में है । इस चिकित्सा में रसयोग विशेप है । इसमें माधवनिदान शब्द कई रूप में आया है, उदाहरण के लिए—कुप्ठनिदान में (आयुर्वेद नाम से) जो वचन दिये है, वे माधवनिदान के हैं, इसी के अन्दर फिर (कुष्ठ रोगभेदा माधवनिदाने) माधवनिदान के श्लोक दिये गये हैं । अजीर्णेपु पथ्यम् मे (माधवनिदाने कहकर) जो वचन दिये हैं, वे उपलब्ध माधवनिदान के नही है ।

'शखद्रावकम्' का पाठ सम्भवत ग्रन्थकर्त्ता का अपना है । ग्रन्थकर्त्ता ने ग्रन्थ में पाठ देने में सत्यता वरती है, जहाँ से जो वचन उद्धृत किया है, वहाँ पर ग्रन्थ का नाम दे दिया है ।

ग्रन्थ में आन्ध्र भापा का भी प्रयोग है, यथा—

'भेट्टदास सरितावेटिमीददीप मुचदल वेक्कुनदियु नुद्रुचिमसियु ।
जें सिवेन्नयुजे रिचिपूसनेंनि कान्तालकुयोनिदुर्मांसगणमुलडगु ।।' (पृ० ४१)

रोगो के कुछ नाम नये भी है, यथा—पुप्पावरोध निदान और इसकी चिकित्सा—

'वातोल्वणाच्च योनिस्य पुप्पस्थान चल भवेत् ।
पुप्परोधनमित्युक्त तन्नाम मुनिपुङ्गवै ।।'

यह नाम नप्ट पुप्प के लिए वनाया है । इसमे इस रोग का प्रसिद्ध योग भी दिया है (यथा—'तिलक्वाथे गुड व्योप तिलभार्ङ्गीयुतेऽपि वा । पाते रक्तस्रावे गुल्मे नप्टपुप्पे च पाययेत् ।।' प्रसिद्ध योग में—तिलक्वाथ में—गुड, व्योप, हिंगु, भार्ङ्गी और यवक्षार हैं') ।

इस प्रकार से यह एक उत्तम सग्रह ग्रन्थ है । दक्षिण देश में इसका वही सम्मान

है, जो कि बंगाल में चक्रदत्त और रसेन्द्रसार संग्रह का है, महाराष्ट्र में योगरत्नाकर का तथा गुजरात में शार्ङ्गधर का।

कल्याणकारक

आयुर्वेद के जैनग्रन्थों में प्रकाशित यही एक ग्रन्थ मेरे देखने में आया है। इस अकेले ग्रन्थ से पता चलता है कि दूसरे भी जैन ग्रन्थ बने थे। जैनियों में दूसरे भी आयुर्वेद के अच्छे ज्ञाता हुए हैं, यथा—

'शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतंत्रं च पात्र-
स्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः।
काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनां
वैद्यं वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः ॥' (अ २०।८५)

पूज्यपाद आचार्य ने शालाक्य नामक ग्रन्थ बनाया, पात्रस्वामी ने शल्यतंत्र, सिद्धसेन ने विष और ग्रहशान्ति सम्बन्धी, दशरथ गुरु और मेघनाद ने बालरोग चिकित्सा सम्बन्धी और सिंहनाद ने शरीर बलवर्द्धक ग्रन्थ का निर्माण किया।

समन्तभद्र ने अष्टांग नामक ग्रन्थ में जो विस्तार से कहा था, उसी का अनुसरण करके संक्षेप में उदयनादित्य ने इस कल्याणकारक को बनाया है ('अष्टांगमप्यखिल-मत्र समंतभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरमथो विभवैः विशेषात्। संक्षेपतो निगदितं तदिहात्म-शक्त्या कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम् ॥')। सम्भवतः समन्तभद्र आचार्य का ग्रन्थ अष्टांगसंग्रह के ढंग का रहा होगा। आज यह साहित्य उपलब्ध नहीं। केवल गिने चुने ग्रन्थ ही प्रकाशित हुए हैं। इनमें प्रसिद्ध ग्रन्थ यही कल्याणकारक है।

कल्याणकारक का प्रकाशन शोलापुर के श्री सेठ गोविंदजी रावजी दोशी ने पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री से सम्पादन करवाकर किया है। इसकी भूमिका में जैन आयुर्वेद साहित्य तथा लेखक का परिचय दिया है। उसी से पता चलता है कि जैन आयुर्वेद साहित्य में 'पूज्यपाद' नाम के मुनि प्रसिद्ध आयुर्वेद ज्ञाता हुए हैं। इनके कुछ योग बसवराजीय में उद्धृत हैं (पृष्ठ १०३, १११)[१]। पूज्यपाद का उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ कल्याणकारक के अतिरिक्त अन्यत्र भी है, यथा—

---

१ वातादि रोग में—त्रिकटुकादि नस्य 'पूज्यपादकृतो योगो नराणां हित-काम्यया'—प्रकरण ६, पृष्ठ १११, ज्वरांकुश में—'पूज्यपादोपदिष्टोऽयं सर्वज्वर-गजांकुशः'—प्र० १, पृष्ठ ३०; चण्डभानुरस—'नाम्नायं चण्डभानुः सकलगदहरो भाषितः पूज्यपादैः'—प्र० १, शोकमुद्गररस—'शोकमुद्गरनामायं पूज्यपादेन निर्मितः'।

इसी से इनका निघण्टु, शब्दकोश भी पृथक् बना। इसमे आचार्य अमृतनन्दि का कोश महत्त्वपूर्ण है। इस कोश मे बाईस हजार शब्द है, किन्तु सकार पर जाकर अपूर्ण रह गया है। इसमे वनस्पतियो के नाम जैन पारिभाषिक रूप में आये है, जैसे—अभव्य—हंसपादी, अहिंसा—वृश्चिकाली, अनन्त—सुवर्ण; ऋषभ—पावठे की लता, ऋषभा—आमलक, मुनिखर्जुरिका—राजखर्जूर, वर्धमाना—मधुर मातुलुग, वीतराग—आम्र।

समन्तभद्र—पूज्यपाद के पहले समन्तभद्र प्रत्येक विषय के अद्वितीय विद्वान् हुए है। इन्होने सिद्धान्तरसायनकल्प नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना अठारह हजार श्लोको मे की थी। अब कही-कही इसके श्लोक मिलते है। ग्रन्थ लुप्त हो गया है। इस ग्रन्थ में जैनमत की प्रक्रियाओ का उल्लेख था। यथा—'रत्नत्रयौषध' से वज्रादि रत्न न लेकर जैनशास्त्र में प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र इन तीन रत्नो का ग्रहण किया है। ये तीन रत्न जिस प्रकार से मिथ्यादर्शन, मिथ्या ज्ञान को नष्ट करते है, उसी प्रकार से पारस, गन्धक और पाषाण (माणिक्य आदि रत्न) ये तीन रत्न वात, पित्त, कफ तीनो को नष्ट करते है। इसलिए रसायन को रत्नत्रय कहते है।

समन्तभद्र से पूर्व भी वैद्यक ग्रन्थ बने थे। ये कारवाड जिला होन्नावर तालुका के गेरसप्पा के पास हाड्हिल में रहते थे (कन्नडमे हाड शब्द का अर्थ सगीत है, हिल शब्द का अर्थ ग्राम है, जिसे आजकल सगीतपुर कहते है)। हाडहिल में इन्द्रगिरि और चन्द्रगिरि दो पर्वत है। वहाँ पर कुछ मुनि तपश्चर्या करते थे। उनकी शिष्य-परम्परा मे वैद्यक ग्रन्थो का निर्माण हुआ है। इसी से समन्तभद्र ने अपने ग्रन्थ में लिखा है—"श्रीमद्भल्लातकाद्रौ वसति जिनमुनि सूतवादे रसाब्जम्"।

जैन धर्म अहिंसाप्रधान है, इसलिए आयुर्वेद ग्रन्थकारो ने वनस्पतियो को ही औषधो में स्थान दिया है। इन ग्रन्थो में मास-मद्य का उल्लेख नही है। अहिंसा प्रधान होने से एकेन्द्रिय प्राणियो का भी सहार नही करना चाहिए। इसी लिए पुष्पायुर्वेद बनाया गया। इसमें अठारह हजार जाति के कुसुमरहित पुष्पो से ही रसायनौषधियो के प्रयोगो को लिखा है। इस पुष्पायुर्वेद की कर्णाटकी लिपि मे लिखी प्रति उपलब्ध है।

समन्तभद्र का पीठ गेरसप्पा में था। पूज्यपाद के पीछे कई जैन ग्रन्थकार हुए है—गुम्मद देव मुनि, इन्होने मेरुतन्त्र नामक वैद्यक ग्रन्थ बनाया है। प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में श्री पूज्यपाद स्वामी का बहुत आदरपूर्वक स्मरण किया है। इन्होने पूज्यपाद के वैद्यामृत ग्रन्थ का उल्लेख किया है—

'सिद्धान्तस्य च वेदिनो जिनमते जैनेन्द्रपाणिन्य च ।
कल्पव्याकरणाय ते भगवते देव्यालियाराधिपा ॥
श्री जैनेंद्रवचस्सुधारसवरै· वैद्यामृतो धार्यते ।
श्रीपादास्य सदा नमोस्तुगुरवे श्रीपूज्यपादौ मुने ॥'

सिद्ध नागार्जुन—ये पूज्यपाद के भानजे कहे जाते हैं। नागार्जुनकल्प, नागार्जुन कक्षपुट आदि ग्रन्थ इन्होने बनाये हैं। (सिद्ध नागार्जुन जिनका सम्वन्ध रसशास्त्र से है, वौद्ध थे, सम्भवत उन्ही के अनुसार जैनो ने इनको भी अपने यहाँ ले लिया है)। वज्रखेचर गुटिका—खेचरगुटिका इनके नाम से कही जाती है (यह गुटिका प्रसिद्ध वौद्ध नागार्जुन के नाम से रसग्रन्थो में प्रसिद्ध है, यथा—'अभ्रे चाष्टगुणे जीर्णे समवीजेन जारिते। पड्गुणे गन्धके जीर्णे गुटिका खेचरी भवेत् ॥'—रसकामधेनु)

कर्णाटक के जैन ग्रन्थकार वैद्य—कन्नड भापा मे अनेक विद्वानो ने वैद्यक ग्रन्थो की रचना की है। इनमें कीर्त्तिवर्म का गोवैद्य, मगलराज का खगेन्द्रमणि दर्पण, अभिनवचन्द्र का हयशास्त्र, देवेन्द्रमुनि का वालग्रह चिकित्सा, अमृतनन्दि का वैद्यकनिघण्टु, जगदेव का महामन्त्रवादि, श्रीधरदेव का २४ अधिकारो से युक्त वैद्यामृत, साल्व द्वारा लिखा रसरत्नाकर व वैद्यसागत्य आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। जगदत्त सोमनाथ ने पूज्यपादाचार्य लिखित कल्याणकारक का कन्नड भापा में अनुवाद किया है। यह ग्रन्थ आज भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें पीठिका प्रकरण, परिभापा प्रकरण, पोडश ज्वर चिकित्सा निरूपण प्रकरण आदि अप्टाग चिकित्सा है। सोमनाथ कवि ने कल्याणकारक (कन्नड) में लिखा है—

'सुकर तानेने पूज्यपाद मुनिगल् मुपेलद् कल्याणका-
रकम वाहटसिद्धसार चरकाद्युत्कृष्टम सद्गुणा—
धिक वर्जित मद्यमास मधुव कर्णाटादि लोकर
क्षपमा चित्रमदागे चित्रकवि सोम पेलर्दनि तलितोय ॥'

पूज्यपाद ने अपने ग्रन्थ में मद्य, माँस और मधु का विलकुल प्रयोग नही किया था।

उग्रादित्याचार्य—उपलव्ध कल्याणकारक के रचयिता उग्रादित्याचार्य है। उग्रादित्याचार्य ने पूज्यपाद, समन्तभद्र, पात्र स्वामी, सिद्धसेन, दशरथ गुरु, मेघनाद और सिंहसेन आचार्यो का उल्लेख किया है। इससे उग्रादित्य इनके पीछे हुए हैं। कल्याणकारक की प्रस्तावना में इनका समय छठी शती से पूर्व माना गया है, जो कि इसलिए उचित नही जँचता कि रसयोगो की चिकित्सा का व्यापक प्रचार ११वी शती के पीछे ही मिलता है, विशेप करके उत्तर भारत के ग्रन्थो में। यदि रसप्रयोग इतने व्यापक

रूप मे प्रचलित होते तो वृन्द के सिद्धयोग-सग्रह एव चक्रदत्त मे इनका उल्लेख अवश्य होता। इसलिए ये ग्रन्थ जिनमे रस-योगो की विशेषता है, बारहवी शती से पूर्व के नही। उग्रादित्य ने ग्रन्थ के अन्त मे अपने समय के राजा का उल्लेख किया है—

"इत्यशेषविशेषविशिष्टदुष्टपिशिताशि वैद्यशास्त्रेषु मांसनिराकरणार्थमुग्रादित्याचार्येण नृपतुगवल्लभेन्द्रसभायामुद्घोषित प्रकरणम्।"

इसके समर्थन में इसके ऊपर का श्लोक है—'स्यातश्रीनृपतुगवल्लभमहाराजाधिराजस्थिति' इत्यादि।

नृपतुग अमोघवर्ष प्रथम का नाम है। प्रस्तावना-लेखक का कहना है कि अमोघवर्ष की ही वल्लभ और महाराजाधिराज उपाधियाँ थी। नृपतुग भी एक उपाधि थी। अमोघवर्ष प्रथम के राज्यारोहण का समय ७३६ शक (८१५ ईसवी) है। यह राजा प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेन का शिष्य था। पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना जिनसेन ने की थी। इसके एक सर्ग के अन्त में इन्होंने लिखा है—

"इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचिते मेघदूतवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्यवर्णन नाम चतुर्थसर्ग.।"

अमोघवर्ष प्रथम राष्ट्रकूट था, जिसने जैनधर्म का प्रचार किया। इसी अमोघवर्ष के राज्यकाल में राद्धात-ग्रन्थ की टीका जयधवल के द्वारा हुई थी (८३७ ई०, ७५९ शक)। अन्तिम वय में अमोघवर्ष राज्य छोडकर वैराग्य धारण करके आत्मकल्याण में प्रवृत्त हुआ। उग्रादित्याचार्य ने जिस वल्लभ का उल्लेख किया है, वह अमोघवर्ष ही होना चाहिए। इससे उग्रादित्याचार्य अमोघवर्ष के समय में हुए थे, जो शक आठवी एव नवी ईसवी शती आता है।

उग्रादित्याचार्य ने अपने गुरु का नाम श्रीनदि कहा है। इनकी कृपा से उनका उद्धार हुआ था ('श्रीनदिनदितगुरुर्गुरुर्जितोऽहम्'—२५।५१)।

उग्रादित्याचार्य ने अपना कोई भी परिचय नही दिया है, केवल इतना पता चलता है कि इनके गुरु का नाम नन्दि था। ग्रन्थ निर्माण का स्थान रामगिरि नामक पर्वत था[1]। रामगिरि-पर्वत वेंगि में था। वेंगि त्रिकलिग देश में प्रधान स्थान है। कलिग के तीन भाग हैं, उत्तर कलिग, मध्य कलिग और दक्षिण कलिग। इन तीनो को मिलाकर त्रिकलिग कहते हैं। इस त्रिकलिग (वेंगि) के सुन्दर रामगिरि पर्वत

---

१. 'स्थान रामगिरिर्गिरीन्द्रसदृश. सर्वार्थसिद्धिप्रदं,
श्रीनदिप्रभवोऽखिलागमनिधि शिक्षाप्रद सर्वदा ॥' २१।३

के जिनालय में बैठकर उग्रादित्य ने इसकी रचना की थी। अन्तिम प्रकरण में आचार्य ने मद्य-मांस आदि निन्दित पदार्थों के सेवन का निषेध युक्तिपूर्वक किया है।

उग्रादित्याचार्य का समय नवीं शती ऊपर सिद्ध किया गया है। यह सम्भव हो सकता है, क्योंकि इसमें नाड़ी परीक्षा विधि नहीं है। रसयोग जो हैं, वे भी बहुत थोड़े और मामूली हैं। सम्भव है कि रसशास्त्र का प्रथम विकास रुद्र सम्प्रदाय के अन्दर दक्षिण में प्रथम हुआ हो। नागार्जुन का जितना सम्बन्ध दक्षिण से है, उतना उत्तर से नहीं। उत्तर में बंगाल के पाल राजा अवश्य बौद्ध थे, उन्होंने विक्रमशिला और नालन्दा विद्यापीठों की बहुत सहायता की थी। उस समय सम्भवतः नागार्जुन उत्तर में आये हों, जिससे उनके लिए वृन्द और चक्रदत्त ने लिखा है कि "नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके"—इन वार्ता को नागार्जुन ने पाटलिपुत्र के स्तम्भ पर, शिला पर लिख दिया है, जिससे लोग इसे देखें और लाभ उठायें। यह एक प्रकार से उस समय की सामान्य जनों को सूचना थी। रसविद्या का दक्षिण से उत्तर तक पूर्ण प्रवेश होने में दो सौ, तीन सौ वर्ष का समय लग गया होगा। क्योंकि अल्बेरुनी जो कि ११वीं शताब्दी में भारत में आया था, तब रस-विद्या का प्रचार उत्तर भारत में था। इसलिए दक्षिण में इस ग्रन्थ के नवीं शती में बनने की सम्भावना हो सकती है।

कल्याणकारक की समीक्षा—कल्याणकारक जैन ग्रन्थ है। इसलिए इसमें जैन सिद्धान्त की दृष्टि से ही विषयों का उल्लेख किया है। यथा—आत्मा अपने देह-परिमाण का है—

'न चाणुमात्रो न कणप्रमाणो नाप्येवमङ्गुष्ठसमप्रमाण।
न योजनात्मा नच लोकमात्रो देही सदा देहपरिप्रमाण ॥'(७।५)

आत्मा का प्रमाण अणुमात्र भी नहीं है, एक कणमात्र भी नहीं, एक अंगुष्ठ समान प्रमाणवाला भी नहीं और न इसका प्रमाण योजन का है, न लोकव्यापी है। आत्मा सदा अपने देह के प्रमाणवाला है।

वैद्य और आयुर्वेद के लक्षण भी अपने शब्दों में कहे हैं। इसमें आयुर्वेद का लक्षण चरकादि-सम्मत है। परन्तु वैद्य शब्द नये रूप में सामने आता है—

"अच्छी तरह उत्पन्न केवल ज्ञानरूपी नेत्र को विद्या कहते हैं। उस विद्या से उत्पन्न उदात्त शास्त्र को 'वैद्य-शास्त्र', ऐसा व्याकरण को जाननेवाले विद्वान् कहते हैं। इस वैद्य-शास्त्र को जो लोग अच्छे प्रकार से मनन करके पढ़ते है, उनको भी वैद्य कहते हैं (१।१८)।"

"वैद्यशास्त्र को जाननेवाले इस शास्त्र को आयुर्वेद भी कहते हैं। वेद शब्द विद्

धातु से बना है, जिसका अर्थ ज्ञान, विचार और लाभ है। इस वेद शब्द के पीछे 'आयु' शब्द जोड दिया गया है। आयु का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र आयुर्वेद है। (१।१९)।"

आयुर्वेद के अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही कहे गये हैं (सुश्रुत में शूद्र को भी कुल-गुण सम्पन्न होने पर मन्त्र को छोडकर आयुर्वेद पढाने में कुछ आचार्यों की सम्मति बतायी गयी है)।

क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य कुल में जिसका जन्म हुआ हो, आचरण शुद्ध हो, जो बुद्धिमान्, कुशल, नम्र हो वही इस पवित्र शास्त्र को पढने का अधिकारी है। प्रात काल गुरु की सेवा मे उपस्थित होकर इस विषय के उपदेश देन की प्रार्थना करे (१।२१)।

चिकित्सा पद्धति में ज्योतिष का विचार भी इसमे लिखा है। नाडी का विचार इनमे नही मिलता—

'प्रश्नैर्निमित्तविधिना शकुनागमेन ज्योतिर्विशेषतरलग्नशशाङ्कयोगै.।
स्वप्नैश्च दिव्यकथितैरपि चातुराणामायु प्रमाणमधिगम्य भिषग्यतेत ॥'

रोगी की परिस्थिति को रोगी से तथा दूसरो से पूछकर, निमित्त सूचना, शकुन, ज्योतिष-शास्त्र के लग्न, चन्द्रयोग आदि, स्वप्न व दिव्य ज्ञानियो के कथन आदि द्वारा रोगी के आयु प्रमाण को जानकर वैद्य चिकित्सा करे।

परीक्षा दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न इन तीन से बतायी गयी है। चिकित्सा करने के नियम भी ज्योतिष के अनुसार मुहूर्त्त विचार तथा राजा की अनुमति, साध्यासाध्य आदि बातो के विचार के आधार पर कहे गये हैं (७।५५)।

कल्याणकारक में रोग-क्रम या रोग-चिकित्सा वर्णन का उल्लेख सबसे भिन्न है। इनमें वात-पित्त-कफ की दृष्टि से रोगो का उल्लेख है। वातरोगो में वात सम्बन्धी नव रोग लिखने का यत्न किया गया है। पित्त-रोगो में ज्वर, अतिसार का उल्लेख किया है। इसी प्रकार कफरोगो में कफ से सम्बन्धित रोग है। इन तीनो रोगो के लिए महामायाविकार नाम दिया गया है। नेत्ररोग, शिरोरोग आदि रोगो का क्षुद्र रोगाविकार में उल्लेख किया है। रसायन प्रकरण पहले आ गया है। इस प्रकार से ग्रन्थकर्त्ता ने अपने विचार से एक नया क्रम रोग-वर्णन मे अपनाया है। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकर्त्ता ने माधवनिदान क्रम को छोडा है। सम्भवत उसको माधवनिदान का पता नही होगा।

आयुर्वेद में प्रसिद्ध सोमकल्प, सोमसेवन विधि को चन्द्रामृत-रसायन नाम से कहा गया है (६।५७—६३)। इसी प्रकार चर्म-चिकित्सा में क्षार, अग्नि, शस्त्र और

'मासमत्स्यगुडमाषमोदकं कुष्ठमावहति सेवितं पयः।
शाकजाववसुरासवैश्च तन्मारयत्यबुधमाशु सर्पवत् ॥
मासादा श्वापदा सर्वे वत्सरातरकामिनः।
अदृष्यास्तत एव स्युरभक्ष्यपिशिताशिन ॥''

चरक-सहिता मे वर्णित मासभक्षण के विषय का निराकरण किया गया है। कन्द, मूल, लता आदि का भेद मास से इस प्रकार बताया गया है —

'मासं जीवशरीर जीवशरीर भवेन्न वा मासम्।
यद्वन्निम्बो वृक्ष. वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्ब ॥'

नीम वृक्ष है, परन्तु वृक्ष नीम नही। इसी प्रकार से मास जीव-शरीर है, जीव-शरीर मास नही। इस प्रकार से गुल्म, लता आदि जो अन्त चेतनावाली वनस्पतियाँ हैं, वे मास की कोटि मे नही आती।

ग्रन्थ की भाषा, छन्द रचना सरल और मधुर है, छन्द भी सुन्दर है—

'केचिद् विचाररहिता' प्रथितप्रतापा. साक्षात् पिशाचसदृशा. प्रचरन्ति लोके।
तं किं यथाप्रकृतमेव मया प्रयोज्य मात्सर्यमार्यगुणवर्यमिति प्रसिद्धम् ॥' (१।१६)

प्रशस्त औषधि का लक्षण—

'स्वल्प सुरूप सुरस सुगन्धि, मृष्टं सुखं पथ्यतम पवित्रम्।
साक्षात्सदा दृष्टफल प्रशस्तं, सप्रस्तुतार्थं परिसगृहीतम् ॥'

कल्याणकारक एक प्रकार से अष्टागसग्रह है, जो अपने नये क्रम मे लिखा गया है। आयुर्वेद के सिद्धान्त अपने जैन धर्म के अनुसार वर्णित है। इसमें कवि ने स्वय कहा है—

'प्रोद्यज्जिनप्रवचनामृतसागरान्त., प्रोद्यत्तरगनिसृताल्पसुशीकरं वा।
वक्ष्यामहे सकललोकहितैकधाम कल्याणकारकमिति प्रथितार्थमुक्तम् ॥
नैवातिवाक्पटुतया न च काव्यदर्पान्नैवान्यशास्त्रमदभंजनहेतुना वा।
किन्तु स्वकीयतप इत्यवधार्य वर्यमाचार्यमार्गमधिगम्य विधास्यते तत् ॥'
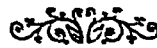
१. मास न खाने की यह युक्ति गाय-भैंस में लागू होती है, वे भी वर्ष में एक बार ही गर्भ धारण करती हैं। वस्तुतः पशुओं का नियंत्रण प्रकृति करती है।

भाग २

रसशास्त्र-निघण्टु

ग्यारहवाँ अध्याय

रसविद्या-रसशास्त्र

आयुर्वेद में दो परम्पराओं का सामान्यतः उल्लेख है। वेद की परम्परा में रुद्र को प्रथम वैद्य कहा है—'प्रथमो दैव्यो भिषक्' (यजु १६।५), 'भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि' (ऋ० २।३३।४)। आयुर्वेद ग्रन्थों की परम्परा में ब्रह्मा आयुर्वेद का प्रथम उपदेष्टा है (चरक, सू०, अ० ४, सुश्रुत, सू० अ० १, संग्रह, सू० अ० १।६)। रसशास्त्र में शिव को उपदेष्टा कहा गया है। वेदों का सम्बन्ध भी ब्रह्मा से ही है, इसलिए मन्त्रों का सम्बन्ध ब्रह्मा से माना गया। रुद्र-शिव की जो कल्पना पुराणों में है, वह अशुचित्वपूर्ण है (कुमारसम्भव ५।६७—६९)। इसलिए अपवित्रता से सिद्ध होनेवाले तन्त्रों का सम्बन्ध शिव के साथ जोड़ा गया।

जहाँ तक सिद्धि-सफलता का प्रश्न है, वह मन्त्र और तंत्र से मिलती है। चरक में ऐश्वर्य आठ प्रकार का वर्णित है, 'आवेश—परशरीर-प्रवेश, परचित्त-ज्ञान, विषयों को इच्छानुसार प्रस्तुत करना, अतीन्द्रिय दर्शन, अतीन्द्रिय श्रवण, सब वस्तुओं का स्मरण, अमानुषी कान्ति, इच्छा होने पर अदृश्य होना—यह आठ प्रकार का ऐश्वर्य योगियों का है' (शा० अ० १।१४०—१४१)। योगशास्त्र में सिद्धि प्राप्त करने के साधनों में तप, ज्ञान, समाधि के साथ औषधि को भी कारण माना है (योगदर्शन—४।१)।

इनमें औषधि भी सिद्धि-सम्पत् देती है। इसी सम्पत् का सम्बन्ध तंत्र से है, शेष वस्तुओं से प्राप्त सम्पत् का सम्बन्ध मंत्र से है। गीता में सम्पत् दो प्रकार की कही गयी है, एक दैवी सम्पत् और दूसरी आसुरी सम्पत्। इनमें दैवी सम्पत् संसार के बन्धन से मुक्त कराने के लिए है, और आसुरी सम्पत् इसमें जकड़ने के लिए है (गीता १६।५)। लोक में दैव और आसुर दो स्वभाव हैं, इसलिए सिद्धि या सम्पत् भी दो प्रकार की है। यह सम्पत् दोनों प्रकार के मनुष्य प्राप्त करते हैं। इसलिए हिमालय पर तप करके ऋषियों ने जो सिद्धि या सम्पत् प्राप्त की थी—उसी प्रकार की सिद्धियाँ श्मशान में मुर्दे के ऊपर बैठकर तप करके भी प्राप्त करनेवाले

---

१. नरास्थिमालाकृतचारुभूषणः श्मशानवासी नृकपालभूषणः ।
पश्यामि योगाञ्जनशुद्धचक्षुषा जगन्मिथो भिन्नमभिन्नमीश्वरात् ॥
(प्रबोधचन्द्रोदय, ३।१२)

आयुर्वेद में योगांजन—"कासीसगासुमनसांजनानि जात्यास्तथा कौम्पकमेव चापि ।
प्रक्लिन्नवर्त्मन्युपदिश्यते तु योगाञ्जनं त मधुनाऽवघृष्टम् ॥
(सुश्रुत, उत्तर० अ० ११।१५)

२ मन्ताण तन्ताण ण किं पि जाण झाणं च णो किं पि गुरुप्पसादा ।
मज्ज पिबामो महिलं रमामो मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा ॥
रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्ज मास पिज्जरा खज्जरा ।

इस प्रकार से तंत्र सिद्ध करनेवालों का रास्ता मन्त्रद्रष्टा ऋषियों से भिन्न था। मन्त्र का सम्बन्ध ब्रह्मा से है, तन्त्र का सम्बन्ध-शिव से है। शाक्त मत के अनुसार चार प्रधान आचार हैं—वैदिक, वैष्णव, शैव और शाक्त। शाक्त आचार भी चार प्रकार के हैं—वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इनमें कौलाचार सबमें श्रेष्ठ है।

शाक्त आगम तीन प्रकार के हैं, सात्त्विक अधिकारियों के लिए कहे गये आगम तन्त्र हैं, राजस अधिकारियों के लिए बने आगम यामल और तामस अधिकारियों के लिए बने आगम डामर हैं। (नाथसम्प्रदाय)

चरक में तन्त्र शब्द आयुर्वेद-विद्या-शाखा-सूत्र शब्दों के पर्याय रूप में आता है (सू० अ० ३०।३१), तन्त्र शब्द शरीर धारण अर्थ में भी आता है ('निरुक्त तन्त्र-णात् तन्त्रम्—सू० अ० ३०।३०)। यह नियमन या नियन्त्रण अर्थ में भी आता है ('प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी न ह्यन्योऽन्य तन्त्रक' शा० अ० १।७७)। कापालिक भी अपने शरीर को नियमित नियन्त्रित करते थे, इससे वे भी योगी, सिद्ध कहे जाते थे। यही सिद्धि है। यह जिनको प्राप्त हुई वे सिद्ध कहे गये[1]।

भिक्खा भोज्ज चम्मखंड च सज्जा कोलोधम्मो कस्सणो भोदि रम्मो ॥
मुत्ति भणन्ति हरिब्रह्ममुखादि देवा झाणेण वेअपठणेण कदुक्किआए।
एक्केण केवल मुमादइएण दिट्ठो मोक्खो सम सुर अकेलि सुरारसेहि ॥
(कर्पूरमंजरी १।२२-२४)

१ मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतीर्जुह्वता
वह्नौ ब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन न पारणा।
सद्य. कृत्तकठोरकण्ठविगलत्कीलालधारोज्ज्वलै—
रर्च्यो न पुरुषोपहारबलिभिर्देवो महाभैरव ॥ (प्रबोधचन्द्रोदय)

मालतीमाधव में—"इद च पुरुण निम्बतैलावतपरिमृज्यमानरसोनकर-स्तगन्धिभिश्चिताधूमैरधस्ताद् विभावितस्य श्मशानवटस्य नेदीय करालायतनम्। यत्र पर्यवसितमत्रमावनस्यास्मद्गुरोरघोरघण्टस्याज्ञया सविशेषमद्य मया पूजासम्भार सनिधापनीय। कथित हि मे गुरुणा—वत्से कपालकुण्डले! भगवत्या करालया यन्मया प्रागुपयाचित स्त्रीरत्नमुपहर्तव्य, तदत्रैव नगरे विहितमास्ते।"—पांचवां अक

माधव नरमांस का विक्रेता था। अघोरघट और कापालिक शिव की ही पूजा करते मिलते हैं, यथा कापालिकी—"वन्दे नन्दितनीलकण्ठपरिषद्व्यक्तस्तव-

सिद्धसम्प्रदाय या नाथसम्प्रदाय

डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नाथसम्प्रदाय' नाम से एक पुस्तक लिखी है। उसमें सिद्धो के विषय में विस्तार से उल्लेख किया गया है। जो सिद्ध हुए हैं वे नाथ सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे, वे इसी परम्परा में हुए हैं। रसशास्त्र का आद्य कर्त्ता जिन नागार्जुन को कहा जाता है, वह भी इन्ही चौरासी सिद्धो में से एक था। इसलिए उसी के आधार पर सिद्धो की जानकारी दी गयी है। इससे रसशास्त्र का विकास तथा समय बहुत स्पष्ट हो जाता है। विशेषत जब इसके साथ मे अल्बेरुनी का कथन भी मिल जाता है। अल्बेरुनी ११वी शताब्दी में भारत आया था, और यही समय सिद्धो का है, जैसा हम देखेंगे।

'हठयोगप्रदीपिका' की टीका मे ब्रह्मानन्द ने लिखा है कि सब नाथो मे प्रथम आदिनाथ है जो स्वय शिव स्वरूप ही हैं। यही नाथसम्प्रदायवालो का विश्वास है। इससे अनुमान होता है कि ब्रह्मानन्द नाथसम्प्रदाय को जानते थे। इस सम्प्रदाय के लिए सिद्धमत, सिद्धमार्ग, योगमार्ग, योगसम्प्रदाय, अवधूतमत और अवधूतसम्प्रदाय नाम भी आते हैं। इनके मत का अति प्रामाणिक ग्रन्थ 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' है, जिसे सक्षिप्त करके अठारहवी शताब्दी में बलभद्र पण्डित ने 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' बनाया। इससे पता चलता है कि अति प्राचीन काल से इसे 'सिद्धमत' कहा जा रहा है। गोस्वामी तुलसीदास भी इस मत को सिद्धमत कहते थे। सिद्धमार्ग ही नाथमत है[1]।

आदिनाथ स्वय शिव है और मूलत समग्र नाथसम्प्रदाय शैव है। कापालिक मत भी नाथसम्प्रदाय से उत्पन्न हुआ है। क्योकि शावर तन्त्र मे कापालिको के बारह आचार्यों में प्रथम नाम आदिनाथ कहा गया है और बारह शिष्यो में कई नाथ-मार्ग के प्रधान आचार्य माने गये हैं। शाक्त मार्ग जो तन्त्रानुसारी है, उसके उपदेष्टा

क्रीडितम् ॥" अघोरघट—"चामुण्डे भगवति मन्त्रसाधनदा वुद्धिष्ठामुपनिहिता भजस्व पूजाम् ॥"

पचतंत्र में भी भैरवानन्द को विवर प्रवेश, शाकिनी साधन, श्मशान सेवन, महामास विक्रय और साधक-वर्त्तिवाला बताया है (अपरीक्षित कारक)।

१ वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिर्ग्रस्तः परं मायया
भाट्टा' कर्मफलाकुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिका.।
अन्ये भेदरता विषादविकलास्ते तत्त्वतो वचिता—
स्तस्मात् सिद्धमत स्वभावसमय धीर' पर सश्रयेत् ॥

भी नाथ ही हैं। नाथसम्प्रदाय की साक्षियो से स्पष्ट है कि तान्त्रिको का कौलमार्ग और कापालिक मत नाथ-मतानुयायी हैं। भवभूति के मालतीमाधव में कापालिको का जो वर्णन है, वह बहुत भयकर है। वे लोग मनुष्य की बलि दिया करते थे। परन्तु इतना इस नाटक से स्पष्ट है कि उनका मत षट्चक्र और नाडिकानिचय के काययोग से सम्बद्ध था (५–२)। यह काय-योग नाथपन्थियो की विशेषता है। चौरासी बौद्ध सिद्धो में एक सिद्ध कान्हूपाद या कृष्णपाद हुए हैं, इन्होंने अपने को कापालि या कापालिक कहा है। ये प्रसिद्ध सिद्ध जालधर के शिष्य थे। जालधर नाथ औघड थे, जब कि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ कनफटा। जो लोग कानो को छिदवाकर कर्णकुण्डल पहनते हैं, उन्हें कनफटा कहते हैं। औघडो में बहुत से कान नही छिदवाते, इनका वेश भी विचित्र होता है।[1]

सम्प्रदाय के पुराने सिद्ध—हठयोगप्रदीपिका में नाथपथ के सिद्ध योगियो के नाम दिये हैं। उनमें मथानभैरव, काकचण्डीश्वर, भैरव, गोरखनाथ नाम भी। महार्णव-तन्त्र में दिये नौ नाथो में नागार्जुन का नाम है। वर्णरत्नाकर पुस्तक के कर्ता कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर हैं, जो मिथिला के राजा हरिसिंह देव (१३००–१३२१ ईसवी) के सभासद थे, इसमें चौरासी सिद्धो के नाम दिये हैं। वास्तव में नाम ७६ ही हैं, आठ नाम छूट गये हैं। परन्तु श्री राहुल साकृत्यायन ने जो सूची दी है, उसमें चौरासी नाम हैं। दोनो सूचियो में अनेक सिद्ध उभय-साधारण हैं। राहुलजी की सूची वज्रयानियो (सहजयानी सिद्धो) की है। इनके नाम के पीछे 'पा' आता है।

समय—नाथ-सम्प्रदाय में गोरखनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ सम्बन्धी बहुत-सी कहानियाँ प्रचलित हैं। उन सबका निष्कर्ष निकालते हुए श्री द्विवेदीजी ने लिखा है—

---

१ जोगी का वेश—"तजा राज राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहें वियोगी ॥१॥
तन बिस भर मन बाऊर रहा। अरुझा पेम परी सिर जटा ॥२॥
चद बदन औ चदन देहा। भसम चढाइ कीन्ह तन खेहा ॥३॥
मेखल सिंगी चक्र धधारी। जोगौटा रुद्राख अधारी ॥४॥
कथा पहिरि डड कर गहा। सिद्धि होई गोरख कहा ॥५॥
मुद्रा स्रवन कठ जप माला। कर उदपान काँध बघछाला ॥६॥
पाँवरि पाँव लीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेष करँराता ॥७॥"
(पद्मावत १२।१२६)

(१) मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ के गुरु थे और जालन्धरनाथ कानुपा के गुरु थे। मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा लिखित 'कौलज्ञाननिर्णय' के अनुसार इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व है। (२) अभिनवगुप्त आचार्य ने अपने तन्त्रालोक में मच्छन्द विभु को नमस्कार किया है, ये मच्छन्द विभु मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं। अभिनवगुप्त का समय निश्चित है। इन्होंने सन् ९११ मे ब्रह्मस्तोत्र की रचना तथा १०१५ में प्रत्यभिज्ञान की बृहती वृत्ति लिखी थी। इस प्रकार से अभिनवगुप्त दसवीं और ग्यारहवी शताब्दी के मध्य में हुए थे।

(३) महापण्डित राहुल साकृत्यायन की सूची में मीनपा—जिनको मत्स्येन्द्रनाथ का पिता कहा गया है, वास्तव मे मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्न है, तथा राजा देवपाल के राज्यकाल में (८०९ से ८४९ ई० तक) हुए हैं। इससे इनका समय नवी शताब्दी निश्चित होता है।

इन प्रमाणो तथा अन्य 'प्रबन्धचिन्तामणि' आदि कथाओ के आधार पर मत्स्येन्द्र-नाथ का समय नवीं शताब्दी के बीच का सिद्ध होता है।

अल्बेरूनी ११ वीं शताब्दी मे भारत आया था, उसने अपने लेख में सिद्धो की कीमियागिरी का उल्लेख किया है[1]। इसने नागार्जुन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वह मुझसे एक सौ वर्ष पूर्व हुआ है। व्याडि का भी उल्लेख किया है। उसका कहना है—

"हिन्दू अलकैमी—कीमियागिरी पर पूरा ध्यान नही देते, परन्तु कोई भी जाति पूर्णत इससे बची नही है। (इब्नबतूता ने भारतीय योगियो के वर्णन में लिखा है कि चमत्कार की शक्ति प्राप्त करने के लिए बहुत से मुसलमान इनके पीछे लगे फिरते है—नाथसम्प्रदाय, पृष्ठ १९।) किसी-किसी जाति का इसके प्रति अधिक झुकाव है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि जिसका झुकाव इधर है, वह बुद्धिमान् है और जिसका झुकाव नही, वह मूर्ख है। क्योंकि हम देखते हैं कि बहुत-से बुद्धिमान् मनुष्य इस कीमियागिरी की ओर आँख भी नही उठाते। दूसरे मूर्ख व्यक्ति इसके पीछे पागल हुए घूमते हैं। जो बुद्धिमान् व्यक्ति इस पर काम कर रहे है, और विश्वास रखते है, उनको किसी प्रकार का दोष नही दिया जा सकता। वे केवल अपनी उत्सुकतावश भाग्य को सुधारने तथा दुर्भाग्य को दूर करने में लगे हुए है। एक दार्शनिक से पूछा गया कि विद्वान्

---

१ 'अल्बेरूनी ने रसविद्या और रसायन विद्या में अन्तर माना है और रसविद्या को इन्द्रजाल से भिन्न बताया है। उसने विक्रमादित्य और व्याडि की; राजा वल्लभ और एक फलविक्रेता, धारानगरी के राजमहल में चाँदी के टुकड़े की कहानी देकर सोना-चाँदी बनाने का उल्लेख किया है। (अल्बेरूनी का भारत, भाग २ पृष्ठ ११०)

किस लिए धनियो के द्वार पर जाते हैं, जव कि धनी विद्वानों के द्वार की ओर झाँकते भी नही। तव उसने कहा कि विद्वान् जानते हैं कि धन का उपयोग किस प्रकार से करना चाहिए, परन्तु धनी यह नही जानते कि विद्या का उपयोग कैसे होता है।

ये लोग इस विद्या को छिपाकर रखते हैं और जो इन पर विश्वास या श्रद्धा नही रखता उसको नही सिखाते। (पूछने पर शिव ने वताया कि यह गुप्त रहस्य सवके सुनने योग्य नही है, चलो हम क्षीरसागर में रग (=डोगी) पर वैठकर इस ज्ञान के विपय में वार्तालाप करें—'नाथसम्प्रदाय', पृष्ठ ४५। 'रसार्णव' में शिव ने पार्वती को रस-विद्या समझायी थी, यह ज्ञान गुप्त रखा जाता था।) इसलिए मैं इस विद्या को हिन्दुओ से नही सीख सका। मुझे पता नही कि वे इसमे खनिज, प्राणिज या वानस्पतिक कौन द्रव्य काम में लाते हैं। मैंने उनको केवल प्रक्रिया के सम्वन्ध में ऊर्ध्वपातन (Sublimation), निक्षेपीकरण (Calcination), विश्लेपण (analysis), वसा-स्नेह का पतला करना (waxing of tole) कहते सुना है। इसको वे अपनी भापा में 'तालक' कहते थे। इसलिए मै समझता हूँ कि कीमियागरी की कोई खनिज प्रक्रिया होगी।

कीमियागरी से मिलती-जुलती इनकी कोई विशेप प्रकार की विद्या है, इसको ये 'रसायन' कहते है।[1] रस शव्द का अर्थ स्वर्ण है, (पारद से सोना वनता था—

---

१. पद्मावत में वहुत स्थानो पर रसायन विद्या का उल्लेख है, इसमें से कुछ वचन नीचे उद्धृत किये गये हैं। इनकी विस्तृत व्याख्या डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल के सजीवन भाष्य में देखनी चाहिए।

१—धातु कमाई सिख तें जोगी। अव कस जस निरधातु वियोगी ॥४॥
कहाँ सो खोए बीरौ लोना। जेहि तें होई रूप औ सोना ॥५॥
कस हरतार पार नहीं पावा। गधक कहाँ कुरकुटा खावा ॥६॥ २७।२९३

२—पार न पाव जो गन्धक पिया। सो हरतार कहौ किमि जिया ॥४॥
सिद्धि गोटिका जा पहँ नाहीं। कौन धातु पूछहु तेहि पाहीं ॥५॥
अव तेहि वाजु राँग भा डोलौं। होइ सार तव वर कै बोलौं ॥६॥ २७।२९४

३—नवौ नाथ चलि आवहिं, और चौरासी सिद्ध।
आजु, महारन भा रथ, चले गगन गरुड औ गिद्ध ॥ २५।८।२६४

इसमें नौ नाथ और ८४ सिद्धो का उल्लेख है। शरीर का आयाम-व्याम भी ८४ अगुल है ('केवल पुन शरीरमगुलिपर्वाणि चतुरशीति। तदायामविस्तारसम समुच्यते।' चरक वि अ ८।११७)। आसन भी ८४ हैं, योनियाँ भी ८४ हैं।

इससे शायद अल्बेरुनी ने रस का अर्थ सोना समझा हो—लेखक।) इसका अर्थ यह है कि इसमे कुछ औपधियो का उपयोग विशेप रूप से होता है, ये औपधियां वृक्ष—वनस्पतियो से प्राप्त की जाती है। इस विद्या का उद्देश्य था—निराश रोगियो को स्वस्थ करना, वृद्धो को युवा करना, जिससे उनके वाल काले हो जायें, उनमें पौरुप, यौवन पूर्व की भांति आ जाय (यज्जराव्याधिविध्वंसि तद्रसायनमुच्यते)। मैंने पहले भी पतञ्जलि का वचन उद्धृत किया है कि इसके लिए रसायन ही एक मात्र उपाय है। इसको सत्य समझना चाहिए, यह मूर्खों की वात नही है। जो आदमी मुख में रखे भोजन को नही निगलता, उसी की भांति वह मूर्ख है, जो इस विद्या का उपयोग अपनी भलाई के लिए नही करता। सोना वनाने के लिये मूर्ख हिन्दू राजाओ के लोभ की कोई सीमा नही यदि उनमें से किसी एक को सोना वनाने की इच्छा हो और उसे यह परामर्श दिया जाये कि इसके लिये कुछ छोटे-छोटे सुन्दर वालको का वध करना आवश्यक है, तो वह राक्षस यह पाप करने से भी नही रुकेगा, वह उन्हें जलती आग मे फेंक देगा। क्या ही अच्छा हो यदि इस वहुमूल्य रसायन विद्या-किमियागिरी को 'पृथ्वी की सवसे अन्तिम सीमाओ में निर्वासित कर दिया जाय, जहां कि इसे कोई प्राप्त न कर सके।" (अल्वेरूनी का भारत, भाग २ पृष्ठ ११६)

सोना वनाने के लिए सहस्रवेधी रस का जिकर (तीसरे उपाख्यान में) हरिभद्र सूरि ने अपने धूर्त्तोपाख्यान (भारतीभवन-वम्बई से प्रकाशित) मे किया है। ये आठवीं शताब्दी मे हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि इनसे पूर्व सातवी शती में सोना पारे से वनने लगा था।

ग्यारहवी शताब्दी से पूर्व नवी और दसवी शताब्दी के वने सिद्धयोग और चक्रदत्त मे रसविद्या का और तत्सम्वन्धी मन्त्र-तन्त्र का उल्लेख मिलता है (वृन्द, रसायनाधिकार)। चक्रदत्त में स्वर्ण आदि धातुओ का शोधन-मारण लिखा है, परन्तु सामान्यत लोह का उपयोग उसके पतले पतरे वनाकर, आग में तपाकर, कांजी या अन्य द्रव में वार-वार वुझाकर, कूटकर, वस्त्र मे छानकर सूक्ष्म चूर्ण करके प्रयोग करने का उल्लेख है।

सोलहवी सदी की पद्मावत मे जायसी ने सिद्ध योगी के द्वारा सोना वनाने तथा अन्य रसायन क्रियाओ का उल्लेख वहुत स्पष्ट किया है। इसने सोना साफ करने की 'सलोनी' क्रिया का भी उल्लेख किया है—

> चपावती जो रूप उतिमाहाँ। पदुमावति कि जोति मन छाँहाँ ॥१॥
> भै चाहे असि कथा सलोनी। मेटि न जाइ लिखो जस होनी ॥२॥ (३।५०.)

सलोनी—सोने से चांदी की मिलावट साफ करने के लिए सोने को पीटकर पत्तर वना लेते हैं। इन पत्तरो पर कडे की राख, ईंटो की वुकनी, सांभर नमक और कड़ुए

तेल की सलोनी (इसी मसाले का नाम सलोनी है) में डुबोकर कडो की आँच में कई बार तपाते हैं, जिससे वह सलोनी चाँदी को खा लेती है और सोना शुद्ध हो जाता है। इसी को सोने की सलोनी करना कहते हैं। महाभारत में भी कहा है—

सुवर्णस्य मल रूप्य रूप्यस्यापि मल त्रपु।
ज्ञेय त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मल मलम्॥ उद्योग. ३९।६५

जायसी से लगभग २०० वर्ष पूर्व लिखी हुई ठक्कुर फेरू कृत 'द्रव्यपरीक्षा' में सलोनी द्वारा सोना-चाँदी शुद्ध करने की विधि लिखी है—(सजीवन भाष्य-पद्मावत, पृष्ठ ५१)[1]

इससे स्पष्ट है कि रसविद्या—कीमियागरी का रूप सिद्धो से नवी शताब्दी में प्रचलित हुआ और सोलहवी शताब्दी तक पूर्ण उन्नत हो गया था।

सर्वदर्शनसग्रह में रसेश्वरदर्शन समिलित हुआ है। इसमें पारद और अभ्रक के सयोग से शरीर को सिद्ध करने का उल्लेख है। यह सिद्धि पारे के द्वारा ही मिल जाती है। पारे का सम्बन्ध शिव के साथ और अभ्रक का सम्बन्ध पार्वती के साथ बताया है। इन दोनो के सयोग से सृष्टिजन्म-सिद्धि मिलती है। यह सिद्धि इसी जन्म में प्राप्त करनी चाहिए। मरने के पीछे सिद्धि प्राप्त करने (मोक्ष प्राप्ति) का कोई अर्थ नही। इसलिए इस शरीर को दिव्य तनु बनाना चाहिए, जो कि बहुत वर्षो तक स्थिर रह सके। यह सफलता पारद से मिलती है, क्योकि वह ससार के दु खो से पार पहुँचाता है ('ससारस्य पर पार दत्तेऽसौ पारद स्मृत')। महादेव के शरीर का रस होने से इसे रस कहा गया है। अकेला पारद ही सिद्ध होकर शरीर को अजर-अमर कर देता है। पारे की सिद्धि की परीक्षा धातुसिद्धि से होती थी—जब यह एक धातु को (हलकी सस्ती धातु ताम्र आदि को) दूसरी उच्च महँगी-सोना-चाँदी मे बदल सकता था, तब इसको सिद्ध समझा जाता था। इसके पीछे इसका देहसिद्धि के लिए उपयोग होता था। अभ्रक और पारद के सयोग से मृत्यु और दारिद्रच दोनो नष्ट होते हैं, अर्थात् इस क्रिया से लोह-सिद्धि और देह सिद्धि दोनो मिलती है।[2] यह सिद्धियाँ जिनको प्राप्त थी, वे ही सिद्ध

१—इन योगियो का योग से भी सम्बन्ध था—उसे भी पद्मावत में कहा है, इसमें चौपड खेल के रूप में योग का उल्लेख है—

बोलौं बचन नारि सुन सांचा। पुरुख क बोल सपत औ बाचा॥१॥
यह मन तोहि अस लावा भारी। दिन तोहि पास और निसि सारी॥२॥
पौ परि बारह बार मनावौं। सिर सौं खेलि पैंत जिऊ लावौं॥३॥ २७।३१३.

२. पारदो गदितो यस्मात्परार्थं साधकोत्तमैः।
सुप्तोऽय मत्समो देवि मम प्रत्यगसभव॥

कहे गये हैं। इन सिद्धो का सम्प्रदाय ही नाथसम्प्रदाय, कापालिक, औघड, वामपथी, कौलाचार कहा जाता है।

कौलमत में कुल का अर्थ शक्ति है और अकुल का अर्थ शिव है। कुल से अकुल का सम्बन्ध स्थापन ही कौलमार्ग है। शिव का कोई कुल-गोत्र नही, इसलिए वे अकुल हैं। शिव की सृष्टि करने की इच्छा का नाम शक्ति है। चन्द्रमा और चांदनी का जो परस्पर सम्बन्ध है, वही शिव और शक्ति का सम्बन्ध है। इनके मत में अन्तिम सिद्धि मोक्ष ही है। इसको सर्वात्मता सिद्धि (समस्त जगत् के सब प्रपञ्चो के साथ अपने को अभिन्न समझना) कहते हैं। प्रपच से अभिप्राय रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श से हैं।[1]

एक प्रकार से कौल के लिए सब इन्द्रियभोगो के प्रति नि स्पृह बनने का उपदेश दिया गया है, किसी भी इन्द्रियार्थ में उसे स्पृहयालु नही होना चाहिए। सब वर्णो के साथ वह एक समान वरते, भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करे। उसके लिए मेरा या दूसरे का भेद, बद्ध, और मुक्त का कोई भेद नही रहना चाहिए।

कौलसाधना का लक्ष्य कुण्डलिनी शक्ति को उद्‌बुद्ध करना है। इसके लिए शरीर के षट्चक्रो को जानकर इनको वश में करना होता था। इसी चक्रवर्ग के अन्तिम चक्र में सहस्र दल होने से उसे सहस्रार भी कहते हैं। यही पर शिव की स्थिति है। शिव का निवास होने से इसे कैलास भी कहते हैं ('कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति'—शिवसहिता ५।१५१-२)। सहस्रार मे स्थित शिव तक शक्ति का उत्थापन करके शिव के साथ इसे मिलाना ही कौल साधना का परम लक्ष्य है। यही मिलन आनन्दमय है। इस आनन्द प्राप्ति के बाद साधक के लिए कुछ करणीय नही रहता।

सात प्रकार के आचार है—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इनमें कौलाचारियो में कोई नियम नही, इनके लिए कर्दम और चन्दन में, पुत्र और शत्रु में, श्मशान और गृह में, स्वर्ण और तृण मे लेश मात्र भी भेदबुद्धि नही होती। ये सब प्रकार के द्वन्द्वो से मुक्त होते हैं ('अथ किं बहुनोक्तेन सर्वद्वन्द्वविवर्जित')। यही इनका चरम लक्ष्य है

तान्त्रिक प्रवृत्ति इस मार्ग में किस प्रकार प्रविष्ट हुई, इस सम्बन्ध में अनङ्गवज्र के वचनो से प्रकाश पडता है। उसका कहना है कि 'वासनाएँ दबाने से मरती नही, अपितु

---

१ 'जीवानन्दनम्' नाटक—आनन्दरायमखी प्रणीत, इस सम्बन्ध में उपयोगी है।

'कुल' शब्द के विशेष अर्थ के लिए नाथसम्प्रदाय की पुस्तक देखें।

और भी अन्तस्तल में जाकर छिप जाती हैं। अवसर मिलते ही वे फिर से उभड़ आती हैं और साधक को दबोच लेती हैं। इसलिए इनको दबाना ठीक नहीं। उचित रास्ता यह है कि समस्त कामनाओं का उपभोग किया जाय, तभी शीघ्र चित्त का सक्षोभ दूर होगा और सच्ची सिद्धि प्राप्त होगी।' इस प्रकार की धारणा से कामोपभोग का साधना क्षेत्र में प्रवेश हुआ। इस साधना की पृष्ठ भूमि शून्यवाद था। समस्त भावों का स्वभाव शून्यता है (जैसे गुड का धर्म माधुर्य है)। शून्यता का मूर्त रूप ही वज्रसत्व है। गुरु का नाम भी वज्र है, जिसने उसे वश में करते हैं, वह वज्रौली है। वज्र-सत्व, वज्रधर, वज्रपाणि इसी शून्य के नाम हैं। यही वज्रधर समस्त बुद्धों के गुरु हैं।

वज्रयान और नाथसम्प्रदाय की योगसाधना में बहुत समानता है (नाथसम्प्रदाय, पृष्ठ ९३-९४)। इन्होंने नाडी आदि वस्तुओं के नाम लोकसत्य और परमार्थ सत्य (आध्यात्मिक) दृष्टि से बनाये हैं, यथा—

नगरे बाहिरे डोम्बि तोहारि कुड़िआ।
छोइ छोइ जाइ सो ब्राह्म नाडिया॥
आलो डोम्बि तोए सग करिबे म सांग।
निघिं घन कान्ह कापालि जोइ लांग॥

एक सो पदमा चौपट्ठी पाखुडी।
तहि चढीनाचअटोम्बि बापुडी॥
एवक न किज्जइ मंत न तत।
णिज घरणी लेइ केलि करन्त॥

को लेकर मौज करो, तो उनका मतलब इसी अवधूती के साथ विहार करने से होता है। यह सावना नाथमार्गियो से वहुत मिलती है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड—अत्रिपुत्र ने कहा है कि "यह पुरुष लोक के समान है, लोक में जितने भी मूर्तिमन्त भाव-विशेष हैं उतने ही पुरुष में हैं और जितने पुरुष में हैं उतने ही लोक में हैं, इसी दृष्टि से बुद्धिमानो को दोनो को देखना चाहिए'। इसके आगे दोनो की तुलना दिखायी गयी है (चरक शा अ ५)। नाथमार्ग में शिव और शक्ति इन दोनो में सामञ्जस्य स्थापित किया जाता है क्योकि ये दोनो एक ही वस्तु की दो अवस्थाए है। इसी प्रकार पिण्ड अर्थात् काया का कुण्डलिनी से स्थित शिव के साथ सामजस्य किया जाता है। काया सिद्धि का सावन होने से शक्तिरूप है। इसी से गोरखनाथ ने कहा है कि जो योगसिद्धि का अभिलाषी यह नही जानता कि उसके शरीर में छ चक्र क्या और कहाँ हैं, पोडश आधार कौन-कौन हैं, दो लक्ष्य क्या हैं? पाँच व्योम क्या वस्तु हैं? वह कैसे सिद्धि पा सकता है? फिर एक खम्भेवाले, नौ दरवाजेवाले, पाँच मालिको के द्वारा अधिकृत इस शरीररूपी घर को जो नही जानता उससे योग की सिद्धि की क्या आशा की जा सकती है ('नाथसम्प्रदाय')। इनको जाने विना मोक्ष कहाँ मिल सकता है।[2] लोग नाना प्रकार से मोक्ष वताते हैं, कोई वेदपाठ से मोक्ष वताते हैं कोई शुभ-अशुभ कर्मों के नाश से मोक्ष कहते है। कोई निरालम्बन को वहुमान देते हैं कोई मद्य-मास-सुरतादि से उत्पन्न आनन्द को मोक्ष कहते है। ये सव मूर्ख है। असल मे मोक्ष वह है जव सहज समाधि के द्वारा मन से ही मन को देखा जाय। तव जो अवस्था होती है, असल में वही मोक्ष है ("यत्र सहजसमाधिक्रमेण

---

१. एवमयं लोकसंमित पुरुष । यावन्तो हि लोके मूर्त्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त. पुरुषे। यावन्तःपुरुषे तावन्तो लोकेइति बुधास्त्वेव द्रष्टुमिच्छन्ति॥ चरक वि अ ४।१३

२ षट्चक्रं पोडशाधारं द्विलक्ष्य व्योमपञ्चकम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथ सिद्धयन्ति योगिन ॥
एकस्तम्भं नवद्वार गृहं पञ्चाधिदैवतम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिन ॥ गोरक्षशतक

छ चक्र—आज्ञाचक्र, मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्धाख्य चक्र।

वेद में आठ चक्रो का उल्लेख है ('अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या'—अथर्व १०।२।३१), इनमें ललना चक्र और सहस्रार चक्र अधिक हैं।

मनमा मन समालोक्यते स एव मोक्ष"—'अमरौघ शासनम्' पृष्ठ ८-९)। सहज समाधि का आधार पातजल योग है। प्राणायाम से कुण्डलिनी का उद्बोधन किया जाता है।

नाथपथ के चौरासी सिद्धों में से कई वज्रयानी परम्परा के सिद्ध हैं। सिद्धो म कुछ गोरखनाथ के पूर्ववर्त्ती हैं और कुछ परवर्त्ती। इनमें से दसवें नागार्जुन और चौवी-सवें चर्पटीनाथ का ही परिचय यहाँ उद्धृत किया गया है। इनके परिचय से उस समय की रसविद्या की झलक मिल जायगी।

नागार्जुन—महायान मतवाले नागार्जुन से इनको पृथक् माना गया है। अल्बेरूनी ने लिखा है कि एक नागार्जुन उससे एक सौ वर्ष पहले विद्यमान थे। 'साधनमाला' में ये कई साधनाओं के प्रवर्त्तक माने गये हैं।

'साधनमाला' में कृष्णाचार्य की कुरुकुल्ला साधना का उल्लेख है। कुरुकुल्ला को ध्यानी बुद्ध की अभिव्यक्ति से उद्भूत बताया जाता है। डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य का अनुमान है कि कुरुकुल्ला की उपासना के प्रथम प्रवर्त्तक शबरपाद नामक सिद्ध हैं, जिनका समय सप्तम शताब्दी (ईसवी) का मध्य भाग है। ये नागार्जुन के शिष्य थे। नागार्जुन ने भी एक विशेष देवी 'एकजटा' की उपासना प्रचलित की थी। साधनमाला में बताया गया है कि एकजटा देवी की साधना का नागार्जुनपाद ने भोट देश (तिब्बत) मे उद्धार किया था। इसी देवी का एक नाम 'महाचीन-तारा' भी है। तारा की उपासना ब्राह्मण तत्रों में विहित है। साधनमाला में भी कुरुकुल्ला की उपासना के बहुत से भेद वर्णित हैं, जिनमें एक तारोद्भवा कुरुकुल्ला है। इस प्रकार से एकजटा-तारा—कुरुकुल्ला की उपासना मे कोई एक सम्बन्ध दीखता है। डा० विनयतोष भट्टा-चार्य का कहना है कि महाचीन-तारा ही आगे चलकर हिन्दुओं मे चतुर्भुजी तारा (दस महाविद्याओं में) हो गयी। दस महाविद्याओं की छिन्नमस्ता को बौद्ध वज्रयोगिनी का समशील बताया गया है। ऐसा जान पडता है कि कृष्णपाद या कृष्णाचार्य इस देवी के उपासक थे। कृष्णाचार्य की शिष्या मेखलापा तिब्बत में छिन्नमस्ता के रूप में पूजी जाती है।

'प्रबन्धचिन्तामणि' से पता चलता है कि नागार्जुन पादलिप्त सूरि के शिष्य थे और उनसे ही इन्होंने आकाश गमन की विद्या सीखी थी। समुद्र में पुराकाल मे पार्श्व-नाथ की एक रत्न मूर्त्ति-द्वारका के पास डूब गयी थी, जिसका किसी सौदागर ने उद्धार किया था। गुरु से यह जानकर कि पार्श्वनाथ के पादमूल में बैठकर यदि कोई सर्व-लक्षणसमन्विता स्त्री पारे को घोटे तो कोटिवेधी रस सिद्ध होगा, नागार्जुन ने अपने

शिष्य राजा सातवाहन की रानी चन्द्रलेखा मे पार्श्वनाथ की रत्नमूर्त्ति के सामने पारद मर्दन करवाया था। रानी के पुत्रो ने रस के लोभ से नागार्जुन को मार डाला था। इसमे कुछ असगतियाँ है, परन्तु कुछ बातें स्पष्ट है, (१) नागार्जुन रसेश्वर-सिद्ध थे, (२) गोरखपथियो की पारसनाथी शाखा के प्रवर्त्तक भी यही थे, (३) दक्षिण भारत के निवासी थे। नागार्जुन को परवर्त्ती योगियो ने 'नागा-अरजद' कहा है। इनके सम्बन्ध में कई किंवदन्तियाँ प्रचलित है। नाथपन्थ के बारह आचार्यों में इनका नाम है।

चर्पटीनाथ—इन्होने वेष को बहुत महत्त्व नही दिया, अपने को जोगी कहलाना ही बहुत माना है। इन्होने बाह्याचार धारण करनेवाले दूसरे सम्प्रदायो की व्यर्थता बतलायी है।[1] एक पुस्तक में चर्पटीनाथ तथा गुरु नानकदेव की बातचीत का उल्लेख है।[2] इस प्रसग से ज्ञात होता है कि चर्पटीनाथ रसायन-सिद्धि के चक्कर में थे और इसमे निराश हो चुके थे। इनके कहे पद का अर्थ ही यह है कि यदि मृत्यु पर विजय नही पायी तो इस वेश से क्या मतलब ? मृत्यु पर विजय केवल रसायन से ही मिल सकती है। सारी वार्त्ता रसायन से सम्बद्ध है।

वर्णरत्नाकर मे चर्पटीनाथ का नाम आने से इतना स्पष्ट है कि चौदहवी शताब्दी के पहले ये प्रादुर्भूत हो चुके थे। प्राणसगली के वार्त्तालाप से भी मालूम होता है कि ये रसायन सिद्धि के अन्वेषक थे। इससे इतना ही समझा जाता है कि ये गोरखनाथ से थोडे ही परवर्त्ती थे। सभवत रसायनवादी बौद्ध सिद्धो के दल से निकलकर गोरक्ष-नाथ के प्रभाव में आये थे और अन्त तक बाह्यवेश के विरोधी रहे।

उनसठवे वज्रयानी सिद्ध का नाम चर्पटी है। तिब्बती परम्परा में इन्हे मीनपा का गुरु माना गया है। परन्तु नाथपरम्परा में इन्हें गोरखनाथ का शिष्य माना गया है।

वज्रयानी सिद्धो मे सान्ति (शान्ति, सम्भवत दसवी शताब्दी में विक्रमशिला विहार के द्वाररक्षक पण्डित—शान्तिपाद) हुए है, ये बहुत विद्वान् थे। राहुलजी का कहना है कि वज्रयानी सिद्धो में इतना जबरदस्त पण्डित दूसरा नही हुआ। इसी तरह

---

१ इक सेतिपटा इक नीलिपटा इक तिलक जनेऊ लवि जटा।
इक फीए एक मोनी इक कानि फटा जब आवैगी काली घटा॥

२ सन्त सपूर्णसिह ने तरनतारन से 'प्राणसगली' छपायी है—
इक पीत पटा इक लव जटा, इक सूत जनेऊ तिलक ठटा।
इक जंगम कही अँ भसम घटा, जउलइ नहीं चीनै उलटि घटा॥
तब चरपट सगले स्वांग जटा॥—अध्याय ७६, पृ० ७९४

वज्रसिद्ध कुमारिपा, शृगालीपाद, कमलपा या कपालपा आदि सिद्ध वज्रयानियो में हुए है। ('नाथसम्प्रदाय' से)

इससे इतना स्पष्ट है कि रसायन या रसविद्या का प्रारम्भ सातवी शताब्दी ईसवी से प्रारम्भ हो गया था। नवी-दसवी में उसका कुछ विकास हुआ (जैसा वृन्द के सिद्ध-योग और चक्रदत्त से स्पष्ट है) और १६ वी शताब्दी (मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत काल) तक पूर्ण विकास हो चुका था।

इतिहास से यह भी स्पष्ट है कि वौद्धो और हिन्दुओ में धर्म के विषय मे समय समय पर सकोच विकास होता रहता था। अशोक के समय यदि वुद्धधर्म का प्रचार था, तो पुष्यमित्र के समय यज्ञप्रधान हिन्दू धर्म का प्रचार हुआ। कनिष्क और मिलिन्द (मिनाण्डर) के समय वौद्ध धर्म का उत्थान हुआ तो भारशिवो के समय शिव की उपासना चली। भारशिव सिर पर शिव को धारण करते थे। गुप्त काल में दोनो धर्म शान्तिपूर्ण रूप मे वढे।

इस उथल-पुथल में दोनो धर्मों में एक-दूसरे धर्म की विशेषताएँ सम्मिलित हो गयी। परिणामस्वरूप वुद्ध भी हिन्दुओ के अवतारो मे आ गये। वौद्धो की तारा देवी हिन्दुओ की चतुर्भुजी तारा वन गयी। इसी प्रकार वुद्ध की मूर्त्ति एवम् जैनियो की मूर्त्तियो की भाँति शिव की भी मूर्त्तियाँ वनायी गयी। इसी मूर्त्तिनिर्माण मे शिव और पार्वती की 'अर्धनारीश्वर' रूप मे पूजा प्रारम्भ हुई। यही अर्धनारीश्वर-पूजा रसशास्त्र का मूल आधार है, क्योकि पारा और अभ्रक या पारा और गन्धक के योग से ही दिव्य शरीर वनता है ('दिव्या तनुर्विधेया हरगौरीसृष्टिसयोगात्'—सर्व-दर्शन सग्रह)।

यह पूजा शैव मत में किस प्रकार प्रारम्भ हुई, इस वात की विस्तृत जानकारी डाक्टर यदुवशी ने अपनी पुस्तक 'शैव मत' (विहार राष्ट्रभाषा परिषद्-पटना) में दी है, उसमें से सक्षिप्त जानकारी यहाँ दी गयी है। इससे पता चल जाता है कि वौद्धो का वज्रयान सम्प्रदाय जिस प्रकार से आगे चलकर सिद्धो में मिलकर एक हो गया—उसी प्रकार यह पूजा भी शैव-मत में आकर मिल गयी। दोनो की पूजा, दोनो के देवी-देवता प्राय· एक या एक समान हो गये। वौद्धो में वुद्ध के पुत्र राहुल का महत्त्व है, तो यहाँ शिव के पुत्र कार्त्तिकेय है।

शिव की पूजा का सवसे प्रथम रूप जो सामने आता है, वह लिगपूजा है, शिव के रुद्र रूप की पूजा नही मिलती। शिव की पूजा का दूसरा प्रतीक शक्ति की पूजा है,

जिसको 'दुर्गा' के रूप मे पूजा जाता है। शिवपूजा और शक्तिपूजा पृथक्-पृथक् चली। इसके पीछे इनको मिलाकर अर्धनारीश्वर रूप में दोनो की सम्मिलित उपासना चली, इसी का एक प्रकार शिव और पार्वती का सम्मिलित रूप है, जिसमें मूर्त्ति का दक्षिण पक्ष पुरुपाकार होता था, उसमे भगवान् के सिर पर जटाजूट, सर्प, हाथ मे कमण्डलु या नरकपाल और त्रिशूल चिनित रहते थे। वाम भाग में स्त्री-मूर्त्ति होती थी। सिर पर मुकुट, भुजा, कण्ठ में उपयुक्त आभूपण और स्त्रियोपयोगी वस्त्र। इन मूर्त्तियो को अर्धनारीश्वर–शिवपार्वती के रूप मे पूजा जाता था। यही अर्ध-नारीश्वर-उपासना हरगौरी-सृष्टिसयोग का उदाहरण है। कालिदास ने रघुवश के मगलाचरण मे इसी रूप का स्मरण किया है।

खजुराहो शिलालेख स० ५ में, जिसका समय १००० ईसवी है, भगवान् शिव को एकेश्वर माना गया है, विष्णु, बुद्ध तथा जिन को इन्ही का अवतार कहा गया है। इसी शिलालेख में शिव की 'वैद्यनाथ' उपाधि भी मिलती है, जो उनके प्राचीन 'भिपक्' रूप की याद दिलाती है। (अप्टागसग्रह में तथा अन्य बौद्ध ग्रन्थो में भगवान् बुद्ध को भिपक्, महाभिपक् कहा है। सौन्दरानन्द में तो अश्वघोप ने भगवान् बुद्ध को ही सच्चावैद्य कहा है—'अह हि दष्टो हृदि मन्मथाग्निना विवत्स्व तस्मादगद महाभिपक्'—सौन्द अ २)।

शिव की पूजा कई रूप मे चली। इनमे शैव, पाशुपत सम्प्रदायो का उल्लेख कृष्ण मिश्र के प्रबोधचन्द्रोदय नाटक मे मिलता है। शिव के साथ शक्ति की स्थायी भाव से की गयी कल्पना ने ही पारे के साथ अभ्रक या गन्धक को जोडा है, इसी से कहा है—"गन्धकजारणरहित सशुद्धोऽपि रसो योगेपु न योज्य, गदहन्तृत्वशक्त्यनुदयात्। हेमादिजीर्णोऽपि अशुद्धस्तु कुत्रापि न योज्य, वैगुण्यप्रदत्वात्"—आयुर्वेदप्रकाश)। इसलिए पारे के साथ गन्धक का भी स्थायी भाव किया गया है।

पाशुपतो का उल्लेख साहित्य तथा शिलालेखो में मिलता है। इन्ही का एक उप-सम्प्रदाय कापालिक था। इनमें एक कट्टरपथी उप सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हो गया था, जिसके अनुयायी 'कालमुख' कहलाते थे। इनका प्रारम्भिक नाम 'कारुकसिद्धान्ती' था। वैष्णव सतो और रामानुज के समय (१२वी शताब्दी) मे इनका अस्तित्व था। ये लोग अपने कार्यो को सिद्धियाँ कहते थे, ये सिद्धियाँ छ थी—(१) कपाल में भोजन करना, (२) शरीर में भस्म लगाना, (३) श्मशान में रहना, (४) लट्ठ लेकर चलना, (५) सुरापात्र रखना, (६) सुरापात्र में स्थित भैरव की पूजा करना।

सामान्यतः कापालिक और कालमुख एक ही हैं। यह सम्प्रदाय आठवीं शताब्दी में था (भवभूति के बनाये मालती माधव से स्पष्ट है)।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि बौद्धों का वज्रयान कापालिक मत में समा गया। कापालिक शिव की उपासना भैरव के रूप में करने लगे। शिव की उपासना भैरव के रूप में ही आयुर्वेद के रसग्रन्थों का आधार बनी। परन्तु इसमें वज्रयान सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक नागार्जुन को नहीं भुलाया गया। प्रारम्भ में नागार्जुन को इसका जन्मदाता मानकर सिद्धों की परम्परा में प्रचलित करते हुए (शैवमत के साँचे में ढालते हुए) शिव से पूर्णतः सम्बन्धित कर दिया गया।

रसेश्वरमत

हठयोग में प्राणायाम का बहुत महत्त्व है। शरीर में तीन वस्तुएँ बहुत चचल है, प्राण, मन और शुक्र। प्राण और मन को वश में करने के लिए सबसे उत्तम वस्तु प्राणायाम है। प्राणायाम से प्राण और मन दोनों खिचते हैं—वश में आते हैं। योगदर्शन में मन और प्राण को वश में करने के लिए यम, नियम आदि साधन कहे हैं।

शुक्र का नाम विन्दु है, इसे वज्र भी कहते हैं। इसकी अधोगति को कालाग्नि और ऊर्ध्वगति को कालाग्नि रुद्र कहते हैं। यौगिक क्रियाओं में विन्दु को ऊर्ध्वगामी करने का विधान है (जिनमें एक वज्रोली भी है)। विन्दु के ऊर्ध्वगामी करने से ही मनुष्य अजर-अमर होता है। यही अमरत्व हठयोग की एक साधना है। इसी का एक रूप है स्त्री के रज को आकर्षण करके विन्दु के साथ मिलाकर उसका ऊर्ध्वगामी बनाना। यही वज्रोलिका मुद्रा कही जाती है।[1] यहाँ पर इतना समझ लेना आवश्यक है कि पुरुष और स्त्री दोनों पृथक्-पृथक् रूप में अपूर्ण हैं, परस्पर मिथुन होने पर ही ये पूर्ण होते हैं। पुरुष सौम्य—सोम तत्त्व का और स्त्री अग्नितत्त्व की प्रतिनिधि है।' क्योंकि यह सृष्टि

---

१ सन् १९४१ में लाहौर के आयुर्वेद महासम्मेलन के समय एक व्यक्ति ने अपनी जननेन्द्रिय द्वारा बीस तोला पारा मूत्राशय में खींचकर दिखाया था। इसको फिर उन्होंने कुछ घंटे शरीर में रखकर फिर बाहर निकाला था। उस समय लेखक भी उपस्थित था।

अग्नीषोमीय है, इसलिए जब तक दोनो तत्त्वो का मिथुनीभाव नही होता तब तक पूर्ण विकास या नयी वस्तु नही बनती। इस मिथुनीभाव मे शुक्र को ऊर्ध्वगामी करना ही वज्रोलिका मुद्रा है, क्योंकि शुक्र शरीर का परम तेज है।[1] शुक्र तथा स्त्री के आग्नेय तत्त्व को शरीर मे रखना ही कापालिकों का लक्ष्य होता था। इसी से स्त्री को पास में रखकर वे एकान्त में सिद्धियाँ प्राप्त करते थे। अपना आचार-विचार, कार्यकलाप वे इस प्रकार का रखते थे कि लोग उनसे पृथक् रहे, उनके प्रति आकर्षित न हों, उनका सिद्धि-क्रम निर्विघ्न चले।

पीछे इसी साधना का भौतिक रूप में विकास हुआ। पारा शिव का वीर्य है और अभ्रक पार्वती का रज है[2] रस-ग्रन्थो में गन्धक को भी पार्वती का रज कहा गया है (देखिए, गन्धक की उत्पत्ति, रसकामधेनु-पृष्ठ २७६)। मुक्ति को दिव्य तनु बनाकर ही प्राप्त करना चाहिए, चोला छूट जाने के पीछे मोक्ष मिला तो क्या हुआ। इसलिए जो मनुष्य इसी जीवन में दिव्य तनु प्राप्त कर लेते हैं, वे ही मुक्त हैं, समस्त मन्त्रसमूह उनके दास हो जाते हैं। रसेश्वर सिद्धान्त में राजा सोमेश्वर, गोविन्द भगवत्पाद, गोविन्द नायक, चर्पटि, कपिल, व्यालि, कापालि, कन्दलायन तथा अन्य ऐतिहासिक पुरुष जीवन्मुक्त माने जाते है।

रसेश्वर मत का हठयोग से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिव ने देवी पार्वती से एक बार कहा था कि कर्मयोग से पिण्ड धारण किया जा सकता है। कर्मयोग दो प्रकार का है—१ रसमूलक और २ वायु या प्राणमूलक। रस में यह विशेषता है कि वह मूर्च्छित होने पर रोगो को दूर करता है, मृत होने पर जीवन देता है, बद्ध होने पर

---

१. शुक्र क्षरण के कारण—

रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैल तिले यथा।
सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं सस्पर्शने तथा॥
तत् स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासकल्पपीडनात्।
शुक्र प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव॥
हर्षात्तर्षात् सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि।
अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च॥
अष्टभ्य एभ्यो हेतुभ्य. शुक्र देहात् प्रसिच्यते। (चरक चि. अ. १।४८)

२. अभ्रकस्तव बीज तु मम बीज तु पारद.।
अनयोर्मेलन देवि दु.खदारिद्र्यनाशनम्॥

आकाश में उडने योग्य बना देता है।[1] रस पारद का नाम है क्योंकि यह साक्षात् शिव के शरीर का रस है।

रससिद्धि या रसचिकित्सा के प्रवर्त्तक ये सिद्ध ही है, ये लोग कई सौ वर्ष पहले पारदादि घटित चिकित्सा को वरतते थे। पारदादि का अन्त प्रयोग इन्होंने प्रारम्भ किया। पारद से चतुर्वर्ग-फल लाभ होता है, इस प्रकार का एक दार्शनिक विचार 'रसेश्वर दर्शन' के रूप में उत्पन्न हुआ। इस दर्शन के उपदेष्टा आदिनाथ हैं। आदि-नाथ, चन्द्रसेन, नित्यानन्द, गोरक्षनाथ, कपालि, भालुकि, माण्डव्य आदि योगियो ने योगवल से इसकी स्थापना की थी।

अनेक नाथपन्थियो के लिखे रसग्रन्थ आज भी वैद्यो में प्रचलित हैं। सिद्ध नागार्जुन का नागार्जुनतत्र, नित्यनाथ का रसरत्नाकर, रसरत्नमाला, शालिनाथ की रसमजरी, काकचण्डीश्वर का काकचण्डीश्वरमततत्र, मन्थानभैरव का रसरत्न महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, ये सब सिद्ध थे। चर्पटनाथ के रससिद्ध होने की बात पहले कही जा चुकी है।

गोरक्षनाथ को भी रसायन विद्या का आविष्कारक कहा जाता है। इस विषय पर इनका कोई ग्रन्थ नही मिलता। प्राणसकली (प्राणो का कवच) में शरीर सम्बन्धी वर्णन ही है। सिद्धो की सबसे वडी देन रसेश्वर दर्शन—रसशास्त्र है।[2]

सिद्ध नागार्जुन

एक तरफ रसशास्त्र-रसायन सिद्धो की देन है, दूसरी ओर हिन्दी का उद्गम भी इन्ही सिद्धो से हुआ है। 'सरहपा' का दोहाकोश अभी महापण्डित राहुलजी ने प्रकाशित किया है। सरहपा आठवी शताब्दी के सिद्ध हैं। इसके आगे नवी-दसवी-ग्यारहवी शताब्दी तक सिद्धो की देन हिन्दी को मिली है।

---

१ कर्मयोगेन देवेशि प्राप्यते पिण्डधारणम्।
रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधा स्मृत ॥
मूर्छितो हरति व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम्।
वद्ध. खेचरतां कुर्यात् रसो वायुश्च भैरवि ॥ स द. स. पृष्ठ २०४

२. सिद्धो से ही हिन्दी का प्रारम्भ माना जाता है। महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री ने 'वौद्धगान ओ दोहा' नाम से जो सग्रह प्रकाशित किया है, उसका एक भाग चर्याचर्य विनिश्चय है। इसमें चौवीस सिद्धो के रचित पद सगृहीत है। इनमें एक सिद्ध है—कान्हपा या कृष्णपाद। इनके रचित वारह पद उक्त सग्रह में पाये जाते है, सवसे अधिक पद इन्हीं के है।

सरहपा के लिखे कुछ ग्रन्थों का उल्लेख राहुलजी ने दोहाकोश में किया है, यथा—बुद्धकपाल तन्त्रपंजिका, बुद्धकपाल साधना, बुद्धकपाल मण्डलविधि, त्रैलोक्यवशकरावलोकितेश्वर साधन। इन नामो से स्पष्ट है कि ये वज्रयानी बौद्ध थे। वज्रयानी बौद्ध सिद्धो की संख्या परम्परा ८४ मानी जाती है, और इनमें मुख्य सरहपा, शबरपा, भूसुकपा, लुइपा, विरूपा, डोंविपा, कन्हपा हैं। इनका समय आठवीं-नवीं शताब्दी है। नवीं-दसवीं शताब्दी मे ही गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ के द्वारा नाथसम्प्रदाय प्रवर्त्तित हुआ है। नाथ सम्प्रदाय का बौद्ध सिद्धो से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था।

शबरपा सरहपा के प्रधान शिष्य थे, इनको शबरेश्वर भी कहते थे। सरहपा के दूसरे शिष्यो में योगी नागार्जुन और सर्वभक्ष भी थे। यह नागार्जुन यदि कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे तो द्वितीय शताब्दी के माध्यमिक आचार्य नागार्जुन से भिन्न हैं। तिब्बती परम्परा मे सरहपा छठे सिद्ध हैं, प्रथम सिद्ध लुईपा हैं। इस परम्परा में नागार्जुन सोलहवें सिद्ध हैं, यथा—लुईपा, लीलापा, विरूपा, डोम्बिपा, शूकरीपा, सरहपा, कंकालीपा, मीनपा, गोरक्षपा, चोरंगीपा, वीणापा, शान्तिपा, तन्तिपा, चमरिपा, खड्गपा, नागार्जुन, कराहपा। फलत सिद्ध नागार्जुन का समय आठवीं या नवीं शताब्दी आता है, जब कि इनको सरहपा का शिष्य कहा गया है।

द्वितीय या प्रथम शताब्दी के नागार्जुन, जिनको कनिष्क का समकालीन कहा जाता है, वे इनसे भिन्न थे। उन्होंने बौद्धों में शून्यवाद या माध्यमिकवाद प्रचलित किया था।

इस मत के प्रधान संस्थापक नागार्जुन थे। ये ईसा की दूसरी या पहली शताब्दी में हुए थे।[1] बाण ने हर्षचरित मे सातवाहन राजा के साथ नागार्जुन की मैत्री का उल्लेख किया है, इसको मोतियो की एक लडी माला नागार्जुन ने दी थी। यह समय ४४ ई० से ८ ई० पूर्व था। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने अपने इतिहासप्रवेश (पृष्ठ १३७) में लिखा है कि "नागार्जुन अश्वघोष का प्रशिष्य था, अश्वघोष कनिष्क की राजसभा का पण्डित था। नागार्जुन दर्शन के साथ-साथ विज्ञान का भी पण्डित था। उसने एक लोहशास्त्र लिखा और पारे के योग बनाने की विधि निकालकर रसायन के ज्ञान को आगे बढाया। उसने सुश्रुत के ग्रन्थ का सम्पादन भी किया।" पारा सम्बन्धी बातें सिद्ध नागार्जुन से सम्बन्धित हैं, जो कि नवीं या दसवीं शताब्दी मे हुआ था। इसमे लेखक को नामसादृश्य से भ्रान्ति हो गयी है। अश्वघोष का शिष्य नागार्जुन

१ माध्यमकारिका, युक्तिषष्टिका, शून्यतासप्तति, विग्रहव्यावर्त्तनी, प्रज्ञापारमिताशास्त्र आदि ग्रन्थ इन्होंने बनाये थे।

शून्यवाद का प्रवर्तक है, जिसकी चर्चा बाण ने की है। लौहशास्त्र को जन्म देनेवाला सिद्ध नागार्जुन है, जो कि सरहपा का शिष्य एवं सिद्धों की परम्परा में है। काश्यपसंहिता के उपोद्घात में इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला गया है, यथा—

"नागार्जुन नाम के बहुत से विद्वान् हुए हैं। कक्षपुट, योगशतक, तत्त्वप्रकाश आदि बहुत से ग्रन्थों में कक्षपुट आदि कौतुक ग्रन्थों का प्रणेता सिद्ध नागार्जुन कहा गया है। वैद्यक सम्बन्धी योगशतक प्रकाशित है, इसका तिब्बती अनुवाद भी मिलता है। नागार्जुनकृत 'चितानन्दपटीरमी' नामक ताड़पत्र पर लिखी एक पुस्तक वैद्यक विषय की है, जो कि तिब्बत के गोमठ (गावठ) में है; ऐसा सुना जाता है। तंत्र सम्बन्धी बौद्धाध्यात्म विषयक तत्त्वप्रकाश, परमरहस्यसुख, समयमुद्रा आदि ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। सातवीं शताब्दी में च्युआन शाह नामक चीनी यात्री भारत में आया था। उसने अपने से सातवीं या आठवीं शताब्दी पूर्व के शान्तिदेव, अश्वघोष आदि बौद्ध विद्वानों की भाँति बौद्ध विद्वान् बोधिसत्त्व नागार्जुन का भी उल्लेख किया है, जो कि रसायन के द्वारा पत्थर को भी स्वर्ण बना देता था। यह सातवाहन का मित्र था। राजतरंगिणी में बुद्ध के १५० वर्ष पीछे नागार्जुन के होने का उल्लेख है। इस प्रकार से कई नागार्जुनों का उल्लेख होने से निश्चित रूप में कुछ कहना सम्भव नहीं। सातवाहन के लिए नागार्जुन के पत्र भेजने का उल्लेख अन्यत्र है। मेरे संग्रह में ताडपत्र पर संस्कृत में लिखा शालिवाहन-चरित्र है। उसमें लिखा है कि "दृष्टसत्त्वो बोधिसत्त्वो महासत्त्वो महाराजगुरु श्रीनागार्जुनाभिधान शाक्यभिक्षुराज—"। इस स्पष्ट उल्लेख से बोधिसत्त्वस्थानीय कुरुकुल्ल के उपदेश से तान्त्रिक शाक्य भिक्षुराज नागार्जुन सातवाहन के समय के सिद्ध होते हैं। च्युआनशाह ने भी नागार्जुन को बोधिसत्त्व तथा धातुविद्या का विद्वान् लिखा है। नागार्जुन ने सातवाहन राजा को रसायन गुटिका औषध दी थी, इसका भी उल्लेख है। राजतरंगिणी में उल्लिखित नागार्जुन बौद्ध होने पर सज्जन राजा के रूप में वर्णित है। माध्यमिक आदि नागार्जुन कभी भी राजा नहीं हुए, इसलिए राजतरंगिणी का नागार्जुन इनसे भिन्न है।"—काश्यपसंहिता, उपोद्घात पृष्ठ ६५

समीक्षा—पण्डित हेमराज शर्मा द्वारा प्रदर्शित नागार्जुन को रसायन विद्या का प्रवर्तक मानने में बाधा यही है कि ग्यारहवीं शताब्दी में रस विद्या का जो उल्लेख मिलता है, वह चरक, सुश्रुत, अष्टांग संग्रह, वृन्द, चक्रदत्त में नहीं है। विशेषतः जब हम देखते हैं कि चरक भी कनिष्क का राजवैद्य था। (इतिहास प्रवेश-पृष्ठ १२५)। यदि नागार्जुन इनके समकालीन थे, और यही नागार्जुन रसायन विद्या, पत्थर से स्वर्ण बनाने की विद्या के ज्ञाता थे, तो अवश्य चरक इनका उल्लेख करता। उल्लेख न करता तो

कम से कम प्रवाल, लोह, स्वर्ण आदि धातुओं की जो प्रयोग विधि बतायी है, वह वैसी होती, जैसी हम ग्यारहवी शताब्दी मे पाते हैं। परन्तु समस्त चरक में पारे का उपयोग एक ही स्थान पर आया है—"सर्वव्याधिनिवर्हणमद्यात् कुष्ठी रस च निगृहीतम्"—चि अ ७।७१।

राजतरगिणी में कल्हण ने रस-सिद्ध का उल्लेख किया है। यथा—

तेन कङ्कुण वर्षस्य रससिद्धस्य सोदर.।
चङ्कुणो नाम भू खारदेशानीतो गुणोन्नत.॥
स रसे न समातन्वन् कोशे बहुसुवर्णताम्।
पद्माकर इवाब्जस्य भूभृतोऽभूच्छुभावह ॥ २४६-७.
रुद्ध. पञ्चनदे जातु दुस्तरै. सिन्धुसंगमै.।
तटेस्तम्भितसैन्योऽभूद् राजा चिन्ता.पर क्षणम्॥
ततोऽम्बुतरणोपाय तस्मिन् पृच्छति मन्त्रिण।
अगाधेऽम्भसि रोधस्यश्चङ्कुणो मणिमक्षिपत्॥
तत्प्रभावाद् द्विधाभूत सरिन्नीर ससैनिक.।
उत्तीर्णो नृपतिस्तूर्णं परपार समासदत्॥ श्लोक २४६-२५०.

राजा ललितादित्य ने भू खार (आजकल का बुखारा) देश से ककण वर्ष नामक महान् रासायनिक (रससिद्ध) के गुण सम्पन्न भ्राता चकुण को बुलवाकर रखा था। (राजा सुयोग्य विद्वानो का सग्रह करता था)। वह रस प्रयोग से स्वर्ण निर्माण कर राजा के कोश को स्वर्ण से भरपूर रखता था। इसलिए कमल के लिए जिस प्रकार तडाग का पानी आवश्यक है, उसी प्रकार वह राजा के लिए बहुत उपयोगी था।[1]

---

१ चकुण के विषय में राजतरगिणी में और भी लिखा है—"तु खार देशवासी चिकुण मत्री ने चिकुण विहार बनवा कर श्री ललितादित्य के चित्त के समान उन्नत एक स्तूप बँधवाया और स्वर्ण की जिन मूर्त्तियाँ बनवाकर स्थापित की (जिन शब्द बौद्धो के लिए प्रथम आता है—'जिन-जिन सुत तारा भास्कराराधनानि-सग्रह. चि. अ २१)। चकुण के श्यालक और ईशानचन्द्र नामक वैद्यने तक्षक नाग की कृपा द्वारा प्राप्त सम्पत्ति से एक भव्य विशाल विहार बनवाया। राजतरगिणी चौथा तरग २१६। ईशान का नाम—मधुकोष टीका के मगलाचरण – श्लोको में आता है (२)। ईशानदेव ईश्वरसेन के पुत्र ११वीं-१२वीं शताब्दी में हुए हैं। इन्होने चरक और अष्टागहृदय पर टीका की थी (बृहत्त्रयी से)। ये इससे भिन्न हैं।

सेना सहित राजा पंचनद (पञ्ज्यनोर—कश्मीर की राजधानी श्रीनगरसे उत्तर में साढे तीन कोस दूरी पर त्रिगाम, वितस्ता (जेहलम), सिन्ध, क्षीर भवानी औरआञ्चार इन पाचनदियों के सगम से थोडी दूर है—श्री यादवजी महाराज को मिली सूचना के आधार पर) देशों में दुस्तर नदियो के सगमो से तीर पर रुक जाने से चिन्ता मग्न हो गया था। उसने मन्त्रियो से पार जाने का उपाय पूछा। इस समय किनारे पर खडे चकुण ने उस अगाध जल में एक मणि डाल दी। उस मणि के प्रभाव से नदी का जल दो हिस्सो में बँट गया और वह राजा अपनी सेना समेत शीघ्र ही नदी के पार चला गया।

चकुण ने फिर दूसरी मणि से उस मणि को नदी में से निकाल लिया। मणि के निकलते ही नदियों का जल पूर्ववत् हो गया। राजा ने उन रत्नो के ऐश्वर्यकारी प्रभाव को देखकर प्रेम के साथ चकुण से उन दोनो रत्नो को मागा (मणीना धारणी-याना कर्म यद् विविधात्मकम्। तत्प्रभावकृत तेषा प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते॥ चरक सू अ २६।७० मणियों का प्रभाव अचिन्त्य है)। अन्त में चकुण ने राजा से मगध से प्राप्त भगवान् बुद्ध की प्रतिमा लेकर उसके बदले में वे मणिया राजा को दे दी। चकुण ने इस मूर्त्ति को अपने विहार में स्थापित किया, इस प्रतिमा का रग गेरुआ और चमकीला था।

जिनमें छ सौ या सात सौ वर्ष का अन्तर है।

नागार्जुन के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी डा० प्रफुल्लचन्द्रराय ने 'हिस्ट्री ऑफ हिन्दू कैमिस्ट्री' (भाग २—पृष्ठ १३ से २६) में दी है। उसमें भी रसशास्त्र से सम्बन्धित नागार्जुन को आठवीं-नवीं से पहले का नहीं माना।

धातुओं से परिचय

ताम्रयुग—स्वर्ण, लोह, ताम्र आदि धातुओं से हमारा परिचय वैदिक काल से था। प्रागैतिहासिक भारत में धातुयुग पाषाणयुग के बाद आता है। पाषाण युग के बाद दक्षिण भारत में लोहयुग और उत्तर भारत में ताम्रयुग का आविर्भाव हुआ। भारतवर्ष में लोहयुग से पूर्व कांस्ययुग का क्रमिक विकास नहीं पाया जाता। सिन्ध प्रान्त इसका अपवाद है। कांसा या फूल नौ भर तांबा और एक भर रांगा मिलाकर बनाया जाता है। (सौ सत्ताईस कांसा नहीं तो सत्यासा—सौ भर तांबे में सत्ताईस भर रांगा मिलाने से अच्छा कांसा बनता है। अच्छे कांसे के लिए ९६ भर ताम्बा २७ भर रांगा और २ भर चांदी होनी चाहिए)। दक्षिण भारत की प्राचीन समाधियों में प्राप्त कांसे की वस्तुओं में प्याले या कटोरे-जैसी नफीस चीजें भी मिली हैं, जो या तो बाद की हैं या अन्यत्र से वहाँ लायी गयी थीं। तांबे के हथियारों का जखीरा मध्य भारत में गुंगेरिया नामक गाँव में पाया गया है। इसमें ४२४ तांबे के औजार थे, जो आयरलैंड में मिले हुए औजारों से बहुत मिलते हैं, और २००० ईसा पूर्व के समझे जाते हैं। इस निधि में १०२ चांदी के गोल टुकड़े और एक बैल का सिंगैल सिर भी था। चांदी इस देश में कम थी और सम्भवतः वह विदेश से आती थी, पर तांबा भारत में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में वर्णित लोह-अयस् से उनकी एकरूपता मानी जाती है। गुंगेरिया से प्राप्त ताम्रिक अस्त्रों के अलावा तांबे के ही बने हुए बारीक औजार, मछली मारने के बरछे, तलवार और भाले के अग्रभाग कानपुर, फतेहगढ, मैनपुरी और मथुरा जिलों में पाये गये हैं। उनका विस्तार प्रायः सारे उत्तर भारत में हुगली से सिन्धु नदी तक और हिमालय की तराई से कानपुर जिले तक पाया गया है।

लोहे का प्रयोग—दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर में लोहा पहले व्यवहार में आया, जैसे कि मिस्र की अपेक्षा बाबेरू में उसका प्रयोग पहले शुरू हुआ। अथर्ववेद में इसका उल्लेख है, जो कि २५०० ई० पू० से बाद का नहीं कहा जा सकता। हीरोदत्त का कथन है कि जो भारतीय सिपाही ईरानी सम्राट् स्पयार्ष (जरकसीज) की कमान में यूनान के विरुद्ध ३२५ ई० पू लड़े थे, उन्होंने अपने धनुष के साथ लोहे की नोक लगे हुए बेंत के बाणों का प्रयोग किया था। बाद में जब सिकन्दर के साथ

१ मालव लोगों ने सिकन्दर को जो भेंट दी थी उसमें उन्होंने ३०० घुड़सवार, १०३० रथ, जिनको चार घोड़े खींचते थे, १००० ढालें, बहुत बड़ी मात्रा में बारीक मलमल, १०० टैलेन्ट लोहा, कुछ बहुत ऊँचे सिंह, व्याघ्र और बड़े चीतों की खालें और कछुए का आवरण बड़ी मात्रा में दिया था—'एज आफ दी नन्द और मौर्य' (पृष्ठ ७३)

आता था। हारो के मनके और जडाऊ गहनो के काम में अनेक प्रकार के राग काम में आते थे, जैसे स्फटिक, धाऊ, अकीक, सग अजूवा, यशव, नग सुलेमानी। एक विशेष प्रकार का सुन्दर हरे रग का भीष्मक पत्थर (Amazone Stone) नीलगिरि पर्वत के दुट्टा-वित्ता की खानो से, जो भारत मे उसका एकमात्र स्रोत है, आता था। सग-कठैला दक्षिण के पठार से आता था। लाजवर्द और राजावर्त्त वन्दकशा से, फीरोजा खुरासान से, कडे पत्थर का मरगज (सग मनार या अश्मसार) पामीर, पूर्वी तुर्किस्तान या तिब्बत से आता था (हिन्दू सभ्यता)।

वैदिक काल में धातुओ का उपयोग—ऋग्वेद मे सुदास का दस राजाओ के साथ युद्ध होने का उल्लेख है (७।३।२७)। ये दस राजा यज्ञ न करनेवाले, इन्द्र की सत्ता को न स्वीकार करनेवाले एव झूठे देवो को माननेवाले थे। ये अनार्य थे। इनके दुर्गो का वर्णन करते हुए लिखा है कि ये लोहे के बने थे (आयसी–२।५८।८), पत्थर के (अश्ममयी–४।३०।२०), लम्बे चौडे (पृथ्वी), विस्तृत (उर्वी) और गौओ से भरे (गोमती-अथर्व ८।६।२३) थे।

ऋग्वेदकालीन शिल्पो में धातु का काम करनेवाले कर्मार कहलाते थे (१०।७२।२), ये धातु को आग मे गलाते थे (अधमत्-१०।७२।२, ५।९।५ उपध्माता इव धमति)। चिडियो के पखो की धोकनी (पर्णेभि शकुनानाम्) और सूखी लकडियो से धातु को गलाकर उसके वरतन बनाये जाते थे (अयस्मय घर्म–५।३०।१५)। लोहे को पीटकर भी बरतन बनाये जाते थे (अयोहत् ९।१।२)। सुनार (हिरण्यकार) सोने का आभूषण गढता था (१।१२२।२)। सोना सिन्धु जैसी नदियो से, जिन्हें 'हिरण्यवर्त्तिनी 'कहा गया है (६।६१।७) और भूमि से (निखातरुक्मम्–१।११७।५) प्राप्त किया जाता था। (स्वर्ण का एक नाम कलधौत या जलधौत है, जिससे स्पष्ट है कि वह पानी से प्राप्त होता था, रेती मे मिला होने से पानी से धोकर प्राप्त होता था)। यजुर्वेद में सोना, ताम्र, लोहा, सीसा, त्रपु (रागा) सबका नाम मिलता है (१८।१३), अथर्व-वेद में चाँदी का नाम रजत आता है (५।२८।१)[1]।

युद्ध मे जो हथियार काम में आते थे, उनमे धनुष (८।७२।४) और वाण (७।६।५।१७ होते थे। तरकश निषग कहलाता था (५।५७।२–सधन्वान इषुमन्तो निषगिण–

---

[1] अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्य च मेऽयश्च मे लोह च मे सीस च मे त्रपु च यज्ञेन कल्पताम् (यजु. १८।१३) हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि—(अथर्व. ५।२८।१.)

अर्थात् धनुष, बाण और तरकस से सज्जित योद्धा)। कवच (वर्म) धातु के कटे टुकड़ों को एक साथ सीने से बनता था (स्यूत—१।३१।१५, १०।१०१।८)। वह अत्क भी कहलाता था, जो बुना जाता था (व्यूत) और खूब कसकर बैठता था (सुरभि-१।१२२।२, ६।२९।३)। हाथ का दस्ताना, जो प्रत्यंचा की रगड़ से हाथ को बचाता था (६।७५।१४), शिरस्त्राण (शिप्र) यह लोहे या तांबे का बनता था (अय शिप्रा ४।३७।४) या सोने का (२।३४।३—हिरण्यशिप्रा)। शिरस्त्राण पहने योद्धा 'शिप्रिन्' कहलाता था (१।२९।२)।

अन्य हथियार थे असि और उसकी म्यान (असिधार), परशु (वाश १।१६७।३०), सृक्ति या भाला (७।१८।१७), वज्र (सृक् १।३२।१२), दिद्यु या फेंककर चलाया जानेवाला अस्त्र (१।७१।५); अद्रि (१।५१।३) या अशनि (६।६।५) अर्थात् गोफने में रखकर फेंकने के गोले-गोलियाँ।

इसके सिवाय सोने के आभूषण स्त्री और पुरुष पहनते थे। जैसे कानों में कर्णशोभन (८।७८।३), गले में निष्कग्रीव (२।३३।१०); हाथों में कड़े और पैरों में खड़ुवे (खादि, १।१६६।९, ५।५४।११ पत्सु खादय), छाती पर सुनहले पदक (वक्ष सुरुक्मा) धारण करते थे। गले में मणियाँ पहनी जाती थीं (मणिग्रीव—१।१२२।१४)। सोने का उपयोग बर्तन बनाने में होता था (हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्—यजु० ४०।१७)।

अंजन—वेद में अंजन को यातु और यातुधानी (कृमि और कृमियों का उत्पत्ति-स्थान अथवा कृमियों का नाशक) लिखा है—

> यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि।
> यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत् सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ (अथर्व ४।९।९)

'हिमालय पर, त्रिककुद पर्वत पर जब उत्पन्न अंजन हुआ, सब यातु कृमियों को तथा सब नारी कृमियों को अथवा उनके उत्पत्तिस्थान को नष्ट करता है।'

अंजन दो प्रकार का है, एक त्रिककुद पर्वत से आनेवाला[1] और दूसरा यामुन—यमुना से उत्पन्न।

अथर्ववेद में अंजन के लिए बहुत-से शब्द आये हैं, यथा—त्रायमाणम् (४।९।१), जीवम् (४।९।१), यातुजम्भनम् (४।९।३), जीवभोजनम्, हरितभेषजम्

---

1 त्रिककुद पर्वत का स्पष्टीकरण—'पाणिनि कालीन भारतवर्ष' देखिए।

(४।९।३), त्रैककुदम् (४।९।१०), यामुनम् (४।९।१०), परिपाणम् (४।९।३), मैत्रायणी सहिता मे त्रैककुभम् (३।६।३), आयुप प्रतरणम् (अथर्व–१९।४४।१, विप्रम् (अ १९।४४।१), सिन्वो गर्भ (अ १९।४४।५), विद्युता पुष्पम् (१९।४४।५), देवाञ्जनम् (१९।४४।६), अमीवचातन (१९।४४।७), पर्वतीयम् (१९।४५।३) आर्ष (१९।४५।४)।

अजन अश्व, गौ और पुरुषो के लिए लाभकारी है (अथर्व ४।९।२) इसके सेवन से आयु बढती है। शपथ, कृत्या, अभिशोचन, विष्कन्ध (४।९।५), असन्मन्न, दुष्ष्वप्न्य, दुष्कृत, शमल, दुहार्द घोरचक्षु (अ ४।९।६), तन्त्रा (ज्वर), वलास, आदहि (दाद रोग) (४।९।८), हरिमा, अगभेद, जायान्य (राजयक्ष्मा), विसल्पक (१९।४४।२) नष्ट होते है।

सेवन प्रकार—कष्ट निवारण के लिए इसका चार प्रकार मे उपयोग किया जाता था—नेत्र में आँजकर, मणिरूप मे धारण कर, शरीर पर बाँधकर तथा लेप और भक्षण करके (अ १९।४५।५, ४।९।३)। अन्य सहिताओ में भी अजन का उल्लेख है।

यथा—

यस्याजन प्रसर्पस्यङ्गमङ्ग प्ररुष्परु ।
ततो यक्ष्म विबाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥ (अथर्व ४।९।४.)

हे अजन! जिस पुरुप के अग-अग और जोड-जोड में तू पहुँचता है, वहाँ तू यक्ष्म-रोग नष्ट कर देता है। मध्यस्थ वीर पुरुष, जैसे शत्रुओ को अथवा मध्यलोक में स्थित वायु, जैसे बादलो को नष्ट करता है।

त्रयो दासा आजनस्य तक्मा वलास आदहि. ।
वर्षिष्ठ पर्वताना त्रिककुन्नाम ते पिता ॥ ४।९।८

तक्मा-रोग, वलास-कफ रोग, दाह रोग ये तीनो अजन से नष्ट होते है। हे अजन! पर्वतो में श्रेष्ठ त्रिककुद् पर्वत तेरा पिता है।

आजन पृथिव्या जात भद्र पुरुपजीवनम् ।
कृणोत्वप्रमायुक रथजूतिमनागसम् ॥ (अथर्व. १९।४४।३)

अजन पृथ्वी पर उत्पन्न हुआ है, पुरुपो को जीवन देनेवाला है, वह तुझे न मारनेवाला, रथ के वेगवाला दोप से रहित बनाये।

अपामूर्ज ओजसो वावृधानमग्नेर्जातमधि जातवेदस. ।
चतुर्वीर पर्वतीयं यदाञ्जन दिश प्रदिशःकरदिच्छिवास्ते ॥ १९।४५।३.

हे रोगी ! जलो का वल, ओज का वढानेवाला, जातवेदस-अग्नि से उत्पन्न, पर्वत से उत्पन्न, यह चतुर्वीर अजन तेरे लिए दिशाओ और प्रदिशाओ को कल्याणकारी वनाये।

आक्ष्वैंक मणिमेक कृणुष्व स्नाह्येकेनापिवैकमेषाम् ।
चतुर्वीर नैर्ऋतेभ्यचतुर्भ्यो ग्राह्या वन्धेभ्य परिपात्वस्मान् ॥ १९।४५।५.

हे पुरुप ! एक अजन को नेत्र में धारण कर, एक को मणिरूप में वाँध, एक अजन से स्नान कर, एक को पी। यह चतुर्वीर अजन ग्राही (पकडनेवाला या वहते हुए रक्त को वन्द करनेवाला) हो।

सग्रह (सूत्र अ ८।९२–१०१) जैसा अजन का उल्लेख प्राचीन सहिताओ में नही मिलता। रसग्रन्थो में या निघण्टु में भी इसका विस्तृत उल्लेख इस रूप में नही है। चरक तथा दूसरे आयुर्वेद ग्रन्थो में आंखो की निर्मलता के लिए इसका उपयोग करने का उल्लेख है। कुष्ठ रोग मे अजन का लेप वताया गया है—"भल्लातक गैरिकमञ्जन च" (चरक सू अ ३।५)। पाण्डुरोग मे मुक्ताविद्रुमाजन योग सुश्रुत में है–"प्रवाल-मुक्ताञ्जनशखचूर्ण लिह्यात्तथा काञ्चनगैरिकोत्थम्" (उत्तर अ ४४।२१)।

सीसा—सीसा भी कृमिनाशक है—

सीस म इन्द्र प्रायच्छत्तदङ्गयातु चातनम्। (अथर्व १।१६।२–३)

सीमे को मुझे इन्द्र ने दिया। हे अग ! वह सीसा यातु, कृमियो का हनन करनेवाला है। यह सीसा विष्कन्ध रोग को दवाता है, यह अत्रि कृमियो को नष्ट करता है, इस सीसे से सवको दवा लेता हूँ। कच्चा मास खानेवाले सव कृमि इससे नष्ट होते है।

मणि—मणि का उपयोग रक्षोघ्न तथा विपप्रतिकार मे वताया गया है। चरक-सहिता में मणिधारण का विधान स्वास्थ्य के लिए (सूत्र अ ५।९७ में) तथा वच्चो को ग्रहो से वचाने के लिए (मणयश्च वारणीया कुमारस्य, शा अ ८।६२,) और विप-प्रतिकार के लिए है। इसी लाभ के लिए वेद में भी मणिधारण का उल्लेख है। ये मणियाँ क्या थी, इसका स्पष्टीकरण नही है। शख के लिए कहा है—

शखेन हत्वा रक्षास्यत्रिणो विषहामहे। (अ ४।१०।३)

राक्षसो को, अत्रि कृमियो को हम शख से हनन करके दवा देते है।

मणियो ओपधियो से भी वनती थी। मणि से ही सम्भवत माणिक्य-मनका शब्द वना है, मनका गोल होता है। ओपधियो में से गोल (वर्तुल) चक्के काटकर इनमें छेद करके धारण करते थे। इमी से आयुर्वेद में प्रशस्त ओपधियो के धारण का विवान है (शिरसा धारयेत्–सू अ १९॥२९)। इसी से अथर्ववेद में कई ओपधियो

को मणि तुल्य धारणीय कहा है। इनमें औदुम्बर मणि, जगिडमणि, पर्णमणि, दर्भमणि और फालमणि का उल्लेख है (वेद में आयुर्वेद, पृष्ठ २५६-२६६)।

शख का वर्णन जैमिनीयोपनिषद् ३।७।४।१, ४।९।२।७, शतपथ ब्राह्मण १४।५।४।९ तथा गोपथब्राह्मण १।२।८। मे भी आता है।

स्वर्ण धारण करने से आयु, वर्चस् वल, वढता है (अथर्व १।३५)। इसको धारण करनेवाले को पिशाच तथा अन्य राक्षस कृमि हानि नहीं पहुँचाते (सद्वृत्त में—भोजन करने के विधान में सुवर्णादि रत्न धारण की आज्ञा है—नारत्नपाणिर्नास्नात अन्नमाददीत—चरक सू अ ८।२०, न सज्जते हेमपाङ्गे विष पद्मदलेऽम्बुवत्। (चरक चि अ २३।२४०)

वाजसनेयी सहिता मे छ धातुओ के नाम आये हैं—हिरण्य, अयस्, लोहा (ताम्र), श्याम, सीसा और त्रपु (१८।१३)। स्वर्ण का पता ऋग्वेदकाल से ही था या स्वर्ण धातु (ore) से निकाला जाता था। रजत का उपयोग आभूषण (रुक्म) तथा पात्र और मुद्रा (निष्क) रूप में होता था। ऋग्वेद मे अयस् का उल्लेख है। धातुएँ ध्मापन से प्राप्त की जाती थी। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि उस समय ध्मापन क्रिया का ज्ञान था (६।३।४)। लोह शब्द लुह् धातु से वनता है, जिसका अर्थ खीचना है। सुवर्ण आदि अपनी मूल धातुओ से क्रियाविशेष द्वारा खीचकर निकाले जाते है, अत उनको लोह नाम दिया गया है। लुह् धातु पाणिनि के धातुपाठ मे नहीं है। धातु शब्द का अर्थ है सुवर्ण आदि लोह को धारण करनेवाला खनिज द्रव्य (धारणाद् धातव—इसलिए ओर ore के लिए धातु शब्द है)।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में धातुओ का उल्लेख—अर्थशास्त्र मे जिन मूल द्रव्यो से सोना-चाँदी आदि गलाकर निकाले जाते थे उनके लिए धातु शब्द का प्रयोग किया है। यथा—जिससे स्वर्ण निकलता था, उसे स्वर्ण-धातु, इसी प्रकार जिससे चाँदी निकलती थी उसे रूप्य-धातु कहा है। इसी प्रकार ताम्र-धातु सीसक-धातु, लोह-धातु थी। ये शब्द खनिज (ore) को वताते हैं। आकराध्यक्ष का कर्त्तव्य था कि वह शुल्व-शास्त्र (जिसमें ताँवा-सोना आदि वनाने की विधि कही हो) धातु-शास्त्र, (धातु निकालने का ज्ञान), रस पाक, मणि राग (मणियो के रग) आदि का अच्छी प्रकार ज्ञान प्राप्त करे। इसके साथ किट्ट, मूषा, अगार, भस्म आदि की परीक्षा से पुरानी खान का पता लगाये। भूमि, पत्थर, धातु के वर्ण, गौरव, गन्ध से रस की परीक्षा करनी चाहिए।

राज्य के आय के साधनो में धातुओ की खान को भी कहा है (२।६।४)। कहाँ पर कौन-सी खान है, कौन-सी धातु कहाँ मिलेगी, इनकी पहचान विस्तार से वतायी

है (२।१२।२-६)। जिस धातु (ore) में भारीपन अधिक हो उसमें से धातु अधिक निकलती है (सर्वधातूना गौरववृद्धौ सत्त्ववृद्धि), निकली हुई धातुओ को साफ करने की सम्पूर्ण विधि आदि लिखी है। शोधनकार्य में तीक्ष्ण मूत्र, तीक्ष्ण क्षार, अमलतास, वरगद, गोपित्त, महिप-खर-ऊँट के मूत्र-पुरीप आदि का उपयोग बताया है। शुद्ध धातु की पहचान भी बतलायी है।

विशिखा—स्वर्ण का व्यापार जिस बाजार में होता हो उसका नाम विशिखा है[1]। इस स्थान में होनेवाले स्वर्ण के व्यापार, शोधन, बनावट, चोरी आदि सब वस्तुओं का उल्लेख इन प्रकरण में (२।१३।३१) किया गया है।

सुवर्ण के उत्पत्तिस्थान तीन हैं—जातरूप (स्वय शुद्ध सुवर्णरूप में प्राप्त), रसविद्धम् (पारे के द्वारा बनाया), आकरोद्गत (खान से मूल धातु के रूप में निकला) (२।१३।३१।३)। इस प्रसग में वर्ण शब्द आधुनिक 'कैरेट' का सूचक है, कितनी मिलावट ताम्र या अन्य धातु की है, इसे 'वर्ण' शब्द से कहते हैं। इस प्रकार से पाँच वर्ण स्वर्ण के हैं—जाम्बूनद, शातकुम्भ, हाटक, वैणव और शृगशुक्तिज। मिलावट होने से सोना टूटता है, फटता है, कठोर हो जाता है। सोलह वर्ण का सोना शुद्ध होता था।

सुवर्ण में चालबाजी करने का भी उल्लेख है (जातिहिंगुलकेन पुष्पकासीसेन वा गोमूत्रभावितेन दिग्धेनाग्रहस्तेन स्पृष्ट सुवर्ण श्वेतीभवति—२।१३।३१।२३)। यह चमत्कार-धोखाबाजी उस समय भी बरती जाती थी। सोने की परीक्षा के लिए कसौटी ही थी—कसौटी पर केसर के समान रेखा होनी चाहिए।

सुवर्णकार किस-किस प्रकार से सोना चुराते हैं इसका भी उल्लेख है (मूकमूपा, पूतिकिट्ट, करटकमुख, नाली सदश, जोगिनी, सुवर्चिका लवणम्। तदेव सुवर्णमित्यपसरणमार्गा—२।१४।२७)। लोहे के भेद—कालायस, ताम्रवृत्त, कास्य, सीस, त्रपु, वैकृन्तक और आरकूट बताये हैं (२।१७।३५।१५)।

---

१ डाक्टर अग्रवाल की मान्यता है कि कादम्बरी तथा मेघदूत में जो वर्णन सराफे का आया है, वह केवल इसी लिए है कि सब बाजारो में सराफा, सोने चाँदी का बाजार ही मुख्य था। उस एक के वर्णन से दूसरे बाजारों के वैभव का पता चल सकता है। इसी लिए कादम्बरी में उज्जयिनी के वर्णन में बाण ने सराफे को ही चुना। कालिदास ने भी पूर्वमेघ में इसी बाजार का वर्णन किया (३४ में)। आयुर्वेद—सुश्रुत में 'विशिखानुप्रवेशनीय अध्याय' में—विशिखा का अर्थ बाजार किया जाये तो असगत नहीं, अपितु उचित जँचता है।

पारद-हिंगुल का उल्लेख—अर्थशास्त्र में पारद को धातुओं के साथ नहीं गिना। रसशास्त्र में भी पारद का वर्णन स्वतन्त्र रूप से है। कौटिल्य के समय पारद और हिंगुल का ज्ञान था। इससे सोना भी बनता था (जो रसविद्धम् शब्द से स्पष्ट है)। हिंगुल से पारा निकालने का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। हिंगुल का उपयोग स्वर्ण आदि के कार्य में होता था (घनसुषिरे वा रूपे सुवर्णमृन्वालुकाहिंगुलकल्को वा तप्तोऽवतिष्ठते —२।१४।४०)। सोने या चाँदी के ठोस या पोले कटो पर सुवर्ण मिट्टी, सुवर्ण भा (वा) लुका और हिंगुल-शिगरफ का कल्क लगाकर आग में गरम करें तो जितना सोना या चाँदी इनमें होगी—उतनी निकल आयेगी। सोना चुराने के लिए सुनार वस्त्र पर हरताल, मैनसिल, हिंगुल इनमें से किसी एक के चूर्ण को कुरुविन्द (जिससे शाण बनायी जाती है) के चूर्ण के साथ मिलाकर लेप कर लेते हैं, फिर इससे आभूषण को रगड़ते हैं। इस प्रकार से चुराये गये सोने को परिमर्दन कहते हैं (२।१४।५४)।

पारे का उपयोग समरांगणसूत्रधार में वायुयान (व्योमयान) बनाने के लिए आया है।[1] पारा या हिंगुल जिन स्थानों से निकलता था, उनका नाम पारद और दरद था। कौटिल्य ने 'दारद' विष का उल्लेख किया है (२।१७।१२)।

---

१ समरांगणसूत्रधार में—राजा भोज ने दो प्रकार के व्योमयानों का उल्लेख किया है—

(१) लघु दारुमय महाविहङ्ग दृढसुश्लिष्टतनु विधाय तस्य।
उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्य चाग्निपूर्णम्॥
तत्रारूढ पुरुषस्तस्य पक्षद्वन्द्वोच्चालप्रोज्झितेनानिलेन।
सुप्तस्यान्त पारदस्यास्य शक्त्या चित्र कुर्वन्नम्बरे याति दूरम्॥

(२) इत्थमेव सुरमन्दिरतुल्य सञ्चलत्यलघु दारुविमानम्।
आदधीत विधिना चतुरोऽन्तस्तस्य पारदभृतान् दृढकुम्भान्॥
अय कपालाहितमन्दवह्नि—प्रतप्ततत्कुम्भभवागुणेन।
व्योम्नो झगित्याभरणत्वमेति सन्तप्तगर्जद्रसराजशक्त्या॥
वृत्तसन्धितमायसयन्त्र तद्विधाय रस पूरितमन्तः।
उच्चदेशविनिधापितत त सिंहनादमुरज विदधाति॥

गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, भाग १, पृष्ठ १७५-१७७.

सत्यार्थप्रकाश में श्री स्वामी दयानन्दजी ने भी इस प्रकार के व्योमगामी यन्त्र का उल्लेख किया है।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में रत्नो की भी अच्छी पहचान दी है। मोती की परीक्षा, मोती कहाँ से आते है, कहाँ पर उत्पन्न होते है इत्यादि बातो का स्पष्ट उल्लेख किया है। शख, शुक्ति और प्रकीर्ण (गजमुक्ता, साँप की मणि आदि) ये तीन मोती के उत्पत्ति-स्थान कहे है। इनसे बनी मालाओ का उल्लेख किया है। इसी प्रसग में मणियो का भी उल्लेख हुआ है।

सिकन्दर के समय धातु—भारतवर्ष मे लोह निर्माण के कार्य में उस समय पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। लोहे पर पायना (पानी चढाना Temper) विशेष क्रिया थी। नियार्कस के अनुसार राजा पौरुष ने जो मूल्यवान् भेट दी थी—वह ३० पौंड उत्तम लोहा था। मिस्टर शो की मान्यता है कि प्राचीन मिस्र में जो सबसे अधिक कठोर लोहा मिला है, जैसे बरमा—जिससे कि 'अकीक' में छेद होता था वह भारतीय लोहे से ही बनता था। वराहमिहिर ने पायना करने की निम्न विधि बतायी है[1]—अर्क दूध, भेड के सीग की राख, चूहे और कबूतर का पुरीष इनका पहले लोहे पर लेप करना चाहिए। इनको गरम करके तेल में बुझाना चाहिए। इस प्रकार से बनाया हुआ शस्त्र पत्थर पर भी कुण्ठित नही होता। तलवार या शस्त्र को केले के क्षार और तक्र से लिप्त करके रात भर रखकर बुझायें तो यह शस्त्र दूसरे शस्त्रो से भी कुण्ठित नही होता।[2]

---

१ तेषा पायनस्त्रिविध क्षारोदकतैलेषु, तत्र क्षारपायित शरशल्यास्थिच्छेदनेषु, उदकपायित मासच्छेदनभेदनपाटनेषु, तैलपायित सिराव्यधनस्नायुच्छेदनेषु। (सुश्रुत सू अ ८।१२।)

२. तैलपायना—पिप्पली सैन्धव कुष्ठ गोमूत्रेण तु पेषयेत्।
अतिशीतमनाविद्ध पीत नष्ट तथौषधम्॥
अनेन लेपयेच्छस्त्र लिप्त चाग्नौ प्रतापयेत्।
ततो निर्वापित तैले लौह तत्र विशिष्यते॥
उदकपायना—पचभिर्लवणै पिष्ट मधुसिक्त ससर्षपै।
एभि प्रलेपयेच्छस्त्र लिप्त चाग्नौ प्रतापयेत्॥
शिखिग्रीवासुवर्णाभ तप्तपीत यथौषधम्।
ततस्तु विमल तोय पाययेच्छस्त्रमुत्तमम्॥

पारद-दरद-देश—महाभारत में पारद, दरद आदि जातियों का उल्लेख है—इन्होंने युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ में भेंट दी थी (द्यूतपर्व ५२।१३–१४)।

पारद और दरद देशों का उल्लेख भूगोल में भी मिलता है। जिस प्रकार बंगाल के निवासी बंगाली, मद्रास के मद्रासी होते हैं, उसी प्रकार इन देशों के निवासी अपने देश के नाम से कहे जाते थे। इन देशों के नाम इन स्थानों पर मिलनेवाली वस्तुओं के कारण हैं (तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि—पाणिनि ४।२।६७)।

इस प्रकार जहाँ पर पारद और हिंगुल (दरद) होता था, उस देश का नाम पारद और दरद था। वहाँ रहनेवाले भी पारद और दरद कहलाते थे।

दरद देश की पहचान डाक्टर अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'पाणिनि कालीन भारतवर्ष' में दी है, उसके अनुसार बलोचिस्तान की मकरान पर्वत शृंखला संभवत किंशुलकागिरि थी, जिसका नाम अभी तक हिंगुलाज देश और हिंगुला नदी के नामों के रूप में बचा रह गया है। हिंगुला किंशुल का प्राकृत रूप है। इस देश का प्राचीन नाम पारद था। यूनानियों ने इसे पारदीनी (Paradene) लिखा है, जो पाणिनि के पार्दायन और पार्दायनी से सम्बन्धित है (४।२।९९)। पारद के अर्थ में हिंगुल शब्द का प्रयोग मध्यकाल में पाया जाता है। संभवत लाल हिंगुल का उत्पत्तिस्थान होने के कारण यह स्थान किंशुलक कहलाया। किंशुक और किंशुलक एक ही शब्द ज्ञात होते हैं। हिंगुला अभी तक लाल देवी मानी जाती है। वस्तुत हिंगुलाज में शकों की नानादेवी का प्रसिद्ध मन्दिर था, जिसकी मान्यता (जियारत) मुसलमान भी नानी के नाम से करते हैं (पृष्ठ ४५)।

इस प्रदेश में पारद, वंग, किरात और दरद रहते थे। सिकन्दर का मुकाबला हिंगुला नदी के मुहाने पर यहाँ के लोगों से हुआ था, जिसमें ये लोग मारे गये (सार्थवाह, पृष्ठ ७३)। पारद, कुलिन्द, तगण लोगों की स्थिति मध्य एशिया में थी। इस प्रकार ये देश उस समय पारद, हिंगुल के उत्पत्ति-स्थान थे (गोरखाओं के देश को

क्षारपायना—क्षार कदल्या मथितेन युक्त,
दिवोषित पायनमापसेयत्।
सम्यक् शित चाश्मनि नैति भङ्ग,
नचान्यलोहेष्वपि तस्य कौण्ठ्यम्॥
(बृहत्संहिता, अध्याय ५०, पृष्ठ १०९।)

सम्भवत नैपाली ताम्र का प्राप्ति-स्थान होने से नेपाल नाम देते हैं, सुमात्रा से लगा पालेमवेंग के सामने वका द्वीप है, वका की राँगे की खान प्रसिद्ध है। वग का नाम राँगा भी है, सम्भव है, यह स्थान इस धातु का उद्गम स्थल हो—(सार्थवाह, पृष्ठ १३४)। इसी प्रकार नागा प्रदेश सीसक का, वग राँगे का, किरात ताम्र का उत्पत्ति-स्थान हो सकता है।)

गुप्तकाल—इस समय में लोहे की पूर्ण उन्नति थी। इसकी साक्षी दिल्ली में कुतुवमीनार के पास वनी लोहे की लाट या कीली है, जिसे चन्द्रगुप्त द्वितीय निर्मित कहा जाता है। यह लौहस्तम्भ ढलवाँ लोहे का वना है, जिसकी लम्वाई २४ फुट से कम नहीं। भूमि से यह लगभग २२ फुट वाहर है, इसके ऊपरी सिरे पर कलात्मक रचना है, जिस पर चौथी शताव्दी का सस्कृत लेख खुदा है। इसके लोहे का विश्लेषण हैडफिल्ड ने किया था। उसकी राय में यह उत्तम प्रकार का ढला हुआ है, जो सम्भवत कोयले के मेल से वनाया गया है (एट्रिटाइज ओन कैमिस्ट्री–१, मैटल्स पृष्ठ ११६२–६३)।

मिसेज स्पीयर ने हिन्दुओं द्वारा लोहा वनाने की विधि का उल्लेख किया है। उसके अनुसार वे लोहे को पिघलाते थे। पिघलाते समय वे इसमें हरे पत्ते और लकडी डाल देते थे। इसको वन्द मूषा (क्रुसीवल) में गरम करते थे। यही विधि ग्लासगो और शेफील्ड में वरती जाती है। श्री हैथ का कहना है कि भारत के आदिवासी दो-अढाई घटे में खनिज धातु से लोहा निकाल लेते हैं, शेफील्ड मे इस कार्य में चार घटे लगते है (सम एस्पैक्टस ओन इण्डियन सिविलीजेशन—लेखक-गिरिजाप्रसन्न मजूमदार)।

वृद्धत्रयी में धातु—प्रागैतिहासिक काल से लेकर आठवी शताव्दी तक के प्रमाणो से यह स्पष्ट है कि धातु-ज्ञान इस देश में पर्याप्त था। पारे से सोना वनाने की विद्या भी ज्ञात थी। सम्भवत प्रथम या द्वितीय शताव्दी का नागार्जुन इस विद्या में विशेष निपुण रहा हो। परन्तु चिकित्सा में या शरीर को अजर-अमर करने के लिए पारद-सिद्धि विषयक ज्ञान उस समय उन्नत नही हुआ था। यह वात वृद्धत्रयी से स्पष्ट है। चरक और सुश्रुत में पारद का उल्लेख एक-एक वार ही आया है।[1] धातुओ का जो भी

---

१. चरक चि अ ७।७१, २–सुश्रुत [क] "तार सुतार' ससुरेन्द्रगोप सर्वैश्च तुल्यो कुरुविन्दभाग—क. अ ३।१४॥ [ख]–रक्त श्वेत चन्दन पारदञ्च काकोल्यादि क्षीरपिष्टश्च वर्ग ॥ चि अ. २५।३९ इसके पाठान्तर में भी पारद ही है—

उपयोग आया है, वह चूर्ण रूप मे अयस्कृति बनाकर आया है। आँखो के अजन में प्राय सब धातु—मुक्ता, प्रवाल, वैडूर्य, स्फटिक, तुत्थ, कासीस का उल्लेख सुश्रुत मे बहुत ही स्पष्ट है। यह सब उल्लेख ११वी शताब्दी मे होनेवाले धातुप्रयोग से सर्वथा भिन्न हैं। इसी प्रकार चरक मे लोहे, तुत्थ, कासीस का प्रयोग, मडूर का उपयोग मिलता है, परन्तु यह प्रक्रिया सर्वथा अलग है। वृन्द, चक्रदत्त तक धातुओ के प्रयोग का यही रूप मिलता है। इसलिए यह निश्चित है कि आठवी-नवी शताब्दी तक चिकित्सा मे धातुओ का प्रयोग एक दूसरे प्रकार का था। इस समय या इससे पूर्व स्वर्ण भले ही पारे के योग से बनता हो, परन्तु पारद का उपयोग देहसिद्धि के लिए नहीं था। सिद्धि या चिकित्सा में उसका उपयोग नवी-दसवी सदी मे आरम्भ हुआ था।

चरक सहिता में धातुओ का उल्लेख—इस सहिता मे तीन प्रकार के द्रव्य बताते हुए पार्थिव द्रव्यो मे धातुओ का उल्लेख किया है। यहाँ पर छ ही धातु गिनी हैं (सुवर्ण समला पञ्च लोहा ससिकता सुधा। मन शिलाले मणयो लवण गैरिकाञ्जने ॥ सू० अ० १।७०)। ये छ धातु—सुवर्ण, ताम्र, रजत, त्रपु, सीसक, लोह हैं। मल शब्द से शिलाजतु लिया गया है। शिलाजतु भी धातुओ से निकलता है। इनके अतिरिक्त रेत, सुधा-चूना (तथा मिट्टी), मन शिला, हरताल, मणियाँ, लवण, गैरिक, अजन आदि भी इसी वर्ग में माने गये हैं।

यहाँ ध्यान देना आवश्यक है कि सुश्रुत में मोती को भी पार्थिव कहा है—(पार्थिवा सुवर्णरजतमणिमुक्ताभन शिलामृत्कपालादय —सूत्र अ० ११३२)। यहाँ पर मुक्ता को पार्थिव कहना इसके खर आदि पार्थिव गुणो की दृष्टि से है, न कि उत्पत्ति की दृष्टि से। इसी प्रकार शख आदि मणियो को पार्थिव समझना चाहिए।

सुधा से चूने के साथ सौराष्ट्री, काक्षी, कासीस आदि तथा मल से मण्डूर, किट्ट आदि वस्तुओ को भी समझना चाहिए। इसके आगे बहुत से उपरसो का उल्लेख है। ये उपरस-खनिज द्रव्य बाह्य और अन्त दोनो प्रयोगो में आते हैं। धातुओ का उल्लेख बहुत नियमित रूप में है। इनका प्रयोग उस समय आधुनिक प्रयोग से सर्वथा भिन्न रूप में होता था। यथा—

त्रिफला के रस मे (या क्वाथ में), गोमूत्र में, गोदुग्ध मे, लवण के पानी मे,

---

गोरोचनाकुकुमगैरिकाणि निशाद्वयं पारदचन्दने च ॥ सुतार शब्द से टीकाकारो ने पारा अर्थ किया है, परन्तु पारे के पर्यायो में सुतार शब्द नही है। (सुश्रुत—चि अ २५)

इंगुदी के क्षार मे और किंशुकक्षार में तीक्ष्ण लोह के पत्रो को अग्नि में लाल करके क्रमश निर्वापित करे। लोहे के पत्र चार अंगुल लम्बे और तिल के बराबर पतले होने चाहिए। उपर्युक्त द्रव्यों मे निर्वापित करने पर जब वे अंजन के (सुरमे के) समान बारीक हो जाये तब उनको आंवले के रस और मधु मे चाटन की भाँति मिला-कर घी से भावित घड़े में रखकर एक साल तक जौ के ढेर मे रख छोडे। एक साल हो जाने पर इनका प्रयोग घी और मधु के साथ करना चाहिए। एक वर्ष के बीच मे प्रति मास अच्छी प्रकार आलोडन (मन्थन) करते रहना चाहिए। सब प्रकार के लोहो की यह प्रयोगविधि है (चरक० चि० अ० १।३।१५–२०)।

इसी प्रकार एक दूसरे योग मे त्रपु सीस, ताम्र, रूप, कृष्णलोह और सुवर्ण इनको वच, मधु, घृत, विडंग, पिप्पली, त्रिफला और लवण के साथ एक वर्ष तक रसायन फल के लिए प्रयोग करना बताया है (चि० अ० १।३।४६–४७)। इसमे भी इनका सूक्ष्म चूर्ण करके प्रयोग विधेय है। यह चूर्ण अग्नि के द्वारा ही किया जाता था, परन्तु उसकी प्रक्रिया रसशास्त्र की प्रक्रिया से भिन्न थी।

चरकसंहिता मे धातुओं के बारीक चूर्णों के लिए 'रजस्' शब्द का प्रयोग आता है (नवायोरजसो भाग—चि० अ० १६।७०), भस्म नही। मण्डूर का भी सुरमे के समान बारीक चूर्ण का ही उल्लेख है (मण्डूर द्विगुण चूर्णाच्छुद्धमंजनसंनिभम्, चि० अ० १६।७४)। ताम्र का भी सूक्ष्म चूर्ण कहा है (दद्यात्ताम्ररजस्तस्मै सक्षौद्र-हृद्विशोधनम्—चि० अ० २३।२३९)। स्वर्ण का भी सूक्ष्म चूर्ण बतलाया है (शुद्धे हृदि तत शाण हेमचूर्णस्य दापयेत्—चि० अ० २३।२३९)।

धातुओं के साथ स्वर्णमाक्षिक (ताप्याद्रिजतुरूप्यायोमला पञ्च पला पृथक्—चि० अ० १६।७८), रजतमाक्षिक (तथा रूप्य मलस्य च—चि० अ० १६।८१), प्रवालचूर्ण (प्रवालचूर्ण यफमूत्रकृच्छ्रे—चि० अ० २६।५६) का भी उपयोग है। चरक में मुक्ताद्यचूर्ण नाम से एक योग है, यथा—

> मुक्ता प्रवाल वैडूर्य शख स्फटिक मञ्जनम्।
> ससार गन्धक काचार्क सूक्ष्मैला लवणद्वयम्॥
> ताम्रायोरजसी रूप्य ससौगन्धिक सीसकम्।
> जातीफलं शणाद्बीजमपामार्गस्य तण्डुला॥
> एषा पाणितलं चूर्णं तुल्याना क्षौद्र सर्पिषा।
> हिक्का श्वास च कास च लीढमाशु नियच्छति॥ (चि अ. १८।१२५-१२७)

मुक्ता, प्रवाल, वैडूर्य (बिल्लोर), शख, स्फटिक, अजन, ससार (स्फटिक भेद), गन्धक, काच, अर्क, सूक्ष्मैला, सैन्धव और सौवर्चल नमक, ताम्र और लोह का चूर्ण, चाँदी का चूर्ण, सौगन्ध्य (माणिक्य भेदचक्रपाणि), सीसक, जातीफल, सन के बीज, अपामार्गतण्डुल—इन सबका चूर्ण एक कर्ष मात्रा से मधु और घी के साथ खाने से हिक्का, श्वास, कास नष्ट होते है।

इस योग में धातुओं तथा दूसरे खनिज द्रव्यों का प्रयोग चूर्णरूप में ही हुआ है। यह चूर्ण अजन-सुरमे के समान होना चाहिए, तभी शरीर में इसकी क्रियासम्भव है। पारद का उपयोग कुष्ठरोग मे कहा है। वहाँ मारे हुए या बन्धीभूत रसके सेवन का उल्लेख है। पारे का यह बन्धन गन्धक या सुवर्णमाक्षिक के प्रयोग से कहा है—

श्रेष्ठ गन्धकयोगात् सुवर्णमाक्षिकप्रयोगाद् वा ।
सर्वव्याधिनिवर्हणमद्यात् कुष्ठी रसं च निगृहीतम् ॥ (चि० अ० ७।७१)

चरक सहिता के इस श्लोक की टीका में चक्रपाणि ने कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं दिया। पारद की गन्धक के साथ मिश्रणक्रिया की जाती है, परन्तु सुवर्णमाक्षिक के साथ पारद का कोई सस्कार रसशास्त्र में देखने में नही आया। चक्रपाणि ने इस प्रसग मे जो व्याख्या छोड दी है, इससे प्रतीत होता है कि उसके समय तक इस सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण नही था। रसशास्त्र की प्रक्रिया उन्नत नही थी। चक्रपाणि ने 'लेलीत (ह) क' को स्पष्ट करने के लिए निघण्टु का प्रमाण दिया है। रसशास्त्र में गन्धक का पर्याय लेलीतक मिलता है—

गन्धे लेलीतको लेली गन्धमादनको बलि ।
सौगन्धी गन्धपाषाणः वसाकारो वसावट ॥
गन्धक शुकपिच्छाख्यः सौगन्धिकनिकृन्तकौ ॥ (रसकामधेनु—२।४।१६)

चक्रपाणि ने लेलीतक का अर्थ गन्धक न करके 'पाषाणभेद औत्तरपथिक' कहा है, इसमे निघण्टु का प्रमाण भी लिखा है, जिससे यह वसा स्पष्ट होती है। रसकामधेनु मे गन्धक के पर्यायों में वसाकार, वसावट शब्द आये है। इससे स्पष्ट है कि लेलीतक वसा है, उसी का नाम गन्धक है। चक्रपाणि जैसा विद्वान् सीधा अर्थ गन्धक न देकर 'पाषाणभेद औत्तरपथिक' अर्थ करता है, तब इससे स्पष्ट है कि उस समय यह शब्द स्पष्ट नही था, जिसका अर्थ है कि रसशास्त्र का अभी विकास नही हुआ था। चक्रपाणिदत्त का समय १०वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

धातुओं के साथ दूसरे उपरसो का उपयोग चरकसहिता में बाह्य प्रयोग या धूमरूप में मिलता है। धूमप्रयोग मे इन वस्तुओं के साथ सदा घी का उपयोग

बतलाया है, क्योकि ये वस्तुएँ शुष्क होने से मस्तिष्क में रूक्षता (खालीपन–शून्यता) लाती है (चि० अ० १७।७७–७८) । मन शिला को अन्य वस्तुओ के साथ घृत में सिद्ध करने को कहा है। इस घृत को भी श्वास रोग मे बरतने का विधान किया है (चि० अ० १७।१४५–१४६)। मन शिला घृत में घुलती नही, सम्भवत उसका कुछ सस्कार आता होगा, यह मात्रा अवश्य बहुत न्यून होती होगी। मन शिला का प्रसिद्ध रसशास्त्र, कथित योग रसमाणिक्य उस समय ज्ञात नही था।

कासीस, मन शिला, हरताल, तुत्थ, गैरिक, अजन इनको कुष्ठ रोग में बाहर बरतने का उल्लेख है (सूत्र० अ० ३) । ये वस्तुएँ उस समय भी ज्ञात थी। हरताल, अजन, मन शिला का उल्लेख कालिदास ने भी किया है। ये मागलिक मानी जाती थी (कु० स० ७–२३, ५९, एव प्राचीन भारत के प्रसाधन) ।

इसी प्रसग में गोरोचना का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। मनुष्य के शरीर में अश्मरी किस प्रकार बनती है, इसको समझाने के लिए अत्रिपुत्र ने कहा है, कि जिस प्रकार गाय के पित्ताशय में पित्त सचित होकर गोरोचन बनता है, उसी प्रकार मनुष्य मे भी अश्मरी बनती है, इसको वायु सुखाती है (यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गो ॥ चि० अ० २६।३६) । गोरोचन गाय के पित्ताशय से मिलता है, इसका उस समय ज्ञान था। परन्तु मनुष्य के पित्ताशय में बननेवाली अश्मरी का उल्लेख आयुर्वेदसहिताओ में नही मिलता, केवल बस्तिगत अश्मरी का ही उल्लेख है। पित्ताशय की अश्मरी का स्पष्ट ज्ञान यदि मनुष्य के सम्बन्ध में होता तो अवश्य उसका सक्षेप में निर्देश मिलता।

चरकसहिता के समय धातु और खनिज वस्तुओ की जानकारी थी, इनका उपयोग भी चिकित्सा में होता था। परन्तु रसशास्त्रोक्त रूप से पृथक् ही इनका व्यवहार था। इसकी कुछ झलक यूनानी चिकित्सा में मिलती है। उनके यहाँ भी भस्मो (कुश्तो) का उपयोग है, परन्तु बहुत ही सरल रूप में वे इनको बनाते हैं। श्वेत अभ्रक, जिसे आयुर्वेद में निन्दित बताया है, वह चिकित्सा में बरती जाती है। वरक के रूप में सोना चाँदी खिलाने का उनका सरल रास्ता है। मोती, नीलम, पुखराज आदि मणियो की भस्म न करके वे इनको गुलाब या केवडे के अर्क में पिसवाकर सुरमे के समान बनाकर काम में लाते हैं। यही रूप चरकसहिता के समय प्रथम शताब्दी से नवी शताब्दी तक प्रचलित था। इसी प्रकार के चूर्ण या रज का चरक में उल्लेख है—(वैडूर्यमुक्तामणिगैरिकाणा मृच्छखहेमामलकोदकानाम्—चि० अ० ४।७९) ।

सुश्रुत सहिता में धातु प्रयोग—चरक सहिता की अपेक्षा सुश्रुत में धातुओ का

प्रयोग अधिक स्थानों पर है तथा कुछ नये रूप में भी है। धातुओं से अतिरिक्त अन्य उपरसो का प्रयोग भी इसमें मिलता है, यथा अजन का अन्त उपयोग सुश्रुत में हुआ है (उत्तर०अ० ४४।२१)। मण्डूर को जलाने के लिए विशेष (वहेड़े की) लकडी का उल्लेख है (उत्तर० अ० ४४।३२)। इसमे सुवर्ण आदि धातु तथा मुक्ता, मणि, मन शिला, मिट्टी आदि वस्तुओ को पार्थिव (पृथ्वी के गुणवाली) माना है। शरीर मे सुवर्ण, चाँदी, ताम्र, पीतल (यह मिश्रित धातु है, चरक मे इसका उल्लेख नही), त्रपु और सीसा इनके शल्य पित्त की गरमी से लीन हो जाते है (सूत्र०अ०२६। २०)। लोहा तीक्ष्ण और काल लोह भेद से दो प्रकार का कहा गया है।

सुश्रुत में यत्र और शस्त्रो के निर्माण में लोहे का ही उपयोग वतलाया है, इसके लिए शब्द 'सुलोहानि' प्रयोग किया है (सू० अ० ८।८), अर्थात् अच्छे लोहे जो कि टूटें नही, जिनकी धार गिरे नही। (शस्त्रो मे वक्र, कुण्ठ, खण्ड आदि दोष वताये है)। शस्त्रो को होशियार, काम को जाननेवाले लुहार द्वारा शुद्ध उत्तम लोहे से वनवाना चाहिए। (सू० अ० ८।१९)

लोह आदि धातुओ का शरीर मे अन्त प्रयोग भी होता था। इसी से इनका द्रव्यसग्रहणीय अध्याय मे उल्लेख किया है (त्रपुसीसताम्ररजतसुवर्णकृष्णलोहानि लोहमलाश्चेति—सू० अ० ३८।६३)। ये वस्तुएँ कृमि, पिपासा, विष, हृदय रोग, पाण्डु, मेह को नष्ट करती है। लोहमल का अर्थ यहाँ शिलाजीत है (शिलाजीत सिन्धु-घाटी की खुदाई में मोहन्जोदडो में भी मिला है—वैदिक एज)। स्वर्ण, चाँदी, त्रपु, ताम्र, लोह, सीस के गुण निघटु की दृष्टि से कहे है। (सूत्र० अ० ४६)

अयस्कृति—सुश्रुत की यह विधि लगभग वही है जो चरक में धातुओ का सूक्ष्म चूर्ण करने के लिए वतायी है। अन्तर इतना है कि इसमे एक वर्ष तक रखने की आवश्यकता नही होती। जैसे—

तीक्ष्ण लोह के पतले पत्रो पर सैन्धव और सौवर्चल का लेप करके कडो की आग में गरम करे। फिर इनको त्रिफला और शालसारादि गण के क्वाथ में बुझाये। इस प्रकार सोलह बार करे। फिर खैर की लकडी के कोयलो पर गरम करे। जब ये ठण्डे हो जायँ तब कूटकर सूक्ष्म चूर्ण बना ले। फिर महीन वस्त्र में छानकर शक्ति के अनुसार घी और मधु के साथ खाये। इस प्रकार कम से कम एक तुला (१०० पल, आधुनिक दृष्टि से ४०० तोला, ५ सेर तक) खाये। (चि० अ० १०।११)

सुश्रुत की यह अयस्कृति इसी रूप में सिद्धयोग और चक्रदत्त में (परिणामशूला-

विकार) मिलती है, जिससे स्पष्ट है कि लोह का सूक्ष्म चूर्ण करने के लिए १०वीं शती तक यही उपाय वरता जाता था। इसमें चरक की विधि से समय कम लगता है। लोहे की भाँति दूसरी धातुओ की भी अयस्कृति वनती थी। लोह, त्रपु और मीसक की चादरें भी वनती थी, जिनके खण्डो से शरीर के स्वस्थ स्थान को घेरकर रुग्ण स्थान पर क्षार, अग्नि, शस्त्र की क्रिया की जाती थी[1]।

अजन—सुश्रुत में सिन्धु देश में उत्पन्न स्रोताजन उत्तम वताया है (चि० अ० २४।१८)। चरक सहिता में सौवीराञ्जन का उल्लेख है (सू० अ० ५।१५)। सिन्धु और सौवीर—ये दोनो नाम एक साथ आते हैं, जैसे कुरु पचाल। सिन्धु और सौवीर परस्पर सटे हुए दो जनपद थे। सिन्धु नदी के पूर्व में सिन्धसागर दुआव का पुराना नाम सिंधु था। इस नदी या इस देश में उत्पन्न अजन को सुश्रुत मे उत्तम कहा है। सिन्धु नदी के निचले काँठे का नाम सौवीर जनपद था। इसकी राजवानी रौरव (वर्त्तमान रोडी) थी। इस स्थान पर उत्पन्न अजन सौवीराजन है। वास्तव में दोनो अजन सिन्धु नदी या सिन्ध प्रदेश से आते हैं। सम्भवत इनमें कुछ अन्तर भूमि की विशेषता से हो। परन्तु नाम भेद का कारण स्थानो की दृष्टि से ही है।

वेद में जिस त्रिककुद् अजन का उल्लेख किया है, उसका अभिप्राय अजनगिरि पर्वत से ही दीखता है। अफगानिस्तान में सुलेमान पर्वत की शृखला है। इसमें टोवा, काकड और शीनगर के साथ उसकी तीन वाहियाँ हैं। त्रिककुद् पर्वत यही तीन वाहियो के रूप में था, जिसका अजन पजाव में जाता था। पाणिनि का अजन-गिरि यही है।[2] इससे स्पष्ट है कि अजन का मुख्य आयात सिन्ध की तरफ से होता था। आज भी मुलतान, डेरा गाजी खाँ, कश्मीर में अजन का जितना प्रचार है, उतना पूर्व या दक्षिण भारत में नही है। चरक में भी दैनिक कार्यो का प्रारम्भ अजन लगाने से वतलाया है, इसका महत्त्व उस देश में अविक था।

सुश्रुत में अजन का उपयोग आँख में आँजने के सिवाय रक्तस्तम्भक रूप में तथा

---

१ यदल्पमूले त्रपुताम्रसीसपट्टै समावेष्टय तदायसैर्वा।
क्षाराग्निशस्त्राण्यसकृद् विदध्यात् प्राणानहिंसन् भिषगप्रमत्त ॥
(चि अ १८।१८१९)

२ 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' से

व्रणो की चिकित्सा मे भी बताया है (सू० अ० ३८।४२)। रक्तपित्त चिकित्सा मे भी अजन का उपयोग मिलता है (उत्तर० ४५।३१, अ० ४५–३२)।

सुवर्ण का उपयोग तो रसायन, मेधा और आयु बढाने के लिए बहुत ही उदारता-पूर्वक किया गया है। बच्चा उत्पन्न होते हुए उसे स्वर्ण चटाने का उल्लेख है (शा० अ० १०।६८)। इसमें भी सुकृत चूर्ण—अच्छी प्रकार से चूर्ण बनाकर देने को ही लिखा है। मेधायुष्कामीय रसायन में (चि० अ० २८) सुवर्ण का उपयोग मधु और घृत के साथ तथा अन्य द्रव्यों के साथ चाटने के लिए पाँच सात स्थानो पर आया है (१०, १४, १५, १७, २०, २१, २२, २३)। इससे स्पष्ट है कि सुवर्णचूर्ण का उस समय सामान्य रूप में व्यवहार होता था। यह अयस्कृति रूप मे ही बनता होगा, क्योंकि इस समय तक इसको सूक्ष्म करने की यही प्रक्रिया ज्ञात थी।

अक्षिरोगों में धातुओं का व्यवहार—सुश्रुत मे धातुओं का उपयोग अजन के रूप में भी बताया है। इस चूर्ण का सुरमे के समान महीन होना आवश्यक है, मोटा सुरमा आँखो में टिकता नही। इसलिए अजन के रूप में इनका बारीक चूर्ण अयस्कृति मे बनता था या इनकी कोई दूसरी विधि थी, यह कहना सम्भव नही। भस्म मे अजन में धातु का प्रभाव होगा यह सन्दिग्ध बात है। धातुओं का महीन चूर्ण ही यह गुण कर सकता है—

वैडूर्यं यत् स्फटिकं वैद्रुमं च मौक्त शाङखं राजत शातकुम्भम्।
चूर्णं सूक्ष्म शर्कराक्षौद्रयुक्त शुक्ति हन्यादञ्जन चैतदाशु ॥ (उ. अ. १०।१५)

लोहचूर्णानि सर्वाणि धातवो लवणानि च।
रत्नानि दन्ता· शृङ्गाणि गणश्चाप्यवसादन ॥
कुक्कुटाण्डकपालानि लशुन कटुकत्रयम्।
करजबीजमेला च लेख्याञ्जनमिदं स्मृतम् ॥ (उ. अ १२।२४।२५)

शंखं समुद्रफेनं च मण्डूकीं च समुद्रजाम्।
स्फटिक कुरुविन्द च प्रवालाश्मन्तक तथा ॥
वैडूर्यं पुलक मुक्तामयस्ताम्ररजांसि च।
समभागानि सर्पिष्य सार्धं स्रोताञ्जनेन तु ॥
चूर्णाञ्जनं कारयित्वा भाजने मेषशृङ्गजे।
अर्माणि पिडिका हन्यात् सिराजालानि तेन वै ॥ (उ. १५।२५-२७)

रसाञ्जनं वा कनकाकरोद्भव सुचूर्णितं श्रेष्ठमुशन्ति तद्विद. ॥ (उ. अ १७।३९.

वैडर्य (बिल्लौर), स्फटिक, प्रवाल, मुक्ति, शख, चाँदी, स्वर्ण इनका बारीक चूर्ण करके शर्करा और मधु के साथ अजन करने से शुक्ति रोग नष्ट होता है। लोह समेत सब धातुओ का चूर्ण (स्वर्ण, चाँदी, त्रपु, ताम्र और सीस), सब लवण, रत्न, दाँत, सीग, मिश्रक अध्याय में कहा अवसादक गण, मुर्गे के अण्डे के छिलके, लहसुन, त्रिकटु, करज के बीज, इलायची इनका बना अजन लेखन कार्य के लिए उत्तम है। शख, समुद्रफेन, मोती की सीप, स्फटिक, कुरुविन्द (जिससे शाण बनती है), प्रवाल, अश्मन्तक, वैडूर्य, पुलक (?), मोती, लोह, ताम्रचूर्ण इनको स्रोताजन के साथ पीसकर अजन बनाये। इसे मेष (मेढे) के सीग में रखे। इसके लगाने से अर्म, पीडिका, सिराजाल नष्ट होते हैं। सोने की खान से उत्पन्न (तुल्य) को रसाजन के साथ मिलाकर अजन करना चाहिए।

धातुओ के सिवाय स्वर्णमाक्षिक (धातु नदीज जतु शैलज वा—उत्तर अ० ४४। ३१), मण्डूर (३४) का उपयोग भी लिखा है। लोहे के चूर्ण को बहुत समय तक गोमूत्र में रखकर बरतने का विधान है (उत्तर० अ० ४४।२१)। स्वर्णगैरिक का, प्रवाल, मुक्ता, अजन, शख मिलाकर उपयोग पाण्डुरोग में लिखा है (अ० ४४।२१)। एक प्रकार से लोह का या लोहवाले द्रव्यो का मुख्य उपयोग आयुर्वेद की सहिताओ में पाण्डुरोग में मिलता है। इसी रोग में तथा रक्त-पित्त में अजन का उपयोग है। इसलिए इतना तो स्पष्ट है कि रक्त से सम्बन्धित रोगो में लोह और अजन का उपयोग ईसा की दूसरी शती में इस देश में चलता था। इस प्रयोग में क्या सिद्धान्त था, यह कहना सम्भव नही। अजन का उपयोग कालाजार में बीसवी सदी मे हुआ है।

पारद का उपयोग सुश्रुत में दो ही स्थानो पर आया है, वह भी बाह्य प्रयोग में (चि० अ० २५।३९)। अन्त प्रयोग में पारा या गन्धक का उपयोग नही है।[1] इस-लिए इतना स्पष्ट है कि पारद का उपयोग चिकित्सा में नही था। उसकी सामान्य जानकारी थी। इसे धातु नही माना, न इसकी गणना किसी वर्ग में की है। मैनशिल का 'नैपालजाता'—नाम सुश्रुत में प्रथम मिलता है (उत्तर० अ० २१।१६)। इसी-प्रकार सैन्धव के लिए 'नादेयमग्र्यम्' (अ० २१।१६) नाम बतलाता है कि यह सिन्ध

---

२ तार सुतार ससुरेन्द्रगोप सवश्च तुल्य कुरुविन्दभाग'—क. अ. ३।१४. में सुतार से पारा, सुरेन्द्रगोप से सुवर्ण लिया है। इनका बाह्यो पर लेप करना चाहिए।

प्रदेश में होता है (नादेयमग्रच शव्द से स्रोताजन-सुरमा लेना अधिक उचित होगा, पुराने टीकाकारो ने सैन्धव लिया है)।

सुश्रुत में चरक की अपेक्षा खनिज द्रव्य तथा धातुओं का विशद उपयोग है, इनके प्रयोग की प्रक्रिया सरल है। अन्त प्रयोग के सिवाय वाह्य उपचार मे भी इनका व्यवहार हुआ है।

अष्टाग संग्रह और हृदय में धातुओ का व्यवहार—वाग्भट ने सुश्रुत की भाँति धातुओ के रस, वीर्य, विपाक का वर्णन किया है (सग्रह, सू० अ० १२।१२।२८)। इसमें भी कृष्ण लोह और तीक्ष्ण लोह पृथक् कहे हैं। धातुओं के साथ में पद्मराग, महानील, पुष्पराग, मुक्ता, विद्रुम आदि के भी गुण धर्म लिखे हैं। काच का उल्लेख इसमें ही हुआ है। यह स्पष्ट नही है कि काच से नमक, शीशा या काच-निर्माण की मिट्टी क्या अभिप्रेत है। नमक तो इसलिए सम्भावित नही कि दूसरे नमक यहाँ नही कहे। शख, समुद्रफेन, तुत्थ, गेरू, मैनसिल, हरताल, अजन, रसाजन, शिलाजतु इन सवका उल्लेख इस स्थान में एक साथ हो गया है। सग्रह ही पहला ग्रन्थ है, जिसमें वशलोचन और तुगाक्षीरी दोनो को अलग वताया है। सामान्यत तुगा या तुगाक्षीरी से आयुर्वेद में वशलोचन ही वरता जाता है। यूनानी हकीम दोनो को अलग मानते हैं।

सग्रह की चिकित्सा में धातुओ का उपयोग प्राय चरक और सुश्रुत की ही भाँति है। अयस्कृति तथा अन्य प्रक्रियाओ मे थोडा भेद मिलता है। धातुओ की अयस्कृति वनाने के लिए कहा गया है—

त्रिवृत, श्यामा, अग्निमन्थ, सप्तला, केवुक, शखिनी, तिल्वक, त्रिफला, पलाश और शीशम इनका रस या क्वाथ लेकर पलाश (ढाक) की द्रोणी मे डालकर, लोहे के पतले पत्रो को खैर के कोयलो में लाल करके इस रस में इक्कीस वार वुझाये। फिर रस को लोहधातु की थाली मे रखकर कडो की आग पर पकाये। जव यह गाढा हो जाय, तव इसमें पिप्पलीचूर्ण एक भाग, मधु और घृत के दो-दो भाग मिला दे। जव पक जाय तव इस लोह पात्र को सुरक्षित रख दे। यह अयस्कृति दु साध्य कुष्ठ और प्रमेह को भी नष्ट कर देती है।

आँख के रोगो में वैडूर्य, स्फटिक, शख, मुक्ता, विद्रुम के साथ चाँदी, लोह, त्रपु, ताम्र, सीसा, हरताल, मैनसिल, कुक्कुटाण्डत्वक्, समुद्रफेन, रसाञ्जन, सैन्धव इनको वकरी के दूव मे पीसकर वर्त्ती वनाने का उल्लेख किया है (उत्तर अ० १४)।

सोना, चाँदी, लोह इनके चूर्ण के साथ त्रिफला मिलाकर मधु और घृत से खाने का उल्लेख है (उत्तर०अ० २६)। स्वर्णमाक्षिक, त्रिफला, लोह इनको मधु और पुरातन घृत के साथ नेत्ररोग में उपयोगी कहा है (उत्तर० अ० २६)।

रसायन अध्याय (उत्तर० अ० ४९) में स्वर्ण का उपयोग विस्तार से मिलता है। इसमें केवल सुवर्ण का ही नही, अपितु लोहो का भी उपयोग मधु, तवाक्षीर, पिप्पली, सैन्धव नमक के साथ करने को कहा है। चरक की भाँति लोहे के चार अगुल, तिल के समान पत्तरो को अग्नि में तपाकर आँवले के रस में इक्कीस बार वुझाकर इनको ढाक की थाली मे रखकर ऊपर से आँवले का रस डालकर एक वर्ष तक भस्मराशि में रखने को कहा गया है। वीच-वीच में प्रति मास दण्ड से इनको घोटता जाय। आँवले का रस सूख जाय तो और रस डाल देना चाहिए। इस प्रकार से एक वर्ष में ये द्रवरूप हो जाते है। इसके पीछे इनका उपयोग करना चाहिए।

आयुष्य के लिए सुवर्ण को शखपुष्पी के साथ, वुद्धि वढाने के लिए वच के साथ, लक्ष्मी की चाह के लिए कमलगट्टे की गिरी (पद्मकिञ्जल्क) के साथ, वृष्यता के लिए विदारी के साथ खाना चाहिए।

सग्रह मे सुवर्णमाक्षिक का भी रसायन रूप से उपयोग लिखा है। इसके उत्पत्ति-स्थान तापी, किरात, चीन और यवन प्रदेश कहे हैं। तापी से उत्पन्न होने के कारण इसको 'ताप्य' कहते हैं। स्वर्णमाक्षिक और रजतमाक्षिक का भेद स्पष्ट किया गया है (मधुर काञ्चनाभास साम्लो रजतसन्निभ —जिसमें मधुरता हो और स्वर्ण की झलक हो वह ताप्य स्वर्णमाक्षिक और जिसमें अम्लता, चाँदी की सफेद झलक हो वह रजतमाक्षिक है)। ताप्य शब्द दोनो माक्षिको के लिए आता है। दोनो ही माक्षिक कुछ कपाय, शीत वीर्य, विपाक में कटु और लघु हैं। इनके उपयोग में भी शिलाजतु के समान परहेज पालना चाहिए। इनका उपयोग रसायन गुण करता है—वुढ़ापा नही आता, विपो का प्रभाव नही होता, पाण्डु, प्रमेह, ज्वर आदि रोग नही होते। माक्षिक धातु के चूर्ण को मधु, घृत, त्रिफला मिलाकर खाने से वुढापा नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार अरण्यवास, गुफा में रहने से ससार का वन्धन छूट जाता है (शनै शनैर्याति जरा विनाश प्रत्यन्तवासादिव लोकयात्रा)।

पारे का उल्लेख—हृदय में आँख के रोगो में पारे का अजन लगाना कहा है। पारद, सीसा समान भाग, दोनों के वरावर अजन और थोडा-सा कपूर मिलाकर अजन करने से तिमिर नष्ट होता है।

रसेन्द्रभुजगौ तुल्यौ तयोस्तुल्यमथाञ्जनम् ।
ईषत्कर्पूरसयुक्तमञ्जन　　तिमिरापहम् ॥ (उत्तर० अ० १३।३६)

आँख के रोगो में ताम्र का उपयोग (उत्तर० अ० १६।३४-३५) और ताम्र, चाँदी, लोह, स्वर्ण का उपयोग (अ० १३।२०) में आया है।[1]

विष नाश के लिए चरक की भांति ताम्र रज से हृदय शुद्ध होने पर स्वर्ण का सेवन लिखा है। इसमें सुवर्णमाक्षिक और सुवर्ण का चूर्ण शर्करा और मधु के साथ सेवन करना भी बताया है (अ० ३५।५५-५६)।

एक प्रकार से सग्रह और हृदय में पारद और धातुओ का उपयोग सीमित है, प्राचीन वर्णन ही है। धातुओ का उपयोग चूर्ण रूप में था। पारद का रसचिकित्सा रूप मे अन्त प्रयोग नही था। गन्धक का उपयोग भी बाह्य प्रयोग तक ही सीमित था। धातु, उपधातु, रस (पारद) की जानकारी थी, परन्तु विस्तृत उपयोग नही था, पृथक् चिकित्सा नही आरम्भ हुई थी। यह समय लगभग चौथी, पाँचवी शताब्दी का है।

सातवीं शताब्दी में धातुओ का उपयोग—इस समय की जानकारी बाण के काव्यो से मिल जाती है। बाण ने अपने साथियो का परिचय देते हुए लिखा है—

जाङ्गुलिको मयूरक, भिषक्पुत्रो मन्दारक, मन्त्रसाधक कराल, असुरविवर-व्यसनी लोहिताक्ष, धातुवादविद् विहङ्गम—(हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास)।

जागुलिक (विषवैद्य या गारुडी) मयूरक, भिषक्कपुत्र मन्दारक, मन्त्रसाधक कराल, पाताल में घुसने की विद्या जाननेवाला लोहिताक्ष, धातुवाद (कीमियागरी) को जाननेवाला विहङ्गम, बाण के साथी थे।

इससे स्पष्ट है कि उस समय धातुवाद चिकित्सा से पृथक् था। रसशास्त्र और नागार्जुन के समय के विषय में सन्देह तभी होता है जब हम धातुवाद (कीमियागरी Alchemy रसायन) को चिकित्सा से सम्बद्ध करते है। धातुवाद कौटिल्य अर्थ-शास्त्र (३२५ ईसा पूर्व) में भी मिलता है, परन्तु रसचिकित्सा—जो आज प्रचलित

---

१ पारे का उल्लेख वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में किया है—
"रक्तेऽधिके स्त्री पुरुषस्तु शुक्रे नपुसकं शोणितशुक्रसाम्ये।
यस्मादत शुक्रविवृद्धिदानि निषेवितव्यानि रसायनानि॥
माक्षिकधातुमधुपारदलोहचूर्ण-पथ्याशिलाजतुविडङ्गघृतानि योऽद्यात्।
सैकानि विंशतिरहानि जरान्वितोऽपि सोऽशीतिकोऽपि रमयत्यबला युवेव॥"
(अ. ७६)

है, उसका उल्लेख नहीं है। इन दोनों वस्तुओं को यदि पृथक् रखा जाय तो कुछ भी अड़चन नहीं होगी।

धातुवाद—एक धातु को दूसरी धातु में बदलना यह पृथक् विज्ञान था, इसका चिकित्सा से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह विज्ञान स्वतन्त्र रूप से भारत में उन्नत हुआ था। इसी से बाण ने भिषक्पुत्र मन्दारक और धातुवादविद् विहङ्गम का पृथक् उल्लेख किया है। चिकित्सा में धातु का प्रयोग प्राचीन संहिताओं में अवश्य है, परन्तु वह सीमित तथा अन्य प्रक्रिया से है। पारद का अन्तः प्रयोग नहीं के बराबर ही है। इसलिए सातवीं शती तक रसशास्त्र का विकास नहीं पाया जाता।[1] बाण ने कादम्बरी में (द्रविड़ साधु के वर्णन में) कच्चा पारा खाने से काठ ज्वर, पारे से सोना बनाने (धातुवाद-कीमियागरी) और श्रीपर्वत का उल्लेख किया है।

दसवीं शताब्दी में धातुओं का उपयोग—नवीं शताब्दी के वृन्दरचित सिद्धयोग-संग्रह तथा दसवीं शताब्दी के चक्रपाणिदत्त कृत चक्रदत्त में रसचिकित्सा—धातुओं का उपयोग प्राचीन संहिताओं से अधिक मिलता है। परन्तु पारद का उल्लेख नहीं के बराबर है। चक्रदत्त में धातुओं का शोधन-मारण लिखा है।

वृन्द ने नेत्रवर्त्ती के सम्बन्ध में लिखा है कि इसको नागार्जुन ने पाटलिपुत्र के शिलास्तम्भ पर लिखा दिया है। चक्रपाणि ने भी इसे इसी रूप में उद्धृत किया है। प्राचीन काल में राजाज्ञाएँ या सूचनाएँ पत्थर पर उत्कीर्ण कर सर्वसामान्य की जानकारी के लिए स्थायी कर दी जाती थीं। नागार्जुन ने भी इसीलिए उसे पाटलिपुत्र के स्तम्भ पर खुदवा दिया था।

बस, इस उल्लेख से तथा रसेन्द्रमंगल-ग्रन्थकर्त्ता के नाम एवं अन्य दन्तकथाओं के आधार पर नागार्जुन का सम्बन्ध रसविद्या से जोड़कर जिस-जिस समय पर नागार्जुन का अस्तित्व मिला, वहाँ तक रसशास्त्र के विकास की खींचातानी की गयी। वास्तव में ८४ सिद्धों की श्रेणी के अन्तर्गत सरहपा के शिष्य नागार्जुन (आठवीं और नवीं शती के मध्यकाल के लगभग) का ही रसशास्त्र से सम्बन्ध है। वृन्द और चक्रपाणि ने जिस नागार्जुन का उल्लेख किया है, वह यही सिद्ध नागार्जुन सम्भावित है।

---

१ बाण ने हर्षचरित में "रसायन" नामक वैद्य का भी उल्लेख किया है। यह नाम सम्भवत उसका छोटी आयु (१८ वर्ष की आयु) में ही आयुर्वेद के आठों अंगों में निपुण होने से पड़ा हो; क्योंकि रसायन सेवन से मेधा और आयु की वृद्धि होती है।

सिद्धो से पहले धातुवाद प्रचलित था। सिद्धों ने प्राचीन धातुप्रयोग को चिकित्सा में देखकर धातुवाद के साथ इस चिकित्सा को मिलाया। इस क्रिया में पारद का बहुत उपयोग हुआ, वही इसका आधार था। इसलिए इसका नाम रस-चिकित्सा चल पडा। प्रथम यह चिकित्सा बौद्ध सिद्धो से चली, पीछे से शैव सम्प्रदाय के सिद्धो ने भी इसे अपनाया। सिद्धों में बौद्ध, शैव दोनों हुए है, कापालिक मत भी सिद्धो का ही रूपान्तर है। इसलिए इसमे शिव, भैरव आदि की उपासना के साथ जहाँ पारद का सम्बन्ध मिलता है, वहाँ बौद्ध धर्म के देवी-देवताओं का भी समावेश शैव धर्म मे आ गया। पीछे यह रसविधान की परम्परा एक हो गयी—जिसका साक्षी सर्वदर्शनसग्रह का 'रसेश्वर दर्शन' है, जो कि ग्यारहवी शताब्दी के आस-पास गठित हो सकता है। इस समय धातुवाद और रसचिकित्सा एक हो गये थे। धातुवाद का उपयोग शरीर को अजर-अमर बनाने में होने लगा था। पारद के योग से यह सफलता मिलती थी, इसी लिए इसको 'रसायन' नाम दिया गया। यह रास्ता सरल और सक्षिप्त था।

चरक-सहिता की कुटी-प्रावेशिक विधि कठिन और लम्बी थी। दूसरी वातातपिक विधि भी लम्बी और बहुत बन्धनोवाली थी। सामान्य व्यक्ति इनमें से एक भी विधि नही बरत सकता था (तपसा ब्रह्मचर्येण ध्यानेन प्रशमेन च। रसायनविधानेन कालयुक्तेन चायुषा॥ स्थिता महर्षय पूर्वं नहि किंचिद् रसायनम्। विधूय मानसान् दोषान् मैत्री भूतेषु चिन्तयन्। कृतक्षणम्। आदि नियमो की रुकावटे इसमें है)। इसलिए इन सब बाधाओ से रहित, सरल, सब अवस्थाओ मे सेवन करने योग्य रसायन का आविष्कार इन सिद्धो ने पारद से किया[1]। फलस्वरूप शरीर को निरोगी, स्थायी बनाने के लिए उन्होंने धातुवाद को चिकित्सा से मिला दिया। यही से रसशास्त्र का पृथक् रूप बना, जिसका समय दसवी शताब्दी है। नवी-दसवी

---

१. इसे ही आसुरी सम्पत् कहा है, इसमें मन के दोष तम रज बने रहते है, मानसिक दोष रहने से मन शुद्ध नहीं होता, परन्तु रसप्रयोग शरीर को अजर-अमर कर देता है। इसी से कहा है—

आयतन विद्याना मूल धर्मार्थकाममोक्षाणाम्।
अथ परं किमन्यद् शरीरमजरामरं विहायैकम्॥
(रस हृदय तंत्र)

शताब्दी में वृन्द ने इसका सिद्धयोगसग्रह में उल्लेख किया, दसवी और ग्यारहवी शताब्दी में चक्रपाणिदत्त ने चक्रदत्त में इसे अधिक परिष्कृत कर दिया।[1]

श्री शकराचार्य का जन्म ७८८ ईसवी मे हुआ था। इनके गुरु भगवद्गोविन्दपाद, जिन्होंने रसहृदय बनाया, उनका समय भी सातवी आठवी शताब्दी सभव है। उक्त ग्रन्थ में रसशास्त्र का महत्त्व शरीर को अजर-अमर करने में बताया है। इनसे भी प्रकट है कि इस समय या इसके आस-पास रस का प्रयोग इस कार्य मे निश्चित होने लग गया था।

ग्यारहवीं शताब्दी में रस-धातु प्रयोग—इस समय का एक मात्र ग्रन्थ चक्रपाणि रचित चक्रदत्त है, दूसरा अल्बेरूनी का वर्णन है, जो कि महमूद के साथ (१०१७ ई० के आसपास) भारत में आया था। उसने पेशावर और मुलतान के पण्डितों से सस्कृत पढी थी। वह भारत मे १०१७ से १०३० ईसवी तक रहा था। अल्बेरूनी ने जिन पुस्तकों का अनुवाद अल्वसाईद खलीफा प्रथम के समय किया था, वे 'इण्डिया' 'ब्रह्मसिद्धान्त' नामक पुस्तकें लिखते समय उसके पुस्तकालय में थीं। इन पुस्तकों मे अली इब्न जैन का किया चरक का अनुवाद, पचतत्र, कलीला और दीम्मा थे। शिक्षित सभ्य अरब के घर में चरक का पहुँचना इस बात का प्रमाण है कि भारतीय चिकित्सा वहाँ भी पहुँच गयी थी (हिस्ट्री ऑर हिन्दू कैमिस्ट्री—पृष्ठ ६७)।

चक्रदत्त में आये 'महाबोधि प्रदेश' (मगध के लिए), 'बोधिसत्त्वेन भाषितम्', 'सुखावतीवर्त्ति सौगतसज्जनम्' आदि शब्द इस शास्त्र पर बौद्धो का प्रभाव स्पष्ट करते

---

१ सिद्धयोग में रसप्रयोग—

(१) रसेन्द्रेण समायुक्तो रसो धत्तूरपत्रज।
ताम्बूलपत्रजो वाय लेपन यौकनाशनम्॥

(२) त्रिफलाव्योपसिन्धूत्ययष्टीतुत्थरसाजनम्।
प्रपौण्डरीक जन्तुघ्न लोध्र ताम्रचतुर्दश॥
द्रव्याण्येतानि सचूर्ण्य वर्त्ति कार्या नभोऽम्बुना।
नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके॥

(३) रसगन्धकताम्राणा चूर्ण कृत्वा समाक्षिकम्।
पुटपाकविधौ पक्त्वा मधुनालोड्य सल्लिहेत्॥ (रसायनाधिकार)

(४) कर्षद्वय गन्धकस्य तदर्द्ध पारदस्य च।
विडालपदमात्र तु लिह्यात् तन्मधुसर्पिषा॥ (अम्लपित्ताधिकार)

हैं। चक्रपाणिदत्त स्वय ब्राह्मण परम्परा को माननेवाले थे। वृन्द और चक्रपाणि दोनो पर तत्रो का प्रभाव दीख पडता है। इसी लिए अपने योगों में इन्होंने गुण-वृद्धि के लिए तत्र का प्रयोग किया है।[1]

हर्षचरित के वर्णन तथा च्युआन च्वाग के उल्लेख से आठवी शताब्दी के उत्तरीय भारत का चित्र स्पष्ट हो जाता है। ग्यारहवी शताब्दी तक बौद्धधर्म भारत में प्रभावशाली रहा। हिन्दू धर्म के प्रति वह सहिष्णु भी था, इस विषय में मदनपाल का ताम्रपत्र महत्त्वपूर्ण है। नव पालवशी राजा बौद्ध थे। ताम्रपत्र में एक ब्राह्मण को दी गयी दक्षिणा का उल्लेख है, जो कि उसे अन्त पुर मे रानी को महाभारत सुनाने के उपलक्ष में दी गयी थी। इससे स्पष्ट है कि बुद्धधर्म और हिन्दूधर्म एक साथ मिले हुए विकसित हो रहे थे। हर्ष भी शैव और बौद्ध दोनो धर्मो का पालन करता था।

तत्रो में बौद्ध तथा ब्राह्मणधर्म सम्बन्धी दोनो परम्पराएँ मिलती हैं। दोनो ही तत्र एक समान बढ रहे थे। ब्राह्मण तत्र शिव और पार्वती को तथा बौद्ध तत्र तथागत या अवलोकितेश्वर को लक्ष्य करके बनाये गये थे। कुछ तत्र दोनो से सम्बन्धित थे, जसे कि महाकालतत्र, रसरत्नाकर। रसरत्नाकर का लेखक नागार्जुन कहा जाता है। रसार्णव भी इसी प्रकार का ग्रन्थ है। रसायन का सम्बन्ध शिव सम्बन्धी तन्त्रो के साथ अधिक है। क्योंकि रस, पारद का सम्बन्ध शिव के साथ ही है।

रसशास्त्र का प्रयोजन धातुवाद (अल्केमी) ही नही था, इसका उद्देश्य देहवेध के द्वारा मुक्ति प्राप्त करना था।[2] रसार्णव सम्भवत १२वी सदी में लिखा गया है। क्योंकि सर्वदर्शनसग्रह के लेखक माधवाचार्य विजयनगर के प्रथम 'बुक्क' राजा के

---

१ गोविन्दाचार्य के रसहृदय तत्र में तथा रसामृत में बौद्धो का उल्लेख मिलता है, यथा—"एवं बौद्धा विजानन्ति भोटदेशनिवासिन."—रस हृदयतंत्र। "बौद्धमत तथा ज्ञात्वा रससार कृतो मया"—रसामृत.

२ न च रसशास्त्रं धातुवादार्थमेवेति मन्तव्य, देहवेधद्वारा मुक्तेरेव परमप्रयोजनत्वात्। तदुक्तं रसार्णवे—

लोहवेधस्त्वया देव यद्दत्त. परम· शिव।
त देहवेधमाचक्ष्व येन स्यात् खेचरी गति॥
यथा लोहे तथा देहे कर्त्तव्य सूतक. सता।
समान कुरुते देवि प्रत्ययं देहलोहयोः॥

प्रधान मत्री थे, इनका समय १३३१ ईसवी है। इसमें एक 'रसेश्वरदर्शन' भी है, जिसके उद्धरण रसार्णव से लिये गये हैं।

इससे पूर्व अमरकोश में (१००० ईसवी) पारद के चपल, रस और सूत पर्याय मिलते हैं। महेश्वर के विश्वकोश में (११८८ ईसवी) में हरवीज पर्याय भी जोडा गया है। इससे इतना स्पष्ट है कि तत्रो मे पारद-गन्धक का उल्लेख ११वी १२वी शताब्दी मे होने लगा था (डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय)। वराहमिहिर की बृहत्सहिता मे (५८७ ईसवी) लोह, पारद का उपयोग वृष्य, वाजीकरण के लिए हुआ है।[1]

रसार्णव—जो कि १२वी शताब्दी में माधव द्वारा लिखा गया है, एक प्रकार का सग्रह ग्रन्थ है। इसमे बहुत-से उद्धरण दिये गये हैं। रसार्णव में इसके उपदेष्टा शिव हैं। नागार्जुन का वनाया रसरत्नाकर भी तत्र रूप में है।

चौदहवीं शताब्दी में रस धातु प्रयोग—इस काल में (१३६३ ईसवी) शार्ङ्गधर-सहिता की रचना हुई है। इसमें पारद और धातुओ का उल्लेख है। शार्ङ्गधर के पिता का नाम दामोदर था, जो कि राघवदेव का पितामह था। चौहान राजा हम्मीर राघवदेव को वहुत मानते थे। हम्मीर की सभा में सौगतसिह नाम का एक दूसरा चिकित्सक भी था (एपा सौगतसिहभिषजा लोके प्रकाशीकृता। हम्मीराय महीभुजे सभोजभाजे भृशम् ॥—हिस्ट्री आफ हिन्दू कैमिस्ट्री, २रा भाग)।

रसतत्र का विकास आठवी सदी से प्रारम्भ हुआ और ११-१२ वी सदी में अपनी पूर्णता को पहुंच गया था। इसके आगे रसतत्र या रसचिकित्सा केवल रोगनिवृत्ति तक ही रह गयी। रसेन्द्रसारसग्रह (गोपालकृष्ण भट्ट कृत) एव शार्ङ्गधरसहिता जो कि १३-१४ वी शताब्दी में बने है, इनका क्षेत्र रोगनिवृत्ति तक ही है। रसेन्द्रसार-सग्रह में रसचिकित्सा का प्रयोजन वताते हुए लिखा है—"रसौषध की मात्रा बहुत थोडी होती है, इसके सेवन से जी मिचलाना, अरुचि आदि शिकायतें नही होती, जल्दी आरोग्य मिलता है, इसलिए औषधियो की अपेक्षा रसो का अधिक महत्त्व है।" इससे स्पष्ट है कि इस समय पारद का उपयोग रोग निवृत्ति तक ही सीमित हो गया। पारद की लोहसिद्धि सम्बन्धी प्रक्रिया समाप्त हो गयी। रोगनिवृत्ति तक जितने सस्कार

---

१ रसग्रन्थो में पारद के बहुत-से योग भिन्न-भिन्न कार्यो में लिखे हैं—वय-स्तम्भकर (रसकामधेनु—पृष्ठ ५००), वीर्यरोधनी गुटिका (५०१), रसायन-दीर्घायु के लिए (पृष्ठ ५०३), वज्रसुन्दरी, हेमसुन्दरी, वज्रखेचरी आदि प्रयोग वतलाये गये हैं।

पारद के उपयोगी थे, उनका ही प्रचार रह गया। अन्य सस्कार लोहवेध, देहवेध कार्यो मे उपयोगी थे। सत्रहवी सदी में तुलसीदासजी ने राजयक्ष्मा रोग में मृगाक रस का उपयोग लिखा है (कवितावली, सुन्दरकाण्ड–२५)। इससे स्पष्ट है कि उस समय क्षयरोग मे मृगाङ्क आदि रसो का प्रचार सामान्य हो गया था।

डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय के विचार—नागार्जुन और तत्र सम्बन्धी—हिस्ट्री और हिन्दू कैमिस्ट्री (भाग२) में डाक्टर राय ने नागार्जुन को 'सर्व शून्यम्'—माध्यमिक सिद्धान्त का सस्थापक कहा है। शून्यवाद माध्यमिक वाद का मुख्य भाग है। च्युआन श्वाग ने नागार्जुन को देव, अश्वघोष और कुमारिल भट्ट के साथ ससार के चार सूर्य बतलाया है। ४०१-४०९ ईसवी में किया गया, नागार्जुन बोधिसत्त्व की जीवनी का चीनी भाषा में अनुवाद मिलता है। तारानाथ ने लिखा है कि तिब्बती भाषा में इसका उल्लेख हुआ है। नागार्जुन की जीवन सम्बन्धी सूचनाएँ तारानाथ द्वारा सगृहीत तिब्बती सग्रह के ऊपर आश्रित है, जो कि बौद्धधर्म के इतिहास में उन्होने सकलित की है।

विदर्भ के एक धनिक ने जिसके कोई पुत्र नही था, एक दिन स्वप्न देखा कि यदि वह एक सौ ब्राह्मणो को भोजन कराये तो उसके पुत्र उत्पन्न हो जायगा। ऐसा करने पर दस मास के बाद उसकी पत्नी को पुत्र उत्पन्न हुआ। ज्योतिषियो से उसने उसका भविष्य पूछा। उन्होने कहा कि यह सात दिन से अधिक नही जीयेगा। उन्होने कहा कि यदि एक सौ ब्राह्मणो को भोजन कराया गया तो सात वर्ष तक जी सकता है, इससे आगे नही। सात वर्ष पीछे माता-पिता चिन्तित हुए और उसे कुछ आदमियो के साथ एकान्त में छोड दिया। वहाँ उसकी भेंट महाबोधि अवलोकितेश्वर से हुई, उन्होने उसे नालन्दा जाने को कहा। नालन्दा में उस समय महास्थविर श्री सरहभद्र थे। उन्होने उसे वहाँ रख लिया। क्रमश उन्नति कर सरहभद्र के पीछे नागार्जुन नालन्दा में कुलपति हो गये। इनके समय में अकाल पडा। उस समय ये अश्वत्थ पत्र की सहायता से जम्बूद्वीप गये। वहाँ पर एक सन्त से स्वर्ण बनाने की कला सीखकर भारत में लौटे। यहाँ आकर इन्होने अकाल का सामना किया।

नागार्जुन उत्तर कुरु भी गये थे (कौरैन इसका अपभ्रश रूप है, जिसकी पहचान लूलान से की जाती है—सार्थवाह–११ पृष्ठ)। वहाँ से लौटकर इन्होने चैत्य और मन्दिर बनवाये थे। नागार्जुन को दक्षिण भारत के राजा दी चैय (शकर) का मित्र कहा जाता है, जिसको उन्होने बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था।

नागार्जुन सम्बन्धी सूचनाओ का आधार च्युआन श्वाग का लिखा यात्रावृत्तान्त है, जो कि सातवी शती का है। इसलिए इस सम्बन्ध की सब सूचनाएँ इसी समय तक

की माननी चाहिए, जो कि सम्भवत कनिष्क कालीन नागार्जुन से सम्बन्धित है। नागार्जुन का सातवाहन के प्रति लिखा 'सुहृल्लेख' अभी सुरक्षित है। सातवाहन दक्षिण भारत का विद्वान् राजा हुआ है। दक्षिण में सातवाहनो का राज्य ७३ ईसवी पूर्व से २१८ ईसवी तक, लगभग ३०० साल रहा था।[1] हेमचन्द्र ने इनके शालिवाहन, शालन, हाल और कुन्तल नाम दिये हैं।

सुहृल्लेख का सम्बन्ध यज्ञ-श्री शातकर्णि के साथ माना जाता है, जिसने सन् १७२-२०२ तक राज्य किया था। गन्धार के असग ने "योगाचारभूमिसार" पतंजलि के योगदर्शन के आधार पर लिखी थी। यह ४०० ईसवी के लगभग जीवित थे। असग का छोटा भाई वसुबन्धु था, जिसका सम्बन्ध नालन्दा से था। तिब्बती प्रमाणो से ज्ञात होता है कि दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे, जो कि ३७१ ईसवी में थे।

महायान में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ, योगदर्शन तन्त्र में बदलना प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारत में बौद्धधर्म में से शैवधर्म प्रारम्भ होने लगा, जिसमें बौद्धो के तन्त्रो की प्रधानता रही। शिव का रूप बुद्ध को और शक्ति का रूप तारा को माना जाने लगा।

फाहियान जो कि पाचवी शताब्दी में आया था, उसने लिखा है कि महायान सम्प्रदाय यद्यपि बढ़ा हुआ था, तथापि हीनयान के लोग भी थे। मथुरा और पाटलिपुत्र में दोनो पास-पास रहते थे। सुरगम सूत्र में हिन्दू और बौद्ध देवताओ के नाम आये हैं, जिनकी कि उस समय पूजा होती थी। इनमें धारिणी, बुद्ध, विरोचन, अक्षोभ, अमिताभ नाम हैं।

महायान में हुए इन परिवर्तन से जो रूप बुद्धधर्म का बना उसे वैपुल्यवाद (वैपुल्य सूत्र) नाम से जाना जाता है। इसमें धारिणी मुख्य देवता है। सद्धर्मपुण्डरीक, ललित-विस्तर, प्रज्ञापारमिता आदि ग्रन्थ इस सम्बन्ध में लिखे गये।

बौद्धो के तन्त्रों का विकास पाचवी-छठी शती से पहले सम्भावित नही है। तन्त्रो का विकास चीन में हुआ। अमोघवर्ग नाम का भिक्षु ७४६-७७१ ईसवी में चीन में था, यह जाति से ब्राह्मण था। इसी के प्रभाव से चमत्कारवाले तन्त्रो का निर्माण हुआ। इसके बाद आठवी से ११ वी शताब्दी तक तन्त्रो का बहुत विकास हुआ, कुछ तन्त्र भारत से चीन में भी गये। इनमें से कुछ तन्त्रो का सम्बन्ध रसायन विद्या (अल्केमी) से था। रसायन सम्बन्धी तन्त्रो से पता चलता है कि रसायन का जन्मदाता नागार्जुन है। इस

---

१ कर्तर्या कुन्तल· शातकर्णि· शातवाहनो महादेवीं मलयवतीं जघान—वात्स्यायनकामसूत्र।

सम्वन्ध में रसरत्नाकर ग्रन्थ देखा जा सकता है। यह महायान से सम्बन्धित है, इसमें प्रज्ञापारमिता का भी नाम आया है।[1]

रसरत्नाकर में रसायन सम्वन्धी वातचीत नागार्जुन और शालिवाहन, रत्नघोप और माडव्य के वीच हुई है। पिछले दोनो नामो का महत्त्व भी नागार्जुन के समान है। रसशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ यही है, रसार्णव मे इसके वहुत से वचन उद्धृत हैं। इसमें महायान के वहुत से सिद्धान्त मिलते हैं। इसलिए इसको सातवीं या आठवी शताब्दी से पूर्व नही रख सकते। पाँचवी शती से ग्यारहवी शती तक पाटलिपुत्र, नालन्दा, विक्रमशिला वौद्धो के शिक्षा के वडे केन्द्र थे। इनमें रसायनविद्या भी सिखाई जाती थी।

महाराज नेपाल के पुस्तकालय की छानवीन करते समय श्री हरिप्रसाद शास्त्री और प्रोफेसर लेवी को कुब्जिकातत्र मिला। यह तत्र गुप्तकालीन लिपि में लिखा हुआ था, इसका समय ६०० ईसवी है। यह महायान सम्प्रदाय का है। कुब्जिका तत्र निश्चित रूप में भारत से वाहर लिखा गया है, सम्भवत नेपाल में।[2] इसमें एक स्थान मे शिव स्वय पारद के सम्वन्ध मे कह रहे है कि गन्धक से छ वार मारित होने पर इसमें गुणवृद्धि हो जाती है। पारद की सहायता से ताम्र स्वर्ण मे वदल जाता है।[3] रस-रत्नाकर, रसार्णव आदि तान्त्रिक ग्रन्थो में वहुत सी रासायनिक विधियाँ दी हुई हैं।

आठवी सदी में विक्रमशिला तत्रविद्या का वहुत वडा केन्द्र था। गौड मे पाल राजाओ का राज्य ८०० से १०५० ईसवी तक रहा। ये राजा वौद्ध थे। उत्तर भारत

---

१. प्रणिपत्य सर्वबुद्धान्। ओ नम श्रीसर्ववुद्धवोधिसत्त्वेभ्य। नम. प्रत्येकवुद्ध आर्यश्रावकाणाम् वोधिसत्त्वानाम्। नमो भगवत्या आर्यप्रज्ञापारमितायै।

२. दक्षिणे देवयान तु पितृयान तयोत्तरे। मध्यमे तु महायान शिवसज्ञा प्रजायते॥
गच्छ त्व भारते वर्षे अधिकाराय सर्वत॥
मद्वीर्यः पारद यद्ध पतित स्फुटित मणि.। मद्वीर्येण प्रसूतास्ते तावार्य्या सूनके वहि। तिष्ठन्ति सस्कृता सन्त भस्मा षड् विप्रजारणम्।—नेपाल राज्य पुस्तकालय की ताडपत्र पुस्तक ('हिस्ट्री आफ हिन्दू केमिस्ट्री'—भाग २ से)

३ पलेन विहितो वेध किं व्यञ्जतो न विध्यते।
रसविद्ध यया ताम्र न भूयस्ताम्रता व्रजेत्॥

कुब्जिकातत्र रसविद्या का ग्रन्थ नहीं है। इस तत्र का सम्वन्ध महायान से होना सम्भव है। यह सम्भवत छठी शती में लिखा गया है।

में पाल राजाओं के पीछे सेन राजाओं का राज्य हुआ। ये यद्यपि हिन्दू थे, तो भी बौद्ध धर्म के प्रति उदार थे। बारहवीं सदी (१२०० ईसवी) में जब मुसलमानों का आक्रमण हुआ तब विक्रमशिला तथा दूसरे केन्द्र नष्ट हो गये। साधु मार दिये गये या दूसरे देशों में चले गये। इनमें कुछ नेपाल, तिब्बत गये और कुछ दक्षिण भारत में चले गये। वहाँ विजयनगर, कलिंग, कोंकण में विद्यापीठ स्थापित किये गये।

व्याडि—रससिद्धों में एक नाम व्याडि का भी है। इनका नाम व्याकरण में बहुत प्रसिद्ध है। आचार्य शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में व्याडि के अनेक मत उद्धृत किये हैं (२।२३।२८, ६।४३, १३।३१।३७)। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में इनका चार स्थानों पर उल्लेख किया है (६।३।६१, ७।१।७४, २।३।९९, ८।४।६७)। महाभाष्य में (६।२।३६) 'आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीया' प्रयोग मिलता है। इसमें इनके अन्तेवासियों के नाम भी लिखे हैं।

"संग्रहकार व्याडि का एक नाम दाक्षायण भी है। इसके अनुसार वे पाणिनि के ममेरे भाई होंगे, परन्तु काशिका (६।२।६९) के 'कुमारीदाक्षा' उदाहरण में दाक्षायण को ही दाक्षि नाम से स्मरण किया है। हमारा भी यही विचार है कि जैसे पाणिनि के पाणिन और पाणिनि दो नाम थे, वैसे ही व्याडि के दाक्षि और दाक्षायण दो नाम थे। इस अवस्था में दाक्षि या दाक्षायण पाणिनि की माता का भाई और पाणिनि का मामा होगा। व्याडि पद क्रोड्यादि गण में पढ़ा है, तदनुसार व्याडि की भगिनी का नाम व्याड्या होता है।" (संस्कृत व्याकरण का इतिहास—पृष्ठ १३१)[1]

---

१ प० युधिष्ठिर मीमांसक ने व्याडि के सम्बन्ध में महाराज समुद्रगुप्त के कृष्ण-चरित की प्रस्तावना से निम्न पद्य उद्धृत किया है—

"रसाचार्य: कविर्व्याडि शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनि।
दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणी॥
बलचरित्रं कृत्वा यो जिगाय भारतं व्यासं च।
महाकाव्यविनिर्माणे तन्मार्गस्य प्रदीपमिव॥"

रसरत्नसमुच्चय में सिद्धों में व्याडि का उल्लेख है (इन्द्रदो गोमुखश्चैव कम्बलिर्व्याडिरेव च॥ १।३)—संस्कृत व्याकरण का इतिहास, १९९

अल्बेरूनी ने राजा विक्रमादित्य और व्याडि की कथा विस्तार से दी है, जो कि एक प्रसिद्ध रसाचार्य था। (अल्बेरूनी का भारत—भाग २ पृष्ठ १११ पर)

इस प्रकार नाम से काल निर्णय में कठिनाई है। जिस सिद्ध-परम्परा में हुए नागार्जुन का सम्बन्ध रसतन्त्र से है, उसी सिद्ध-परम्परा में व्याडि भी रसशास्त्र के सिद्ध हैं। व्याकरणवाले व्याडि तथा कनिष्क के समय के नागार्जुन दोनों का सम्बन्ध उपलब्ध रसग्रन्थों से नहीं है। रसरत्नाकर के वादिखण्ड उपदेश १, श्लोक ६९-७० से २७ सिद्ध आचार्यों के नामों में सबसे प्रथम नाम 'व्यालाचार्य' लिखा है। ड-ल का भेद न मानकर सीमारामजी इसको व्याडाचार्य मानते हैं। रसरत्नप्रदीप में भी व्याडि का नाम है (पृष्ठ १९९)। इन सब बातों को एक सूत्र में रखकर वे व्याडि का समय भारतयुद्ध के पीछे २००-३०० वर्ष मानते हैं, जो कि अभी तक मान्य नहीं। क्योंकि काव्यरचना में अश्वघोष या कालिदास ही प्रथम माने जाते हैं। केवल नाम-साम्य से सबको एक मानना योग्य नहीं। कुछ श्लोक किंवदन्ती, दन्त-कथाओं पर भी प्रचलित हो जाते हैं।

रसविद्या के ग्रन्थ

"न रोगाणां न दोषाणां न दूष्याणां परीक्षणम्।
न देशस्य न कालस्य कार्यं रसचिकित्सिते॥"

रसरत्नाकर या रसेन्द्रमंगल—रस विद्या का प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थ, जिसे नागार्जुन का बनाया कहा जाता है, वह रसरत्नाकर या रसेन्द्रमंगल है। श्री प्रफुल्लचन्द्र राय का मत है कि यह ग्रन्थ सातवीं या आठवीं शती में लिखा गया है। श्री दुर्गाशंकर शास्त्री इसे अधिक अर्वाचीन मानते हैं।

श्री प्रफुल्लचन्द्र राय की संग्रहस्थ हस्तलिखित प्रति के अन्त में "नागार्जुनविरचित रसरत्नाकर" ये शब्द हैं। जब कि स्वर्गीय तनसुखराम म० त्रिपाठी के पास वाली हस्तलिखित प्रति के अन्त में "नागार्जुनविरचित रसेन्द्रमंगल" यह नाम है। (रसेन्द्रमंगल सन् १९२४ में श्री जीवराम कालिदास ने गोंडल से प्रकाशित किया है।)

रसरत्नाकर का जितना भाग डाक्टर राय ने प्रकाशित किया है, उसे रसेन्द्रमंगल के साथ मिलाने पर ज्ञात होता है कि दोनों ग्रन्थ एक ही हैं। डाक्टर राय की छपी पुस्तक के अन्त में "इति रसेन्द्रमंगलं समाप्तम्" ये शब्द लिखे हैं (भाग २ पृष्ठ १७)। श्री जीवराम कालिदास भी दोनों को एक ही मानते हैं। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में आठ अध्याय होने का उल्लेख है, परन्तु प्राप्त पुस्तकों में चार ही अध्याय थे। ग्रन्थ खण्डित और अव्यवस्थित है। पारद के स्वेदनादि अठारह संस्कार, हलकी धातु से सोना बनाने की कीमियागरी, रस, उपरस और लोह का शोधन, सब लोहों का मारण, अभ्रक, माक्षिक आदि का सत्त्वपातन, अभ्रक की द्रुति आदि रसतन्त्र सम्बन्धी विषयों

के साथ मन्थानभैरव, दशमूलक्वाथ आदि रोगनाशक योग इसमें हैं। इन सब बातों को देखने से यह ग्रन्थ ग्यारहवीं शती से पहले का प्रतीत नही होता। तंत्र ग्रन्थों मे रस-रत्नाकर मुख्य ग्रन्थ है, जिसमें रसायन योगो का समावेश है। यह ग्रन्थ महायान सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इसमें स्थान स्थान पर 'प्रणिपत्य सर्ववुद्धान्' शब्द आये हैं।

रसरत्नाकर मे रासायनिक विधियो का वर्णन नागार्जुन, माडव्य, वटयक्षिणी, शालि-वाहन तथा रत्नघोष के सवाद रूप में किया है। इसके द्वितीय अधिकार के अन्त में लिखा है—"इति नागार्जुनविरचितरसरत्नाकरे वज्रमारणसत्त्वपातन-अभ्रकादि-द्रुति-द्रावण-वज्रलोहमारणाधिकारो नाम द्वितीय ।"

इसमें शोधनविधि दी हुई है, यथा—

राजावर्त्त शोधन—

किमत्र चित्र यदि राजवर्त्तक शिरीषपुष्पाग्ररसेन भावितम् ।
सितं सुवर्णं तरुणार्कसन्निभ करोति गुञ्जाशतमेकगुञ्जया ॥

गन्धक शोधन—

किमत्र चित्र यदि पीतगन्धक पलाशनिर्यासरसेन शोधित ।
आरण्यकैरुत्पलकैस्तु पाचित करोति तार त्रिपुटेन काञ्चनम् ॥

दरद शोधन—

किमत्र चित्र दरद सुभावित पयेन मेष्या बहुशोऽम्लवर्गं ।
सित सुवर्णं बहुधर्म्मभावित करोति साक्षाद् वरकुकुमप्रभम् ॥

माक्षिक से ताम्र बनाना—

किमत्र चित्र कदलीरसेन सुपाचित सूरणकन्दसस्थम् ।
वातारितैलेन घृतेन ताप्य पुटेन दग्ध वरशुद्धमेति ॥

माक्षिक और ताप्य से ताम्र प्राप्त करना—

(१) क्षौद्र गन्धर्वतैल सघृतमभिनव गोरस मूत्रकञ्च
भूयो वातारितैल कदलीरसयुत भावित कान्तितप्तम् ।
मूपा कृत्वाग्निवर्णामरुणकरनिभा प्रक्षिपेन्माक्षिकेन्द्रम्
सत्त्व नागेन्द्रतुल्य पतति च सहसा सूर्यवैश्वानराभम् ॥

(२) कदलीरसशतभावित घृतमध्वेरण्डतैलपरिपक्वम् ।
ताप्य मुञ्चति सत्त्व रसकञ्चैव त्रिसघाते ॥

इसी मे रसक (Calamine) से यशद (जस्त) धातु बनाना, दरद से पारा निकालना आदि लिखा है। धातुओ का मारण अन्य धातुओ की सहायता से भली पकार बतलाया है। यथा—

तालेन वग दरदेन तीक्ष्ण नागेन हेम शिलया च नागम्।
गन्धाश्मना चैव निहन्ति शुल्व तारञ्च माक्षीकरसेन हन्यात्॥

पारे का नाम रस है, पारे से एमलगम (नरस) बनाने की विधि नागार्जुन के नाम से दी है. यथा—

जम्बीरजेन नवसारघनाम्लवर्गे· क्षाराणि पचलवणानि कटुत्रयं च।
शिग्रूदक सुरभिसूरणकन्द एभि· सर्मर्दितो रसनृपश्चरतेऽष्टलोहान्॥ ३।१

पारे को निम्बू के रस, नवसार, अम्ल, क्षार, पचलवण, त्रिकटु, शिग्रु के रस और सूरण के साथ मर्दन करने पर धातुओ का बन्ध होता है।

पारद और स्वर्ण के योग से दिव्य देह प्राप्त करने की विधि भी दी गयी है—

रस हेम समं मर्द्यं पीठिका गिरिगन्धकम्।
द्विपदी रजनी रम्भां मर्दयेत् टकणान्विताम्।
नष्टपिष्टं च मुष्क च अन्धमूष्या निधापयेत्।
तुषाल्लघुपुटं दत्वा यावद् भस्मत्वमागत।
भक्षणात् साधकेन्द्रस्तु दिव्यदेहमवाप्नुयात्॥ ३।३०-३२

इसमे नागार्जुन-विरचित कक्षपुट का खण्ड भी है। उसकी प्रति पृथक् उपलब्ध है। यह प्रति बम्बई की रायल एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय मे है (न० ८११)। इस प्रति मे १०६ पृष्ठ हैं, बीस पटल हैं तथा अग्निस्तम्भन, गत्यादिस्तम्भन, सेनास्तम्भन, अशनिस्तम्भन, मोहन, उच्चाटन, मारण, विद्वेषण, इन्द्रजाल-विधान आदि विषय हैं।

नागार्जुन लिखित एक दूसरा ग्रन्थ आश्चर्ययोगमाला है, इसके ऊपर जैन श्वेताम्बरसाधु गुणाकर की टीका है (१२३९ ईसवी)। इसका उल्लेख पीटर्स की तीसरी रिपोर्ट में है। इस ग्रन्थ मे भी कक्षपुट से मिलते हुए वशीकरण, विद्वेषण, उच्चाटन, चित्रकरण मनुष्यान्तर्धान, कुतूहल, अग्निस्तम्भन, जलस्तम्भन, उन्मादकरण, रोमशातन, विषप्रयोग विधान, भूतनाशन आदि विषय हैं[1]। इन तन्त्रग्रन्थो में रोम-

---

१. पितृवनमर्दितमसकृत्कन्यारक्त मनःशिलायुक्तम्।
त्रिभुवनमपि निगूहति तिलकक्रियया ललाटतटे॥

शातन-जैसी सामान्य वातो के साथ चमत्कार भी वर्णित है, इनका विचित्र प्रयोग भी लिखा है।

नागार्जुन के नाम से कीमियागरी, वशीकरण, मारणादि प्रयोग और वैद्यक एव योग सब कुछ लिखा गया, परन्तु इन स्थानो पर इसका ऐतिहासिक महत्त्व कुछ नहीं है। अल्वेरूनी ने नागार्जुन की एक पुस्तक का उल्लेख किया है।

रसहृदयतत्र—रसेन्द्रमगल की अपेक्षा यह ग्रन्थ अधिक व्यवस्थित और सपूर्ण है। यह आयुर्वेद ग्रन्थमाला में श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने प्रथम छपाया था, पुन लाहौर से श्री जयदेव विद्यालकार की देखरेख में प्रकाशित हुआ था। 'तत्र' नाम से कहा जानेवाला वास्तविक यही प्रथम ग्रन्थ है। सर्वदर्शनसग्रह मे माधवाचार्य ने रसहृदयतत्र का नाम लिखकर इसमें से प्रमाण उद्धृत किये है। सर्वदर्शनसग्रह से पहले तेरहवी शती के रसरत्नसमुच्चय में रससिद्धो की गणना के साथ गोविन्द का नाम आता है। यह गोविन्द इसी ग्रन्थ का कर्त्ता होना चाहिए (खण्ड कापालिका ब्रह्मा गोविन्दो लम्पाको हरि—रसरत्नसमुच्चय)। रसरत्नसमुच्चय में इस ग्रन्थ से पाठ भी उद्धृत किये है। इसलिए इस ग्रन्थ का कर्त्ता तेरहवी शती से पहले हुआ है, परन्तु समय निश्चित करना कठिन है। इस ग्रन्थ के प्रकरणो का अववोध नाम है। प्रकरणो की समाप्ति में ग्रन्थकर्त्ता को "परमहस परिव्राजकाचार्य गोविन्द भगवत्पाद" कहा है। दूसरी ओर आद्य शकराचार्य ने अपने को 'गोविन्द भगवत्पाद का शिष्य' कहा है। इस नाम से रसहृदयतत्र के सम्पादनकर्त्ता श्री त्र्यवक गुरुनाथ काले, शकराचार्य के गुरु गोविन्दभगवत्पाद को ही इस ग्रन्थ का कर्त्ता मानते है। परन्तु इन्होंने केवलाद्वैतवाद विषयक कोई ग्रन्थ लिखा नही और किसी तत्रग्रन्थ का कर्त्ता वेदान्ताचार्य का गुरु हो, यह कल्पना थोडी कठिन है।

साथ ही दूसरी कठिनाई यह है कि रसहृदयतत्र का समय यदि ८वी शती मानें तो ११वी शती में होनेवाले चक्रपाणिदत्त तथा १०वी शती के वृन्द ने अपने सिद्धयोग-सग्रह में इस विद्या का उल्लेख क्यो नही किया? इसलिए रसरत्नाकर या रसेन्द्रमगल

ऐसे चमत्कारिक प्रयोग कौटिल्य-अर्थशास्त्र में भी है (१४।३।१७८।१३-१६)।

मत्रभैषज्यसयुक्ता योगा मायाकृताश्च ये।
उपहन्यादमित्रास्तै स्वजन चाभि-पालयेत्॥

कौटिल्य० १४।३।९६

जिस प्रकार ११ वीं शती के हैं, उसी प्रकार रसहृदयतंत्र भी ग्यारहवी शती के आस-पास का ही होना चाहिए।

रसहृदयतंत्र के कर्ता ने अपना परिचय देते हुए, हैहयकुल के किरात नृपति मदन देव से, जो स्वयं रसविद्या का ज्ञाता था, सम्मान प्राप्त करने का उल्लेख किया है। श्री काले का कहना है कि किरात देश विन्ध्याचल के पास का प्रदेश है और मदनदेव कनिंघम की दी हुई हैहय-वंशावली में आठवीं शती में हुए राजा कामदेव हैं। परन्तु कनिंघम की पुस्तक में दी हुई वंशावली भाट-चारणों द्वारा कथित है, जो कि ८५७ ई० से प्रारम्भ होती है। इसमें वर्षों का उल्लेख नहीं है। वास्तव में सिक्कों तथा उत्कीर्ण लेखों से हैहयवंश की जो वंशावली निश्चित हुई है, उसमें कामदेव का नाम नहीं है। यह वंशावली ८५७ ईसवी से प्रारम्भ होती है, इसलिए हैहयराजा के नाम से ग्रन्थ का निर्णय करना उचित नहीं।[1]

रसहृदयतंत्र में १९ अवबोध हैं। इसमें प्रथम अवबोध में रसप्रशंसा है, मनुष्य को धन शरीरादि अनित्य जानकर मुक्ति के लिए यत्न करना चाहिए। मुक्ति ज्ञान से मिलती है, ज्ञान अभ्यास से होता है और अभ्यास तभी सम्भव है, जब कि शरीर स्थिर हो। शरीर को स्थिर, अजर-अमर अकेला रसराज ही कर सकता है। रस-हृदयकार को वैयक्तिक मुक्ति से संतोष नहीं, उसका तो कहना है कि रससिद्ध होकर मैं पृथ्वी से वृद्धावस्था और मृत्यु को दूर कर दूंगा। (यही महायान का विचार है कि अकेले बुद्ध-बोधिसत्त्व होने की अपेक्षा दूसरों को, जगत को बुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। "सिद्धे रसे करिष्यामि निर्दारिद्र्यमिदं जगत्।")

ग्रन्थकर्ता की भावना उन्नत है, इसी से वशीकरण, शुक्रस्तम्भन, वाजीकरण आदि योगों की ओर लेखक का ध्यान नहीं गया। यह वाम तान्त्रिक मार्ग से भिन्न है (रसेन्द्रमंगल में वाम तंत्र-आचार पर्याप्त है)। इसका दक्षिण मार्ग योगवाद है। इसी योगवाद के कारण सर्वदर्शनसंग्रह में रसहृदय को आधार मानकर रसेश्वर दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। बनारस की हस्तलिखित प्रति में पुस्तक के अन्त में 'तथागत श्रेयसे भूयात्' वाक्य है।[2] इससे डा० राय लेखक को बौद्ध मानते हैं।

---

१ "जयति श्रीमद्नरय. किराततनाथो रसाचार्यः"—इसमें किरात शब्द से डाक्टर राय ने भूटान देश लिया है, लेखक का समय ग्यारहवीं सदी ही माना है।

२ नष्टशरीरविवर्णा हीनाङ्गा कुष्ठिनो गुणाद् यस्य।
अग्निवसोमेश्वरतामापुरपि पुनर्नवैरङ्गैः॥

परन्तु इसी लेखक ने यह भी लिखा है कि "वेदाध्ययन से और यज्ञ से अत्यन्त श्रेय मिलता है। ऐसा लिखनेवाला बौद्ध नही हो सकता।'

दूसरे अवबोध में पारद के अठारह सस्कारो के नाम देकर स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, उत्थापन, पातन, रोधन, नियमन और दीपन इन आठ सस्कारो की विधि दी है। तीसरे अवबोध में अभ्रक ग्रास की प्रक्रिया है, चौथे मे अभ्रक के भेद और अभ्रक सत्त्वपातन का विधान है। पाँचवें में गर्भ-द्रुति का विधान, छठे में जारण-विधान, सातवें में बिड विधान, आठवें मे रस रजन, नवें में बीज विधान, दसवें में वैक्रान्तादि मे से सत्त्व पातन, ग्यारहवे में बीज निर्वाहण, बारहवें में द्वन्द्वाधिकार, तेरहवे में सकर बीज विधान, चौदहवे मे सकरबीज जारण, पन्द्रहवें में बाह्यद्रुति, सोलहवें में सारण, सत्रहवे में क्रामण, अठारहवें में वेध विधान और अन्तिम उन्नीसवें अवबोध मे शरीर शुद्ध करके रसायन रूप से सेवन करनेवाले योग दिये है। अन्त में कुछ खेचर गुटिका-जैसे योगो के लिए आश्चर्यपूर्ण फलश्रुति कही है।

सक्षेप में रसविद्या का विकास होने के बाद लिखे गये एव इस समय उपलब्ध रस-ग्रन्थों में सबसे प्रथम अतिशय व्यवस्थित रूप से लिखा गया यही ग्रन्थ है। रसायन के रूप में रस-पारद का उपयोग करने के लिए इसमें अभ्रक-स्वर्ण का जारण करने की आवश्यकता हुई। पारद की रसायन-महिमा बनी रहने पर भी आगे चलकर रोगनाशक रूप में

तस्मात् किरातनृपतेर्बहुमानमवाप्य रससुकर्म्मरत ।
रसहृदयाख्य तत्र विरचितवान् भिक्षुगोविन्द ॥
नप्त्रा मगलविष्णो सुमनोविष्णो सुतेन तन्त्रोऽयम् ।
श्रीगोविन्देन कृत तथागत श्रेयसे भूयात् ॥
शीताशुवशसभवहैहयकुलजन्मजनितगुणमहिमा ।
स जयति श्रीमदनश्च किरातनाथो रसाचार्य ॥ १९।७८

१. रसबन्धश्च स धन्य प्रारम्भे यस्य सततमिव करुणा ।
सिद्धे रसे करिष्ये महीमह निर्जरामरणाम् ॥ १।६
अमृतत्व हि भजन्ते हरमूर्तौ योगिनो यथा लीना ।
तद्वत्कवलितगगने रसराजे हेमलोहाद्या ॥ १।१४
परमात्मनीव नियत भवति लयो यत्र सर्वसत्त्वानाम् ।
एकोऽसौ रसराज शरीरमजरामर कुरुते ॥ १।१३ (रसहृदयतत्र)

पारद, अभ्रकादिरस, महारस, गन्धकादि उपरस, काम्पिल्यादि साधारण रस, रत्न सुवर्ण आदि धातुओं का उपयोग चिकित्सा में होने लगा। रसहृदयतंत्र का विषय पारद तक ही सीमित है, पारद के विषय में व्यवस्थित ज्ञान इससे मिलता है। एक प्रकार से वास्तव में रसेश्वरदर्शन इसी एक ग्रन्थ के ऊपर निर्भर है।

रसार्णव—माधव ने सर्वदर्शनसंग्रह में रसार्णव का वर्णन किया है। रसार्णव बारहवीं सदी का ग्रन्थ है। रसार्णव तंत्र सामान्य रूप से पार्वती-परमेश्वर का सवाद है। इसके विभागों का नाम पटल है। चौथे पटल में रस कर्म के उपयोगी एवं उपरस, लोह में काम आनेवाले कांजी, विड, धमनी (धोंकनी), लोह यंत्र, खल्व, पत्थर का खरल, कोष्टिका, वक्रनाल, गोमय, ठोस इन्धन, मिट्टी के यंत्र, मूसल, ऊखल, सँडसी, मृत्पात्र, लोहपात्र, तराजू-बाट, कैंची, कसौटी, वक्रनाल, लोहनाल, मूषा, स्नेह, अम्ल, लवण, विष, उपविष सब सम्भार लेकर कार्य प्रारम्भ करने को कहा है। इस सम्भार से यह स्पष्ट है कि इस देश में रससिद्ध अपने सब साधन पास में रखता था।

भिन्न-भिन्न प्रकार की मूषाएँ (क्रुसीबल) बतायी हैं, प्रत्येक धातु की ज्वाला का रंग भिन्न-भिन्न होता है, इसका उल्लेख है। सत्त्वपातन का उल्लेख इसमें है, सत्त्वपातन से अभिप्राय शुद्ध धातु प्राप्त करना है।[1]

रसेन्द्रचूडामणि—इस ग्रन्थ का कर्त्ता सोमदेव है। रसरत्नसमुच्चय का पूर्व भाग प्रायः इसी ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है। सोमदेव भगवद् गोविन्दपाद के पीछे और रसरत्नसमुच्चय के कर्त्ता से पहले हुआ है। इसमें मन्थानभैरव, नन्दी, भानुकी, भास्कर, श्रीकण्ठ, भगवद् गोविन्दपाद के मत इनके नामोल्लेख सहित दिखाये गये हैं।

---

१. क्षार—त्रिक्षाराष्ट कणक्षारो यवक्षारश्च सर्जिका।
तिलापामार्गकदली-पलाश-शिग्रुमोचका. ॥
मूलाद्रकचिञ्चाश्वत्था वृक्षक्षारा' प्रकीर्त्तिता. ॥

महारस—माक्षिक विमल शैलञ्चपलो रसकस्तथा।
सस्यको दरदश्चैव स्रोतोऽञ्जनमथाष्टकम् ॥

धातुओं की सख्या—सुवर्णं रजत ताम्र तीक्ष्णवगभुजङ्गमा।
लोहक षड्विध तच्च यथापूर्वं तदक्षयम् ॥
रसज क्षेत्रज चैव लोहसकरज तथा।
त्रिविध जायते हेम चतुर्थं नोपलभ्यते ॥
नास्ति तल्लोहमातङ्गो यन्न गन्धककेसरी।
निहन्याद् गन्धमात्रेण यद्वा माक्षिककेसरी ॥

सोमदेव पुरवर महावीर वंश का था[1]। इसलिए सोमदेव का समय १२–१३वीं सदी के बीच का होना चाहिए। सोमदेव ने नन्दी के सिवाय नागार्जुन, दण्डी, ब्रह्मज्योति और शम्भु का भी उल्लेख किया है।

इस ग्रन्थ में रसपूजन, रसशाला-निर्माण प्रकार, रसशाला संग्राहण, परिभाषा, मूषापुट यंत्र, दिव्यौषधि, रसौषधि, ओषधिगण, महारस, उपरस, साधारण रस, रत्न, धातु, इनके रसायन योग, पारद के अठारह संस्कार भली प्रकार कहे हैं।[2]

रसेन्द्रचूडामणि लाहौर से १९८९ संवत् में प्रकाशित हुआ है। इसके प्रकाशन में श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य द्वारा पुस्तकों की सहायता प्राप्त हुई थी।

रसप्रकाश सुधाकर—यह ग्रन्थ आयुर्वेद ग्रन्थमाला में छपा था। इसके कर्त्ता श्री यशोधर हैं। यशोधर जूनागढ (सौराष्ट्र) के रहनेवाले श्रीगौड ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पद्मनाभ था, जो कि वैष्णव धर्म पालते थे[3]।

---

१. वचित व्यक्त रसपरिकर वैद्यविद्याविनोदी।
श्रीमान् सोम: पुरवरमहावीरवंशावतंस ॥ २।१

२ तं पारदं सर्वगदाब्धिपारदं दिव्याष्टसिद्धिप्रदकौलिकेश्वरम्।
कल्पायुरारोग्यविधानदक्षिणं सदेहमुक्तिप्रदमेकमाद्रिये ॥
गोमांसभक्षामरसीधुपानान्विध्वस्ततापानतिमुक्तपापान्।
तान्कौलिकान्नौमि सदेहमुक्तान् विदेहमुक्तान्हसतः सदैव ॥
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु।
चान्द्रं स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥
तत्पानं द्वारशब्देन देहसिद्धिं करोति हि।
एषैव खेचरी मुद्रा चिराभ्यासेन सिध्यति ॥ १।६-१०
प्रकृत्यादिवरान्तो यश्चतुर्विंशतिको गणः।
तत्कुलं तेन दीप्येत यो जीवः स हि कौलिकः ॥

३. श्रीगौडान्वयपद्मनाभसुधियस्तस्यात्मजेनाप्यहम्।
सद्वैद्येन यशोधरेण कविना विद्वज्जनानन्दकृद्
ग्रन्थोऽयं ग्रथितः करोतु सततं सौख्यं सतां मानसे ॥ १३।१६

रसरत्नसमुच्चय में वहुत-से विषय इसमें से लिये है। डाक्टर श्री प्रफुल्लचन्द्र राय की मान्यता है कि रसरत्नसमुच्चय के मगलाचरण के सत्ताईस रससिद्धो के नामो मे यशोवन के स्थान पर यशोधर होना चाहिए। यशोधर ने नागार्जुन, देवीशास्त्र (सम्भवत रसार्णव), नन्दी, सोमदेव, स्वच्छन्दभैरव, मन्थानभैरव का उल्लेख किया है। यशोधर ने सोमदेव का नाम लिया है, इसलिए यह इसके बाद सम्भवत एक सौ वर्ष पीछे होना चाहिए, अतएव इसका समय १३०० ईसवी सम्भावित है।

रसरत्नसमुच्चय मे पहले के ग्रन्थो में यह बहुत व्यवस्थित है, इसमे पारद के अठारह सस्कार, रस बन्ध, रस भस्म विधि—जिसमे रसकर्पूर की भी विधि है, स्वर्णादि धातु, महारस, उपरस, रत्न आदि का लक्षण, गुण, शोधन, मारण तथा एक सौ रसप्रयोग, यत्र, मूषा, पुटो का विवरण, वाजीकरण प्रयोग आदि रसशास्त्र के सब विषय हैं। इसके साथ कीमिया की बातें, जिनको यह रसकौतुक कहता है, इसमें हैं। ग्रन्थकार ने कहा है कि मैंने थोडा अनुभव किया है, शेष अधिक भाग सुना हुआ है।

रसराजलक्ष्मी—इस पुस्तक की प्रधानता इसलिए है कि इसमें पिछले ग्रन्थो (तत्रो) के लेखको का उल्लेख है, विशेषत रसार्णव, काकचण्डीश्वर, नागार्जुन, व्याडि, स्वच्छन्द, दामोदर, वासुदेव, भगवद्गोविन्दपाद। रसराजलक्ष्मी का कर्त्ता

इसमें मस्तकी, अफीम, अम्बर का उल्लेख है—

श्रीवासमस्तकी नागकेसर च लवंगकम्।
ककोल तुलसीबीज खुरासान्यहिफेनकम्॥ १३।११
पोस्तक पलमेक वै शुण्ठीकर्ष सिता पलैका च।
कर्षमिता त्वक् पयसा पीतं रेतो ध्रुव धत्ते॥ १३।१५

अम्बर—समुद्रेणाग्निनक्रस्य जरायुर्बहिरुज्झित।
रवितापेन सशुष्क सोग्निजार (अम्बर) इति स्मृत॥
त्रिदोषशमनो ग्राही धनुर्वातहर पर।
वर्धनो रसवीर्यस्य जारण परम स्मृत॥ ६।८५-८६

बोद्दार—भवेद् गुर्जरके देशे सदल पीतवर्णकम्।
अर्बुदस्य गिरे पार्श्वे नाम्ना बोद्दारशृगकम्॥
नागसत्त्व लिंगदोषहरं श्लेष्मविकारनुत्।
रसबन्धकर सम्यक् श्मश्रूरजनक परम्॥ ६।८९-९०

विष्णुदेव राजा बुक्क का राजवैद्य था, बुक्क का समय १३५४–१३७१ ईसवी है। इसलिए यह ग्रन्थ चौदहवी शती का होना चाहिए।

रसेन्द्रसारसंग्रह—यह ग्रन्थ महामहोपाध्याय गोपाल भट्ट का बनाया हुआ है। यह बहुत-सी पुस्तकों के आधार पर संगृहीत है। इसमें रसमंजरी और चन्द्रिका इन दो का ही नाम लिखित है। यह ग्रन्थ १३वीं सदी का होना चाहिए। इसमें रस-कर्पूर की बनावट लिखी है। रसकर्पूर के पाठ को रसप्रकाशसुधाकर और भावप्रकाश के पाठ से मिलाने पर यह ग्रन्थ रसप्रकाशसुधाकर से पीछे और भावप्रकाश से पूर्व बना प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में पारद का शोधन, पातन, बोधन, मूर्च्छन आदि, गन्धक शोधन, वैक्रान्त, अभ्रक, ताल, मैनसिल आदि का शोधन, मारण आदि दिया गया है। ज्वरादि रोगों के ऊपर रसयोग भी लिखे हैं। इसमें रसविद्या का विषय रसरत्नसमुच्चय की भाँति अधिक व्यवस्थित नहीं है। इस ग्रन्थ के बहुत-से योग पिछले ग्रन्थों में लिये गये हैं। ग्रन्थकर्त्ता ने संक्षिप्त टिप्पणी ग्रन्थ पर लिखी है।

इसके बहुत से योग रसेन्द्रचिन्तामणि से मिलते हैं। इससे अनुमान है कि दोनों ने एक ही स्थान से संग्रह किया है। दोनों ग्रन्थ एक ही समय बने प्रतीत होते हैं, इसलिए एक-दूसरे से लेने का प्रश्न नहीं। बंगाल में इस ग्रन्थ का बहुत प्रचलन है।

रसकल्प—रसकल्प में गोविन्द, स्वच्छन्दभैरव आदि आचार्यों का उल्लेख है। इस छोटे ग्रन्थ में धातुओं का शोधन-मारण ही है। डाक्टर राय इसका समय तेरहवीं शती के आस-पास मानते हैं। लेखक ने पुस्तक के अन्त में कहा है कि इसमें लिखी सब प्रक्रियाएँ मेरी अनुभूत है, किसी दूसरे से सुनकर नहीं लिखी।

रससार—गोविन्दाचार्य के इस रससार में पारद के अठारह संस्कार आदि प्रसिद्ध विषय हैं। ग्रन्थकर्त्ता ने लिखा है कि इस पद्धति को भोट-देशी लोग जानते हैं और बौद्ध मत जानकर मैंने रससार लिखा है। १२–१३वीं शती तक रसविद्या बौद्धों में अच्छी तरह प्रचलित थी, विशेषत तिब्बत के बौद्ध इसको भली प्रकार जानते थे।[1]

इस ग्रन्थ में अफीम का उपयोग है, यद्यपि इसे पता नहीं कि अफीम क्या है।

---

१. एवं बौद्धा विजानन्ति भोटदेशनिवासिन ।
बौद्ध मत तथा ज्ञात्वा रससार. कृतो मया ॥

इसका कहना है कि समुद्र में तैरती हुई विषैली मछली से अफीम निकलती है।[1] डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय अफीम का उपयोग तेरहवीं शती में मानते हैं।

रसेन्द्रचिन्तामणि—इसकी बहुत सी प्रतियों में लेखक का नाम कालनाथ के शिष्य ढूंढीनाथ मिलता है। कुछ प्रतियों में गुहकुल-सभव रामचन्द्र नाम है। प्रकाशित पुस्तकों में भी यह भेद मिलता है। यह ग्रन्थ पहले कलकत्ता में छपा था, १९९१ सवत् में वैद्य मणिशर्मा ने भी अपनी सस्कृत टीका के साथ रामगढ (जयपुर) से प्रकाशित कराया है। डाक्टर राय इसकी रचना १३–१४वीं शती में मानते हैं। इसमें रसार्णव, नागार्जुन, गोविन्द, नित्यनाथ, सिद्ध लक्ष्मीश्वर, त्रिविक्रम भट्ट और चक्रपाणि का उल्लेख है। इस ग्रन्थ के विषय में लेखक ने लिखा है कि उसने स्वय अनुभव करके इसमें प्रक्रियाएँ लिखी हैं।[2] ग्रन्थ में ज्वरादि रोगों की रसचिकित्सा दी गयी है।

रसरत्नाकर—पार्वतीपुत्र नित्यनाथ सिद्ध विरचित यह विशाल ग्रन्थ रस खण्ड, रसेन्द्र खण्ड, वादि खण्ड, रसायन खण्ड और मत्र खण्ड इन पाँच खण्डों में बना है। ये पाँचों खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। वादि खण्ड और मत्र खण्ड गोंडल से श्री जीवराम कालिदास द्वारा तथा रस और रसेन्द्र खण्ड कलकत्ता से प्रकाशित हैं। रसायन खण्ड का प्रकाशन बम्बई की आयुर्वेद ग्रन्थमाला में हुआ है। इनमें से वादिखण्ड और मत्र खण्ड को छोडकर तीनों खण्डों का सम्बन्ध वैद्यक से है। रसरत्नसमुच्चय में नित्यनाथ का नाम आने से स्पष्ट सिद्ध है कि यह नित्यनाथ रसरत्नसमुच्चय से पहले हो चुके हैं। इस में आये हुए वालुका मीन का 'समकउल सेदा रेगमाही' नाम से यूनानी में प्रसिद्ध प्रयोग है। इससे स्पष्ट है कि इस देश में यूनानी चिकित्सा प्रचलित थी, इसलिए नित्यनाथ का समय तेरहवीं शती होना चाहिए।

---

१. समुद्रे चैव जायन्ते विषमत्स्याश्चतुर्विधा।
तेभ्यः फेन समुत्पन्नम् अहिफेनं विष स्मृतम्।
केचिद् वदन्ति सर्पाणा फेनं स्यादहिफेनकम्॥

अहिफेन (संस्कृत) शब्द अरबी के 'अफयून' का रूपान्तर है। शार्ङ्गधर की आढमल् टीका में खाखजः (खाखज·) क्षीरविशेष —लिखा है, इससे स्पष्ट है कि उस समय इसकी उत्पत्ति का ठीक ज्ञान था।

२. आस्वाद्य बहुविदुषा मुखादपश्यं शास्त्रेषु स्थितमकृत न तल्लिखामि।
यत्कर्म व्यरचयमग्रतो गुरूणा प्रौढाना तदिह वदामि विस्तरेण॥
रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधा मत.॥

इस ग्रन्थ मे शोधन, मारण आदि रसविद्या के विषय रसखण्ड के प्रारम्भ में बतला-कर ज्वरादि रोगो की चिकित्सा विस्तार से लिखी है। इसमें औषधियोग भी हैं, परन्तु रसयोग विशेष रूप मे हैं।

रसरत्नाकर को देखने से स्पष्ट है कि इस समय तक रसविद्या का प्रचार और विकास पर्याप्त हो चुका था। क्योकि इतने समय में अकेले एक व्यक्ति के हाथ से रस-रत्नाकर जैसा ग्रन्थ तैयार होना सम्भव नही। रसरत्नाकर में तान्त्रिक मत्रो का स्थान-स्थान पर उल्लेख है। चक्रपाणि और रसेन्द्रचूडामणि का भी उल्लेख है।[1]

रसेन्द्रकल्पद्रुम—इसमें मुख्यत धातुओ और खनिजो का उल्लेख है। यह एक सग्रह ग्रन्थ है, जो रसार्णव, रसमगल, रसरत्नाकर, रसामृत और रसरत्नसमुच्चय से सगृहीत है।

धातुरत्नमाला—इसमें धातु और रत्न आदि की मारण विधि है। इसमे स्वर्ण, रजत, ताम्र, सीसक, त्रपु और लोह छ धातुओ का प्राचीन पुस्तको से उल्लेख हुआ है। पीछे से खर्पर का भी उल्लेख मिलना आश्चर्यपूर्ण है। यह कैलेमिन का समास है, जिसे जस्ता या यशद का समास समझा जाता है। इसका लेखक देवदत्त है, जो कि गुजरात का निवासी था। यह ग्रन्थ चौदहवी शती से पहले का नही है (हि० हि० कै०)।

रसरत्नसमुच्चय—इसका कर्त्ता वाग्भट है। अष्टागसग्रह के कर्त्ता वाग्भट के समान इसके पिता का नाम भी सिंह गुप्त है। इसी नामसाम्य से पुराने वैद्य सबको एक मानकर तीनो ग्रथो का कर्त्ता एक ही मानते हैं। परन्तु रसरत्नसमुच्चय का कर्त्ता वाग्भट बहुत पीछे का है। रसरत्नसमुच्चय में चर्पटी और सिंघली राजा का उल्लेख है।

---

१ यदुक्त शम्भुना पूर्वं रसखण्डे रसार्णवे।
रसस्य वन्दनार्थे च दीपिका रसमगले॥
व्याधिताना हितार्थाय प्रोक्त नागार्जुनेन यत्।
उक्त चर्पटिसिद्धेन स्मर्द्धवैद्यकपालिके॥
अनेक रसशास्त्रेषु सहितास्वागमेषु च।
यदुक्त वाग्भटे तत्रे सुश्रुते वैद्यसागरे॥
अन्यैश्च बहुभि सिद्धैर्यदुक्त च विलोक्य तत्।
तत्सर्वं परित्यज्य सारभूत समुद्धृतम्॥
यदन्यत्र तदत्रास्ति यदत्राऽस्ति न तत् क्वचित्।
रसरत्नाकर सोऽय नित्यनाथेन निर्मित॥

इस दृष्टि से तथा अगले-पिछले सम्बन्धो से डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय इसको १३वीं शती की रचना मानते हैं।[1] श्री गणनाथ सेन की मान्यता है कि समुच्चय के कर्त्ता वाग्भट के पिता का नाम सघगुप्त है, किसी पण्डित ने उसे सिंहगुप्त लिख दिया है।

वाग्भट नाम के और भी विद्वान् हुए हैं, ये सब सग्रह और हृदय के कर्त्ता वाग्भट से अर्वाचीन हैं, यथा—

१ वाग्भट—मालवेन्द्र का अमात्य, देवेश्वर का पिता, कविकल्पलता का कर्त्ता, २ वाग्भट—नेमिकुमार का पुत्र, जिन-धर्मानुयायी, छन्दोनुशासन, काव्यानुशासन आदि का कर्त्ता, ३ वाग्भट—वाग्भट-कोश कर्त्ता, ४ वाग्भट—रसरत्नसमुच्चय का कर्त्ता, ५ वाग्भट—वाग्भटालकार, शृगारतिलक आदि का कर्त्ता, सोम का पुत्र, जैन, जयसिंह का अमात्य, ६ वाग्भट—नेमिनिर्वाण काव्य का कर्त्ता, ७. वाग्भट—लघु जातक कर्त्ता, ८ वाग्भट—प्राकृत पिंगलसूत्र का कर्त्ता।

(श्री हरिशास्त्री पराडकर)

रसरत्नसमुच्चय के प्रथम ग्यारह अध्यायो में रसोत्पत्ति, महारसो का शोधन आदि विषय, उपरस, साधारण रसो आदि का शोधन ये रसशास्त्र सम्बन्धी विषय हैं। शेष भाग में ज्वर आदि रोगो के ऊपर रसयोग-प्रधान औषधियाँ हैं। रसशाला निर्माण का निर्देश करते हुए इसमें कहा गया है—

---

१. इस सम्बन्ध में श्री हरिशास्त्री पराड़कर ने अपनी भूमिका (अष्टागहृदय, निर्णयसागर से प्रकाशित) में विस्तृत सूचना दी है। वाग्भट के सग्रह और हृदय में रसरत्नसमुच्चय का उल्लेख नहीं है। दोनो की रचना में बहुत अन्तर है। रसरत्नसमुच्चय में कुछ अपाणिनीय प्रयोग हैं, जो कि सग्रह या हृदय में नहीं हैं। सातवीं शती-पूर्व भारत में रसविद्या नहीं थी।

सग्रह और हृदय में जिन रोगो का उल्लेख है, उनसे भिन्न नये नाम रक्तवात, शीतवात, सोम रोग आदि रसरत्नसमुच्चय में मिलते हैं। रसरत्नसमुच्चय प्राय. चिकित्सा ग्रन्थ है। यदि दोनो का कर्त्ता एक ही होता तो क्रम सबमें एक ही रहता, केवल रसौषधियो का उल्लेख होता। रसरत्नसमुच्चय में रोगो के कुछ अर्वाचीन नाम भी हैं, सग्रह और हृदय में वर्णित श्वित्र और किलास के लिए समुच्चय में श्वेत कुष्ठ शब्द आया है। संग्रह-हृदय में अठारह कुष्ठ कहे हैं, समुच्चय में शवगन्धि आदि अधिक नाम भी आये हैं, वातव्याधि में अपतानक नामक मुख्य रोग नहीं कहा। संग्रह और हृदय में गौरीपाषाण और अहिफेन का उल्लेख नही, समुच्चय में है।

सब प्रकार की बाधा-आपत्तियों से रहित, धर्मराज्य में, मनोरम स्थान में, शिव और पार्वती की जहाँ उपासना होती है, ऐसे समृद्ध नगर में धन-धान्य से पूर्ण रसशाला बनाये। इस रसशाला के चारों ओर सुन्दर बगीचा बनाये, इसके चार द्वार बनाये। यह शाला अच्छी बड़ी-चौड़ी, सुन्दर होनी चाहिए। इसमें वायु के आने-जाने का अच्छा प्रबन्ध होना चाहिए। इसमें दिव्य चित्र भित्तियों पर चित्रित होने चाहिए। इनमें शिवलिंग बनाकर उसकी पूजा करे। यह शिवलिंग स्वर्ण और पारद से बनाना चाहिए।[1]

उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि मूल महायान बौद्ध तान्त्रिकों के पास से शैव और शाक्त तान्त्रिकों के पास यह विद्या आयी है और उन्होंने इसे गुप्त रखने के लिए कहा है।[2]

रसरत्नसमुच्चय के अनुसार रसशास्त्र में खनिजों को पाँच भागों में विभक्त किया गया है, यथा—रस, उपरस, साधारण रस, रत्न और लोह। रस शब्द मुख्यत पारे का वाचक है, परन्तु रसशास्त्र में अभ्रक आदि के साथ रस शब्द प्रचलित होने से पारे को रसेन्द्र कहा जाता है ['रसनात्सर्वधातूना रस इत्यभिधीयते']। महारस आठ हैं—अभ्रक, वैक्रान्त, माक्षिक, विमल, शिलाजतु सस्यक, चपल और रसक। उपरस भी आठ हैं—गन्धक, गैरिक, कासीस, तुवरी, हरताल, मैनसिल, अजन, ककुष्ठ। साधारण रस आठ हैं—कम्पिल्ल, गौरी पाषाण, नवसार, कपर्द, अग्निजार, गिरिसिन्दूर, हिंगुल, मृद्दारशृग। रत्न बारह हैं—वैक्रान्त, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, हीरा, मोती, राजावर्त्त, पुष्पराग, गरुडोद्गार, प्रवाल, गोमेद, वैडूर्य और नीलम। लोह (धातु) आठ हैं—सुवर्ण, रजत, लोह, नाग, वग, पित्तल, कास्य, वर्त्त लोह। पित्तल, कास्य और वर्त्त लोह

---

१. निष्कत्रय हेमपत्र रसेन्द्र नवनिष्ककम।
अम्लेन मर्दयेद्याम तेन लिंग तु कारयेत् ॥

२ रसविद्या शिवेनोक्ता दातव्या साधकाय वै।
यथोक्तेन विधानेन गुरुणा मुदितात्मना ॥

सप्तविंशतिसख्याका रससिद्धिप्रदायका।
वन्द्या' पूज्या प्रयत्नेन तत कुर्याद् रसार्चनम् ॥
हर्षयेद् द्विजदेवाना तर्पयेदिष्टदेवता।
कुमारीयोगिनीयोगीश्वरान् म्लेच्छकसाधकान् ॥

को मिश्रित धातु कहा है। काना और वर्त्त लोह किन धातुओं का मेल है, यह भी कहा है।[1]

रसरत्नसमुच्चय के पीछे रसयोग के बहुत से संग्रह ग्रन्थ बनाये गये। इनमें रस के संस्कार, धातु, उपधातु, महारस, उपरस, रत्न, उपरत्न आदि का परिचय, शोधन, मारण मुख्य रूप से है, साथ में थोड़े से रसयोग भी दिये हैं। उदाहरण के लिए 'रसपद्धति ग्रन्थ है, यह ग्रन्थ आयुर्वेद ग्रन्थमाला मे बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इनका लेखक भिषग्वर बिन्दु है। टीका के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि रसरत्नाकर, रसराजलक्ष्मी, रसरत्नसमुच्चय के पीछे इनकी रचना हुई है। इनमें से आयुर्वेदप्रकाश और रसकामधेनु मे पर्याप्त वचन उद्धृत किये गये हैं। श्री यादवजी की सूचना

---

१ अष्टभागेन ताम्रेण द्विभागकुटिलेन च।
विद्रुतेन भवेत्कास्यम् ॥
कांस्यार्करीतिलोहादिजातं तद् वर्त्तलोहकम्।
तदेव पञ्चलोहाख्य लोहविद्भिरुदाहृतम् ॥
शुद्धं लोहं कनकरजतं भानुलोहाश्मसारं
पूतिलोह द्वितीयमुदित नागवङ्गाभिधानम्।
मिश्र लोह त्रितयमुदित पित्तलं कांस्यवर्त्तम्
धातुर्लोहे लुह इति मत सोऽप्यनेकार्थवाची ॥
(सोऽप्यनेकार्थवाची के स्थान पर सोऽपिकर्षार्थवाची भी पाठ है—रसेन्द्रचूडामणि अ. १४। श्लो. १)

महारस, उपरस, साधारण रस संज्ञाओ के सम्बन्ध में रसतंत्रो में एकता नहीं है। रसपद्धतिकार ने वैक्रान्त, अभ्रक, शिलाजतु, चपल, ताप्य और तुत्थ को महारस कहा है। गन्धक, हरताल, मैनसिल इन तीनो को उपरस कहा है। आयुर्वेदप्रकाश में गन्धक, हिंगुल, अभ्रक, हरताल, मैनसिल, अंजन, टंकण, लाजावर्त्त, चुम्बक, फिटकरी, शंख, मिट्टी, गेरु, कासीस, खडिया, कौडी, बालू, बोल, कंकुष्ट इन सबको उपरस कहा है। रसशास्त्र में प्रयुक्त द्रव्यो के वर्गीकरण में बहुत मतभेद हैं। श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने द्रव्यगुणविज्ञान-परिभाषा खण्ड (पृष्ठ ९२-९३-९४) तथा रसामृत के उपोद्घात में इस विषय पर सयुक्ति विवेचना की है। उसको वहां पर देखना चाहिए, उसकी सूचना के अनुसार नये रूप से इनका वर्गीकरण करना उत्तम है।

के अनुसार इसका लेखक महाराष्ट्रदेशीय है। इसका समय सत्रहवी शती से पहले का है।[1]

इनके सिवाय मालवा के राजा वैद्य मथनसिंह की रसनक्षत्र-मालिका (इसमे अफीम का उपयोग है), रसकौमुदी—जिसके कर्त्ता ज्ञानचन्द्र शर्मा, (प्रकाशक मोती-लाल वनारमी दास हैं,) रामराज विरचित रसरत्नप्रदीप (ठाकुरदत्त शास्त्री–गुमटी वाजार लाहौर), लौहसर्वस्व (कर्त्ता–सुरेश्वर, प्रकाशक—आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला वम्वई) माधव विरचित आयुर्वेदप्रकाश आदि वहुत से ग्रन्थ वने। शार्ङ्गधरसहिता का उल्लेख पहले आ चुका है। उसमें भी पारद-रसविद्या का विषय, धातुओं का जारण-मारण है। यह चौदहवी शती का ग्रन्थ है।

रसरत्नसमुच्चय के पीछे शनै शनै रसशास्त्र में शोधवृत्ति कम होती गयी। रस-रत्नसमुच्चय में काँसे के सम्वन्ध की जानकारी है। यह किसमें से वनता है, यह भी लिखा है। तुत्थ मे से ताम्र निकलता है, यह रसरत्नसमुच्चय मे लिखा है। भाव-प्रकाश में तुत्थ को ताम्र का उपधातु कहा है। शखद्राव का उल्लेख वहुत पीछे का हैं। अकवर के समय से सुनार तेजाव का उपयोग करने लगे थे।

इस प्रकार से सत्रहवी, अठारहवी शती (आयुर्वेदप्रकाश) तक रसशास्त्र परम्परा की शृखला मिलती है। इसका प्रारम्भ नवी-दसवी शती में हुआ, वारहवी-तेरहवी में पूर्ण विकास हुआ। इसके आगे यह स्थायी रूप में १६वी शती तक आयी। इसके पीछे यथाश्रुत रही।

रसतत्र में धातुवाद और चिकित्सा दो विषय है। धातु ज्ञान वहुत पहले से देश में प्रचलित था। यह गुप्तकाल में वने दिल्ली के लोहस्तम्भ से सिद्ध है। पीछे से तत्र सम्वन्धी ज्ञान ने इसे अपने में समाविष्ट कर लिया, और इसको गुप्त रखकर सिद्धों के नाम से जनता में फैलाया। दसवी शताब्दी के लगभग इसमे चिकित्सा भी मिलने लगी। इसलिए ये रसग्रन्थ चिकित्सा मे भी उपयोगी हुए।

सिद्धो में रहने से तथा वाममार्ग और कापालिक सम्वन्ध के कारण स्त्रीद्रावण, वशीकरण, वीर्यस्तम्भन, जलौका उपयोग, शुक्रस्तम्भन योग आदि का उल्लेख रस-मगल में तथा अन्य रसग्रन्थो में वहुत मिलता है। कोई भी रसग्रन्थ ऐसा नही, जिसमें

---

१. रसपद्धति में मोती आठ स्थानो से उत्पन्न कहे गये है—"अष्टौ मौक्तिकभूमयः करिकिरित्वक्सारमत्स्याम्बुमुक्कम्बूरोगतिशुक्तयोऽत्र चरमोत्पन्न पुर्नविश्रुतम् ॥" हाथी, शूकर, वश, मत्स्य, मेघ, कम्बू, सर्प, शुक्ति।

इन प्रकार के योगों का अतिशयोक्तिपूर्ण आकर्षक वर्णन न हो। रसशास्त्र में इस चिकित्सा को 'दैवी चिकित्सा' कहा है।[1]

डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी० ने "वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा" नामक एक पुस्तक लिखी है। इसमें उन्होंने आयुर्वेद के रासायनिक द्रव्यों पर तथा रसायन विद्या पर भी विचार किया है। इनके विचार से भी रसायन चिकित्सा (पारद के साथ धातुओं का चिकित्सा में उपयोग) आठवीं शती के बाद ही हुआ है।

विड् या अम्लराज—विड् का उपयोग लोहों के शोधन, द्रावण में होता है। विष्ठा से बनने से इनको विड् कहा है (विड्भि कपोतचाषाणां शिखिकुक्कुटगृध्रजैः। शोधनं सर्वलोहानां विड्गणं समुदाहृतं ॥—द्रव्यगुणविज्ञान, पृष्ठ ९०)। रसार्णव में इस कार्य के लिए गन्धक का उपयोग बतलाया है, इसके सिवाय अन्य वस्तुओं से भी विड्-द्रावण बनाना कहा गया है—

> कासीसं सैन्धवं मासी सौवीरं व्योषगन्धकम्।
> सौवर्चलं व्योषका च मालती रससंभव ॥
> शिग्रुमूलरसैः सिक्तो विडोऽयं सर्वजारणे ॥

इसी प्रकार गन्धक, ताल, सैन्धव, नौसादर, टंकण को मूत्रों के साथ गरम करके विड् बनाने की क्रिया लिखी है।

रसनक्षत्रमालिका—यह ग्रन्थ आश्विन कृष्ण पंचमी सोमवार, संवत् १५५७ को मालव राजा के राजवैद्य मथनसिंह ने समाप्त किया था।

रसप्रदीप—यह ग्रन्थ सोलहवीं शती में बना है। इसमें फिरंग नाम आया है। इस रोग के लिए रसकर्पूर और चोपचीनी का प्रयोग भी हुआ है। कर्पूररस को अन्य ग्रन्थों में (योगतरंगिणी में) फिरंगकरिकेसरी कहा है।

> गैरिकं रसकर्पूरम् चपला च पृथक् पृथक्।
> टंकमात्रं विनिष्पिष्य ताम्बूलीदलजैः रसैः ॥
> वटयश्चतुर्दश तेषां कर्त्तव्या भिषगुत्तमैः।
> फिरंगव्याधिनाशाय वटिकेयमनुत्तमा ॥

---

१. सा दैवी प्रथमा सुसंस्कृतरसैर्या निर्मिता सद्रसैः,
चूर्णस्नेहकषायलेहरचिता स्यान्मानवी मध्यमा।
शस्त्रच्छेदनलास्यलंघनगकृताचाराधमा साऽऽसुरी—
त्यायुर्वेदरहस्यमेतदखिलं तिस्रश्चिकित्सा मता॥ रसपद्धति २

२—चोपचीनीभवं चूर्णं शाणमानं समाक्षिकम् ।
फिरंगव्याधिनाशाय भक्षयेत् लवणं त्यजेत ॥

धातुक्रिया—यह ग्रन्थ भी लगभग इसी समय का है और रुद्रयामल तन्त्र के अन्तर्गत लिखा है। इस ग्रन्थ में फिरंग देश और रूम देश का उल्लेख है, यथा—ताम्र की उत्पत्ति में—

ताम्रोत्पत्तिश्च महता सुखेनैव प्रजायते ।
तेषां स्थानानि वक्ष्येऽहं याथातथ्येन च शृणु ।
नेपाले कामरूपे च बंगले मदनेश्वरे ।
गंगाद्वारे मलाद्रौ च म्लेच्छदेशे तथैव च ।
पावकाद्रौ जीर्णदुर्गे रूमदेशे फिरङ्गके ॥
एतान्युदितस्थानानि सर्वपर्वतके सदा ॥ (१४३-१४५)

धातुक्रिया में नमकीन एसिड के लिए 'दाहजल' शब्द आया है, जो ताम्र को तूतिया में बदलता है (७०)।

ताम्र और खर्पर के योग से पित्तल, और वंग तथा ताम्र के योग से कांस्य बनाना लिखा है (६३, ६५)। खर्पर शब्द जस्ते के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जस्ते के अन्य पर्याय जासत्व, जरातीन, राजत, यशद, रूप्यभ्राता, चर्मक, खर्पर, रसक, रसवर्धक आदि हैं (५०—५१)।

यह ग्रन्थ शिव-पार्वतीसंवाद के रूप में है। इसमें शिवजी पार्वती से एक स्थान पर कहते हैं कि मनुष्य कलियुग में स्वर्ण के लिए व्याकुल रहेंगे (१२३)। वे पारद और गन्धक से नकली सोना बनाने लगेंगे (१२८)। सुवर्णद्राविणी विद्या जानकर लोग प्राकृतिक स्वर्ण को पूछेंगे ही नहीं।

सुवर्णतन्त्र ग्रन्थ में भी सोना बनाने के योग मिलते हैं। इसमें शंखद्राव के समान बहुत-से द्राव बतलाये हैं—लोह द्राव, ताम्र द्राव, मल द्राव, हरताल, दन्त द्राव। लोह द्राव में लोहा डालने पर शीघ्र घुल जाता है, अन्य द्रावों में नहीं।

उद्योग धंधों में रसायन परम्परा—शुक्रनीति में नालिका और द्राव चूर्ण का उल्लेख

है (१०२८–१०३७)। इसमे शोरा और गन्धक से बारूद बनाना बतलाया है। इसका अग्निचूर्ण नाम दिया है। बारूद बनाने के लिए अगार (कोयला), गन्धक, सुवर्चिका, मन शिला, हरताल, नीसमल-हिंगुल, कान्तरज, खर्पर, जतु, नील, सरल, गोंद इनको भिन्न-भिन्न मात्रा में मिलाया जाता है (१०३९–१०४२)।

सोने की सबसे प्राचीन रत्नपेटिका (कास्केट) जो बौद्धकालीन है, इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में सुरक्षित है। यह १८४० सन् के लगभग मैनन महोदय को काबुल उपत्यका में जलालाबाद के पास मिली थी। यह पेटिका ईसा से ५० वर्ष पूर्व की बनी मानी जाती है। इसके सिवाय सुराहियाँ, प्रतिमाएं, पेटिकाएँ, जिनमे सोने-चाँदी का काम होता था, बनती थी। कुफ्त और बीदरी का काम, एनेमेल या मीना, अस्त्र-शस्त्र और इस्पात का काम बहुत प्राचीन काल से इस देश मे होता था। राजसी ठाठ के सामानो मे धातुओं का उपयोग बहुत प्राचीन है। बार्थ (Borth) ने लिखा है कि अरबवासियो के सम्पर्क से भारत में तन्त्र और रसायन को प्रोत्साहन मिला (रिलीजन्स हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ २१०)।

चिकित्सा मे धातुओ का उपयोग सातवी-आठवी शती के बाद से ही प्रारम्भ हुआ। मौर्यकाल मे धातुओ को विशेष सवर्धन मिलने लग गया था। ग्रीक या दूसरो के ससर्ग मे आने पर जिस प्रकार प्रस्तर एव स्थापत्य कला का विकास हुआ, उसी प्रकार इस कला मे भी विकास हुआ। परन्तु चिकित्सा में उपयोग नवी शती के आसपास प्रारम्भ हुआ।

पारद के अष्टादश सस्कार'

पारद के सस्कार अठारह हैं, यथा—स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, उत्थापन, पातन, रोधन, नियमन, दीपन, ग्रास मान, चारणा, गर्भद्रुति, वाह्यद्रुति, जारण, रजन, सारण, क्रामण, वेधन और भक्षण। इनमें पहले आठ सस्कार ही सामान्य रूप से रसग्रन्थो मे वर्णित है। अठारह सस्कार स्वर्ण या धातु निर्माण मे तथा देह सिद्धि के लिए उपयोगी हैं। आठ सस्कार रसायन गुण के लिए उत्तम हैं। रोग चिकित्सा मे सामान्यत. मर्दन, मूर्च्छन, उत्थापन, पातन सस्कार ही किये जाते है। स्वेदन क्रिया से पारद के दोष द्रवीभूत होकर ढीले हो जाते हैं, जिससे वे सुगमता से निकल सकते है।

मर्दन और मूर्च्छन दोनो सस्कारो मे पारे को द्रव्यो के साथ घोटा जाता है। मर्दन के पीछे मूर्च्छन मे घोटने पर पारे के छोटे-छोटे कण बन जाते हैं। यह एक प्रकार से वस्तु मे छिप जाता है। मर्दन में यह स्थिति नही होती। इसमें पारा समूह रूप मे ही रहता है और स्पष्ट दीखता है।

उत्थापन क्रिया में पारे को फिर एक समान रूप में लाते हैं, जिससे वह एकत्र हो जाता है। पातन क्रिया में ऊर्ध्वपातन, अधःपातन या तिर्यक् पातन क्रियाएँ अभिप्रेत हैं। इनसे पारे के दोष निकलते हैं। बोधन संस्कार से उसमें दीप्ति, तेज, चंचलता उत्पन्न की जाती है। पातन आदि क्रिया से पारा थक जाता है, जिससे मन्दवीर्य-युक्त हो जाता है। बोधन संस्कार से उत्पन्न चांचल्य को नियन्त्रित करने के लिए नियमन संस्कार किया जाता है। नियमित पारद कासीस, सैन्धव आदि विड तथा धातुओं को ग्रास करने के लिए तैयार हो जाय अतः उसमें बुभुक्षा उत्पन्न करने के लिए दीपन संस्कार करते हैं।

ग्रासमान—पारद इतने परिमाण में स्वर्ण आदि का ग्रास कर सकेगा, इसका निश्चय करना ग्रासमान है। चारणा—पारद में स्वर्ण आदि धातु मिलाने का नाम चारणा है। चारणा दो प्रकार की है, समुखा और निर्मुखा। समुखा चारणा में शुद्ध स्वर्ण या चाँदी को पारद में मिलाया जाता है। इसका चौंसठवाँ भाग मिलाने पर पारद अभ्रकसत्त्व आदि कठिन सत्त्वों को खाने लगता है। निर्मुखा चारणा में पारद में मुख बिना किये ही दिव्यौषधियों की सहायता से सत्त्वों या लोहे को मिला दिया जाता है। गर्भद्रुति—पारद में से ग्रसित किये हुए अभ्रक आदि को द्रवीभूत करना गर्भद्रुति है। बाह्यद्रुति—अभ्रकसत्त्व आदि को प्रथम द्रव बनाकर फिर पारद में ग्रास देना बाह्य द्रुति है (भोजन पचने के लिए जिस प्रकार उसका द्रवीभूत होना आवश्यक है, उसी प्रकार पारद में अभ्रक सत्त्व आदि के जीर्ण होने के लिए इसका भी द्रव होना आवश्यक है)।

जारण—ग्रास दिये हुए और द्रवीभूत अभ्रकसत्त्व आदि को विड आदि की सहायता से जीर्ण करना जारण है। (जिस प्रकार खाये हुए भोजन को सोडा बाई कार्ब या अन्य क्षार-नमक-अग्निवर्धक औषधियों के साथ पचाते हैं।)

रञ्जन—विशिष्ट संस्कारों से सिद्ध किये गये बीज को पारद में जारित करके उसमें पीले, लाल आदि रंग उत्पन्न करने की क्रिया को रञ्जन संस्कार कहते हैं।

सारण—सारणयन्त्र में विशेष क्रिया से बनाया सारणतैल तथा रंजित पारा डालकर उसमें स्वर्ण आदि मिलाकर जो संस्कार किया जाता है, वह सारण है। सारण से पारद में लोहे को वेध करने की शक्ति बढ़ जाती है।

क्रामण—सारण पर्यन्त संस्कारित पारद क्रामण क्रिया के बिना धातुओं को अन्दर से नहीं रंग पाता। क्रामण से वह प्रत्येक अणु में पहुँच जाता है।

वेध—सारण पर्यन्त संस्कार किये गये पारद को व्यापनशील-क्रामण औषधियों

के साथ मिलाकर ताम्र-वग आदि दूसरी धातुओ में डालने की क्रिया को वेध संस्कार कहते हैं।

पारद के ये संस्कार जिस प्रकार लोह सिद्धि के लिए हैं, उसी प्रकार देह सिद्धि के लिए भी आवश्यक हैं। भगवद् गोविन्दपाद ने रसहृदय तंत्र में इन्ही रीतियों से संस्कार किये गये पारद से शरीर को अजर-अमर बनाने का विधान बताया है, जो कि रसेश्वर दर्शन का चरम लक्ष्य था।[1]

रत्न

हीरा, प्रवाल, मोती, पन्ना, लहसुनिया, गोमेद, माणिक्य, नीलम, पुखराज—ये रत्न हैं। तृरमुरी, सूर्यकान्त, स्फटिक, चन्द्रकान्त, लाजावर्द, फिरोजा, अकीक, कहरुवा, जहरमोहरा, मगयशेव ये दस उपरत्न हैं। कुछ आचार्य काँच को भी उपरत्न मानते हैं।

आयुर्वेद में मुख्यत कुछ रत्न, उपरत्न ही काम मे आते हैं। इनमें हीरा, प्रवाल, मोती का उपयोग औषध रूप में मिलता है। रत्नो के धारण करने का उल्लेख चरकसहिता में है। इनके धारण से होनेवाले प्रभाव को अचिन्त्य कहा है।

इनके सिवाय 'सुराष्ट्रजा' सौराष्ट्र की मिट्टी का भी उल्लेख प्राचीन काल से आयुर्वेद ग्रन्थो में मिलता है। यह क्या वस्तु है, इसे निश्चित रूप में कहना कठिन है। सम्भवत इसमें कुछ विशेषता थी, इसी से इसका उल्लेख हुआ है।

क्षार

क्षार से आजकल 'अलकली' लिया जाता है। परन्तु आयुर्वेद का क्षार अम्ल से भिन्न है। क्षार का उल्लेख चरकसहिता में है। इसके अधिक सेवन का निषेध है। परन्तु सुश्रुत तथा रसग्रन्थो मे जिस क्षार का उपयोग है, वह सम्भवत तीव्र क्षार होता था, जो जलाने या रस के शोधन मे बरता जाता था।

क्षार बनाने की विधि—जिस वृक्ष से क्षार निकालना हो उसका पचाग लाकर उसको सुखाकर साफ की हुई लोहे की कडाही मे जलाकर भस्म कर लें। फिर इसको मिट्टी के पात्र मे डालकर छ गुने जल के साथ हाथ से खूब मसलकर तथा पात्र को ढाँककर रात भर रहने दें। दूसरे दिन स्वच्छ जल को दूसरे पात्र में नितारकर इक्कीस

---

१ द्रव्यगुण विज्ञान, उत्तरार्ध-परिभाषा खण्ड (श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य) से उद्धृत। विस्तार के लिए लेखक का 'रसशास्त्र' देख।

वार गाढे स्वच्छ वस्त्र से छान लें। छानते समय प्रति वार वस्त्र को धो लेना चाहिए। इस जल को मिट्टी के या भीतर से एनामल किये लोहे के पात्र में मदी आँच पर पकाये। पकाते समय जल को हिलाते रहें। जब जल सूख जाय तब पात्र को नीचे उतारकर ठडा करें। ठडा होने पर क्षार को खुरचकर निकालना चाहिए। इसे काँच की भरनी मे मुख बन्द कर रख देना चाहिए। (द्रव्यगुणविज्ञान से)

यह क्षार शुद्ध अलकली होगा, यह निश्चित नही। 'क्षरणात् क्षार', क्षरण का अर्थ हिंसन है, यह कर्म जिसमें रहता है, वह क्षार है। सुश्रुत में क्षारचिकित्सा अर्श आदि रोगो में कही है। उसी दृष्टि से रस या धातुओ के शोधन-मारण में क्षार का उपयोग है। क्षार का उपयोग अन्त प्रयोग मे भी है, इसमें सर्जक्षार, यवक्षार, टकणक्षार, ये तीन ही प्राय व्यवहार मे आते है। बाह्य प्रयोग मे तीव्र क्षार का उपयोग होता है। अष्टागसग्रह में तथा सुश्रुत मे क्षार निर्माण तथा उनको रखने के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी दी गयी है।

बारहवाँ अध्याय

निघण्टु और भैषज्य कल्पना

औषधीय द्रव्यो की गुणविवेचना चरक-सुश्रुत काल से ही प्रचलित थी। उस समय मुख्यत यह ज्ञान एक विशेष रूप मे था। इसका विभागीकरण भी एक नये क्रम से था। चरक सुश्रुत से प्राचीन है, इसलिए सुश्रुत मे यह क्रम सरल और विस्तृत है। उदाहरण के लिए—मान वर्ग मे कोशस्थ, पादिन, मत्स्य के दो भेद आदि विवेचना विस्तार से है। सहिता ग्रन्थो मे गुण-दोष की विवेचना मुख्यत अन्न-पानीय विषय तक ही सीमित रही है। औषध द्रव्यो के लिए कोई विशेष उल्लेख पृथक् रूप मे नही है। गुण-दृष्टि से वर्गीकरण हुआ है। इसलिए इस विषय में विशेष स्पष्टीकरण नही है।

इसी प्रकार वस्तु के स्वरूपज्ञान का निर्देश केवल प्रत्यक्ष ज्ञान, आँख से देखकर या कान से सुनकर जानने के सिवाय और नही मिलता। इसलिए इस ज्ञान का विशेष विकास सहिताकाल मे नही हुआ। चरक के महाकषायो और सुश्रुत के द्रव्यसग्रहणीय मे कहे गये गणो को वाग्भट ने अष्टागसग्रह मे बहुत ललित छन्द-रचना मे बदल दिया जिससे सुगमतापूर्वक याद हो सके। इससे आगे यह विषय नही बढा। निघण्टु का प्रारम्भ अष्टागसग्रह से होता है। यह गुप्त काल था।

जिस प्रकार से एक ही शब्द के बहुत से अपभ्रश थे अथवा एक ही वस्तु के लिए जिस प्रकार कई शब्द प्रयुक्त होते थे, उसी प्रकार से वैद्यक शास्त्र मे भी एक ही वस्तु स्थान-भेद से भिन्न-भिन्न नामो से कही जाती है। चरकसहिता में प्राय अन्तर्वेद और हिमालय की वनस्पतियो का उल्लेख है। सुश्रुत मे वनस्पतियो का ज्ञान थोडा अधिक मिलता है, सग्रह मे और भी अधिक हुआ। सग्रह के रसायन प्रकरण मे रसोन पलाण्डु का गुण कथन छोडकर कई नये द्रव्यो का (यथा कचुकी, कुक्कटी आदि), नयी कल्पनाओ का (शिलाजतु का शिवागुटिका रूप से प्रयोग, कुष्ठ का रसायन रूप मे प्रयोग) उल्लेख मिलता है। परन्तु अधिक विस्तार नही है। स्वर्णादि धातुओ का गुण कथन, औषधियो का उल्लेख सूत्र अ १२ मे किया है। सुश्रुत मे भी स्वर्ण आदि का उल्लेख है। सग्रह में इसी को विस्तृत किया गया है।

इस विपय मे विशेष कार्य गुप्त काल में चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय वने अमरकोश म मिलता है। एक प्रकार से सवसे पहली वानगी निघण्टु के रूप मे इसी में है। इसमे वनौपधि वर्ग के अन्दर औपधियो का समावेश हुआ है। इसके पीछे दूसरे निघण्टु वने है। अमरकोश का समय चौथी-पाँचवी शताव्दी का मध्य है।

निघण्टु का कोई निश्चित क्रम नही। चरक-सुश्रुत-सग्रह में अन्न-पान सम्वन्धी एक क्रम है। चरक मे द्रव्यो का भेद तीन प्रकार से किया है, जागम, औद्भिद और पार्थिव। औपधियो का ज्ञान केवल नाम और रूप से ही जान लेना पर्याप्त नही, इनका प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति एव रोग की अपेक्षा से जानना भी जरूरी है। जो वैद्य इनके रूप के साथ-साथ प्रयोग विधि को भी जानता है, वही तत्त्ववित् है (चरक सु अ १।१२०-१२५)। सुश्रुत ने द्रव्यो का उल्लेख गणो के रूप मे किया है, इसमें एक प्रकार का गुण करनेवाली औपधियाँ एक वर्ग में गिनकर समूह रूप मे गुण कह दिया है। यह वर्गक्रम चरक सहिता में भी महाकपायो के रूप मे है। इन कपायो मे पाँच सौ के लगभग औपधियाँ है। कुछ औपधियाँ कई कपायो में वार-वार आती है। परन्तु जिस प्रकार एक व्यक्ति कई भिन्न-भिन्न कार्यों से भिन्न-भिन्न नाम धारण कर लेता है, उसी प्रकार एक ही औपध अनेक काम करती हुई कई गणो मे गिनी गयी है। इसलिए औपधि के भिन्न-भिन्न कार्य तथा उसके भिन्न-भिन्न नामो का निघण्टु में उल्लेख है। यह नामो का सख्यान-पर्य्यायकथन सवसे प्रथम अमरकोश मे क्रमवद्ध रूप में मिलता है।

निघण्टु क्रम से द्रव्यो का उल्लेख उपलव्ध निघटुओ मे सवसे प्रथम धन्वन्तरीय निघण्टु में मिलता है। धन्वन्तरि आयुर्वेद के उपदेष्टा है, इसी से उनके नाम पर यह निघण्टु वनाया गया। इसमें मगलाचरण के रूप में धन्वन्तरि को नमस्कार किया गया है, इसके सिवाय इस ग्रन्थ का धन्वन्तरि के साथ कुछ भी सम्वन्ध नही।

वैद्यक निघण्टुओ में चक्रपाणिदत्त का वनाया 'द्रव्यगुणसग्रह' सवसे प्राचीन है। चरक-सुश्रुत की भाँति इसमें धान्यवर्ग, मासवर्ग, शाकवर्ग, लवणादि वर्ग, फलवर्ग, जल वर्ग, क्षीर वर्ग, तैल वर्ग, इक्षुविकृति वर्ग, मद्य वर्ग, कृतान्न वर्ग, आहार-विधि वर्ग और अनुपान वर्ग का उल्लेख है। औपधि द्रव्यो का वर्णन नही है।[1] चक्रपाणिदत्त के द्रव्यगुणसग्रह की टीका शिवदास सेन ने की है, जो कि वहुत प्राञ्जल, विद्वत्तापूर्ण है।

---

१ आहार द्रव्य और औषध द्रव्य में भेद—"वीर्यप्रधानमौषधद्रव्य तथा रस-प्रधानमाहारद्रव्यम्।"—चक्रपाणि

द्रव्य-गुणसग्रह नित्य प्रति काम में आनेवाले आहार द्रव्यो तक ही सीमित है। रोगी प्राय चिकित्सक से आहार-विहार सबधी जानकारी चाहता है, उसमें सहायता करने के लिए यह ग्रन्थ बनाया गया, जिससे सुगमता से द्रव्यो के गुण स्मरण रहें। चक्रदत्त का द्रव्यगुणसग्रह अधिकत सुश्रुत सहिता का अनुकरण करता है।

धन्वन्तरिनिघण्टु के कर्त्ता को भी चरक-सुश्रुत की स्फूर्ति थी। दोनो मे से गुणो का आधा या सम्पूर्ण श्लोक लेकर धन्वन्तरिनिघण्टु मे उद्धृत किया गया है। इसका वर्गीकरण दोनो से भिन्न है। उदाहरण के लिए सुश्रुत और चरक मे अनार को फलवर्ग मे लिखा है, चक्रपाणि ने भी इसको फलवर्ग में ही गिना है। परन्तु धन्वन्तरिनिघण्टु मे अनार को आम्रादि फलवर्ग में न लिखकर शतपुष्पादि वर्ग में लिखा है। इसी प्रकार केला को करवीरादि वर्ग में लिखा है। इन विशेषताओ के कारण धन्वन्तरिनिघण्टु चक्रदत्त के पीछे बना हो, ऐसी कल्पना की जाती है। इसका समय लगभग बारहवी शती होगा।

धन्वन्तरिनिघण्टु के प्रकरणो को द्रव्यावलि (द्रव्यों की पक्ति) कहा गया है, इसमें गुडूच्यादि, शतपुष्पादि, चन्दनादि, करवीरादि, आम्रादि और सुवर्णादि छ वर्गों मे ३७३ द्रव्यो का उल्लेख किया है। परन्तु प्रतियो मे पाठभेद है, इसलिए इस सख्या में भी भेद है। कही-कही पर ३७० औषधियो का उल्लेख है।[1]

आनन्दाश्रम सस्कृत ग्रन्थावली में प्रकाशित धन्वन्तरिनिघण्टु मे मिश्रकादि वर्ग है, जो सम्भवत पीछे से जोड़ा गया प्रतीत होता है। इस निघण्टु में पहले गुडूच्यादि वर्ग की औषधियाँ हैं। इस वर्णन में सुश्रुत-वाग्भट की गुण-वर्णनपद्धति की झलक मिलती है। औषधियो के पर्याय दिये हैं, गुण सक्षेप में कहे हैं, यही इस निघट्ट की विशेषता है। ग्रन्थकर्त्ता ने अपने ग्रन्थ का स्वय परिचय देते हुए कहा है—

अनेकदेशान्तरभाषितेषु सर्वेष्वथ प्राकृतसस्कृतेषु।
गूढेष्वगूढेषु च नास्ति सख्या द्रव्याभिधानेषु तथौषधीषु।
एक तु नाम प्रथित बहूनामेकस्य नामानि तथा बहूनि।
द्रव्यस्य जात्याकृतिवर्णवीर्यरसप्रभावादिगुणैर्भवन्ति॥
नाम श्रुतं केनचिदेकमेव तेनैव जानाति स भेषजं तु।

---

१. द्रव्यावलि' समादिष्टा धन्वन्तरिमुखोद्गता॥
शतत्रयं च द्रव्याणा त्रिसप्तत्यधिकोत्तरम्।
हिताय वैद्यविदुषा द्रव्यावल्या प्रकाशितम्॥

अन्यस्तथाऽन्येन तु वेत्ति नाम्ना तदेव चान्योऽथ परेण कश्चित् ॥
द्रव्यावलिं विना वैद्यास्ते वैद्या हास्यभाजनम् ।
द्रव्यावल्यभिधानाना तृतीयमपि लोचनम् ॥

औपधियो का ठीक ज्ञान वनेचरो से होता है, ज्ञान के लिए उनके प्राकृत शब्दो को लेने मे दोप नही है।[1]

पर्यायरत्नमाला अथवा रत्नमाला—इसके लेखक माधवकर है। इसका एक उत्तम सस्करण १९४६ मे डा० तारापद चौधरी द्वारा 'पटना विश्वविद्यालय पत्रिका' (भाग २) में प्रकाशित हुआ है। पर्यायरत्नमाला या रत्नमाला का उल्लेख सर्वानन्द वन्द घातीय (११५९ ई०) ने अमरकोश की टीका में किया है। इसके लेखक एव टीकाकार दोनो का उल्लेख मेदिनी कोश (१३०० ई०), रायमुकुट (१४३० ई०) और भानुजी दीक्षित (१६५० ई०) ने किया है। रत्नमाला के लेखक माधवकर इन्दुकर के पुत्र हैं, जो कि प्रसिद्ध ग्रन्थ रुग्विनिश्चय (निदान) के लेखक है। इनकी जन्मभूमि शिलाह्रद है।[2]

सिद्धयोग के लेखक वृन्द ने 'रुग्विनिश्चय' के रोगक्रम को स्वीकार किया है। इस सिद्धयोग का उल्लेख चक्रपाणिदत्त ने चक्रदत्त में किया है। चक्रपाणिदत्त का समय १०४० ईसवी है। माधव ने बहुत से वचन वाग्भट से उद्धृत किये हैं। कविराज श्री गणनाथ सेन ने 'प्रत्यक्षशारीरम्' के उपोद्घात में लिखा है कि आठवी शती में हारून्

---

१ किरातगोपालकतापसाद्या वनेचरास्तत्कुशलास्तथाऽन्ये ।
विदन्ति नानाविधभेषजाना प्रमाणवर्णाकृतिनामजाती ॥
प्रायो जना. सन्ति वनेचरास्ते गोपादय प्राकृतनामसज्ञा ।
प्रयोजनार्था वचनप्रवृत्तिर्यस्मात्तत प्राकृतमित्यदोष ॥
गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिण ।
मूलजाताश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते ॥

२ पर्यायमुक्तावली की भूमिका में—"पूर्वलोकहिताय माधवकराभिख्यो भिषक् केवल कोषान्वेषणतत्पर प्रवर्त्तितायुर्वेदरत्नाकरात् माला रत्नमयीं चकार. . . । मेदिनी में—हारावल्यभिधान त्रिकाण्डशेषञ्च रत्नमालाञ्च—३ श्लोक, वाग्भट-माधववाचस्पतिव्याडितारपालाख्यान्—४था श्लोक ।
भिषजा माधवेनैषा शिलाह्रदनिवासिना ।
यत्नेन रचिता रत्नमालेन्दुकरसूनुना ॥

उल रसीद के समय निदान का पारसी भाषा में अनुवाद हुआ था। इसलिए माधव का समय सातवीं शती या इसके कुछ पीछे होना चाहिए। जौली ने माधव का समय आठवीं या नवीं शती माना है।

'रत्नमाला' एक निघंटु है, जिसमें औषधियों के पर्याय दिये हैं। इनके अतिरिक्त मान, परिभाषा-शब्दों की व्याख्या भी इसमें दी है। इस निघंटु में अपना नया क्रम स्वीकार किया है, १३ से २१६ तक पर्याय श्लोकों में हैं, २१७ से ५७८ तक अर्ध श्लोकों में, ५८० से १४२४ तक पदों में, १४२५-१४७२ तक पदार्ध में नाम कहे हैं। १४७४ से १६४१ तक शब्द तीन प्रकार से कहे हैं; १—जिनमें 'अपि' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसमें एक अर्थ है (१४७४-१५०४ तक), २—एक शब्द जिसके दो अर्थ होते हैं (१५०५–१५८६ तक); ३—वे शब्द जिनके बहुत अर्थ होते हैं (१५८७–१६४१ तक)। सबसे अन्त में परिभाषा और मान दिया गया है (१६४२–१७५४)।

रत्नमाला की रचना बहुत संक्षिप्त, सूत्र रूप की है। पुस्तक में सर्वत्र अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है, इसलिए सरल है। पादशब्दावली में सम्पूर्ण पर्याय आ जाते हैं।

निघण्टुक्रम—इस समय प्राप्त होनेवाले निघंटु बहुत थोड़े हैं, इनमें मुख्य ये हैं—(१) धन्वन्तरीय निघंटु—इसे क्षीरस्वामी ने अमरकोश से प्राचीन माना है, मंख ने इसका उपयोग किया है (११५० में); (२) पर्यायरत्नमाला (७०० ईसवी); (३) चक्रपाणि दत्त की शब्दचन्द्रिका (१०४० ई०), (४) सुरेश्वर या सुरपाल का शब्दप्रदीप; (५) हेमचन्द्र का निघंटु शेष (१०८८-११७२), (५) मल्लिनाथ की अभिधानरत्नमाला या सदृश निघंटु, (७) मदनपाल का मदनविनोद (१३७४ ई०), (८) नरहरि का राजनिघंटु (१४०० ई०), (९) शिवदत्त का शिव-प्रकाश (१६७७), (१०) कैयदेव का पथ्यापथ्यविबोधक (१७१० में पाण्डुलिपि मिली); (११) हेमचन्द्र सेन की पर्यायमुक्तावली, (१२) वेंकटेश्वर का दक्षिणा-मूर्त्ति निघंटु, (१३) द्रव्यमुक्तावली, (१४) नीलकण्ठ मिश्र का पर्यायार्णव। पिछले चार की तिथि ज्ञात नहीं। १, ७, ८, १० और १३ में नामों के साथ चिकित्सा सम्बन्धी गुण भी कहे हैं। धन्वन्तरीय निघंटु को छोड़कर शेष सबमें रत्नमाला प्राचीन है।

शोढल का निघंटु—धन्वन्तरिनिघंटु के बाद यह महत्त्वपूर्ण निघंटु है। वैद्य शोढल का समय बारहवीं शताब्दी है। इसने धन्वन्तरिनिघंटु का अनुकरण किया है। इसने विस्तार से लिखा है और वनस्पतियों की पहचान भी बतलायी है।

उदाहरण के लिए वैद्य रूगनाथजी इन्द्रजी ने लिखा है कि धन्वन्तरिनिघटु में यास एक ही लिखा है, परन्तु शोढल ने दो यास लिखे है, एक दुरालभा और दूसरा जवासा। इसी प्रकार खदिर दो लिखे हैं, एक खदिर और दूसरा विट्खदिर (एक प्रकार का खैर जिसकी लकडी में से बदबू आती है, जलाने पर भी इस लडकी में से विशेष प्रकार की गन्ध आती है—हरिद्वार के पास जगल में मिलता है)। नीम भी दो लिखे हैं; एक सामान्य नीम और दूसरा बकायन।

सिद्धमंत्र—यह वैद्यवर केशव का बनाया हुआ ग्रन्थ है, जो कि बम्बई से १९८५ विक्रमी में श्री मुरारजी वैद्य ने प्रकाशित किया था। इसका क्रम सब निघटुओ से भिन्न है। इसमें 'वातघ्न, वातघ्न पित्तल, वातघ्न श्लेष्मल' आदि सत्तावन गुणभेद बताकर इनमें से प्रत्येक के द्रव्यो का उल्लेख इनके वर्गो में किया है। चरक मे एक द्रव्य को वातल कहा हो और सुश्रुत में उसे वातघ्न कहा हो तो उसका निर्णय इस ग्रन्थ के अनुसार करना चाहिए—ऐसा लेखक का कहना है। यही इस ग्रन्थ की विशेषता है। ग्रन्थ के ऊपर ग्रन्थकर्त्ता के पुत्र वोपदेव की टीका है। ग्रन्थकर्त्ता देवगिरि के यादव राजा महादेव और रामचन्द्र के मत्री हेमाद्रि की राजसभा का पण्डित था, इसलिए इसका समय १२७१ से १३०९ ईसवी है। केशव के पुत्र वोपदेव ने सौ श्लोको का चन्द्रकला नामक वैद्यक ग्रन्थ भी लिखा है, यह गुजराती लिपि में छप चुका है (आयुर्वेद का इतिहास, —श्री दुर्गाशकर भाई)।

मदनविनोद निघंटु—डाक्टर भण्डारकर ने मदनपाल के मदनविनोद निघटु के लिए १४वी शती (१३७५ ई०) में बनने का अनुमान किया है। डाक्टर राजेन्द्रलाल मिश्र और प० विश्वेश्वरनाथ रेऊ इस निघण्टु के कर्त्ता मदनपाल को कन्नौज के गहडवार वश का राजा मानते है (१०९८ से ११०९ ई० तक)। कन्नौज में गहडवार वश का राज्य ११०० से ११९४ ई० तक रहा। चन्द्र गहडवार का पोता गोविन्दचन्द्र (१११४ से ११५४ ई०), इसका पुत्र विजयचन्द्र और विजयचन्द्र का पुत्र जयचन्द्र हुआ। जयचन्द्र ११९४ में महमूद के साथ युद्ध करते समय मारा गया था (इतिहासप्रवेश)। इसलिए इस पर विश्वास नही किया जा सकता। मदनपाल के पूर्वजो के नाम कन्नौज के मदनपाल के नामो से भिन्न हैं। निघटुकार ने लिखा है कि मदनपाल काष्ठ का राजा था, काष्ठ प्रदेश यमुना के किनारे, दिल्ली के उत्तर में था। काष्ठ के टक्क वश के राजाओ में मदनपाल के कथनानुसार पहले रत्नपाल हुआ, फिर भरणपाल, हरिश्चन्द्र, साधारण, सहजपाल और उसका भाई मदनपाल हुआ। (मिश्रक वर्ग १३।९२–९९)

मदनपाल निघटु की रचना धन्वन्तरि निघटु से मिलती है, इसमें द्रव्यों की सख्या अधिक है। अन्तिम मिश्रकाध्याय मे दिनचर्या और ऋतुचर्या भी कही है। कृतान्न-वर्ग का भी उल्लेख है। मदनपाल ने अनेको निघटु देखे थे, इसी से कहा है—

केचित्सन्ति निघण्टवोऽतिलघवः केचिन्महान्तः परे
केचिद् दुर्गमनामकाः कतिपये भावाः स्वभावोच्छ्रिताः।
तस्मान्नातिलघुर्न चातिविपुलः ख्यातादिनामा सता
प्रीत्यै द्रव्यगुणान्वितोऽयमधुना ग्रन्थो मया रच्यते ॥

मदनपाल कृष्णभक्त थे। प्रत्येक वर्ग के प्रारम्भ मे मधुर पदो में कृष्ण की स्तुति की गयी है—

मृद् भक्षितानेन रुषेति वक्त्रे प्रसारिते वीक्ष्य ततो जगन्ति।
सविस्मयं सादरमीक्ष्यमाण यशोदया नन्दसुतं नमामि ॥
गोपालबालैः सह मल्लविद्याविनोददक्ष धृतकाकपक्षम्।
उपास्महे वाङ्मनसातिदूरं मह. पर नीलमचिन्तनीयम् ॥

निघटु का महत्त्व—अनामविन्मोहमुपैति वैद्यो न वेत्ति पश्यन्नपि भेषजानि।
क्रियाक्रमो भेषजमूलमेव तद् भेषजं चापि निघण्टुमूलम् ॥
(धन्वन्तरिनिघटु के प्रारम्भ के वचन)

राजनिघटु या अभिधानचिन्तामणि—इसके कर्त्ता नरहरि ने अपने को स्वत कश्मीर देशवासी कहा है (काश्मीरेण कपर्दिपादकमलद्वन्द्वार्चनोपार्जित)। नरहरि अमृतेशानन्द के शिष्य और शिवभक्त थे। ग्रन्थकर्त्ता ने स्वय कहा है कि धन्वन्तरि, मदन, हलायुध, विश्वप्रकाश, अमरकोश आदि कोशो को देखकर यह निघटुराज बनाया है—

धन्वन्तरीयमदनादिहलायुधादीन् विश्वप्रकाशामरकोशराजौ।
आलोक्य लोकविदिताश्च विचिन्त्य शब्दान्द्रव्याभिधानगुणसग्रह एष सृष्टः ॥

हलायुध का समय ११वी शताब्दी है, विश्वप्रकाश १२वी और मदनपाल १४वीं शती में बने हैं। इसलिए राजनिघटु १५वी शती से पहले नही बना होगा।

ग्रन्थकर्त्ता ने यद्यपि सब कोशो को देखा है, तथापि मुख्यत धन्वन्तरिनिघटु का अनुसरण किया है, दोनो के पाठ बहुत मिलते हैं।

राजनिघटु मे पहले निघटु की अपेक्षा द्रव्यो की सख्या अधिक है। वर्ग भी अधिक है, कुल २३ वर्ग हैं। इनमें पण्यवर्ग (बाजार में बिकनेवाले द्रव्यो का वर्ग), अनेकार्थ नाम वर्ग, रोगनामो का अर्थ आदि वैद्यो के लिए उपयोगी बहुत-से वर्ग हैं। परन्तु यह

सब नियमित नही, वनस्पतियो के नामो की अधिकता होने से इनके निर्णय में कठिनाई होती है। सम्भवत इस विषय में ग्रन्थकर्त्ता की रचनाशैली कारण है—जिसमें कर्नाटकी, महाराष्ट्री भाषा में प्रचलित नाम भी इसमें आ गये हैं। ये नाम सभवत सुनकर या पूछकर लिखे गये हैं, क्योकि लेखक स्वत कश्मीर का था—

> अप्रसिद्धाभिघं चात्र यदौषधमुदीरितम् ।
> तस्याभिधाविवेक स्यादेकार्थादिविनिर्णये ॥
> व्यक्तीकृताऽत्र कार्णाटकमहाराष्ट्रीयभाषया ।
> आन्ध्रलाटादिभाषास्तु ज्ञातव्यास्तद्द्वयाश्रयाः ॥

राजवल्लभ—राजवल्लभकृत द्रव्यगुणसग्रह है। प्रभातादि आह्निक कृत्यो की चर्चा इसके पाँच अध्यायो में कही गयी है। छठे अध्याय में औषधगुण अतिशय सक्षिप्त और स्थूल रूप में वतलाये है। इसके पठन से विशेष लाभ नही। वनौषधिदर्पणकार श्री विरजाचरण गुप्त की मान्यता है कि राजवल्लभ राढ देश का निवासी था (अर्थात् वगाली, क्योकि इस कृति में मछलियो के भेद लिखे गये है)। मास, विशेषत मछली खाने का रिवाज कान्यकुब्जो में भी है, वे भी इस भेद को जानते हैं। नाम भी कान्यकुब्जो-जैसा है, इसलिए इनका पूर्वी उत्तर प्रदेश में भी होना सम्भव है। वगालियो के विचार में यह एक धारणा मिलती है कि वे प्रत्येक अच्छे वैद्य की कृति को और उस वैद्य को अपने देश का सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

भावप्रकाशान्तर्गत द्रव्यगुणसंग्रह—भावप्रकाश में वर्णित द्रव्यगुणसग्रह चिकित्सा-दृष्टि से विशेष महत्त्व का न होने पर भी उसी का पठन-पाठन अधिक प्रचलित है। इसका कारण आज की शिक्षा है, जो पाठ्यक्रम में एक वार चढ गया वही आगे गतानुगतिक प्रथा से चलता है। इसमें कुछ नयी औषधियो का भी समावेश है (यथा चोपचीनी)। भावप्रकाश के समय इस देश में रसचिकित्सा का प्रचार हो गया था। इसी लिए रससिन्दूर, हिंगुल, रसकर्पूर आदि योग, फिटकरी, नवसार, खर्पर, मन -शिला आदि का शोधन विधिपूर्वक लिखा है। राजनिघटु की अपेक्षा यह उपादेय है।

भावप्रकाश में द्रव्यो का वर्गीकरण विशेष प्रकार से किया है। इस वर्गीकरण का क्या आधार है, इसका कुछ भी पता नही। भाव मिश्र सोलहवी शती में हुए हैं।

शिवकोश—इसके रचयिता तथा इसकी व्याख्या करनेवाले शिवदत्त मिश्र ही हैं। ग्रन्थकर्त्ता ने स्वय इसे लिखकर इसकी व्याख्या की है। शिवदत्त के पिता का नाम चतुर्भुज था। इनका सम्वन्ध कर्पूर वश से था। शिवदत्त के विषय में वहुत कम जान-

कारी है।[1] प्रो० गोडे ने इनका समय १६२५ से १७०० ई० के लगभग माना है, ये भट्टोजी दीक्षित के वाद के हैं। कर्पूर वश, जिसका कि शिवदत्त से सम्वन्ध है, वह आयुर्वेदिक चिकित्सको का वश था। शिवदत्त ने आयुर्वेद अपने पिता से सीखा था। चतुर्भुज का नाम रसकल्पधर्म तथा रसहृदय तन्त्र की व्याख्या से सम्वद्ध है। शिवदत्त के पुत्र कृष्णदत्त ने भी त्रिमल्ल लिखित द्रव्यगुण शतश्लोकी की व्याख्या की थी। शिवदत्त ने अपनी व्याख्या मे लगभग १०७ पुस्तको का उल्लेख किया है, इससे स्पष्ट है कि यह अच्छा विद्वान् था। लगभग १२ ग्रन्थकर्त्ताओं का नाम लिखा है। यह केवल वैद्य ही नही था, अपितु सस्कृत साहित्य का भी विद्वान् था,स्थान-स्थान पर कालिदास, भवभूति एव दूसरे कवियो के उद्धरण दिये गये है। प्रोफेसर गोडे ने शिवदत्त को भी वनारस के उन पण्डितो की सूची में गिना है जिन्होने शाहजहाँ से तीर्थयात्रा-कर मुक्त करने की प्रार्थना की थी। इससे स्पष्ट है कि इस समय वह बनारस मे रहता था।

शिवकोश की रचना लेखक ने नये क्रम से की है, यह क्रम हेमचन्द्र ने अपनाया था। साथ ही निघटुओ के पूर्व-प्रचलित वर्गों का उल्लेख नही किया। इसको अकारादि क्रम के साथ मुख्य शव्दो के भाषा सम्वन्धी विचार से लिखा गया था—

त्रिष्विति पद त्रिलिङ्गचा मिथुने तु पद द्वयोरिद वोध्यम्।
शेषे निषिद्धलिङ्ग त्वन्ताथादीनपूर्वक भजत. ॥३॥
नानार्थ. प्रथमान्तोऽत्र सर्वत्रादौ प्रकीर्त्तितः।
सप्तम्यन्ताभिधेयेषु वर्त्तमान. सुनिश्चित. ॥४॥
प्राङ नानार्थान्न तल्लिङ्ग द्वयोर्द्वन्द्वेन चैकता।
शब्दावृत्तिर्न लिङ्गैक्ये सप्तमी न विशेषणे ॥५॥
लिङ्गे रूपादपि व्यक्त लिपिभ्रान्तिछिद क्वचित्।
स्त्रिया नपुंसके पुसीत्याद्यं पुनरिहोच्यते ॥६॥
एकद्वित्रिचतु पञ्चषड्वर्णानुक्रमात्कृतः।
स्वरकाद्यादिकाद्यन्तवर्गैर्नानार्थसग्रहः ॥७॥

शिवकोश वृक्ष, वनस्पति, लता-गुल्म आदि तक ही सीमित है, इसमे भी जो वस्तुएँ चिकित्सा में काम आती हैं, उन्ही को लिखा है। इसमे २८६० मुख्य वनस्पतियाँ है और लगभग ४८६० शव्द इनका अर्थ स्पष्ट करने के लिए आये है। इस दृष्टि से यह

---

१ शिवकोश १९५२ में पूना से प्रकाशित हुआ है। प्रोफेसर गोडे ने 'कर्पूरीय शिवदत्त और इसका आयुर्वेदीय कार्य सम्वन्धी लेख' पूना की 'प्राच्यविद्या पत्रिका', भाग ७, नम्बर १-२, पृष्ठ ६६-७० में लिखा है। यह जानकारी उसी से ली गयी है।

वन्वन्तरीय और राजनिघण्टु दोनों से अधिक विस्तृत है। पक्षियों, पशुओं, मच्छर आदि (Insects) पतगों, सरीसृपों का भी उल्लेख इसमें हुआ है। ऋतु के अनुसार भी कई वनस्पतियों के नाम मिलते हैं, यथा वार्षिकी, वासन्ती, ग्रैष्मिकी, वर्षाभू, शारद, शिशिर। जीवन से सम्वन्धित नामों में—जाति-वर्ण के नाम पर भी वनस्पतियों का उल्लेख है, यथा ब्राह्मणी, भिक्षुक, ब्रह्मचारिणी, तपस्विनी, वानप्रस्थ, प्रव्रजिता आदि। राजा एव राजसभा के नाम पर नृप, राजपत्नी, राजादन, प्रजाहित, लेख्यपत्र, राष्ट्रीक, वीर आदि, समाज के नामों पर नट, कुटन्नट, नर्त्तक, नर्त्तकी, नृत्यकुण्डा, वारुणी, सुरा, कामुक, ताम्वूल, धूर्त्त, कितव आदि, धार्मिक मान्यताओं के ऊपर रक्षोघ्न, भूतकेशी, भूतवृक्ष आदि।

कर्त्ता की व्याख्या कोश की अपेक्षा अधिक महत्त्व की है। व्याख्या में दूसरे वचनों का उल्लेख करके अपने वचन को पूर्णत पुष्ट किया गया है।

शिवकोश में इस वात की भी जानकारी है कि कुछ ओषधियाँ कहाँ से आती थी, इने स्वतत्र रूप में या उद्धरणों से स्पष्ट किया है। हिमालय वनस्पतियों की प्राप्ति का मुख्य साधन जरूर रहा, परन्तु पीछे भारत के कोने-कोने से तथा वाहर से भी वनस्पतियाँ आती थी, उदाहरण के लिए—

देश का नाम	वस्तु का नाम
अवंति	अवन्तिसोम, धान्याम्ल
अनूप (हैहेय, माहिष्मती)	अर्जुन, पार्थ
असुरदेश (असूर्या)	असुरलवण, असुरी
उत्तरापथ (कश्मीर-नेपाल)	नालिका, नति, विद्रुमलता
कलिंग (उडीसा)	लागल, कुटज, राजकर्कटी
कामरूप	अम्लिकाकन्द
कश्मीर	श्रीपर्णी गम्भारी, कट्फल, हीरा, अतिविषा, पुष्करमूल, कुकुम, कुष्ठ,
कुरु	कुरविन्द, हिंगुल, काच लवण
कुरुक्षेत्र	विदारी-शृगालिका
कैरान (दक्षिण विन्ध्याचल तापी घाटीतक)	स्वर्णमाक्षिक
कोंकण (दमन से गोवा तक)	अर्जुन-श्वेतवाही
क्षीराब्धि (अरव समुद्र और फारस की खाडी)	गन्धक-लेलीतक समुद्र लवण

देश का नाम	वस्तु का नाम
गगाघाटी	गाङ्गी
पर्वतीय श्रेणी (गिरिराज)	टिट्टुक, अरलु, धातु—स्वर्ण-रौप्य आदि
गुर्जर	मेषशृंगी
गौड (वगाल)	रक्तवास्तुक, वाणपुष्प
चीन	कृतकर्पूर, चीनक (चीना धान्य), दालचीनी, शीतल चीनी
ताप्ती तीर	स्वर्णमाक्षिक, मधुमाक्षिक
तार्क्ष्य शैल (त्रिककुद पर्वत)	शिलापुष्प
तुरुष्क (पूर्वी तुर्की)	सिल्ह (पिण्डित), मुखमण्डनिका
दरद (दरदिस्तान)	पारद, हिंगुल
दाक्षिणात्य	स्पृक्का, मलयावती, लज्जा
द्रविड (तामिल)	सूक्ष्मैला, कर्चूर
नेपाल	ताम्र, मन शिला, निवारी
पवनदेश-शकदेश (मध्य एशिया का तुर्की स्थान)	सरल, वोल, कुन्दरू श्रीवास
पर्शिया (ईरान)	यवानी, हिंगु
पश्चिमार्णव	तुवरक
पाश्चात्य	गन्धमार्जारी, अम्वष्ठा, विपाणिका
प्राच्य	निशा, आर्द्रक
वर्वर (अनार्य प्रदेश)	कवरी, भार्गी, तैलपर्णी
वल्ख (वैक्ट्रीया-कावुल-खुरासान-वुखारा)	कुकुम, हीग (रामठ)
भोट (तिव्वत)	ताम्वूलवल्ली, पीपलमूल, वराही
मरु (मारवाड)	वला, महावला, सहदेवी
मरुकन्दिशिका (सभवत मरकन्दर)	टकण (धातुद्रव), क्षार
मलय (दक्षिण भारत)	चन्दन
म्लेच्छ (मुस्लिम देश, भारत के वाहर)	पलाण्डु, रसोन, मुख-मण्डन, स्वर्णमाक्षिक, गोधूमक, मरिच

देश का नाम	वस्तु का नाम
यवन	ऊपर कही वस्तुएँ
वृन्दावन	वीरतरु, मधुस्रव
विन्ध्य	पाषाणभेद
वृन्दारण्य या वृन्दावन	शेफाली, वरुण
विदेह (तिरहुत और मिथिला)	मागधी, पिप्पली, सोंठ
शकस्थान (कैस्पियन समुद्र के उत्तर में)	श्रीवास, तगर, नख
सावरदेश (विन्ध्य पर्वत का क्षेत्र)	अक्षिभैषज्य, वाराही कन्द
शाकम्भरी देश (साम्भर)	रोमक-शाकम्भरी लवण
शूकरक्षेत्र या वराहक्षेत्र (बुलन्दशहर के पास)	वराही कन्द
श्वेत द्वीप (सम्भवत आरमेनिया)	गन्धक
सर्वदेश	त्रपुस (आठ प्रकार का खरबूजा)
सौराष्ट्र (काठियावाड)	ताम्बूलवल्ली, तुवरी, सुजाता–हेम–शोधनी, पाशुक्षार
हिमालय क्षेत्र––	जम्बीरकन्द, आम्रात, ककुष्ठ, शिलाजतु, हेमक्षीरी, मुरा

वैदिक निघंटु––वेद में २६० वनस्पतियों का उल्लेख है, इसमें १३० वनस्पतियों का तो आयुर्वेद की वनस्पतियों के नाम से पूर्ण समन्वय है। आयुर्वेद में वर्णित ये ही वनस्पतियाँ हैं। सुश्रुत में वनस्पतियो की सख्या ३८५ है। चरक मे कहने के लिए ५०० हैं परन्तु गणना मे ये कुछ कम हैं। कौटिल्य-अर्थशास्त्र मे वनस्पतियों की सख्या ३३० है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र वेद और साहित्यिक आयुर्वेद की कडी है। हार्नले ने बावर पाण्डुलिपि में वनस्पति सख्या ४०० कही है, डाक्टर फिलोजैंट ने 'फ्रैकमन्ड डी टैक्सट कोटूचीन' में वनस्पतियो की सख्या १५० लिखी है। पर्यायो को छोडकर धन्वन्तरीय निघटु में ३२४ आयुर्वेदिक वनस्पतियों का उल्लेख है। आयुर्वेदिक द्रव्यगुण में काम करनेवाली प्राथमिक वनस्पतियों की गणना ६६६ से अधिक नही।

वेद में वृक्ष और वनस्पति सम्बन्धी पर्याप्त शब्द आते हैं, उदाहरण के लिए––वृक्ष-वनस्पति सात श्रेणियो मे विभक्त हैं, १ प्रस्तरणी–फैलनेवाली, २ स्तम्भनी, ३ एकशुगी, ४ प्रतानवती, ५ अशुमती, ६ कण्डिनी, ७ विशाखा, जिसकी शाखा न हो। इनका और भी विभाग किया है, यथा–फलिनी, अफला, अपुष्पा,

पुष्पिनी, प्रसूवरी। वृक्ष के विभिन्न अगो के नाम है—मूल, तूल, काण्ड, पुष्प, फल, त्वक्, वल्कल, तुप, निर्यास आदि। वीरुध, ओपधि, वनस्पति और वृक्ष मे भेद किया गया है। सक्षेप में ऋग्वेद के ओषधिसूक्त (१०।९७) मे वनस्पतियो की उत्पत्ति, कार्य और चिकित्सा मे उपयोग का उल्लेख मिल जाता है।[1]

वेदो में आहार द्रव्यो के नाम, अन्नो के नाम, घास, वृक्ष, खाने योग्य वस्तु, नरसर (Reeds) के भेद और नामो का उल्लेख मिलता है।[2]

वैदिक वनस्पति नामों की असीरियन नामो से तुलना—विद्वान् आर कैम्पवेल टामसन ने अपनी पुस्तक डिक्शनरी ऑव् असेरियन बौटनी (१९४९) मे २५० वनस्पतियो का उल्लेख किया है। इनमें से लगभग एक दर्जन नाम सस्कृत नामो से मिलते है। असीरिया मे चिकित्सा पद्धति वहुत प्राचीन (३००० वर्ष ईसा पूर्व की) है, कम से कम ईसा से ७ वी शताब्दी पूर्व इसकी अन्तिम सीमा हो सकती है। असीरिया का राजा असुरवनीपाल (६८१ से ६६८ ई० पूर्व) था। इसका जो पुस्तकालय खुदाई में प्राप्त हुआ था उसमें २२,००० मिट्टी की प्लेटें थी। इसमें अधिक पुस्तकें चिकित्सा से सम्वन्धित है, जो कि प्राचीन पुस्तको से अनूदित थी। इनमे लगभग २५० मे से ८० नाम वृक्षो के ऐसे थे, जोकि भारतीय वृक्षो के नामो से मिलते थे। उदाहरण के लिए अलाबु (अथर्व ८ १०।२९-३०, मैत्रेय सहिता का अलापु ४।२।१३) शब्द असीरियन में अलापु है। इसी प्रकार असीरियन का रूबु या रुबुक है, जो कि सस्कृत नाम एरण्ड से मिलता है, जिसके लिए 'वर्धमान' पर्याय है। रूबु का अर्थ ही वढना है (एरण्ड का नाम सस्कृत मे रुवु है)। इसी प्रकार का एक नाम कुस्तुम्बुरू (धनिया) है। सुमेरियन भापा में वुरु का अर्थ वृक्ष है, कुस्तु का अर्थ अन्न है, इसलिए कुस्तुम्वुरू का अर्थ अनाज का वृक्ष है, (तुलना कीजिए धाना या धान्यक सस्कृत नाम से, मराठी मे कोथमरी)। सुमेरियन का सामकुगु या सामगगु सस्कृत का कगू है। सुमेरियन में केले के लिए कलवी, सस्कृत मे कदली, आन्ना घास की जड के लिए नरद, सस्कृत में नरद या नलद, सुमेरियन का सिन्दु, जो कि मकान में लकडी के काम मे आता था, सस्कृत का स्यन्दन तरु है, सलिया सुमेरियन शब्द सस्कृत के शालि (चावल) शब्द से मिलता है। सुमेरियन का ट्री और सस्कृत का तरु प्राय एक ही है। सुमेरियन का अनिमेद सस्कृत

---

१. इस सम्वन्ध में द्रष्टव्य—डाक्टर फिलोजत (Dr. Filliozat) का La Doctrine-classique—पृष्ठ १०९.

२. शिवकोश की भूमिका इस सम्वन्ध में महत्त्वपूर्ण है।

का इरिमेद है। सुमेरियन और संस्कृत में नीम एक ही है। सुमेरियन गव्वर संस्कृत में कर्पूर है।[1]

जौली ने संस्कृत नाम पिप्पली, पिप्पलीमूल, कुष्ठ, शृंगवेर, कर्दम, त्वक्, वच, गुग्गुल, मुस्तक, तिल, शर्करा का ग्रीक अनुवाद देखकर, भारतीय द्रव्यगुण का मूल विकास ईसा की पहली शताब्दी में माना है (इन्डियन मेडिसिन-पृष्ठ २७-२८ केमीकर का अनुवाद)।

कैयदेवनिघटु—यह निघटु लाहौर से प्रकाशित हुआ था, इसका विशेष प्रचार नहीं। इसको 'पथ्यापथ्य ग्रन्थ' भी कहते है।

इसके अतिरिक्त चन्द्रनन्दन-कृत गणनिघटु, शेषराजनिघटु, मुद्गल-कृत द्रव्यरत्नाकरनिघटु, विश्वनाथ सेन कृत पथ्यापथ्यनिघटु, त्रिमल्लभट्ट कृत द्रव्यगुणशतश्लोकी आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

राजनिघटु के पश्चात् प्रसिद्ध बडा निघटु भावप्रकाश ही है। इसके बाद १८८१ ई० (शक १८०३) में अहमदनगर-निवासी माणिक्य भट्ट के पुत्र वैद्य मोरेश्वर का बनाया वैद्यामृत तथा काशी के वैद्य बलराम का लिखा आतकतिमिरभास्कर ग्रन्थ हैं। आतकतिमिरभास्कर पिछले सौ वर्ष का बना हुआ होने से आधुनिक है।

क्षेमकुतूहल—वैद्यवर श्री क्षेम शर्मा का बनाया हुआ है, बम्बई से श्री यादवजी त्रिकमजी ने आयुर्वेद ग्रन्थमाला में इसे प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ १६०५ विक्रमी सवत् में प्रकट हुआ है, ऐसा ग्रन्थकर्ता नें स्वय अन्त में कहा है।

इस ग्रन्थ में कुल बारह अध्याय (उत्सव) हैं। इन उत्सवो में द्रव्यपाक की परिभाषा, भोजन गृह, पकाने के पात्र, पाकशाला के उपयोगी साधन, सविष अन्न की परीक्षा, राजाओ को कैसे वैद्य को रसोईघर या पाकशाला का निरीक्षक बनाना चाहिए, वैद्य को भोजन के सम्बन्ध में राजा की देख-रेख किस प्रकार करनी चाहिए, रसोइये की प्रशसा, ऋतुभेद तथा इससे सम्बन्धित सामान्य बातें, दिनचर्या, भोजन प्रकार, भोजन पर निगाह न पडे इसकी देख-रेख, भिन्न-भिन्न घी के गुण, खिचडी, कचौडी, मूली, पटोल, आर्द्रक आदि के गुण, भिन्न-भिन्न मास पकाने की विधि, मछली, भोज्य, शाक के प्रकार, खाने की वस्तु बिगडे नही इस प्रकार सुरक्षित रखने की विधि, हलुवा, पोली, घेवर, लड्डू, दूध की बनी वस्तुएँ, जलेबी, भूख लगानेवाली वस्तुएँ आदि बहुत-सी बनावटो का वर्णन है।

क्षेमशर्मा ने अपने वश का वर्णन ग्रन्थ के आरम्भ में किया है। इसके अनुसार इनके प्रपितामह ने दिल्ली-शकेश्वर सुल्तान की सेवा करके ग्यारह गाँव प्राप्त किये

थे। इनकी माता पति के पीछे सती हुई थी। क्षेमशर्मा ने स्वयं विक्रमसेन राजा की सेवा करके प्राप्त किये गाँव में एक बावली बनवायी थी। विक्रमसेन कहाँ का राजा था, यह कुछ पता नहीं।

क्षेमशर्मा ने कुछ ग्रन्थ देखने का उल्लेख किया है, उनमे भीम और रवि के कौन से ग्रन्थ थे, इसका कुछ पता नही चलता। इसमे नलपाक का नाम नही लिखा (नलपाक दर्पण ग्रन्थ काशी चौखम्भा संस्कृत सीरीज मे प्रकाशित हुआ है)। इसके बाद इन्होने 'भोजनकुतूहल' नाम का भी एक ग्रन्थ लिखा है। तदनन्तर लिखा गया सिद्धभैषज्य-मणिमाला ग्रन्थ आधुनिक काल का है, इसमें वर्तमान काल की प्रचलित बनावटे हैं।

महाभारत के नलोपाख्यान मे नल की पाककुशलता का उल्लेख है, उसी के कारण नल के नाम से बहुत-से पाकशास्त्र के ग्रन्थ बने हैं।[1] इसी प्रकार भीम के भोजन की मात्रा अधिक थी, इसलिए उसके नाम पर भी ग्रन्थ बन गया।

प्राचीन काल में भोजन की विविध बनावटें होती थी, यह बात चरक के कृतान्नवर्ग से सरलतापूर्वक समझ में आ जाती है। पीछे धन्वन्तरीय निघटु आदि मे शास्त्रीय वर्गीकरण के कारण इसको छोड दिया गया। परन्तु बहुत समय से राजाओ के स्वास्थ्य और भोजन पर विशेष ध्यान रखा जाता था। सुश्रुत में और कौटिल्य अर्थशास्त्र मे इन सम्बन्ध मे पर्याप्त सूचनाएँ हैं। अष्टांगसंग्रह मे इस विषय को विस्तार से कहा गया है, उनमें राजाओ के सम्बन्ध में लिखा है कि "ऐश्वर्यशाली, धनी एवं विशेष कर राजाओं के शत्रु, मित्रो की अपेक्षा अधिक होते है। इसलिए इनके द्वारा प्रयुक्त विष को समीपवर्ती लोग खान-पान मे दे देते हैं। स्त्रियाँ शत्रुओ के गुप्तचरो द्वारा प्रयुक्त विष को, वस्तु को सौभाग्य के लोभ से अथवा अज्ञान के कारण दे देती हैं। इसलिए राजा को चाहिए कि कुलीन, स्नेही, विद्वान्, आस्तिक, आर्य, चतुर, दक्षिण, निश्छल, पवित्र, नम्र, आलस्यरहित, व्यसनरहित, अभिमान शून्य, क्रोधरहित, साहसिक कामो को न करनेवाले, वाक्य के अर्थ को समझने में कुशल, आयुर्वेद के अष्टाग में निपुण, शास्त्रानुसार आयुर्वेद में योग-क्षेम जिसने प्राप्त किया हो, जिसके पास सदा अगद-विष प्रतिकार औषध तैयार रहे, ऐसे नव प्रकार के सात्म्य को समझनेवाले प्राणाचार्य को नियुक्त करे।

फलत रसोई तथा दूसरी बातो का (अभ्यंग, परिषेक, अनुलेपन, वस्त्र, माला आदि का) उत्तरदातृत्व वैद्य को दिया जाता था। इस सम्बन्ध की जानकारी प्राचीन ग्रन्थों मे मिलती है। भोजन की विविध बनावटो की चर्चा रोगी के हित की दृष्टि से

---

१. महाभारत—नलोपाख्यान पर्व (वनपर्व)

की जाती है। क्योंकि एक ही वस्तु पाक-क्रिया से गुणों में परिवर्तन होने पर रोगी के लिए हितकारी-अहितकारी हो सकती है। इसलिए कृतान्नवर्ग का गुण-दोष रोगी के पथ्य-अपथ्य विचार से किया गया है। चक्रपाणिदत्त का द्रव्यगुणसंग्रह तथा कैयदेव का पथ्यापथ्यनिघटु भी इसी के लिए हैं।

सम्पूर्ण निघटु रचना को देखने से इतना तो स्पष्ट है कि धन्वन्तरीय निघटु में जो मार्ग अपनाया गया था, इसके पीछे होनेवाले दूसरे निघटु-लेखकों ने उसी को अपनाया। इसमें कुछ भी परिवर्तन या सुधार मुश्किल से हुआ है। पिछले लेखकों ने द्रव्यों के नामों का संग्रह करना ही अपना लक्ष्य समझा। वैद्यामृत के कर्त्ता ने ईसवगोल का भी उल्लेख किया है।

परन्तु द्रव्यों का परिज्ञान-विषयक कोई भी यत्न किसी निघटुकर्त्ता ने नहीं किया। सम्भवतः इसका कारण यही माना गया कि यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान पर ही निर्भर है, इसको लिपिबद्ध नहीं कर सकते। गुड़ की मिठास जिह्वागम्य ही है, इसे वाणी से या लिखकर नहीं बताया जा सकता। इसी प्रकार इस ज्ञान को समझा गया होगा। शिवदत्त-जैसे किसी एक निघटु में परिचय कहीं पर मिल जाता है, परन्तु यह बहुत अपर्याप्त है। निघटुओं में दी हुई संज्ञाएँ (नाम) तथा टीकाकारों के दिये हुए यत्र-तत्रचित् परिचय से आजकल के सशोधकों के सामने एक विचित्र उलझन आती है। क्योंकि ये संज्ञाएँ और परिचय एक नहीं, फिर एक ही नाम बहुत सी वनस्पतियों के लिए बरता गया है। साथ ही इनमें एक लाभ भी है, कि कई बार संज्ञा से वस्तु के आयात तथा दूसरी बातों का भी पता चल जाता है (यथा—काली मिर्च के लिए १—'खर्जूर्या मारिच चायो यवनेष्ट च सीमके', २—'गुड फाणी गुडा हारहूराया वज्रकण्टके' (१८६)— इसमें हारहूरा शब्द द्राक्षा के लिए आया है, क्योंकि यह हारहूर से आती थी)। अभी तक बहुत से द्रव्य सन्दिग्ध हैं।

द्रव्यों के गुण-धर्म के विषय में भी इन निघटुओं से पूर्ण, सच्ची जानकारी नहीं मिलती, इस त्रुटि पर भी इस वर्णनशैली में पीछे से कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। सम्भवतः गुणकथन में वैयक्तिक अनुभव या सुना हुआ ज्ञान ही आधार रहा होगा, परन्तु यह इतना कम है कि दूसरे वर्णन के अन्दर छिप जाता है। साथ ही बाहर से आये हुए नये द्रव्यों के वर्णन में अनुभव की झाँकी मिल जाती है, जैसे चोपचीनी रक्तशोधक है, इसी लिए उपदंश चिकित्सा में, भावप्रकाश में लिखी गयी है।

एक प्रकार से प्राचीन निघटु आधुनिक ज्ञान के सामने बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं ठहरते, क्योंकि वनस्पतियों का परिचय इनसे ठीक ज्ञात नहीं होता। इनका उपयोग

नाम-संज्ञा ज्ञान तक ही सीमित है, इसमें भी एक ही नाम कई द्रव्यों के लिए होने से असुविधा होती है।

भैषज्यकल्पना

कल्पना का अर्थ योजना है (कल्पन योजनमित्यर्थ—अरुणदत्त, कल्पन्मुपयोगार्थ प्रकल्पन संस्करणमिति-चक्रपाणि)। औषध रोगी को किस योजना से दी जाय इसके ज्ञान का नाम 'भैषज्यकल्पना' है। कल्पना का लाभ—

अल्पस्यापि महार्थत्वं प्रभूतस्याल्पकर्मताम्।
कुर्यात् संश्लेषविश्लेषकालसंस्कारयुक्तिभिः॥ (हृदय, कल्प २।६१)

थोडी औषध भी बहुत काम कर सकती है, और मात्रा में अधिक वस्तु भी थोडा काम करती है। यह काम संयोग, विघटन, काल और संस्कार से होता है। इसके लिए कल्पना-ज्ञान पृथक् रूप में पीछे (लगभग चौथी या पाँचवी शती में) उन्नत हुआ। अष्टांगसंग्रह में इस सम्बन्ध के वचन एक स्थान पर संगृहीत हैं। चूर्ण का प्रचार इनसे पूर्व भी था। परन्तु चूर्णकल्पना का उल्लेख सबसे प्रथम संग्रह में आया है।[1]

संग्रह के पीछे भैषज्यकल्पना की विस्तृत जानकारी शार्ङ्गधरसंहिता में मिलती है। शार्ङ्गधर के सिवाय दूसरे ग्रन्थों में एक स्थान पर इस प्रकार की विशेष जानकारी नहीं है। फिर भी कल्पना का सूत्र चरक, सुश्रुत में यत्र-तत्र मिलता है। चरक के कल्पस्थान में वमन-विरेचन द्रव्यों की नाना प्रकार की कल्पनाएँ आयी हैं। ये कल्पनाएँ रोगी की प्रकृति-दोष-काल-बल का विचार करके लिखी हैं। इसी से जीवक वैद्य द्वारा भगवान् बुद्ध को पुष्प सुँघाकर तीस विरेचन देने का उल्लेख महावग्ग में मिलता है।

कल्पना के अन्दर औषध और भूमि का विचार करने के साथ-साथ इनको सुरक्षित रखने, इनके मान-परिमाण का भी उल्लेख है। पाणिनि के अनुसार मान-परिभाषा में बाटों का प्रारम्भ नन्द से हुआ है (नन्दोपक्रमाणि मानानि (२।४।२१), इनका उदाहरण नन्दोपक्रमण द्रोण)। पाणिनिसूत्रों में कंस (५।१।२५) शूर्प (५।१।२६), खारी (५।१।३३) शब्द आये हैं—इससे कंसक, शौर्पिक, खारिक रूप बनाये गये हैं। एवं 'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः' (७।३।१७) में दो निष्कों से खरीदी वस्तु को

---

१. शुष्कपिष्ट सूक्ष्मताान्तवपटच्युतश्चूर्ण। तस्य समस्तद्रव्यापरित्यागादाप्लुतोपयोगाच्च कल्कादभेदः—संग्रह, कल्प अ० ८

द्वैनिष्कम् कहा है, 'खार्या प्राचाम्' (५।४।१००) में खारी मान दिया है। 'शूर्पाद-न्यतरस्याम्' (५।१।२६) में पतञ्जलि ने द्विशूर्प, त्रिशूर्प उदाहरण दिये हैं। चरक के अनुसार दो द्रोण का एक शूर्प होता था, दो शूर्प की एक गोणी (लगभग ढाई मन तोल) होती थी।

पाणिनिसूत्रों में कषाय और अभिषव शब्द भी आते हैं—पाणिनि के अनुसार कषाय कई प्रकार के होते थे। आयुर्वेद में कषाय शब्द क्वाथ अर्थ में ही सीमित नहीं (कषायसंज्ञेय भेषजत्वेन व्याप्रियमाणेषु रसेष्वाचार्येण निवेशिता—चक्रपाणि)।

अभिषव—आसुति या अभिषव के स्थान में मद्य बनाने के लिए विविध औष-धियों को पहले उठाया जाता (सधान किया जाता) था (फर्मेन्टेशन किया जाता था)। जब वे पूरी तरह उठ (सधानित हो) जाती थी तब उनको आसाव्य (३।१। १२६) कहते थे। अर्थात् जो ऐसी स्थिति में आ गयी हो कि उनका अभिषव या चुआना अत्यन्त आवश्यक हो। चुआने के बाद जो फोक बचता था उसे फेंकने योग्य कहते थे (३।१।११७)। कौटिल्य ने लिखा है कि चुआने के बाद बचे हुए सुराकिण्व या फोक को हटाने के लिए स्त्री या बच्चों को लगाना चाहिए (२।३९)। मधुपान से सम्बन्धित भाषा के एक विशेष प्रयोग का पाणिनि ने (१।४।६६) उल्लेख किया है—'कणे हत्य पिबति'—जिसका अर्थ है तलछट तक पी गया फिर भी मन नहीं भरा (श्रद्धाप्रतिघात)।

मद्य चुआने की भट्ठी आसुति (५।२।११२), उसका स्वामी आसुतीवल, भभका शुण्डिक (४।३।७६) तथा भभके से मद्य खींचनेवाला व्यक्ति शौण्डिक (४।३।७६) कहलाता था। मैरेय और कापिशायन ये दो मद्य के नाम पाणिनिकाल में मिलते हैं। बुद्ध के समय में मैरेय पीने का प्रचार बहुत बढ गया था। बुद्ध को विशेष रूप में इसे बन्द करने की आवश्यकता हुई (मद्यमैरेयसुरास्थानाद् विरमामि)। 'अङ्गानि मैरेये' (६।२।७०) से ज्ञात होता है कि पाणिनि को यह पता था कि मैरेय किन-किन द्रव्यों से बनता है। चरक में लिखा है कि धान्य, फल, मूलसार, पुष्प, काण्ड, पत्र और वल्कल से मद्य बनता है (सू अ २५।४९)। कौटिल्य ने मैरेय, प्रसन्ना, आसव, अरिष्ट, मेदक और मधु छ प्रकार की सुरा कही है।

इस प्रकार से पाणिनि-काल में भैषज्य कल्पना का उल्लेख स्पष्ट मिलता है। चरक-सुश्रुत में भूमि के सम्बन्ध में, औषध लाने के सम्बन्ध में तथा इनके बनाने के सबन्ध में जानकारी दी है। यथा—

भूमि तीन प्रकार की है, जागल, साधारण और आनूप। इनमें जागल या साधारण

देश वह है जहाँ ठीक समय पर शिशिर (ठड), धूप, वायु, पानी रहता हो, जिस समान, पवित्र भूमि के समीप मे जलाशय हो, श्मशान, चैत्य, देवस्थान—देवताओ के होम-स्थान, सभास्थान (राजा के निवास), गड्ढा-वल्मीक-ऊपर (वजर भूमि) से हटी हुई,, कुशा-रोहिष घास जहाँ पर अधिक हो, मिट्टी चिकनी, पीली-मधुर-सुगन्धित हो, जिस भूमि में हल न चला हो, जहाँ पर औषधि के समीप मे दूसरे बड़े वृक्ष न हो, ऐसी भूमि मे उत्पन्न औषधियाँ उत्तम होती हैं (सग्रह—क अ १)।

इसी से जनपदोध्वस अध्याय मे अत्रिपुत्र ने अग्निवेश से कहा कि 'भूमि के विरस होने से पूर्व ही औषधियो का सग्रह कर लेना चाहिए (चरक वि अ ३।४)। भूमि की परीक्षा पृथ्वी-अप-तेज-वायु और आकाश तत्त्वो की दृष्टि से भी बतायी है।

भेषजपरीक्षा—जो औषधियाँ समय पर उत्पन्न हुई हो, जिनके रस-वीर्य आदि पूर्ण हो गये हो, जो समय-धूप-अग्नि-जल-वायु-शस्त्र-जन्तु (कीडे आदि से) से नष्ट नही हो, जिनकी गन्ध-वर्ण-रस-स्पर्श-प्रभाव ठीक बने हो, जडें गहरी हो, जो पूर्व या उत्तर दिशा मे स्थित हो (भारतवर्ष में इन दो दिशाओ मे सूर्य का प्रकाश 'उष्णिमा' ठीक आती है), उनका सग्रह करे। इन वनस्पतियो के शाखा-पत्ते जो देर के उत्पन्न न हुए हो उनका वर्षा और वसन्त में सग्रह करना चाहिए। ग्रीष्म मे जडो को या शिशिर मे जब पुराने पत्ते गिरकर नये पत्ते निकल आते हो तब मूलो का सग्रह करना चाहिए। छाल, कन्द और दूध शरद काल मे, सार हेमन्त में और पुष्प तथा फल समय के अनुसार सग्रह करने चाहिए।

कुछ आचार्यो का मत है कि सौम्य औषधियो का सौम्य ऋतुओ मे (शरद्-हेमन्त-शिशिर मे) और आग्नेय औषधियो का आग्नेय ऋतुओ में (वसन्त, ग्रीष्म में) सगह करना चाहिए।

औषधिसंग्रह की सूचना—मगल आचार, कल्याण बरताव, व्यवहार पवित्र, श्वेत वस्त्र धारण किये, देवता, अश्विनी, गौ, ब्राह्मण की पूजा करके, उपवास रखकर पूर्व या उत्तर दिशा की वनस्पति का सगह करे। इसको लाकर योग्य गुण-शाली पात्रो मे (जैसे—शृगे निदध्याद् मधुसयुतानि—अगद के विषय मे) रखे। इनको सग्रह करने के मकानो के द्वार उत्तर मुख होने चाहिए। वहाँ पर सीधी वायु न आये, परन्तु वायु का आना-जाना होता रहे। सदा पुष्प-उपहार-बलिकर्म (सफाई-धूप आदि देना) करे, वहाँ पर अग्नि-जल-सील-धूम-धूली, चूहे, पशु न जा सके। इनको भली प्रकार ढाप देना चाहिए। इनको छीको मे लटकाकर रखना चाहिए। (सग्रह, सू अ ३९)

प्रदेह उष्ण या शीत, घट्ट-सूखनेवाला होता है। आलेप दोनों के बीच का होता है (सुश्रुत सू अ १८।६)।

लेप सम्बन्धी नियम—चन्दन का घट्टलेप भी शरीर में दाह करता है और अगरु का पतला लेप भी शीतलता देता है। क्योंकि घट्टलेप से शरीर की उष्णिमा रुक जाती है (चरक चि अ ३९)। कभी भी पहले वरते हुए लेप को फिर से नहीं लगाना चाहिए। एक रात का बासी लेप या लेप के ऊपर दूसरा लेप नहीं करना चाहिए। सूख जाने पर उसे वहीं पर लगा नहीं देना चाहिए (सुश्रुत सू १८।१४–१५)। बहुत पतला या बहुत चिकना लेप नहीं लगाना चाहिए। लेप बहुत पतला नहीं करना चाहिए। पट्टी या वस्त्र के ऊपर लगाकर लेप नहीं करना चाहिए, न लेप को वस्त्र से ढाँपना चाहिए (चरक चि अ २१।९३–९८)।

धूमवर्ती कल्पना—धूमवर्ती पीने का उल्लेख कादम्बरी तथा दूसरे ग्रन्थों में भी है (मृदुवीतवूपिताम्वरमग्राम्य मण्डन च बिभ्राणा। परिपीतधूमवर्ति स्यास्यगि रमणान्तिके सुतनु ॥ कुट्टनीमतम्)। चरक में नित्यप्रति धूमपान करने को कहा है, यह एक दैनिक कार्य था। धूमवर्ती को बनाने की विधि सम्पूर्ण रूप में बतायी है (सूत्र अ ५।२०–२४)। प्रायोगिक, स्नैहिक और वैरेचनिक भेद से यह तीन प्रकार की होती थी। धूमवर्ती किस समय पीनी चाहिए, किस प्रकार पीनी चाहिए, किनको नहीं पीनी चाहिए, इन सबकी सूचना इसमें विस्तार से है। धूमपान की हानियों से बचने के लिए धूमयन्त्र की विशेषता भी बतायी है (दूराद् विनिर्गत पर्वच्छिन्नो नाडी-तनूकृत । नेन्द्रिय बाधते धूमो मात्राकालनिषेवित ॥ सू अ ५।५१)। यह धूम-वर्ती सुगन्धित होती थी।

तौल—आयुर्वेद में तौल के लिए जो शब्द आये हैं, वे प्राचीन हैं। तौल के शब्द प्राय धान्य वस्तुओं से बनाये गये हैं। चरक में जो यह लिखा है कि कलिंग से मागध मान श्रेष्ठ है, इस पाठ को चक्रपाणि ने अनार्ष माना है। वास्तव में मागध और कलिंग दो मान देश में प्रचलित थे। कलिंग मान का सम्बन्ध सम्भवत रत्न आदि तोलने में होता था, मागध मान सामान्यत सब कार्यों में बरता जाता था। इनमें जो भेद है, वह छोटे वजन में ही है, आगे बड़े वजन में दोनों एक हो जाते हैं।

'नन्दोपक्रमाणि मानानि' (२।४।२१, ६।२।१४ काशिका) का अभिप्राय यह है कि माप-तौल के बटखरे प्रथम नन्द राजाओं ने निश्चित किये। तभी से मागध मान प्रारम्भ हुआ। उस समय कलिंग जनपद स्वतन्त्र था, इसलिए कलिंग मान की परम्परा अलग चलती रही। मान निश्चित होने पर आढक (ढाई सेर), द्रोण

(दस सेर), खारी (चार मन) इत्यादि शब्द बिल्कुल सही नाप-तौल के लिए बरते जाने लगे।[1]

चरक संहिता या दूसरे ग्रन्थो से इनके रूप का पता नही चलता कि ये किस वस्तु के थे, पत्थर या धातु के होंगे। चरक संहिता से पहले अर्थशास्त्र में इनका उल्लेख आता है, यथा—'तोलने के सभी बाट लोहे के बनाये जायँ। मगध, मेकल देश में उत्पन्न होनेवाले पत्थर के बनें, अथवा ऐसी वस्तुओं के बने जो पानी या किसी लेप की वस्तु के लगने से वजन में न बढें या गरमी पहुँचने से कम न हो जायँ (२।१९।११)[2]।

प्राचीन तौलो से चरक-सुश्रुत के मान में बहुत कम अन्तर आता है। यह अन्तर कुछ तो सोना-चाँदी की तौल और अन्य वस्तुओ की तौल की भिन्नता से है, यथा—'माषक' तौल में पाँच रत्ती ताँबें का और दो रत्ती चाँदी का होता था (मनु ८।१३५, अर्थशास्त्र २।१२)। निष्पाव तीन रत्ती का, गुजा १ रत्ती, काकिणी १¼ रत्ती, मापक पाँच रत्ती का था। शाण चरक के अनुसार २० रत्ती का था (महाभारत में शाण को शतमान का आठवाँ भाग कहा है, जो १२½ रत्ती का होता है—वनपर्व १३४।१४)।

चरक और अर्थशास्त्र के आढक मान में कुछ भेद हैं, यथा—

चरक का मान			कौटिल्य अर्थशास्त्र का मान		
४ कर्ष	=	१ पल	१ कुडव	=	१२½ तोला=२½ छटॉक
२ पल	=	१ प्रसृति=८ तोला	४ कुडव	=	१ प्रस्थ=५० तो २½ पाव
२ प्रसृति	=	१ अजलि या कुडव = १६ तोला	४ प्रस्थ	=	१ आढक=५० पल, २०० तोला
२ कुडव	=	१ प्रस्थ=२५६ तोला	४ आढक	=	१ द्रोण=२०० पल =८०० तोला
४ प्रस्थ	=	१ आढक	१६ द्रोण	=	१ खारी=१६० सेर=४ मन
४ आढक	=	१ द्रोण, कलश, घट	२० द्रोण	=	१ कुन्भ=५ मन
			१० कुम्भ	=	१ वह=५० मन

कस का तौल चरक के अनुसार आठ प्रस्थ या दो आढक या ६२/५ सेर है, अर्थ-

---

१ 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष'

२ प्रतिमानान्ययोमयानि मागधमेकलशैलमयानि यानि वा नोदकप्रदेहाभ्या वृद्धिं गच्छेयुरुष्णेन वा ह्रासम्॥ अर्थशास्त्र

शास्त्र के अनुसार पाँच सेर है। संस्कृत का शब्द द्रक्षण, ग्रीक शब्द द्रम, यूनानी शब्द दिरम, लैटिन का शब्द ड्राम एक ही है।

लम्बाई के माप में अंगुली का उल्लेख चरक में है। इसके अनुसार ही उत्सेध, विस्तार, आयाम, परिणाह को नापा जाता है (वि अ ८।११७)। इसके अतिरिक्त 'व्याम' का भी उल्लेख है (सूत्र अ १४।४३)। व्याम का माप ८४ अंगुल था (शरीरमङ्गुलिपर्वाणि चतुरशीति—चरक वि अ ८।,१७)। अंगुल का माप मध्यम आकार के आठ यवमध्य के बराबर था, यह आजकल पौन इंच के बराबर है।

खान-पान

अन्न-पान सम्बन्धी जानकारी के लिए चरकसंहिता में शूक-धान्यवर्ग, शमी-धान्यवर्ग, मांसवर्ग, शाकवर्ग, फलवर्ग, हरितवर्ग, मद्यवर्ग, जलवर्ग, गोरसवर्ग, इक्षुवर्ग, कृतान्नवर्ग और आहार-उपयोगी, ये बारह वर्ग बनाकर इनमें आहार का रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव कहा गया है। सुश्रुत में द्रव वस्तुओं का पृथक् अध्याय में वर्णन किया है, इसमें जलवर्ग, क्षीरवर्ग, दधिवर्ग, तक्रवर्ग, घृत-तैल-मधु-इक्षुवर्ग, मद्यवर्ग और मूत्रवर्ग हैं। इसमें आगे अन्न-पानविभाग चरक की अपेक्षा अधिक विस्तृत हैं, शालिवर्ग, कुधान्य-वर्ग, मांसवर्ग, फलवर्ग, शाकवर्ग, लवणवर्ग, कृतान्नवर्ग, भक्ष्यवर्ग, अनुपानवर्ग, आहार-विधि, इतनी बातों की विस्तृत जानकारी दी गयी है। सुश्रुत का वर्गीकरण अधिक विस्तृत है। मांसवर्ग में कोशस्थ, प्लव, मछलियों के समुद्र और नदी के पानी से भेद आदि विशेष कहे गये हैं।[1] लवण वर्ग में स्वर्ण, चाँदी, ताम्र, त्रपु धातुओं तथा रत्नों के गुण-दोषों की विवेचना की गयी है। सुश्रुत में चरक की अपेक्षा भक्ष्य वस्तुओं के बहुत से नये नाम मिलते हैं, यथा—मधुमस्तक, सयाव, सट्टक, विष्यन्द, फेनक आदि[2]

---

१ जांगल मांस आठ प्रकार का है—जंघाल, विष्किर, प्रतुद, गुहाशय, प्रसह, पर्णमृग, बिलेशय, ग्राम्य। आनूप मांस पाँच प्रकार का है—कूलचर, प्लव, कोशस्थ, पादिन और मत्स्य। मत्स्य भी नदी (मीठे पानी) और समुद्र (नमकीन पानी) के भेद से दो प्रकार के हैं—दोनों में पृथक्-पृथक् विटामिन होते हैं।

२ घृतपूर—मर्दिता समिता क्षीरनारिकेलसितादिभिः।
अवगाह्य घृते पक्वो घृतपूरोऽयमुच्यते॥

सयाव—समिता मधुदुग्धेन माधुर्यत्वात् शुभानन.।
पचेद् घृतोत्तरे भाण्डे क्षिपेद् भाण्डे नवे ततः॥
सयावोऽसौ युतश्चूर्णे खण्डैलामरिचार्द्रकैः॥

संग्रह में सुश्रुत की भांति द्रव वस्तुओं का पृथक् उल्लेख किया है, अन्न-स्वरूप के वर्णन में चरक का अनुसरण किया है, परन्तु क्रम बदल दिया है, शूकवर्ग, शमीवर्ग, कृतान्नवर्ग मांसवर्ग, शाकवर्ग, फलवर्ग रूप में वर्णन है। इसमें भी 'दकलावणिक' आदि नये व्यजन मिलते हैं।

इसमें शूकवर्ग के अन्तर्गत शालिवर्ग में शालि, व्रीहि और कुधान्य ये तीन मुख्य भेद हैं। शालि और व्रीहि में इतना अन्तर है कि शालिधान्य हेमन्त में (दिवाली के आस-पास) पकते हैं, इनको प्रथम बोकर और पुन उखाड़कर लगाया जाता है। व्रीहि धान्य शालि से मोटा होता है और खेत में छींटकर बोया जाता है, इसे एक स्थान से उखाड़कर फिर नहीं लगाना होता है, यह थोड़ा जल्दी पकता है। व्रीहि की भांति साठी (षष्टिक) है, यह साठ दिन में पकता है, इसका चावल लाली लिये होता है। कुधान्य में सावक, कँगनी, कोदों आदि हैं, जो कि कम बोये जाते हैं, ये मोटे और देखने में सुन्दर नहीं होते। इनको मलकर या सामान्य कूटकर निकाला जाता है।

इन सबमें शालि धान्य उत्तम है, क्योंकि इसकी पौध लगती है। जो धान्य एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगाये जाते हैं, वे बहुत हलके और गुणशाली होते हैं। चरक में शालि के पन्द्रह भेद दिये हैं। इनमें बहुत से नाम स्पष्ट हैं, यथा—रक्त-शालि (लालमती—सहारनपुर जिले में), कलम, प्रमोद (कुमुद—बम्बई में), दीर्घशूक (हंसराज या वासमती का भेद)। इनमें महाशालि के लिए कहा जाता है कि चीनी यात्री य्युआन् च्युआङ के चरितलेखक हुई ली ने लिखा है कि जब वह नालन्दा विश्वविद्यालय में ठहरा था, तो उसे महाशाली चावल खाने को दिया गया। स्वय चीनी यात्री को यह बढ़िया सोंधा चावल भूला नहीं। उसने लिखा है—'यहाँ मगध में एक अद्भुत जाति का चावल होता है, जिसके दाने बड़े सुगन्धित और खाने में अति स्वादिष्ठ होते हैं। यह बहुत चमकता है। इसे धनिकों का चावल कहते हैं।' सभवत यह सुगन्धिका या महाशालि चावल था। (डाक्टर अग्रवाल)

यवक, हायन, पांसु, वाप्य और नैषध ये चावल भी शालि के समान गुण करते हैं।

सट्टक—लवगव्योपखण्डैस्तु दधि निर्मथ्य गालितम्।
दाडिम बीजसयुक्त चन्द्रचूर्णावचूर्णितम्॥
सट्टक सुप्रमोदाख्य नलादिभिरुदाहृतम्॥
विष्यन्द—आम गोधूमचूर्ण च सर्पि क्षीरगुडान्वितम्।
नातिसान्द्रो नातिघनो विष्यन्दो नाम नामत॥

शब्द का सम्बन्ध यूनानी या शक काल से जोडते हैं) । इस वर्ग का भी सुश्रुत ने अधिक विस्तार से वर्णन किया है।

मासवर्ग में पशु-पक्षियो का विभाग उनकी प्रकृति, रहन-सहन के अनुसार किया है। मुरगा खाने से पूर्व पैर से वस्तु को बखेरता है, इसलिए उसे विष्किर, तोता ठोग मारता है, इसलिए उसे प्रतुद और गोह साँप की भाँति विल में रहती है, इसलिए उसे विलेशय कहा है। इस प्रकार से मास के गुण इनकी रहन-सहन के अनुसार निश्चित किये हैं। जो पशु-पक्षी आलसी नही, सदा चुस्त रहते हैं, उनको हलका कहा है, और दूसरो को भारी। इसमें कुछ तो जाने हुए हैं और कुछ ऐसे हैं जिनकी जानकारी नही, जैसे—मणितुण्डक, मृणालकण्ठ, मद्गु, राम (मृग), कोट्टकारक आदि। वकरी और भेंड जागल और आनूप दोनो देशो में रहती है, इसलिए इनको किसी एक स्थान पर सीमित नही कर सकते। मासवर्ग में गाय का भी उल्लेख है। स्वस्थ व्यक्ति के लिए इसका सेवन मृगमासो में सवसे अपथ्यतम कहा है (सू अ २५)।

शाकवर्ग में भी वहुत से अपरिचित नाम मिलते हैं, यथा—कुमारजीव, लोट्टाक, चिल्ली आदि। फलवर्ग में फलो का उल्लेख है, परतु चिकित्सा मे अनार को छोडकर दूसरो का उपयोग नही है, कदली का उपयोग भी एक दो स्थान पर है। आजकल जो फलो का महत्त्व स्वास्थ्य के लिए मान्य है, उतना उस समय नही प्रतीत होता। पियाल, तिन्दुक, इगुदी आदि जगल के फलो का उल्लेख मिलता है। मद्यवर्ग में सुरा, जगल, मदिरा, शीत रसिक, मैरेय आदि भेद से वर्णन है।[1] सुश्रुत में 'कोहल' मद्य का उल्लेख है जो कि जौ के सत्तू से वनती थी (सू अ ४५।१८०)। क्या यही 'कोहल' शब्द आज प्रसिद्ध अलकोहल में तो नही आ गया? वहेडे, जामुन, खर्जूर की मद्यो का भी उल्लेख सुश्रुत में है।

जलवर्ग मे पानी में भिन्न-भिन्न गुण-दोप उत्पन्न होने का कारण वताया है (चि अ २७।१९७)। इसमे हिमालय की नदियो के पानी के लिए जो वात कही है, वह महत्त्व की है, इन नदियो का पानी पत्थरो की थपेडो से टूटने पर बहुत पथ्य होता है। जिन नदियो मे पत्थर (वडे वडे पत्थर) और रेती रहती है, उनका पानी निर्मल और पथ्य

---

१ परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्ना सुरा जगु । सुरामण्ड प्रसन्ना स्यात् तत कादम्वरी घना ।।
तदधो जगलो ज्ञेयो मेदको जगलाद् घन । वक्वसो हृतसार स्यात् सुरावीज च किण्वकम् ।।
ज्ञेय शीतरस सीधुरपक्वमधुरद्रवै । सिद्ध पक्वरस सीधु सपक्वमधुरद्रवै ।।
या तालखर्जूररसैरासुता सा हि वारुणी ।। —द्रव्यगुणविज्ञान, परिभाषाखण्ड

होता है। जिन नदियो का पानी मन्दवेग रहता है, उन प्रदेशो में श्लीपद, कण्ठरोग, शिरोरोग, हृदयरोग होते हैं।

इसके आगे गोरसवर्ग है. गाय के दूध मे अनेक गुण बतलाये है, यथा—स्वादु, शीतल, मृदु, मधुर, स्निग्ध, बहल, पिच्छिल, गुरु, मन्द और प्रसन्न ये दस गुण गाय के दूध मे हैं। ओज मे भी यही दस गुण है, इसलिए गाय का दूध ओज को बढाता है। विप और मद्य के गुण इससे विपरीत है यथा—विप के दस गुण—लघु, रूक्ष, आशुकारी, विशद, व्यवायी, तीक्ष्ण, विकासी, सूक्ष्म, उष्ण, अनिर्देश्यरस। मद्य लघु रूक्ष, तीक्ष्ण, अम्ल, व्यवायी, आशुकारी, सूक्ष्म, विकासी, विशद, उष्ण इन दस गुणो वाला है। इसलिए विप और मद्य शरीर को हानि पहुँचाते है। मद्य मे ये दस गुण कम मात्रा मे रहते है, इसलिए यह तत्काल नही मारता, विप मे अधिक मात्रा मे रहते है, इसलिए उससे तात्कालिक मृत्यु होती है (चि अ २५)। मदात्यय मे गाय का दूध बहुत लाभप्रद है। आगे इसमें भैंस, ऊँटनी, घोडी, हस्तिनी, औरत के दूध का भी गुण-दोष कहा गया हैं। इसी के साथ दही, घी, छेना, मस्तु, पनीर, फटे दूध आदि के गुणो का भी उल्लेख है। पीयूष (खीस) तुरन्त व्यायी गाय का दूध, मोरट दूसरे तीसरे दिन का अथवा सात आठ दिन का जब तक वह शुद्ध नही होता और किलाट फटा हुआ दूध है।

इक्षुवर्ग के अन्तर्गत चरक में पौण्ड्र (पौंडा) और वशक (बांस-गन्ना) का उल्लेख है, सुश्रुत मे गन्ने के कई भेदो का उल्लेख है—पौण्ड्रक, भीरुक, वशक, श्वेतपोरक, कान्तार, तापसेक्षु, काष्ठेक्षु, सूचिपत्रक, नैपाल, दीर्घपत्र, नील्पोर, कोशकृत, ये भेद इनकी मोटाई के अनुसार है। इसी में गुड, मत्स्यण्डिका, खण्ड, शर्करा, फाणित, गुडशर्करा, यासशर्करा, मधुशर्करा का उल्लेख है। मत्स्यण्डिका (राब), खण्ड (खाँड), शर्करा (मिश्री) यह इनका क्रम है, इसमें उत्तरोत्तर निर्मलता होती है। इसी वर्ग मे मधु का भी वर्णन है। चरक में मधु चार प्रकार का कहा है, सुश्रुत मे आठ भेद बताये हैं। ये भेद मक्खियो की विभिन्नता से माने गये है। मधु नाना द्रव्यो से उत्पन्न होने के कारण योगवाही है।

आगे कृतान्नवर्ग है, इसका प्रारम्भ पेया से हुआ है। पेया, विलेपी, यवागू और मण्ड ये वस्तुएँ पानी की मात्रा की भिन्नता से बनती है। ओदन, कुल्माप का उल्लेख है। ओदन (भात) राँधने की भिन्नता से भारी और हलका हो जाता है।[1] यूष

---

१ ओदन, यवागू, यवक, पिष्टक, संयाव, अपूप, मन्थ, कुल्माष, पलल आदि शब्दो का बहुत अच्छा स्पष्टीकरण डाक्टर अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में किया है; इनको वहीं पर देखना चाहिए।

भी कृत और अकृत भेद से दो प्रकार का है, जिस यूप में स्नेह, लवण, मसाला नहीं डाला जाता वह अकृत यूप है, जिसमें यह डाला जाता है वह कृत यूप है। सत्तू, अपूप, यावक, वाट्य (नुकण्डितैस्तथा भृष्टैर्वाट्यमण्डो यवैर्भवेत्—इसे वार्लीवाटर कह सकते हैं), यवमण्ड (विना सेंके जौ से बना मण्ड) और अंकुरित धान्यों का उल्लेख है। इसी में मधुक्रोड, पूर, पूपलिका, पिण्डक आदि भिन्न-भिन्न बनावटों का उल्लेख है।

भोजन में रुचि पैदा करनेवाला हरित वर्ग है, इस वर्ग की औषधियाँ हरी (कच्ची) ही खायी जाती है, जैसे—मूली, अदरक, पुदीना, अजवायन, धनियाँ, गाजर, प्याज, सौंफ आदि।

अन्तिम वर्ग आहार-उपयोगी वर्ग है, इसमें तैल का उल्लेख है, इसके लिए कहा है कि इसके प्रयोग से दैत्य लोग अजर-जरारहित, रोगरहित, कभी न थकने वाले, अति बलवान् बन गये थे। संयोग संस्कार से तैल सब रोगों को नष्ट करता है। सोंठ, पिप्पली, हींग, सैन्धव आदि नमक, यवक्षार, जीरा आदि भोजन में उपयोगी वस्तुओं का उल्लेख किया गया है। इस वर्णन से उस समय उपयोग में आनेवाले अन्न-पान की जानकारी मिल जाती है। सुश्रुत में इसका विस्तार है, संग्रह में सुश्रुत से कम है, परन्तु नाम अधिक स्पष्ट है। भिन्न-भिन्न प्रकार से पकाने का भी उल्लेख संग्रह में है। अन्त में कह दिया है कि सब वस्तुओं का विस्तार से उल्लेख करना सम्भव नहीं (संग्रह, सू अ ७।२११-१२)।

देशभेद से खान-पान—भिन्न-भिन्न देशों में जो खान-पान रुचिकर थे, उनका उल्लेख चरकसंहिता में आता है, यथा—वाह्लीक (बलख), पह्लव (पहलव-काबुल), चीन, शूलीक (काशगर), यवन तथा शक देशों में पुरुषों को मांस, गेहूँ, माध्वीक (प्रसिद्ध मद्य कापिशायिनी या हारहूरा सुरा), शस्त्र और आग से सिद्ध किये खान-पान अधिक सात्म्य हैं।[1] पूर्व देशवालों को मत्स्य सात्म्य है (गौड-राढ देश में)। सैन्धव सिन्धु देशवालों को सात्म्य है। अश्मक (पैठन—दक्षिण हैदराबाद प्रान्त), अवन्तिका (उज्जैन) देशवासियों को तैल और अम्ल सात्म्य है। मलयाचल में रहनेवालों को कन्द, मूल, फल सात्म्य है। दक्षिण देशवालों को पेया और उत्तर पश्चिम के देश में मन्थ-सत्तू सात्म्य है। मध्य देशवालों का जौ, गेहूँ, दूध भोजन है।

---

१ "शस्त्र-वैश्वानरोचिता" का अर्थ संभवतः शूलाकृत मांस तथा अंगार पर सेंके मांस है; काशिका में इस प्रकार के भोजन के उदाहरण आते हैं।

काशिका मे इस सम्बन्ध मे चार उदाहरण आये है—"क्षीरपाणा उशीनरा, सुरापाणा प्राच्या, सौवीरपाणा वाह्लीका, कपायपाणा गान्धारा।" क्षीरपाणा उशीनरा से ज्ञात होता है कि पजाव में शिवि–उशीनर के लोग दूध पीने के शौकीन थे। चरक के अनुसार प्राच्य जनपद में मत्स्य भोजन और सिन्धु जनपद में क्षीर भोजन सात्म्य था। शिवि-उशीनर चिनाव नदी के निचले कांठे का पुराना नाम था। अव यही झग, मधियाना, मुलतान का इलाका है। यहाँ की माहीवाल गायें आज भी प्रसिद्ध है। सिन्ध और कच्छ की देशाण गाय—जिनके कान लम्बे होते है, आज भी सिन्ध, काठियावाड में प्रसिद्ध है।

मन्थ के विपय मे डाक्टर अग्रवाल ने स्पष्ट किया है कि भुने हुए धान या भुजिया का सत्तू मन्थ कहा जाता था (कात्यायन सूत्र ५।८।१२)। इसे दूध या केवल पानी मे घोलकर खाते थे। पानी के सत्तू को उदमन्थ या उदकमन्थ कहा जाता था। सम्भवत दूध में घुला हुआ सत्तू मन्थ होता था। अथर्ववेद की पारिक्षिती गाथा के प्रसग में पत्नी पति से पूछती है–"आपके लिए क्या लाऊँ, दही या दूधिया सत्तू (मन्थ) या जौ से चुआया हुआ रस।" सुश्रुत ने मन्थ का तीसरा रूप यह दिया है—"सत्तू को थोडा सा घी और ठण्डा जल मिलाकर मथानी मे मथने से मन्थ वनता है। मन्थ में जल का परिमाण इतना लेना चाहिए कि जिससे वह न बहुत पतला और न बहुत गाढा वने।" चरक ने मन्थ को सतर्पण कहा है, इसके कई योग दिये है। इनमे जौ या लाजा का सत्तू प्रधान द्रव्य है। मट्ठे मे भी घोलकर सत्तू खाया जाता था, जो मद्र देश का प्रिय भोजन था।

खान-पान सम्बन्धी सूचनाएँ—शरीर धारण करनेवाली तीन वस्तुओं (आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य) मे आहार एक मुख्य वस्तु है। इसका सम्बन्ध शरीर और मन दोनों से है—इच्छित, मन के अनुकूल वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श वाला, विधिपूर्वक वनाया गया तथा विधिपूर्वक खाया हुआ आहार प्राणियों का प्राण है (चरक, सू अ ८, सुश्रुत, सू अ ४६)। इसी अन्नरूपी इन्धन से अन्दर की अग्नि स्थित रहती है। अन्न सत्त्व (मन) को वल देता है। अन्न से ही शरीर के सव धातु, वल, वर्ण, इन्द्रियों की प्रसन्नता होती है। यह तव होता है, जव इसका ठीक प्रकार से सेवन किया जाता है, विपरीत सेवन से अहित होता है।

आहार सेवन में इन आठ वातो का ध्यान रखना आवश्यक है—प्रकृति (वस्तु का स्वभावविचार, गुरु-लघु ज्ञान), करण (सस्कार, वनाने का ढग), सयोग (मिलाना, कई वार दो निर्दोष द्रव्य भी मिलने पर विरोधी वन जाते है, जैसे दूध और

मछली), राशि (वस्तु का परिमाण—अग्नि, बल के अनुसार मात्रा में भोजन करना), देश और काल का विचार (समय पर और उचित स्थान पर भोजन करना), उपयोग नियम (भोजन के जीर्ण होने पर, बिना बोले, बिना हँसे, भोजन की निन्दा न करते हुए भोजन करना) और सात्म्य (अपने लिए अनुकूलता)।

भोजन करने की विधि—भोजन का स्थान साफ-सुथरा, एकान्त स्थान में होना चाहिए। भोजन परसते समय घी लोहे के तथा पेया चाँदी के पात्र में, फल तथा सब भक्ष्य पत्तों पर, दही आदि से लिप्त पदार्थों को सुवर्ण के, द्रव-रसों को चाँदी के, उष्ण वस्तु को पत्थर के पात्र में, शीतल जल ताम्रपात्र में, पानक, मद्य मिट्टी के पात्रों में, राग (रायता), षाड्व इनको बिल्लौर, काच, स्फटिक के पात्रों में रखना चाहिए। विमल, चौड़े, देखने में सुन्दर पात्रों में दाल-शाक देने चाहिए। फल, सब भक्ष्य (चबाने योग्य) और शुष्क वस्तु (मेवा आदि) इनको खानेवाले के दक्षिण ओर रखना चाहिए। द्रव वस्तु को खानेवाले के वाम भाग में रखना चाहिए (इनको वाम हाथ से उठाकर पीना चाहिए, दक्षिण हाथ से पात्रों के बाहर चिकनाई लगने का भय है)। गुड की वस्तुएँ मिष्टान्न तथा राग-षाडव-सट्टक आदि स्वादिष्ठ खट्टी वस्तुएँ खानेवाले के सामने परसनी चाहिए।

भोजन का स्थान एकान्त में, सुन्दर, बाधारहित, खुला, विस्तृत, पवित्र, देखने में प्रिय तथा सुगन्ध और फूलों से सजाया, समान—एक जैसा होना चाहिए। आगे के प्रकरण में भोजन की विधि बतायी है कि कौन वस्तु किस क्रम से खानी चाहिए, भोजन समाप्त करके किस प्रकार से आराम करना चाहिए, इत्यादि। समय पर भोजन न करने से क्या हानियाँ होती हैं, इनको भी बताया गया है (सुश्रुत, सूत्र अ ४६।४९०–५००)।

आयुर्वेद में भोजनद्रव्य चार प्रकार के माने हैं, अशित, खादित, पेय और लेह्य। अशित और खादित में वही अन्तर है जो मिठाई-लड्डू आदि खाने और चना आदि चबाने में है। दाँत न रहने पर लड्डू-मिठाई खायी जा सकती है, परन्तु चने चबाये नहीं जा सकते। लीढ का अर्थ अँगुली से चाटना है, जैसे शहद या लपसी का चाटना, पेय से अभिप्राय द्रव भोजन से है। यही चार रूप उस समय प्रचलित थे। पाणिनि ने भी 'भोज्य भक्ष्ये' सूत्र से चारों रूप कहे हैं। आहार का उपयोग चार प्रकार से ही होता है—पान, अशन, भक्ष्य और लेह्य रूप में (चरक सू अ २५।३६)।

विरोधी खानपान—आयुर्वेद में इसकी विस्तृत जानकारी दी हुई है कि विरोधी आहार किन-किन कारणों से होता है, तथा इसके खाने से कौन-कौन विकार होते हैं और उनका प्रतिकार क्या है। उनका परस्पर विरोध इस प्रकार है—द्रव्यों के

परस्पर गुणो में विरोध (मीठा और कटु या रूक्ष और स्निग्ध, शीत या उष्ण, जैसे वरफ का पानी तथा गरम चाय पीना), सयोग से विरोध (मत्स्य और दूध एक साथ खाना), सस्कार से विरोध (कौटिल्य अर्थशास्त्र में इसके पर्याप्त उदाहरण हैं—१४।२। हारिद्रिक पक्षी का मास सरसों के तेल में भूनना—चरक सू अ २६।८४)। देश, काल और मात्रा से कुछ वस्तुएँ विरोधी है और कुछ स्वभाव से ही परस्पर विरोधी हैं (भिलावे के साथ गरम पानी का स्वभाव से ही विरोध है)।

देशविरोधी—मरु देश मे रूक्ष या तीक्ष्ण वस्तुओ का सेवन, अनूप देश में स्निग्ध और शीतल वस्तुओ का सेवन। कालविरोधी–शीतकाल मे शीत-रूक्ष वस्तुओ का सेवन, उष्ण काल मे कटु या उष्ण वस्तुओ का सेवन। अग्निविरोधी–मन्दाग्नि में भारी भोजन। मात्राविरोधी—मधु और घी समान मात्रा में। सात्म्यविरोधी—कटुक-उष्ण जिसको सात्म्य हो उसको मधुर और शीत वस्तु देना। सस्कारविरोधी—समान गुणो की आदत के विरुद्ध जो औषधि-योजना की जाय (पके हुए वडहल के फल को मधु और घी के साथ खाना विरोधी है, मनुष्य को जो आदत हो, उसके विरुद्ध आहार देना—एक प्रकार की एलर्जी अवस्था कह सकते हैं)। वीर्यविरोधी—शीतवीर्य वस्तु में उष्णवीर्य वस्तु मिलाकर देना। कोष्ठविरोधी—कठोर कोष्ठवाले व्यक्ति को मृदु सशोधन देना। अवस्थाविरोधी—श्रम-व्यायाम-मैथुन से कृश व्यक्ति को वायुप्रकोपक अन्न पान देना। क्रमविरुद्ध—मल त्याग किये विना, भूख विना लगे भोजन करना। हृदयविरुद्ध—मन को जो अच्छा न लगे। सपद्विरोधी—कच्चे फलो या अन्न को खाना। विधिविरुद्ध—जो उचित स्थान पर या उचित पुरुषो से न परसा गया हो वह भोजन विधिविरुद्ध है।

विरोधी भोजन से होनेवाले रोग—षण्ढता, अन्धता, वीसर्प, जलोदर, विस्फोट, उन्माद, भगन्दर, मूर्च्छा, मद, आध्मान, गलरोग, पाण्डुरोग, आमविष, किलास, कुष्ठ, ग्रहणी, शोथ, अम्लपित्त, ज्वर, पीनस ये रोग होते हैं। सन्तानदोष (वश में चलनेवाले रोग भी) विरोधी अन्न से होते है, इसके अतिरिक्त मृत्यु भी हो जाती है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र मे अन्धा करने, पागल वनाने, प्रमेह उत्पन्न करने, कुष्ठ उत्पन्न करने के कई योग दिये हैं, ये सव विरोधी अन्नपान से सम्बन्धित है (अर्थशास्त्र, १४।१।१५-२३)।

चिकित्सा—इन विरोधी आहारो से उत्पन्न रोगो के प्रतिकार के लिए वमन, विरेचन, विरोधी द्रव्यों के शमन के लिए द्रव्यो का उपयोग तथा इसी प्रकार के विरोधनाशक द्रव्यों से शरीर का सस्कार करना चाहिए (जैसे स्वर्ण का सेवन—चरक, चि अ २३।२४०, इसी से वच्चे को उत्पन्न होते ही स्वर्ण चटाने का विधान है—सुश्रुत शा अ १०)। कई वार सात्म्य हो जाने (यथा अफीम खानेवालो में अफीम),

या मात्रा में थोडा होने अथवा व्यक्ति की अग्नि प्रबल होने पर अथवा व्यायाम से बलवान् बने हुए स्निग्ध व्यक्ति के लिए विष व्यर्थ हो जाता है।

आहारविधि को आयुर्वेद के ग्रन्थों ने बहुत महत्त्व दिया है, इसकी उपमा पवित्र होमविधि से की है, उसी की भाँति दो समय भोजन करने का उल्लेख किया है। अन्न के सम्बन्ध में कहा है—

हिताभिर्जुहुयान्नित्यमन्तराग्निं समाहित.।
अन्नपानसमिद्भिर्ना मात्राकालौ विचारयन् ॥
आहिताग्नि. सदा पथ्यमन्तराग्नौ जुहोति य।
दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यथ ददाति च ॥ चरक, सू० २७।२८

पशु-पक्षी

जिस प्रकार से चरक-सुश्रुत में चावलों तथा इक्षु के बहुत से नाम गिनाये है, उसी प्रकार मांसवर्ग में बहुत से पशु-पक्षी गिनाये गये हैं। उनमें से अनेकों का स्पष्टीकरण जामनगर से प्रकाशित चरकसंहिता के छठे भाग में चित्र सहित दिया गया है। चरक-सुश्रुत में पशु-पक्षियों का विभाग उनकी रहन-सहन के अनुसार है, इसलिए उसे जानने में सुगमता होती है। परन्तु नामों का उल्लेख अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता, टीकाकारों ने भी इस पर विशेष विवेचन नहीं किया, जिससे इनके सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिल सके। बिलेशयों में श्वेत, श्याम, चित्रपृष्ठ और कालक ये चार भेद काकुली मृग के हैं; यह काकुली मृग का मालायु सर्प अर्थ चक्रपाणि ने किया है। मूल में ऐसा कोई निर्देश नहीं, जिससे इनको इसके भेद माना जाय। मृग शब्द से इतना ज्ञात होता है कि यह चौपाया है। सम्भवत यह गोह का भेद है, गोह की जीभ भी साँप की भाँति लपलपाती है। मछलियों के भेद चरक में कम हैं, सुश्रुत में इससे अधिक मिलते हैं।[1]

---

१ जायसी ने पद्मावत के अन्दर कुछ मास तथा चावलो का उल्लेख किया था। डाक्टर अग्रवाल ने उनका स्पष्टीकरण किया है—उसको विशेष रूप में उनकी पद्मावत-टीका सजीवनी में देखा जा सकता है, यहाँ पर कुछ का उल्लेख किया जाता है। इस विषय में श्री कुँवर सुरेशसिंह की 'हमारी चिड़ियाँ' पुस्तक भी महत्त्व की है, परन्तु उसमें सस्कृत नाम न होने से एव संस्कृत नामो से पशु-पक्षियों का ठीक परिचय न मिलने से विषय स्पष्ट नहीं हुआ।

मानसोल्लास में वराह, सारंग, हरिण, अवि, अज, मत्स्य, शकुनि, रुरु, सम्बर इतने मासो का राजा के लिए उल्लेख किया है। जायसी की भी सूची लगभग यही है—इसमें आये हुए नाम, छागर-बकरा, रोझ-नील गाय (ऋश्य), लगुना-पाढा

सुश्रुत में एण और हरिण में भेद बतलाया है, काला मृग एण है, लाल मृग हरिण कहलाता है, जो न काला हो न लाल, वह कुरग है। सू अ (४६।५७)

पशु-पक्षियों के नाम गिनाकर इनमे जो पशु-पक्षी प्राय व्यवहार में आते थे, उनके गुणो का उल्लेख कर दिया गया है। कई पक्षियो का नाम उनकी आदतो मे रखा गया है, यथा व्याहला, दोनो पैर और चोच से आक्रमण करने के कारण यह नाम दिया गया है। कक पक्षी प्रसिद्ध है, परन्तु इसकी ठीक पहचान क्या है, यह निश्चित नही। इस पक्षी के नाम पर यत्र (औजार) का नामकरण किया गया है, यह सब यत्रों मे उत्तम है, क्योकि इसकी पकड मजबूत है। शशघ्नी को जामनगर के चरक मे 'गोरडन ईगल' कहा है। इस पक्षी का मुख्य आहार खरगोश है, इसलिए इसका शशघ्नी नाम है। सुश्रुत में इस विषय का स्पष्टीकरण चरक की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है।

हिरन (अ-हौग डीयर), चीतर-चित्तल, गौन-बारहसिगा इसे गौंढ भी कहते है, झाँख-साम्भर, बटई-बटेर, लवा बटेर से छोटा होता है (अ-बटनक्वेल), कूँज—कुज-क्रौञ्च-कुलग पक्षी, खेहा-तीतर की जाति का पक्षी—केहा (अ-ग्रयाहपार्टी), गुडरू-बटेर जाति का पक्षी (अ-कौमन बस्टर्ड क्वेल), हारील (हारीत)—वृक्षो पर रहनेवाला पक्षी जो बहुत कम नीचे उतरता है, चरज-चरत, फेंव-जलबोदरी (बत्तख और मुर्गी के बीच की चिडिया), पिदारे—पिद्दे, नकटा—एक प्रकार की बत्तख, लेदी—छोटी बत्तख, सोन—कलहस (बडी बत्तख)। मछलियाँ—पाठीन—पढिन, रोहित—रोहू, शिलीन्ध्र—सिलन्द, शृगी—सींगी, मद्गुर—मगुरी, चन्द्रिका—बाम, भगिका—बागुर।

चावलो के नाम—रायभोग—राजभोग, काजररानी—मिथिला में काजलरानी; मुजफ्फरपुर में कुमोद कहलाता है, झिनवा—सफेद मुख पर काला, रौदा—रुदवा, दाऊदखानी, कपुरकान्त—कपूरकान्त—उजले रग का होता है, चावल भी सफेद आता है।

डाक्टर अग्रवाल ने चावलो के नामो का उल्लेख किया है, परन्तु पश्चिम उत्तर प्रदेश में दूसरे नाम है—लालमती, बासमती, रामजवायन, राममुनिया, हसराज आदि, चावलो के नाम अनगिनत है। (पद्मावत—बादशाह भोजन खण्ड)

अमरकोश में कुछ पशु-पक्षियो के नाम दिये है, परन्तु उनमें आयुर्वेदसहिताओं में आये नाम बहुत कम है, यथा—दात्यूह कालकण्ठकः शरारिराटिराडिश्च। परन्तु इससे उनके रूप का परिचय नहीं होता। औषध, वनस्पति, पशु-पक्षी के रूप की पहचान का उल्लेख इन ग्रन्थो में नहीं है; ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं। नाम से ही रूप का, स्वभाव का जो वर्णन मिले वही सूत्र है।

चौदहवाँ अध्याय

आयुर्वेद परम्परा

आयुर्वेद की परम्परा सामान्यत ब्रह्मा से प्रारम्भ होती है। ब्रह्मा का नाम 'स्वयभू' है, अर्थात् इसे किसी ने नही बनाया अपितु उसने सबको बनाया। इसलिए यह आयुर्वेद भी शाश्वत होने से इसी के साथ पैदा हुआ (सुश्रुत सूत्र १।६)। पैदा करने का अर्थ यह नही कि नया तैयार किया, अपितु उसको प्रकट किया। आयुर्वेदिक ज्ञान का उपदेश किया, यही अर्थ पैदा करने का है (चरक सू ३०।२७)।[1]

इस परम्परा में कुछ दूर तक (इन्द्र तक) क्रम एक समान चलता है। इन्द्र के आगे प्रत्येक सहिता में अपना-अपना क्रम है। ब्रह्मा ने आयुर्वेद दक्ष प्रजापति को दिया, दक्ष ने अश्विनी को सिखाया, अश्विनी ने इन्द्र को सिखाया। यहाँ तक क्रम एक समान है। चरक सहिता के रसायन अध्याय में ब्रह्मा और इन्द्र के नाम से रसायनो का उल्लेख है, अश्विनी के नाम पर च्यवनप्राश की प्रसिद्धि है। ऋषि लोग इन्द्र के पास अपने शरीर की अवस्था सुधारने के सम्बन्ध में गये, उनको इन्द्र ने दिव्य औषधियाँ सेवन करने को कहा था। दक्ष प्रजापति के नाम पर कोई रसायन चरकसहिता में नही है।[2] इसके साथ ही राजयक्ष्मा के प्रसग में हम देखते है कि दक्ष प्रजापति के जामाता चन्द्रमा को क्षय होने का कारण दक्ष का ही शाप है, जिसकी चिकित्सा प्रजापति ने स्वय न करके अश्विनी से करा दी थी। (चरक चि अ ८।७-९)

प्रजापति शब्द ब्रह्मा के लिए भी आता है, (चरक सू अ २५।२४)। सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मा से, स्थिति विष्णु से और सहार शिव से माना जाता है। परन्तु सब सहिताओ में आयुर्वेदक्रम एक ही है। पुराणपरम्परा में भी ब्रह्मा और दक्ष दो भिन्न व्यक्ति है। काश्यप सहिता में प्रजापति दक्ष का उल्लेख नही, उसके अनुसार

---

१ स्वयंभूर्ब्रह्मा प्रजा सिसृक्षु प्रजाना परिपालनार्थमायुर्वेदमग्रेऽसृजत् सर्ववित्; ततो विश्वानि भूतानि।—काश्यप सहिता

२ दक्ष के नाम पर नहीं परन्तु प्रजापति के नाम पर महारास्नादि क्वाथ को गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने लिखा है।

ब्रह्मा से सीखा अश्विनौ ने सीखा, अश्विनौ से इन्द्र ने। ब्रह्मा और अश्विनौ के बीच में दक्ष प्रजापति का नामोल्लेख सम्भवत ज्ञान और प्रजा-उत्पत्ति दोनो का पार्थक्य दिखाने के लिए है। ज्ञानोत्पत्ति का सम्बन्ध ब्रह्मा से तथा अपत्योत्पादन प्रजापति दक्ष से सम्बन्ध रखता है। इसी भेदकल्पना मे ज्ञान का अवतरण किया गया है। कामसूत्र मे ब्रह्मा-प्रजापति द्वारा प्रजा उत्पन्न करने के पश्चात् त्रिवर्ग के साधन धर्म-अर्थ-काम का उपदेश करना कहा है। आयुर्वेद में प्रजा उत्पन्न करने से पूर्व आयुर्वेद का ज्ञान उत्पन्न करना लिखा है, अर्थात् ज्ञान पहले उत्पन्न हुआ और प्रजा पीछे उत्पन्न हुई। इनमें ज्ञान का सम्बन्ध ब्रह्मा से और प्रजा उत्पत्ति का सम्बन्ध दक्ष प्रजापति से है। इसलिए ब्रह्मा ने ज्ञान का प्रथम उपदेश दक्ष प्रजापति को किया (सु सू अ १।२०, चरक सू अ १।४-५)। दक्ष को ब्रह्मा का मानस पुत्र कहा जाता है।

इस परम्परा से भिन्न परम्परा भी पुराणो मे मिलती है, उसमे आयुर्वेद की उत्पत्ति प्रजापति से है। प्रजापति ने ऋग्-यजु-साम और अथर्ववेद का विचार करके आयुर्वेद को बनाया। यह पाँचवाँ वेद उसने भास्कर को दिया। भास्कर ने स्वतन्त्र संहिता बनाकर इसे अपने शिष्यो को पढाया। इन शिष्यो मे धन्वन्तरि, दिवोदास, काशिराज, अश्विनौ, नकुल, सहदेव, अर्की, च्यवन, जनक, बुध, जावाल, जाजलि, पैल, करथ तथा अगस्त्य थे। ये सोलहो शिष्य वेद-वेदाङ्ग को जाननेवाले और रोगो का नाश करने में निपुण थे। इन्होने अपने-अपने तन्त्र बनाये, धन्वन्तरि ने चिकित्सा-तत्त्वविज्ञान, दिवोदास ने चिकित्सादर्शन, काशिराज ने चिकित्साकौमुदी, अश्विनौ ने चिकित्सासार तन्त्र और भ्रमघ्न, नकुल ने वैद्यकसर्वस्व, सहदेव ने व्याधिसिन्धु-विमर्दन, यम ने ज्ञानार्णव, च्यवन ने जीवदान, जनक ने वैद्यसन्देह भजन, चन्द्रमा के पुत्र बुध ने सर्वसार, जावाल ने तन्त्रसार, जाजलि ने वेदाङ्गसार, पैल ने निदान; करथ ने सर्वधर, अगस्त्य ने द्वैधनिर्णय तन्त्र बनाये। ये सोलह तन्त्र ही चिकित्सा के बीज, रोगो को नष्ट करनेवाले और बल देनेवाले है (ब्रह्मवैवर्त्त पुराण-ब्रह्मखण्ड-अ १६)।

सूर्य के नाम से कुछ योग आयुर्वेद में बहुत प्रसिद्ध है, यथा—१ भास्कर लवण (लवण भास्कर नाम भास्करेण विनिर्मितम्), २ भास्कर चूर्ण (सर्वलोकहितार्थाय भास्करेणोदित पुरा), ३ उदर्की रस (भास्करेण कथितो रसेश्वर सोमरोगकुल-नाशनोऽपि स)। "आरोग्य भास्करादिच्छेत्"—यह वचन प्रसिद्ध है।

आयुर्वेदसहिताओ की उपदेशपरम्परा मे सूर्य का उल्लेख नही मिलता। उसमे ब्रह्मा, दक्ष प्रजापति, अश्विनौ और इन्द्र चार का ही उल्लेख है। ये चारो वैदिक देवता है, इनके विषय मे वैदिक जानकारी इस प्रकार है—

ब्रह्मा—सृष्टि में ज्ञान का प्रसार करनेवाला है, चारो वेद इसी से उत्पन्न हुए। भारतीय संस्कृति मे सब ज्ञान की उत्पत्ति ब्रह्मा से ही मानी जाती है। वेदो के उपदेष्टा को कुछ विद्वान् ऐतिहासिक मानते है, वे इसी को आयुर्वेद का प्रथम उपदेष्टा मानते हैं (आयुर्वेद का इतिहास—सूरमचन्द्र)। चरकसहिता मे (सूत्र १।२३), जज्जट टीका (सिद्धि ३।३०।३१) मे 'पैतामहा' शब्द मिलता है। चरक में 'स्रष्टा त्वमितसकल्पो ब्रह्मापत्य प्रजापति'—इस वचन से ब्रह्मा को प्रजापति माना है। इसको देवता ही माना गया है।

दक्ष प्रजापति—ब्रह्मा के मानस पुत्रो में एक है। इसका एक नाम प्राचेतस भी है (आदिपर्व ७०।४)। आयुर्वेदपरम्परा में प्राचेतस दक्ष का उल्लेख है (ज्वरस्तु स्थाणु-शापात् प्राचेतसत्वमुपागतस्य प्रजापते क्रतौ निश्चचार। सग्रह नि अ १)। चरक सहिता में ज्वर के सम्बन्ध में दक्ष का उल्लेख है।

अश्विनौ—इनकी स्तुति चिकित्सा के सम्बन्ध में महाभारत मे मिलती है। जब उपमन्यु आक के पत्ते खाकर अन्धा हो गया तब आचार्य ने उसे इनकी स्तुति करने को कहा (आदि ३।५६)। अश्विनौ के सम्बन्ध में जो स्तुति उपमन्यु ने की उसमें इनके नाना रूप मिलते है, यथा—हे अश्विनीकुमारो! आप दोनो सृष्टि से पूर्व विद्यमान थे, आप ही पूर्वज हैं, आप ही चित्रभानु है, दिव्य स्वरूप हैं, सुन्दर पखवाले दो पक्षियो की भाँति सदा साथ रहते हैं, रजोगुण और अभिमान से शून्य है। आप सूर्य के पुत्र हैं, दिन-रात, वर्ष को आप ही बनाते है—

> षष्टिश्च गावस्त्रिशताश्च धेनव एक वत्स सुवते त दुहन्ति।
> नानागोष्ठा विहिता एकदोहनास्तावश्विनौ दुहतो धर्ममुक्थ्यम् ॥
> एका नाभि सप्तशता अरा श्रिता प्रधिष्वन्या विंशतिरपरा अरा.।
> अनेमि चक्र परिवर्त्ततेऽजर मायाश्विनौ समनक्ति चर्षणी ॥
> एक चक्र वर्त्तते द्वादशार षण्णाभिमेकाक्षरमृतस्य धारणम्।
> यस्मिन् देवा अधिविश्वे विषक्तास्तावश्विनौ मुञ्चत मा विषीदतम् ॥
>
> (आदि अ. ३।६१-६३)

अश्विनीकुमार इस प्रकार उसकी स्तुति से प्रसन्न हुए और उन्होने उपमन्यु को पुआ दिया। परन्तु उसने बिना गुरु को दिये उसका उपभोग करने से मना किया (तुलना करें—"मदर्पणेन मत्प्रधानेन मदधीनेन मत्प्रियहितानुवर्त्तिना च शश्वद् भवितव्यम्। पूर्व गुर्वर्थोपाहारेण यथाशक्ति प्रयतितव्यम्"—चरक वि अ ८।१३)। अश्विनीकुमार उपमन्यु के इस व्यवहार से प्रसन्न हुए। इसके कारण उन्होने उपाध्याय

के दाँत काले लोहे के समान तथा उपमन्यु के दांत सुवर्णमय होने का वर दिया। उपमन्यु की आँखें भी ठीक हो गयी।

इस कथानक से भी अश्विनी देवताओं के वैद्य स्पष्ट होते हैं। वेद में अश्विनी को देवतारूप में वर्णित किया है।

ये जुड़वाँ भाई हैं, सदा युवा रहते हैं, चमत्कार हैं, सुनहरी चमक, सौन्दर्य और कमल की मालाओं से सदा भूषित रहते हैं। ये दृढांग, स्फूर्तिशील, गरुड़ के समान वेगगामी हैं, इनको दस्र और नासत्य नाम से भी स्मरण किया जाता है। ये मधुप्रेमी हैं। इनका रथ शहद के अंकुश से हांका जाता है। ये सोमरस का पान करते हैं (इसी से युवा हैं)। इनका सुनहरा रथ सूर्य के समान चमकता है, उसके तीन पहिये और पखोंवाले घोड़े लगे हैं। कभी-कभी रथ में भैंसे और गदहे भी जुतते हैं। यह रथ पाँचों लोकों (आकाश, भूलोक, द्युलोक, सूर्य और चन्द्र लोक) को पार करता है। इनके प्रकट होने का समय उषा के उदय होने के पीछे और सूर्योदय के बीच का है। ये अन्धेरे, हानिकारक वस्तु और भूत-प्रेत को भगा देते हैं। ये विवस्वान् तथा त्वष्टा की पुत्री सरण्यु की सन्तान हैं। सरण्यु अति रूपवती है। सरण्यु का अर्थ सूर्य और उषा का उदयकाल है। अश्विनीकुमारों का पुत्र पूषा है, उषा उसकी बहन है, सूर्या के साथ इनका सम्बन्ध होता है, सूर्या के दोनों पति हैं। ये अपने भक्तों की रक्षा करते हैं, स्वर्ग के वैद्य हैं। नवीन आँखें और नवीन अंग देना, बीमारियाँ दूर करना इनका कार्य है, इनकी अनेक गाथाएं हैं, जिनमें देवताओं को युवत्व प्रदान किया गया है। यास्क ने अश्विन् शब्द के कई अर्थ करते हुए अश्विनी को न सुलझनेवाली समस्या कहा है। वास्तव में ये दो तारे हैं, जिनमें एक प्रातःकाल उदय होता है और दूसरा सायंकाल उदय होता है। सूर्य इन तारों के साथ दोनों समय में अलग-अलग शादी करता है। ज्योतिष के अनुसार अश्विनी तारों का समुदाय है, जो मनुष्यों के शुभ-अशुभ देखता है। हठयोग के अनुसार वाम और दक्षिण नासापुटों को अश्विनीकुमार कहते हैं। इनको इडा-पिंगला भी कहते हैं। शीघ्र गमन करने से पवन भी अश्विनी कहा जाता है। महाभारत-शान्तिपर्व में इनको शूद्र कहा है (२०१।२३)। उग्र तप करने पर भी ये शूद्र ही रहे, इनको यज्ञभाग नहीं मिला, पीछे च्यवन ऋषि ने इनको यज्ञभाग दिलवाया। अश्विनी के नाम से आश्विन संहिता, नाडीपरीक्षा, धातुरत्नमाला ये ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।[1]

इन्द्र—यह राष्ट्रीय देवता है इसके विषय में काल्पनिक पौराणिक गाथाएँ बहुत

---

१ हिस्ट्री आफ इण्डियन मेडिसिन—लेखक गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

है। प्रारम्भ में इन्द्र को विद्युत् का देवता माना जाता था जो वर्षा को रोकनेवाले दैत्यो का महार करता था। यह युद्ध का भी देवता और आर्यो का रक्षक है, सोमपान आदि कार्यों से मनुष्य के समान लगता है। मनुष्यो की तरह इसके दाढी भी है। इन्द्र वज्र को धारण करता है जिसे त्वष्टा ने वनाया था। इसका रथ सुनहला है, घोडे हरे रग के है। इन्द्र का पिता द्यौ है, अग्नि और पूषा भाई है, इन्द्राणी स्त्री है। मरुत् इसके सहायक है, यह वृत्रासुर का वध करता है। वृत्रासुर वर्षा को रोकता है। वृत्रासुर और इन्द्र के युद्ध में द्युलोक और पृथ्वीलोक कॉप उठते है, पहाड टूटते है, झरने वहने लगते है। वेद मे विद्युत् और मेघगर्जन को वज्र शब्द से कहा है। वादलो को पहाड और वर्षा को नदियो के वहने का रूप कहा है। इन्द्र अपने उपासको का रक्षक, सहायक, मित्र है, इनको धन-धान्य से भरता है। पौराणिक कथाओ के अनुसार इन्द्र को एक वार कैद किया गया था। इन्द्र कार्य करने मे शक्तिशाली और लडनेवाला है। निरुक्त मे कहा है—"या च का च वलकृति इन्द्रकर्मैव तत्।"

चरक में इनके नाम से इन्द्रोक्त रसायन (चि १ १।४।६) एव दूसरी इन्द्रोक्त रसायन (१।४।१३-२६) मिलती है, इसमे स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोह, प्रवाल, वैडूर्य, मुक्ता, शख, स्फटिक का भी उपयोग होता है।

इन्द्र के वाद आयुर्वेदपरम्परा मर्त्यलोक मे तीन रूपो में प्रचलित हुई—
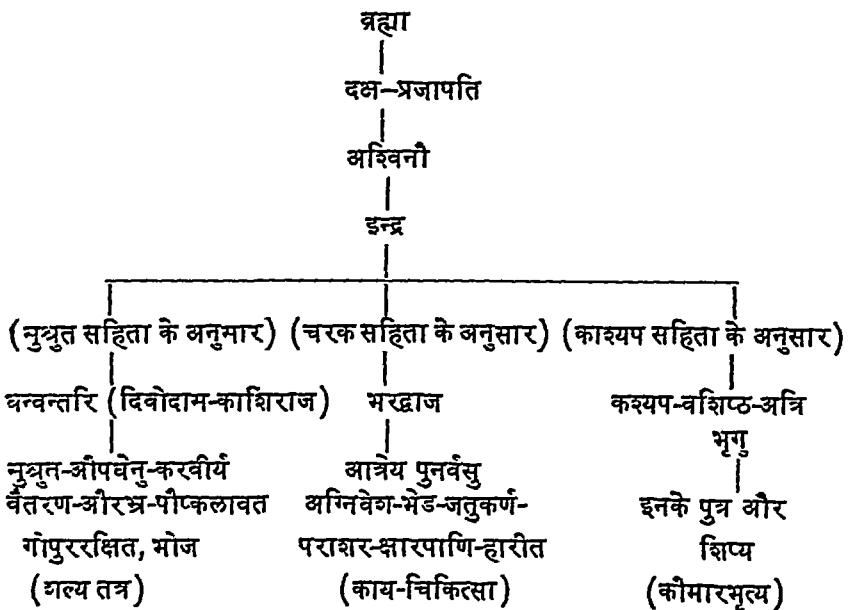
इन्द्र के पास से जिस ऋषि ने आयुर्वेद का जो ज्ञान प्राप्त करना चाहा वही उसे इन्द्र ने सिखाया, धन्वन्तरि ने आठों अगों का ज्ञान प्राप्त किया था (सू अ १।२१)। भरद्वाज इन्द्र के पास दीर्घजीवन की इच्छा से गये थे (सू अ १।३)। इन्द्र ने भरद्वाज को यही विषय सिखाया, जिससे उन्होंने दीर्घायु प्राप्त की (सू अ १।२६)। इसी से भरद्वाज का एक नाम दीर्घजीवित भी है (ऐतरेय आरण्यक १।२।२)। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार (३।१०।११) इन्द्र ने तृतीय पुरुषायुष की समाप्ति पर भरद्वाज को वेद की अनन्तता का उपदेश किया था।

भरद्वाज—चरक सहिता में भरद्वाज (सू अ १), कुमारशिरा भरद्वाज (सू अ १२, सू अ २६, शा अ ६), भरद्वाज (सू अ २५, शा अ ३) आता है। भरद्वाज नाम व्याकरण शास्त्र में भी मिलता है। ये आचार्य वृहस्पति के पुत्र हैं। श्री सूरमचन्द्र का कहना है कि दीर्घजीवन की इच्छा जिस भरद्वाज ने की थी, वे यही हैं। यही भरद्वाज आयुर्वेद के उपदेष्टा माने गये हैं। गगाधर कविराज इन भरद्वाज को कपिष्ठल मानते हैं।

दूसरे भरद्वाज कुमारशिरा हैं, इनका मुख्य नाम कुमारशिरा है, भरद्वाज पद औपचारिक, सम्भवत उपनाम के रूप मे है (चरक सू अ २६।४)।

तीसरे भरद्वाज एक और हैं, श्री सूरमचन्द्र इनको वाष्कलि भरद्वाज मानते हैं। ये आत्रेय के गुरु भरद्वाज से पृथक् हैं, क्योंकि इनके मत की समीक्षा पुनर्वसु आत्रेय के साथ की गयी है। चरक मे कई स्थलो पर आत्रेय ने भरद्वाज के मत को स्वीकार न करके उसका खण्डन किया है, इसलिए ये भरद्वाज, आत्रेय के गुरु से पृथक् है।

कविराज सूरमचन्द्र ने भरद्वाज के सम्बन्ध मे हरिवश का यह वचन उद्धृत किया है—

वृहस्पतेराङ्गिरसः पुत्रो राजन् महामुनि।
सक्रामितो भरद्वाज मरुद्भिः क्रतुभिर्विभु.॥ १।३२।१४

हे राजन्! आगिरस वृहस्पति का पुत्र महामुनि भरद्वाज मरुद्गणो द्वारा सम्राट् भरत को दिया गया। इस कथानक को आधार मानकर उन्होंने एक वशावली भी दी है। उसमें भरद्वाज के नर, गर्ग, पायु और द्रोण पुत्र बतलाये है।[1] मत्स्यपुराण के एक श्लोक के अनुसार भी वे वार्हस्पत्य भरद्वाज को ही सम्राट् भरत द्वारा गोद लिया हुआ मानते हैं। इसके सबूत में वे भरद्वाज का नाम 'द्व्यामुष्यायण' उपस्थित करते हैं। भरद्वाज को द्व्यामुष्यायण इसलिए कहते हैं कि उनके दो पिता थे, एक वृहस्पति और दूसरे भरत। उसकी सतान ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनो हुए (मत्स्य ४९।३३)।

---

१ आयुर्वेद का इतिहास—सूरमचन्द्र कृत, पृष्ठ १४३-१४४ देखिए

काश्यप संहिता में कृष्ण भरद्वाज का उल्लेख है (सूत्र अ २७।३. पृष्ठ २६)। भरद्वाज के साथ कृष्ण विशेषण आत्रेय के कृष्ण विशेषण को स्मरण कराता है, जिससे स्पष्ट है कि इन दोनों का कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध था। कृष्ण यजुर्वेद का सम्बन्ध वैशम्पायन से है, जो याज्ञवल्क्य के गुरु कहे जाते हैं। काश्यप संहिता में भरद्वाज के स्थान पर भारद्वाज पाठ है, चरक में भरद्वाज ही है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' (पृष्ठ २१९) में भारद्वाज का उल्लेख किया है।

भारद्वाज शब्द गोत्र में होनेवाले व्यक्तियों के लिए मानना ठीक है, न कि भरद्वाज के लिए। भारद्वाज और भरद्वाज दोनों पृथक् हैं। काश्यप संहिता के कृष्ण भरद्वाज आत्रेय की शाखा से सम्बन्ध रखते हैं और चरकसंहिता के भरद्वाज इनसे पृथक् हैं। भरद्वाज अनेक हैं; कुछ नामों के साथ विशेषण है और कुछ के साथ नहीं, इसलिए कुछ नाम गोत्रवाची हैं। परन्तु आत्रेय के गुरु, इन्द्र से आयुर्वेद सीखनेवाले, दीर्घजीवी भरद्वाज सबसे पृथक् हैं। ये न तो काश्यप संहिता के भारद्वाज हैं न कुमारशिरा, और न शरीरस्थान (चरकसंहिता) के भरद्वाज हैं।

भरद्वाज को बहु सन्ततिवाला और दीर्घजीवी कहा है। उसके मन्त्रद्रष्टा पुत्रों तथा रात्रि नाम्नी मन्त्रद्रष्ट्री पुत्री का उल्लेख मिलता है (ऋ सं ६।५२)।

सूरजचन्द्रजी ने भरद्वाज का समय भारतयुद्ध से लगभग २०० वर्ष पूर्व माना है और इसके प्रमाण में महाभारत का यह वचन दिया है—

> ततो व्यतीते पृषते स राजा द्रुपदोऽभवत्।
> पञ्चालेषु महाबाहुरुत्तरेषु नरेश्वरः॥
> भरद्वाजोऽपि भगवानारुरोह दिवं तदा॥ अ. १३०

यत्नेन—द्रुपद के पिता राजा पृषत् के दिवंगत होने के समय अर्थात् भारतयुद्ध से लगभग २०० वर्ष पूर्व भरद्वाज भी परलोक सिधारे। यह समय अभी विद्वानों की विचारकोटि में है, इसलिए इनका काल अनिर्णीत है। भरद्वाज दीर्घायु थे—यह सत्य है। भरद्वाज शब्द गोत्र में भी व्यवहृत होता है; चरकसंहिता में गोत्र अर्थ में भी आ सकता है, काश्यप संहिता में शाखा विशेषण भी सम्भावित है।

आत्रेय—चरकसंहिता में पुनर्वसु आत्रेय, कृष्णात्रेय और भिक्षु आत्रेय ये तीन नाम आते हैं। इनके सिवाय अत्रि का नाम पृथक् है। इनमें पुनर्वसु आत्रेय और कृष्णात्रेय एक व्यक्ति हैं, और भिक्षु आत्रेय इनसे पृथक् हैं। आत्रेय के साथ पुनर्वसु विशेषण इनका पुनर्वसु नक्षत्र में जन्म होना सूचित करता है, और कृष्ण विशेषण इनको वैशम्पायन की शाखा—कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित बतलाता है। पुनर्वसु

आत्रेय ने भिक्षु आत्रेय के मत का प्रतिवाद किया है (सू अ. २५), इसी से ये पृथक् गिने जाते हैं। सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय (८ और ९) में आत्रेय और भिक्षु आत्रेय दो पृथक् गिने गये हैं। इससे स्पष्ट है कि ये दो व्यक्ति हैं।

आत्रेय को अत्रिपुत्र कहा जाता है, यह कथन पुनर्वसु आत्रेय—अग्निवेश के गुरु के लिए ही आया है (अत्रिसुत, चि २२।३, अत्रिज, चि २०।३, सू ११।३, अत्र्यात्मज, चि १२।३ और ४, अत्रिज, चि ३०।७)। अत्रि ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं। अत्रि ने चिकित्साशास्त्र नही बनाया, परन्तु इनके पुत्र ने इसका उपदेश किया (चिकित्सित यच्च चकार नात्रि पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद।—बुद्धचरित १।४३)।

इसी आत्रेय के लिए चान्द्रभागी शब्द भी चरकसंहिता मे एक स्थान पर (सू अ १३।१००) तथा भेलसंहिता में दो स्थान पर (पृष्ठ ३०, पृष्ठ ३९) आया है। चान्द्रभागी का अर्थ चक्रपाणि ने पुनर्वसु किया है। प० हेमराज पुनर्वसु आत्रेय की माता का नाम चन्द्रभागा मानते हैं (उपोद्घात, काश्यप संहिता पृष्ठ ७७)। नदी का भी नाम चन्द्रभागा आता है, मनुस्मृति में नदी के नामवाली कन्या से विवाह करना निषिद्ध माना है (३।९)। इसलिए चान्द्रभागी का पुत्र मानने की अपेक्षा चन्द्रभागा प्रदेश में उत्पन्न होने से चन्द्रभागा नाम होना अधिक समीचीन लगता है।[1]

आत्रेय अनेक हैं—बौधायन श्रौतसूत्र के "अत्रीन् व्याख्यास्याम —अत्रयो भूरय —कृष्णात्रेया गौरात्रेया अरुणात्रेया नीलात्रेया श्वेतात्रेया श्यामात्रेया महात्रेया आत्रेया" वचन से स्पष्ट है कि ये सब अत्रि के वंशज थे, इनमे कृष्णात्रेय ही पुनर्वसु आत्रेय थे।[2] चक्रदत्त में कृष्ण अत्रिपुत्र नाम आता है (अतिसाराधिकार)। इसलिए श्री योगीन्द्रनाथ सेन कृष्णात्रेय को कृष्ण अत्रि का पुत्र मानते हैं।

---

१. कविराज सूरमचन्द्र ने भी अपने इतिहास (पृष्ठ १७२) में यही कल्पना मानी है; परन्तु थोड़ी बदलकर—"सम्भवतः किसी समय चन्द्रभागा नदी इस प्रदेश (आत्रेय प्रदेश) के निकट बहती थी। अतः चन्द्रभागा नदी के तटवर्ती प्रदेश में रहने के कारण पुनर्वसु का एक विशेषण चान्द्रभागी हो सकता है। संस्कृत वाङ्मय में ऐसे विशेषणों का प्रयोग प्राय पाया जाता है।" पृष्ठ १२२

२. "त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टा. कृष्णात्रेयेण धीमता"—चरक. सू. ११।६५; "अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितम्"—चि. २८।१५७; "कृष्णात्रेयेण गुरुणा भाषित वैद्यपूजितम्"—चि. २८।१६४; "नागराद्यमिद चूर्ण कृष्णात्रेयेण पूजितम्"—चि. १५।१३२ (इसकी व्याख्या में चक्रपाणि ने लिखा है—कृष्णात्रेयः पुनर्वसोर-

भिक्षु आत्रेय इनसे पृथक् हैं, इनके साथ लगा हुआ विशेषण इनको तापस भिक्षु—सन्यासी बतलाता है। भिक्षु साधुओं का एक सम्प्रदाय था। इसी का पालि रूप 'भिक्खू' बना, जो कि श्रमण—बौद्ध भिक्षुओं के लिए चल पडा। भिक्षु सन्यासी होते थे, इनके लिए यज्ञ–होम का विधान नही था, यथा—भिक्षु पचशिख, भिक्षु याज्ञवल्क्य आदि। कृष्णात्रेय या पुनर्वसु को तो चरक में होम करता हुआ पाते हैं (चि १४।३, चि १९।३, चि २९।३)। इसलिए सभवत भिक्षु आत्रेय सन्यास-आश्रमी रहे होंगे तथा कृष्णात्रेय वानप्रस्थ होंगे। वानप्रस्थ के लिए होम का विधान है (कौटिल्य १।३।११)।

यही वानप्रस्थ कृष्णात्रेय, अग्निवेश के सहपाठी भेल के गुरु थे। इसी से भेल-सहिता में भी चरक सहिता की भाँति नाम मिलते हैं (भेलसहिता, पृष्ठ १५, २२, २६, ९८)। अष्टागसग्रह के टीकाकार इन्दु ने भी कृष्णात्रेय के मत को चरक का मत माना है, इसलिए कृष्णात्रेय ही पुनर्वसु आत्रेय हैं।[1]

महाभारत में भी कृष्णात्रेय का नाम चिकित्सा के प्रसग में पाया जाता है (शा २१२।३३)। इससे स्पष्ट है कि कृष्णात्रेय का सम्बन्ध चिकित्सा—काय-चिकित्सा से ही था।

प्राचीन काल में शाखा या चरण के रूप में विद्यापीठ चलते थे। शाखा या चरण का नाम ऋषि के नाम पर होता था। जिस शाखा या चरण मे जो ग्रन्थ बनते थे वे सब उसी शाखा या चरण के अन्तर्गत होते थे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयो के ग्रन्थ एक ही शाखा या चरण मे हो सकते थे। एक ऐसी ही शाखा कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध रखती थी। कृष्ण यजुर्वेद का सम्बन्ध वैशम्पायन से है। वैशम्पायन के शिष्य चरक कहलाते थे ("चरक इति वैशम्पायनस्य आख्या, तत्सम्बन्धेन सर्वे-

---

भिन्न एवेति वृद्धा.।) सिद्धयोगसग्रह की टीका कुसुमावलि में श्रीकण्ठ ने भी "कृष्णात्रेय पुनर्वसु" (द्वितीय भाग पृष्ठ ८४) कहा है। चरकसहिता, सूत्रस्थान अध्याय ११ का प्रारम्भ "इति ह स्माह भगवानात्रेय" से होता है, परन्तु समाप्ति कृष्णात्रेय के नाम से होती है।

१ कृष्णात्रेयमत वाहटेनाङ्गीकृत यतश्चरकस्यैष एव पक्ष। कृष्णात्रेयमतानुसारेणैव द्रव्याणा पलमित्युक्तम्। तदेव च चरकस्याभिमतमेवेत्यत्र पटोलमूलाद्य वत्सकबीजं च ज्ञापकम्। कृष्णात्रेयपरिभाषाप्रदर्शितश्चार्थश्चरकस्याप्यनुमत एवेत्यनुमीमहे।

तदन्तेवासिनश्चरका इत्युच्यन्ते"—काशिका)। उस शाखा या चरण में आयुर्वेद का विशेष अध्ययन होता था।

प्राचीन शिक्षाप्रणाली में चरणो का बहुत सम्मान होता था, विद्यार्थी अपने-अपने चरण एवं गुरु का नाम सम्मान से लेते थे। इन चरणो के अपने ग्रन्थ होते थे। इसी से चिकित्सा के आठ अगो में भी इनके प्रत्यग का पृथक् विकास हुआ था (तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकार क्रियाविधौ। वैद्याना कृतयोग्याना व्यधनशोधनरोपणे—चरक चि ५।४४)। जो शस्त्रचिकित्सा सीखते थे उनको धन्वन्तरीय सम्प्रदाय या शाखा में गिना जाता था, यह बहुवचन से स्पष्ट है।[1]

वैशम्पायन के विद्यापीठ, शाखा अथवा चरण मे चिकित्सा का भी विकास हुआ था। इस शाखा का शिष्य होने से अत्रिपुत्र को कृष्णात्रेय कहा गया। यही कृष्णात्रेय भरद्वाजपरम्परा से प्राप्त आयुर्वेद के उपदेष्टा है। ये साक्षात् भरद्वाज के शिष्य नही। भरद्वाज ने इन्द्र से प्राप्त ज्ञान ऋषियो को सम्पूर्ण रूप मे प्रदान किया था। उनमे से परम्पराप्राप्त ज्ञान आत्रेय पुनर्वसु ने आगे शिष्यक्रम से अग्निवेश आदि छ शिष्यो को दिया। इसे भरद्वाज से आत्रेय ने सीधा नही सीखा, ऋषियो द्वारा उनको प्राप्त हुआ था। ऐसी ही परम्परा का अभिप्राय चरण या शाखा है। वैशम्पायन के विद्यापीठ के अन्तर्गत आयुर्वेद ज्ञान को आत्रेय ने प्राप्त करके अग्निवेश आदि को दिया था।

बौद्ध काल में भी भिक्षु आत्रेय या आत्रेय का उल्लेख मिलता है, जो कि तक्षशिला में अध्यापक थे।[2] महावग्ग मे जीवक के गुरु का नाम नही आया, परन्तु दूसरे ग्रन्थो मे वहाँ अध्यापन करनेवाले आचार्य का नाम 'आत्रेय' मिलता है। सम्भवत यह अध्यापक इसी प्रकार अत्रिशाखा या चरण-विद्यापीठ से सम्बद्ध रहे हो। एक चरण या विद्यापीठ कई विद्याओ का अध्ययनक्षेत्र होता था, इसमें केवल एक ही विषय नही पढाया जाता था। इसी से एक ही ऋषि के नाम पर भिन्न भिन्न विषयो के जो ग्रन्थ मिलते है, वे इसी बात के प्रमाण है कि उस शाखा या चरण मे भिन्न-भिन्न विद्याएँ पढायी जाती थी। चरक सहिता का निम्न वचन भी इस विषय को स्पष्ट करता है—

"विप्रतिवादास्त्वत्र बहुविधा सूत्रकृतामृषीणा सन्ति, तानपि निबोधोच्यमानान्॥" चरक० शा० अ० ६।२१

इसी प्रकार चरकसहिता में अस्थिगणना याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार है, जो

---

१ अन्य स्थानो पर धन्वन्तरि एक वचन में आता है (चरक. शा. ६।२१)

२ देखिए भेलसहिता की भूमिका, श्री आशुतोष मजूमदार लिखित

एक पुष्ट प्रमाण है कि चरक संहिता का सम्बन्ध यजुर्वेद से है। याज्ञवल्क्य वैशम्पायन के शिष्य एवं शुक्ल यजुर्वेद के सग्राहक है। शाखा क्रम के कारण चरक, सूत्रस्थान के पच्चीस और छब्बीस अध्यायों में ऋषियो के साथ जो कथा मिलती है, वह भिन्न-भिन्न विचारों की द्योतक है। ये विचार भिन्न-भिन्न शाखा या चरणो मे ही मिले हैं। ऐसी कथाओं में बातचीत करने तथा ज्ञानवृद्धि के लिए विमानस्थान मे आवश्यक सूचना दी है। एक गुरु के या एक शाखा के विद्यार्थी दूसरे वर्ग के विद्यार्थी से शास्त्रार्थ कर बैठते थे, इसलिए इनका भी ज्ञान कराया जाता था।

उपलब्ध चरक संहिता, जिसके उपदेष्टा पुनर्वसु आत्रेय है, वह वैशम्पायन की शाखा या चरण में बनी है, इसी परम्परा में इसका संस्कार हुआ है।

समय—आत्रेय के समय के विषय मे कोई निश्चित सूत्र नही है। बौद्धकाल मे तक्षशिला के अध्यापक आत्रेय का चरक संहिता के आत्रेय के साथ कोई सम्बन्ध नही।[1] यह केवल इतना स्पष्ट करता है कि उस समय आत्रेय-शाखा या चरण के अन्दर आयुर्वेद का पठन होता था। उस शाखा मे शिक्षित आत्रेय वहाँ अध्यापक थे। चरक संहिता के उपदेशक कृष्णात्रेय भ्रमणशील व्यक्ति थे, उनका क्षेत्र मुख्यत वाहीक प्रदेश—पंजाब का पश्चिमोत्तर प्रान्त, हिमालय, कैलास, चैत्ररथ वन रहा। इस स्थान मे ही उनका बाह्लीक भिषक् काकायन के साथ विचार-विनिमय हुआ था। इसलिए इस सम्बन्ध में काल निर्णय करना कठिन है। परन्तु इतना निश्चित है कि कनिष्क के समय (ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी) तक चरक की रचना हो चुकी थी, क्योंकि सम्राट् कनिष्क के राजवैद्य का नाम 'चरक' कहा जाता है।

---

१. पं० हेमराजजी ने काश्यप संहिता के उपोद्घात (पृष्ठ ७९) में लिखा है कि "तिब्बतीय कथा में तक्षशिलानिवासी आत्रेय से जीवक के अध्ययन करने का उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि यही बुद्धकालीन आत्रेय पुनर्वसु आत्रेय है। परन्तु जीवक के अध्ययन के सम्बन्ध में महावग्ग के वर्णन में जीवक के गुरु का नाम नहीं। सिंहल देश की कथा में जीवक के गुरु का नाम कपलक्ष्य (कपिलाक्ष) आया है। ब्रह्मदेश की कथा में जीवक का विद्याध्ययन बनारस में बताया गया है। इस प्रकार अनेक वचनो से कथाओ के आधार पर निर्णय न करके महावग्ग को प्रामाणिक मानना ठीक है। चरकसंहिता में 'तक्षशिला' का उल्लेख नहीं है। इसलिए चरकसंहिता के उपदेष्टा आत्रेय इससे भिन्न है, सम्भवत गोत्रसाम्य से नामसाम्य हो। विशेष स्पष्टीकरण के लिए काश्यपसंहिता का उपोद्घात पृष्ठ ८०-८२ देखें।

श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने 'हिस्ट्री आफ इण्डियन मेडिसिन' में आत्रेय पुनर्वसु के नाम से सात योग और कृष्णात्रेय के नाम से बीस योग सग्रह किये है। चरकसहिता मे बला तैल (चि २८।१४८–१५६) तथा अमृताद्य तैल (चि २८। १५७–१६४) ये अन्य दो तैल आये हैं। हारीतसहिता के अनुसार च्यवनप्राश भी कृष्णात्रेय का ही कहा हुआ हैं। अन्य आत्रेय के नाम से कोई योग नही मिलता।

आत्रेयसहिता नाम से पृथक् ग्रन्थ भी है। इस सहिता की कई प्रतियाँ मिली हैं, ये सब एक है या भिन्न, इस सम्बन्ध मे विशेष स्पष्टीकरण नही हो सका, केवल नाम निर्देश मिला है।[1]

अग्निवेश आदि शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश देनेवाले पुनर्वसु आत्रेय का समय निश्चित करने का सबसे बडा साधन उनका अपना उपदेश हैं। चरकसहिता में 'काम्पिल्य' नगर को 'द्विजातिवराध्युषित' कहा हैं। चक्रपाणि ने द्विजातिवराध्युषित का अर्थ 'महाजन सेवित' किया है। शतपथ ब्राह्मण मे काम्पिल्य का जो उल्लेख मिलता हैं उससे इसकी सत्यता स्पष्ट है, यथा—

'यहाँ पर वैदिक सस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि, शिष्टाचार के आदर्श, सस्कृत भाषा के उत्तम वक्ता (शतपथ ३।२।३।१५), यज्ञो मे विधिपूर्वक यजन करनेवाले

---

१ आत्रेयसहिता का उल्लेख श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने अपनी पुस्तक "हिस्ट्री आफ इन्डियन मेडिसिन" भाग २ पृष्ठ ४३१-४३३ पर तथा प्रथम भाग ३४०-३४२ पर किया है। इसके अतिरिक्त बड़ोदा पुस्तकालय की सूची सख्या ११४; प्रवेश सख्या ५८२६ के अन्तर्गत आत्रेयसहिता का उल्लेख है।

श्री सूरमचन्द्र ने अपने आयुर्वेद-इतिहास में आत्रेय देश भी ढूँढने का यत्न किया हैं, और इस देश में रहने के कारण आत्रेय नाम हुआ, इस प्रकार की कल्पना भी की है (पृष्ठ १८४)।

अष्टांगसग्रह में पुनर्वसु को आगे करके धन्वन्तरि, भरद्वाज, निमि, काश्यप, कश्यप आदि ऋषि आयुर्वेद पढने के लिए इन्द्र के पास गये—ऐसा उल्लेख किया है (सूत्र-अ १।७-८)। नावनीतक के लशुनकल्प में आत्रेय, हारीत, पाराशर, भेल, गर्ग, शाम्बव्य, सुश्रुत आदि का एक साथ उल्लेख है। इस प्रकार के वचनो से आत्रेय का समय निश्चित नहीं हो सकता, क्योकि ये परस्पर विरोधी हैं। इनका अभिप्राय मेरी दृष्टि में केवल आयुर्वेद के आचार्यों का नाम कीर्त्तन है। एक समय में इनका होना केवल नामकीर्त्तन से उचित प्रतीत नहीं होता।

लोग रहते थे। उन्ही मे सर्वोत्तम राजा थे और सर्वश्रेष्ठ परिषद् भी कुरु-पचाल में ही थी। और भी कितनी ही वातो में वे अग्रणी थे। कुरु-पचाल राज्य दीर्घकाल तक समृद्धि के साथ वढता रहा। उसकी राजधानी काम्पिल्य, कौशाम्वी और परिचक्रा नामक मुख्य नगरों से उसका भौगोलिक विस्तार सूचित होता है।" (हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ ९४-९५)

उपनिषद् में कुरु-पञ्चाल का उल्लेख है—"जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे। तत्र कुरुपञ्चालाना ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवु"—वृहदा० ३।१।१। यजुर्वेद मे काम्पिल्य का नाम आता है—'सुभद्रिका काम्पिल्यवासिनीम्'—यजु २३।१८।

उव्वट ने इसकी टीका मे कहा है—"काम्पिल्यवासिनीम्—काम्पिल्यनगरे हि सुभगा सुरूपा विदग्वा स्त्रियो भवन्ति।"

इनसे स्पष्ट है कि एक समय काम्पिल्य नगर और पचाल जनपद अति प्रतिष्ठित था। यह समय गौतम वुद्ध से पूर्व का था जो कि उपनिषदो का समय है। वुद्ध के समय काम्पिल्य की महत्ता समाप्त हो गयी थी। उस समय तक्षशिला और काशी विद्या-केन्द्र थे। आत्रेय, जो कि वाह्लीक भिषक् काकायन से मिलते है, उन्होने तक्षशिला का उल्लेख नही किया। पाणिनि ने तक्षशिला का उल्लेख किया है (४।३।९३)। उनका समय लगभग ४७६ ई० पू० माना जाता है। सिकन्दर के समय तक्षशिला की प्रसिद्धि थी। वुद्ध के समय भी तक्षशिला की प्रसिद्धि थी। परन्तु आत्रेय के समय तक्षशिला का अस्तित्व सुनाई नही देता। इससे स्पष्ट है कि काम्पिल्य की प्रसिद्धि तथा तक्षशिला के अस्तित्व मे आने से पूर्व का समय पुनर्वसु आत्रेय का है, जो कि वुद्ध से पूर्व एव उपनिषदो का अन्तिम समय है। यह समय ७०० या ७५० ईसा पूर्व आता है, उपनिषदों के बनने का भी लगभग यही समय है।

चरक मे वाह्लीक, पह्लव, चीन, शूलीक, यवन, शक इन सव देशो का उल्लेख है, तक्षशिला का नही है। उस समय तक्षशिला प्रसिद्ध नही होगी। वुद्ध के समय तक विद्यापीठ बनने में तक्षशिला को कम से कम पचास वर्ष जरूर लगे होंगे। इसलिए इससे पूर्व आत्रेय को मानना उत्तम है।

अग्निवेश—कृष्णात्रेय के शिष्यों की सख्या छ है, अग्निवेश, हारीत, भेल, जतुकर्ण, पराशर और क्षारपाणि। इन सवने अपनी-अपनी सहिताएँ बनायी थी। इनमें अग्निवेश की सहिता का रूप ही वर्त्तमान उपलब्ध चरकसहिता मानी जाती है। परन्तु इससे पृथक् भी अग्निवेश की सहिता है, ऐसा कहा जाता है।

अग्निवेशसहिता (चरकसहिता) में तक्षशिला का उल्लेख नही है, परन्तु पाणिनि के सूत्र (४।३।९३) में तक्षशिला का उल्लेख है। पाणिनि ने गर्गादि गण में

जतूकर्ण, पराशर, अग्निवेश शब्दों का उल्लेख किया है (गर्गादिभ्यो यञ्–४।१।१०५)। इसलिए पाणिनि से पूर्व अग्निवेश का समय मानना उचित है, यह विचार पं० हेमराज का है (उपोद्घात, पृष्ठ ८२)। गर्गादि गण में इनका नाम भेषजचिकित्सा के सम्बन्ध मे आया है।

पं० हेमराज ने काश्यप संहिता के उपोद्घात में (पृष्ठ २३) अपने संग्रह से हेमाद्रि के लक्षणप्रकाश के कुछ वचन उद्धृत किये हैं। इनमें अग्निवेश, हारीत, क्षारपाणि, आत्रेय आदि का नाम लिखा है और इन सबको आयुर्वेद का कर्त्ता कहा है। पाल-काप्य-कृत हस्त्यायुर्वेद के चतुर्थ स्थान, चौथे अध्याय में स्नेहविशेष वर्णन में अग्निवेश का मत उल्लिखित है (पालकाप्य, पृ ५८१)।

मज्झिम निकाय मे गौतमबुद्ध के साथ आध्यात्मिक चर्चा प्रसंग मे सच्चक (सत्यक) नामक निर्ग्रन्थनाथ पुत्र का नाम भी गोत्ररूप मे अग्निवेश आया है (पृ १३८)। आत्रेय मुख्य आचार्य थे और अग्निवेश आदि उनके शिष्य थे। अग्निवेश की संहिता ही चरकसंहिता है। अग्निवेश, जतुकर्ण, पराशर नाम उपनिषद् में आते हैं (आग्निवेश्या-दाग्निवेश्य· पाराशर्यात् पाराशर्यो जातूकर्ण्याज् जातूकर्ण्य —बृहदा २।६।२-३)।

अग्निवेश के लिए वह्निवेश (सू १३।३), हुताशवेश (सू १७।५) नाम भी आते हैं। माधवनिदान की मधुकोश टीका मे श्रीकण्ठदत्त ने लिखा है —"चरके हुता-शवेशशब्देनाग्निवेशोऽभिधीयते।"

महाभारत में अग्निवेश का भरद्वाज से आग्नेयास्त्र प्राप्त करने का भी उल्लेख है (आदि १४०।४१)। इसलिए नाम सामान्य से अग्निवेश का काल निर्णय या उसकी सही जानकारी ढूंढ निकालना सम्भव नही।

अग्निवेश के साथी भेल और पराशर थे। भेल के बहुत से वचन उपलब्ध चरक-संहिता से मिलते हैं (यथा—चरकसंहिता महाचतुष्पाद अध्याय में मैत्रेय और आत्रेय-संवाद भेलसंहिता के १२५ पृष्ठ के वचनों से मिलता है। वहाँ पर मैत्रेय के स्थान पर भद्रशौनक नाम है, इतना ही अन्तर है)। इसी प्रकार पराशर का वचन आत्रेय के चरकसंहितास्थ वचन से मिलता है (सूरमचन्द्र-कृत आयुर्वेद का इतिहास, पृष्ठ १९८)। इस प्रकार से ये अग्निवेश के सहपाठी सिद्ध किये गये हैं।

अग्निवेश-तन्त्र—आत्रेय के सब शिष्यों ने पृथक्-पृथक् तंत्र बनाये थे। सुश्रुत के उत्तरस्थान में कायचिकित्सा के छ तंत्रों का उल्लेख है (षट्सु कायचिकित्सासु ये चोक्ता· परमर्षिभिः॥ उत्तर अ १।६)। डल्हण ने इनसे अग्निवेश, जतुकर्ण, पराशर, क्षारपाणि, हारीत और भेल के बनाये तंत्रों का ग्रहण किया है। इसी से वर्त्तमान उप-

लब्ध संहिता में चरकसंहिता के बहुत से वचन मिलते हैं (चरकसंहिता का अनुशीलन, पृष्ठ ११३ की टिप्पणी)। उपलब्ध चरकसंहिता की पुष्पिका में स्पष्ट निर्देश "अग्निवेशकृते तन्त्रे"—इस रूप में है। अग्निवेश की संहिता भले ही अलग हो, परन्तु उपलब्ध चरकसंहिता अग्निवेश तन्त्र ही है।

जेज्जट ने अपनी टीका में अग्निवेश तन्त्र के जो वचन कहीं कहीं पर दिये हैं, वे उपलब्ध चरक में नहीं मिलते। इन वचनों की भाषा बहुत अर्वाचीन है, कुछ वचन तो माधवनिदान के श्लोकों से मिलते हैं। यवागू सिद्ध में प्रचलित परिभाषा का जो श्लोक टीका में अग्निवेशसंहिता के नाम से दिया गया है, वह पूर्णतः बहुत अर्वाचीन है। परिभाषा का उल्लेख शार्ङ्गधरसंहिता का है, जो कि चौदहवीं शती का ग्रन्थ है। ऐसा प्रतीत होता है कि अग्निवेश के नाम पर संहिता बाद में लिखी गयी है।[1]

---

१. चरकसंहिता पर जेज्जट की टीका लाहौर में छपी थी, उसी के निम्न उद्धरण हैं—

धातुमूत्रशकृद्वाहिस्रोतसा व्यापिनो मलाः।
तापयन्तस्तनुं सर्वां तुल्यदूष्यादिवाधिता ॥
बलिनो गुरवः स्तब्धा विशेषेण रसाश्रिता।
सन्तत निष्प्रतिद्वन्द्व ज्वरं कुर्युः सुदुःसहम् ॥

तुलना करें चरक के "निष्प्रत्यनीक कुरुते तस्माज्ज्ञेय सुदुःसह" (चि अ ३।५६) से। इसी प्रकार "सर्वाकारं रसादीना शुद्ध्याशुद्ध्यापि वा क्रमात्" की तुलना चरक के "स शुद्ध्या वाऽप्यशुद्ध्या वा रसादीनामशेषत"(चि अ ३।५७)से; "वातपित्तकफैः सप्त दश द्वादश वासरान्। प्रायोऽनुयाति मर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥" की तुलना चरक के "दशाह द्वादशाह वा सप्ताहं वा सुदुःसह.। स शीघ्र शीघ्रकारित्वात् प्रशम याति हन्ति वा" (चरक चि अ ३।५५) से होती है (एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च—माधव, ज्वरनिदान से तुलना करें)।

चक्रपाणि ने अपनी टीका (चरक चि. अ ३।१९७) में अग्निवेश का वचन परिभाषा रूप में उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि चक्रपाणि के समय अग्निवेशसंहिता थी—"द्रव्यमापोथितं क्वाथ्यं दत्त्वा षोडशिक जलम्। पादशेष च कर्त्तव्यमेष क्वाथविधि. स्मृत। चतुर्गुणेनाम्भसा वा द्वितीय समुदाहृत ॥"

यहाँ पर चक्रपाणि ने अपनी टीका में कृष्णात्रेय का वचन भी दिया है—"पातव्यकषाये कृष्णात्रेय—क्वाथ्यद्रव्यपले वारि द्विरष्टगुणमिष्यते।" यह वचन उपलब्ध

अग्निवेश के नाम पर अग्निवेशसहिता के अतिरिक्त नाडीपरीक्षा (बडोदा पुस्तकालयस्य हस्तलिखित पुस्तको की सूची सख्या १२४, प्रवेश सख्या १५७९), हस्तिशास्त्र (मद्रास पुस्तकभण्डार की हस्तलिखित पुस्तको की सूची सख्या ३७९१) तथा अजननिदान प्रचलित है। टीकाकारो ने अग्निवेश के नाम से जो वचन उद्धृत किये है वे उपलब्ध चरकसहिता मे नही है । इसलिए कविराज गणनाथ सेन की मान्यता है कि ११-१२वी शती मे त्रुटित या सम्पूर्ण अग्निवेशतत्र सभवत. उपलब्ध रहा होगा।

चरक

चरकसहिता के प्रतिसस्कर्त्ता चरक है। चरक नाम बहुत प्राचीन है, कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा का नाम चरक है, इस शाखा के पढनेवाले शतपथ आदि मे चरक कहे जाते है। ललितविस्तर में तपोवृत्ति भ्रमणशील सन्यासियों के लिए चरक शब्द आया है (अन्यतीर्थकश्रमणब्राह्मणचरकपरिव्राजकानाम्—१म अध्याय) । वराहमिहिर के बृहज्जातक मे सन्यासियो के अर्थ मे चरक शब्द मिलता है ("शाक्या-जीविकभिक्षुवृद्धचरका निर्ग्रन्थवन्याशना ")। उस समय चक्र धारण करनेवालो ('चरकश्चक्रधर'–भट्टोत्पल) और योगाभ्यासी व्यक्तियो को (चरका योगाभ्यास-कुशला मुद्राधारिणश्चिकित्सानिपुणपाखण्डभेदा —रुद्र) भी चरक कहा जाता था। सायण ने चरक का अर्थ बाँस के ऊपर नृत्य करनेवाला नट किया है (काश्यपसहिता उपोद्घात, पृष्ठ ८३)।

चरक शब्द उपनिषद् में भी आया है ('मद्रेषु चरका पर्यव्रजाम '—बृह० ३।३।१)। चरक शब्द वैशम्पायन और उनके शिष्यो के लिए भी प्रयुक्त होता था (काशिका)। चरक शब्द फारसी में जख्म-व्रण के लिए आता है। यह शब्द शिष्य अर्थ में भी आता है। जो शिष्य प्रथम गुरु के पास विद्या समाप्त करके ज्ञानोपार्जन के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते फिरते थे, वे चरक कहे जाते थे। इसी से अष्टाध्यायी मे ('माणवचर-काभ्या खञ्' ५।१।११ के द्वारा) चरक के लिए हितकारी, इस अर्थ में 'चारकीण' शब्द आया है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष–३००)। जातकों मे तक्षशिला के विद्यार्थियो के लिए "चारिका चरन्ता" कहा गया है (सोनक जातक ५।२।४७)। श्युआन्

चरकसहिता का नहीं है, इसी से चक्रपाणि ने इसका प्रतीक नहीं दिया। इससे स्पष्ट है कि कृष्णात्रेय और अग्निवेश के नाम पर पीछे से पद्य बनाये गये है।

च्युआङ ने पाणिनि के विषय में लिखा है कि शब्दसामग्री की खोज में उन्होंने दीर्घ यात्रा की और विद्वानों से मिलकर पूछताछ की। यही उनका 'चरक' रूप था। भावप्रकाश मे शेषनाग द्वारा लोकवृत्तान्त जानने की इच्छा से चर रूप में पृथ्वी पर आने के कारण उनको चरक कहा गया है।[1] यही चरकाचार्य हैं।

इस प्रकार चरक शब्द के बहुत अर्थ मिलते हैं। भ्रमणशील 'चरक' मनुष्यों का हित सम्पादन करनेवाले होते थे, इस अर्थ में वे लोगों की आधि और व्याधि दोनों दुःखों को दूर करते थे। इसलिए पीछे से वैद्यों के अर्थ मे भी चरक शब्द व्यवहृत होने लगा। इनमें से कायचिकित्सा में निपुण किसी चरक ने अग्निवेश के तन्त्र का प्रतिसंस्कार किया होगा। इसी से वृहज्जातक की व्याख्या मे वैद्यविद्या के विद्वान्, लोकहित की दृष्टि मे ग्राम-ग्राम घूमकर वैद्यविद्या का उपदेश और चिकित्सा करनेवालो को चरक कहा गया है। पीछे आयुर्वेद विद्या मे निपुण व्यक्तियो के लिए भी चरकाचार्य नाम चल पडा (जैसे वाग्भट को चरकाचार्य कहते हैं)। जयन्त भट्ट ने न्यायमंजरी मे आचार्य उनको कहा है जिन्होंने देश, काल, पुरुष, दशा भेद के अनुसार समस्त एवं व्यस्त पदार्थशक्ति का प्रत्यक्ष करके निश्चय कर लिया है।

याज्ञवल्क्य स्मृति की व्याख्या मे विश्वरूपाचार्य ने "तथा च चरका पठन्ति" वाक्य लिखा है।[2] शुक्ल यजुःसंहिता मे पुरुषमेध प्रकरण के अन्दर "दुष्कृताय चरकाचार्यम्" (अ ३०।१८) यह मन्त्र आया है। इसका अर्थ वैद्यविद्या के आचार्य किया जाता है। सायण ने 'वश पर खेल करनेवाला नट' अर्थ किया है। स्वामी दयानन्दजी ने खानेवालों का आचार्य अर्थ किया है। प्रकरण को देखने से निम्न श्रेणी के व्यक्तियों के आचार्य के लिए यह शब्द है।

---

१ अनन्तश्चिन्तयामास रोगोपशमकारणम्। सञ्चिन्त्य स स्वयं तत्र मुनेः पुत्रो बभूव ह॥ प्रसिद्धस्य विशुद्धस्य वेदवेदाङ्गवेदिनः। यतश्चर इवायातो न ज्ञातः केनचिद्यतः॥ तस्माच्चरकनाम्नाऽसौ ख्यातश्च क्षितिमण्डले। आत्रेयस्य मुनेः शिष्या अग्निवेशादयोऽभवन्॥ (भावप्रकाश)

२ तथा च चरकाः पठन्ति, श्वेतकेतुः हारुणेय ब्रह्मचर्यं किलासो जग्राह। तमश्विनावूचतुः। मधुमासौ किल ते भैषज्यमिति। स ह वाच ब्रह्मचर्यमानी कथं मध्वश्नीयामिति। तौ होचतुः यदा चात्मनो पुरुषो जीवति अथान्यत्सुकृतं करोमीत्यात्मानं सर्वतो गोपायेत्। (याज्ञवल्क्य टीका बालक्रीडा १, २, ३२)

चरक और पतंजलि—नागेश भट्ट[1] चक्रपाणि,[2] विज्ञानभिक्षु[3] तथा भावमिश्र के शेषावतार की कल्पना के आधार पर चरक और पतञ्जलि को एक सिद्ध करने का यत्न किया जाता है। पतञ्जलि पुष्यमित्र के समय हुए है, पुष्यमित्र ने मौर्यवंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को मारकर राज्य प्राप्त किया था। पुष्यमित्र बृहद्रथ का सेनापति तथा शुगवशी था, इसने १८४ ई० पू० मे राज्य प्राप्त किया और लगभग ३६ वर्ष चलाया। इसके समय यवनो (शक-हूणो का) आक्रमण भारतवर्ष मे हुआ था। उनके द्वारा माध्यमिका तथा साकेत का घेर लेने का सकेत महाभाष्य मे मिलता है—

"अरुणद् यवन. साकेतम्। अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्।"

पतञ्जलि ने महाभाष्य में अपने को 'गोनर्दीय' गोनर्द देशवासी कहा है। चरक मे गोनर्द देश का कही भी उल्लेख नही है। यदि भाष्यकार और चरक-प्रतिसस्कर्त्ता एक होते तो चरक मे किसी स्थान पर गोनर्द देश का उल्लेख मिलना चाहिए था। चरक मे काम्पिल्य, वाह्लीक, पह्लव, शूलिक, चीन, सिन्धु, सौवीर आदि देशो का उल्लेख है, परन्तु गोनर्द का नही है। महाभाष्य मे भी चरक नाम नही है। इससे दोनो की भिन्नता स्पष्ट है।

जो पतञ्जलि व्याकरण पर बृहत् भाष्य लिखकर तथा योगसूत्र निर्माण करके अपनी प्रतिभा दिखा सकते है, वह चरक का प्रतिसस्कार करके अपनी प्रतिभा को सकुचित रूप मे क्यो दिखाते, नया ग्रन्थ भी लिख सकते थे। महाभाष्य में बीच-बीच मे लोकोक्तियाँ, समास-व्यासोक्तियाँ बहुत मिलती है, परन्तु चरक में ऐसी कोई रचना नही। महाभाष्य में प्रतिपक्षी को जिस प्रकार से आडे हाथ लिया गया है, वैसा चरक में नही मिलता।[4]

---

१. "तत्राप्तोपदेशः शब्दः प्रमाणम्। आप्तो नाम अनुभवेन वस्तुतत्त्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान् रागादिवशादपि नान्यथावादी य. स इति चरके पतञ्जलि." वै. सि मंजूषा। यह लक्षण चरकसहिता के आप्तलक्षण से मिलता है (सू अ ११)।

२ पातंजल-महाभाष्य-चरकप्रतिसंस्कृतै.। मनोवाक्कायदोषाणा हर्त्रेऽहिपतये नमः॥ (चक्रपाणि)

३ योगेन चित्तस्य पदेन वाचा मलं शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपाकरोत्त प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्राजलिरानतोऽस्मि॥ (विज्ञानभिक्षु)

४ युधिष्ठिर मीमासक ने किलास का अर्थ चरक किया है; वे चरक का अर्थ श्वेतकुष्ठ करते है, परन्तु चरक शब्द अरबी-फारसी में व्रण या जख्म के लिए आता है। देखिए—आयुर्वेद का इतिहास, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।

चरकमहिता के ज्ञाता के लिए ऐसे सकोच का कोई प्रश्न ही नही था। 'ऋतूक्थादि' सूत्र(४।२।६०) के वार्तिक मम्बन्धी उदाहरणों में 'वायसविद्यिक, सार्पविद्य, आङ्गविद्य, धार्मविद्य, त्रैविद्य' आदि उदाहरणो के साथ आयुर्वेद विद्या मम्बन्धी उदाहरण न देना स्पष्ट करता है कि पतञ्जलि चरक से भिन्न है। इमी प्रकार 'रोगाख्याया ण्वुल् बहुलम्' (३।३।१०८), 'रोगाच्चापनयने' (५।४।४९) इन सूत्रो का कोई भी उदाहरण महाभाष्य में नही दिया गया, जब कि काशिका में 'प्रवाहिकात कुरु' उदाहरण देकर प्रवाहिका की चिकित्सा करो—यह स्पष्ट किया गया है।

जो नियम स्त्रियो को रजस्वलावस्था में पालन करने चाहिए उनकी सुश्रुत मे मूचना दी है (शा० अ० २।२५)। यही बातें 'चतुर्थ्यर्थे बहुल छदसि' (२।३।६२) मूत्र के भाष्य मे पतञ्जलि ने उदाहरण रूप से कही हैं।[1] चरक के जातिसूत्रीय अध्याय में (शा० अ० ८) इस प्रकार की सूचना नही है।

योगसूत्रो में वर्णित योगप्रक्रिया तथा चरकसहिता के योगज्ञान में अन्तर है। चरक के योगसाधनानुसार रज और तम को दूर करने पर जब शुद्ध सत्त्व का उदय हो जाता है, तब मन के आत्मा मे स्थिर हो जाने से योग पूर्ण होता है। योगदर्शन में चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा है। इस योग के लिए जो उपाय बताये गये हैं वे चरकमहिता के उपायो से (शा० अ० ५) भिन्न हैं। चरकसहिता का योग मोक्ष को देता है, योगदर्शन का योग समाधि में ईश्वर-साक्षात्कार कराता है।

योगसूत्रों तथा महाभाष्य के कर्त्ता एक ही पतञ्जलि है, यह भी निश्चित नही। जो भी हो, तात्पर्य यह है कि चरक और पतञ्जलि दोनो को भिन्न मानना ही उत्तम है।

चरक का समय—उपलब्ध चरकसहिता में साख्यदर्शन तथा न्यायदर्शन की अधिक छाया है, बौद्ध दर्शन की छाया भी एक दो स्थानो में है, जैसे क्षणिकवाद की छाया चरक के "हेतुसाम्यात् समस्तेषा स्वभावोपरम सदा"—सू० अ० १६।२७ इम वाक्य में मिलती है। भिषग्जितीय अध्याय (वि० अ० ८) में न्यायदर्शन के निग्रहस्थान आदि विषयो का उल्लेख है। नागार्जुन ने 'उपायहृदय' नामक

---

१. 'स्त्रियाम्' (४।१।३) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार के अनुसार प्रसव पुरुषधर्म होने से 'पुमान् सूते' यह प्रयोग होता है, परन्तु पाणिनि के षूङ् प्राणिगर्भविमोचने धातुपाठ के अनुसार लोक में 'स्त्री सूते' 'माता सूते' प्रयोग होते हैं। भाष्यकार के मत से ये प्रयोग औपचारिक हैं। किसी शरीरविज्ञानी का ऐसा अभिप्राय सदेहास्पद होगा।

ग्रन्थ में तथा गौतम ने न्यायदर्शन में पक्ष-प्रतिपक्ष, जय-पराजय आदि विवादविषयों का उल्लेख किया है। आयुर्वेदग्रन्थों में केवल चरक में ही यह विषय वर्णित है।

त्रिपिटक के चीनी अनुवाद में कनिष्क के राजवैद्य का नाम चरक मिलता है। कनिष्क के समय में ही आर्य नागार्जुन की स्थिति मानी जाती है। चरक और 'उपाय-हृदय' दोनों में एक समान वाद-विषय का उल्लेख दोनों को समकालीन सिद्ध करता है। कनिष्क का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाता है। इससे यह निश्चित नहीं होता कि नागार्जुन का समकालीन चरक ही अग्निवेशतंत्र का प्रतिसंस्कर्ता था। कनिष्क की सभा में अश्वघोष कवि भी था जिसे कनिष्क पाटलिपुत्र से लाया था। अश्वघोष की रचनाओं में चरकसंहिता की झलक, उपमाएँ, भाव प्रायः मिलते हैं। सम्भवतः उसी समय चरकसंहिता का प्रतिसंस्कार हुआ हो।

नागार्जुन ने उपायहृदय में सुश्रुत का नाम भैषज्य विषय में लिखा है, परन्तु अपने सामयिक कनिष्क के राजवैद्य चरक का नाम नहीं लिखा। नागार्जुन ने अग्निवेश का भी नाम नहीं लिखा। इसलिए इस संक्षिप्त भैषज्य विषय में चरक का नाम न आना इस बात को प्रमाणित नहीं करता कि चरक कनिष्क के समय नहीं था। अश्वघोष की रचनाओं से स्पष्ट है कि उसके समय उपलब्ध चरकसंहिता का अस्तित्व था। इसका प्रतिसंस्कार हो चुका था। संस्कार ईसा की प्रथम शताब्दी में या उससे पूर्व चरक द्वारा किया जा चुका था, तभी दोनों के भाव, उपमा आदि में समानता है। इसलिए चरक का समय ईसा की प्रथम शताब्दी पूर्व या यही मानना अधिक युक्तिसंगत है।[1]

शल्यचिकित्सा सम्प्रदाय

आयुर्वेद के आठ अंगों में सुश्रुतसंहिता के अनुसार शल्यचिकित्सा सबसे मुख्य है। क्योंकि इसमें इच्छानुकूल, आँख से देखते हुए कार्य किया जाता है, इसमें उपक्रम-चिकित्सा तुरन्त हो जाती है। यंत्र, शस्त्र, अग्नि, क्षार आदि इसके साधन हैं, अधिक वनस्पतियों का झमेला नहीं है। अन्य सब चिकित्सांगों को यह मान्य है, उनको भी इसकी जरूरत पड़ती है (सु० सूत्र० अ० १।१८)। इसके सिवाय इसी अंग का सब अंगों से प्रथम उपदेश हुआ है, क्योंकि देव-असुरसंग्राम में चोट आदि का संरोहण

---

१ अधिक जानकारी के लिए देखिए—लेखक का 'संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद'-ग्रन्थ; एवं 'सांस्कृतिक दृष्टि से चरक संहिता का अध्ययन'

तथा यज्ञ के सिर का सधान इसी अग के द्वारा पूरा हुआ था। इसलिए अन्य सब अगो में शल्य अग ही सबसे मुख्य है।[1]

इस अग के उपदेष्टा धन्वन्तरि है, जो कि वैद्यक शास्त्र के सबसे प्रथम देवता माने जाते है—जैसा कि निम्न पद्य में उनका कहना है—

अह हि धन्वन्तरिरादिदेवो जरारुजामृत्युहरोऽमराणाम्।
शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेत प्राप्तोऽस्मि गा भूय इहोपदेष्टुम्॥
सु सू अ. १।२१

देवताओ के बुढापे, रोग, मृत्यु को दूर करनेवाला आदिदेव धन्वन्तरि मै हूँ, शल्य आदि दूसरे अगो का उपदेश करने के लिए पुन इस पृथ्वी पर आया हूँ। धन्वन्तरि का देवता होना चरकसहितोक्त अध्ययन विधि से भी सिद्ध होता है। वहाँ ब्रह्मा, अग्नि, अश्विनौ, इन्द्र के साथ धन्वन्तरि का भी नाम लेकर आहुति देने का उल्लेख है (वि० अ० ८।११)। चरकसहिता के समय धन्वन्तरि-सम्प्रदाय का विकास हो गया था, जो लोग दाहकर्म, शस्त्रकर्म करते थे उनके लिए धन्वन्तरि शब्द प्रयुक्त होता था (चरक०चि०५।४४)। चरक सहिता के समय शस्त्र, क्षार, अग्नि-चिकित्सा का प्रचार अधिक था, यह बात अर्शचिकित्सा में औषध प्रयोग का महत्त्व बतानेवाले वचन से स्पष्ट है।[2]

चरकसहिता में दी हुई आयुर्वेदपरम्परा मे धन्वन्तरि का नाम नही, एव सुश्रुत की परम्परा में भरद्वाज या आत्रेय का नाम नही हैं। परन्तु उपलब्ध सुश्रुत मे चरक-सहिता का गद्य तथा पद्य भाग कई स्थानो पर अविकल रूप से मिलता है। उत्तर तत्र के "षट्सु कायचिकित्सासु ये चोक्ता परमर्षिभि"—वाक्य में छ सख्या आत्रेय के अग्निवेश, भेल, पराशर, क्षारपाणि, जतुकर्ण, हारीत, इनकी पद्धति के लिए ही कही

---

१ फिर भी कायचिकित्सा का क्षेत्र शल्यचिकित्सा से अधिक विस्तृत है, मनुष्य को जीवन में शल्यचिकित्सा की अपेक्षा कायचिकित्सा की ही अधिक आवश्यकता होती है। रसायन, वाजीकरण, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतत्र—इनमें कायचिकित्सा ही प्रधान है।

२. पुनर्विरोहो रूढाना क्लेदो भ्रशो गुदस्य च।
मरण वा भवेच्छीघ्रं शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात्॥
यत्तु कर्म सुखोपायमल्पभ्रशमदारुणम्।
तदर्शसा प्रवक्ष्यामि समूलाना निवृत्तये॥ चरक. चि अ १४।३३-३६

हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वर्त्तमान उपलब्ध सुश्रुतसंहिता चरकसंहिता के पीछे बनी है। इस समय शल्य के लिए केवल सुश्रुत की पद्धति हमको उपलब्ध है। कायचिकित्सा के लिए वाग्भटरचित संग्रह और हृदय मिलते हैं, इनमें आत्रेय को ही उपदेष्टा मानकर व्याख्यान किया गया है। यद्यपि इनमें शल्यचिकित्सा सुश्रुत के आधार पर लिखी गयी है, परन्तु मुख्य भाग चरक के अनुसार ही है।

उपलब्ध सुश्रुतसंहिता में धन्वन्तरि का काशिराज और दिवोदास नामों से भी उल्लेख किया गया है। धन्वन्तरि शब्द का अर्थ शल्यशास्त्र के पार ले जानेवाला बतलाया गया है। शल्य का अर्थ हिंसा-पीडा देनेवाला है, इस दृष्टि से जहाँ वेणु, तृण, काष्ठ, लोह, गर्भ, पुरीष आदि शल्य हैं, वहाँ पर शोक भी शल्य है, अतः इसकी भी चिकित्सा वर्णित है (सूत्र० अ० २७।५)। शरीर में जिससे भी पीडा, दुःख हो, उन सबको शल्य कहा गया है। शल्य शास्त्र के उपदेष्टा धन्वन्तरि हैं, जो इन्द्र के शिष्य तथा सुश्रुत आदि के गुरु, काशि के राजा हैं। राजा होने से वचन में अभिमान (अहं हि धन्वन्तरि) तथा दान देने का गौरव (मया तु प्रदेयमर्थिभ्यः) स्पष्ट दीखता है। इस दान का उद्देश्य प्रजाहित ही है।[1] परन्तु महाभारत में समुद्र मथन के प्रसंग में धन्वन्तरि देव के आविर्भाव का उल्लेख है। पुराणों में भी इसी रूप में इनका उल्लेख है। परन्तु वेद में धन्वन्तरि का नाम नहीं। कौषीतकि ब्राह्मण में तथा कौषीतकी उपनिषद् में दैवोदासि-प्रतर्दन का उल्लेख है।[2] काठक संहिता में भी आरुणि समकालीन भैमसेन के पुत्र दिवोदास का नाम है।

हरिवंश पुराण के अनुसार ये काश राजा के वंश में उत्पन्न होने से काशिराज एवं धन्व राजा के पुत्र होने से धन्वन्तरि कहे जाते हैं। भरद्वाज से विद्या पढ़ने के कारण इनका आयुर्वेद से सम्बन्ध है। दिवोदास धन्वन्तरि की चौथी पीढ़ी में हुए हैं, परन्तु आयुर्वेद के विद्वान् होने से धन्वन्तरि का अवतार मानकर इनका 'धन्वन्तरि दिवोदास' यह नाम प्रचलित हो गया है। पं० हेमराजजी के कथनानुसार उनकी ताडपत्र लिखित

---

१ काशिराज का उल्लेख बौद्ध जातकों में विशेष रूप से है, काशिराजकुमार तक्षशिला में विद्याध्ययन के लिए जाते थे।

२ अथ ह स्माह दैवोदासिः प्रतर्दनो नैमिषीयाणां सत्रमुपगम्योपास्य विचिकित्सां पप्रच्छ। (कौषीतकि ब्राह्मण–२६-५)

प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम। (कौषीतक्युपनिषद्–३–१)

दिवोदासो भैमसेनिरारुणिमुवाच। (काठक संहिता ७।१।८)

१. भन्ते नागसेन! ये ते अहेसुं तिकिच्छकानं पुब्बका आचारिया नारदो, धन्वन्तरि, अंगिरसो, कपिलो कण्डरग्गिसामो, अतुलो, पुब्बकच्चायनो, सब्बे येते आचारिया सकिं येव रोगुप्पत्तिं च निदानं च सभावं च समुट्ठानं च तिकिच्छं च किरियं च सिद्धासिद्धं च सब्बान् तं निरवसेसं जानयित्वा इमस्मिन् काये एत्तका रोगा उप्पज्जिस्सन्तीति एकापहारेन कलापग्गाहं कारयित्वा सुत्तं बन्धिंसु असब्बञ्ञुनो एते सब्बे ॥

(मिलिन्द पन्ह)

धन्वन्तरि, वैतरण, भोज आदि चिकित्सको की चर्चा करते हुए 'लोगो का उपकार करनेवाले धन्वन्तरि के समान विद्वान् भी काल के मुख में चले गये'—यह बतलाया है।[१] आर्यसूत्रीय जातक में केवल धन्वन्तरि का नाम आया है।[२]

'धन्वन्तरि' नाम चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के नवरत्नो की गणना मे भी मिलता है (धन्वन्तरि क्षपणकोऽमरसिंहशंकु—वेतालभट्टघटकर्परकालिदासा)। सम्भवत यह नाम उस सभा के राजवैद्य के लिए आया हो।

काश्यप सहिता के शिष्योपक्रमणीय अध्याय मे आहुति देने के लिए 'धन्वन्तरये स्वाहा' कहा है, वहाँ पर आत्रेय या भरद्वाज का उल्लेख नही है (विमान० अ० १।३)। चरक सहिता के भी रोगभिषग्जितीय प्रकरण (वि० अ० ८) में धन्वन्तरि के लिए आहुति देना लिखा है, भरद्वाज के लिए नही। चरक सहिता मे गर्भनिर्माण के सबध में धन्वन्तरि के मत का उल्लेख मिलता है (शा० अ० ६।२१)। परन्तु सुश्रुत में इसी प्रसग में शौनक, कृतवीर्य, पराशर, मार्कण्डेय, सुभूति तथा गौतम के मत दिये गये है, इनमें आत्रेय या भरद्वाज का मत नही है। सुश्रुत मे धन्वन्तरि का जो मत इस सम्बन्ध मे है (शा० अ० ३।३२) वही चरक सहिता में है। इसी मत को आत्रेय ने स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त चरक सहिता मे जहाँ भी दाह या शल्य-चिकित्सा का प्रसग आया है, वहाँ पर धन्वन्तरि सम्प्रदाय के वैद्यो का स्मरण किया गया है।[३] यही प्रकार काश्यप सहिता मे भी मिलता है, द्विव्रणीय अध्याय में शल्यकर्म को 'परतन्त्रसमय' कहकर जो वर्णन किया है, वह चरकसहिता के वचनो से पूर्ण रूप में मिलता है, यथा—

---

१. आसीविसा कुपिता यं दसन्ति, टिकिच्छका हीसविसं दसन्ति।
नमुञ्चुनो दट्ठविस हनन्ति त मे मति होतिचरामि धम्मम्।
धम्मन्तरि वैतरिणि च भोजो विसानि हत्वा च भुजङ्गमानम्॥
(अयोघर जातक)

२ हत्वा विषाणि च तपोबलसिद्धमंत्रा व्याधीतॄणामुपशम्य च वैद्यवर्या।
धन्वन्तरिप्रभृतयोऽपि गता विनाशं धर्माय मे नमति (भवति)॥
(आर्यसूरीय जातक)

३. सर्वांगनिर्वृत्तिर्युगपदिति धन्वन्तरिः (चरक. शा अ. ६); दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजा बलम् (चि. अ ५।६४); इद तु शल्यहर्तॄणाम् (चि १३।१८२); ता शल्यविद्भि॰ कुशलैः चिकित्स्याः शस्त्रेण संशोधनरोपणैश्च (चि. अ. ६।५८)।

परतन्त्रस्य समय प्रब्रुवन्न न विस्तरम् ।
न शोभते सता मध्ये लुब्ध. काक इवाचित' ॥

——काश्यप. द्विव्रणीय ५

तेषामभिव्यक्तिरभिप्रदिष्टा शालाक्यतन्त्रेषु चिकित्सित च ।
पराधिकारे तु न विस्तरोक्ति शस्तेति तेनात्र न नः प्रयास ॥

चरक. चि. अ. २६।१३१

इसलिए इन वातो से स्पष्ट है कि धन्वन्तरि नाम आयुर्वेद से सम्वन्धित था और यह 'धन्वन्तरि' शव्द इसी अर्थ में उपलव्व सहिताओ से वहुत प्राचीन था । यह नाम विशेप सम्प्रदाय के लोगो के लिए प्रचलित था, यह वात धन्वन्तरि शव्द के वहुवचन प्रयोग से स्पष्ट है । इस सम्प्रदाय का मुख्य सम्वन्व आयुर्वेद के शल्य अग से था, जिसमें दाह, अग्नि, शस्त्र कर्म होते थे । इस अग का अभ्यास करनेवाले पृथक् रहते थे ।

परपरा

ब्रह्मा से इन्द्र तक आयुर्वेदपरम्परा चरक-सुश्रुत-काश्यप सहिता में एक समान है । इन्द्र से इसकी पृथक् शाखाएँ निकलती है। धन्वन्तरि ने इन्द्र से सम्पूर्ण आयुर्वेद सीखा, परन्तु उपदेश केवल शल्य अग का ही किया है। इसलिए इस अग का नाम धन्वन्तरि-सम्प्रदाय प्रसिद्ध हुआ। (सामान्यत सव प्रकार के चिकित्सको के लिए 'धन्वन्तरि' शव्द लोक में चलता है।) धन्वन्तरि ने अपना उपदेश सुश्रुत को सम्वोधन करके दिया है। इसी से इसका सुश्रुतसहिता नाम हो गया है। सुश्रुत-सहिता में धन्वन्तरि या दिवोदास और सुश्रुत (गुरु और शिष्य) ये ही दो नाम आते हैं, काश्यप और चरक की भाँति दूसरे किसी ऋपि का मत इसमें नही आता। दिवोदास उपदेष्टा और सुश्रुत श्रोता, यही दो व्यक्ति इस ग्रन्थ की पृष्ठभूमि हैं।

धन्वन्तरि दिवोदास—दिवोदास का नाम ऋग्वेद में (यद् यात दिवोदासाय वर्त्ति भारद्वाजावश्विना हयन्त) सवसे प्रथम आता है। इसे सुदास का पिता और शम्वर का शत्रु कहा गया है। सुदास का दस राजाओ से युद्ध प्रसिद्ध है। परन्तु इस दिवोदास का काशिराज धन्वन्तरि से सम्वन्ध प्रतीत नही होता, न इसके चिकित्सक होने का उल्लेख है। पुराणो में अनेक दिवोदासो का वर्णन मिलता है। हरिवश, २९वें अध्याय में काश वश की परम्परा का उल्लेख इस प्रकार है[1]—

---

१. श्री प० हेमराज के उपोद्घात से

काश के पौत्र धन्व ने समुद्र मथन से उत्पन्न अब्ज देवता की आराधना से अब्ज के अवतार धन्वन्तरि को पुत्र रूप मे प्राप्त किया था। धन्वन्तरि ने भरद्वाज से आयुर्वेद सीखकर इसको आठ भागो में विभक्त किया। इसके प्रपौत्र दिवोदास ने वाराणसी नगरी बसायी। दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन था। दिवोदास के समय से उजडी हुई वाराणसी को प्रतर्दन के पौत्र काशिराज अलर्क ने फिर से बसाया था, यह बात हरिवंश से स्पष्ट है। दिवोदास द्वारा ही वाराणसी बसाने का उल्लेख महाभारत में भी है (अनुशा० अ० २९)।

महाभारत में चार स्थानों पर दिवोदास का नाम आता है।[1] इसके अनुसार भी दिवोदास का काशिपति होना, वाराणसी का बसाना, हैहयों द्वारा पराजित होकर भरद्वाज की शरण में जाना, उसके द्वारा किये पुत्रेष्टि यज्ञ से प्रतर्दन नामक पुत्र की उत्पत्ति आदि विषय मिलते हैं। अग्निपुराण और गरुडपुराण मे भी वैद्य धन्वन्तरि की चौथी पीढी में दिवोदास का उल्लेख है।[2]

आदि धन्वन्तरि दिवोदास ही वर्तमान सुश्रुत संहिता के उपदेष्टा हैं, यह इससे स्पष्ट नही। धन्वन्तरि आयुर्वेद विद्या के सम्मानित देवता थे, इतना ही इन सन्दर्भो से स्पष्ट होता है। दिवोदास धन्वन्तरि की चौथी पीढी मे हुए, ये भी अच्छे आयुर्वेद-

---

१. उद्योगपर्व अ. ११७; अनुशासनपर्व, दानधर्म प्रकरण—अ. २९; राजधर्म प्रकरण—अ ९६; और आदि पर्व।

२. अग्निपुराण अ. २७८; गरुड़पुराण अ. १३९।८-११। ये पुराण बहुत पीछे के है। इनमें माधवनिदान के श्लोको का अवतरण मिलता है।

ज्ञाता थे, इसलिए इनको भी धन्वन्तरि नाम से कहा जाता था। दिवोदास काश राजा के वंशधर होने से काशिराज नाम से कहे जाते थे। काशिराज्य का वाराणसी नगर से क्या सम्बन्ध था, यह अस्पष्ट है, सम्भवत वाराणसी इससे अलग हो। यह कोई बड़ा राज्य नहीं था, इसलिए कोशल या मगध दोनों पडोसी बड़े राज्यों में से किसी एक के साथ जुड़ा रहा होगा। इन राज्यों के अधीन दिवोदास सामन्त या अन्य छोटे राजा के रूप में रहे होंगे। इतिहास में इनका उल्लेख नहीं है, केवल पुराण, महाभारत में नाम सुनाई देता है।

उपलब्ध सुश्रुतसंहिता में सैनिक चिकित्सा का उल्लेख मिलने से यह स्पष्ट है कि इनका उपदेष्टा राजा था।[1] राजा की रक्षा किस प्रकार से करनी चाहिए, शत्रु किस प्रकार राजा को हानि पहुँचा सकते हैं, सैनिक आक्रमण के समय वैद्य का संनिवेश, उस पर लगा चिह्न, जिसे कि दूर से पहचाना जा सके आदि बातें इसके उपदेष्टा का राजा होना प्रमाणित करती हैं।[2] दिवोदास निश्चित रूप से वर्त्तमान सुश्रुतसंहिता के आधार पर भारशिवों के समकालीन (ईसा की दूसरी या तीसरी शती में) प्रमाणित होते हैं। सुश्रुत को वेदवादी ऋषियों तथा चरकसंहिता-सम्मत अस्थिगणना का ज्ञान था, इसलिए इस संहिता को शतपथब्राह्मण और चरक संहिता के पीछे की मानना ही उचित है। यह अस्थिगणना याज्ञवल्क्य स्मृति में भी है। इसमें सुश्रुत की गणना को महत्त्व नहीं दिया गया। याज्ञवल्क्य स्मृति ईसा की दूसरी शताब्दी में निर्मित

---

१ सैनिकचिकित्सा—
"नृपतेर्युक्तसेनस्य परानभिजिगीषत.। भिषजा रक्षणं कार्यं यथा तदुपदिश्यते॥
विजिगीषु· सदामात्यैर्यात्रायुक्त प्रयत्नत.। रक्षितव्यो विशेषेण विषादेव नराधिपः॥
पन्थानमुदकं छायां भक्त यवसमिन्धनम्। दूषयन्त्यरयस्तच्च जानीयाच्छोधयेत्तथा॥
सु सू अ. ३४।३-५.
२ स्कन्धावारे च महति राजगेहादनन्तरम्। भवेत्संनिहितो वैद्य. सर्वोपकरणान्वितः॥
तत्रस्थमेन ध्वजवद्यश·ख्यातिसमुच्छ्रितम्। उपसर्पन्त्यमोहेन विषशल्यामयार्दिता॥
सू. अ ३४

इसी बात को कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी सांग्रामिक प्रकरण में कहा है—

"चिकित्सका शस्त्रयन्त्रागदस्नेहवस्त्रहस्ता स्त्रियश्चान्नपानरक्षिण्य· पुरुषाणामुद्-हर्षणीया पृष्ठतस्तिष्ठेयु·॥" चिकित्सक, शस्त्र, यन्त्र, अगद, स्नेह, वस्त्र को सम्भालने वाले, खानपान की रक्षा करनेवाले एव पुरुषों को प्रसन्न करनेवाली स्त्रियाँ युद्धभूमि में सेना के पीछे रखनी चाहिए।

मानी जाती है। इसलिए उपलब्ध सुश्रुतसहिता का समय ही ऐसा था जब कि देश मे ऐतिहासिक परपरा स्थापित न करनेवाले छोटे छोटे राज्य बहुत थे। इसी लिए इस समय का नाम डाक्टर जायसवाल ने "अन्धकारयुगीन भारत" रखा है। इन छोटे छोटे राज्यो में ही एक राज्य काशि का था, जिसका राजा दिवोदास था। इसका समय ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी हो सकता है। यही बात उपलब्ध सुश्रुत-सहिता में राम, कृष्ण और श्रीपर्वत के नाम से स्पष्ट है।

श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री का यह कथन सत्य है कि नामो के आधार पर समय का निर्णय न करके उपलब्ध ग्रन्थ के पौर्वापर्य तथा आन्तरिक विवेचन से करना सही होता है। इसी के आधार पर उपलब्ध सुश्रुतसहिता का समय ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी आता है। डल्हण का कहना है कि यह सहिता प्रतिसस्कार रूप में है, परन्तु चरकसहिता की भाँति इसमें प्रतिसस्कर्त्ता का नाम नही मिलता और न अन्दर का कोई प्रमाण इसका प्रतिसस्कार ही सिद्ध करता है। भाषा भी सामान्य संस्कृत है, महाभाष्य शैली या उपनिषद् शैली की अथवा अश्वघोष, कालिदास, सग्रह या हृदय की ललित भाषा से सर्वथा भिन्न है। इसलिए इसका समय ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी ही समीचीन प्रतीत होता है।

सुश्रुतसहिता में चरक के निम्नलिखित वचन मे विप्रतिपत्ति बतायी गयी है—दर्शनप्रश्नमस्पर्शैं परीक्षा त्रिविधा स्मृता"—चरक, चि० अ० २५।२२। इसके विषय में लिखा है—"आतुरमभिपश्येत् स्पृशेत् पृच्छेच्च त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगा प्रायशो वेदितव्या इत्येके। तत्तु न सम्यक् षड्विधो हि रोगाणा विज्ञानोपाय, तद्यथा—पचभि श्रोत्रादिभि प्रश्नेन चेति"—सूत्र० अ० १०।४ (सुश्रुत की उपर्युक्त परीक्षा सम्भवत व्रण के सम्बन्ध मे ही हो, परन्तु चरक में व्रणस्राव की गध से भी परीक्षा करने की विधि है—चरक० चि० अ० २५)। इससे सुश्रुत की रचना चरक-सहिता के पीछे हुई है, इसमे सन्देह नही।

सुश्रुत—उपलब्ध सुश्रुतसहिता में सम्बोधन सुश्रुत को किया गया है, इस सम्बन्ध में कहा है कि सुश्रुत के साथ समागत सब शिष्यो ने धन्वन्तरि दिवोदास से कहा कि "एक विचारवाले हम सबो के अभिप्राय को ध्यान में रखकर सुश्रुत आपसे प्रश्न पूछेगा और इसके प्रति किये गये उपदेश को हम सब सुनेंगे (सु० सू० अ० १।१२)। इसके बाद जो भी कहा गया वह सब सुश्रुत को सम्बोधन करके ही कहा है।

सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र कहा गया है (विश्वामित्रसुत श्रीमान् सुश्रुत. परिपृच्छति—उ० अ० ६६।४)। चक्रदत्त मे भी सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र कहा है

(अथ परमकारुणिको विश्वामित्रसुत सुश्रुत शल्यप्रधानमायुर्वेदतन्त्र प्रणेतुमारब्ध-वान्)। पर विश्वामित्र कौन हैं, इसका कुछ स्पष्टीकरण नहीं। रामायण के प्रसिद्ध विश्वामित्र का इससे कोई सम्बन्ध नही। सत्य हरिश्चन्द्र की कथा या त्रिशकु की कथा से सम्बन्धित विश्वामित्र का भी इससे सम्बन्ध नही जुडता। महाभारत के अनुशासन पर्व के चौथे अध्याय में विश्वामित्र के पुत्रो में सुश्रुत का नाम आता है। भावप्रकाश में विश्वामित्र द्वारा अपने पुत्र सुश्रुत को आयुर्वेद पढने के लिए काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि के पास भेजने का जो उल्लेख है, वह इसी उपलब्ध सुश्रुत के आधार पर है।

आग्नेय पुराण में (२७९-२९२) नर, अश्व और गायो से सम्बन्धित आयुर्वेद का ज्ञान भी सुश्रुत और धन्वन्तरि के बीच शिष्य-गुरु रूप मे वर्णित है। एक प्रकार से धन्वन्तरि और सुश्रुत का नियत सम्बन्ध आयुर्वेदविषय में दीखता है। धन्वन्तरि के समान सुश्रुत नाम भी पुराना है। प० हेमराजजी अपने प्रमाणों से इनको भी पाणिनि से पूर्व उपनिषत्कालीन मानते हैं, उनका सारा आधार सुश्रुत नाम ही है। साथ ही उनका कहना है कि सुश्रुत में बौद्ध विचार नही है। परन्तु ऐसी बात है नहीं, सुश्रुत में 'भिक्षु सघाटी' शब्द आता है (उ० अ० ३३।६६)। इसमें डल्हण ने भिक्षु का शाक्य भिक्षु ही अर्थ किया है, सघाटी भिक्षुओ की दोहरी चादर होती है, जिसे वे ऊपर से ओढते है। इसलिए इसका समय बौद्धकाल के अनन्तर ही निश्चित होता है। साथ ही इसमें राम और कृष्ण का नाम आता है (चि० अ० ३०)। इससे भी स्पष्ट है कि जिस समय अवतार रूप में देवतापूजा प्रारम्भ हो गयी थी, उस समय इसका निर्माण हुआ है। केवल नाम से निर्णय करने पर सही निश्चय नही होता। इसलिए धन्वन्तरि दिवोदास का समय ही सुश्रुत का समय है, जो कि ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी सम्भावित है। शालिहोत्र में सुश्रुत धन्वन्तरि से न पूछकर शालिहोत्र से प्रश्न करता है[1]। यद्यपि शिष्य के लिए भी पुत्र शब्द मिलता है, परन्तु सुश्रुत-सहिता में शालिहोत्र का नाम तथा शालिहोत्र-कृत अश्ववैद्यक मे धन्वन्तरि का नाम

---

१. शालिहोत्रमृषिश्रेष्ठं सुश्रुत परिपृच्छति। एव पृष्टस्तु पुत्रेण शालिहोत्रोऽभ्यभाषत ॥
शालिहोत्रमपृच्छन्त पुत्रा सुश्रुतसगता । व्याख्यात शालिहोत्रेण पुत्राय परिपृच्छते ॥
—शालिहोत्र

शालिहोत्रेण गर्गेण सुश्रुतेन च भाषितम्। तत्त्व यद् वाजिशास्त्रस्य तत्सर्वमिह संस्थितम्॥
सिद्धोपदेशसग्रह

न होने से स्पष्ट है कि उक्त ग्रथ मे आये हुए नाम इतिहास की दृष्टि से महत्त्व नही रखते।

नागार्जुन—डल्हण का कथन है कि सुश्रुत का प्रतिसस्कार हुआ है और प्रतिसस्कर्त्ता नागार्जुन है। सुश्रुत की भाँति नागार्जुन बहुत प्राचीन तो नही, परन्तु नागार्जुन कई हुए है। इनमें सिद्धो के वर्ग में होनेवाले नागार्जुन का समय ईसा की ८वी या ९वी शताब्दी है। सुश्रुत मे रस-विषय की चर्चा न होने से इस नागार्जुन के सुश्रुत-सस्कर्त्ता होने के पक्ष मे कोई प्रमाण नही मिलता। माध्यमिक वृत्ति के कर्त्ता तथा शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन दार्शनिक है, वह वैद्य नही थे। शातवाहन राजा के समकालीन एक महाविद्वान् बोधिसत्त्व नागार्जुन का उल्लेख हर्षचरित मे है। अल्बेरूनी ने लिखा है कि उससे एक सौ वर्ष पूर्व एक रासायनिक नागार्जुन हो गया है (अल्बेरूनी का समय ईसा की ११वी शती है)। च्युआन् शाङ ने एक नागार्जुन का उल्लेख किया है। कनिष्क के समय एक नागार्जुन हुआ है। इस प्रकार से नागार्जुन कई हैं।

कविराज गणनाथ सेन एव प० हेमराजजी की मान्यता है कि सिद्ध नागार्जुन सुश्रुत का प्रतिसस्कर्त्ता है। परन्तु इस विषय मे न तो कोई बलवान् प्रमाण है और न यही कि इसका प्रतिसस्कार हुआ है, या नागार्जुन ने प्रतिसस्कार किया है। सिद्ध नागार्जुन को प्रतिसस्कर्त्ता मानने मे आपत्ति यह है कि फिर सुश्रुत का समय गुप्तकाल और वाग्भट के बाद छठी शती के अनन्तर आता है, जो असम्भव है। आठवी शती तक भाषा बहुत विकसित हो चुकी थी—इसका स्पष्ट उदाहरण वाग्भट के अष्टागसग्रह और अष्टागहृदय की रचना है। भाषा की दृष्टि से सुश्रुत बहुत निर्बल है, इसमे कोई भी अश इस दृष्टि से उदाहरण के रूप मे नही रखा जा सकता।

इन सब बातो का एक साथ विचार करने पर सुश्रुत को दूसरी या तीसरी शताब्दी से बाद का नही कह सकते, और प्रतिसस्करण हुआ है, इसको भी महत्त्व नही दे सकते। किसी भी अन्य व्याख्याकार ने नागार्जुन के द्वारा सुश्रुत का प्रतिसस्कार होना नही लिखा, न इसके साथ चरकसहिता की भाँति प्रतिसस्कृत शब्द लगा हुआ है। यदि प्रतिसस्कार का आग्रह रखा ही जाय, जिसे नागार्जुन ने किया है, तो हर्नले के मतानुसार माध्यमिक वृत्ति का कर्त्ता और दन्तकथा के अनुसार कनिष्क का समकालीन नागार्जुन ही प्रतिसस्कर्त्ता हो सकता है। पर यह मान्यता भी क्लिष्ट होगी—क्योंकि इस अवस्था में सुश्रुत का समय और भी पूर्व ले जाना होगा, जिसके लिए विशेष खीचतान करनी होगी। क्योकि सुश्रुत मे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र के लिए भिन्न-भिन्न शय्या एव गृहविचार (शा० अ० १०) मिलते हैं। अध्यापन विधि में भी

जातिवाद स्पष्ट है। ऐसे आधारो के सहारे इसे शुगकाल के समीप लाना पडेगा। इसके विपरीत शातवाहनकालीन नागार्जुन, जो धातुवाद का विद्वान् था, उसको प्रति-सस्कर्त्ता मानना अधिक उपयुक्त होगा। शातवाहन अनेक आन्ध्रवशीय राजाओ के नाम है। इनके शासन का प्रारम्भ ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में होता है।

इनमें प्रसिद्ध राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी ने १३० ई० तक राज्य किया था। लगभग इसी समय नागार्जुन की स्थिति मानना ठीक है। उत्तर भारत में इस समय भारशिवो की प्रधानता थी, जो पूर्णत ब्राह्मणवाद के समर्थक थे, इन्होने कई अश्वमेध काशी में किये थे। ईसा की दूसरी शती में ही सुश्रुत का ठीक समय आता है। श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री की भी यही मान्यता है कि ईसा की दूसरी शती से चौथी शती के मध्यकाल में सुश्रुत का सम्पादन हुआ है (आयुर्वेद का इतिहास, पृष्ठ ८२)। इसका प्रतिसस्कार हुआ है, और वह नागार्जुन ने किया है, इस विषय में चाहे जो मत हो, परन्तु उपलब्ध सहिता ईसा की दूसरी और चौथी शती के बीच की है, इसका साक्षी इसका अन्त प्रमाण है। हर्षचरित में शातवाहन के साथ नागार्जुन की मित्रता का जो उल्लेख है, वह भी इसी समय के शातवाहन राजा के साथ ठीक बैठता है। इसलिए प्रतिसस्कर्त्ता यही नागार्जुन हो सकता है। सब नागार्जुन बौद्ध थे, यह भी निश्चित नही, सम्भवत शातवाहन का मित्र नागार्जुन ब्राह्मण एव वैदिक मत का अनुयायी रहा हो, उसी ने भिक्षुसघाटी शब्द का उल्लेख किया हो। यह श्लोक काश्यप सहिता में भी इसी रूप में आता है, इसलिए इसका समय इससे पूर्व नही हो सकता।

कश्यप

(काश्यप सहिता अथवा वृद्ध जीवकतत्र)

काश्यप सहिता अथवा वृद्धजीवकतत्र नामक एक ग्रन्थ नेपाल के राजगुरु प० हेमराज ने सन् १९३८ में श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य के साथ सम्पादित कर प्रकाशित किया है। इसमें २४० पृष्ठ का एक विस्तृत उपोद्घात है, इसमें आयुर्वेद सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी देने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ का मुख्य विषय कौमारभृत्य है। इसकी परम्परा भी चरक-सुश्रुत की भाँति ब्रह्मा से प्रारम्भ होती है और इन्द्र तक एक ही रूप में आती है। इन्द्र से कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि और भृगु चार ने आयुर्वेद सीखा (पृ० ४२)। इस सहिता के कर्त्ता कश्यप है। कश्यप के विषय मे जानकारी इसी सहिता के कल्प-अध्याय (पृ० १९०) में मिलती है, उसके अनुसार

"दक्ष यज्ञ का विध्वस होने से देवता लोग भय के कारण इधर-उधर भागने लगे, उनके भागने से दैहिक और मानसिक सब रोग उत्पन्न हुए। यह अवस्था सतयुग और त्रेता के सन्धिकाल की है। तव लोगो की हितकामना से महर्षि कश्यप ने अपने ज्ञान-चक्षुओ से एव पितामह की आज्ञा द्वारा इस तत्र को वनाया। सवसे प्रथम इस तत्र को ऋचीक के पुत्र, जीवक नामक एक वाल मुनि ने ग्रहण किया और इसे एक सक्षिप्त रचना में वदल दिया। परन्तु वालक का वचन होने से ऋषियो ने इसका आदर नही किया। इसी समय उसने ऋषियो के सामने कनखल मे गगा के अन्दर डुवकी लगायी और क्षण भर में वली-पलित युक्त वृद्ध रूप में प्रकट हुआ। अव ऋषियो ने वालक का नाम वृद्ध जीवक रखा और इसके ग्रन्थ का अनुमोदन किया। इसके वाद कालक्रम से लुप्त इस तत्र को भाग्यवश अनायास नामक किसी यक्ष ने प्राप्त किया तथा लोककल्याण के लिए इसकी रक्षा की। इसके वाद जीवक के ही वश मे उत्पन्न, वेद-वेदाङ्गज्ञाता एव शिव तथा कश्यप के भक्त वात्स्य नामक विद्वान् ने अनायास को प्रसन्न करके इस तत्र को प्राप्त किया। धर्म और लोक-कल्याण के लिए उक्त विद्वान् ने अपनी बुद्धि से प्रतिसस्कार करके इसे प्रकाशित किया। जो विषय इसके आठ स्थानो मे नही आये, उनको खिल स्थान में लिखा गया है (प्राचीन सहिताओ मे उत्तर तत्र या खिल स्थान परिशिष्ट रूप मे था, चरक में भी था परन्तु वह अव मिलता नही, अन्य सहिताओ मे उपलब्ध है)।

कश्यप—वैदिक समय से लेकर चरक सहिता तक कश्यप और काश्यप दोनो नाम सुने जाते है। चरक सहिता मे कश्यप नाम दो स्थानों पर (सू० अ० १ तथा चि० अ० १।४ पाद) आता है, इन स्थानो में यह अन्य ऋषियो के साथ में है। इसके साथ 'मारिचि कश्यप' तथा 'मारिचिकाश्यपौ' यह दो पाठभेद भी मिलते है (सू० स्थान अ० १, सू० अ० १२, शा० अ० ६)। प० गगाधर ने सू० अ० १ मे 'कश्यपो भृगु' के स्थान पर 'काश्यपो भृगु' पाठ स्वीकार करके कश्यप-गोत्रोत्पन्न भृगु अर्थ किया है। इस प्रकार भरद्वाज आदि ऋषियो की भाँति कश्यप शब्द ऋषि और गोत्र दोनो अर्थो में बहुत प्राचीन काल से मिलता है। महाभारत में तक्षक को वापिस करने की कथा में कश्यप का नाम सुनाई देता है। धर्मसूत्रों और शतपथ ब्राह्मण में गोत्र अर्थ में कश्यप शब्द मिलता है (हरति कश्यप, शिल्प कश्यप, नैध्रुवि कश्यप)।

उपलब्ध काश्यप सहिता के प्रारम्भ और अन्त में "इति ह स्माह भगवान् कश्यप" यह वाक्य लिखा है। बीच बीच मे 'इत्याह कश्यप, इति कश्यप, कश्यपोऽब्रवीत्'

इत्यादि शब्दों में कश्यप का उल्लेख है।[1] कश्यप भी आत्रेय पुनर्वसु की भाँति अग्नि-होत्र करने से वानप्रस्थ ज्ञात होते हैं (क० अ० लशुनकल्प)। कहीं कहीं पर मारीच नाम का भी उल्लेख है, इसलिए मारीच और कश्यप में अभेद प्रतीत होता है। मारीच और कश्यप सर्वत्र एक वचन में आये हैं।

चरक संहिता में मारीच और वार्योविद का एक साथ उल्लेख है (सू० अ० १२)। काश्यप संहिता में भी दोनों का एक काल लिखा है। चरकसंहिता में गर्भ के अंग निर्माण में कश्यप का जो मत दिया है, वह मत इस संहिता में नहीं मिलता (चरक में 'परोक्षत्वादचिन्त्यमिति मारिचि कश्यप'—शा० अ० ६।२१, काश्यप संहिता में—'सर्वेन्द्रियाणि गर्भस्य सर्वाङ्गावयवास्तथा। तृतीये मासि युगपद् निवर्तन्ते यथाक्रमम्'॥ शा० पृष्ठ ४६। प० हेमराजजी ने अपने उपोद्घात में जो यह लिखा है कि काश्यप का मत है कि गर्भ के सब अंग एक साथ बनते हैं, वह मत निर्णयसागर की चरकसंहिता में धन्वन्तरि का है, सुश्रुत में भी यही मत है। टिप्पणी में उन्होंने इस पाठभेद का उल्लेख भी किया है)।

चरक संहिता और काश्यप संहिता के कुछ वचन अवश्य समान रूप में मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'गर्भ के आठवें मास में ओज अस्थिर रहता है, इससे कभी तो माता हर्षित रहती है, और कभी नहीं रहती। इन कारणों से गर्भ के आठवें मास की गणना नहीं की जाती', इस बात का उल्लेख दोनों ग्रंथों में एक समान शब्दावली द्वारा किया गया है (का० सं० अ० ३, चरक० शा० अ० ४।२४)। चरक में सत्त्व, रज, तम के लिए कल्याणांश, रोषांश तथा मोहांश शब्द क्रम से प्रयुक्त हुए हैं (शा० अ० ४।३६), काश्यप संहिता में भी यही तीन शब्द सत्त्व, रज, तम के लिए आते हैं (काश्यप, शा० गर्भ० ४)।[2] अन्य समानताओं के लिए काश्यप संहिता का

---

१. उपास्यमानमृषिभिः कश्यपं वृद्धजीवकः। पृ० ३३
ततो हितार्थं लोकानां कश्यपेन महर्षिणा। तपसा निर्मितं तन्त्रमृषयः प्रतिपेदिरे॥
कल्प.

कश्यपं लोककर्त्तारं भार्गवः परिपृच्छति। खिल अ. ३

२. काश्यप संहिता की भाषा में प्राचीनता की झलक मिलती है, यह भाषा-शैली चरक और सुश्रुत से भिन्न है—

"अथो स प्रजापतिरैक्षत, ततः क्षुदजायत, सा क्षुत् प्रजापतिमेवाविविशे, सोऽग्लासीत्, तस्मात् क्षुधितो ग्लायतीति। स ओषधीः क्षुत्प्रतिघातमपश्यत्, स ओषधीरादत्, स

उपोद्घात (१२५-१२६ पृष्ठ) देखा जा सकता है। महाभारत में काश्यप नाम आता है (आस्तीक पर्व, अ० ४६)। डल्हण ने काश्यप की चर्चा की है। मधुकोष टीका में भी काश्यप का एक वचन उद्धृत है। तंजौर के पुस्तकालय में उमा-महेश्वरप्रश्न रूप में विरचित एक चिकित्सा विषयक छोटी-सी (संख्या १०७८०) काश्यप संहिता है। इसमे नाना वातरोग, ज्वर, ग्रहणी, अतिसार, अर्श के निदान और पाप आदि की शान्ति के लिए औषध, शिव की आराधना प्रभृति उपाय संक्षेप में बतलाये है। इसके पूर्वार्ध के अन्त में बालरोग का उल्लेख है।[1] यह संहिता न सुसंस्कृत है, और न प्राचीन है। बालरोग की चिकित्सा भी विस्तार से नही है।

अष्टांगहृदय और अष्टांगसंग्रह मे काश्यप के नाम से एक दो ही योग मिलते हैं। इनमें एक योग के साथ वृद्ध विशेषण है और दूसरे में नही है ('विविधानामयानेतद् वृद्धकाश्यपनिर्मितम्'—संग्रह, उत्तर० अ० २, हृदय, उत्तर २।४३, 'दशाङ्ग कश्यपोदित'—संग्रह, उत्तर० अ० ४३, हृदय० ३७।२८)। काश्यप संहिता के पृष्ठ १३३ पर जो दशांग धूप लिखी है वह इस दशांग धूप से भिन्न है। काश्यप संहिता मे कथित अभयघृत के साथ (पृष्ठ ४) संग्रह और हृदय मे कथित यही घृत पूर्णत. मिलता है (हृदय मे उत्तर० अ० १।४२, संग्रह मे उत्तर० अ० १ में)। इस प्रकार से काश्यप का सम्बन्ध आयुर्वेद के साथ स्पष्ट होता है।

नावनीतक में आत्रेय, क्षारपाणि, जातुकर्ण, पराशर, भेड, हारीत और सुश्रुत के साथ काश्यप एवं जीवक का नाम आता है। इसी के चौदहवे अध्याय में कौमारभृत्य

ओपधीरशित्वा क्षुधा व्यत्यमुच्यत। तस्मात् प्राणिन ओपधीरशित्वा क्षुधो व्यतिमुच्यन्ते।
(काश्यप. रेवती कल्प ३)

[1] कैलासशिखरे रम्ये पार्वतीपरमेश्वरौ। अन्योन्यसुखलीलायामेकान्तसुखगोष्ठीषु॥
पार्वती पतिमालोक्य कृताञ्जलिरभाषत।
किं पाप किंविधं (ो) रोगं (:) किंविधं नरकं पथ (वद)॥
नानापापवर्णनान्ते—ऋग्वेदस्योपवेदाङ्गं काश्यपं रचितं पुरा।
लक्षग्रन्थं महातेज. अमेयं मम दीयताम्॥
प्रारम्भ में—काश्यप ते महात्मानमादित्यसमतेजसम्।
अभिवाद्याभिसङ्क्रम्य गौतम पर्यपृच्छत॥
त्वं हि वेदविदां श्रेष्ठो ज्ञानानां परमो निधिः।
प्रजापतेरात्मभवो भूतभव्यविदुत्तमः॥

चिकित्सा के लिए काश्यप और जीवक के नाम से जो योग दिये है वे वाग्भट के योगो के ही भावानुवाद है। परन्तु नावनीतक में वाग्भट का नाम नही है। नावनीतक की रचना तीसरी या चौथी शताब्दी की है। इसलिए इस समय तक यह सहिता वन चुकी होगी।

प्राचीन रावणतत्र में भी काश्यप और वृद्ध काश्यप का नाम है। प० हेमराजजी ने ज्वरसमुच्चय नामक ग्रथ का उल्लेख इस प्रस्तावना में किया है। उनके कथनानुसार उक्त ग्रथ की प्रति सातवी या आठवी शती की है और इसके वहुत से श्लोक काश्यप सहिता से मिलते है। इसलिए इसकी रचना और प्राचीन है। परन्तु काश्यप या कश्यप नाम से काश्यप के सम-सामयिक होना कठिन है। उपलब्ध सहिता वत्स के द्वारा सशोधित हुई है, इसलिए इसमें वौद्ध और जैन समय के शब्द भी मिलते है (यथा भिक्षुसघाटी, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, कृतयुग में मनुष्यो के शरीर का सात रात्रि तक गर्भवास, विना अस्थि के सिर, आदि वातें मिलती है)। इसलिए उपलब्ध ग्रन्थ चरक और सुश्रुत के पीछे वना है। इसका रेवतीकल्प इस वात का स्पष्ट प्रमाण है, इसमें जातहारिणी का उल्लेख है। ग्रह-उपासना और उनके सम्बन्ध की षष्ठीपूजा इसको तीसरी चौथी शती से पूर्व की सिद्ध नही करती। ऐतरेय ब्राह्मण-वर्णित काश्यप के साथ इसका सम्वन्ध जोडना, वह भी केवल नाम सम्वन्ध से, उचित नही लगता। नामो का झमेला इस देश के इतिहास को कठिनाई में डालता रहा है, विशेषत जव हम देखते है कि ऋषियो के नाम से गोत्र भी प्रचलित है और गोत्र नाम से भी ऋषियो का उल्लेख मिलता है।

जीवक—जीवक का नाम और इनकी कथा महावग्ग में आती है, जिससे स्पष्ट है कि ये विम्वीसार के समय हुए है। इन्होंने गौतम वुद्ध की चिकित्सा की थी। किंतु इन जीवक से प्रस्तुत प्रसगवाले जीवक का कोई भी सम्वन्ध नही। क्योकि इसके द्वारा वौद्धो के प्रति अरुचि रखने तथा अग्निहोत्र करने का उल्लेख है। रेवतीकल्प में जात-हारिणी सम्वन्धी जो विचार है, वे वुद्ध की शिक्षा के साथ मेल नही खाते, जव कि प्रथम जीवक वुद्ध के प्रति आदर भाव रखते देखे जाते है (जीवक ने प्रद्योत से प्राप्त उत्तम शिवी वस्त्रो का जोडा भगवान् वुद्ध को भेंट किया था)। वुद्ध के समय मे भी उरुविल्व ग्राम में तीन कश्यप रहते थे, जिनके हजारो शिष्य थे। इनमें से वडे कश्यप को वुद्ध ने अपने धर्म में दीक्षित किया था। इसको देखकर राजा विम्वीसार भी वौद्ध धर्म की ओर झुका, यह वात महावग्ग में लिखी है। यह कश्यप दार्शनिक थे, वैद्य नही।

जीवक के साथ 'कुमारभच्च' विशेषण केवल यह सूचित करता है कि इसका पालन कुमार—राजकुमार ने किया था। इसका अर्थ कौमारभृत्य में कुशल नही है, क्योकि

उस कथा में जीवक की चिकित्सा सभी बडे बडे रोगो से सम्बन्धित कही गयी है, केवल कौमारभृत्य सम्बन्धी नही।

काश्यप सहिता में जो उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि शब्द मिलते है, वे सब अन्य अर्थ में प्रचलित भी हो सकते है। काश्यप सहिता मे वैदिक सप्रदाय के बहुत से वचन मिलते है, जो इस ग्रन्थ को वैदिक परपरा से सम्बद्ध बतलाते है।[1]

इसलिए महावग्ग में प्रसिद्ध जीवक से इसका कोई सम्बन्ध नही, यह अन्य ही कोई दूसरा जीवक है।

वात्स्य---वात्स्य के विषय मे इस सहिता के कल्प-अध्याय में लिखा है कि यह ग्रन्थ कालप्रवाह से जब लुप्त हो गया, तब जीवक वशोत्पन्न वात्स्य ने अनायास यक्ष से यह सहिता प्राप्त की थी (पृष्ठ १९१)।

यक्षो की पूजा बौद्धकाल से पूर्व भी भारत मे प्रचलित थी, अनन्तर यह बौद्ध उपासना का अग हो गयी है (अष्टागसग्रह मे मणिभद्र यक्ष का उल्लेख है)। यह यक्षपूजा भारत के बाहर भी रमठ, जागुड, वाह्लीक आदि पश्चिमोत्तर देशीय प्रान्तो मे प्रचलित थी। बौद्ध मत के पचरक्षा नामक ग्रन्थ मे महामायूरी विद्या प्रकरण में भिन्न भिन्न देशो के पूज्य यक्षो का निर्देश करते हुए "कौशाम्व्या चाप्य-नायासो भद्रिकाया च भद्रिक" लिखा है। जिससे स्पष्ट है कि कौशाम्वी में अनायास यक्ष रहता था। कौशाम्बी नगरी प्रयाग के पास का स्थान है। महावग्ग के जीवक उपाख्यान में कौशाम्बी का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि कौशाम्बी बहुत पुरानी नगरी है, वहाँ अनायास की पूजा होती होगी।

काश्यप सहिता में मातङ्गी विद्या का भी उल्लेख है (कल्पस्थान, रेवती अ०, पृष्ठ १६६)। प० हेमराज का कहना है कि जिस प्रकार विहार, चैत्य, स्थविर आदि वैदिक शब्द बौद्ध ग्रन्थो में जाकर विशेष अर्थ में सीमित हो गये, उसी प्रकार यह मातगी, महामायूरी आदि विद्याएँ भी पहले वैदिक थी, पीछे इन्हे बौद्धो ने अपना लिया। यक्ष-पूजा और श्रमण शब्द के लिए भी यही बात है। श्रमण शब्द पाणिनि-व्याकरण (कुमार श्रमणादिभि) में मिलने के साथ-साथ वैखासन, तपस्वियो के लिए बृहदारण्यक,

---

१. दन्तजन्म-अध्याय में अशुभ दन्त शान्ति के लिए यज्ञ का विधान (पृष्ठ १२), शिष्योपक्रमणीय अध्याय में यज्ञविधान (पृ० ५७), आयुर्वेद का वेद से सम्बन्ध, जातिसूत्रीय में पुत्रेष्टि विधान, धूमन कल्प में वैदिक मत्र का उल्लेख (१३६) आदि इसे वैदिक सिद्ध करते है।

तैत्तिरीयारण्यक, रामायण आदि में आता है। पीछे से यह शब्द बौद्ध भिक्षुओ में सीमित हो गया। इसलिए श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि शब्दो के आधार पर किसी को भी बौद्ध काल के पीछे का मानना ठीक नही।

प० हेमराज काश्यप सहिता के अन्तर्गत ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसारी वाक्य, देवताओ के लिए होम और भिन्न-भिन्न देशो तथा इक्ष्वाकु, सुबाहु, सगर आदि राजाओ का वर्णन मिलने से इसे बहुत प्राचीन मानते हैं। इसमें यह विचारणीय है कि चरकसहिता में दक्षिण देशो का उल्लेख नही है, सुश्रुत मे श्रीपर्वत, पारिभद्र, सह्याद्रि का उल्लेख पर्वत प्रकरण मे आता है। देशो की विस्तृत जानकारी सिवाय इस सहिता के आयुर्वेद के ग्रन्थो में इतने विस्तार से नही मिलती, न ही इतनी जातियो का उल्लेख एक साथ मिलता है। इसी मे यह सहिता गुप्तकाल के आसपास की प्रतीत होती है।

प० हेमराजजी ने "दीप्ताग्नयो घस्मरा स्नेहनित्या" (पृ० २०), "क्षीर सात्म्य क्षीरमाहु पवित्रम्" (भोजन कल्प) वाक्यों से इस सहिता को प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किंतु यह शब्दावली अन्य शब्दों की भाँति चरकसहिता से ली गयी है ('दीप्ताग्नय खराहारा कर्मनित्या महोदरा'—सू अ २७।३४४ की छाया, 'क्षीरमाहु पवित्रम्' यह 'क्षीरमुक्त रसायनम्'—सू० २७।२१८ की छाया है)। जातिसूत्रीय, उपकल्पनीय आदि प्रकरणो का नामकरण भी चरकसहिता के आधार पर मिलता है। कश्यप का 'ज्वलनार्कतुल्यम्' (पृ० १६८) विशेषण अग्निवेश के विशेषण 'अग्निवर्चसम्' का प्रतिविम्ब है। सुश्रुत में भी चरकसहिता के बहुत से स्थल उद्धृत हैं, इसलिए यदि काश्यप सहिता में ये वचन मिलते हैं, तो यह आश्चर्य नही। इनके आधार पर इस सहिता को प्राचीन सिद्ध करना उत्तम नही। खिल भाग के देश-सात्म्य-अध्याय में मगध के साथ महाराष्ट्र का भी उल्लेख है। मगध देश तो प्राचीन है, महाभारत मे भी इसका उल्लेख है, परन्तु 'महाराष्ट्र' शब्द अर्वाचीन है। प० हेमराजजी का यह कहना कि महाराष्ट्र की उत्पत्ति नन्दो एव मौर्यो के समय हुई, ठीक नही। महाराष्ट्र शब्द की उत्पत्ति अधिक से अधिक तीसरी शती की मानी जा सकती है, इतिहास तो इसे और भी पीछे का मानता है। उसके अनुसार अन्धकार-युगीय भारतवर्ष में वाकाटक साम्राज्य के समय महाराष्ट्र का निर्माण हुआ है। इसलिए इस सहिता का समय इसी के आस-पास तीसरी या चौथी शताब्दी होना चाहिए। यही समय वात्स्य का है।

वात्स्य शब्द गोत्रवाचक है, वत्स-गोत्र में उत्पन्न वात्स्य। कामसूत्र का कर्ता वात्स्यायन भी इसी गोत्र से सम्बन्ध रखता है। इसमें भी महाराष्ट्र का उल्लेख है

(मध्यमान्युभयभाञ्जि माहाराष्ट्रिकाणामिति–नखक्षत) । कामसूत्र का रचना-काल चौथी से छठी शताब्दी माना जाता है। देशो से परिचय, विशेपत दक्षिण देशो की जानकारी, निकट सम्बन्ध वाकाटक-युग में ही हुआ है। अशोक के समय दक्षिण देश से विशेप परिचय तथा इतने प्रान्त या राज्यो की भिन्न-भिन्न जानकारी उपलब्ध नही होती। इसलिए उपलब्ध काश्यप सहिता तीसरी या चौथी शताब्दी से पूर्व की नही हो सकती। वात्स्य नाम गोत्रपरक है, जिसका सम्बन्ध वैदिक प्रक्रिया के साथ था। अतः वात्स्य वैदिक कर्मकाण्ड को माननेवाला था, इसमें कोई आपत्ति नही।

काश्यप सहिता में लशुनकल्प, नावनीतक में लशुन-महिमा, सग्रह मे लशुन-सेवन पर जोर देना, ब्राह्मणों द्वारा इसके न सेवन का कारण—ये सब वाते भी इस समय को सिद्ध करने में सहायक हैं। चरक में तिलतैल को सब तैलो में प्रशस्त माना है, इसी से उसका उपयोग मिलता है। परन्तु कटु तैल (सरसो के तैल) का उपयोग लशुन के साथ इसी ग्रन्थ में मिलता है। लशुन का सस्कार कटु तैल में दूसरे तैलो की अपेक्षा अधिक सुन्दर होता है, क्योकि यह भी उष्ण तीक्ष्ण उग्र है। काश्यप सहिता में इसके उपयोग का विधान भी उसके उक्त समय निर्धारण का समर्थक है।

अन्य ऋपि एव आचार्य

चरकसहिता में आयुर्वेद विद्या से सम्वन्धित निम्न ऋपियो का उल्लेख है—

सूत्रस्थान अ० २५—	सूत्रस्थान अ० २६—	सिद्धिस्थान अ० ११—
काशिपति वामक	आत्रेय	भृगु
मौद्गल्य	भद्रकाप्य	कौशिक
शरलोमा	शाकुन्तेय ब्राह्मण	काप्य
हिरण्याक्ष कुशिक	पूर्णाक्ष मौद्गल्य	शौनक
कौशिक (शौनक)	हिरण्याक्ष कौशिक	पुलस्त्य
भद्रकाप्य	कुमारशिरा भरद्वाज	असित
भरद्वाज (कुमारशिरा)	वार्योविद राजर्पि	गौतम
कांकायन	निमि वैदेह	वामक
भिक्षु आत्रेय	वडिश वामार्गव	वडिश
	काकायन वाह्लीक भिपक्	भद्र शौनक

चि० अ० १।४—	शा० अ० ६—	सूत्र० अ० १२—
भृगु	कुमारशिरा भरद्वाज	कुश साकृत्यायन
अगिरा	काकायन वाहलीक भिपक्	कुमारशिरा भरद्वाज
अत्रि	भद्रकाप्य	काकायन वाह्लीक
वसिष्ठ	भद्रशौनक	वडिश धामार्गव
कश्यप	वडिश	वार्योविद राजर्षि
अगस्त्य	जनक वैदेह	मरीचि
पुलस्त्य	मारीचि कश्यप	काप्य
वामदेव	धन्वन्तरि	पुनर्वसु आत्रेय
असित		
गौतम आदि		

इन स्थानो के सिवाय मैत्रेय (सू अ १०) तथा भरद्वाज (शा अ ३) का नाम आता है। प्रथम अध्याय मे हिमालय के पास एकत्र होनेवाले ऋपियो की एक वडी सूची दी है (सू अ १।८-१३)। इसमें से कुछ ऋपियो का उल्लेख सहिता में आगे आता है, वहुतो का नही आता।

सुश्रुतसहिता में ऋपियो का नाम एक स्थान पर ही मिलता है, उत्तर तत्र में 'विदेहाधिप' (अ १।५) नाम है। इसका सम्वन्ध जनक से है या अन्य से, इसका कोई स्पष्टीकरण नही। शारीरस्थान में गर्भरचना प्रसग में ये नाम मिलते हैं—शौनक, कृतवीर्य, पाराशर्य, मार्कण्डेय, सुभूतिगौतम और धन्वन्तरि। चरकसहिता में इस सम्वन्व में जो मत प्रदर्शित हैं, उनमें शौनक और धन्वन्तरि का मत समान है, परन्तु भद्रशौनक और शौनक के मत में अन्तर है। चरकसहिता में भद्रशौनक का कहना है कि "गर्भ का प्रथम निर्माण पक्वाशय गुदा से होता है, क्योकि आहार का यही स्थान है (शा अ ६।२१)।" सुश्रुत में शौनक का कहना है कि "गर्भ का प्रथम सिर वनता है, क्योकि यही सव इन्द्रियो में मुख्य है (शा अ ३।३२)।" चरक में यह मत कुमार-शिरा भरद्वाज के नाम से लिखा है। धन्वन्तरि का मत दोनो सहिताओ में एक समान है, धन्वन्तरि के मत को आत्रेय ने भी स्वीकार किया है। इसलिए शौनक और भद्रशौनक दोनो को भिन्न मानना उचित है। जिस प्रकार आत्रेय और भिक्षु आत्रेय मे भेद करने के लिए भिक्षु विशेपण है, उसी प्रकार शौनक और भद्र शौनक में भेद वताने के लिए भद्र विशेपण है। चरक में भद्र शौनक और शौनक नाम एक ही प्रकरण में भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के लिए भी आये हैं (सि अ ११।५—और ९)।

काश्यप सहिता में भी कुछ नाम आये है, परन्तु यह प्रकरण त्रुटित होने से पूरी जानकारी नही। इसमे कौत्स, पाराशर्य, वृद्ध काश्यप, वैदेह जनक, वार्योविद और वात्स्य का नाम आता है (पृष्ठ ११६, वमन-विरेचनीय सिद्धि)। कुकूण चिकित्सा में (पृष्ठ २९३—श्लोक ८५) वार्योविद का नाम है, वहाँ पर महीपाय, महानृपि, विशेषण दिये हैं। इससे स्पष्ट है कि वार्योविद राजर्षि था, जिसका उल्लेख चरकसहिता मे मिलता है।

काश्यप सहिता में काश्यप के लिए मारीच शब्द भी आता है (मारीचमासीनमृपि पुराणम्—पृष्ठ १६८)। चरक सहिता में मारीचि और मारिचि कश्यप दोनो शब्द मिलते हैं। शब्दो की दृष्टि से ये दोनो एक प्रतीत होते हैं। परन्तु सूत्रस्थान मे "मारीचकाश्यपौ" (अ १।१२) यह पाठ मिलने से ये दो व्यक्ति प्रतीत होते है। इसी स्थान पर 'कश्यपो भृगु'—इस पाठ में गगाधर कविराज 'काश्यपो भृगु' पाठ बदलकर कश्यप गोत्रोत्पन्न भृगु अर्थ मानते हैं, दूसरे लोग कश्यप और भृगु दो व्यक्ति मानते हैं।

काश्यप सहिता में भृगु का कश्यप से पूछना भी लिखा है (पृष्ठ १९२, खिल स्थान १।३)। भृगु से ही भार्गव शब्द बनता है, जो कि च्यवन के लिए आता है (भार्गवश्च्यवन कामी—चरक, चि अ १।४।४४)। इसलिए भृगु को कश्यपगोत्रोत्पन्न मानने की अपेक्षा दोनो को अलग मानना ही ठीक है, दोनो ऋषियो के नाम से पृथक् गोत्र चले हैं। कश्यप और भार्गव गोत्र आज भी मिलते हैं। ये नाम प्रारम्भ में ऋषियो के थे, परन्तु पीछे से गोत्र या शाखा-चरण रूप में प्रचलित होने लग गये। इस प्रकार की शाखा या चरण पृथक्-पृथक् परिषद् कहलाते थे, इसलिए इनके मत को परिषद् शब्द से प्रकट किया जाता था (यथा—अर्वागपि यदाहारविशेषादारोग्याच्च पूर्णो भवत इति परिषत्—काश्यप, पृष्ठ ५३, वृहदारण्यक में पाञ्चालो की परिषद् का उल्लेख मिलता है)। व्याकरण का विषय, पाणिनि ग्रन्थ का क्षेत्र किसी विशेष परिषद् तक सीमित नही था, इसी लिए इसको पतजलि ने "सर्ववेदपारिषद हीद शास्त्रम्" (भा २।१।५८) कहा है।

भिन्न-भिन्न चरणो की परिषदो में आयुर्वेद का भी विकास हुआ। इन भिन्न-भिन्न परिषदो के व्यक्तियो के साथ मिलकर जो वार्त्ता आयुर्वेद के सिद्धान्त या विषय के निर्णयार्थ हुई उनका उल्लेख चरक सहिता मे मिलता है। इस प्रकार की गोष्ठी के लिए परिषद् शब्द चरक में आता है (परिषत्तु खलु द्विविधा—वि अ ८।२०)। इस परपरा मे एक ही ऋषि का नाम हमको भिन्न-भिन्न समय में सुनाई देता है। इस दृष्टि से समय का निर्धारण करने में नामो की उलझन मिट जाती है और चरक, सुश्रुत, काश्यप सहिताओं में मिलनेवाले नामो की सगति बैठ जाती है। इसका उदाहरण धन्वन्तरि नाम है, जो कि एक सम्प्रदाय या परिषद् को स्पष्ट करता है, जिसमें शल्य

अग का विशेप अध्ययन किया जाता था । आत्रेय की जिस शाखा या चरण मे आयुर्वेद का अध्ययन होता था, और जो घूम-घूमकर लोककल्याण करते थे,वे 'चरक' कहलाते थे (इसी से वृहदारण्यक में चरका वहुवचन आया है, क्षेमेन्द्र ने 'चरकश्चरक न जनाति' लिखा है)। यही वात अन्य ऋपियो के सम्वन्ध में है। सुश्रुतसहिता में गर्भनिर्माण के विषय में जो दूसरे मत प्रचलित थे, इनमें शौनक शाखा का जो मत उस समय था, उसको सुश्रुतमें दिखाया है। चरक में दिया हुआ शौनक का मत सम्भवत भद्र शौनक का होगा। रामायण, वृहदारण्यक आदि में आये हुए जनकवैदेह नाम को चरक-सहिता मे देखकर इसको उस समय की मानना उचित नही लगता। वैदेह शब्द एक तरफ जनक के लिए प्रचलित है, दूसरी ओर चरक सहिता में निमि के लिए भी आता है। काश्यप सहितामे 'वैदेहो निमि' और सुश्रुत में 'विदेहाधिप' शब्द आता है। इन सबसे रामायण केजनक का ग्रहण करना उचित नही। यही वात पराशर के सम्वन्ध में है।

श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने आयुर्वेदसहिताओ तथा उनकी टीकाओ से भिन्न भिन्न ऋपियो के वहुत से वचन अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ इन्डियन मैडिसिन' में उद्धृत किये हैं। इसके आधार पर इन सव ऋपियो की परम्परा श्री सूरमचन्द्रजी ने अपने 'आयुर्वेद का इतिहास' मे जोडने का यत्न किया। पर उनकी जो दौड है, उसके साथ इतिहास नही चलता। मेरी मान्यता यही है कि ऋषियो के नाम से ये सहिताएँ दूसरो ने लिखी, अथवा इनका सम्वन्ध उक्त चरण या शाखाओ से हैं। इसके अनुसार शालाक्य तत्र का सम्वन्ध जनक विदेह, निमि कराल के साथ जो मिलता है, वह इसी शाखा या चरण को सूचित करता है, न कि शिप्य-परम्परा या पुत्र-परम्परा को। इसी से नेत्ररोगो के सख्या-कथन मे अन्तर मिलता है, चरक सहिता में नेत्ररोग ९६ (चि अ २६।१३०) कहे हैं, सुश्रुत में नेत्ररोग ७६ (उत्तर-कल्प १।४३)। यह भेद शाखा-चरण भेद से ही है। इसी भेद से एक ही शाखा में भिन्न भिन्न विपयो के ग्रन्थ मिलते हैं, वे ग्रन्थ मूल ऋपि के नही अपितु उस शाखा के अन्तर्गत कई ऋपियो द्वारा वने हैं, ऐसा मानना ही उनकी सगति का समीचीन रास्ता है।

सहिताओ मे पूर्वापर क्रम

आयुर्वेदसहिताओ के अध्यायो में परस्पर समानता मिलती है। मनुप्य की आयु ज्योतिप के अनुसार एक सौ वीस वर्ष पाँच दिन मानी जाती है, यही आयु हाथियो की है ('समा पष्टिर्द्विघ्ना मनुजकरिणा पच च निशा'—वृहत्सहिता)। इसी दृप्टि से आयुर्वेदसहिताओ की अध्यायसख्या भी १२० है, शेप विपयो के वर्णनार्थ उत्तर तन्त्र या खिलस्थान (प्रकरण) वनाये गये है।

स्थान	काश्यप०	चरक०	भेल०	सुश्रुत०	अष्टाग हृ०
सूत्रस्थान अध्याय	३०	३०	३०	४६	३०
निदानस्थान ,,	८	८	८	१६	१६
विमानस्थान ,,	८	८	८	—	—
शारीरस्थान ,,	८	८	८	१०	६
इन्द्रियस्थान ,,	१२	१२	१२	—	—
चिकित्सास्थान,,	३०	३०	३०	४०	२२
सिद्धिस्थान ,,	१२	१२	९(१२)	—	—
कल्प स्थान ,,	१२	१२	८(१२-१)	८	६
	१२०	१२०	१२०	१२०	८०
खिल या उत्तर तत्र	८०	—	—	६६	४०
					१२०

चरकसहिता में उत्तर तत्र होने का उल्लेख मिलता है (तस्मादेता प्रवक्ष्यन्ते विस्तरेणोत्तरे पुन —सि अ १२।५०)। सग्रह में अध्यायो की सख्या कुछ अधिक है, इसमें एक सौ पचास अध्याय हैं (सू अ १।६६)।

उक्त अध्याय-समानता के अतिरिक्त काश्यप सहिता, भेल सहिता और चरक सहिता में अध्यायो के नामो में भी समानता मिलती है, यथा—

अध्याय नाम

चरक सहिता	भेल सहिता
नवेगान्धारणीय (न वेगान्धारयेद्धीर.)	न वेगान् धारयेद् धीमान्
मात्राशितीय (मात्राशी स्यात् आहार मात्रा)	मात्राशी स्यात्
आत्रेयभद्रकाप्यीय (आत्रेयो भद्रकाप्यश्च)	आत्रेय खण्डकाप्यश्च
यस्यश्यावनिमित्तीय (यस्य श्यावे परिध्वस्ते)	यस्य श्यावे उभे नेत्रे
अवाक्शिरसीय (अवाक्शिरा वा जिह्वा वा)	अवाक्शिरा जिह्वा वा
थाडे से भेद के साथ—	
व्याधितरूपीयम् (द्वौ पुरुषौ व्याधितरूपौ भवतः)	गुरुर्व्याधिनर कश्चित्
शरीरविचय (शरीरविचयशरीरोपकारार्थम्)	इह खल्वोजस्तेज
शरीरसख्या (शरीरसख्यामवयवशः)	इह खलु शरीरे षट् त्वच.
पूर्वरूपीयम् (पूर्वरूपाण्यसाध्याना)	अन्तर्लोहितकायस्तु
गोमयचूर्णीयम् (यस्य गोमयचूर्णाभ)	यस्य शिरसि यस्यैव

चरक सहिता	काश्यप सहिता
१३वा स्नेहाध्याय	२२वा स्नेहाध्याय
१४वा स्वेदाध्याय	२३वा स्वेदाध्याय
१५वा उपकल्पनीय	२४वा उपकल्पनीय
१६वा चिकित्सा प्रभृतीय	२५वा वेदनाध्याय
१७वा कियन्त शिरसीय	२६वा चिकित्सा सम्पादनीय
१८वा त्रिशोथाध्याय	२७वा रोगाध्याय
१९वा अष्टोदरीय	
२०वा महारोगाध्याय	
२१वा अष्टौनिन्दित	

इस समानता के अतिरिक्त चरकसहिता के वचन काश्यप सहिता, सुश्रुतसहिता और भेलसहिता में पूर्णत मिलते हैं। इस समानता के लिए इनका पूर्वापर क्रम यहाँ पर उपस्थित किया गया है। प्राय इस क्रम को श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री ने अपने 'आयुर्वेद के इतिहास' में भी माना है।

उपलब्ध आयुर्वेदसहिताओ में सबसे प्रथम (दृढवल के भाग को छोडकर) अग्नि-वेशसहिता का निर्माण हुआ। इसके आसपास भेलसहिता वनी, उसके अनन्तर सुश्रुतसहिता की रचना हुई। फिर दृढवल ने चरकसहिता को पूर्ण किया। इसके वाद वाग्भट ने सग्रह और हृदय वनाये। काश्यप सहिता की रचना को सुश्रुत के वाद और दृढवल द्वारा समावेशित भाग से पूर्व रख सकते हैं। क्योंकि काश्यप सहिता और चरकसहिता के जिन वचनो मे समानता मिलती है, वे उक्त भाग से पूर्व के हैं। ये सब रचनाएँ ईसवीय प्रथम शताव्दी के आस-पास प्रारम्भ होकर पाँचवी-छठी शती तक पूर्ण हो गयी थी।

श्री दुर्गाशकर शास्त्री की मान्यता है कि प्रथम दृढवल के प्रतिसस्कार द्वारा समावेशित भाग से रहित चरकसहिता वनी, इसके वाद उत्तर-स्थान से रहित सुश्रुतसहिता, तदनन्तर उसके उत्तरस्थान और भेलसहिता की रचना हुई। इसके पश्चात् नावनीतक वना और अन्त में दृढवल ने चरकसहिता पूर्ण की। दृढवल का समय ४०० ईसवी के आसपास है। इस प्रकार से देखने पर भेलसहिता का प्रतिसस्कार होना नही पाया जाता, परन्तु हरिप्रपन्नजी इसका भी प्रतिसस्कार मानते हैं।

श्री यादवजी त्रिकमजी ने निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित मूल सुश्रुत के उपोद्घात मे स्पष्ट किया है कि सुश्रुत का उत्तर तत्र भी इसके आरम्भिक भागो के साथ ही बना है। इस सम्बन्ध मे उन्होने जो वचन उद्धृत किया है, वह यह है—

"एकैकशः सर्वशश्चापि दोषै शोकेनान्य' पष्ठ आमेन चोयत.।
केचित् प्राहुर्नैकरूपप्रकार नैवेत्येव काशिराजस्त्ववोचत् ॥

उत्तर. अ. ४०।८

'काशिराजस्त्ववोचत्'—यह वाक्य इसे उसी सुश्रुत का भाग बताता है। इस-लिए उत्तर-तत्र सहित सुश्रुतसहिता एक समय में बनी है।

दृढवल से समावेशित चरकसहिता के भाग मे और सुश्रुतसहिता के वचनो मे जो समानता है, उसमे यह सम्भावना है कि ये वचन दृढवल ने सुश्रुत से लिये होगे। इनमे अधिक वचन उत्तर तत्र के है, यथा—

चरक—आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते धूप्यते चापि नासा।
न वेत्ति यो गन्धरसाश्च जन्तुः जुष्ट व्यवस्येत्तमपीनसेन ॥

चि. अ. २६।११४

मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणा प्रदुष्टेनार्त्तवेन च।
जायन्ते वीजदोपाच्च दैवाच्च शृणु ता पृथक् ॥ चि. अ. ३०

सुश्रुत—आनह्यते यस्य विधूप्यते च प्रक्लिद्यते शुष्यति चापि नासा।
न वेत्ति यो गन्धरसाश्च जन्तु जुष्ट व्यवस्येत्तमपीनसेन ॥

उत्तर. अ. २२।६

मिथ्याचारेण याः स्त्रीणा प्रदुष्टेनार्त्तवेन च।
जायन्ते वीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक् ॥ उत्तर. अ. ३८।५.

चरकसहिता में ये विपय ग्रन्थ के पूर्ण करने के लिए दृढवल को अन्य स्थानो से लेने पडे, जैसा कि उसने स्वय कहा है—"बहुत से तत्रो में से शिलोञ्छ वृत्ति द्वारा वचनो को लेकर यह ग्रन्थ पूरा किया गया है" (सि अ १२।३९)। शिल वृत्ति में—अनाज की पूरी वाल उठायी जाती है। उञ्छ वृत्ति में—भूमि पर गिरा हुआ अनाज का एक एक दाना चुना जाता है। इस प्रकार से उसने कही तो सम्पूर्ण पद या श्लोक उद्-धृत किया और कही पर वाक्याश उद्धृत किया, यह स्पष्ट है। सुश्रुत में भी चरक के वचन उद्धृत हुए है, यह बात दोनो की भाषाभिन्नता से स्पष्ट है, यथा—

चरक में—"यान्यनुचिन्त्यमानानि विमलविपुलवुद्धेरपि वुद्धिमाकुलीकुर्युं किं पुनरल्पवुद्धे"—सू अ १५।५।

सुश्रुत में—"अन्ये विशेपा सहस्रशो ये विचिन्त्यमाना विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धि-माकुलीकुर्यु किं पुनरल्पबुद्धे"—सू अ ४।५ ।

सुश्रुत सहिता में इस प्रकार का पदलालित्य अन्य स्थान पर नही दीखता, इससे स्पष्ट है कि यह प्रवाह चरक से ही सुश्रुत मे आया है ।

भेल सहिता का समय चरक—अग्निवेश के समकक्ष ही है, इसका पता दोनो की अत्यधिक शब्दसमानता से चलता है, यथा—

"एतच्छेष शल्यहृता कर्त्तव्य दृष्टकर्मणा"—भेल. चि २९

"इदन्तु शल्यहर्तृणां कर्म स्याद् दृष्टकर्मणा"—चरक चि १३।१८२

इस प्रकार के दूसरे उदाहरण भी हैं, जिनसे दोनो का एक ही समय निश्चित होता है । भेलसहिता का प्रचार अधिक नही था, यह बात वाग्भट के श्लोक से स्पष्ट है ।[1] इसी से सम्भवत इसका प्रतिसस्कार नही हुआ और आज जो भेलसहिता उपलब्ध है, वह त्रुटित है । यदि इसका प्रचार होता तो इसका प्रतिसस्कार भी किया जाता एव इसके वचन भी सग्रह, हृदय या अन्य ग्रन्थो में मिलते । सग्रह मे पराशर, हारीत, सुश्रुत के वचन उद्धृत है परन्तु भेल का कोई वचन नही है । इससे स्पष्ट है कि दीर्घकाल तक इसका पठन नही होता था ।

इस प्रकार आयुर्वेदसहिताओ की अन्तिम सीमा ईसा की पाँचवी शती ठहरती है । हरिश्चन्द्र आदि द्वारा टीका रचना का प्रारम्भ पाँचवी शती में हुआ है । इसी के आस-पास सग्रहरूप में अष्टागसग्रह और अष्टागहृदय जैसे ग्रन्थ बनने लगे ।

यह सम्भव है कि सहिताओ का कोई सक्षिप्त मूल ईसा से पाँचवी-छठी शती पूर्व में अन्य रूप में होगा, सम्भवत सूत्ररूप मे हो, जैसा चि चरक के वचनो से स्पष्ट है ।[2] यह समय ब्राह्मण-रचना का है, शतपथ आदि ब्राह्मण इसी समय बने हैं । इनके अनु-शीलन से यह स्पष्ट है कि इस समय तक समस्त सहिताओ का सकलन हो चुका था । विंटरनिट्ज की मान्यता है कि अथर्ववेद सहिता तथा यज्ञ-अनुष्ठानवाली सहिताओ का

---

१. ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ ।
भेडाद्या' किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्य सुभाषितम् ॥

हृदय, उ अ. ४०।४८

२. सूत्रमनुक्रामन् पुन पुनरावर्तयेत्—वि. अ ८।७;
ऋषींश्च सूत्रकारानभिमन्त्रयमाण:—वि. अ ८।११;
बहुविधा सूत्रकृतामृषीणा सन्ति—शा अ ६।२१

सकलन इसी ब्राह्मण-साहित्य के समय हुआ है। इस दृष्टि से आयुर्वेद-साहित्य भी सूत्ररूप मे इस समय वन चुका था। फलस्वरूप वुद्ध के समय योग्य चिकित्सक जीवक को हम देखते है, जिसने तक्षशिला में जाकर आयुर्वेद का अध्ययन सात वर्ष में किया था। इसलिए उस समय तक आयुर्वेद का पूर्ण विकास होना स्वीकार करना ही होगा। यह विकास सूत्ररूप मे हुआ होगा जिनका उपदेश आत्रेय ने अग्निवेश आदि छ शिष्यो को तथा धन्वन्तरि दिवोदास ने सुश्रुत आदि को दिया। 'प्राप्तोऽस्मि गा भूय इहोपदेष्टुम्'—सुश्रुत का यह वचन इस वात को पुष्ट करता है कि उपदेश पुन दिया गया है। चरक सहिता में भी भरद्वाज के वाद आयुर्वेदपरम्परा त्रुटित दीखती है। वाग्भट ने इस टूटी परम्परा को जोडने के लिए आत्रेय का सीधा सम्वन्ध इन्द्र से जोड दिया है, उसने भरद्वाज का इस सम्वन्ध में नाम नही लिया (वा सू अ १)। सम्भव है कि जो परम्परा ब्रह्मा से चलकर भरद्वाज तक आयी थी, वह वीच मे विश्रृखलित हो गयी। उसी को पीछे अत्रिपुत्र ने प्रचलित किया। भरद्वाज से आत्रेय ने पढा, यह कही पर भी चरक सहिता मे नही लिखा। इससे वीच में खडित परम्परा नये रूप मे आगे चलती प्रतीत होती है। यह नयी परम्परा ईसा की सातवी शती या इससे कुछ पूर्व प्रारम्भ होती है। इससे पूर्व काल की सूत्ररचना जो कि ब्राह्मणयुगीन थी, वह आजकल नही मिलती। उपलब्ध सहिता में से इस प्राचीन भाग को पृथक् करना सरल नही। क्योकि सैकडो वर्षों तक प्रतिसस्कार-शोधन आदि होने से वह मूल रूप अव लुप्त हो गया है।

चरक-सुश्रुत ग्रन्थो में प्रशस्त नक्षत्र, करण, मुहूर्त्त, तिथि, योग इन पचागो का उल्लेख मिलता है, परन्तु वार-दिनो के नाम नही मिलते हैं। परन्तु शकर वालकृष्ण दीक्षित के भारतीय ज्योतिषशास्त्र (पृष्ठ १३९) मे वारो के नामो का उल्लेख शक सवत् से एक हजार वर्ष पूर्व भारत में प्रचलित होने का उल्लेख है। इस दृष्टि से चरक सहिता का काल वहुत प्राचीन (३००० वर्ष) आता है, परन्तु श्री यादवजी त्रिकमजी स्वत इस समय को स्वीकार नही करते (आयुर्वेद का इतिहास—श्री दुर्गाशकर शास्त्री, पृष्ठ ८८)। सग्रह में भी वारो का उल्लेख नही है। दीक्षितजी की गणना का विषय सर्वमान्य भी नही है। इसलिए पुष्ट प्रमाणो के आधार पर उपर्युक्त निर्णय ही समीचीन है।

गौ, अश्व और हाथी का आयुर्वेद

इस देश में गौ और अश्व का महत्त्व वैदिक काल से चला आ रहा है। वैलो और घोडो का उपयोग खेती तथा वाहन में होता था, इसी से हम पढते है—"दोग्ध्री

धेनुर्वोढानड्वानाशु नप्सिर्जायताम्"—यजु । हाथी का उल्लेख भी ऋग्वेद में है (८।२।६) । सिन्धु घाटी में जिन पशुओ की मूर्त्तियाँ मिली है, उनमें हाथी, वराह, सिंह और गौ की भी मूर्त्तियाँ हैं (हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ ३३) ।

हाथी का उपयोग राजा की सवारी में होता था । पीछे से घोडे और हाथी का उपयोग सेनाकार्य में होने लगा । कौटिल्य–अर्थशास्त्र मे गो–अध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष और हस्त्यध्यक्ष के कार्यो की विस्तृत चर्चा है, इनकी चिकित्सा तथा चिकित्सको के कर्त्तव्य की भी जानकारी दी गयी है ।[1]

इस ऐतिहासिक स्थिति में मनुष्यो के चिकित्सा-शास्त्र की भाँति पशु और वृक्षो तक की चिकित्सा का भी विकास हुआ । अश्ववैद्यक और गजवैद्यक के ऊपर जो साहित्य मिलता है, उसका मूल प्राचीन भाग भी आयुर्वेद के मूलग्रन्थ बनने के बाद तैयार हुआ है ।[2] उनका विवरण इस प्रकार है—

अश्ववैद्यक—इस सम्बन्ध का ग्रन्थ हयघोष के पुत्र शालिहोत्र ने बनाया था जो अपूर्ण रूप में मिलता है । इसका सुश्रुत के प्रति उपदेश किया गया है । इसके आठ स्थानो में अष्टाग अश्ववैद्यक का वर्णन है । परन्तु जो ग्रन्थ मिलता है, उसमे प्रथम स्थान खण्डित है ।[3]

इस ग्रन्थ का या अश्ववैद्यक सम्बन्धी किसी अन्य सस्कृत ग्रन्थ का 'कुर्रत उलमुल्क' नाम से ईसवी १३८१ में फारसी में भाषान्तर हुआ है । ऐसी ही किसी पुस्तक का अनुवाद अरबी भाषा में शाहजहाँ के समय 'किताब उल वैतर्त्त' नाम से हुआ है । इसके जैसा ही एक अग्रेजी भाषान्तर ईसवी १७८८ में कलकत्ता में छपा है । तिब्बती भाषा मे भी ऐसे किसी ग्रन्थ का अनुवाद हुआ है ।

शालिहोत्रीय अश्वशास्त्र नाम का सस्कृत ग्रन्थ मद्रास के राजकीय पुस्तकालय में है । गण-रचित अश्वायुर्वेद की हस्तलिखित प्रति का उल्लेख नेपाल के सूचीपत्र में

---

१. बालवृद्धव्याधिताना गोपालका प्रतिकुर्यु । कौटिल्य २।२९।१८
अश्वाना चिकित्सका शरीरह्रासवृद्धिप्रतीकारमृतुविभक्त चाहारम् ।
कौटिल्य २।३०।४९.
तेन खरोष्ट्रमहिषमजाविक च व्याख्यातम् । कौटिल्य २।३०।५३-५५

२ हस्तिषु पाकलो गोषु खेरिको मत्स्यानामिन्द्रजालो विहगानां भ्रामरक' ।
—चक्रपाणि

३ श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री कृत आयुर्वेद के इतिहास के आधार पर

है। वर्धमान की योगमजरी, दीपकर का अश्ववैद्यकशास्त्र, भोज का १३८ श्लोकात्मक शालिहोत्र भी प्रसिद्ध है। कल्हण विरचित शालिहोत्रसमुच्चय की हस्तलिखित प्रति भी मिली है। जयदत्त के वनाये अश्ववैद्यक की प्रस्तावना में कविराज उमेशचन्द्र दत्त ने हयलीलावती ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इन ग्रन्थो के अतिरिक्त अग्निपुराण मे भी अश्ववैद्यक सम्वन्धी प्रकरण मिलता है।

इस विपय के दो ग्रन्थ वगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी की ओर मे प्रकशित हुए है, जिनमे एक जयदत्त सूरि कृत अश्ववैद्यक है और दूसरा नलकृत अश्वचिकित्सा। महाभारत में नकुल ने विराट् को अपना परिचय देते हुए अश्वरक्षा म तथा सहदेव ने गायो के विपय में विशेप जानकार वताया था।[1] इसलिए नकुल के नाम से अश्वचिकित्सा ग्रन्थ किसी ने वनाया है।

अश्वचिकित्सा का प्रारम्भ सम्भवत हस्तिचिकित्सा के साथ ईसा से तीसरी या चौथी शताब्दी पूर्व हुआ होगा। चरकसहिता मे पशुओं के लिए वस्तिविधान का वर्णन है (चरक सि अ ११।१९)।

शालिहोत्र के समय-निर्धारण पर पचतत्र के उल्लेख से भी प्रकाश पडता है। घोडे के दाह के ऊपर वन्दर की चरवी लगाने का उपदेश उसमे शालिहोत्र के नाम से आया है (५।७५)। इस समय इस विपय के जो दो ग्रन्थ मिलते है, उनमे विजयदत्त के पुत्र महासामन्त जयदत्त सूरि कृत अश्ववैद्यक की हस्तलिखित प्रति १२२४ ईसवी की मिली है। इसमें अफीम का उपयोग है, इससे यह ग्रन्थ तेरहवी शती का हो सकता है।

---

१. ग्रन्थिको नाम नाम्नाह कर्मैतत् सुप्रिय मम।
कुशलोऽस्म्यश्वशिक्षाया तथैवाश्वचिकित्सिते ॥
गोसंख्याता भविष्यामि विराटस्य महीपते।
प्रतिषेद्धा च दोग्धा च सख्याने कुशलो गवाम् ॥
अरोगा वहुला पुष्टाः क्षीरवत्यो वहुप्रजा।
निष्पन्नसत्त्वा. सुभृता ह्यपेतज्वरकिल्विषा ॥
क्षिप्र च गावो वहुला भवन्ति न तासु रोगो भवतीह कश्चन।
तैस्तैरुपायैर्विदित ममैतदेतानि शिल्पानि मयि स्थितानि ॥
अश्वाना प्रकृति वेद्मि विनय चापि सर्वशः।
दुष्टाना प्रतिपत्ति च कृत्स्न चैव चिकित्सितम् ॥
म. भा., विराट पर्व, अ. ३,१० १२

जयदत्त के अश्ववैद्यक में ६८ अध्याय हैं, नकुलकृत अश्वचिकित्सा में १८ अध्याय हैं। नकुल ने कहा है कि शालिहोत्रीय शास्त्र देखकर ग्रन्थ लिखा गया है, जयदत्त ने भी शालिहोत्र का उल्लेख किया है।

परन्तु जयदत्त ने नकुल का उल्लेख नहीं किया है। शार्ङ्गधरपद्धति में जयदेव के नाम से अश्ववैद्यक सम्बन्धी कुछ श्लोक हैं। इस जयदेव को गीतगोविन्द काव्य का रचयिता (१२वीं शती) मानने पर उक्त ग्रन्थ बारहवीं शती का सिद्ध होता है, यदि वह न हो तो जयदत्त सूरि का समय तेरहवी शती के आस-पास संभव होता है। नकुल का ग्रन्थ भी इससे बहुत प्राचीन सिद्ध नहीं होता। यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं।

जयदत्त सूरि के ग्रन्थ में घोड़ों की पूर्ण चिकित्सा है। इसमें सामान्य पद्धति से निदान-चिकित्सा का उल्लेख है। औषधियाँ आयुर्वेदोक्त हैं, घोड़ों की जाति, वय, पहचान, खुराक, घोड़ों को होनेवाला श्वास रोग इसमें वर्णित हैं।

पालकाप्य का हस्त्यायुर्वेद—हस्त्यायुर्वेद के रचयिता पालकाप्य मुनि के सम्बन्ध में यह दन्तकथा प्रचलित है कि राजा दशरथ के समकालीन, अंगदेश-चम्पा (भागलपुर से २४ मील दूर) के राजा लोमपाद ने पालकाप्य मुनि को हाथी वश में करने की विद्या सीखने के लिए बुलाया था। पालकाप्य मुनि को हथिनी का पुत्र कहा गया है।

हस्त्यायुर्वेद एक विस्तृत ग्रन्थ है, पूना की आनन्दाश्रम सीरीज में छपा है। इस में हाथियों के लक्षण, रोग और चिकित्सा, हाथियों के वर्ण, पकड़ने की विद्या तथा पालने आदि का वर्णन है।

हस्त्यायुर्वेद में चार विभाग या स्थान हैं—१ महारोग स्थान, २ क्षुद्र रोग स्थान, ३ शल्य स्थान (इसमें हाथियो की शस्त्रचिकित्सा है, इसी में गर्भावक्रान्ति, शस्त्र, यन्त्रों का वर्णन है), ४ उत्तर स्थान। इन चारों में १६० अध्याय और लगभग १८२ रोगों का वर्णन है।

'हस्त्यायुर्वेद' का समय निश्चित करने का कोई साधन नहीं, परन्तु इतना निश्चित है कि हाथियों के पालने का उल्लेख महाभारत में आता है। ईसवी पूर्व चौथी शताब्दी के राजदूत मैगस्थनीज़ को भारत में हाथियों के पालने की जानकारी थी। इसके साथ उसे यह भी पता था कि हाथियों के आँख के रोग पर दूध का उपयोग तथा दूसरे रोग एवं व्रणों पर गरम पानी, कुत्ते का मांस, आसव और घी का उपयोग औषध रूप में किया जाता है। इसलिए हाथियों की चिकित्सा ईसा से चौथी शती पूर्व में प्रचलित थी। कौटिल्य ने भी

हस्तिचिकित्सकों का उल्लेख किया है। अशोक के शिलालेखों से भी स्पष्ट है कि उसने अपने राज्य में तथा पड़ोसी राज्यों में पशुचिकित्सा का प्रबन्ध किया था। ईसा से तीसरी शती पूर्व पशुचिकित्सा प्रचलित होने का यह प्रबल प्रमाण है।

ईसा की चौथी शताब्दी में सीलोन के राजा बुधदास ने अपनी सेना में मनुष्यों की चिकित्सा की भाँति हाथी और घोड़ों की चिकित्सा के लिए भी चिकित्सक रखे थे।

हस्त्यायुर्वेद की समग्र रचना चरक-सुश्रुत के अनुसार है, इसलिए इन संहिताओं के पूर्ण होने के पश्चात् दृढबल के पहले या पीछे यह ग्रन्थ बनना चाहिए।[1] अलबेरूनी ने हाथियों के वैद्यक सम्बन्धी किसी ग्रन्थ का उदाहरण दिया है। इसलिए जब तक दूसरे प्रमाण न मिलें तब तक ११वीं शती से पहले और अधिकतर चौथी या पाँचवीं शती तक हस्त्यायुर्वेद बन चुका था, यह मानने में कोई दोष नहीं। इसमें हाथियों के विशेष रोग (मदरोग आदि) का वर्णन और चिकित्सा भी लिखी है।

हस्त्यायुर्वेद के उपरान्त मातंगलीला नामक एक ग्रन्थ हाथियों की चिकित्सा से सम्बन्धित नारायण-विरचित है। यह त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज में छपा है। इसके कर्ता ने भी पालकाप्य मुनि को ही हस्त्यायुर्वेद का आदि आचार्य माना है। ग्रन्थ भाषादृष्टि से आधुनिक प्रतीत होता है।

अश्ववैद्यक और गजवैद्यक की भाँति गौओं की चिकित्सा सम्बन्धी कोई पुस्तक पृथक् नहीं मिलती। परन्तु १४वीं शती की शार्ङ्गधरपद्धति में बकरी, गाय आदि की चिकित्सा संक्षेप में लिखी है।

---

१. चरकसंहिता में हाथियों की चिकित्सा में वस्ति-विधान लिखा है—
"कलिंगकुष्ठे मधुकं च पिप्पली वचा शताह्वा मदनं रसाञ्जनम्।
हितानि सर्वेषु गुडः ससैन्धवो द्विपञ्चमूलं च विकल्पना त्वियम्॥
गजेऽधिकाऽश्वत्थवटाश्वकर्णकाः सखादिरप्रग्रहशालतालजाः।
तथा च पर्ण्यौ धवशिग्रुपाटलीमधूकसाराः सनिकुम्भचित्रकाः॥
पलाशभूतीकसुराह्वरोहिणीकषाय उक्तस्त्वधिको गवां हितः।
पलाशदन्तीसुरदारुकत्तृणद्रवस्त्य उक्तास्तुरगस्य चाधिकाः॥
सि. अ ११।२३-२५

वृक्षायुर्वेद—भारतीय मस्कृति मे वृक्षो को भी सचेतन माना है[1], इसलिए इनकी भी चिकित्सा की जाती है। शार्ङ्गधर पद्धति में वृक्षायुर्वेद अथवा उपवन-विनोद नाम का २३६ श्लोकों का एक प्रकरण मिलता है।[2] इस विषय में यह प्रकरण देखने योग्य है। इनके सिवाय राघव भट्ट का वृक्षायुर्वेद नामक पृथक् ग्रन्थ भी मिलता है।[3]

तिर्यग्योनि चिकित्सा—इसका उल्लेख यशोधर ने किया है। इसमे पशु-चिकित्सा भी वर्णित है।

---

१ तमसा वहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता ॥ मनु. १।४९

२. श्री गिरिजाप्रसन्न मजूमदार ने उपवनविनोद—वनस्पति सम्बन्धी पुस्तक लिखी है, यह कलकत्ते से प्रकाशित है।

३. आयुर्वेद का इतिहास—श्री दुर्गाशंकर शास्त्री लिखित के आधार पर

पन्द्रहवाँ अध्याय

आयुर्वेद का अध्ययन-अध्यापन

अध्ययन-अध्यापन क्रम के अन्तर्गत यास्क ने दो प्रकार की विद्या का उल्लेख किया है—एक जानपदीय विद्या और दूसरी भूयसी विद्या। उपनिषद् में इनको परा और अपरा नाम से कहा है।[1]

इनमें परा विद्या का सम्बन्ध ब्रह्मज्ञान से था और अपरा का जानपदीय विद्या से, जिसको बुद्धकाल मे शिल्प कहा गया है। तक्षशिला में इन्ही शिल्पो की शिक्षा दी जाती थी (जातक, भाग ५ पृ० ३४७)। कुरु-पचाल उस समय परा विद्या का केन्द्र होगा, ऐसा उपनिषद् से ज्ञात होता है। छान्दोग्य मे पञ्चालो की समिति का उल्लेख है ("श्वेतकेतुर्हारुणेय पञ्चालाना समितिमेयाय"—५।३।१)। उपनिषदो के अध्ययन से पता चलता है कि एक गुरु के पास बहुत से छात्र रहते थे, ये छात्र उसी से सब विद्या पढते थे। उस समय जो विद्याएँ पढायी जाती थी, उनका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् मे आया है, उसमें देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, तृण-वनस्पति, श्वापद, कीट, पतग, पिपीलक—इनका ज्ञान भी कराया जाता था, इस ज्ञान का उसमें विज्ञान नाम दिया गया है।[2]

---

१. "जानपदीषु विद्यात: पुरुषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्य: प्रशस्यो भवति।" "द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा—ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद. शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्त छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।" (मुण्डक ५)

२. विज्ञान वाव ध्यानाद् भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेद विजानाति यजुर्वेद सामवेद-माथर्वण चतुर्थमितिहासपुराण पञ्चम वेदाना वेद पित्र्य राशि दैव निधिं वाको-वाक्यमेकायन देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्यां क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या दिवं च पृथ्वीं च वायुं चाकाश चापश्च तेजश्च देवाश्च मनुष्यांश्च पशूंश्च वयासि च तृणवनस्पतीन् श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलक धर्म चाधर्म च सत्यं चानृत चा साधु चासाधु च हृदयज्ञ चाहृदयज्ञं चान्न चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञान-मुपास्स्वेति॥ छादोग्य. ७।७।१

ज्ञान का उद्देश्य और आदर्श—प्राचीन काल में शिक्षा का उद्देश्य ईश्वरभक्ति, धर्मविश्वास, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, सामाजिक कर्त्तव्यों का निर्माण था। शिक्षा केवल पुस्तकों से ही सम्बन्धित नही थी, उसका ज्ञान क्रिया रूप में आवश्यक था। इसके लिए कहा जाता था कि जो मनुष्य केवल शास्त्र घोखता है, उसके अनुसार कार्य नही करता, वह मूर्ख है।[1] चरक सहिता के कथनानुसार शिष्य का उपनयन करके आचार्य जो शिक्षा देता था, उससे उस समय की शिक्षा का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है।

आयुर्वेदिक शिक्षा का उद्देश्य भी कर्त्तव्य की शिक्षा देना है। आयुर्वेद के ग्रन्थो में यही पूर्णत स्थान-स्थान पर वैद्य को याद कराया गया है कि उसका धर्म रोगी की सेवा करना है, उसमे धन कमाना नही। रोगी को अपने पुत्र के समान समझना चाहिए, उसके प्रति लोभ-वृत्ति नही रखनी चाहिए (चरक सूत्र अ १, चरक चि अ १।४)। ज्ञान प्राप्त करने में सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। वैद्य की चार वृत्तियाँ बतलायी है, मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा (चरक सू अ ९), यही योगदर्शन में भी कही हैं, इन वृत्तियो मे रहकर उसे रोगियो के साथ बरतना चाहिए। वैद्य को सम्पूर्ण औषधियो का ज्ञाता होना चाहिए।[2] शास्त्र ज्योतिरूप है, बुद्धि आँख है, इन दोनो के अनुसार ठीक प्रकार से कार्य करने पर वैद्य गलती नही करता। इसी से कहा है कि इसके ज्ञान में अतिशय प्रयत्न करना चाहिए। रोग के कारण, लक्षण, रोग की शान्ति और उसका फिर से न होना, इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, सब क्रियाओ का स्वत अनुभव करना चाहिए (चरक सू अ ९।१६-१८-१९-२१)। चरक मे मानसिक पवित्रता के ऊपर बहुत जोर दिया है, अपनी शरण में आगत दु खी रोगी के पास से विद्वान् का वेश धारण करनेवाला वैद्य किसी प्रकार का पैसा न ले, पैसा लेने

---

१ शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान्पुरुष स एव।
सुचिन्तित चौषधमातुराणा न नाममात्रेण करोत्यरोगम्॥
सु र भा पृ. ४०।२१

२ यत्रौषधी समग्मत राजान समिताविव। विप्र स उच्यते भिषक् रक्षोहामीवचातन॥ ऋ. १०।९७।६; इस मत्र की तुलना कीजिए—"योगविस्त्वप्यरूपज्ञस्तासां तत्त्वविदुच्यते। कि पुनर्यो विजानीयादौषधी सर्वथा भिषक्॥ योगमासा तु यो विद्याद्देशकालोपपादितम्। पुरुष पुरुष वीक्ष्य स ज्ञेयो भिषगुत्तम॥ चरक-सू अ १।१२३-१२३

की अपेक्षा साँप का विष या उबाला ताँबा पी लेना अधिक उत्तम है (चरक सू अ. १।१३२-१३३)।

वैद्य को रुपया नहीं कमाना चाहिए, यह चरक का आशय नहीं, अपितु धन प्राप्ति के लिए ही इस विद्या को नहीं बरतना चाहिए। वैद्य के लिए अर्थप्राप्ति रोगी की इच्छा पर छोड़ी गयी है।[1]

वैद्य सब रोगियों को अपने पुत्रों की भाँति समझे। केवल धर्म प्राप्ति के लिए, रोगों से बचाने के लिए, धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए आयुर्वेद को साधन समझना चाहिए। इसी से चरक में आयुर्वेद का उपदेश 'सर्वभूतानुकम्पा' से और सुश्रुत में 'प्रजाहितकामना' से किया गया है। अतएव प्राणियों पर दया करने के भाव से जो वैद्य इसका उपयोग करता है वह सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक है। जो चिकित्सा को बाजारू वस्तु बनाकर बेचता है, वह सोने के टुकड़े के स्थान पर रेत की ढेरी प्राप्त करता है। दारुण रोगों से पीडित, यमराज के राज्य में जाते हुए रोगियों को यमपाशों से जो छुड़ाता है, उसके लिए और दूसरा कौन सा धर्म करना बाकी रहा? जीवन दान से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं, भूतदया ही सबसे बड़ा धर्म है, यह जानकर चिकित्सा करनी चाहिए, इसी से आत्यन्तिक सुख या मोक्ष मिलता है (च चि अ १।४।५६-६२)।

आयुर्वेद विद्या के अधिकारी—चरक के अनुसार आयुर्वेद पढ़ने का सबको अधिकार है (सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः—सू अ ३०।२९)। काश्यप संहिता में भी चारों वर्णों के लिए आयुर्वेद अध्ययन कहा है (केन चाध्येय इति, ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यशूद्रैरायुर्वेदोऽध्येयः—शिष्योपक्रमणीय)। सुश्रुत में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों को अध्ययन करने का अधिकारी कहा है। शूद्र को भी मन्त्रभाग छोड़कर आयुर्वेद पढ़ना चाहिए—यह एकपक्षीय सिद्धान्त के रूप में लिखा है (सू अ. २)। इसमें ब्राह्मण का मुख्य उद्देश्य प्राणियों के कल्याण का, क्षत्रियों का अपनी रक्षा का और वैश्यों का वृत्ति-जीविकोपार्जन होना चाहिए। काश्यप संहिता के अनुसार शूद्रों को शुश्रूषा के लिए इस विद्या को सीखना चाहिए।

जाति परिवर्तन—आयुर्वेद पढ़ने से ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं, उस समय पाठक में

---

[1] चिकित्सितस्तु संश्रुत्य यो वाऽसंश्रुत्य मानवः। नोपाकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृतिः॥ चरक. चि. अ. १।४।५५; या पुनरीश्वराणां वसुमतां च सकाशात् सुखोपाहारनिमित्ता भवत्यर्थावाप्तिरारक्षणं च. या च स्वपरिगृहीतानां प्राणिनामातुर्यादारक्षा, सोऽस्यार्थ.—सू. अ. ३०।२९)।

१. अथ शिष्यगुणा —क्षान्तिर्दाक्ष्यं दाक्षिण्यमानुकूल्यं शौचं कुले जन्म धर्मनत्या-

आचार्य के गुण—जिसने विविपूर्वक शास्त्र का अम्यास गुरु से किया हो (श्रुते पर्यवदातत्व), कर्माम्यास देखा हुआ (परिदृष्टकर्मा), सरलवुद्धि, चतुर, पवित्र, हस्तकौशल में निपुण (जितहस्त), सावनसम्पन्न, सव इन्द्रियो से युक्त, प्रकृति को समझनेवाला, प्रतिभाशाली, शास्त्रान्तर ज्ञान से विद्या को माँजे हुए, अहकार रहित, निन्दा या ईर्ष्या से शून्य, क्रोव रहित, क्लेश-श्रम को सहनेवाला, शिष्यों से प्रेम रखनेवाला, पढाने मे योग्य—समझा सके, ऐसा आचार्य उत्तम है।[१]

शास्त्र की परीक्षा—वुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि अपने कार्य में गुरु-लघु का विचार करके, कार्य के फल, परिणाम तथा उसके भावी विचार को समझकर, देश और समय का विचार करके यदि वैद्य वनने का निश्चय हो, तव सवसे पहले शास्त्र की जाँच करे। लोक मे वैद्यो के वहुत से ग्रन्थ प्रचलित है, इनमे से जो आयुर्वेद ग्रन्थ सुमहान्, यशस्वी-वीर पुरुषो से सम्मानित, अर्थवहुल, आप्त-विद्वानो से सेवित, तीव्र, मध्यम और मन्द तीनो प्रकार के शिष्यो की समझ में आ सके, पुनरुक्ति-दोष रहित, सूत्र-भाष्य-सग्रह (उपसहार) क्रम से ठीक वना हो, अपने ही मौलिक आधार पर वना हो (जिसके लिए दूसरे ग्रन्थ देखने की जरूरत न हो), जिसमे शब्द छूटे हुए न हो, सरल-सीधी भाषा हो, जिसमें क्रमपूर्वक अर्थतत्त्व का निश्चय हुआ हो, प्रकरण—विषय विभाग स्पष्ट हो, पढने से जल्दी समझ मे आ जाय, जिसमे लक्षण और उदाहरण स्पष्ट हो, ऐसा शास्त्र चुनना चाहिए। इस प्रकार का शास्त्र सूर्य की भाँति अज्ञान को दूर करके सव विद्या को ठीक-ठीक प्रकाशित कर देता है।

उपनयन—इस विधि का अर्थ इतना ही है कि शिष्य गुरु के द्वारा अध्ययनार्थ स्वीकृत कर लिया जाता है। शिष्य का यह सस्कार प्राचीन काल में तुरन्त नही होता था। शिष्य को कुछ समय तक आचार्यकुल मे रहना होता था, इस समय उसकी सज्ञा 'माणवक' होती थी, माणव सम्भवत 'मानव' का ही रूप है। उसे दण्ड-माणव कहते थे, सम्भवत आचार्य के गोधन की देखभाल, चराने का काम इस समय उसे

हिंसासामकल्याणज्ञानविज्ञानस्थितिविनिवेशः पाटवं यथोक्तकारित्वं ब्रह्मचर्यमनुत्सेको लोभेर्ष्याविवर्जनमिति। अतोऽन्यथा दोषै. स वर्ज्य॥

१ अथ गुरु—धर्मज्ञानविज्ञानोहापोहप्रतिपत्तिकुशलो गुणसपन्न. सौम्यदर्शनः शुचि शिष्यहितदर्शी चोपदेष्टा च भिषक्शास्त्रव्याख्याकुशलस्तीर्थागतज्ञानविज्ञानः कल्योऽनन्यकर्माऽव्यावृत्त॰ शिष्यगुणान्वितश्च। अतोऽन्यथा दोषैर्वर्ज्यः॥ (काश्यप सहिता—वि. शिष्योपक्रमणीय)

करना होता था। इसी समय गुरु उसके स्वभाव से परिचित हो जाता था। शिष्य को जब वह योग्य समझता था, तब उसका उपनयन होता था। अब उसकी सज्ञा 'अन्तेवासी' होती थी। इस समय उसे गुरु के पास ही रहना होता था, उसकी आज्ञा को पूर्णत पालन करना होता था, विना उसकी जानकारी के कोई कार्य वह नही कर सकता था, जो कुछ भी भिक्षा या वस्तु लाता था, उसे पहले गुरु की सेवा में उपस्थित करता था, एक प्रकार से वह गुरु-अधीन होता था (चरक वि अ ८।१३)। इसके पीछे विद्या समाप्त होने पर उसका समावर्त्तन होता था। इसके वाद भी जो निरन्तर विद्याभ्यास करने के लिए देश देशान्तरो में जाते थे, विशेप ज्ञान के लिए घूमते थे, उनकी सज्ञा चरक होती थी।[1]

इसी से अत्रिपुत्र ने कहा है कि आयुर्वेद ज्ञान का कोई छोर नही, विना प्रमाद किये निरन्तर इसमें जुटे रहना चाहिए। इसके लिए स्वभाव में सज्जनता लाकर, विना निन्दा या ईर्ष्या के दूसरो से भी इसको सीखना चाहिए। वुद्धिमान् व्यक्ति का सम्पूर्ण ससार गुरु होता है और मूर्ख का शत्रु। इसलिए वुद्धिमान् का यह धर्म है कि अपने शत्रुओं के भी मगलकारी, यशस्वी, आयुष्य, पौष्टिक, लौकिक वचन को स्वीकार करे, और उसके अनुसार कार्य करे। इस समय शिष्य को जिन शव्दो मे आचार्य अनुशासन–शिक्षा देता है, यही शव्द–अनुशासन आयुर्वेदचिकित्सा मे व्यवहार करने योग्य सार है। उसे अपने जीवन में जिस प्रकार से दुनिया में वरतना है, उसकी यही शिक्षा होती है।[2] इस अनुशासन के समय शिष्य आचार्य के आदेशानुसार अग्नि को साक्षी मानकर प्रतिज्ञा करता है।[3]

उपनयनविधि वैदिक प्रक्रिया है, जिसमें प्रशस्त मुहूर्त्त में शिष्य सिर घुटवाकर उपवास रखता है, फिर स्नान करके कापाय वस्त्र धारण कर हाथो में सुगन्ध, समिधा,

---

१. पुनर्वसु आत्रेय इसी प्रकार के आचार्य थे—जो वरावर विचरण करके ज्ञान उपार्जन करते थे और जनता का मगल-कल्याण करते थे, 'पाणिनि कालीन भारतवर्ष' के आधार पर।

२ तैत्तिरीयोपनिषद् में भी आचार्य शिष्य को समावर्त्तन के समय उपदेश देता है—वह उपदेश लगभग इसी प्रकार का है (११वाँ अनुवाक)। इसमें आचार्य कहता है—"यान्यवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माक सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि॥ ११।२

३ मत्प्रियहितेषु वर्त्तितव्यम् अतोऽन्यथा ते वर्त्तमानस्याधर्मो भवति अफला च विद्या, न च प्राकाश्य प्राप्नोति। सु सू. अ २।७

अग्नि, घी तथा पूजा की अन्य सामग्री, दान-दक्षिणा साथ लेकर गुरु की सेवा में उपस्थित होता है। आचार्य यज्ञविधि से उसको दीक्षा प्रदान करता है। इसमें होम के साथ आयुर्वेद के उपदेष्टा ऋषियो के नाम से आहुतियाँ भी दी जाती है। हवन के पीछे परिक्रमा तथा वैद्यो की पूजा होती है। इस विधि के वाद ब्राह्मणो, वैद्यो और अग्नि के सामने गुरु शिष्य को अनुशासित करता है—व्यवहार की शिक्षा, कर्त्तव्यो का ज्ञान करता है। चरकसहिता का यह उपदेश जीवन मे दीपज्योति के समान महत्त्वपूर्ण है, इस ज्ञान की तुलना मे उपनिपद् का ज्ञान ही ठहर सकता है। वैद्यो के व्यवहार की सव वातें इसमे कही है, वैद्य को आत्मप्रशसा से सदा दूर रहना चाहिए, ज्ञानवान् होने पर भी अपने ज्ञान की दुहाई देते नही फिरना चाहिए (ज्ञानवतापि च नात्यर्थमात्मनो ज्ञाने विकत्थितव्यम्, आप्तादपि हि विकत्थमाना-दत्यर्थमुद्विजन्त्यनेके। वि अ ८।१३)।

छुट्टियाँ—विद्या-अध्ययन कुछ अवस्थाओ मे वन्द भी रहता था, यथा—विना ऋतु के जव विजली चमकती हो, दिशाओ में आग लग रही हो, पास मे आग लगी हो, भूकम्प होने पर, कोई वडा उत्सव (शरद् पूर्णिमा आदि) हो, उल्कापात होने पर, सूर्य चन्द्र ग्रहण होने पर, अमावास्या को विद्या का पाठ नही होता था। इसके अतिरिक्त सन्ध्याकाल में तथा विना गुरु से पढे नही पढा जाता था। अक्षर छोडते हुए, वहुत जल्दी, चिल्ला चिल्लाकर, विना स्वर के पदो को उलटकर, रुक रुककर, मरी हुई आवाज से या वहुत धीमी आवाज से भी पढने का नियम नही था। सुश्रुत मे कृष्ण पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पचदशी (अमावस), शुल्क पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा ये दिन भी विद्याध्ययन के लिए निषिद्ध है (सु सू अ. २।९)।

शिक्षा के स्थान—शिक्षा के उपयुक्त गुरुकुल जगल में होते थे या नगर मे, इस विषय की कोई जानकारी आयुर्वेदसहिताओ में नही मिलती। इतना स्पष्ट है कि चरक सहिता में ग्राम्यवास की अपेक्षा अरण्यवास को अधिक पसन्द किया और स्वास्थ्य के लिए उत्तम वताया है। शालीन (अचल) और यायावर (चल) ऋषियो ने जव अपने को दैनिक कार्यों में भी असमर्थ पाया तव उनको अनुभव हुआ कि यह दोप ग्राम्य वास का ही है। इन्द्र ने भी उनको समझाया कि ग्रामो में रहना अप्रशस्त व्यवहार का कारण है (ग्राम्यो हि वासो मूलमशस्तानाम्-चि अ. १।४।४)। इसलिए शिक्षा का स्थान ग्राम से दूर शान्त-सुन्दर स्थान में होता होगा। चरक-सहिता में तो पुनर्वसु आत्रेय को सदा घूम घूमकर विद्या देते पाते है। सुश्रुत के उपदेष्टा धन्वन्तरि दिवोदास काशिराज होने से एक ही स्थान पर रहते थे। परन्तु चरक-

नहिना की अध्यापन विधि से अनुमान होता है कि यह अध्ययन एक स्थान पर रहकर नियमित रूप में किया जाता था। वनस्पति-ज्ञान के लिए जगल पास में होता था। औषध ज्ञान के लिए गौ-बकरी चरानेवालो की सहायता ली जाती थी।

शुल्क—शिक्षा के लिए उस समय गुरकुल-प्रणाली ही थी, जिसमें शिष्य को गुरु के पास ही रहना होता था। इससे उस पर आचार्य के चरित्र का प्रभाव पडता था, उसका गुरु से सतत सपर्क बना रहता था। गुरुकुल के इस जीवन की उपमा माता के गर्भवास से दी गयी है (आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिण कृणुते गर्भमन्त—अथर्व)। एक गुरु के पास बहुत शिष्य रहते थे। गुरु का बहुत कुछ चित्र ऊपर के उल्लेख में स्पष्ट हो जाता है। गुरु भी शिष्य के प्रति अपना उत्तर-दायित्व समझता था, इसी से वह भी प्रतिज्ञा करता था कि यदि तेरे ठीक प्रकार से बरतने पर भी मैं दोषदर्शी बनूं तो मेरी विद्या निष्फल हो जाय (अह वा त्वयि सम्यग्वर्त्तमाने यद्यन्यथादर्शी स्यामेनोभाग्भवेयमफलविद्यश्च—सु सू अ २।७)। गुरु का जीवन सरल और त्यागपूर्ण होता था। विद्या दान त्याग के रूप में था, इसमें उदात्त भावना थी। वैदिक काल में वह शिष्य से किसी प्रकार का शुल्क धन-रूप में नही लेता था। तक्षशिला के अध्यापन समय में इसमें परिवर्त्तन हुआ, परन्तु इसका रूप सुरक्षित रहा। वहाँ भी जो विद्यार्थी शुल्क नही दे सकते थे वे दिन में गुरु के घर सेवा कार्य करके विद्याध्ययन करते थे। यह शायद इसलिए था कि तक्षशिला में बडी आयु के छात्र विद्याध्ययन के लिए जाते थे। छोटी आयु के छात्र गुरु के यहाँ माणव रूप में सेवा कर चुके होते थे। गुरु के पास विद्या पढने के लिए आनेवाले छात्रो का प्रवाह सतत बना रहता था, जिससे उनकी सेवा अविच्छिन्न रूप में चालू रहती थी। इसलिए शिक्षा की कोई फीस उस समय नहीं थी। गुरु या आचार्य का सम्बन्ध शिष्य के साथ पिता-पुत्र का होता था। गुरु शिष्य के चरित्र पर निरन्तर ध्यान रखता था, उसे किनसे मिलना चाहिए, कहाँ बैठना चाहिए, इसका उपदेश वह देता था। (चरक वि अ ८, काश्यप वि शिष्योपक्रमणीय)

गुरु की आय का साधन क्या था, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नही है, सम्भवत धनी सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा ही इनका पोषण होता था(चरक सू अ ३०।२९)। ये लोग आरोग्य सुख मिलने के बदले में या अन्य रूप मे जो दान दक्षिणा देते थे उससे इनका व्यवहार चलता था। इतना होने पर भी उस समय के चिकित्सालय सम्पूर्ण साज-सज्जा से युक्त होते थे, यह बात चरक के उपकल्पनीय अध्याय से स्पष्ट है (सू अ १५।७)। उनका अपना जीवन शान्त होने पर भी वासस्थान सब

आवश्यक वस्तुओ से पूर्ण होता था। इसी से कहा गया है कि गुरु के पास शिक्षा के सब उपकरण-साधन होने चाहिए ।

मनुष्य मे प्राणैषणा के पीछे धन की चाह होनी चाहिए, जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओ के विना जिन्दगी व्यतीत करना सबसे बडा पाप है। इसलिए जीवन के हितार्थ आवश्यक साधनो को एकत्र करने का यत्न करे। इसके लिए कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य, राजसेवा आदि जो कार्य सज्जनो से निन्दित न हो, जिनमे जीविका चल सके उनको करना चाहिए (चरक सू अ ११।५)। जीविका के लिए गुरु की आवश्यकताएँ कम होती थी, जिनको राजा या समृद्ध व्यक्ति सम्भवत पूरी कर देते थे, इससे गुरु एकाग्रता के साथ विद्याध्ययन करा सकते थे। उनकी आय का मुख्य साधन यही प्रतीत होता है।

अध्यापन कार्य प्राय भिक्षु और वानप्रस्थ करते थे। नालन्दा और विक्रम-शिला में तो अध्यापन कार्य भिक्षु ही करते थे। इनके निर्वाह का प्रबन्ध विद्यालय की ओर से रहता था। विद्यालय की आय राजाओ द्वारा प्रदत्त दान से थी। यही परिपाटी सम्भवत वैयक्तिक गुरु के विषय में भी थी। राजा विद्वानो को गाय एव स्वर्ण का दान करते थे, यह बात जनक के दान से स्पष्ट है। शिष्य गुरुसेवा करने मे अपना गौरव समझते थे। यह ऐसा कार्य था जिसको करते हुए कोई भी व्यक्ति विद्या पढ सकता था, इसके सहारे उसे निराश नही होना पडता था। गुरु अध्यापन करना आवश्यक समझता था—विना विद्या दान दिये वह गुरु-ऋण मे मुक्त नही होता था (यो हि गुरुभ्य सम्यगादाय विद्या न प्रयच्छत्यन्तेवासिभ्य स खल्वृणी गुरुजनस्य महदेनो विन्दति—चक्रपाणि, सूत्र अ १।४५ की टीका में)। इसलिए उस समय विद्यादान गुरु का एक आवश्यक कर्त्तव्य था, जिसे वह विना लोभ के करता था। छात्र गुरु के घर का एक अग होता था। गुरु शिष्य के खाने पीने की व्यवस्था, बीमारी में उसकी सेवा करता था। शिष्य का भी कर्त्तव्य था कि घूमते-फिरते गुरु के लिए अर्थसग्रह करे। इससे स्पष्ट है कि उस समय गुरु शिष्यो को भेजकर अथवा शिष्य स्वत जाकर गुरु के लिए धन सग्रह करते थे (अनुज्ञातेन चाननुज्ञातेन च प्रविचरता पूर्व गुर्वर्थोपहरणे यथाशक्ति प्रयतितव्यम्—चरक, वि अ ८।१३)। भिक्षा से शिष्य को जीवन में विनय की शिक्षा मिलती है।

चरकसहिता में शिक्षा या ज्ञान प्राप्त करने के तीन उपाय बताये हैं, अध्ययन, अध्यापन और तद्विद्यसम्भाषा । इनमें प्रत्येक उपाय की विस्तृत विवेचना भी की है (वि अ ८।६)।

इनमें तद्विद्यसम्भाषा का उल्लेख करते हुए कहा है कि वैद्य वैद्य के साथ ही सम्भाषण करता है। उस विद्या को जाननेवाले व्यक्ति के साथ बातचीत करना ज्ञान को बढाता है, दूसरे के वचनों का निराकरण करने की युक्ति देता है, बोलने की शक्ति आती है, यश को बढाता है, पहले सुनी हुई बात में सन्देह रहने पर फिर से सुनने पर उस बात का सन्देह मिट जाता है, जो बात पहले सुनी है उसमें सन्देह होने पर भी फिर से सुनने में दृढ निश्चय हो जाता है, जो बात पहले सुनने में नही आती, वह भी कभी भी सुनने में आ जाती है। गुरु जिस गुह्य बात को सेवा करने-वाले शिष्य के लिए बडी मुश्किल से बताता है, वह गुप्त बात भी दूसरे को जीतने की इच्छा से इस समय कही जाने से सरलतापूर्वक सुनने में आ जाती है। इसलिए विद्वान् लोग तद्विद्यसम्भाषा की प्रशसा करते है।

यह सम्भाषा दो प्रकार की है, सन्धाय सम्भाषा और विगृह्य सम्भाषा। इसमें जो व्यक्ति ज्ञान, विज्ञान, प्रतिवचन (उत्तर देने की क्षमता) शक्तियुक्त हो, क्रोधी न हो, विद्या का जिसने अभ्यास किया हो, ईर्ष्या या निन्दा न करता हो, विनम्रता का आदर करता हो, दु ख उठा सकता हो, मधुर भाषी हो, उसके साथ सन्धाय सम्भाषा (मिलकर बातचीत) होती है। इस प्रकार के व्यक्ति के साथ बात-चीत करते हुए विश्वास से कहना चाहिए, विश्वासपूर्वक पूछना भी चाहिए, यदि वह कुछ पूछे तो विश्वास के साथ स्पष्ट अर्थ कहना चाहिए, मैं हार जाऊँगा, इस भय से घबराना नही चाहिए। दूसरो में अपनी बडाई (डीग) नही करनी चाहिए, मोहवश हठी-आग्रही नही होना चाहिए, जो बात या वस्तु अज्ञात हो उसे कहना चाहिए। विनम्रता से भली प्रकार बरतना चाहिए, । यह अनुलोम सम्भाषा है।

अन्य व्यक्ति के साथ विगृह्य सम्भाषा करने में अपनी श्रेष्ठता होने पर ही वाद-विवाद करना चाहिए। वाद-विवाद से पूर्व ही विपक्षी के और अपने गुण-दोषो की परीक्षा, उपस्थित सभासदो की परीक्षा कर लेनी चाहिए। ठीक प्रकार से की हुई परीक्षा ही बुद्धिमानो के कार्य मे प्रवृत्ति या निवृत्ति का निश्चय करा देती है। इसकी परीक्षा करते समय अपने और विपक्षी के इन जल्प-गुणो की तथा दोषो की जाँच करनी चाहिए—श्रुत, (अध्ययन), विज्ञान (समझना), धारण (याददास्त), प्रतिभा (सूझ), वचनशक्ति (बोलने की शक्ति)। इन गुणो को श्रेयस्कर (जितानेवाले) कहा है। दोष– क्रोधी होना, अकुशलता, डरना (घबराना), याद न रखना, एकाग्रता का अभाव—इन गुणो की अपने में और विपक्षी में अधिक और कम की दृष्टि से तुलना करनी चाहिए। इस रीति से विपक्षी

तीन प्रकार का हो सकता है, (१) अपने से श्रेष्ठ, (२) अपने से कम, (३) अपने बराबर। यह विचार काल, शील आदि की दृष्टि से नही है। अपितु उपर्युक्त गुणो के विचार से है।

ज्ञानवृद्धि या अध्ययन का एक अग होने से चरकसहिता मे ही इस विषय की विस्तृत विवेचना मिलती है, यह प्रथा आज भी किसी अश मे विद्यार्थियो मे प्रचलित है।

शिक्षणसस्थाओ का संघटन तथा अर्थ-व्यवस्था—प्रागैतिहासिक काल में १००० ईसापूर्व अध्ययन का क्षेत्र सम्भवत परिवार होगा। पीछे से शिक्षा का क्रम पाठशाला के रूप मे चला। एक पण्डित के पास बहुत से छात्र पढते थे। यही एक पण्डित प्राय सब विषयो को पढाता था। राजकुमार को शिक्षा देने के लिए बहुत अध्यापक होते थे, जो कि भिन्न-भिन्न विषयो की शिक्षा देते थे।

पाठशालाओ का यही रूप मठो और बौद्ध विहारो मे बदल गया। जब विद्यार्थियो की सख्या बढी तब उनके आचार, चारित्र्यनिर्माण की देखरेख का तथा अन्य प्रबन्ध का उत्तरदातृत्व आचार्य ने सँभाला और विद्या-अध्यापन का कार्य उपाध्याय के ऊपर पडा। चरकसहिता मे सर्वत्र आचार्य शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, यज्ञकर्म में ऋत्विक् शब्द का व्यवहार है। सुश्रुतसहिता मे उपाध्याय शब्द आता है। सुश्रुत मे ऋत्विक्-शब्द नही, इससे अनुमान होता है कि यज्ञकर्म या पूजाकर्म उस समय उपाध्याय करते थे। चरक के समय इस कर्म को ऋत्विक् करते थे। एक प्रकार से ऋत्विक्-उपाध्याय शब्द पहले कर्मकाण्ड के आचार्य से सम्बन्धित रहे होगे, पीछे से अध्यापन कार्य में उपाध्याय शब्द प्रचलित हो गया, और आचार्य का पुराना अर्थ बना रहा, जिसमे उसके ऊपर आचरण निर्माण और अध्यापन दोनो कार्य थे (ऋग्यजु सामाथर्व-वेदाभिहितैरपरैश्चाशीर्विधानैरुपाध्याय भिषजश्च सन्ध्ययो रक्षा कुर्यु —सु सू अ. १९।२७, यहाँ उपाध्याय को ऋत्विक् कार्य सौंपा है)।

स्वतत्र अध्यापक—अपनी निजी पाठशालाएँ चलानेवाले स्वतत्र अध्यापक सदा से भारतीय शिक्षाप्रणाली की रीढ रहे है। इन्ही से शाखा और चरण की उत्पत्ति हुई है, जिसका विस्तार सारे भारत मे फैला। एक शाखा या चरण मे शिक्षित व्यक्ति जहाँ गये वहाँ उन्होने उसी शाखा के अन्तर्गत अध्ययन क्रम चालू किया, उसी शाखा में भिन्न-भिन्न विषयो का विस्तार हुआ। इसमें अध्ययन क्रम मुख्यत ब्राह्मण वर्ग के हाथ मे रहा। यह वर्ग सब विद्याओ की शिक्षा अन्य वर्णो को देता था। इस वर्ग का पोषण क्षत्रिय और वैश्य करते थे। इस समय भिन्न-भिन्न शाखा के विद्वानो की जो सभा होती

थी, उसका नाम परिषद् था। तक्षशिला और काशी में विद्वानो का जो जमघट था, वह भी इसी रूप में पृथक्-पृथक् स्वतंत्र पाठशाला रूप में था (—डाक्टर अल्तेकर)।

यदि किसी आचार्य के पास शिष्यो की सख्या अधिक होती थी, तो वह प्रौढ विद्यार्थियो से अध्यापन का कार्य लेता था, प्रौढ विद्यार्थी नये या छोटे विद्यार्थियो को पाठ देते थे। अथवा किसी नौसिखुवे अध्यापक को अपने सहयोगी रूप में रखकर काम लिया जाता था। इससे आचार्य की पाठशाला में कोई अन्तर नही आता था।

शिक्षासंस्थाओ का जन्म—भारतवर्ष में शिक्षा सस्थाओ का जन्म मठो या बौद्ध-विहारो से हुआ है। महात्मा बुद्ध ने उपासको की विधिवत् शिक्षा दीक्षा पर बहुत जोर दिया था। दस साल तक अध्ययन करने के बाद उनको प्रव्रज्या दी जाती थी। उनके विहार गुरुकुलो का ही रूप थे। विहारो का मुख्य आचार्य योग्य भिक्षु होता था। विहारो-मठो में भोजन तथा वस्त्र आदि का सुभीता शिष्य को मिलता था। विद्या समाप्ति पर गुरुदक्षिणा देना आचार माना जाता था। विद्या पढकर जो गुरुदक्षिणा नही चुकाते थे, समाज में वे हीन-दृष्टि से देखे जाते थे। 'मिलिन्द प्रश्न' से पता चलता है कि राजा मिलिन्द ने अपने गुरु नागसेन को जब बहुत दक्षिणा दी तो उसने उसे लेने से इन्कार कर दिया। तब मिलिन्द ने कहा कि यदि मैं आपको कुछ न दूं तो लोग मुझे क्या कहेंगे। भारतवर्ष मे विद्या या चिकित्सा का विक्रय नही होता था।[1]

छात्रो की संख्या तथा अध्ययन का समय—छात्रो की कितनी सख्या एक गुरु के पास होती थी, इसका उल्लेख आयुर्वेदग्रन्थो में नही है। आत्रेय के छ शिष्य थे, सुश्रुत में धन्वन्तरि के सात शिष्यो का नाम है, शेष के लिए आदि शब्द दिया है। तक्षशिला मे एक आचार्य के पास ५०० विद्यार्थी होने का उल्लेख है।[2] याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका में आयुर्वेद के अध्ययन का समय चार साल लिखा है (२। १८४)। परन्तु अध्ययन की कोई मर्यादा नही थी, जीवक ने तक्षशिला में सात वर्ष तक विद्याध्ययन किया, तब भी उसे इसका अन्त नही दीखा। अन्त में थककर उसने

---

१. कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्। ते हित्वा काञ्चन राशिं पांशुराशिमुपासते ॥ चिकित्सितस्तु सश्रुत्य यो वासश्रुत्य मानव। नोपकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृतिः ॥ चरक, चि १।४।५५–५९

२, श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'एन्शेंट इण्डियन एजुकेशन' (पृष्ठ ३६८) में एक संस्था का उल्लेख किया है जो कि १०२३ ईसवी में थी। इसमें ३४० विद्यार्थी, १० अध्यापक तथा ३०० एकड भूमि थी।

गुरु से इस ज्ञान की सीमा के विषय में पूछा। गुरु ने उनके ज्ञान की परीक्षा लेकर उसे जाने की आज्ञा दे दी। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान की सीमा नहीं (समुद्र इव गम्भीरं नैव शक्यं चिकित्सितम्। वक्तुं निरवशेषेण श्लोकानामयुतैरपि ॥ सु उ अ १९।७)।[1] सामान्यतः गुरु के पास ८ से १६ वर्ष तक अध्ययन किया जाता था। इसके पीछे विशेष अध्ययन होता था। तक्षशिला प्रौढ विद्यार्थियों की शिक्षा का केन्द्र था, जहाँ पर सोलह वर्ष की आयु के पीछे विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए जाते थे। सामान्यतः २४ या २५ वर्ष में दूसरे आश्रम में प्रवेश कर लिया जाता था।

तक्षशिला—आयुर्वेद की शिक्षा का यही एक केन्द्र जातकों में वर्णित है। जातकों से पता लगता है कि बुद्ध के समय तक्षशिला की कीर्ति बहुत दूर तक फैली हुई थी।[2] इसी ने काशी के राजा ब्रह्मदत्त ने अपने पुत्र को विद्याध्ययन के लिए तक्षशिला जाने को कहा था। उस समय बनारस में भी प्रसिद्ध विद्वान् रहे होंगे। घर पर शिक्षा समाप्त होने पर लोग अपने पुत्रों को आगे अध्ययन करने के लिए बाहर भेजते थे। राजा ने अपने सोलह वर्ष के पुत्र को पत्तों का छाता, एक तल्ले की चट्टी और एक हजार मुद्रा देकर तक्षशिला भेजा था। राजकुमार ने वहाँ गुरु को अपना उद्देश्य बताया और स्वर्णमुद्रा उनको दे दी। इस विद्यापीठ में जो शिष्य फीस देकर पढते थे उनके साथ घर के बडे पुत्र के समान बर्ताव होता था, उसी प्रकार वे पढते थे। इस गुरु ने भी अन्यों की भाँति इस राजकुमार को शिक्षा दी।

विद्या के केन्द्र के विषय में तक्षशिला की ख्याति बहुत दूर तक फैली हुई थी। बनारस, राजगृह, मिथिला, उज्जैन, मध्यदेश, कुरु, शिवि, उत्तरदेश से विद्यार्थी यहाँ पर विद्याध्ययन के लिए पहुँचते थे। तक्षशिला की ख्याति का कारण यहाँ का अध्यापक-समूह था; जिसके आकर्षण से खिचकर छात्र यहाँ पहुँचते थे। ये अपने विषय के पूर्ण ज्ञाता तथा शास्त्र में निपुण होते थे। एक अध्यापक के विषय में कहा जाता है कि समस्त भारत से उसके पास लडाकू और ब्राह्मण लोग कला सीखने आते थे।

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस प्रसंग में एक कथा आती है (३।१०।११।३); भरद्वाज नामक ब्राह्मण ने वेदों के पढने में अपने तीन जन्म लगा दिये। इन्द्र को जब पता लगा कि वह अपना चौथा जन्म भी इसी वेदाध्ययन में लगायेगा, तो वह उसके सामने प्रकट हुआ और अनाज की ढेरी में से तीन मुट्ठी लेकर उसको दिखाते हुए कहा कि वेद तो अनन्त हैं; तुमने इन तीन वेदों का इतना ही ज्ञान प्राप्त किया, जितना अनाज मेरी मुट्ठी में है, शेष ज्ञान तो इस अनाज की ढेरी की भाँति बाकी है।

२. एन्शेन्ट इन्डियन एजुकेशन—श्री राधाकुमुद मुकर्जी के आधार पर

प्राचीनकाल में जब आवागमन के साधन आज की भाँति सरल नहीं थे, उस समय भारतवासियों के लिए अपनी सन्तान को इतनी दूर विद्याध्ययन के लिए भेजना उनके उत्कट विद्याप्रेम, ज्ञान प्राप्ति की लिप्सा को बताता है। तक्षशिला से जब बच्चा विद्या पढ़कर आता था तो वह कहते थे कि जीते जी मैंने पुत्र का मुख देख लिया "दिट्ठचे मे जीवमानेन पुत्तो दिट्ठो"।

तक्षशिला में सामान्यत विद्यार्थी अपने शिक्षक की पूरी फीस विद्याध्ययन के प्रारम्भ में ही दे देते थे, जो फीस नहीं दे सकते थे वे दिन में गुरु के घर का काम करते थे और रात को विद्या पढते थे। जातकों से पता लगता है कि एक गुरु के पास ५०० ब्राह्मण शिष्य थे, जो उसके लिए जगल से लकड़ी आदि लाने का काम करते थे। जो शिष्य सेवा भी नहीं करना चाहते थे, अग्रिम फीस भी नहीं दे सकते थे, उन पर विश्वास करके गुरु उनको विद्या पढाता था। विद्या समाप्ति पर वे भिक्षा माँगकर शुल्क चुकता कर देते थे। उस समय फीस स्वर्ण के रूप में चुकायी जाती थी, यह सात निष्क या कुछ औन्स सुवर्ण होता था (निष्क सुवर्ण का एक सिक्का था)। सामान्यत ब्राह्मण-काल में विद्या समाप्ति पर स्नातक बनने के पीछे अध्यापक की फीस गुरुदक्षिणा के रूप में चुकाने की प्रथा थी।

भोजन—इसके लिए उस समय सामान्यत गुरु ही प्रबन्ध करता था, परन्तु गृहस्थों से भोजन का निमन्त्रण भी मिला करता था। जातकों से पता लगता है कि पाँच सौ छात्रों को एक नागरिक ने भोजन के लिए आमन्त्रित किया था। इसी प्रकार का निमन्त्रण एक ग्राम की ओर से भी मिला था।

राजकीय छात्रवृत्ति—कई अवसरों पर तक्षशिला में पढने के लिए राज्य की ओर से छात्रवृत्ति दी जाती थी। इस प्रकार की छात्रवृत्तियाँ प्राय राजकुमारों के साथियों को मिलती थी। वाराणसी और राजगृह के राजकुमारों के जो साथी विद्याध्ययन के लिए उनके साथ तक्षशिला गये थे, उनको इस प्रकार की छात्रवृत्ति मिलने का उल्लेख जातकों में मिलता है। वहाँ के ब्राह्मण कुमार को तक्षशिला में धनुर्विद्या सीखने के लिए राजा ने छात्रवृत्ति दी थी, इसका भी उल्लेख है।

छात्र से जो फीस ली जाती थी, वह उसी के ऊपर व्यय होती थी, शिष्य गुरु के साथ ही रहता था। इसलिए उस युग में वास्तव में शिक्षा की फीस कोई नहीं थी। छात्र अपने अध्यापक के घर में उसके एक सदस्य के रूप में रहते थे। अनेक छात्र अपना अलग रहने का प्रबन्ध रखते थे। वाराणसी का राजकुमार जुन्ह स्वतन्त्र रूप से पृथक्

रहता हुआ तक्षशिला में पढता था। एक बार रात्रि में वह अध्ययन के अनन्तर अध्यापक के घर से अन्धेरे मे अपने स्थान को गया था।

नियंत्रण—शिष्य पर पूर्णरूप से नियत्रण रखा जाता था, वह कोई भी काम विना गुरु को वताये नही कर सकता था, यहाँ तक कि वह नदी पर भी अकेला स्नान के लिए नही जा सकता था। यह कुछ अशो में ठीक भी है, जिससे गुरु उसकी रक्षा आपत्काल मे कर सके।

नित्य अध्ययन का प्रारम्भ—विद्यार्थी अपना अध्ययन उप काल या ब्राह्ममुहूर्त में ही प्रारम्भ कर देते थे (चरक वि अ ८।७)। कहा जाता है कि वाराणसी मे ५०० ब्राह्मणकुमारो ने एक मुरगा पाल रखा था, जो उनको प्रात काल म जगा देता था। सम्भवत सव पाठशालाओ में एक मुरगा इसी लिए रहता होगा, जो कि वजनी घड़ी का काम देता होगा। यह भी उल्लेख है कि एक वार मुरगे के आवी रात मे वोलने से एक ब्राह्मणकुमार आवी रात में जाग गया, जिससे नीद पूरी न आने से वह दिन में नही पढ़ सका। इससे क्रुद्ध होकर उसने उस मुरगे की गरदन मरोड दी। इससे स्पष्ट है कि प्रात काल का समय पढने का होता था।

लिखित साधन द्वारा शिक्षा—चरकसहिता मे दी हुई शास्त्रपरीक्षा से स्पष्ट है कि उस समय अध्ययन पुस्तको के द्वारा होता था। इसी से शिष्य को सूत्र, भाष्य, सग्रह क्रम से वने हुए शास्त्र को चुनने के लिए कहा गया है। यह जो उल्लेख है कि शास्त्र मे पुनरुक्ति दोप नही होना चाहिए, इसमे भी स्पष्ट होता है कि शिक्षा पुस्तको के माध्यम से दी जाती थी (वि अ ८।३)। जातको में प्राय "सिप्य वाचेति" यह वाक्य आता है, इससे स्पष्ट है कि उस समय लिखित अध्ययन चलता था। इसके सिवाय एक निर्णय में स्पष्ट लिखा है कि "इस पुस्तक को देखकर इस विवाद में यह निर्णय दिया जाता है।"

परन्तु चरकसहिता का सम्पूर्ण उपदेश "उवाच" युक्त वाक्यो से दिया गया है, यह ज्ञान सम्भवत शिष्यो के साथ घूमते हुए दिया गया है। वैसे पाठक्रम एक स्थान पर रहकर भी चलता होगा। चरकसहिता का उपदेश उस समय का प्रतीत होता है, जव शिष्य अपना पठन समाप्त करके अविक विद्या उपार्जन के लिए गुरु के साथ घूमते थे।

जातको से यह भी पता चलता है कि उस समय लिखने का किस प्रकार अभ्यास कराया जाता था।

विविध पाठ्यक्रम—चरक सहिता से यह स्पष्ट है कि उस समय देश में भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रम प्रचलित थे, शिष्य को अपनी सामर्थ्य तथा परिस्थितियाँ देखकर पाठ्यक्रम निश्चित करना होता था। उसे क्या सीखना है, इसका निश्चय वह स्वय करता था।

जातको से यह भी ज्ञात होता है कि १८ शिल्पो के साथ ही अथर्ववेद को छोडकर तीनो वेदो का अध्यापन तक्षशिला में होता था। अथर्ववेद शिल्प में सम्मिलित था। तीनो वेदो की शिक्षा मुख से दी जाती थी, क्योकि मन्त्रो का नाम श्रुति है, इनको मुख से सुनकर ही याद किया जाता था।

शिल्प और विज्ञान में क्या अन्तर था, यह स्पष्ट नही। मिलिन्दप्रश्न में उन्नीस शिल्प गिनाये गये हैं, जो कि उस समय प्रचलित थे। तक्षशिला में जो शिल्प सिखाये जाते थे, उनमें से कुछ के नाम ये है—हाथीसूत्र, ऐन्द्रजालिक, मृगया, पशु-पक्षियो की आवाज़ पहचानना, धनुर्विद्या, शकुन विचार, चिकित्सा, शरीर के लक्षणो का ज्ञान।

सिद्धान्त और क्रियात्मक शिक्षा—छात्र को क्रियात्मक तथा सिद्धान्त दोनो प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। एक ही अग की शिक्षा का आयुर्वेद में निषेध है। विषय का सैद्धान्तिक पक्ष समझाने के बाद उसका क्रियात्मक ज्ञान कराया जाता था (सु अ ९।३)। तक्षशिला के चिकित्सा-अभ्यास क्रम मे जाना जाता है कि चिकित्सोपयोगी वनस्पतियो का ज्ञान पूर्ण रूप से कराया जाता था। जीवक के ज्ञान की परीक्षा गुरु ने वनस्पति-ज्ञान से ही ली थी। कुछ विषयो का क्रियात्मक ज्ञान विद्यार्थी स्वय अपना अध्ययन समाप्त करने के उपरान्त प्राप्त करते थे। उत्तर भारत का एक ब्राह्मण राजकुमार, जिसने तक्षशिला में धनुर्विद्या का अपना अभ्यासक्रम समाप्त कर लिया था, वह इस विद्या के क्रियात्मक ज्ञान के लिए दक्षिण आन्ध्र प्रान्त को गया था। इसी प्रकार मगध का राजकुमार अध्ययन समाप्त करके क्रियात्मक ज्ञान के लिए अपने राज्य के सब गाँवो में फिरा था।

चिकित्साविज्ञान में वनस्पतियो का क्रियात्मक ज्ञान कराने के अतिरिक्त प्रकृति का अध्ययन भी विशेष रूप से कराया जाता था। तक्षशिला के एक अध्यापक के पास एक मूढ छात्र आ गया था, उसने उसे सब तरह पढाने का यत्न किया, परन्तु वह नहीं पढ सका। अन्त में उसने उसे स्वाभाविक रूप में ज्ञान देना प्रारम्भ किया, उसे जगल से लकडियाँ लाने को कहा। वहाँ से आने पर उसने उससे पूछा कि तुमने जगल मे क्या क्या देखा। इस प्रकार से भिन्न-भिन्न प्रश्नो से उसे शिक्षा दी।

तक्षशिला के अध्यापक जहाँ शान्ति के लिए प्रसिद्ध थे वहाँ युद्धशिक्षा के लिए भी ख्यात थे। वाराणसी का ज्योतिपाल नामक छात्र राजा के खर्च पर तक्षशिला में धनुर्विद्या सीखने के लिए भेजा गया था। जब वह विद्या समाप्त कर घर वापस जाने लगा तो गुरु ने उसे अपनी तलवार, धनुष-बाण, कवच और एक हीरा पुरस्कार में दिया। उससे कहा गया कि वह गुरु का स्थान लेकर ५०० विद्यार्थियो का शिक्षक बनकर

रहे, क्योंकि अब वह वृद्ध हो गया है और निवृत्त होना चाहता है। धनुर्वेद को भी वेद की भाँति गुप्त रखा जाता था।

शिक्षा का केन्द्र वाराणसी—तक्षशिला के बाद बनारस ही विद्या का केन्द्र था। इस केन्द्र का प्रारम्भ तक्षशिला से पढकर आये हुए स्नातकों ने किया था। यहाँ रहकर उन्होंने संस्कृत का विकास किया, जिससे सारे भारतवर्ष मे ज्ञान का प्रसार हुआ। तक्षशिला में जिन विषयों का एकाधिपत्य था, वे विषय धीरे-धीरे यहाँ पर पढाये जाने लगे। जातकों से पता लगता है कि तक्षशिला के स्नातकों ने बनारस में इन्द्रजाल मन्त्रवी तथा अभिचार आदि क्रियाओं का अध्यापन भी प्रारम्भ किया था। सामान्य अध्ययन के लिए बहुत सी पाठशालाएँ स्थापित हो गयी थी। इस ढग से बनारस विद्याकेन्द्र रूप मे प्रसिद्ध हो गया था। एक करोड़पति का पुत्र यहीं शिक्षित हुआ था। यहाँ की प्रसिद्धि सगीत की शिक्षा के रूप में विशेष थी।

यह जो मान्यता है कि तक्षशिला मे जीवक का गुरु आत्रेय तथा काशी में सुश्रुत का उपदेष्टा दिवोदास काशिराज था, वह इस दृष्टि से सही दीखती है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि सुश्रुत का निर्माण चरक के पीछे हुआ है।

उच्च शिक्षा का आदि स्थान हिमालय—चरकसंहिता के अध्ययन से इतना स्पष्ट है कि जब ऋषियों को कुछ असुविधा हुई वे हिमालय पर पहुँचे। चरकसंहिता के प्रथम अध्याय मे रोगों की शान्ति का उपाय ढूंढने के लिए वे हिमालय के पार्श्व मे एकत्र हुए थे। इसी प्रकार जब ग्राम्य आहार के कारण वे अपना कार्य करने में असमर्थ हो गये तब शालीन और यायावर ऋषि इन्द्र के पास हिमालय मे ही पहुँचे। आत्रेय मुनि का विचरण भी हिमालय-कैलास पर ही विशेष रूप मे मिलता है। हिमालय में एकान्त-शान्त जीवन व्यतीत करने से सत्य-ज्ञान की प्राप्ति होती थी। इन्हीं ऋषियों के निवास-स्थान धीरे-धीरे विद्या के केन्द्र बने। ये केन्द्र बाद में क्रमश नीचे खिसकते हुए नगर या गाँवों के समीप पहुँच गये। इसमें दो लाभ थे—एक तो भिक्षा की सुविधा, दूसरा विद्यार्थियों के लिए आकर्षण। गाँव के पास मे होने से शिष्य अधिक मिलते थे। इससे उनके ज्ञान का प्रसार अधिक होता था। जातक से पता चलता है कि सत्यकेतु, जो कि बनारस की पाठशाला में ५०० छात्रों के बीच पढता था, शिल्प सीखने के लिए तक्षशिला में गया। रास्ते में उसे एक गाँव मे ५०० तपस्वी मिले, जिन्होंने उसके रहने आदि की व्यवस्था करके उसे सम्पूर्ण शिल्प-सिद्धान्त मूल तथा क्रियात्मक रूप में सिखा दिया था।[1]

---

१. तक्षशिला की स्थिति हिमालय के पार्श्व में ही है; हिमालय का जो महत्त्व था,

हिमालय में ही चैथरथ वन था, जैसा कि कादम्बरी में महाश्वेता के जन्म की कथा में लिखा है। इसी चैथरथ वन में आत्रेय ने दूसरे ऋषियो के साथ मिलकर कथा की थी। इनसे स्पष्ट है कि उस स्थान के आस-पास बहुत से ऋषियो के अपने-अपने शिक्षाकेन्द्र चलते थे, जिनमें समय-समय पर एकत्रित होकर किसी विषय पर विचारविनिमय परस्पर होता था। यह तभी सम्भव है कि जब शिक्षासस्थाएँ समीप में हो (जैसा आज भी बनारस या हरिद्वार में एक गुरु के शिष्य दूसरे गुरु के शिष्यो के साथ वाद-प्रतिवाद में उत्सुक रहते हैं। पण्डितो की इसी प्रवृत्ति को देखकर कवि ने कहा "विद्या विवादाय धन मदाय शक्ति परेषा परिपीडनाय। खलस्य साधोर्विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥")। यही प्रवृत्ति चरक में भी मिलती है (वने चैत्ररथे रम्ये समीयुर्विजिहीर्षव —सू अ २६।६–जीतने की इच्छा से एकत्रित हुए)।

आयुर्वेद का ज्ञान

शारीर विज्ञान—आयुर्वेद का समग्र ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि शरीरशास्त्र का ज्ञान पूर्णत प्राप्त किया जाय, बिना शरीर को समझे आयुर्वेद को नहीं समझ सकते (चरक शा अ ६।१९)। शरीर का यह ज्ञान स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकार से जानना आवश्यक था। स्थूल रूप में शरीर को आँखो से देखा जाता था, सूक्ष्म रूप में ज्ञानचक्षुवो से उसका प्रत्यक्ष होता था। सुश्रुत मे शरीर का स्थूल रूप में परिचय कराने के लिए शवच्छेद विधि बतायी गयी है, जिसमें कि स्वस्थ व्यक्ति के मृत देह को पानी में गलाने के बाद उसके बाह्य और अन्दर के सब अग-प्रत्यगो का ज्ञान कराना चाहिए (सु शा अ ५)। सही ज्ञान प्राप्त करनेवाले व्यक्ति को चाहिए कि वह मृत शरीर को ठीक प्रकार से शुद्ध करके शरीर के सब अवयव देख ले। शरीर और शास्त्र दोनो का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, प्रत्यक्ष दर्शन से शास्त्र सम्बन्धी सन्देह को दूर करना चाहिए। प्रत्यक्ष ज्ञान और शास्त्रज्ञान से ही सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। कायचिकित्सा की अपेक्षा शस्त्रचिकित्सा में शरीरज्ञान विशेष रूप में होना चाहिए, यह स्वाभाविक है।

शरीर ज्ञान की आवश्यकता उस समय समझी जाती थी, परन्तु उस समय स्थूल दृष्टि से यह ज्ञान कितना विकसित था, यह निश्चित नही कह सकते। सुश्रुत ने मृत शरीर को पानी में गलाकर शरीरज्ञान करने की जो विधि बतायी है, उस पर कुछ

उसके लिए लेखक की पुस्तक 'चरक सहिता का अनुशीलन' देखनी चाहिए। सिद्धों का प्रसिद्ध कदलीवन भी हरिद्वार से लेकर बद्रीनाथ तक का प्रदेश ही है।

विद्वानो की राय है कि पानी मे रहने से शरीर के बहुत से मृदु भाग नष्ट हो सकते है; स्थूल और कठिन भाग (अस्थियाँ) ही बचेंगे।

उपलब्ध शरीर वर्णन मे अस्थियो का विवरण स्पष्ट रूप मे मिलता है। इसके साथ प्लीहा, आत्र, यकृत, मूत्राशय आदि अन्दर के अवयवो का नाम स्पष्ट रूप में लिखा है। कुछ अगो का वर्णन अपनी भिन्न धारणानुसार किया गया है[1]। आज की भाँति शवच्छेद करके उस समय ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नही था, सूक्ष्मदर्शक यन्त्र जैसे साधन तो उस समय उपलब्ध थे नही। एक प्रकार से स्थूल व्यावहारिक ज्ञान होता था, जिसमें भी पीछे से बहुत सन्दिग्धता बढ गयी (देखिए प्रत्यक्षशारीर का उपोद्घात)। बहुत सा वर्णन पूर्ण रूप में ग्रन्थो से नष्ट हो गया, कुछ शब्द बचे रह गये परन्तु उनका सही अर्थ समझ में नही आता (यथा—क्लोम)। एक शब्द का प्रयोग बहुत अर्थों में मिलता है (यथा—धमनी)। इससे आयुर्वेदिक शरीर ज्ञान के सम्बन्ध में बहुत गडबडी हो गयी।

चरक में अस्थियो की सख्या ३६० और सुश्रुत मे ३०० है, आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार यह २०६ है। हार्नले ने बहुत परिश्रम करके इस भेद को मिटाया; उसने प्राचीन सख्या की गिनती करने का एक भेद बताया है, वास्तव मे दोनो मे कोई अन्तर नही (देखिए-त्रिलोकीनाथ वर्मा की 'हमारे शरीर की रचना')। त्वचा की सख्या चरक में छ और सुश्रुत में सात कही है, आज भी त्वचा के ये पृथक् आवरण माने जाते है। स्नायुओ का जो उपयोग आज है, वही पहले भी माना जाता था।

वैदिक काल में शरीर-ज्ञान अच्छी तरह प्रचलित था, यह ज्ञान पीछे धीरे-धीरे लुप्त हो गया, इसमे विकास नही हुआ। यह सत्य है कि चरक का शरीर-ज्ञान अधिकतर आध्यात्मिक है, उसमे स्थूल शरीर का ज्ञान विशेष नही मिलता। स्थूल शरीर का ज्ञान जो आज अधिक-से-अधिक मिलता है, उसका मुख्य आधार सुश्रुत है, यही ग्रन्थ शल्य चिकित्सा से सम्बन्धित है। सुश्रुत का शरीर-ज्ञान अधिक व्यवस्थित है, शरीर-अगो का विभागीकरण अधिक वैज्ञानिक है।

सुश्रुत के पीछे इस विषय में कुछ भी विकास नही हुआ, उलटा क्रमश ह्रास होता चला गया—जिसका प्रमाण सग्रह और हृदय है। इनमे बहुत-सी बाते छोड दी गयी।

---

१ प्लीहा और यकृत विशेषतः रक्त बनाने का कार्य करते है, इनके दूषित होने से शरीर में रक्तन्यूनता आती है; शायद इसी कारण इनको रक्तजन्य कहा हो। फेफड़ो का आकार बुलबुले की भाँति देखकर इनको रक्त के झाग से उत्पन्न माना है। उण्डूक, जिसे आज एपैन्डिक्स नाम दिया जाता है, इसमें मल रह जाता है, इसे मल से उत्पन्न कहा है, इसमें सूजन-पाक देखकर इसे रक्तजन्य भी माना है।

इन ग्रन्थो ने सुश्रुत में वर्णित शस्त्र, यन्त्र तो लिये, परन्तु शरीरज्ञान नही लिया। इस समय में जो शरीर वर्णन लिखा गया वह पुस्तको तक ही सीमित था।

शरीरक्रियाविज्ञान—आयुर्वेद में शरीरक्रिया-ज्ञान वैदिक प्रक्रिया के आधार पर है। इसमें अन्न मुख्य है, उसी से शरीर के सब धातुओ का निर्माण होता है। इसलिए अन्न के विषय में बहुत उच्च विचार मिलते हैं, अन्न को ब्रह्म कहा है, अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते है, अन्न से ही जीते हैं। इसी अन्न से प्राणी का उत्पत्तिक्रम भी बहुत सुन्दर बतलाया है—"इस ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियो से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। इसलिए पुरुष अन्नमय है।" पुरुष की उत्पत्ति अन्न से है, इसी से सब प्राणियो में ज्येष्ठ अन्न है, उसको सब औषध रूप कहा जाता है। (तैत्तिरीय २,१)

जिस प्रकार बाह्य जगत् में अन्न का परिपाक अग्नि से होता है, उसी प्रकार शरीर में भी अन्न का परिपाक वैश्वानर नामक अग्नि से होता है (गीता १५।१४)। शरीर की इस अग्नि के शान्त होने पर मनुष्य मर जाता है, अग्नि के स्वस्थ रहने पर मनुष्य बहुत समय तक निरोगी रहकर जीता है, विकृत होने पर मनुष्य भी रोगी हो जाता है। इसलिए आयुर्वेद में अग्नि को मूल माना जाता है (चरक चि १५।४, अग्निरग्रणीर्भवति)।

अग्नि से जब शरीरस्थ अन्न का परिपाक होता है, तब इसी से शरीर के धातु पुष्ट होते हैं। पाक होने पर आहार-रस और मलरूपी किट्ट दो भाग बनते है। इनमें आहार-रस से रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र धातु बढते है, किट्ट से स्वेद, मूत्र, मल, वात, पित्त, कफ, कान-आँख-नासिका-रोमकूप के मल बढते हैं। रस-रक्तादि शरीर को धारण करते हैं, इसलिए इनका नाम धातु है। मल-मूत्र-स्वेद आदि वस्तुएँ शरीर को मलिन करती हैं, इसलिए इनको मल कहते हैं। वात-पित्त-कफ ये रस, रक्त, मल, मूत्र आदि को दूषित करते हैं, इसलिए इनको दोष कहते हैं। इस प्रकार आयुर्वेद-शरीरक्रिया का मूल आधार दोष, धातु और मल ये तीन वस्तुएँ हैं (दोष-धातुमलमूल हि शरीरम्—सु सू अ १५।३)।

ओज—रस-रक्तादि धातुओं का जो सारभाग परम तेज है, वही ओज है। इस के दस गुण हैं, यथा—स्वादु, शीत, मृदु, स्निग्ध, बहल, श्लक्ष्ण, पिच्छिल, गुरु, मन्द, प्रसन्न। गाय के दूध में भी ये गुण है, इसलिए वह ओज को बढाता है। विष और मद्य के गुण इनसे विपरीत हैं, इसलिए ये वस्तुएँ ओज को कम कर मृत्यु का कारण होती हैं।

ओज धातुओ का सर्वश्रेष्ठ भाग है, इसके कम होने से मनुष्य मे मानसिक डर, साहस-हीनता होती है। ओज के नष्ट होने पर मनुष्य मर जाता है।[1] यह ओज चेहरे पर तेज, वल, क्रोध, सहनशीलता, भय आदि की भाँति दीखने पर भी प्रयोगशाला में अदृश्य रहता है।

भुक्त आहार का शरीर की अग्नि मे परिपाक होकर 'रस' वनता है। यह रस आगे अपनी उष्णिमा से परिपक्व होता हुआ यकृत-प्लीहा मे आकर रक्त वन जाता है। जिस प्रकार आकाश से वरसा हुआ निर्मल जल देश, पात्र-भेद से वदल जाता है, उसी प्रकार पित्त की उष्णिमा से रस मे रग आ जाता है। रक्त वायु, अग्नि और जल के सयोग से अग्नि द्वारा परिपक्व होने पर मास में वदल जाता है। इसी प्रकार अपने अपने धातु की अग्नि के परिपाक से प्रसादरस का जो सूक्ष्म भाग पकता है वह अगले धातु में परिवर्तित होता जाता है। अन्त में शुक्र धातु मे पहुँचने पर शुक्र के, अग्नि के परि-पाक से स्थूल और सूक्ष्म दो ही भाग वनते हैं। इसमे सूक्ष्म भाग ओज होता है, और स्थूल भाग शुक्र।

जिस प्रकार दूध का सारभाग घी होता है, उसी प्रकार शरीर में ओज (वल या तेज) अन्न का परम सूक्ष्म सारभाग है। इसके नष्ट होने से मनुष्य का भी नाश हो जाता है।

सुश्रुत में आहाररस के सूक्ष्म भाग को रस कहा है, यह रस हृदय में रहता है; हृदय से धमनियो के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में गति करता हुआ प्रति दिन इसको वढाता है, तृप्त करता है, धारण करता है।

शरीर में आहाररस रक्त के रूप में ही आपाद मस्तक तक भ्रमण करता है, इसलिए प्रत्यक्ष दृष्टि से रक्त ही शरीर का मूल है, यही सव धातुओं में जाकर उनको पोपित करता है। इसी से रक्त का जीव—प्राण नाम भी है (सु सू अ १४।४४)। इसी से कुछ आचार्यों ने शोथ के परिपाक में रक्त को भी कारण माना है (सु सू अ १७।८)।

इस प्रसग में हृदय शब्द से आयुर्वेद में छाती में स्थित स्थूल अवयव-पिंड का ही ग्रहण होता है। परन्तु चिन्तन, प्रेम, इच्छा आदि कार्यों के लिए भी हृदय शब्द का प्रयोग मिलता है। आत्मा का स्थान हृदय वताया गया है ('स वा एप आत्मा हृदि-'

---

१ प्रसन्नता का समाचार सुनने पर चेहरे पर जो खुशी की झलक आती है, यह ओज है; शोक की वात सुनकर चेहरे पर जो उदासी आती है, चेहरा पीला पडता है, वही ओज का नाश है। तेज, ओज, वल ये सव शब्द एक ही वस्तु को वताते है।

छादोग्य ८।३।३)। हृदय में तीन अक्षर हैं, जिससे (हृ) आहरण, (द) देना और (य) नियन्त्रण तीनों कार्यों का पता चलता है। छाती का हृदय भी शरीर से रक्त लेता है, शरीर को रक्त देता है, और नियमित रखता है। यह क्रिया मस्तिष्क में स्थित हृदय (वैट्रिकल) के लिए भी लागू होती है, वहाँ भी समाचार ज्ञान पहुँचता है, वहीं से क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं, और मस्तिष्क ही सारे शरीरको नियन्त्रित करता है। इसलिए हृदय शब्द से मस्तिष्कस्थित हृदय लेना या छाती का हृदय लेना—यह विवाद एक समय आयुर्वेदजगत् में खूब चला था। भेलसहिता मस्तिष्कवाले हृदय के पक्ष मे और सुश्रुत छातीवाले हृदय की समर्थक है। प्रसग के अनुसार इनका अर्थ करना ही उचित है। अथर्ववेद में मस्तिष्क और हृदय दोनों भिन्न कहे हैं। रक्त का परिभ्रमण सारे शरीर में भेजना छाती के हृदय का कार्य है, और विचार करना, सोचना, आज्ञा देना मस्तिष्क का कार्य है, स्थिर बुद्धिवाले अथर्वा को चाहिए कि इन दोनों को एक करे, दोनों को अपने वश में रखे।

इस प्रकार से आयुर्वेद-शारीरक्रिया में आहार के पाचन, रक्तसचरण का विचार आधुनिक दृष्टि से भिन्न रूप में मिलता है। मस्तिष्क की क्रियाओं का ज्ञान 'मन' के साथ सम्बन्धित होता है। मन पच ज्ञानेन्द्रियों के बिना भी विषय का ग्रहण कर लेता है, परन्तु इन्द्रियाँ मन के बिना विषय का ग्रहण नही कर सकती। आयुर्वेद में मन को अणु और एक माना है। यह मन सत्त्व, रज, तम भेद से तीन प्रकार का है। मन का आधार भी अन्न है। उपनिषद् में मन को अन्नमय कहा है (अन्नमय हि सौम्य मन —छान्दो ६।४।४)। इस मन का विचार भी आयुर्वेदिक शरीरक्रिया में मिलता है।

शरीर की आयु का परिमाण एक सौ वर्ष मानकर इसके गुणों के विषय मे सामान्य नियम यह बताया है—

बाल्य-वृद्धि-प्रभा-मेधा-त्वक्-शुक्राक्षि-श्रुतीन्द्रियम्।
दशकेषु क्रमाद्यान्ति मनः सर्वेन्द्रियाणि च॥ सग्रह ८।२५

मनुष्य की आयु के प्रथम दस वर्षों में बाल्यावस्था नष्ट होती है, अगले दस वर्षों में वृद्धि, फिर प्रभा-कमनीयता मिट जाती है, इसके आगे प्रत्येक दस वर्ष में मेधा, त्वचा की कान्ति, शुक्र, आँख की ज्योति, कानों से सुनना, मन से सोचना, विचारना, और अन्तिम दस वर्षों मे सब इन्द्रियाँ जवाब दे देती है।

इस प्रकार से अन्नप्रक्रिया को आधार मानकर शरीर की क्रिया का विचार आयुर्वेद ग्रन्थों में हुआ है। इसका आधार पच महाभूत हैं, जिनसे शरीर बनता है, रक्त के भी यही आधार हैं (विस्रता द्रवता राग स्पन्दन लघुता तथा। भूम्यादीना गुणा ह्येते

दृश्यन्ते चात्र शोणिते ।। सु सू अ १४।९) । अन्न पच महाभूतो से बना है, शरीर भी पच महाभूतो का है, इसलिए दोनो का विचार एक ही रूप में किया जाता है।

त्रिदोपवाद

आयुर्वेद के त्रिदोपवाद का आधार त्रिगुणात्मक प्रकृति है। सत्त्व, रज, तम यही तीन गुण शरीर मे इस जीव को बाँधे हुए हैं (गीता १४।५)। प्रकृति भी त्रिगुणात्मक है, शरीर भी त्रिगुणात्मक है (वाग्भट ने सत्त्व, रज, तम का दूसरे गुणो से भेद करने के लिए महागुण नाम रखा है—"सत्त्व रजस्तमश्चेति त्रय प्रोक्ता महागुणा—सग्रह सू १।४१)।

आयुर्वेद शास्त्र में इनको वात, पित्त, कफ नाम से कहा जाता है। जिस प्रकार प्रकृति अपने तीन गुणो को नही छोड सकती, उसी प्रकार शरीर भी वात-पित्त-कफ से अलग नही हो सकता। जिस प्रकार दिन भर उडनेवाला पक्षी अपनी छाया को नही लाँघ सकता, उसी प्रकार शरीर के अन्दर होनेवाली कोई भी क्रिया—विकृत या प्रकृत इनको अलग रखकर नहीं हो सकती। इसी से कहा है कि वात-पित्त-कफ ये तीनो शरीर की उत्पत्ति के कारण हैं (सु सू अ २१।१)। कुछ आचार्यों ने इनके साथ रक्त को भी जोड लिया (सु सू अ २१।३।४)। इसी से यूनानी चिकित्सा में तीन दोषो के साथ रक्त को भी गिना जाता है। इनसे शरीर के धातु दूषित होते हैं, इसलिए इनको दोष कहते हैं। इनके दूषित होने का कारण मिथ्या आहार-विहार है। इनके दूषित होने से शरीर में रोग होते हैं, इसलिए कोई भी रोग इनको अलग रखकर नहीं हो सकता।

शरीर मे दोषो की व्यापकता दूध के अन्दर व्याप्त घी की भाँति है, शरीर के प्रत्येक धातु में, प्रत्येक कण में ये तीनो दोष रहते है। शरीर के जिस भाग में जो दोष अधिक परिमाण मे रहता है, उसे सामान्य भाषा में उस दोष का स्थान कहते हैं। इस दृष्टि से नाभि से नीचे वायु का, नाभि से ऊपर गले तक मध्यभाग मे पित्त का और सिर में कफ का स्थान है। सामान्यत सत्त्व को पित्त, रज को वायु और तम को कफात्मक माना जाता है। शरीर के अन्दर और प्रकृति मे वात-पित्त-कफ के जो कार्य होते है, उनकी समानता आयुर्वेद मे दिखायी है, (चरक सू अ १२)। वहाँ यह स्पष्ट कहा है कि इनके जो भी कार्य होते हैं, वे सम्मिलित होते है (चरक सू अ १२।१३)।

इसलिए वात को 'विन्ड्', पित्त को 'बाईल' और कफ को 'प्लेगमा' मानना भूल है, ये तो स्थूल वस्तु हैं। जिस प्रकार सत्त्व, रज, तम को हम आँख से न देखकर क्रिया-चेष्टा से उनको पहचानते हैं, उसी प्रकार इन दोषो का परिज्ञान भी इनके कार्यों से ही

होता है (इसी से चरक सू अ १ २ में इनके कार्य वर्णित हैं)। वात-पित्त-कफ का शरीर मे वही रूप है, जो प्रकृति में सत्त्व, रज, तम का है। यहाँ सत्त्व, रज, तम की सत्ता शरीर के वदले मन मे मानी गयी है(चरक सू अ ८।५)और वात-पित्त-कफ का सम्वन्ध शरीर के साथ वताया है। मन के गुणो में कल्याण अश होने से सत्त्वगुण निर्दोप हैं, शेप दोनो रज और तम दोपवाले है। शरीर के दोपो में वात-पित्त-कफ तीनो दोप-वाले हैं (चरक वि अ ६।५)। इसलिए शरीर मे अधिक विकार होते है। मानसिक रोगी शारीरिक रोगियो की अपेक्षा कम मिलते है।

जिस प्रकार साख्यदर्शन का आधार त्रिगुणात्मक प्रकृति है, उसी प्रकार आयुर्वेद का आधार त्रिदोपवाद है यह त्रिदोप-सिद्धान्त साख्य और गीता के त्रिगुणात्मक सिद्धान्त की भाँति सर्वत्र व्याप्त है। जिस प्रकार अन्न, मन, वुद्धि, सुख, दुख, ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, धृति ये सव सत्त्व-रज-तममय हैं, उसी प्रकार से सव औपध, अन्न पान, स्वर्ण आदि धातु आयुर्वेद में वात-पित्त-कफात्मक हैं। ये तीन एक प्रकार के वर्ग हैं, जो कि इस वहुत वडे ससार को सक्षिप्त करने के लिए ऋपियो ने वनाये थे (चरक. वि अ ६।५)। वस्तुओं को उनके कार्यों के अनुसार इन विभागो मे रख दिया गया है। इसलिए ये तत्त्व कोई दृश्यमान वस्तु नही। जिस प्रकार किसी कारण से मनुष्य के मन में क्रोध आता है और किसी को देखने से मन में राग-प्रीति उत्पन्न होती हैं, जिसकी झलक चेहरे पर देखकर उसके मन की स्थिति समझ लेते है। उसी प्रकार शरीर में खाये हुए आहार या चेप्टा आदि विहार से जो कार्य होता है, जिसकी झलक शरीर में दीखती है, उस झलक से हम दोप की स्थिति का अनुमान कर लेते हैं, और कहते है कि अमुक अन्न या अमुक चेप्टा अमुक दोष को वढाती हैं, उत्पन्न करती है या कम करती है। ठण्ड से शरीर में कम्पन होता है, कम्पन गुण वायु का है, इसलिए शरीर में कम्पन देखकर हम कहते है कि वायु का कम्पन है। यह आयुर्वेद का त्रिदोप-वाद है, प्रकृति में देखे हुए वायु-पित्त-कफ के कार्यों से शरीर में होनेवाले कार्यों की तुलना करने पर हम इनको शीघ्र और सरलता से पहचान सकते है। इनमें से किसी एक का वढना अथवा घटना ही रोग है, यह इनकी विपमावस्था है।

तीनो दोपो का एक सीधी रेखा में, समान रूप में रहना कठिन है (चरक वि अ. ६।१३)। सत्त्व, रज, तम इनको भी एक सीधी रेखा में, एक मात्रा में रखना सरल नही। यह अवस्था योगी या ज्ञानी के लिए ही सम्भव है (गीता २।५६)। इसलिए शरीर के दोप प्रकृति में जिस रूप में गर्भ से प्राक्तन कर्मो के कारण मिलते है, उनके वढने या घटने की अवस्था सामान्यत: रोग शब्द से कही जाती है। जिस प्रकार कि विप के

कृमि को उसका विष हानि नहीं करता, उसी प्रकार जन्म की प्रकृति भी मनुष्य को बहुत कष्ट नहीं देती। जिस प्रकार कुछ मनुष्यों की प्रकृति जन्म से चिड़चिड़ी, चिन्ताशील, क्रोधी होती है, उसी प्रकार से कुछ मनुष्यों की प्रकृति वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक होती है। इस प्रकार से आयुर्वेद का त्रिदोषवाद सांख्य के त्रिगुणात्मक सिद्धान्त से पूर्ण रूप से समानता रखता है, एक को समझने पर दूसरा स्वयं स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि यह पुरुष लोक के तुल्य है ('पुरुषोऽयं लोकसमित'—चरक शा अ ५।३)।

स्वस्थवृत्त और सद्वृत्त

आयुर्वेद शास्त्र के दो उद्देश्य है—जो व्यक्ति रोग से पीड़ित हैं उनको रोग से मुक्त करना और जो स्वस्थ है उनके स्वास्थ्य की रक्षा करना (प्रयोजन चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमन च—चरक सू अ ३०।२६)। रोगों से मुक्त करने के लिए आचार्यों ने चिकित्सा का उपदेश किया और स्वास्थ्यरक्षा के लिए शरीर और मन के लिए हितकारी उपादेय कार्यों को बतलाया है। इनमे दैनिक कार्यों के साथ-साथ ऋतु सम्बन्धी रहन सहन, उसमें करणीय कर्मों एवं ऋतुचर्या की भी शिक्षा दी है। ऋतुचर्या पालन करने से ऋतुकालीन रोगों के विकारों से बचा जा सकता है।

दैनिक कार्यों मे आँखों मे अजन, दातुन, स्नान, अभ्यग, धूमपान, तैल, नस्य, जूता-छाता धारण, निर्मल वस्त्र धारण, व्यायाम आदि कार्यों का महत्त्व, इनके करने का लाभ बताया गया है। जिस प्रकार नगर का प्रशासक अपने नगर की देख-रेख, सफाई आदि का ध्यान रखता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि अपने दैनिक कार्यों मे नित्य करणीय कर्मों का ध्यान रखे, इनमे चौकस रहे, इनकी उपेक्षा न करे।

सद्वृत्त का अर्थ सज्जनों का व्यवहार है, यह एक प्रकार की शिष्टता, तहजीब, लोकाचार, वर्ताव है, जिसको जानना एक नागरिक के लिए आवश्यक है। सद्वृत्त का पालन करनेवाला जीवन में और मरने के पीछे भी लोगों से यश प्राप्त करता है, वह निरोग रहकर पूरी आयु भोगता है, सब मनुष्यों से सौहार्द प्राप्त करता है।

सद्वृत्त के अदर वैयक्तिक, सामाजिक, पारिवारिक सब प्रकार की शिक्षा सक्षेप में अत्रिपुत्र ने दी है, किस प्रकार से बड़ों के साथ व्यवहार करना चाहिए, सभा-समाज मे कैसे बैठना, बोलना चाहिए, भोजन करने के क्या नियम है, स्त्री तथा परिवार के दूसरे लोगों के साथ कैसा सम्बन्ध रखना चाहिए, स्त्रियों का व्यवहार, नौकरो से बरतना, मन के स्वास्थ्य की सूचनाएँ, मानसिक प्रवृत्तियो के प्रति करणीय कार्य आदि बातों का उल्लेख इसमें है। एक प्रकार से आयुर्वेद शास्त्र की यह अपनी विशेषता है।

इस प्रकार की सूचना दूसरे चिकित्सा शास्त्रों में नहीं दी गयी। इस शास्त्र में शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा चारों के सयोग को आयु कहा है, इसलिए इन चारों को स्वस्थ रखने के सम्बन्ध में निर्देश किया गया है, यही विशेषता इस शास्त्र की है। चरक का सद्वृत्त-उपदेश अपने विषय मे अनूठा है।[1]

इनके साथ आहार सम्बन्धी सूचनाएँ भी हैं, आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य ये तीनों शरीर का धारण करनेवाले हैं (वाग्भट ने सग्रह में ब्रह्मचर्य का अभिप्राय गृहस्थ व्यक्ति के लिए नियमित समागम बतलाया है—सग्रह अ ९।।७२)। इसलिए इनके सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी दी गयी है।

रोग के कारण तीन हैं, असात्म्य रूप से इन्द्रिय और विषयों का सयोग, प्रज्ञापराध (बुद्धिदोष) और परिणाम (काल-ऋतु)। इन तीन कारणों से ही सब रोग होते हैं। इसलिए स्वस्थवृत्त और सद्वृत्त ज्ञान में इन तीनों कारणों से बचने की शिक्षा दी गयी है। इसका परिणाम यह होता है—

> नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्त ।
> दाता सम सत्यपर क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ।।
> मतिर्वच कर्म सुखानुबन्ध सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धि. ।
> ज्ञान तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुतपन्ति रोगा ।।
>
> चरक शा अ २।४६-४७

जो मनुष्य हितकारी आहार-विहार का सेवन करता है, सोच-विचार कर कर्म करता है, विषयों मे नही फँसता, दान देता है, सबमें समबुद्धि रखता है, सत्यवादी, क्षमाशील, विद्वानों की उपासना करता है, वह निरोग रहता है। जो व्यक्ति बुद्धि, वाणी, कर्म से सुखदायक कार्यों को करता है, जिसका मन वश में है और बुद्धि निर्मल है, ज्ञान, तप तथा योग में जो लगा है, वह सदा स्वस्थ रहता है।

यह सत्य है कि आज की भाँति प्राचीन काल में बडे-बडे शहर तथा घनी आबादी नहीं थी, इसलिए आज की भाँति सामाजिक स्वस्थवृत्त का उल्लेख नही है। परन्तु वैयक्तिक स्वस्थवृत्त शरीर और मन दोनों की दृष्टि से विस्तार से समझाया गया है, इसमें इस जीवन की भावना के साथ-साथ परलोक की भावना तथा उसके सम्बन्ध की भी सूचनाएँ दी हैं (इसी से परलोकैषणा की व्याख्या की गयी है—चरक सू अ ११)।

---

१ इस सम्बन्ध में सूचनाएँ—सुश्रुत चि अ २४, चरक सू अ ५, ६, ७, ८ अध्याय (स्वास्थ्यचतुष्क); सग्रह सू अ. ३, ४ और ९ में देखनी चाहिए।

निदान और चिकित्सा

आयुर्वेद का दूसरा प्रयोजन रोग से पीड़ित व्यक्ति को रोग से मुक्त करना है। यह प्रयोजन हेतु, लिंग और औषध रूप तीन स्तम्भों पर स्थित है, इसमे हेतु या रोग का कारण तीन प्रकार का है—१ इन्द्रियों का (पाँच ज्ञानेन्द्रियों का) विषय (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) के साथ अनुचित रूप मे (मिथ्या, हीन और अधिक रूप मे) सयुक्त होना, २ प्रज्ञा (धी, धृति, स्मृति) के विभ्रम (भ्रश) मे ठीक प्रकार का कार्य न करना, ३ परिणाम (काल-ऋतु आदि), कभी-कभी दैव भी कारण होता है—दैव शब्द मे पूर्वजन्म-कृत कर्म लिया जाता है—"तत्कालयुक्त यदि नास्ति दैवम्" चरक शा अ. २।४३। इन तीन कारणो से सब शारीरिक और मानसिक रोग होते है।

लिंग का अर्थ लक्षण है—रोगो की सख्या बहुत है, इसलिए इनके लक्षण भी बहुत होते हैं, एक एक रोग के लक्षण स्वत बहुत अधिक हैं। इसलिए रोगो के लक्षणो को दोष के लक्षणो से पहचानना चाहिए। दोष तीन है, इसलिए सब रोगो के लक्षण इन तीन वर्गो के अन्दर आ जाते है। इनके लक्षणो मे रोगो के लक्षणो को जानकर उन्हे पहचान सकते हैं। जो रोग मुख्यत पूर्व समय में प्रचलित थे, उनका नाम और चिकित्सा ग्रन्थों में दे दी गयी है। परन्तु सब रोगो का नाम नही दिया जा सकता (न हि सर्वविकाराणा नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थिति—चरक सू अ १८।४४)। रोग अनित्य है, वात-पित्त-कफ दोष नित्य है, इनमे विकार आने का नाम ही रोग है। इसलिए बुद्धिमान् को चाहिए कि इनको पहचाने (चरक सू अ १८।४८)। वात, पित्त, कफ की विकृति का नाम ही रोग हैं, इसलिए इनके लक्षणो से रोग को पहचानना चाहिए।

औषध का अभिप्राय चिकित्सा से है, जिस किसी भी क्रिया से शरीर के धातु अपनी साम्यावस्था मे आते हैं, वह चिकित्सा है।

चिकित्सा भी रोग के कारणो के अनुसार तीन प्रकार की है—१ दैवव्यपाश्रय—इसके मत्र, ओषधि, मणि, मगल, बलि, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्तिवाचन, प्रणिपात आदि रूप है। २ युक्तिव्यपाश्रय—युक्ति से आहार और औषध द्रव्य की योजना करना। ३ सत्त्वावजय—अहित विषयो से मन को रोकना। इन तीन रूपो से निम्नोक्त तीन प्रकार के रोगो की चिकित्सा की जाती है—१ शरीर में उत्पन्न—निज। २. बाहर से आये—चोट आदि लगना, आगन्तुज। ३ मन के रोग। इन तीन तरह के रोगो की चिकित्सा भी तीन प्रकार की है। मानसिक रोगो के लिए धर्म, अर्थ, काम का बार बार विचार करना, इनको जाननेवालो के पास जाना तथा आत्मा-इन्द्रिय आदि को समझना चाहिए, यही इनकी चिकित्सा है (चरक सू अ ११)।

रोगों का परिगणन सामान्य रूप से उनके नाम बतलाते हुए किया गया है। वात, पित्त, कफ की दृष्टि से भी रोगों की जो संख्या दी है, यह केवल दिग्दर्शन है, क्योंकि उनमें स्पष्ट कर दिया गया है कि जहाँ पर वायु के लक्षण दिखाई दें, उसको वायु-विकार, जहाँ पर पित्त के लक्षण दिखाई दें, उसे पित्तविकार और जहाँ पर कफ के लक्षण मिलें उसे कफविकार समझना चाहिए (चरक सू अ १२, १५, १८)।

इसलिए आयुर्वेद के निदान और चिकित्सा का आधार वात, पित्त, कफ है। शरीर के निज, आगन्तुज और मानसिक रोगों के कारण यही है, इनके बिना कोई रोग नहीं होता। इन्ही के अपने अपने लक्षणों से रोग पहचाना जाता है, और इन्ही के प्रकृति में आने से रोग शान्त होता है। (इसी से महात्मा बुद्ध किसी से मिलने पर कुशल-मंगल पूछने में "धातु-साम्य" शब्द का प्रयोग करते—"तावुभौ न्यायत पृष्ट्वा धातु साम्य परस्परम्"—बु च १२।३)। वात, पित्त, कफ को उनकी प्रकृति में लाना ही चिकित्सा है। यह भी ज्ञान, विषय और काल के समयोग पर निर्भर है।[1]

दोषों से रोग किस प्रकार होते है, इसका क्रम भी वर्णित है। रोग सहसा उत्पन्न नहीं होता, वह धीरे-धीरे बढकर अपने पूर्वरूप या रूप के अन्दर सामने आता है। जिस प्रकार बीज से अकुर फूटने तक कई परिवर्तन होते है, उसी प्रकार किसी कारण से रोग उत्पन्न होने तक कई अवस्थाएँ आती है। इनका वर्णन विस्तार से सुश्रुत मे है, यथा—

सचय—वात आदि दोष किन्ही कारणो से विकृत होकर किसी स्थान में या सम्पूर्ण शरीर में धीरे-धीरे एकत्र हो जाते है, यह इनकी प्रथम अवस्था है।

प्रकोप—सचित दोषों में दोष-प्रकोपक कारणो से (ऋतु-काल से भी) प्रकोप उत्पन्न होता है। स्थूल रूप में समझने के लिए जैसे आटे मे खमीर उठकर फैलना प्रारम्भ होता है, वह अपनी सीमा को नही लाँघता, अन्दर ही अन्दर बढता है। यह दूसरी अवस्था है।

प्रसार—फैलना—जब प्रकोप बहुत हो जाता है, तब वह पार्श्व में बहने लगता है। जिस प्रकार कि विदाह होने पर आसव-अरिष्ट पात्र के बाहर बहने लगते है। उबलता दूध पहले कडाही में ही उबलता रहता है, परन्तु उबाल अधिक आने पर पात्र से बहता

---

१. प्रज्ञापराधो विषमास्तथार्था हेतुस्तृतीय. परिणामकाल।
सर्वामयाना त्रिविधा च शान्तिर्ज्ञानार्थकाला समयोगयुक्ता.॥
चरक. शा. अ. २।४०

है, उसी प्रकार से इस दशा मे दोप अपने स्थान से बाहर शरीर मे फैलना प्रारम्भ करता है।

स्थानसंश्रय—फैला हुआ दोप शरीर के किसी स्थान मे जाकर रुक जाता है। जिस प्रकार कि पृथ्वी पर गिरा हुआ दूध वहता हुआ, कही गड्ढे आदि मे जाकर या कोई रुकावट आने से आगे न वढकर वही रुक जाता है, उसी प्रकार से फैलता हुआ दोप किसी उचित स्थान को या रुकावट को पाकर वही पर ठहर जाता है।

व्यक्तता—दोप जब किसी स्थान पर रुक जाता है, तब अपने लक्षण को स्पष्ट करता है। गिरा हुआ दूध जहाँ पर रुकता है, वहाँ अपना रग या गन्ध छोड देता है, जिससे पता लग जाता है कि यहाँ दूध गिरा है। उसी प्रकार रुका हुआ दोप भी अपने चिह्न स्पष्ट करता है। यह एक प्रकार से पूर्वरूप अवस्था है।

भेद-स्पष्ट रूप—लक्षणो के स्पष्ट होने से रोग का भेद, उसका स्पष्ट रूप सामने आ जाता है। जिस प्रकार चेचक के दाने निकलने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह रोग चेचक है, या आधुनिक दृष्टि से रोगोत्पादक कृमि के मिलने से रोग का ठीक ज्ञान हो जाता है। इसी को आयुर्वेद में 'रूप' कहा जाता है।

जो वैद्य दोपो के सचय, प्रकोप, प्रश्रय, स्थानसश्रय, व्यक्ति और भेद को ठीक प्रकार से पहचानता है, वह चिकित्सक है (सु सू अ २१।३६)। क्योंकि रोग की प्रथम अवस्था में यदि प्रतिकार कर लिया जाय तो वह सरलता से नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार कि छोटा वृक्ष थोडे से परिश्रम से उखाडा जा सकता है। वाद मे रोग वढने पर वह कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है। इसलिए चिकित्सक को चाहिए कि आरम्भ में ही प्रतिकार करे।[1]

---

१ यह तो मानना पडेगा कि आधुनिक चिकित्सा में रोग के कारण जन्तुओ के पहचानने में सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की वडी उपयोगिता है, इससे रोग का निर्णय सही और जल्दी होता है। चरक में रोगोत्पादक सूक्ष्म कृमियो का उल्लेख नहीं है। सुश्रुत में शल्य चिकित्सा के सम्बन्ध में व्रण के रूप में निशाचर, राक्षस आदि जो शब्द आये हैं, वे मेरी दृष्टि में इस प्रकार के जन्तुओ के लिए ही हैं। अन्त रोगोत्पादक (क्षयरोग जैसे रोगो के) कृमियो का उल्लेख सुश्रुत या अन्य आयुर्वेद ग्रन्थो में नही है, यह मानने में कुछ भी सकोच नहीं दीखता। आयुर्वेदिक चिकित्सा में मनुष्य की रोगप्रतिशोध शक्ति (इम्युनिटी—प्राकृतिक शक्ति) को उन्नत किया गया है, क्योकि रोगोत्पादक कृमियो की संख्या अनन्त है। इसलिए शरीर को ही ऐसा स्वस्थ रखा जाता था कि इस पर कोई भी आक्रमण सफल न हो सके (जितेन्द्रियं नानुतपन्ति रोगास्तत्कालयुक्त

यदि नास्ति दैवम्—चरक शा अ २।४३)। इसलिए इसमें कृमियों का विचार न करके शरीर-मन की स्वस्थता पर बल दिया गया है।

१. इस परीक्षा में चौदहवीं शती में आकर नाडी, मल, मूत्र की परीक्षा भी जोड़ दी गयी। यह परीक्षा संभवतः मुसलमानों एवं यवनों के सम्पर्क से आयुर्वेद में आयी है। शार्ङ्गधरपद्धति में सबसे प्रथम इन सबका उल्लेख हुआ है। इससे रोगपरीक्षा में सौकर्य होता है। यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद में बाहर के ज्ञान का उपयोग भी किया जाता था।

शिकायत पैदा न करें। जो प्रयोग या उपाय एक व्याधि को दूर करके दूसरी खडी करता है, वह इस अर्थ में सच्ची चिकित्सा नही (चरक नि अ ८।२३)।

रोगो की सामान्य चिकित्सा औषध एव आहार-विहार से होती थी। परन्तु हठीले रोगो की चिकित्सा के लिए 'पचकर्म चिकित्सा' का उपदेश मिलता है। इन चिकित्सा को करने से पूर्व रोगी के स्नेहन और स्वेदन कर्म किये जाते थे, इन कर्मो से दोष को शरीर में ढीला, द्रवित बनाते थे। दोषो के द्रव हो जाने पर वे वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और शिरोविरेचन इन पच कर्मो द्वारा शरीर में से भली प्रकार बाहर निकल जाते हैं।

आयुर्वेद मे पचकर्म चिकित्सा अपना विशेष महत्त्व रखती है। यह रोगी की शारीरिक स्थिति एव उसकी परिस्थितियो पर निर्भर है। सम्भवत सबके लिए इसका उपयोग नही होता था (यथा—इह खलु राजानमन्य वा विपुलद्रव्य वमन विरेचन वा पाययितुकामेन भिषजा—चरक सू अ १५।४—वचन से स्पष्ट है)। निर्धन व्यक्ति को अत्रिपुत्र के कथनानुसार बडी बीमारी होती नही, और यदि उसे हो जाय तो उस समय जो भी साधन उपलब्ध हो उसी से काम चलाना चाहिए, क्योकि सब मनुष्यो के पास सब साधन नही होते।[1] फलत पचकर्म चिकित्सा सामान्य जनता के लिए नही थी, उनके लिए सामान्य सशोधन, सशमन चिकित्सा ही साध्य थी। सशोधन और सशमन भेद से चिकित्सा दो प्रकार की है। कुछ अवस्थाओ में सशोधन चिकित्सा और कुछ मे सशमन चिकित्सा होती है। इसका ही लघन और बृहण नाम सूत्रस्थान मे आया है। इसमें रूक्षण, स्नेहन, स्तम्भन, स्वेदन, लघन और बृहण रूप से छ प्रकार की चिकित्सा कही है (चरक सू अ अ २२।४२-४३)।

आयुर्वेद के आठ अंग

आयुर्वेद शास्त्र भिन्न-भिन्न आठ अगो में विभक्त है, यथा (१) शल्य, (२) शालाक्य, (३) काय, (४) भूतविद्या, (५) कौमारभृत्य, (६) अगदतत्र, (७) रसायन और (८) वाजीकरण। परन्तु आयुर्वेद के किस अग का विभाग कैसे हुआ यह ज्ञात नही। सुश्रुत सहिता से इतना स्पष्ट होता है कि सुश्रुत आदि शिष्यो ने शल्य अग को ही सीखने की इच्छा प्रकट की थी, इसलिए काशीपति दिवोदास ने मुख्य रूप में इसी अग का उपदेश किया, जो कि इसका मुख्य भाग है। इस उपदेश मे नेत्र आदि के शालाक्य

---

१. न हि सर्वमनुष्याणां सन्ति सर्वे परिच्छदा.।
न च रोगा न बाधन्ते दरिद्रानपि दारुणाः ॥—चरक सू. अ. १५।२०

विपय, ज्वर-अतिसार आदि कायचिकित्सा, उन्माद, अपस्मार, अमानुपोपसर्ग आदि भूतविद्या, योनि रोग, वाल रोग, कौमारभृत्य आदि का जो विपय आया उसे उत्तर-तत्र में परिशिप्ट रूप से कह दिया है। यह भाग भी दिवोदास ने सुश्रुत को ही लक्ष्य करके कहा है (उत्तर अ ६६।३), इसलिए यह भी सुश्रुत का ही मौलिक भाग है।

चरकसहिता में गल्य विपय का वर्णन जहाँ आता है, वहाँ उसका उपयोग शल्य शास्त्र के जाननेवालो के लिए ही है ऐसा स्पष्ट कर दिया है (च ५।६३, चि १३। १८४, चि ६।५८)। शालाक्य विपय के लिए स्पष्ट रूप में 'पराधिकार' कहकर इनको केवल ग्रन्थ की पूर्णता के लिए रखा है (चि अ २६)। इसमें मुख्यत काय-चिकित्सा का वर्णन है। व्रणचिकित्सा, कौमारभृत्य विपय आनुपङ्गिक रूप में आये हैं, परन्तु जो भी उल्लेख है, वह वहुत ही प्राजल और विशद है।

अगद तत्र, रसायन और वाजीकरण अगो का उपदेश दोनो सहिताओ में किया गया है। सुश्रुत में अगद तत्र का विपय अधिक विस्तार से है, चरक में यह विपय एक ही अध्याय में समाप्त कर दिया है। इस प्रकार से चिकित्सा के दो मुख्य अगो का सम्बन्ध दो सहिताओ से है, परन्तु दोनो में शेप विपय भी सक्षेप रूप में आ गये हैं।

वाग्भट ने इन दोनो सहिताओ को मिलाकर अप्टाग आयुर्वेद का ग्रन्थ वनाया। इसमें सुश्रुत से शल्य तथा चरक से काय-चिकित्सा का विपय लिया गया है। रसायन और वाजीकरण चिकित्सा के वहुत से नये विचार, नयी औपधियाँ इसमे सम्मिलित की गयी हैं। इसी प्रकार से कौमारभृत्य, भूतविद्या, विपतत्र का पृथक् रूप में वर्णन किया है, जिसमे यह वास्तव में अप्टाग आयुर्वेद का ग्रन्थ वन गया है। इसी से ग्रन्थकर्ता ने कहा है—

अप्टागवैद्यकमहोदधिमन्थनेन योऽष्टांगसंग्रहमहामृतराशिराप्त.।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमाना प्रीत्यर्थमेतदुदित पृथगेव तन्त्रम्॥

हृदय, उ. अ ४०।८०

शल्यतत्र—इसमें शस्त्र-वर्णन और शस्त्र-कर्म ये दो वस्तु मुख्य है। सुश्रुत में यत्र और शस्त्रो की सामान्य गणना वतलायी है, परन्तु अन्त में कहा है कि शस्त्रकर्मो की सख्या अनगिनत होने से इनका निश्चय करना सम्भव नही, इसलिए अपनी आवश्य-कता के अनुसार शिल्पियो से इनको वनवा लेना चाहिए (सू अ ७।१८)।

सुश्रुत ने यत्रो की सख्या १०१ वतायी है। इनमें हाथ को प्रधान यत्र माना गया है, क्योंकि इसकी सहायता से ही सव काम होते हैं। शेप सौ यत्रो का विभाग छ रूपो में किया है। इनमें स्वस्तिक यत्र २४, सदश यत्र २, तालयत्र २, नाडीयत्र २०,

शलाका यत्र २८, उपयत्र २५—इस प्रकार से एक सौ एक यत्र सामान्य रूप मे उस समय काम मे आते थे। यत्रो के जो दोप होते थे, उनका भी उल्लेख इस स्थान पर है, यथा—यत्र का मोटा होना, कच्चे लोहे का वना होना, वहुत लम्बा या वहुत छोटा होना, ठीक प्रकार से न पकडना, यत्र का ढीला, ऊपर उठा होना, कील ढीली होना आदि दोप है, इनसे रहित यत्र उत्तम है। यत्र का अर्थ सामान्यत चिमटी सँडसी जैसे कुन्द औजार (Blunt instruments) है।

शस्त्र का अर्थ काटने, चीरने के तीक्ष्ण उपकरण (Cutting instruments) है। शस्त्रो की सख्या सामान्यत वीस है। इनके नाम भी वतलाये है, जिनमें चाकू, सूई, कैंची, आरी आदि शस्त्र हैं। शस्त्रों की पायना (सिकली) का भी विचार किया है, धार का तेज होना आवश्यक है, उसे वनाये रखने के लिए शाल्मली-फलक के कोप होते थे। धार को तेज करने के लिए चिकनी, कोमल शिला का उपयोग किया जाता था। शस्त्र पकडने में सरल, अच्छे लोहे के, अच्छी धारवाले, देखने में सुन्दर, ठीक मुख के और विना दाँतोवाले होते थे। शस्त्र जव इतना तेज हो कि रोम को काट सके, तव उसका उपयोग करना चाहिए।

शस्त्रो के साथ अग्निदाह, जलौका प्रयोग, शृग के उपयोग तथा क्षार प्रयोग की भी विस्तृत जानकारी लिखी है। अग्निकर्म कहाँ और कैसे करना चाहिए, जलौका की सविप-निर्विप परीक्षा, इनको लगाने तथा रखने की विधि, क्षार वनाना, क्षार के प्रतिसारणीय और पानीय भेद, इनके मृदु, मध्य और तीक्ष्ण भेद आदि की सव आवश्यक जानकारी वतलायी गयी है।

शस्त्रकर्म आठ वताये है; छेदन, भेदन, लेखन, वेधन, ऐपण, आहरण, स्रावण और सीवन। इन कर्मो के करने से पूर्व, कर्म करते समय और पीछे जो-जो सावधानियाँ रखी जाती हैं, उन सवका उल्लेख सूत्रस्थान में किया गया है।

यत्र, शस्त्र-प्रयोग के अतिरिक्त व्रण सम्वन्वी जानकारी पूरी दी गयी है, व्रण के आकार, स्राव, वेदनाएँ, रोहण होने के लक्षण, शुद्ध व्रण की पहचान, और व्रण रोहण की परीक्षा भी दी है। व्रण की चिकित्सा ६० प्रकार की है, इसके प्रत्येक उपक्रम का वर्णन है (सू चि अ १)। चरक मे व्रण की चिकित्सा ३६ प्रकार की है (चरक. चि २५)। व्रण किस लिए नही भरते, किनके जल्दी रोहण नही होते, इत्यादि जानकारी भी दी गयी है। चरक में इस सम्वन्ध में २४ कारण गिनाये है (चि अ २५।-३१-३४)।

शस्त्रकर्म करने से पूर्व रोगी को अच्छे प्रकार से नियन्त्रित किया जाता था।

शस्त्रकर्म करने से पूर्व लघु भोजन दिया जाता था, मद्य पीनेवाले को मद्य पिला दी जाती थी (सु सू अ १७।११-१२)। अन्न देने से रोगी को शस्त्रकर्म के साथ मूर्च्छा नही होती और मद्य पिलाने से शस्त्र की वेदना नही होती। इसलिए जिस कर्म में जैसी आवश्यकता हो, उसी के अनुसार रोगी को अन्न या मद्य देना चाहिए। सुश्रुत के समय रोगी को मूर्च्छित करने का साधन मद्य ही प्रतीत होता है। शस्त्रजन्य वेदना को शान्त करने के लिए मुलहठी के चूर्ण को घी में मिलाकर थोडा गरम करके खिला दिया जाता था (सू अ ५।४१)।

सुश्रुत में छोटे शल्यकर्मों के सिवाय अर्श, भगन्दर, अश्मरी, मूढगर्भ आदि के बडे शल्यकर्म भी दिये है। इनको करने से पूर्व रोगी, उसके वान्धव तथा राजा की आज्ञा आवश्यक होती थी। आज्ञा प्राप्त करने के लिए रोग की वास्तविक जानकारी दे दी जाती थी (चि अ ७।२८-२९)। उदररोग में रोगी को सर्पविप देने से पूर्व इस प्रकार की सावधानी वरतने का चरक में उल्लेख है (चि अ १३)। यह स्पष्ट कहा गया है कि शस्त्रकर्म रोग का अन्तिम उपाय है। अर्शरोग चिकित्सा में शल्यकर्म की हानियाँ वतायी हैं (चि अ १४)।

इस प्रकार से सुश्रुत ने भी स्थान-स्थान पर उस समय के योग्य उपाय वताये हैं। यथा—अस्थि-छिद्र में प्रविष्ट या अस्थि में जोर से फँसे हुए शल्य को निकालने के लिए रोगी के पाँव थामकर यत्र द्वारा निकालना चाहिए। यदि इस प्रकार शल्य वाहर न निकले तो रोगी को वलवान् पुरुपो द्वारा पकडवाकर यत्र द्वारा शल्य को पकडे और इसको मौर्वी या ताँत से एक पार्श्व में पकडकर पचाङ्गी वन्धन से वाँधे हुए घोडे की लगाम में वाँध दे। अव घोडे को चावुक मारे, चावुक मारने से घोडा मुख को ऊँचा उठायेगा, जिसके साथ मे शल्य झटके से वाहर आ जायगा। यह उपाय ऊपर से देखने में भले ही सभ्य न हो परन्तु है स्वाभाविक। इसके लिए दूसरा भी उपाय है, वृक्ष की शाखा को झुकाकर उसमें शल्य को वाँधकर शाखा को छोड दे। इसके झटके से भी शल्य वाहर आ जाता है।

इसके अतिरिक्त लोहे के शल्य को निकालने के लिए अयस्कान्त (चुम्वक) का भी उल्लेख है। उस समय जिन साधनो का उपयोग होता था, पट्टी वाँधने के प्रकार, उनके विपय में सावधानी, व्रण चिकित्सा, शस्त्रकर्म की आवश्यक वातें सवका उल्लेख इस अग में आया है।

शालाक्यतत्र—इस चिकित्सा मे प्राय शलाका का उपयोग होता है, शायद इसी से यह शालाक्य कहलाता है। इसके अन्दर ग्रीवा से ऊपर के रोगो का, आँख,

कान नाक, सिर के रोगो का विचार है। मुख रोग को सुश्रुत ने अलग रखा है, परन्तु संग्रह में आंख. कान, नाक, सिर के रोगो के साथ वर्णन किया है जो ठीक भी है। इनमे आँख के रोग सबसे अधिक है। आँख के रोगो की सख्या सुश्रुत के अनुसार ७६ है, इनम वातजन्य १०, पित्तजन्य १०, कफजन्य १३, रक्तजन्य १६, सर्वजन्य २५. बाह्यज दो इस प्रकार से ७६ रोग हैं। चरक के अनुसार ९६ नेत्ररोग है। कान के रोग २८, नासिकारोग ३१, शिरोरोग ११ और मुखरोग ६५ हैं। इनका इन तत्र मे उल्लेख है।

इन रोगो के लिए सामान्य चिकित्सा के अतिरिक्त शस्त्रकर्म भी वर्णित है। आँख की चिकित्सा मे विशेष ध्यान देने योग्य वस्तु यकृत का उपयोग है इसमें यकृत खाने के लिए कहा है (सु उ अ १७।२४)। गोह के यकृत को चीरकर उसमें पिप्पली भरकर अग्नि मे पकाना चाहिए। पकने पर यकृत को खाना चाहिए और पिप्पली से अञ्जन करना चाहिए। यही क्रिया प्लीहा से तथा बकरी के यकृत से भी कर सकते है। यकृत और प्लीहा प्रचुर विटामिन वाले हैं; परन्तु प्राचीन आचार्यों ने किस रूप से विचार करके इनका प्रयोग किया यह नही कह सकते।

आँख के रोगो मे औषध विशेषत त्रिफला का उपयोग सायंकाल करने का उल्लेख है। इस समय सूर्य का प्रकाश मन्द होता है, इसलिए इसका उपयोग करने को कहा है। आँखो मे तीक्ष्ण अजन सातवें-आठवें दिन लगाने का विधान है, सामान्य अजन तो प्रति दिन करना चाहिए। अजन के लिए भिन्न-भिन्न धातु की शलाका, अंजनदानी का उल्लेख आयुर्वेद ग्रन्थो मे किया है।

आँख के उपचारो मे आश्च्योतन, अजन, तर्पण, पुटपाक, आँखो के बाहर लेप (बिडालक) बरता जाता था। इसमे उपवास का भी महत्त्व है। इन कार्यों के अतिरिक्त कुछ अक्षिरोगो में लेखन, छेदन आदि शस्त्रकर्म भी किये जाते थे। इनमें से अर्म (टैरिजियम) रोग मे वर्णित शस्त्रकर्म (सु उ अ १५।४-१०) आज के शस्त्र-कर्म के समान है। लिंगनाश (मोतिया) की चिकित्सा (कोचिंग) भी सुन्दरता से कही है (सु उ अ १७।५७-६१)।

शिरोरोग मे मस्तक के रोगो की चिकित्सा के लिए नस्य, प्रधमन, शिरोवस्ति का विशेष विधान है। नासारोग के लिए नस्य, धूम्रपान, कान के रोगो के लिए तैल, प्रधमन आदि उपचार बताये हैं। मुखरोगो मे दातो के मसूडो, जिह्वा और ओष्ठ के रोगो का वर्णन किया है। दाँत उखाडने में सावधानी तथा ठीक प्रकार से न उखड़ने के उपद्रवो का उल्लेख किया गया है। कृत्रिम दांत लगाने का उल्लेख आयुर्वेद ग्रन्थो

करती है। कारण समान होने पर भी जो परिवर्तन शरीर मे मिलते हैं, उनको समझना सम्प्राप्ति है। यह सम्प्राप्ति संख्या, विकल्प, वल, प्राधान्य और काल के भेद से भिन्न होती है। इस विषय में प्रमेहनिदान (चरक नि अ ४-४) के प्रकरण मे अत्रिपुत्र ने रोग की उत्पत्ति, उसके तीव्र, मध्यम, मृदु रूप एव उत्पन्न न होने या देर में होने के कारण को सरलता से एक सूत्र में समझा दिया है। इसी प्रकार चिकित्सा को भी एक ही शब्द में कह दिया—"जिस क्रिया से शरीर के धातु समान होते हैं, वह चिकित्सा है, यही वैद्य का कर्म है।" चिकित्सा का अर्थ ही यह है कि विकृत हुए धातुओ को समान करना। यह आहार-विहार-औषध रूप मे वर्णित है (अ ४)।

भूतविद्या—इसका सम्वन्ध मानसिक रोगो से है। मन के दो दोष हैं, रज और तम। इनसे मनुष्य मे उन्माद, अपस्मार, अमानुषोपसर्ग रोग होते हैं। अमानुपोपसर्ग से अभिप्राय देव-असुर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच आदि से मन का आक्रान्त होना है। अत्रिपुत्र का कहना है कि ये रोग वास्तव में प्रज्ञापराध के कारण (धी—स्मृति के विभ्रंश से) होते हैं और अपने कर्मों का फल हैं, इनके लिए देवता आदि को दोष नही देना चाहिए।[1]

मन-बुद्धि-संज्ञा-ज्ञान-स्मृति-भक्ति-शील-चेष्टा-आचार इनका विभ्रम होना (वदल जाना) उन्माद है।[2] स्मृति का अपगमन होना (दूर हो जाना) अपस्मार है। इनका सम्वन्ध मन के साथ है, अतएव ऐसे रोगो के लिए स्वस्तिवाचन, शान्तिकर्म, मणि-मन्त्र-ओषधिप्रयोग, प्रायश्चित्त, जप-होम आदि दैव-व्यपाश्रय चिकित्सा का आश्रय लिया जाता है।

ग्रहो का सम्वन्ध वच्चो के विषय मे कहा है। काश्यप संहिता के रेवतीकल्प अध्याय मे इस विषय में कई प्रकार की जातहारिणी, षष्ठीपूजा आदि वातो का उल्लेख मिलता है। संग्रह मे भूतविज्ञानीय और भूतप्रतिषेध अध्याय पृथक् लिखे हैं, एक अध्याय मे निदान हैं और दूसरे मे चिकित्सा।

भूतविद्या का उल्लेख अथर्ववेद में भी है। इस वेद का सम्वन्ध दैवव्यपाश्रय चिकित्सा से है (चरक सू अ ३०)। इसमे पिशाच नाम (पिशाच मनमोहन जहि

---

१. प्रज्ञापराधात् संभूते व्याधौ कर्मज आत्मनः।
नाभिशंसेद् बुधो देवान् न पितॄन् नापि राक्षसान्॥ —नि. अ. ८।२१

२. मदयन्त्युद्गता दोषा यस्मादुन्मार्गमाश्रिता.।
मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्तितः॥ सु. उ. अ. ६२।३

शारीरिक रोगों से ही मिलते हैं, इसलिए वही चिकित्सा इनमें करनी चाहिए। इनमें षष्ठी पूजा का उल्लेख भी है। बच्चों के रिकैट—अस्थिदौर्बल्य रोग (फक्क) का भी उल्लेख केवल इसी ग्रन्थ में मिलता है (पृष्ठ १००)। बच्चों के लालन-पालन की बहुत-सी बातें, काश्यप संहिता में हैं, परन्तु मुख्य विषय प्राचीन दृष्टि से चरक के जातिसूत्रीय अध्याय में आ जाता है। एक प्रकार से आधुनिक प्रसूति तंत्र का समावेश इसी में हुआ है।

योनि-व्यापत्तन्त्र (ग्यानोकोलोजी) भी इसी मे आता है। चरक में बीस योनि-रोग कहे गये हैं, उनका उपचार भी वर्णित है। आर्तव सम्बन्धी रोगों का उल्लेख तथा मकल्ल आदि लक्षणों की चिकित्सा सुश्रुत के शारीरस्थान में कही है। प्रसव के समय उत्पन्न मूढगर्भ की अवस्था में शस्त्रकर्म का उल्लेख भी है, इसमें विशेष सावधानी से स्त्री को मूर्च्छित करके ही शल्यकर्म करने को कहा है, परन्तु किस प्रकार से उस समय मूर्च्छित करते थे, इसका उल्लेख नहीं (सम्भवत मद्य पिलाते हों)। साथ ही आवश्यक होने पर गर्भपात करने का भी उल्लेख है (चि अ १५।११)।[1]

बच्चे के पालन के लिए जो धात्री होनी चाहिए, उसके सम्बन्ध मे अत्रिपुत्र की सूचनाएँ बहुत ही मूल्यवान् हैं, आज दो हजार वर्ष बाद भी वे ताजी हैं—

"अथ ब्रूयात्—धात्रीमानय, समानवर्णाम् (समान वर्ण की), यौवनस्थाम् (युवती), निभृताम् (विनीत-नम्र), अनातुराम् (निरोगी), अव्यङ्गाम् (अच्छे सुन्दर अंगों-वाली), अव्यसनाम् (व्यसनों से रहित), अविरूपाम् (सुन्दर), अजुगुप्सिताम् (समाज में जिसकी निन्दा न हो), देशजातीयाम् (अपने देश, अपनी जाति की) अक्षुद्रकर्मिणीम् (नीच काम न करनेवाली), कुलेजाताम् (उत्तम कुल मे उत्पन्न), वत्सलाम् (ममतावाली), अरोगाम् (स्वस्थ), जीवद्वत्साम् (जिसका बच्चा जीता हो), पुंवत्साम् (गोद में लडका हो), दोग्ध्रीम् (प्रचुर दूधवाली); अप्रमत्ताम् (लापरवाह न हो), अनुच्चारशायिनीम् (गंदी आदत जिसकी न हो, सफाईपसन्द), अनन्त्यावसायिनीम् (जो अस्पृश्या न हो), कुशलोपचाराम् (बच्चे के पालने में होशि-यार); शुचिम् (पवित्र रहने की आदतवाली), अशुचिद्वेषिणीम् (गन्दगी से द्वेष रखनेवाली), स्तन्यसम्पदुपेताम् (प्रशस्त दूधवाली धात्री को लाना चाहिए)।"

---

१ रामायण में भी मूढगर्भ के शस्त्रकर्म का उल्लेख है—
तस्मिन्ननागच्छति लोकनाथे गर्भस्थजन्तोरिव शल्यकृन्त ।
नूनं ममाङ्गान्यचिरादनार्य. शस्त्रै. शितैश्छेत्स्यति राक्षसेन्द्र.॥ वा.रा.सु. २८।६

सूतिका रोग—प्रसव के पीछे होनेवाली बीमारियाँ कष्टसाध्य होती हैं, इस बात का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, इसलिए इनसे बचाकर प्रसव कराना चाहिए। प्रसव में बलातैल या दूसरे तैलो का उपयोग बहुत सयुक्तिक है। इनके व्यवहार से जहाँ कृमि-सक्रमण से रक्षा होती है, वहाँ प्रसवकार्य सरल बनता है। इसी प्रकार गर्भिणी के आहार-विहार-दोहद की रक्षा सम्बन्धी सूचनाएँ दी गयी हैं।

सूतिकागार प्रकाश-धूमरहित तथा स्वच्छ बनाने का उपदेश है। जो स्त्रियाँ प्रसव कराने के लिए उपस्थित हो, वे बहुत बार की अभ्यस्त, नख कटाये हुए, साफ, कष्ट सहनेवाली, स्नेह रखने की प्रकृतिवाली होनी चाहिए।

एक प्रकार से कौमारभृत्य मे मैटरनिटी, गायनोकोलाजी, स्त्रीरोग, बालरोग, शिशुपरिचर्या, शिशु का प्रबन्ध, सब विषय आ जाते है। ये विषय आयुर्वेदग्रन्थों में एक स्थान पर नही मिलते, भिन्न भिन्न स्थलो पर इनका उल्लेख हुआ है।

अगद तत्र—इस अग में स्थावर और जगम दोनो प्रकार के विषो की चिकित्सा कही है। चिकित्सावर्णन में विष किस किस रूप में दिया जा सकता है, इसका भी उल्लेख है। प्राय राजाओ को विष का भय रहता है, यह विष खाने-पीने में, वस्त्र, आभूषण, माला, उपानह, स्नानजल, अनुलेप आदि द्वारा दिया जा सकता है। इसलिए रसोई, रसोई के अध्यक्ष और विषयुक्त अन्न की परीक्षा अग्नि एव पशु-पक्षियो से बतायी गयी है। यह परीक्षा कौटिल्य-अर्थशास्त्रोक्त परीक्षा मे मिलती है। अन्य तरीको से दिये गये विष के लक्षण तथा उपाय भी सुश्रुत में कहे हैं।

सेना की रक्षा की दृष्टि से भी विष रक्षा कही है—शत्रु मार्ग, वायु, जल, घास, तृण आदि वस्तुओं को विष से दूषित कर देते हैं। इनको लक्षणो से पहचानकर शुद्ध करना चाहिए।[1]

स्थावर विषो के जो नाम गिनाये गये हैं वे अब ज्ञात नही। इनमें से एक-दो का ही ज्ञान है। विष के कारण शरीर मे जो क्रमश परिवर्तन होता है, उसे वेग (लहर) कहते हैं। सामान्यत विष के सात वेग होते हैं, प्रत्येक वेग में विष गम्भीर होता जाता है और भीतरी धातुओ में उत्तरोत्तर पहुँचता हुआ असाध्य बन जाता है।

जगम विष स्थावर विष से विपरीत होता है, स्थावर विष ऊर्ध्वगामी होता है,

---

१. राज्ञोऽरिदेशे रिपवस्तृणाम्बुमार्गान्नधूमश्वसनान् विषेण।
संदूषयन्त्येभिरतिप्रदुष्टान् विज्ञाय लिङ्गैरभिशोधयेत्तान्॥
सु क अ. ३।६

और जगम विष अधोगामी रहता है इसलिए एक दूसरे को नष्ट करता है। शिव के पुराणोक्त विषपान में यही कारण है कि मुख से पिया गया हलाहल गले में साँपों के लिपटे रहने से आगे नहीं जा सका। सिर पर गिरती हुई गंगा की धार विष की गरमी को दूर करती है, माथे पर स्थित चन्द्रमा अपनी द्युति से विष की कालिमा को मिटा देता है।

जगम विष में सर्प मुख्य है, इसलिए उनकी जातियाँ, भेद, काटने के पृथक्-पृथक् लक्षण, उनकी चिकित्सा, प्रकृति, सब बातों की विवेचना की गयी है। साँपों के काटने से उत्पन्न वेग तथा होनेवाले लक्षण, मृत व्यक्ति की पहचान, इन सबके विषय में सूचनाएँ मिलती हैं। चिकित्सा में अरिष्ट, मंत्र प्रयोग के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न अगद बताये गये हैं। अगदों की फलश्रुति में यह भी कहा है कि इन औषधियों को नगाड़े आदि पर लगाकर बजाये, पताका आदि पर लगाकर मकान के ऊपर टाँगे। जहाँ तक नगाड़े की आवाज जाती है, वहाँ तक विष के रोगी स्वस्थ हो जाते हैं।[1]

सर्पविष के साथ मूषक, कीट, लूता के विष का भी उल्लेख है। पागल कुत्ते (अलर्क) के काटने के लक्षण और चिकित्सा भी बतायी है। इस चिकित्सा में धतूरे का उपयोग करके विष को पहले कुपित करने के लिए कहा है। अपने आप कुपित होने से पहले वैद्य को चाहिए कि वह इसे कुपित कर दे। विष वर्षा-ऋतु में क्यों प्रबल होता है, इस सम्बन्ध में गुड़ का दृष्टान्त महत्त्वपूर्ण है।[2]

विष क्यों मारक है, इसका भी कारण बतलाया है। विष के लघु, रूक्ष, आशु, विशद, व्यवायी, तीक्ष्ण, विकासी, सूक्ष्म, उष्ण तथा अनिर्देश्यरस ये दस गुण हैं जो कि ओज के दस गुणों से विपरीत होते हैं, इसलिए विष मारक होता है। सर्प विष के चौबीस उपाय बताये हैं (चरक० चि० २४।३५-३७)।

मूषकविष और अलर्कविष (जलत्रास की अवस्था—हाईड्रोफोबिया) का वर्णन विस्तार से किया है। रोगी में अलर्क—पागल जानवर के लक्षण उत्पन्न हो जाने पर रोग असाध्य हो जाता है। लूताविष के साथ सामान्य कीट, मक्खी आदि के काटने के भी लक्षण बतलाये गये हैं।

---

१. अनेन दुन्दुभिं लिम्पेत् पताका तोरणानि च।
श्रवणाद् दर्शनात् स्पर्शात् विषात् संप्रतिमुच्यते॥ सु. क. अ. ६।४

२. तद् वर्षास्वम्बुयोनित्वात् संक्लेदं गुडवद् गतम्।
सर्पत्यम्बुधरापाये तदगस्त्यो हिनस्ति च॥
प्रयाति मन्दवीर्यत्वं विषं तस्माद् घनात्यये॥ चरक. चि. अ २३।७-८

विषचिकित्सा प्रकरण मे टीका के अन्दर काश्यप या दूसरो के वचन भी मिलते हैं (चक्रपाणि, चरक मे, अ० २३।३२)। इस समय तो सुश्रुत संहिता का कल्पस्थान और चरक संहिता का एक अध्याय ही उपलब्ध हैं। संग्रह से यह पता चलता है कि इस विषय में अवश्य ऊहापोह होता रहा है।[1]

रसायन—औषध दो प्रकार की हैं—स्वस्थ के लिए ऊर्ज-बल देनेवाली और रोगी के रोग को मिटानेवाली। इनमें प्रथम प्रकार की औषध जिससे स्वस्थ व्यक्ति को बल मिलता है, रसायन श्रेणी की है। ऐसी औषध से शरीर के रस आदि धातुओं, स्मृति आदि बुद्धिगुणो तथा मानसिक सत्त्वगुण मे लाभ होता है, जिससे जरा और रोग नष्ट होते हैं। यही रसायन है (यज्जराव्याधिविध्वंसि तद् रसायनमुच्यते)।[2]

रसायन विधि दो प्रकार की हैं, एक कुटीप्रावेशिक और दूसरी वातातपिक। दोनों विधियो मे कुछ बाते समान और आवश्यक हैं, बिना उनके रसायन का लाभ नहीं हो सकता। इनमे शरीर का शोधन करने के अतिरिक्त मानसिक दोष—रज और तम को दूर करना जरूरी है। बिना इनको दूर किये रसायनो का लाभ नहीं उठाया जा सकता, वैसे औषध अपना प्रभाव कुछ अंश तक अवश्य करती हैं (विधूय मानसान् दोषान् मैत्री भूतेषु चिन्तयन्—चरक० चि० अ० १।२२)। दूसरी वस्तु रसायन सेवन के लिए समय होना चाहिए, तुरन्त खाते ही लाभ नहीं होता, उसमें समय और धैर्य की जरूरत होती है।

इसके अतिरिक्त आचाररूपी रसायन का उपयोग इसमें आवश्यक है, इसके लिए सत्यवचन, क्रोध न करना, स्त्री सेवन और मद्य से अलग रहना, अहिंसा वृत्ति, किसी को पीडा न पहुँचाना, शान्त रहना, मीठा बोलना, जप करना, शरीर की शुद्धि, दान करना, तपस्वी जीवन, जागना-सोना समान रखना, दूध और घी का सेवन, देश-काल को समझना, गर्व न करना, देवता-आचार्य-पूजनीय व्यक्तियो का

---

१ सप्तमे मरण वेग इति नग्नजितो मतम्, सप्तेति वेगा मूर्च्छाद्या विदेहपतिना स्मृता, आश्रया सप्त सप्तानामित्यालम्बायनोऽब्रवीत्, धात्वन्तरेषु या सप्त कला पूर्वं प्रकीर्त्तिता। —संग्रह, उत्तर अ ४०

२. रसविद्या और रसायन विद्या ये दोनो भिन्न हैं। रसविद्या का विकास ९वीं शती का है, रसायन विद्या प्राचीन है। रसविद्या का उपयोग भी रसायन के लिए रसहृदय तन्त्र में बताया है। रस और रसायन को पृथक् करके काल-निर्णय करना चाहिए।

सत्सग, उनके पास बैठना, उनका आदर करना, धर्म भाव रखना, अध्यात्म चिन्तन—इनको पालन करनेवाला व्यक्ति एक प्रकार से रसायन का ही सेवन करता है।

रसायन सेवन से दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, तरुण वय, प्रभा, वर्ण, स्वर आदि में औदार्य, देहबल, इन्द्रियबल, वाक्सिद्धि, लोकवन्दना और कान्ति मिलती है। दीर्घायु का अर्थ यही है कि मनुष्य को आयु पूरी प्राप्त हो। अधिक आयु का उल्लेख अतिशयोक्ति ही है, इसी से शवर ने कहा है कि रसायन की यह सामर्थ्य नही देखी गयी कि मनुष्य एक हजार वर्ष जिये।[1]

सुश्रुत में सोम आदि ओषधियो के सेवन से जो त्वचा का गिरना, कृमि आदि उत्पन्न होना, नये दांत, नख आदि निकलना बतलाया है वह चरक संहिता में नही है। इन्द्र ने भी ऋषियों को रसायन ओषधि सेवन करने का उपदेश दिया है।

चरक का रसायन प्रकरण अधिक बुद्धिगम्य और सरल है। आंवले और दूध का उपयोग बहुत सुन्दर है (चि० अ० १।३।९-१३)। इसके सिवाय भिलावा, शिलाजीत, हरीतकी, त्रिफला आदि बहुत से रसायनों का उल्लेख है, इनमे जो जिसको अनुकूल पडे, सुभीता हो, उसे वरतना चाहिए।

अष्टागसग्रह और अष्टागहृदय मे वाग्भट ने लशुन, पलाण्डु, विधारा, कुक्कुटी आदि वनस्पतियों का भी उपयोग रसायन रूप मे बताया है। लशुनकल्प का उल्लेख काश्यप संहिता मे भी है। वावची, वच आदि जानी हुई औषधियों के साथ कचुकी, तार्क्ष्य, गुग्गुलु का उल्लेख इसमे हुआ है। सम्भवत इन औषधियों से शरीर को स्वस्थता मिलती है। चरक की औषधियों मे मानसिक पवित्रता का भी ध्यान रखा गया है, क्योंकि वे सात्त्विक है। सग्रह की औषधियाँ कम से कम लशुन और पलाण्डु तो सात्त्विक नही। चरक तो कहता है कि मद्य का सेवन रसायनसेवी को नही करना चाहिए, परन्तु इस निषेध का महत्त्व सग्रह की दृष्टि मे नही है। सग्रह की रसायन-विधि सासारिक व्यक्ति के लिए है, इसमें किसी प्रकार का परहेज नही।

वाजीकरण—इस अग का अभिप्राय पुरुष मे पुंस्त्व शक्ति को बढाना है। यह अग पुरुषों से ही सम्बन्धित है, स्त्रियों के लिए ऐसी औषध आयुर्वेद मे नही मिलती। अत्रिपुत्र ने स्त्री को ही प्रधान वाजीकरण माना है, उसमे ज्ञानेन्द्रियो के सब विषय एक साथ स्थित है। स्त्री में प्रीति, सन्तान, धर्म, अर्थ, लक्ष्मी, लोक-परलोक सब स्थित है।

---

१. न रसायनानामेतत्सामर्थ्यं दृष्टं येन सहस्रसंवत्सरं जीवेयुः। —शाबरभाष्य

भारतीय संस्कृति में पुत्र न होना पाप है, सतान रहित मनुष्य की उपमा सूखे तालाब, चित्र में बने प्रदीप, एक शाखावाले वृक्ष तथा फल रहित विटप से दी गयी है। उसे मनुष्य न कहकर तिनकों का पुतला कहा है। इसके विपरीत बहुत सतान-वाले की उपमा बहुत शाखा-प्रशाखावाले वृक्ष से दी है। पहले समय में जब जीवन के साधन खेती, पशुपालन, आखेट थे, यह भी दृष्टान्त महत्त्वपूर्ण था, परन्तु आज आबादी अधिक और भूमि कम होने से स्थिति बदल गयी है।

चरक संहिता में इस सम्बन्ध में जांगम द्रव्यों का उपयोग विशेष रूप से किया है, परन्तु इनसे रहित शुद्ध योग भी दिये हैं। पहली बार ब्यायी, चारों पुष्ट स्तनोंवाली, समान रंग की, जीवित बछड़ेवाली गाय को उरद के पत्ते या ईख के पत्ते खिलाने। जब इसका दूध गाढ़ा हो जाय तब उसे गरम या बिना गरम करके पीना चाहिए (चि० अ० २।३।३-५)।

शुक्र दोष, नपुंसकता के कारण और इनकी चिकित्सा का स्पष्ट वर्णन किया गया है। नपुंसकता जन्मजात तथा जन्मोत्तर काल-जन्य एवं ब्रह्मचर्य के कारण भी होती है। इनमें कुछ कारणों से सामयिक अस्थायी क्लीवता आती है। मनुष्य के शुक्र में आठ दोष हो सकते हैं (चरक० चि० अ० ३०।१३९-१४०)। इन दोषों की चिकित्सा विस्तार से कही गयी है। शुक्र जिन कारणों से शरीर में से अलग होता है, उनको बहुत ही सुन्दरता से लिखा है।[1]

सोलह वर्ष से पूर्व और सत्तर वर्ष की आयु के पश्चात् स्त्रीसेवन नहीं करना चाहिए। इन अवस्थाओं में स्त्रीसेवन से मनुष्य घुनी हुई लकड़ी के समान खोखला हो जाता है। कुछ कारण ऐसे हैं (जैसे—चिन्ता, रोग, स्त्री में दोष देखना, भय आदि) जिनसे शक्ति होने पर भी प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि शक्ति की प्रेरणा में प्रसन्नता मुख्य कारण है (चरक० चि० अ० २।४५)।

इस प्रकार शरीर और मन दोनों के स्वास्थ्य के लिए वाजीकरण है, इसका उपयोग शरीर का ध्यान रखकर ही करना चाहिए। वाजीकरण का उपदेश होने पर भी ब्रह्मचर्य का महत्त्व बना ही हुआ है।[2]

---

१. हर्षात्तर्षात् सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि।
अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च॥ चरक चि अ २।४।४८

२. धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयपरायणम्। अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम्॥
हृदय उ अ ४०

क्रियात्मक ज्ञान और आतुरालय (अस्पताल)

विद्यार्थी को क्रियात्मक शिक्षा देने के लिए चिकित्सालयो का भी उपयोग होता था, इसका स्पष्ट उल्लेख नही है, परन्तु रोगी की चिकित्सा के लिए आतुरालय, व्रणितोपासना गृह होते थे। स्त्रियो के प्रसव के लिए सूतिकागार, बच्चो के लालन-पालन के लिए कुमारागार बनते थे। शिक्षा के समय क्रियात्मक ज्ञान के लिए शवच्छेद कार्य का महत्त्व था (सु० शा० अ० ३।४७-४८)।

इसके अतिरिक्त सामान्य शल्यकर्म के अगो की शिक्षा के लिए भिन्न भिन्न उपकरण काम में लाये जाते थे (सु० सू० अ० ९।४)। इन उपकरणो पर विद्यार्थी 'जितहस्तता' प्राप्त करता था। चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान उसे व्रणितोपसना गृह मे देखने को मिलता था।

व्रणितोपासनागृह—इस विषय में कहा गया है कि व्रणरोगी के लिए सबसे प्रथम रहने की व्यवस्था करनी चाहिए। यह व्यवस्था वास्तु आदि से सम्मानित स्थान पर होनी चाहिए। यह घर वास्तु के प्रशस्त लक्षणो से युक्त, पवित्र, सीधी वायु और धूप से सुरक्षित होना चाहिए। इसमें रोगी की शय्या कष्टरहित-सुखदायक, देखने में सुन्दर, पर्याप्त लम्बी चौडी होनी चाहिए। शय्या का सिरहाना पूर्व की ओर रखना चाहिए। रोगी डर जाता है, स्वप्न में कभी चौंक जाता है, इसलिए उसको बल देने के लिए शस्त्र रख देना चाहिए (गाँवो में आज भी प्रसूता के सिरहाने कैंची, चाकू या कोई लोहा रखने की प्रथा है)। यहाँ पर अनुकूल, प्रिय बोलनेवाले मित्रो को बुलाना चाहिए, जिससे उनके साथ बातचीत करते हुए व्रण की वेदना की ओर ध्यान न जाय। मित्र इसे बराबर सान्त्वना देते रहें। दिन में सोना नही चाहिए, उससे व्रण में कण्डू, शोथ, मुर्च्छा, वेदना और स्राव बढता है, शरीर भारी हो जाता है। रोगी को उठना-बैठना, करवट बदलना, चलना-फिरना, जोर से बोलना बहुत सावधानी से करना चाहिए, व्रण पर जोर न पडे इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए। स्त्रियो का दर्शन, उनमे बातचीत करना, उनका स्पर्श, समागम पूर्णत छोड देना चाहिए, क्योकि स्त्रीदर्शन से यदि शुक्रक्षय कभी हो जाय, तो बिना समागम के भी शुक्रनाश के दोषो को उत्पन्न कर देता है।

भोजन मे हानिकारक वस्तु तथा तीव्र मद्यो का परित्याग कर देना चाहिए, क्योंकि मद्य व्रण को बिगाड देती है। वायु, धूप, धूल, धुआँ, ओस इनका अधिक सेवन, अति भोजन, अनिष्ट भोजन, क्रोध, भय, शोक, चिन्ता, रात्रि में जागना, विषमाशन, नीचा ऊंचा होना, चलना, शीत,वायु, विरुद्ध भोजन आदि हानिकारक बातो से बचना

चाहिए। उपाध्याय ऋग्वेद आदि के मन्त्रो से तथा वैद्य अपने धूम आदि कार्यों से सन्ध्याकाल में रोगी की रक्षा करें। प्रशस्त औषधियो को सिर पर धारण करना चाहिए (सु० सू० अ० २९)।

आतुरालय—चरकसंहिता में रोगो का सही उपचार करने के लिए जो जो वस्तु आवश्यक होती हैं, उनकी विस्तृत सूची दी है। इनमें रोगी के रहने के लिए सबसे प्रथम घर की व्यवस्था करनी चाहिए। यह घर मजबूत, सीधी वायु से बचा, एक पार्श्व से वायु प्रवेशवाला, सुविधापूर्वक जिसमें घूमा जा सके, किसी पार्श्ववर्ती मकान से न दबा हुआ, धुआँ, धूप, वर्षा, धूल से बचा हुआ, अनिच्छित शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध जहाँ पर न पहुँच सकें, पानी का प्रबन्ध हो, ऊखल-मूसल, स्नान के स्थान से युक्त, मल-मूत्र त्याग के लिए उचित प्रबन्धवाला, रसोई युक्त हो, ऐसा गृह शिल्प-विद्या जाननेवाले व्यक्ति द्वारा प्रशस्त रूप में बना होना चाहिए।

इस घर में शील-शौच-आचार-अनुराग-दाक्ष्य (चातुर्य) और प्रादक्षिण्य (सूझ) से युक्त, सेवाकार्य में कुशल, सब कार्यों को सीखे हुए, रसोई पकानेवाले, स्नान-सवाहन, उठाने-बैठाने, औषधि तैयार करनेवाले भृत्यो को, जो सब प्रकार के कार्यों को करने में किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट न करें, गाने-बजाने-स्तोत्र पाठ, श्लोक-गाथा-कथा-आख्यायिका, इतिहास-पुराण कहने में कुशल, अभिप्राय को समझने में चतुर, मन के अनुकूल, देश-काल को पहचाननेवाले मुसाहिबो को भी वहाँ रखे। बटेर, कपिञ्जल खरगोश, हरिण, एण, कालमृग आदि पशु एव दुधारी, सीधी, निरोगी, बछडेवाली गाय का प्रबन्ध करे। भिन्न भिन्न पात्र—पानी के बडे मटके, पीढे, कडाहे, थाली, लोटे, पानी निकालने का वर्त्तन, मथनी, करछुली आदि आवश्यक वस्तु इसमें इकट्ठी करनी चाहिए। शय्या-आसन आदि के पास करवा और पीकदान रखना चाहिए। शय्या और बैठने का पीढा अच्छी प्रकार बिछे हुए, पीछे की तरफ सहारे—तकियेवाले होने चाहिए, जिससे उनके ऊपर बैठकर स्नेहन-स्वेदन, वमन-विरेचन, शिरोविरेचन आदि कार्य सुखपूर्वक किये जा सकें। अच्छी प्रकार धुले तथा तैयार किये पीसने के पत्थर, आवश्यक शस्त्र, धूम नेत्र, वस्ति नेत्र, तराजू, मापने के पात्र, घी, तैल, वसा, मज्जा, मधु, राब, नमक, ईंधन, सुरा, सौवीरक, तुषोदक, मैरेय, मेदक, दही, मण्ड, शालि धान्य, मूँग, उरद, तिल, कुलत्थ, बेर, मृद्वीका, हरड, बहेडा, आँवला आदि नाना प्रकार के स्नेह-स्वेद के उपयोगी द्रव्य तथा अन्य औषधियो का सग्रह करना चाहिए। इन वस्तुओ के अतिरिक्त जो भी आवश्यक प्रतीत हो, चिकित्सा कर्म में जिनकी सभावना हो, उन सब चीजो को पहले से इस घर में एकत्र रखना चाहिए।

आतुरालय में रहनेवाले रोगी को समझा देना चाहिए कि वह जोरसे नही बोले, उसे बहुत खाना, बहुत बैठना, बहुत घूमना, क्रोध-शोक-शीत-धूप-ओस-वायु-सवारी करना, स्त्री समागन, रात मे जागना, दिन मे सोना, विरुद्ध, अजीर्ण, असात्म्य, अकाल-प्रमित, अति हीन, गुरु, विषम भोजन छोड देना चाहिए। मल-मूत्र के वेगो को नही रोकना चाहिए। इन बातों का मन मे भी विचार छोड देना चाहिए (चरक० सू० अ० १५)।

आतुरालय के प्रबन्ध की सामान्य जानकारी ऊपर के वर्णन से स्पष्ट हो जाती है।

सूतिकागार--प्रसव का नवाँ मास प्रारम्भ होने से पहले ही सूतिकागार बनाना चाहिए। यह ऐसे स्थान पर हो जहाँ हड्डी, शर्करा, ईंट, पत्थर, रोडे तथा पुराने ठीकरे, टूटे मिट्टी के बर्तन न हो, जिस भूमि का दिखाव (रूप), जल (रस), गन्ध प्रशस्त हो। घर का मुख्य द्वार पूर्व या उत्तर दिशा मे रखना चाहिए। इस घर को बिल्व, तिन्दुक, इगुदी, भिलावा, वरणा, खैर इनमें से किसी की लकडी से बनाना चाहिए। इसमे मजन, आलेपन, पहनने, ओढने-बिछाने के वस्त्र रखने चाहिए। अग्नि (रसोई), जल, स्नानगृह, मल-मूत्र त्याग की सुविधा, कूटने-पीसने की व्यवस्था, ऋतु-अनुकूल प्रबन्ध रहे ऐसा, मन के लिए अनुकूल घर बनाना चाहिए।

इसमे घी, तैल, मधु, सैन्धव, सौवर्चल, काला नमक, विड नमक, विडग, पिप्पली, हीग, सरसो, लहसुन आदि उपयोगी वस्तु, दो पत्थर, दो मूसल (द्वार पर रखने के लिए—जिससे कोई सीधा घर मे न आ सके), ऊखल, सूई और उसके खोल, शस्त्र, बिल्व के बने दो पलग रखने चाहिए, अग्नि जलाने के लिए तिन्दुक और इगुदी की लकडियाँ, बहुत बार प्रसव कार्य की हुई, स्नेह रखनेवाली, निरन्तर प्रेमभाव रखने-वाली, सेवाकार्य मे कुशल, सूझवाली, स्वभाव से ही ममतावाली, शोक या घबराहट से दूर रहनेवाली, कष्ट सहने की अभ्यासी स्त्रियो को वहाँ पर रखना चाहिए। इसके सिवाय और जो कुछ भी ब्राह्मण तथा वृद्धा स्त्रियाँ बताये, उन सबको एकत्र रखना चाहिए। सुश्रुत ने सूतिकागार की लम्बाई आठ हाथ और चौडाई चार हाथ बतायी है।

कुमारागार—भवन निर्माण में कुशल व्यक्ति प्रशस्त, सुन्दर, प्रकाशपूर्ण स्थान पर, सीधी वायु मे बचा हुआ, पार्श्व से वायु प्रवेशवाला दृढ मकान बनाये। इस मकान में हिंसक पशु, चूहे, पतग, मच्छर आदि का प्रवेश अवरुद्ध होना चाहिए। पानी का स्थान, कूटने-पीसने, मल-मूत्र त्याग का स्थान, स्नानगृह, रसोई आदि अलग अलग ऋतु अनुकूल बनाने चाहिए। ऋतुओं के अनुसार इसमे उठने-बैठने का, सोने तथा दूसरी वस्तुओ का प्रबन्ध करना चाहिए। मकान में बच्चे के आसपास जो व्यक्ति रहें

वे पवित्र, अनुभवी, वैद्य से प्रेम रखनेवाले तथा बच्चे से स्नेह भाव रखनेवाले होने चाहिए (शा० अ० ८।५९)।

बच्चे के बिछाने-ओढने-पहनने के वस्त्र कोमल, हलके, साफ सुथरे, सुवासित होने चाहिए। जिन वस्त्रो में पसीना, मैल, जूँआ आदि हो, उनको हटा देना चाहिए, मल-मूत्र से बिगडे वस्त्रो को तुरन्त पृथक् कर देना चाहिए। यदि दूसरे नये वस्त्र उपलब्ध न हो तो इन्ही वस्त्रो को अच्छी प्रकार धोकर, धूप में सुखाकर, धूप देकर काम में लाना चाहिए।

वस्त्रो को धूप देने के लिए जौ, सरसो, अलसी, हीग, गुग्गुलु, वच, चोरक, हरीतकी, जटामासी, अशोक, रोहिणी आदि द्रव्य और साँप की केंचुली को घी के साथ बरतना चाहिए।

बच्चे के खिलौने नाना प्रकार के, बजनेवाले, देखने मे सुन्दर, हलके, आगे से नोक-रहित, मुख में न जा सकनेवाले, प्राणो को किसी प्रकार हानि न पहुँचानेवाले होने चाहिए।[1] बच्चे को कभी भी डराना नही चाहिए। बच्चा यदि रोता हो या भोजन न खाये तब उसे डराने के लिए राक्षस, पिशाच, पूतना आदि का नाम नही लेना चाहिए (शा० अ० ८।६८)।

आरोग्यशाला—स्कन्दपुराण में आरोग्यशाला बनाने का बहुत पुण्य बताया है, जो व्यक्ति सब साज-सज्जा से पूर्ण, वैद्य से युक्त आरोग्यशाला बनवाता है, उसके लिए दूसरा कोई धर्म करने को नही रहता, क्योकि जीवनदान से बढकर दूसरा दान नही। सम्राट् अशोक ने अपने राज्य में तथा पडोसी राज्यो मे पशु और मनुष्य दोनो के लिए चिकित्सा की सुविधा की थी। उसने अपने शिलालेख में घोषणा की है—

"देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी ने अपने विजित राज्य में तथा सीमान्त राज्यो मे, जैसे चोल, पाण्ड्य, सत्पुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी, अन्तियोक नामक और जो दूसरे समीप

---

१. खिलौनो के लिए काश्यप संहिता में अधिक जानकारी दी है—

बालक्रीडनकानि पिष्टमयानि,—तद्यथा गोगजोष्ट्राश्वगर्दभमहिषमेषच्छाग-मृगवराहवानरशररुरुभसिंहव्याघ्रकपितरक्षुवृककूर्ममीनशुकसारिकाकोकिलकलविङ्क-चक्रवाकहंसक्रौञ्चसारसमयूरकुकरचकोरकपिञ्जलचरणायुधवर्त्तकाकाराणि शैलकगृह-(क)रथकयानकस्यन्दनकशल्लिकाजिञ्झिरिकाखैरिकेशीकातुम्बीदुष्प्रवाहकभद्रकसचो-लक..... ....दुहितृकाकुमारकगोलगन्दुकान्यानि च स्त्रीकौतुकानीति।" काश्यप खिल. १२।६

के राजा है; सब स्थानो पर दो प्रकार की चिकित्साओ का प्रबन्ध करा दिया है; मनुष्य चिकित्सा तथा पशु चिकित्सा।" (शिलालेख २)

जहाँ पर जो औषधियाँ नही होती थी, उनको दूसरे स्थानो से मँगवाकर उन स्थानो पर मनुष्य और पशुओ के लाभ के लिए अशोक ने लगवाया था। ये आरोग्यशालाएँ आधुनिक अस्पतालो का प्राथमिक रूप थी।

अशोक के पीछे पाँचवी शती मे (४०५ से ४११ ईसवी पश्चात्) चीनी यात्री फाहियान भारत मे आया था। उस समय मगध की राजधानी पाटलीपुत्र में एक धर्मार्थ चिकित्सालय था। किसी भी रोग से पीडित, निराश्रित, गरीब रोगी सब इसमें आते थे। यहाँ उनकी पूरी देखरेख की जाती थी, आवश्यक आहार और अन्य वस्तुएँ दी जाती थी। उनके आराम का पूरा प्रबन्ध किया जाता था। जब वे स्वस्थ हो जाते थे तब उनको वहाँ से जाने दिया जाता था।[1]

फाहियान कहता है कि दान कार्य मे बडी स्पर्धा चलती थी, दानवीर बडी बडी धर्मशालाएँ, आरोग्यशालाएँ चलाते थे। इसके बाद सातवी शती मे आनेवाला चीनी यात्री व्युआन्-शाङ् भी नि शुल्क चलनेवाले दवाखानो का उल्लेख करता है, जहाँ रोगियो को मुफ्त दवा दान दी जाती थी। हर्षवर्धन ने ऐसी पुण्यशालाएं स्थान स्थान पर बनवायी थी।

आरोग्यशाला सम्बन्धी गुप्तकालीन उल्लेखो के छ सौ वर्ष बाद का एक लेख मिला है, इसको चोल देश के वीर राजेन्द्रदेवुश ने १०६७ ईसवी में लगवाया है। यह विज्ञप्ति दक्षिण के चेगुलपटु मण्डल के तिरुमकूडल गाँव के श्री वेकटेश्वर मन्दिरस्थ गर्भगृह की दीवार में है। इसके अनुसार वेकटेश्वर के नित्योत्सव आदि खर्च की व्यवस्था के साथ एक पाठशाला और विद्यार्थियो के आरोग्य के लिए स्थापित एक आरोग्यशाला के खर्च की भी व्यवस्था की गयी थी। आतुरालय की व्यवस्था का विवरण इस प्रकार है—

इस आतुरालय का नाम श्री वीर चोलेश्वर आतुरालय था, इसमें पन्द्रह रोगियो के रखने की व्यवस्था थी। चिकित्सा के लिए एक कायचिकित्सक, एक शल्य-चिकित्सक, दो पुरुष परिचारक, दो स्त्री परिचारिकाएँ, एक सेवक, एक द्वारपाल, एक धोबी और एक कुम्हार—इतने आदमियो के रखने का उल्लेख है। इनको जो वेतन उस समय मिलता था, वह भी इसमें दिया है, यह अन्न के रूप मे मिलता था।

---

१ श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री लिखित 'आयुर्वेद के इतिहास" से उद्धृत

अन्न का नियत भाग पात्र द्वारा मापकर दिया जाता था। उस समय इस आतुरालय का कायचिकित्सक कोदण्डरायाश्वत्थाम था, उसको तीन कुरिणि जितना धान्य मिलता था (कुरिणि और नाडी अन्न मापने का द्रविड नाम है, इस प्रकार से अन्न के रूप मे वेतन देने का रिवाज पुराना है)। शल्यक्रिया करनेवाले को एक कुरिणि धान्य मिलता था। परिचारक जो कि चिकित्सा के लिए आवश्यक औषधियाँ लाता था, औषधि पकाने के लिए जो लकडी लाता था तथा औषधियो को तैयार करने के लिए जो परिचारक थे, इनमें प्रत्येक को एक कुरिणि धान्य दिया जाता था। रोगी की सेवा तथा अन्य काम करने के लिए रखे गये तीसरे सेवक को एक नाडी जितना धान्य मिलता था। रोगियो को समय पर यथायोग्य दवा तथा पथ्य देने के लिए (सभवत रसोई का काम भी इसको ही करना होता होगा) तथा परिचर्या के लिए दो स्त्री सेविका थी, इनको चार नाडी जितना धान्य दिया जाता था। रोगियो के वस्त्र धोने के लिए एक धोबी, आतुरालय में जरूरत के अनुसार मिट्टी के पात्र देने के लिए एक कुम्हार था, इनको चार नाडी धान्य मिलता था। रोगियो की शय्या के लिए सात कट (चटाई या बिछौना अथवा चारपाई ?) और रात्रि में दिया जलाने के लिए ४५ नाडी जितना तेल प्रति वर्ष दिया जाता था। आतुरालय के लिए प्रति दिन काम में आनेवाली औषधियाँ तैयार करने तथा ये कितनी मात्रा में तैयार हो, इस सम्बन्ध की सूचना भी ऊपर के लेख में दी गयी है।

इसके अनन्तर सन् १२६२ का एक दूसरा लेख आन्ध्र प्रदेश के मलकापुरवाले शिलास्तम्भ से प्राप्त हुआ है। इसमे काकतीय रानी रुद्राम्मा तथा इसके पिता गणपति के गुरु विश्वेश्वर की प्रवृत्तियो का उल्लेख है। यह विश्वेश्वर गौड देश के दक्षिण राढ देश—बगाल या उडीसा का रहनेवाला शैव आचार्य था। इसको काकतीय गणपति और रुद्राम्मा (सन् १२६१ से १२९६) ने कृष्णा नदी के दक्षिण तीरस्थ में आये कई गाँव दान दिये थे। विश्वेश्वर ने इनमें से दो गाँवो की आमदनी के तीन भाग करके एक भाग प्रसूतिशाला के खर्च के लिए नियत कर दिया था, एक भाग आरोग्यशाला के लिए और एक सत्रशाला के लिए रख दिया था। प्रसूतिशाला और आरोग्यशाला का निर्माण विश्वेश्वर ने स्वत किया होगा या इसके पूर्व किसी आचार्य ने किया होगा, परन्तु स्थानिक शैव मन्दिर के साथ इनको सम्बन्धित कर दिया गया था।

इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि अग्रेजो के आने पर जिस प्रकार की आरोग्यशाला या अस्पताल इस देश में बने हैं,उसी प्रकार से रोगियो को एक स्थान पर रखकर चिकित्सा

करने की प्रथा बहुत पहले से इस देश में प्रचलित थी। मन्दिरों के साथ धर्मशाला, आतुरालय, आरोग्यशाला होना सम्भव है। मन्दिर या मठ जहाँ विद्या दान के केन्द्र होते थे, वहाँ पर उनके साथ आरोग्य दान का भी प्रबन्ध होना सम्भव है। धर्मशास्त्र में महावैद्य युक्त आरोग्यशाला बनाने का बहुत पुण्य कहा गया है। धर्मशाला, पाठशाला इस देश में जितनी व्यापक थी, उतनी आतुरशालाएँ व्यापक नहीं थीं, इनका कारण सम्भवत इनका अधिक खर्चीला या अधिक व्ययसाध्य होना रहा होगा, अथवा पीछे योग्य चिकित्सकों का अभाव हो गया होगा।

सैनिक चिकित्सा

कौटिल्य अर्थशास्त्र में सेना के साथ चिकित्सक रखने का उल्लेख है, ये चिकित्सक मनुष्य, अश्व, हाथी आदि के लिए रखे जाते थे, यथा—(१०।३।६२) चिकित्सा करनेवाले शस्त्र-यन्त्र-विषनाशक अगद, स्नेह, वस्त्र हाथ में लिये तथा खान-पान की रक्षा करनेवाली और पुरुषों को प्रसन्न रखनेवाली स्त्रियाँ सेना के पीछे रहनी चाहिए। महाभारत में भी उल्लेख है कि भीष्म के शरशय्या पर गिरने पर शल्य निकालने में कुशल चिकित्सक अपने सामान के साथ पहुँचे थे।

सुश्रुत में लिखा है कि शत्रु लोग युद्ध के समय अन्न, पान, मार्ग, घास, वायु, जल आदि वस्तुओं को दूषित कर देते थे। इन दूषित वस्तुओं को इनके लक्षणों से पहचानकर उपचार करना चाहिए। विष से दूषित जल पिच्छिल, झागदार, रेखाओं से युक्त होता है, इसमें मछली, मेंडक मर जाते हैं, पक्षी, किनारे पर रहनेवाले जन्तु पागल हो जाते हैं, हाथी, घोड़े आदि जो भी पशु इसमें स्नान करते हैं, उनको ज्वर, दाह, शोथ होता है। इसके लिए जल को शुद्ध करे।

जल शुद्ध करने के लिए धावडी, अश्वकर्ण, असन, पारिभद्र आदि की छाल जलाकर पानी में डाल देनी चाहिए। पीने के पानी में भी इस राख को डालना चाहिए।

विष से दूषित भूमि, शिलापृष्ठ, नदी के घाट, मैदान के ऊपर जब पशु या मनुष्य का स्पर्श होता है तब उनको जलन होती है, अंग सूज जाता है, नख टूटते हैं, बाल गिरते हैं। इसके लिए भूमि पर एलादि गुण की औषधियों को सुरा या दूध में पीसकर काली मिट्टी या वल्मीकमृत्तिका मिलाकर छिडकाव करे। धूम या वायु के विष से दूषित होने पर पक्षी थककर भूमि पर गिर जाते हैं, मनुष्यों को कास, प्रतिश्याय, शिरोवेदना तथा नेत्ररोग होते हैं। इसके लिए अग्नि में लाख, हल्दी, अतीस, मोथा, खस, कूठ, प्रियगु आदि सुगन्धित वस्तु जलानी चाहिए। घास-भूसा या अन्न विष से दूषित होने पर

जो इनको खाते हैं, उनको वमन, अतिसार, मूर्च्छा या मृत्यु होती है। उनकी चिकित्सा विषनाशक अगदों से करनी चाहिए।

इसी लिए वैद्य को सेना के साथ रखने की सूचना है (सु सू अ ३४।३)। वैद्य का निवास छावनी में राजा के निवास की बगल में ही होता था। उसके निवास पर विशेष चिन्हित ध्वजा रहती थी, जो दूर से दिखाई देती थी। ध्वजा की पहचान से विष, शस्त्र और रोग से पीड़ित व्यक्ति सीधे वहाँ पहुँच सकते थे। इसमें रहनेवाला वैद्य अपने विषय में पूर्ण ज्ञाता होता था तथा अन्य विषयों की भी जानकारी रखता था। इस प्रकार का वैद्य राजा तथा वैद्यविद्या के जाननेवालों से पूजित होता था, उसका यश ध्वजा की भाँति चमकता था (सु सू अ ३४।१२-१४)।[1]

कौटिल्य-अर्थशास्त्र में राजा के पास विषवैद्य-गारुडी रखने का भी उल्लेख है (१।२१।२८)। वैद्य औषधशाला से स्वयं परीक्षा की हुई औषधि लेकर, राजा के सामने उसमें से थोड़ी सी औषधि पकानेवाले तथा पीसनेवाले पुरुष को खिलाकर एवं यथावसर स्वयं भी खाकर फिर राजा को दे। इसी तरह औषधि के समान मद्य तथा जल के विषय में भी समझना चाहिए (अर्थ० १।२१।२५-२६)।

---

१. भिषज. प्राणबाधिकमनाख्यायोपक्रममाणस्य विपत्तौ पूर्व साहसदण्ड. ।
कर्मापराधेन विपत्तौ मध्यम । मर्मवधवैगुण्यकरणे दण्डपारुष्य विद्यात् ॥

यदि कोई वैद्य राजा को बिना सूचना दिये ऐसे रोगी की चिकित्सा करे जिसमें भय हो और चिकित्सा करते हुए रोगी मर भी जाय तो वैद्य को प्रथम साहसदण्ड दिया जाय। चिकित्सा के ही दोष से मृत्यु हो तो मध्यम साहसदण्ड दे। शरीर के किसी अंग का गलत आपरेशन करने से रोगी का अग नष्ट हो या अन्य हानि हो तो उसे दण्डपारुष्य में कहा उचित दण्ड दे। (कौ० अ० ४।१।८३)

सत्रहवाँ अध्याय

अन्य देशों की चिकित्सा के साथ आयुर्वेद का संबंध

किसी देश से दूसरे देश का सम्बन्ध जानने में भाषा का महत्त्व बहुत अधिक है। इसकी विशेषता तब से अधिक बढ गयी, जब से भाषाविज्ञान का गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ हुआ। भाषाविज्ञान से बहुत सी गुत्थियाँ सुलझ गयी हैं। इन्ही से हमको आज पता चलता है कि यूरोप में बोली जानेवाली भाषा का सम्बन्ध पूर्वी ईरानी तथा संस्कृत भाषा से था, दोनो भाषाएँ एक ही परिवार की है, इनके बोलनेवाले व्यक्ति पहले एक ही भाषा बोलते थे।

इस भाषा को बोलनेवालोका आदिम स्थान कैस्पियन सागर के उत्तर में माना जाता है, यहाँ के निवासी आर्य थे। इनकी दो शाखाएँ बनी, एक शाखा पूर्व की ओर बढी और दूसरी पश्चिम की ओर। पूर्व की ओर बढनेवाली शाखा ईरान होती हुई भारत में पहुँची और पश्चिम की ओर जानेवाली शाखा तुर्की, रूस होती हुई जर्मनी के आगे तक बढी।

इनमें ईरान और भारत पहुँचनेवाली शाखा की भाषा अवेस्ता और वेदो की भाषा है, पश्चिम में बढनेवालो की भाषा लैटिन और जर्मन है। संस्कृत भाषा लैटिन या जर्मन भाषा मे किस प्रकार बदली, इसे भाषाविज्ञान ने ढूँढ निकाला है। इस सम्बन्ध में ग्रासमन आदि ने कुछ सिद्धान्त बनाये है जिनसे स्पष्ट है कि इनका आदिस्रोत संस्कृत ही है। (यथा संस्कृत—पितर्, ग्रीक–पत्तर, लैटिन–पत्तर, अंग्रेजी—फादर। दन्त का टूथ, दुहिता का डॉटर, विधवा का विडो, माता का मदर, गौ से कौ, द्वि से टू, तनु से थिन।)

अवेस्ता की भाषा भी संस्कृत से बहुत मिलती है—जैसा कि गत प्रथम भाग में लिखा जा चुका है।

इससे स्पष्ट है कि एक ही जाति की ये दो शाखाएँ है। इस जाति की भाषा पहले एक थी, जो सम्भवत संस्कृत थी। पीछे से वर्ण परिवर्त्तन होने पर धीरे-धीरे पूर्व और पश्चिम की दो शाखाएँ बन गयी। इनमें पूर्व की शाखा में वेद का ज्ञान उत्पन्न

हुआ, यह ज्ञान कुछ अशो में अवेस्ता के वचनो के साथ भी मिलता है। पीछे क्रमश वैदिक ज्ञान वढता गया, जिसमे ऋग्वेद का ज्ञान सवसे पहले हुआ और अथर्ववेद का ज्ञान सवसे पीछे।

अथर्ववेद में मत्र और औपध रूप में दो प्रकार की चिकित्सा मिलती है। यह चिकित्सा जिस प्रकार से पूर्वी शाखा में मिलती है, उसी प्रकार पश्चिम शाखा में भी मिलती है। वहाँ भी मन्दिर के पुजारी रोगो या कष्टो को दूर करने के लिए मत्र प्रयोग करते थे, उनके देवालय चिकित्सास्थान थे। कैल्टिक जाति मे वैद्यक और धर्म का घनिष्ठ सम्वन्ध था। इनके धर्मगुरु ड्रुइड् चिकित्सक भी थे। इनकी चिकित्सा-पद्धति अथर्ववेद-विहित मत्र और औपध सम्वन्धी थी (काश्यप उपो पृ १४९)।

अथर्ववेद में रोगोत्पत्ति के कारण यातुधान कहे हैं (अथर्व १।७–१–७)। इसके सिवाय कृमि, देवग्रह विशेष, गुह स्कन्द आदि भी रोग के कारण वताये है (अथर्व २।३१।१–५)। इनको दूर करने के लिए मत्र-उपचार और औपध-उपचार दोनो का भैषज्य रूप में अथर्ववेद के अन्दर उल्लेख है। धीरे-धीरे मत्रोपचार कम होता गया और औपध-उपचार वढता गया। आज भी हमको कुछ ग्रन्थो मे मत्र-चिकित्सा मिलती है (चरक शा अ ८।३९, क अ ११४)। सर्पविप-चिकित्सा मे मत्र-प्रयोग होता था (क अ ५।९)।

असीरिया-वेवीलोनिया देश में भी प्राचीन काल में भारतीयो के समान अपवित्र पुरुप के साथ वोलने, सहवास करने अथवा उच्छिष्ट भोजन करने से रोगोत्पत्ति मानी जाती थी। रोगो को भूत-प्रेत-पिशाच आदि से भी उत्पन्न मानते थे, इनकी भयानक कल्पना थी। रोगनिवृत्ति के लिए जल आदि विशेप औपध का पान, विशेप ओपधि का धारण, रोगी को पाउडर आदि से ढाँपना, वृक्ष आदि के पत्तो से रोगी को झाडना, रोगकारक दुष्ट देवता के लिए वकरे, सूअर आदि की वलि देना, तान्त्रिक पद्धति के समान शत्रु के केश, नख, पैर की धूलि आदि को अभिमन्त्रित करके, उसकी प्रतिकृति वनाकर अपमार्जन करना, ऋग्वेद में मिलनेवाले भार्डूक देवता के समान मर्डूक देवता की उपासना से रोग परिहार आदि वहुत सी वातें, जो आथर्वण, तान्त्रिक आदि प्रयोगो के समान है, मिलती है। भोजन से पूर्व प्रात औपध सेवन, विरेचन की महिमा, तैल से विरेचन, लशुन का उपयोग, उदर रोग और मेहरोग में मूत्रपरीक्षा, कीडो से दाँत के रोग होना आदि वहुत सी वातो की भारतीय मत के साथ उसमें समानता है।

वैविलोनिया देश की चिकित्सा के विपय में दो विरोधी मत मिलते हैं, हैरोडोटस नामक विद्वान् का कहना है कि इस देश की चिकित्सा के लिए रोगियो को वाजार या

जनसमुदाय के बीच में ले जाने से प्रतीत होता है, इस देश में चिकित्सा की विशेष उन्नति नहीं थी। इनके विपरीत क्यायम्वल थोम्सन नामक विद्वान् ने ७०० ई० पू० के अर्बन नामक वैद्य का जो चित्र उपस्थित किया है, उससे पता चलता है कि बैबिलोनिया की चिकित्सा पर्याप्त उन्नत थी। हमूबर्न नामक राजा के समय राजनियम था कि विपरीत चिकित्सा करनेवाले शल्यचिकित्सक दण्ड के भागी होते थे। इसी ने लिखा है कि नेत्रचिकित्सा से रोगी ७–८ दिन में स्वस्थ हो जाते हैं, नासिकाव्रण के उपचार में बाहर होनेवाले रक्तस्राव को बन्द करने के लिए अन्त औषध दी जाती थी।

मिस्र देश के प्राचीन पेपर्यास्य त्वक्पत्र में १५० रोगों का उल्लेख है, एवर्स नामक त्वक्पत्र में ज्वर, उदर रोग, जलोदर, दन्तशोथ आदि १७० रोगों का उल्लेख मिलता है। इसी देश के बारहवें राजवंश के समय लिखी पुस्तक में किसी स्त्री के रजोविकार एवं अर्बुद आदि रोग तथा आजकल मिलनेवाले नेत्ररोगों के भेद लिखे हैं। नील नदी के आस-पास के प्रदेश को स्वास्थ्य के लिए उत्तम कहा गया है। असीरिया की तरह इस देश में भी भूत, पिशाच, प्रेत आदि से रोगों की उत्पत्ति मानी जाती थी। जार्ज फौवर्ट ने लिखा है कि इस देश के चिकित्सा ग्रन्थों में मंत्रों की अधिकता थी तथा धार्मिक पुरोहित ही चिकित्सक होते थे।

कैल्टिक जाति की चिकित्सा का भी धर्म के साथ बहुत सम्बन्ध था, इस जाति का ड्रूईड नामक धर्मगुरु ही चिकित्सक था। अथर्ववेद की भाँति इसमें भी मान्त्रिक और औषध चिकित्सा चलती थी।[1]

प्रश्न इतना है कि यह चिकित्सा भारत से वहाँ गयी अथवा उन देशों में स्वतः विकसित हुई है। आर्यों के विकास के लिए भाषाविज्ञान का मत ऊपर लिखा गया है। जिस प्रकार से मनुष्य में भाषा का विकास हुआ, क्या उसी प्रकार चिकित्सा का विकास होना स्वाभाविक नहीं? भाषा के विकास के लिए भाषाशास्त्रियों ने कुछ कल्पनाएँ की हैं, यद्यपि वे एक निश्चय पर नहीं पहुँचातीं, तथापि इतना स्पष्ट करती हैं कि भाषा का विकास स्वतः हुआ है, इसे किसी ने किसी से नहीं लिया।

यही बात चिकित्सा के सम्बन्ध में भी है प्रत्येक देश में चिकित्सा का प्रारम्भ स्वतः हुआ है, चूँकि उनकी कुछ अवस्थाएँ समान थीं, इसलिए कुछ अवस्थाओं में यह विकास समान रूप में हुआ है। बाद में परस्पर परिचय, सम्पर्क से इसमें सुधार या आदान-प्रदान भले ही हुआ हो। जैसा कि अत्रिपुत्र ने कहा है—

---

१. काश्यप संहिता, उपो. पृष्ठ १४७-१४९ के आधार पर

मेत (मेदा), पितरी (विदारी), सूक्ष्मेल (सूक्ष्मैला), प्रियङ्कु (प्रियंगु), विरङ्ग (विडङ्ग), उपद्रव (उपद्रव), खादिर (खदिर), मोतर्त्त (अजमोदा), कोरोशा (गोरोचना), सुमा (सोम)।

ये शब्द कूच जाति मे भारतीयो के सम्पर्क के वाद गये होगे, जिस प्रकार कि भारत मे अजवायन की एक जाति का नाम पारसीक यवानी है, जिसका अर्थ है ईरान की अजवायन। अजवायन का नाम सस्कृत में यवानी है, जो कि यवन शब्द का ही रूपान्तर है। चिकित्सा के द्रव्यो का एक देश से दूसरे देश में आदान-प्रदान होता था। किसी देश मे कोई द्रव्य चिकित्सा में उपयोगी था, किसी देश मे दूसरा द्रव्य वरता जाता था।

कूच या शक जाति का सम्बन्ध भारत के साथ बहुत प्राचीन है। चीन भारत का पडोसी देश है, शको का आक्रमण ईसा पूर्व इधर से ही भारत में हुआ था। १६५-१६० ई० पूर्व में घुमक्कड जातियो मे से युहुची जाति की शको के साथ टक्कर हो गयी थी। शक नर दरिया के उत्तर में बसे हुए थे और इस टक्कर से टूटकर इनको दक्षिण की ओर बिखर जाना पडा। शको ने अपनी शक्ति सग्रह करके ग्रीक सामन्तो के बसाये हुए राज्यो पर (वैक्ट्रिया और पार्थिया पर) आक्रमण किया। इस आक्रमण में वे कावुल तक पहुँचे। कावुल मे आकर इनको रुकना पडा। वैक्ट्रिया मे वल्ख और वल्ख से वाह्लीक राज्य वना, जहाँ के वैद्य का नाम काकायन था। इस वैद्य को चरकसहिता, नावनीतक और काश्यप सहिता मे 'कांकायनो वाह्लीक भिषक्' नाम से स्मरण किया है। इसने चरकसहिता म पुनर्वसु आत्रेय के साथ वार्त्ता-कथा मे विचारविनिमय, पक्षस्थापन किया है, इसीके नाम से 'काकायन गुटिका' प्रसिद्ध है। इस प्रकार से दोनो देशो में विचार परिवर्तन तथा औषध परिवर्तन होना स्वाभाविक था। परन्तु यह स्थिति बहुत पीछे की है। इससे पूर्व सिकन्दर का आक्रमण भारत पर हो चुका था, सैल्युकस का दूत मेगस्थनीज पाटलिपुत्र में कई वर्ष रह चुका था, उस समय विदेशियो का सम्पर्क स्थापित हो गया था। इसलिए इन शब्दो का महत्त्व आदि काल के सबध मे विशेष नहीं, जब हम देखते हैं कि अवेस्ता की भाषा तथा विचार ऋग्वेद से वहुत मिलते है, अवेस्ता में आये वेषज, भिजिष्क, माथु शब्द भेषज, भिषक्, मत्र शब्दो के ही रूपान्तर हैं। ये शब्द भारत मे वहाँ पहुँचे, इसकी अपेक्षा इनको भाषाविज्ञान के नियम से एक ही भाषा-श्रेणी के शब्द मानना उचित है, ईरानी और सस्कृत दोनो भाषाएँ पूर्वी शाखा से सम्वद्ध हैं। चिकित्साज्ञान का लेन-देन होने से पूर्व भाषा का विनियम आवश्यक है। भाषाविज्ञान के विद्वान् इस विषय में किसी देश को किसी दूसरे का ऋणी

नही मानते। यह सम्भव है कि कुछ शब्द दूसरी भाषा के उस भाषा में आ गये है (जैसे हिन्दी में फ्रासीसी के कनस्तर, मेज, टेबल, अरवी के सिफारिश आदि शब्द आ गये है)। इसका यह अभिप्राय नही कि यह भाषा उस भापा से विकसित हुई है। इसी प्रकार चिकित्साकर्म-विपयक समानता या कुछ औपवियो के नामो की समानता देखने से एक देश को दूसरे देश की चिकित्सा का ऋणी मानना तव तक उचित नही, जव तक कि इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण या आवार नही मिलता। जैसा कि ८वी शती के अरव के खलीफा के समय भारतीय चिकित्सको के अरव जाने से पता लगता है।

ग्रीक तथा भारत की चिकित्सा में समानता—यूनानी और भारतीय चिकित्सा में जो अत्यधिक समानता है, वह भी इसी वात को वताती है कि दोनो देशो मे चिकित्सा का विकास भापा के समान स्वत हुआ है। दोनो देशो में त्रिदोपसिद्धान्त—वात, पित्त, कफ से रोगोत्पत्ति मानी गयी है। वात, पित्त, कफ का नाम वेद मे भी है।[1] ग्रीक ग्रन्थकार डी ओस्कोर्डीस और उससे पूर्ववर्ती ग्रन्थकारो के औपघशास्त्र मे भारतीय तत्त्व ढूंढे जा सकते है, उदाहरण के लिए—पिप्पली, पिप्पलामूल, कुप्ठ, इलायची, तज (त्वक्), सोठ, वच, गुग्गुल, मोथा, तिल आदि भारतीय औपधियाँ ग्रीक देश के चिकित्साशास्त्र में वरती जाती थी।

ग्रीक और प्राचीन आयुर्वेद के वीच में बहुत समानता है। परन्तु इस समानता का आधार क्या है, यह निश्चय करना कठिन है। इन दोनो देशो की चिकित्सा में जो समानता है, उसे डाक्टर जौली ने अपनी पुस्तक "इण्डियन मेडिसिन" में दिखाया है। हिपोक्रेट की प्रतिज्ञा, जो कि आज भी मेडिकल कालेजो में चिकित्सको को दी जाती है, चरक सहिता के शिष्य-अनुशासन से वहुत अधिक मिलती है।[2] दोनो चिकित्साओ में दोपवाद, दोपो की विपमता से रोगोत्पत्ति, ज्वर की आम, पच्यमान और पक्व ऐसी तीन अवस्थाएँ, शोथ की तीन अवस्थाएँ, अपचार क्रम में शीत, उष्ण तथा रुक्ष और स्निग्ध, पिच्छिल आदि विभाग, रोगो के लिए इनसे विपरीत गुणवाले उपचारो को वरतना, साध्यासाध्य ज्ञान का महत्त्व, चिकित्सक के लक्षण, गुरु के पास शिष्य की प्रतिज्ञा, चिकित्सक के आचार का आदर्श, मद्य का सेवन धर्म मे निपिद्ध

---

१ वात, पित्त, कफ के लिए वैदिक मन्त्र—अथर्व १०।२।१३, अथर्व १८।३।५, अथर्व १।२४।१, अथर्व ४।९।८, अथर्व ५।२२।११-१२, अथर्व. ६।१२७।१देखिए।

२. देखिए लेखक की क्लिनिकल मेडिसिन का प्रथम भाग ८।१८।२४

होने पर भी चिकित्सा मे उसका व्यवहार, चातुर्थक, तृतीयक, अन्येद्युष्क आदि ज्वरो के भेद, क्षय रोग का वर्णन, हृदय के रोगो का वर्णन न होना (आयुर्वेद मे पाँच हृदय-रोग कहे है, इनका उल्लेख चरक सू अ १७।२७–२९ मे है), मिट्टी खाने से पाण्डु-रोग का होना, गर्भविक्रान्ति का वर्णन, गर्भ मे बच्चे के अगो का एक साथ बनना, बीज के विभाग से जुडवाँ सन्तान का पैदा होना, गर्भवती स्त्री के दक्षिण पार्श्व मे उत्पन्न लक्षण पुरुषसन्तान तथा वाम पार्श्व के लक्षण कन्या के सूचक मानना, आठवे मास में उत्पन्न गर्भ का जीवित न रहना, मृत गर्भ को बाहर निकालने की विधि, अश्मरी में शस्त्र कर्म, अर्श चिकित्सा, शिरावेध, जलौका लगाने की विधि (जलौका वर्णन में यवन क्षेत्र का उल्लेख "तासा यवनपाण्ड्यसह्यपौतनादीनि क्षेत्राणि"—सु सू अ १३।१३, इसमे पाण्ड्य और सह्य दक्षिणी देश है, यवन देश से कुछ लोग ग्रीक लेते है। सुश्रुत मे यवन शब्द म्लेच्छ देश के लिए आया होगा), दाह क्रिया, यत्र-शस्त्रो का रूप-आकार, आँख के ऊपर शस्त्रकर्म करते समय दक्षिण आँख के लिए वाम हाथ, वाम आँख के लिए दक्षिण हाथ का उपयोग आदि बहुत सी समानता दिखाई पडती है।

आयुर्वेद में त्रिदोषवाद का विकास साख्यशास्त्र के त्रिगुणवाद से हुआ है। वेद से इस विकास का सम्बन्ध जोडना उचित नही लगता। यदि वेद से इस सिद्धान्त का विकास भारत मे माना जाय तो ग्रीस मे इसे स्वतत्र रूप में विकसित समझना चाहिए। ज्योतिष विद्या में जैसे यवनो-म्लेच्छो का ऋण स्वीकार किया गया है, ऐसा ऋण वाग्भट के सिवाय (जैसा कि सग्रह मे पलाण्डु वर्णन मे 'शको के प्रिय' उल्लेख से स्पष्ट है) आयुर्वेद ग्रन्थो ने नही माना।[1] 'भारत में जैसे यह सिद्धान्त स्वतन्त्र विकसित हुआ उसी प्रकार ग्रीस मे भी होना सम्भव है।

इतिहास यह भी बताता है कि टीसीयारस (४०० ई० पू०) और मेगस्थनीज (३०० ई० पू०) भारत में आये थे। मेगस्थनीज भारत मे पर्याप्त समय तक रहा था, वह सैल्यूकस का राजदूत था और चन्द्रगुप्त के दरबार मे रहता था। मेगस्थनीज ने पूर्व सिकन्दर का आक्रमण भारत में हो चुका था। आक्रमण के समय होनेवाली चोटो और व्रणो की चिकित्सा भी उस समय ग्रीक में किसी रूप मे होना स्वाभाविक है। विशेष कर जब हम देखते है कि साँप के काटे हुए व्यक्तियो की चिकित्सा मे उन्होने

---

१. म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिद स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैववद् द्विजः॥ बृ. स. २।१४

भारतीयो से मदद ली थी, साथ ही अपने चिकित्सको को उसने उनसे विद्या सीखने के लिए कहा था (काश्यप उपो पृष्ठ १८७ की टिप्पणी)।

इनसे इतना स्पष्ट है कि भारतीय चिकित्सा उस समय कुछ अशो में ग्रीक की चिकित्सा से श्रेष्ठ थी, जिस प्रकार कि यहाँ लोहा बनाने की प्रक्रिया विशेष स्थान रखती थी। यह विकास परस्पर सम्पर्क का कारण है, जब दो जातियाँ, दो मनुष्य मिलते है, तब उनमे भाषा, विद्या, विचारो का परस्पर आदान-प्रदान होना स्वाभाविक है। इनमें कुछ बाते एक दूसरे से परस्पर सीखते है, इसका यह अभिप्राय कभी नही होता कि सम्पूर्ण विद्या का विकास-मूल उस देश से वहाँ पहुँचा। यह तो लेन-देन, परस्पर विनिमय ही है।

हिपोक्रिट्स—पाश्चात्य ग्रीक वैद्यक में प्रधान आचार्य के रूप में हिपोक्रिट्स का नाम मिलता है। इनका जन्म कास नामक स्थान में ४६० या ४५० ई० पू० में हुआ था। इसने अपने पिता तथा हिरोडिकस से विद्या पढी थी। विद्याध्ययन के लिए यह दूर देशो में गया था। इसकी आयु के सम्बन्ध में मतभेद है, कुछ लोग ८५ वर्ष और कुछ एक सौ वर्ष की आयु मानते है। प्लेटो नामक विद्वान् (४२८–३४८ ई० पू०) ने हिपोक्रिट्स की भैषज्यविद्या का उल्लेख, उसके अध्यापन के सम्बन्ध में अपने प्रोटागोरस ग्रन्थ तथा दर्शन विषयक ग्रन्थ फेड्रस में दो बार किया है। टिमियस नामक इन्द्रिय-विज्ञान विषयक ग्रन्थ मे उसने इसका नाम नही लिखा।[1]

हिपोक्रिट्स के नाम पर कई ग्रन्थ मिलते है, विद्वानो का उनके विषय में एक मत नही है, वे इन सबको हिपोक्रिट्स के लिखे नही मानते, क्योंकि इनमें से बहुतो मे परस्पर विरोधी बातें बहुत है। ये ग्रन्थ छोटे तथा एक एक विषय का वर्णन करनेवाले है। ग्यालन ने (१३०–२०० ईसवी) हिपोक्रिट्स के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थो का विवरण दिया है, उसको भी जो ग्रन्थ मिले वे भी हिपोक्रिट्स नाम के रूपान्तर ग्रन्थ ही थे। उपलब्ध ग्रन्थो मे बहुत से एशियामाइनर में मिले है और एक या दो ग्रन्थ सिसली मे मिले है, ग्रीस मे कोई ग्रन्थ नही मिला।

ऐसा ज्ञात होता है कि हिपोक्रिट्स के सम्प्रदाय का प्रचार अपनी जन्मभूमि में विशेष नही हुआ, जो कि स्वाभाविक है। क्योंकि विद्वान् को आदर प्राय अपने देश से दूर ही मिलता है, इसी से वहाँ के लोग भैषज्य विद्या सीखने के लिए मिस्र गये। हिपोक्रिट्स के पीछे ३८२–३६४ ई० पू० में यूडाक्सस नामक विद्वान् द्वारा मिस्र में

---

१ काश्यप सहिता, उपोद्‌घात—पृष्ठ १६१ के आधार से

जाकर १५ मास तक हेलियोपोलिस् नामक स्थान के एक भिषक् पुरोहित से भैषज्य विद्या के अध्ययन का वर्णन इतिहास मे मिलता है।

हिपोक्रिट्स को कुछ कारणों से अपना जन्मस्थान स्नोट्न या मतान्तर में काम स्थान छोड़ना पड़ा था। इसके तीन कारण समझे जाते हैं, १ उसे स्वप्न मे इलहाम हुआ कि उसे बाहर जाना चाहिए, २ ज्ञानवृद्धि की उनकी प्रबल चाह उसे अपने देश से बाहर ले गयी, ३ उस पर यह इल्ज़ाम लगा कि उसने निडिया के पुस्तकालय को इसलिए जलाया कि कोई दूसरा इनका उपयोग करके विद्वान् न बन सके। उसे अपने स्थान में रहकर अपने प्रचार की सुविधा नही थी, जो कि स्वाभाविक है।

ग्रीक तथा भारत की चिकित्सा में समानता

दोनों चिकित्साओं मे त्रिदोषवाद की समानता है, इसको देखकर कुछ विद्वान् वहाँ से भारत में इसका आना मानते हैं, जो कि पूर्णत हास्यमय है। भारतीय वात-पित्त-कफ का रूप चन्द्रमा, सूर्य और वायु के विसर्ग, आदान और विक्षेप का रूपान्तर है।[१] इन तीनों का आधार सांख्य का त्रिगुणवाद है, जो कि भारत की अपनी उपज है। पाश्चात्य विद्वान् भी त्रिधातुवाद को ग्रीस की उपज न मानकर मिस्र देश के मेन्फू सम्प्रदाय की वस्तु मानते हैं।

पाञ्चभौतिक और चातुर्भौतिक वाद दोनों का उल्लेख आयुर्वेद शास्त्र में मिलता है।[२] ग्रीस में भी ये दोनों वाद मिलते हैं। हिपोक्रिट्स ने चातुर्भौतिक वाद को एक-पक्षीय मानकर उसका खण्डन किया है। सबसे प्रथम एम्पिडोक्लिस ने चातुर्भौतिकवाद को जन्म दिया था (४९५–४३५ ई० पू०)। एम्पिडोक्लिस का ईरान, भारत आदि

---

१. विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद् देह कफपित्तानिलास्तथा॥ सु सू. अ. २१।८

२. अस्मिन् शास्त्रे पचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानम्। सु. सू. अ. १।२२

शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्।
पचभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते॥ चरक. शा. अ. १

चातुर्भौतिकवाद—भूतैश्चतुर्भिः सहितः स सूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।
चरक. शा. अ. २।३१

चत्वारि तत्रात्मनि संश्रितानि स्थितस्तथाऽऽत्मा च चतुर्षु तेषु॥
चरक. शा. अ. २।३३

समीप के देशो मे जाना, वहाँ दार्शनिक विषयो का ज्ञान प्राप्त करना, ग्रीस में दार्शनिक विषयो का प्रचार करना सिद्ध होता है। हिपोक्रिट्स ने इस वाद का खण्डन किया है, उनके मस्तिष्क मे उस समय पाचभौतिक वाद ही था। भारत का पाचभौतिक वाद भी साख्यदर्शन पर आश्रित है। आकाश को छोडकर शेष चार भूतो के द्वारा शरीर निर्माण की कल्पना भी भारतीय ही है। आकाश तत्त्व शेष चारो भूतो मे व्याप्त रहता है, बहुत सूक्ष्म है, इसलिए उसको छोड भी दिया है।

आयुर्वेद में दन्तरोगो को पैत्तिक भी माना है (सु चि अ १६।३४)। हिपोक्रिट्स ने दन्तशोथ और दन्तवेष्टन रोग को पित्त का दोष माना है।[1] हिपोक्रिट्स की मैटेरिया मेडिका (निघण्टु) मे जतनमासी (जटामासी), जिञ्जीबेर (शृगवेर), पिपर निगुम (मरिच व पिप्पली), पेपरी (पिप्पली), पेपेरिस रिजा (पिप्पली मूल), कोस्तम (कुष्ठ), कर्दमोमोस (कर्दम), सकरन (शर्करा) आदि शब्द भारतीय नामो के स्पष्ट द्योतक है।

हिपोक्रान नामक योगौषधि (दीपक और हृद्य पेय—जिसमे दालचीनी, अदरक आदि मसाले और शर्करा एव शराब है) में भारतीय औषधियो का मिश्रण रहता है। इनमे मद्य को यदि छोड दे तो यह ग्रीष्म ऋतु मे उत्तर प्रदेश मे दिया जानेवाला आम का पानक-पन्ना अथवा पजाब का गुडम्बा प्रतीत होता है। थियोफ्रेस्टस विद्वान् (३५०ई०पू०) ने फार्डकम इण्डिका नामक औषधि में इण्डिका शब्द जोडा है, जिससे स्पष्ट है कि यह औषधि भारतीय है। भारत से बहुत-सी औषधियाँ ग्रीस मे जाती थी।

एम्पीडोक्लिस के ईरान जाने तथा भारत के पास तक पहुँचने का उल्लेख मिलता है, भारत में आने का उसका कोई भी प्रमाण नही। इसी प्रकार हिपोक्रिट्स के भारत में पहुँचने का कोई सबूत नही, यद्यपि गोडल के राजा भगवत्सिहजी ने अपने इतिहास के पृष्ठ १९० मे कुछ विद्वानो की सम्मति मे हिपोक्रिट्स के भारत पहुँचने का उल्लेख किया है।

प्रथम डेरियस नामक राजा के समय (५२१ ई० पू०) डेमोक्रिट्स नामक यूनानी चिकित्सक का ईरान देश में आने का उल्लेख मिलता है। उसका समय हिपोक्रिट्स

---

१ आयुर्वेद में पित्तजन्य दन्तरोगो का उल्लेख पृथक् रूप से अन्य रोगो की भाँति मुझे नहीं मिला, उपकुश रोग में जरूर पित्तदोष का उल्लेख है,—"यस्मिन्नुपकुश स स्यात् पित्तरक्तकृतो गद ॥ सु नि० अ १६।२३। राजगुरुजी ने किस आधार पर लिखा यह स्पष्ट नहीं।

से पहले होने के कारण उसकी चिकित्सा पर इसका प्रभाव नहीं माना जा सकता। हिपोक्रिट्स के बाद टेरियस नामक व्यक्ति अर्दशीर मेनून राजा (४०४-३५९ ई० पू०) के पास ईरान में आया था। चतुर्थ शताब्दी (ईसा पूर्व) के उत्तरार्द्ध में मेगस्थनीज भारत आया था। मेगस्थनीज काफी समय तक भारत मे रहा था। उसने भारतीय चिकित्सा की प्रशंसा तथा इसके द्वारा विदेशियों की चिकित्सा का उल्लेख किया है। इसने अपनी पुस्तक इण्डिका में भारत के सम्बन्ध मे जहाँ यहाँ के जलवायु, पशु-पक्षी, रीति, रहन-सहन आदि का उल्लेख किया है, वहाँ भारतीय चिकित्सा के सम्बन्ध में यहाँ की वनस्पतियो का, शिरोरोग, दन्तरोग, नेत्ररोग, मुखव्रण, अस्थिव्रण का भी निर्देश किया है।

हिपोक्रिट्स से पूर्व ग्रीस मे तीन चिकित्सा-सम्प्रदाय थे। इनमें पाइथागोरस के समकालीन डेमोकेडिस आदि विद्वान् वैद्य थे। ये सम्प्रदाय हिपोक्रिट्स से एक सौ वर्ष पूर्व थे। सूसा नगर के कारागार में दासों के साथ बन्दी हुए डेमोकेडिस द्वारा घोडे से गिरने के कारण टूटी हुई ईरान के राजा की टाँग को विना शस्त्र-उपचार के यथास्थान जोड देने का उदाहरण मिलता है। सम्भवत यह सन्धिभ्रंश हुआ होगा, जिसे आज भी सामान्य जन देहातो में ठीक करते हैं, अथवा टूटी हुई अस्थि को भी विना शस्त्रकर्म के बहुत से जोड देते हैं।[1]

मिस्र मे भारतीय सभ्यता से मिलनेवाले बहुत चिह्न पाये गये हैं। मिस्र की सभ्यता भारतीय सभ्यता के समान प्राचीन समझी जाती है। इसलिए उस देश के ज्ञान की छाप ग्रीस पर पडना स्वाभाविक है। ग्रीस में चिकित्साविज्ञान मिस्र से गया है।

प्राचीन मूल आर्य शाखा की पश्चिम शाखा का प्रसार मिस्र की ओर और पूर्वी शाखा का ईरान की ओर हुआ था। यही पश्चिम शाखा मिस्र से ग्रीस मे फैली। ग्रीस के प्राचीन महाकवि होमर ने अपने ओडिसी नामक ग्रन्थ मे देव-बल से ही रोगों की उत्पत्ति तथा देवता की प्रसन्नता—जप, यज्ञ, मन्त्र आदि से रोगो की निवृत्ति लिखी है। इसके ईलियड् नामक ग्रन्थ मे शस्त्र चिकित्सा की थोडी सी झलक मिलती है। ग्रेमर के मतानुसार वह भी वहाँ बेबीलोनिया के प्रभाव से आयी प्रतीत होती है। इसके दोनों ग्रन्थों मे रोगनिवृत्ति के लिए कही भी औषधियों के अन्त प्रयोग का उल्लेख नहीं, रोगनिवृत्ति देवता के प्रसाद या मन्त्र से ही लिखी है।

---

१. इससे चिकित्सा की उन्नति या अवनति का निश्चय नहीं किया जा सकता; ये बातें सब देशो में सामान्य बुद्धि से बरती जाती है।

दोरोथिया चैपलिन ने अपनी पुस्तक "सम एस्पैक्ट्स एंड हिन्दू मेडिकल ट्रीटमेन्ट" (पृ० ७–८) में लिखा है कि "हमें अपनी चिकित्सापद्धति अरब के द्वारा हिन्दुओं से मिली है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में ऐसे कोई नाम नहीं मिलते जो विदेशी भाषा से लिये प्रतीत हों। १७वीं सदी तक यूरोपीय चिकित्सा भारतीय चिकित्सापद्धति के ऊपर आधारित थी। भारतीय आयुर्वेदिक और यूरोपीय शरीर रचना विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है।"

तुलना कीजिए—शिरोब्रह्म के लिए सैरीब्रम, शिरोविलोन के लिए सैरीबेलम, हृत् या हृद् के लिए हार्ट, महाफल के लिए मैग्नावेला, महा के लिए मैग्ना। इनमें भारतीय शब्दों की छाया लैटिन के शब्दों पर है, परन्तु लैटिन के शब्दों की छाया भारत के चिकित्सा सम्बन्धी शब्दों पर नहीं मिलती।

पाइथागोरस नामक विद्वान् ५८२–४७० ई० पू० ग्रीस में हुआ था। पोकाक तथा श्रोडर आदि विद्वानों ने पाइथागोरस का भारत में आगमन तथा भारत से आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयों का ग्रहण करना तथा ग्रीस में उनके प्रचार करने का उल्लेख किया है। पाइथागोरस के दर्शन और भारतीय दर्शन में बहुत कुछ समानता है। पाइथागोरस के सम्प्रदाय में रोग निवृत्ति के लिए औषधियों के प्रयोग की अपेक्षा पथ्य तथा आहार विहार के नियमों पर विशेष ध्यान दिया जाता था। यदि औषधियों का प्रयोग किया भी जाता था तो अन्त प्रयोग की अपेक्षा यथाशक्ति लेप आदि बाह्य उपचारों को महत्त्व दिया जाता था। पाइथागोरस के कुछ खास शिष्यों ने, जो कि संख्या में तीन सौ के लगभग थे, एक प्रकार की प्रतिज्ञा से अपने को पाइथागोरस के साथ परस्पर दृढ सम्बन्ध से बाँध लिया था। इस सम्बन्ध के रूप में उन्होंने विशिष्ट आहार, कर्मकाण्ड और व्रत लिये थे। पाइथागोरस के समय मिस्र में चिकित्सा की इतनी उन्नति थी कि वह एक जिज्ञासु यात्री का ध्यान खींच सके। उनके सिद्धान्तों का श्रेणीकरण और विभाजन हो चुका था। चिकित्सा व्यवसाय के नियम निर्धारित हो गये थे। औषध विज्ञान और शल्य चिकित्सा में जब पाइथागोरस के शिष्य मिला का दामाद डेमोक्रेड्स प्रसिद्ध हो रहा था, तब पाइथागोरस क्रोटन में विद्यमान था। डेमोक्रेड्स को पाइथागोरस ने अपने शिष्य रूप में स्वीकार किया था। पाइथागोरस भैषज्य विज्ञान का आदर करनेवाला, ज्ञाता तथा प्रवर्तक प्रतीत होता है।

सिकन्दर के द्वारा भारतीय ज्ञान का प्रसार—सिकन्दर का आक्रमण भारत पर ३३० ई० पू० हुआ और वह भारत से ३२६ ई० पू० में वापस लौटा। इन चार सालों के समय में उसे यहाँ की सभ्यता, विज्ञान आदि बातों की अच्छी जानकारी मिल गयी

थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय तक्षशिला समृद्ध और विद्या का केन्द्र था, यहाँ पर दूर दूर से भारतीय एवं विदेशी विद्याभ्यास के लिए आते थे। एरियन का कहना है कि मूषिक देश के निवासी दीर्घजीवी (१३० वर्ष) होते थे। उनकी इस दीर्घायु का कारण उनका परिमित आहार था, अन्य विद्याओं की अपेक्षा वैद्यक विद्या में ये अधिक रुचि रखते थे।

सिकन्दर की सेना में यद्यपि अनेक कुशल चिकित्सक थे, परन्तु वे सर्पविष चिकित्सा करने में असमर्थ थे। निर्याकिस के अनुसार सर्पविष की चिकित्सा के लिए सिकन्दर ने अपनी सेना में भारतीय चिकित्सक रखे थे और यह घोषणा कर दी थी कि सर्पविष की चिकित्सा उसकी सेना में होगी। ये चिकित्सक अन्य रोगों की चिकित्सा भी करते थे।

इसके बाद अशोक ने अपने राज्य तथा भारत के पड़ोसी यवन राजाओं के राज्य में मनुष्य और पशुओं की चिकित्साव्यवस्था की थी। इस प्रसंग में अन्तियोक यवनाधिपति, मग तथा अलीकसुन्दर आदि यवन राजाओं का भी नाम आया है। यवन शब्द ग्रीस वालों के लिए प्राचीन साहित्य में प्रचलित था।

ग्रीस तथा भारत का प्राचीन सम्बन्ध—सिकन्दर के समय से भारतीयों का सम्पर्क ग्रीस देशवासियों के साथ स्थापित हुआ—इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं। इससे पहले के विषय में सन्देह हो सकता है। यह सम्पर्क चिकित्सा के विषय में भी था—जैसा कि सिकन्दर की सेना में साँप काटने की चिकित्सा से स्पष्ट है। भारतीय वैद्यों द्वारा काम में लायी जानेवाली बहुत सी वस्तुओं का नाम हिपोक्रिट्स, डिओसकोराइडीज तथा ग्यालन के लेखों और पुस्तकों में मिलने से इस बात की पुष्टि होती है।[1]

---

१ निर्याकस ने लिखा है कि सर्पदंश की चिकित्सा यूनानी नहीं जानते थे। भारतीय वैद्य इसे अच्छी प्रकार जानते थे। एरियन ने लिखा है कि यूनानी लोग अस्वस्थ होने पर ब्राह्मणों से चिकित्सा कराते हैं और वे प्रत्येक साध्य रोग की अद्भुत और दैवीय विधि से चिकित्सा करते हैं।

डायसोइस (प्रथम शती ई० पू०) प्राचीन द्रव्यगुण-विज्ञान का सबसे प्रथम लेखक था। डा० रायल ने अपने निबन्ध में लिखा है कि यह भारतीय द्रव्यगुण-विज्ञान का अत्यधिक ऋणी था। थियोफ्रेस्टस (तीसरी शती ई० पू०) पर भी यह बात लागू होती है। क्लासियस (५वीं शती ई० पू०) के लेखों में भी भारतीय द्रव्यों का विवरण मिलता है। (काश्यप संहिता, उपो० पृष्ठ १९३ की टिप्पणी)

हिपोक्रिट्स ने अन्य देशो की प्रक्रियाओ तथा चिकित्सा सम्बन्धी विषयो का निरीक्षण किया, अपने विचारो तथा अनुभवो से उसे काट छाँटकर एक नये रूप में सिलसिलेवार उपस्थित किया। इसलिए वह पाश्चात्य चिकित्सा का पिता कहा जाता है। हिपोक्रिट्स के ग्रन्थो में जो विषय दिये गये है, वे सम्भवत उसके परिष्कृत विचार हैं, उसकी अपनी सूझ है और शायद भारतीय विचारो की भित्ति पर खडे हो, यह निश्चित नही कहा जा सकता। परन्तु इतना अवश्य निश्चित है कि दोनो देशो के परस्पर सम्पर्क से विचारविनिमय होने पर भारतीय चिकित्सा का प्रभाव ग्रीस चिकित्सा पर भी पडा था।

हिपोक्रिट्स के ग्रन्थो में शारीरिक अन्त -ज्ञान बहुत कम मिलता है, उसके लेखो से पता चलता है कि उसे शिरा, धमनी, अस्थि आदि का शरीररचना-सम्बन्धी ज्ञान नही था। जो थोडा बहुत ज्ञान मिलता है, उसका आधार मिस्र का ज्ञान माना जाता है। प्राचीन काल में शारीरशास्त्र का कोई ग्रन्थ नही था। ग्रीस मे मृत शरीर को चीरकर देखने का निश्चित प्रमाण ईसवी पूर्व तीसरी शती में मिलता है, जब कि सिकन्दरिया के हिरोपीलोस तथा इरेसीस्ट्रेटोस सम्प्रदाय के लोगो ने इसे किया था। इसके साथ जीवित शरीर को भी चीरकर देखने का पूरा प्रमाण मिलता है। परन्तु हिपोक्रिट्स के समय शवच्छेद होने का प्रमाण नही मिलता। ४०० ईसवी पूर्व टीसियस भारत में आया था, और पाँचवी-छठी शती ईसवी पूर्व जो शारीरिक ज्ञान धान्वन्तर सम्प्रदाय के वैद्यो के पास होने का प्रमाण वैदिक (शतपथ ब्राह्मण) तथा अन्य साहित्य में मिलता है, और जिसकी पुष्टि चरक-सुश्रुत से होती है, उसे देखते हुए हार्नले की सम्मति से ग्रीस को भारतीय चिकित्साशास्त्र का ऋणी मानने में कोई सन्देह नही रह जाता। साथ ही यह भी नही कह सकते कि हिपोक्रिट्स के अनुयायियो को शवच्छेद का परिचय बिल्कुल नही था, और यदि था, तो यह भी सम्भव है कि शरीर-शास्त्र-सम्बन्धी बहुत-सी समानताएँ मिल गयी हो। ग्रीस वैद्यकशास्त्र में आयुर्वेद की अस्थिगणना नही मिलती, इसलिए दोनो की तुलना करने का कोई साधन नहीं, यह भी हार्नले ही कहता है। हार्नले ने विस्तार से बताया है कि टेलमुद का जो शारीरज्ञान है, वही यदि ग्रीस में हिपोक्रिट्स सम्प्रदाय का शारीरज्ञान हो, तो आयुर्वेदीय और टेलमुद के ज्ञान में अस्थिगणना के अन्दर बहुत भेद है। परन्तु पहली शती ईसवी पूर्व की अस्थिगणना का उल्लेख करते हुए केल्सस ने पादकूर्चास्थि और पाणिकूर्चास्थि के विषय में कहा है कि इनमें अनिश्चित सख्या की बहुत-सी छोटी-छोटी अस्थियाँ होती है, परन्तु देखने में वे एक प्रतीत होती हैं। पैर की

अंगुलियो मे पन्द्रह सन्धियाँ होने की बात टेल्मुद के ग्रीस शारीरज्ञान और सुश्रुत के शारीरज्ञान मे एक समान है।[1]

गन्धार देश की मूर्तिकला मे भारतीय मूर्तिकला से एक बहुत बडा अन्तर पाया जाता है। उसमे (जिसका कि विकास कनिष्क के समय ईसवी प्रथम शती के आस पास हुआ है) अगो के सौष्ठव, मासपेशी के विकास, उनकी नग्नता तथा उसके ऊपर बारीक वस्त्र की झाँकी मिलती है। अग प्रत्यगो का गठन, उनका सौन्दर्य जिस प्रकार से हमको इस कला मे मिलता है, वैसा भारतीय प्रस्तरकला मे नही दीखता। अगो का सुन्दर विकास, मासपेशियो को पृथक् दिखाना जहाँ बाह्य दिखाव से सम्भव हो सकता है, वहाँ उसके प्रारम्भिक ज्ञान मे शरीर के अन्त ज्ञान का होना भी आवश्यक सिद्ध होता है।

प्राचीन मिस्र में चिकित्साविज्ञान—ग्रीस देश के चिकित्साज्ञान का स्रोत मिस्र देश की इस विद्या को माना जाता है। मिस्र मे यह ज्ञान अपने आप अंकुरित हुआ अथवा किसी अन्य देश से अनुप्राणित हुआ, इस पर विचार करना है।

भारत और मिस्र का सम्बन्ध बहुत प्राचीन है, दक्षिण भारत मे समुद्री मार्ग से विदेशी प्रभाव सदा छनकर आता रहा और शान्तिमय व्यापारिक सम्पर्क भी चलता रहा है। पहले मिस्र और बावेरु (बेबीलान) से, और बाद मे रोम राज्य के साथ यह सम्पर्क था। कुछ भारतीय वस्तुएँ, जैसे नील, इमली की लकडी, मलमल, जिसमे ममी लपेटी जाती थी, मिस्र की समाधियो मे मिली है। एक लूट के माल मे, जिसे मिस्र के फरओह जहाज मे भरकर ले गये थे, हाथीदाँत, सोना, कीमती रत्न, चन्दन और बन्दर शामिल थे, वह भारत से गया था। कुछ विद्वानो के विचार से बाइबिल मे भी भारत के साथ प्राचीन व्यापार के प्रमाण उन वस्तुओ के नामो के रूप मे मिलते है, जो उस समय केवल भारत ही विदेशो को भेजता था। जैसे बहुमूल्य रत्न, सुवर्ण, हाथीदाँत, आबनूस की लकडी, मोर और मसाले, जो सुलेमान के जहाज पर लदे हुए व्यापारी माल का अग था। भारतीय सागौन की लकडी उर नामक राजधानी के अवशेषो मे मिली है, बावेरु की भाषा में मलमल का नाम 'सिन्धु' था। बावेरु जातक नामक पाली पुस्तक मे (लगभग ५०० ई० पू०) भारतीय व्यापारियो द्वारा बावेरु के बाजारो में मोर ले जाने का उल्लेख है। चावल, मोर और चन्दन जैसी विशिष्ट भारतीय वस्तुओ का ज्ञान यूनानियो को उनके भारतीय अर्थात् तामिल नामो से था। क्योकि भारत और

---

१ श्री दुर्गाशंकर केवलरामजी शास्त्री के 'आयुर्वेद का इतिहास' से उद्धृत

बावेरु के बीच का व्यापार ४८० ई० पू० में बन्द हो चुका था। इसलिए यह मानना पडेगा कि ये वस्तुएँ उनसे भी बहुत पहले भारत से बावेरु पहुँच चुकी थीं, जिनके फलस्वरूप वे ४६० ई० पू० के लगभग यूनान में पहुँच सकी और सोफोक्लीस (४९५-४०६ ई० पू०) के समय में, जिसने उनका उल्लेख किया है, एथेन्स नगरी में ये घरेलू वस्तुएँ बन गयी थीं। प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुसार इस समस्त प्राचीन व्यापार के मुख्य केन्द्र शूर्पारक (सोपारा) और भरुकच्छ (भरूच) नामक कोकण तट के दो प्रसिद्ध पत्तन थे (हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ ४८-४९)।

मिस्र और भारत के कुछ शब्दों में बहुत समानता है, यह दोनों देशवासियों को एक शाखा का सिद्ध करने में बहुत सहायक है—

भारत	मिस्र	भारत	बैबिलोन (बावेरु)
सूर्य (हरि)	होरस	सत्यव्रत	हस्सिसद्र
शिव	सेब	अहिहन्	ईहन्
ईश्वर	ओसिरस्	वायु	विन
प्रकृति	पल्त	चन्द्र	सिन
श्वेत	सेत		
मातृ	मेतेर	मरुत्	मतु
सूर्यवंशी	सूरियस्	दिनेश	दियानिसु
अत्रि	अत्तिस्	अप्	अप्सु
मित्र	मियु	पुरोहित	पटेसिन्
शरद्	सरदी	श्रेष्ठ	सेठ

(—काश्यपसंहिता—उपोद्घात)

भारत के समान मिस्र में लिंगपूजा, बैल का आदर और बैबिलोन में पृथ्वी की पूजा मिलती है।

ईरान के प्राचीन ग्रन्थ अवेस्ता में वेन्दिदाद नामक एक भाग है, इसमें भैषज्य सम्बन्धी विषय दिये हैं। इसमें सामा वंशोत्पन्न थ्रित नामक वैद्य का सर्वप्रथम नाम है। उसने रोगनिवृत्ति के लिए अपने अहुरोमज्दा नामक देवता की प्रार्थना करके सोम के साथ (चन्द्रमा के साथ) वृद्धि को प्राप्त करनेवाली दस हजार औषधियों को प्राप्त किया। हओम (सोम) वनस्पतियों का राजा था (तुलना कीजिए, १—पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः,—गीता—१५।१३, २—ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा। या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। ऋ० १०।९७।

१८-२२)। थ्रित नामक वैद्य, अथर्वन् तथा सहरवर से सिखाये गये रोगनिवृत्ति के उपायो तथा शस्त्रचिकित्सा द्वारा ज्वर, कास, क्षय आदि रोगो को दूर करने का भी उल्लेख मिलता है। अवेस्ता और वैदिक साहित्य के शब्दो में बहुत साम्य है।

इन समानताओ के कारण मिस्र और ईरान की दोनो शाखाएँ एक ही जाति की है, ऐसा भाषाविज्ञान के विद्वान् मानते है। इनमे जो ज्ञान की समानता है, वह परस्पर सम्पर्क से आयी है। कुछ देशो में भारत से ज्ञान गया है, इसमे कोई सन्देह नही, परन्तु सम्पूर्ण चिकित्साज्ञान भारत की देन है, यह कहना थोडी अतिशयोक्ति होगी। अत्रिपुत्र के कथनानुसार चिकित्सा ज्ञान स्वाभाविक है, मानव जाति के साथ इसका उद्भव है।[1]

तिब्बत का वैद्यक ज्ञान—भारत का तिब्बत के साथ पुराना सम्बन्ध है। अज्ञात-मूल चार संस्कृत ग्रन्थो का अनुवाद आठवी शती मे तिब्बती भाषा मे हुआ था। इसके पीछे बहुत से संस्कृत ग्रन्थो का तिब्बती मे अनुवाद हुआ। तिब्बत के आयुर्वेद-ज्ञान का आधार भारतीय आयुर्वेदशास्त्र माना जाता है। शरीर मे नौ छेद और नौ सौ नाडियाँ तिब्बती चिकित्सा मे मानी गयी हैं (नव स्नायुशतानि, नव स्रोतांसि—सु शा अ ५।६)। निदान में भी आयुर्वेद के त्रिदोषसिद्धान्त को माना गया है। औषधियो में त्रिफला, मरिच, उत्पल, प्याज, सोठ, तज, कूठ आदि का उल्लेख है। तिब्बत मे सीग के द्वारा रक्त मोक्षण करने की पद्धति, शस्त्र-यन्त्रो का नाम पशुओ के नाम पर रखने का रिवाज, गर्भ की लिंगपरीक्षा पद्धति आदि बाते आयुर्वेद से मिलती हैं।

तिब्बती ग्रन्थो का मगोल भाषा में भी अनुवाद हुआ है। हिमालय की लेप्चा आदि जातियाँ तिब्बती चिकित्सा का व्यवहार करती हैं।

तिब्बत मे बौद्ध धर्म बहुत समय पूर्व फैल चुका था। इसके साथ आयुर्वेद का भी वहा पहुँचना सम्भव है। महावश मे सारथ्यसग्रह नामक वैद्यक ग्रन्थ का उल्लेख है। इसको छोडकर १३वी शती का योगार्णव सबसे प्राचीन ग्रन्थ है।

सिंहली भाषा मे जो आधुनिक वैद्यक ग्रन्थ छपे है एवं जो हस्तलिखित मिलते हैं, उनका आधार भी भारत के आयुर्वेद ग्रन्थ ही हैं।

---

१ संस्कृत काव्यो में तथा हिन्दी के कवियो की (बिहारी आदि की) कृतियो में आयुर्वेद सम्बन्धी कुछ छिटपुट उल्लेख मिल जाते है। इससे यह निर्णय करना कि ये कवि आयुर्वेद के पण्डित थे; ठीक नहीं है। इसी प्रकार से कुछ समानता या शब्दो के मिलने से ज्ञान का स्रोत इस स्थान से उस स्थान में गया; यह मानना ठीक नहीं।

वरमा—सुश्रुत की ख्याति ९०० ईसवी में कम्बोज तक पहुँच चुकी थी, परन्तु सुश्रुत, द्रव्यगुण आदि का इस देश में वरमी भाषान्तर १८ वी सदी में हुआ है।

फारसी और अरबी सम्बन्ध—चरकसहिता में वाह्लीक भिषक् के रूप में काकायन का नाम आता है। सिद्धयोगसग्रह में पारसीक यवानी का उल्लेख है, चरक-सुश्रुत में हीग का, सुश्रुत में नारग का उल्लेख है। यह भारत का ईरान से सम्बन्ध बतलाते है। मध्य काल में धातुओं का उपयोग, अफीम का व्यवहार, नाडीपरीक्षा विधि अरब ने भारत में आया, ऐसी मान्यता जौली की है, जो बहुत अशो में सत्य है। हीग आज भी हमको ईरान-काबुल से ही मिलती है। मुसलमानो के समय मुस्लिम हकीम स्वतत्र रूप में अपना धधा करते रहे, उन्होने भारतीय पद्धति को नही अपनाया, अपितु वैद्यो ने इनसे कुछ थोडा बहुत लिया ही, यथा—अनार का शर्बत आदि, अर्क-प्रक्रिया, मुरब्बे की कल्पना हकीमो से ली गयी। इस विधि का नाम यूनानी चिकित्सा भी है, जिससे इसका सम्बन्ध यूनान से स्पष्ट होता है।[1]

---

१. डाक्टर जौली तथा श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री की पुस्तक 'आयुर्वेद का इतिहास' के आधार पर

अठारहवाँ अध्याय

दो चीनी यात्रियों का विवरण

इत्सिङ् का कथन

यह यात्री ज्ञान की खोज मे तथा भगवान् वुद्ध के पावन स्थलो के दर्शनार्थ भारत मे आया था और यह लगभग ६७३–९५ ईसवी तक रहा था। इसने भारतवर्ष के सम्वन्ध में प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण जानकारी लिखी है। यह सभी वडे वडे स्थानो को देखने गया था। कई वर्ष वौद्धो के विभिन्न विद्यापीठो मे रहकर वौद्धधर्म और उसके आचार का गम्भीर अध्ययन इसने किया था। उन सवका विवरण तैयार किया था।

यह यात्री स्वय चिकित्सक था, जैसा इसने अपने विपय में कहा है—"मैने भैपज्य विद्या का भली भाँति अध्ययन किया था, परन्तु मेरा यह उचित व्यवसाय न होने के कारण मैने अन्त को इसे छोड दिया।" इसलिए भारतीय चिकित्सा के सम्वन्ध मे दिया हुआ इसका विवरण वहुत महत्त्वपूर्ण है।[1] तत्कालीन परिस्थिति के ज्ञानार्थ उसके विवरण से कुछ उद्धरण यहाँ दिये जाते है।

पथ्यचर्या—"प्रत्येक प्राणी चार भूतो के शान्त कार्य अथवा दोप के अधीन है। आठ ऋतुओ के (वसन्त, ग्रीष्म, प्रावृट्, वर्पा, शरद्, हेमन्त, शिशिर .) एक दूसरी के वाद आने से शारीरिक दशा मे विकास और परिवर्त्तन कभी वन्द नही होता। जव किसी को कोई रोग हो जाय, तत्काल विश्राम और रक्षा करनी चाहिए। इसलिए लोकज्येष्ठ (वुद्ध) ने स्वय चिकित्साशास्त्र पर एक सूत्र का उपदेश किया था, जिसमे उन्होने कहा था—चार महाभूतो के स्वास्थ्य (शव्दार्थ—परिमितता) का दोप इस प्रकार है—

१ पृथ्वीतत्त्व के वढने से शरीर को आलसी और भारी वनाना, २ जलतत्त्व के इकट्ठा हो जाने से आँख मे मैल या मुँह मे लार का अधिक आना, अग्नितत्त्व से

---

१ इत्सिङ की भारत यात्रा—इडियन प्रेस की सरस्वती सीरीज के आधार पर

उत्पन्न हुए अति प्रबल ताप के कारण सिर और छाती का ज्वरग्रस्त होना, ४ वायु-तत्त्व के जगम प्रभाव के कारण श्वास का प्रचण्ड वेग।[1]

रोग का कारण मालूम करने के लिए प्रात काल अपनी जाँच करनी चाहिए। जाँच करने पर यदि चार महाभूतो में कोई दोष जान पडे तब सबसे पहले उपवास करना चाहिए। भारी प्यास लगने पर भी शर्बत या जल नही पीना चाहिए, क्योकि इस विद्या ने इनका बडा निषेध है। उपवास कभी एक दो दिन तक, कभी-कभी चार-पाँच दिन तक जारी रखना होता है, जब तक कि रोग बिल्कुल शान्त न हो जाय। इससे रोग की निवृत्ति अवश्य हो जायगी। यदि मनुष्य यह अनुभव करे कि आमाशय में कुछ भोजन रह गया है, तो उसे पेट को नाभि पर दबाना या महलाना चाहिए, जितना हो सके उतना गरम जल पीना चाहिए, वमन करने के लिए गले में अँगुली डालनी चाहिए।

यदि मनुष्य ठण्डा जल पिये तो भी कोई हानि नही (सम्भवत पित्त या अग्नितत्त्व की प्रबलता में)। गरम जल में सोंठ मिलाकर पीना भी बहुत अच्छा है। कम-से-कम उपचार प्रारम्भ करने के दिन रोगी को अवश्य उपवास करना चाहिए। पहली बार दूसरे दिन सवेरे भोजन करना चाहिए। यदि यह कठिन हो तो अवस्था के अनुसार कोई और उपाय करना चाहिए। प्रचण्ड ज्वर की दशा में जल द्वारा ठण्डक पहुँचाने का निषेध है।

उपवास एक बडी गुणकारी चिकित्सा है। यह भेषजविद्या के साधारण नियम, अर्थात् किसी औषधि या क्वाथ के प्रयोग के बिना ही स्वास्थ्यप्रदायक है। कारण यह है कि जब आमाशय खाली होता है, तब प्रचण्ड ज्वर कम हो जाता है, जब भोजन का रस सूख जाता है, तब कफ के रोग निवृत्त हो जाते हैं। उपवास सरल और अद्भुत औषधि है, क्योंकि निर्धन और धनवान् दोनो इसका समान रूप से अनुष्ठान कर सकते हैं। क्या यह महत्त्व की बात नही?

शेष सब रोगों में—जैसा कि मुहाँसा या किसी छोटे फोडे का सहसा निकलना, रक्त के अकस्मात् वेग से ज्वर का होना, हाथो और पैरो में प्रचण्ड पीडा, आकाश के

---

१ सुश्रुत में भी पाचभौतिक प्रकृति (चरक में चतुर्भूतो) का वर्णन है—

"प्रकृतिमिह नराणा भौतिकीं केचिदाहु पवनदहनतोयै कीर्तितास्तास्तु तिस्र।
स्थिरविपुलशरीर पार्थिवश्च क्षमावान् शुचिरथ चिरजीवी नाभस खैर्महद्भि॥
सु अ. ४।८०

"भूतैश्चतुर्भि सहित सुसूक्ष्मै"; "भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि"—चरक, शा २-३१, ३५

पश्चिम भारत के लाट देश (मालवा-गुजरात के उत्तरी भाग) में जो लोग रोग-ग्रस्त होते हैं, वे कभी-कभी आधा मास और कभी-कभी पूरा मास उपवास करते हैं। जब तक उनका वह रोग जिससे वे कष्ट पा रहे हैं, पूर्णत आराम नही हो जाता, वे कभी भोजन नही लेते। मध्य भारत में उपवास की दीर्घतम अवधि एक सप्ताह है, जब कि दक्षिण सागर के द्वीपों मे दो या तीन दिन हैं। इसका कारण प्रदेश, रीति, शरीर की रचना का भेद है।

भारत में लोग प्याज नही खाते। मेरा मन ललच जाता था और मैं उसे कभी-कभी खा लेता था, परन्तु धार्मिक उपवास करते हुए वह दु ख देती और पेट को हानि पहुँचाती है। इसके अतिरिक्त वह नेत्र-दृष्टि को खराब करती है, रोग को बढाती है, शरीर को दुर्बल करती है। इसी कारण भारतीय जनता उसे नही खाती।[1] बुद्धिमान् मेरी बात पर ध्यान दें, जो बात सदोष है उसे छोडकर जो उपयोगी है, उनका पालन करें। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति वैद्य के उपदेशानुसार आचरण नही करता तो इसमें वैद्य का कोई दोष नही।

यदि उपर्युक्त पद्धति के अनुसार अनुष्ठान किया जाय तो इससे शरीर को सुख और धर्मकार्य की पूर्णता प्राप्त होगी, इस प्रकार अपना और दूसरो का उपकार होगा। यदि ऐसा नही करे तो इसका परिणाम शरीरदुर्बलता और ज्ञान का सकोच होगा, दूसरों की और अपनी सफलता पूर्णत नष्ट हो जायगी।

शारीरिक रोग के लक्षणो पर उपचार—मनुष्य को अपनी क्षुधा के अनुसार थोडा भोजन करना चाहिए। यदि मनुष्य की भूख अच्छी हो तो साधारण भोजन करना चाहिए। यदि मनुष्य अस्वस्थ हो तो उसका कारण ढूँढना चाहिए, जब रोग का कारण मालूम हो जाय तब विश्राम करना चाहिए। नीरोग होने पर मनुष्य को भूख लगेगी, उस समय उसे हलका भोजन करना चाहिए। उप काल प्राय कफ का समय

---

१ सग्रह और काश्यप सहिता में लशुन-पलाडु का उपयोग करने के लिए बहुत ललचाया गया है—

"रसोनोनन्तर वायो पलाण्डु परमौषधम्।
साक्षादिव स्थित यत्र शक्राधिपतिजीवितम्॥
अल्पाहारे शीलितो दीर्घरात्र चलयश्चक्षुष्यस्तर्पण स्थैर्यकारी।
तैस्तैर्योगैर्योजितोऽयं पलाण्डुस्तास्तानातकान् मेहिनामुच्छिनत्ति॥—सग्रह

कहलाता है; जब कि रात के भोजन का रस अभी विलीन न होने के कारण छाती के गिर्द जमा रहता है। इस समय खाया हुआ कोई भी भोजन अनुकूल नहीं बैठता।[1]

साधारण भोजनों के सिवा हल्के भोजनों की अनुज्ञा बुद्ध ने दी है, चाहे चावलों का पानी हो या चावल हो, भोजन अपनी भूख के अनुसार करना चाहिए (पेया, मण्ड, विलेपी के गुणों के लिए चरक सू अ २७।२५०-५३ देखें)। धर्म का निर्वाह करते समय यदि कोई व्यक्ति केवल चावलों के पानी पर निर्वाह कर सके तो और कोई वस्तु नहीं खानी चाहिए। यदि मनुष्य के शरीर को पोषण के लिए चावलों की रोटियों की आवश्यकता हो तो उन्हें खाने में कोई दोष नहीं। वैद्य रोगी के कण्ठ, स्वर और मुखमण्डल को देखने के बाद चिकित्साशास्त्र के आठ प्रकरणों के अनुसार उसके लिए उपचार करता है। यदि वह इस विद्या को नहीं समझता तो उचित रीति से इच्छा करने पर भी भूल कर बैठता है।

आठ प्रकरण—चिकित्सा के आठ प्रकरणों में से पहले में सब प्रकार के व्रणों का वर्णन है, दूसरे मे गले से ऊपर के प्रत्येक रोग के लिए शस्त्रक्रिया से इलाज करने का, तीसरे मे शरीर के रोगों का, चौथे मे भूतावेश का, पाँचवें मे अगद औषध, छठे में बालकों के रोगों का, सातवें मे आयु बढानेवाले उपायों का तथा आठवें में शरीर के रोगों को नष्ट करने की रीतियों का वर्णन है (यही आयुर्वेद के आठ अंग हैं)।

१—व्रण दो प्रकार के होते हैं, भीतरी और बाहरी। २—गले से ऊपर का रोग वही है जो सिर और मुख पर होता है। ३—कण्ठ से नीचे का प्रत्येक रोग शारीरिक रोग कहलाता है। ४—भूतावेश आसुरी आत्माओं का आक्रमण है। ५—अगद विषों के प्रतिकार के लिए औषध है। ६—भ्रूणावस्था से लेकर सोलहवें वर्ष तक के रोग बालरोग है। ७—आयु को बढाना—शरीर को बचाना, जिससे वह चिरकाल तक जीवित रहे। ८—शरीर और अंगों को पुष्ट करने का मतलब शरीर और अवयवों को दृढ और नीरोग रखना है।

---

१ प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति। दिवा प्रबुध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत्॥
व्यायामाच्च विहाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतस। न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धातवः॥
अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्तमन्यत्तेषु न दुष्यति। अविदग्ध इव क्षीरे क्षीरमन्यद् विमिश्रितम्॥
रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृत्तेष्वयनेषु च। यान्ति कोष्ठे परिक्लेदं संवृत्ते देहधातवः॥
क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासिक्त प्रदुष्यति। विदग्धेषुपयःस्वन्यत् पयस्तप्तमिवार्पितम्॥
—चरक. चि. अ. १५।२३८-४२

ये आठ कलाएँ पहले आठ पुस्तको में थीं, परन्तु पीछे एक मनुष्य ने इन्हें सक्षिप्त करके एक राशि में कर दिया। भारत के पाँच खण्डो के सभी वैद्य इस पुस्तक के अनुसार उपचार करते हैं (सम्भवत यह वाग्भट का अष्टागहृदय है—लेखक)। इसमें भली-भाँति निपुण प्रत्येक वैद्य को अवश्य ही सरकारी वेतन मिलने लगता है। इसलिए भारतीय जनता वैद्यो का बडा सम्मान और व्यापारियो का बहुत आदर करती है, क्योंकि ये जीवहिंसा नही करते, वे दूसरो का उद्धार और साथ ही अपना उपकार करते हैं।

साधारणत जो रोग शरीर में होता है, वह बहुत अधिक खाने से होता है। परन्तु कभी कभी यह अति परिश्रम या पहला भोजन पचने के पूर्व ही दुबारा खा लेने से उत्पन्न हो जाता है। जब रोग इस प्रकार का होता है, तब इसका परिणाम विसूचिका होता है।[1]

जो लोग रोग के कारण को जाने बिना रोगमुक्त होने की आशा करते हैं, वे ठीक उन लोगो के समान हैं, जो जलधारा को बन्द करने की इच्छा रखते हुए इसके स्रोत पर बाँध नही बाँधते, या उनके समान है जो वन को काट डालने की इच्छा रखते हुए वृक्षो को उनकी जडो से नही गिराते, किन्तु धारा या कोपलो को अधिक से अधिक बढने देते हैं।

मैं चाहता हूँ कि एक पुराना रोग बहुत सी औषधियाँ सेवन किये बिना ही शान्त हो जाय और नया रोग रुक जाय, इस प्रकार वैद्य की आवश्यकता न हो, तब शरीर (चार भूतो) की स्वस्थता और रोग के अभाव की आशा की जा सकती है। यदि लोग चिकित्साशास्त्र के अध्ययन से दूसरो का और अपना हित कर सके तो क्या यह उपकार की बात नहीं है? परन्तु विष खाना, मृत्यु, जन्म आदि प्राय मनुष्य के पूर्व कर्मो का फल होते हैं। फिर भी इसका यह तात्पर्य नही कि मनुष्य उस दशा को दूर करने मे या बढाने में सकोच करे, जो दशा रोग को उत्पन्न करती है या उसे हटाती है।

भोजन संबधी सूचनाएँ—भारत में भिक्षु लोग भोजन के पहले अपने हाथ-पाँव धोते और छोटी-छोटी कुर्सियो पर अलग अलग बैठते है। यह कुर्सी सात इच ऊँची और एक वर्ग फुट आकार की होती है। उसका आसन बेत का बना होता है। ये लोग पालथी, आसन मारकर नही बैठते, एक दूसरे का स्पर्श नही करते। भोजन परोसते

---

१ न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमा।
मूढास्तामजितात्मानो लभन्ते कलुषाशया.॥ सु उ अ. ५६।५३

नमय अँगूठे के परिमाण के अदरख के एक या दो टुकड़े प्रत्येक अतिथि को दिये जाते हैं और साथ ही एक पत्ते पर चम्मच भर नमक दे दिया जाता है।

भोजन में पवित्रता और अपवित्रता का ध्यान बहुत रखा जाता है, जिस भोजन में से एक भी ग्रास खा लिया जाता है, उसे अपवित्र समझा जाता है। जिन बर्त्तनों में भोजन खाया जाता है, उनका फिर उपयोग नहीं होता, भोजन समाप्त होने पर उन पात्रों को उठाकर एक कोने में रखा जाता है। यह रीति धनवान् और निर्धन दोनों में पायी जाती है। बचे हुए जूठे भोजन को रख छोड़ना—जैसा कि चीन में किया जाता है, भारतीय नियमों के विरुद्ध है।

भोजन कर चुकने के पीछे जीभ और दाँतों को ध्यानपूर्वक शुद्ध करते हैं। होठों को या तो मटर के आटे से या मिट्टी और पानी मिलाकर—उससे साफ़ किया जाता है, यहाँ तक कि चिकनाई का कोई धब्बा न रह जाय। इसके पीछे कुल्ला करने के लिए किसी साफ बर्त्तन से जल लिया जाता है। दो-तीन बार कुल्ला करने से मुख प्राय साफ हो जाता है। ऐसा किये बिना मुख का पानी या थूक निगलने की आज्ञा नहीं। जब तक शुद्ध जल से कुल्ला न कर लिया जाय, मुख से थूक को बाहर फेंकते रहना चाहिए। मुख को साफ किये बिना हँसी, बकवाद में समय नष्ट करना उचित नहीं। यदि कोई ऐसा आलस्य करता है तो उसके दुखों का अन्त नहीं रहता।

जल सम्बन्धी सूचनाएँ—धोने के लिए पवित्र जल छुए हुए जल से पृथक् रखा जाता है। प्रत्येक के लिए दो प्रकार के लोटे (कुण्डी और कलश—एक बड़ा बर्त्तन और एक छोटा लोटा) होते हैं। पवित्र जल के लिए मिट्टी के बर्त्तन का उपयोग किया जाता है, धोने के जल के लिए ताँबे अथवा लोहे का बर्त्तन होता है। पवित्र जल पीने के लिए और छूआ हुआ जल मल-मूत्र त्याग के पीछे शुद्धि के लिए हर समय तैयार रहता है। पवित्र लोटे को पवित्र हाथ से पकड़ना और पवित्र स्थान में रखना चाहिए और छुए हुए जल को छुए हुए अपवित्र हाथ से पलटना चाहिए।

जल की परीक्षा—प्रति दिन सवेरे पानी की परीक्षा करनी चाहिए। प्रात काल पहले ठिलिया के जल की परीक्षा करनी चाहिए। बाल की नोक के समान छोटे कीड़ों को भी बचाना चाहिए। यदि कोई कीड़ा दिखाई दे तो पड़ोस की किसी नदी अथवा पुष्करिणी के पास जाकर कीड़ेवाला जल बाहर फेंक दो और ताजा छाना हुआ जल उसमें भर लो। यदि कुआँ हो तो उसके जल को सामान्य रीति से छानकर काम में लाओ।

पानी को छानने के लिए भारतीय लोग बारीक श्वेत वस्त्र का उपयोग करते हैं;

चीन में वारीक रेशमी कपडे से, हलका-सा मोड देने के वाद यह काम लिया जा सकता है, क्योकि कच्चे रेशम के छिद्रो में से छोटे-छोटे कीडे सुगमता से चले जाते हैं।

कीडों को स्वतत्र रखने के लिए एक पत्तल जैसे थाल का उपयोग किया जा सकता है, किन्तु रेशम की चालनी भी उपयोगी है। भारत में बुद्ध के वताये हुए नियमो के अनुसार थाल प्राय ताँवे के वनते हैं।

दातुन का उपयोग—प्रति दिन सवेरे मनुष्य को दातुन से दाँतो को साफ करना चाहिए और जीभ का मैल उतार डालना चाहिए। दातुन कोई वारह अगुल लम्वी वनायी जाती है, छोटी से छोटी भी आठ अगुल से कम नही होती। इसका आकार कनीनिका जैसा होता है।

दातुन के अतिरिक्त लोहे या ताँवे की वनी दन्तखोदनी (खरका) का भी उपयोग किया जा सकता है, अथवा वाँस या लकडी की छोटी-सी छडी का जो कनीनिका के उपरि-भाग के समान चपटी और एक सिरे पर तीक्ष्ण हो, उपयोग किया जा सकता है। इस वात का ध्यान रखना चाहिए कि मुख में कोई घाव न लग जाय। उपयोग करने के पीछे दातुन को धोकर फेंक देना चाहिए।

दातुन को नष्ट करने अथवा जल या थूक को वाहर फेंकने के पहले गले में तीन वार उँगलियाँ फेर लेनी चाहिए अथवा दो से अधिक वार खाँस लेना चाहिए। छोटे भिक्षु दातुन चवा सकते हैं, परन्तु वडे भिक्षुओ को चाहिए कि वे इसे कूटकर कोमल वना लें। सवसे अच्छी दातुन वह है, जो स्वाद में कटु, सकोचक अथवा तीक्ष्ण हो या जो चवाने में रुई की तरह हो जाय।

च्युआङ शाङ का कथन

इस चीनी यात्री के अनुसार वच्चो की प्रारम्भिक शिक्षा 'सिद्धम् चग' पुस्तक से प्रारम्भ की जाती थी। यह वच्चो को वर्ण-परिचय कराती थी। इस पुस्तक में 'सिद्धम्' लिखा रहता था, जिसका अर्थ था कि पढनेवाले को सिद्धि या सफलता मिले। वौद्ध-धर्मियो की प्रारम्भिक पुस्तकें 'सिद्धम्' कहलाती थीं और ब्राह्मणो की प्रारम्भिक पुस्तकें 'सिद्धिरस्तु' कहलाती थी। इत्सिग (इचिङ) के अनुसार छ वर्ष के वच्चे को सिद्धम् पुस्तक प्रारम्भ करायी जाती थी। उसके अध्ययन में छ महीने लगते थे।

सिद्धम् के वाद भारतीय वच्चो को पच विद्या के शास्त्रो से विज्ञ कराया जाता था। पाँच विद्याएँ ये थी—(१) व्याकरण या शव्दविद्या, (२) शिल्पस्थान विद्या, (३) चिकित्सा विद्या (आयुर्वेदशास्त्र), (४) हेतु विद्या (तर्क अथवा न्यायशास्त्र),

(५) अध्यात्म विद्या (इसमे त्रिपिटिक भी शामिल थे)। प्रत्येक बौद्धधर्म के आचार्य या पण्डित को इन पाँचो विद्याओं में निपुण होना आवश्यक था (हर्ष-शीलादित्य, पृ ११८)।

नालन्दा विहार में अध्ययन के अन्य विषयों मे हेतु विद्या, शब्द विद्या, चिकित्सा विद्या, तान्त्रिक विद्या और साख्य दर्शन आदि भी शामिल थे (वही, पृष्ठ १२३)।

च्युआङ शाङ ने नालन्दा विहार के आचार्यों का नाम लिखा है, परन्तु उनमे चिकित्सा विद्या के आचार्य का नाम स्पष्ट नही है। इनमें से कुछ आचार्य चीनी यात्री के पूर्व के थे। उनमे भी चिकित्सा विद्या के आचार्य का उल्लेख स्पष्ट नहीं हुआ है। इन आचार्यो मे शीलभद्र प्रधान आचार्य थे, धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, जिनमित्र और जिनचन्द्र आदि उपाध्याय थे।

भाग ३

तार लेखन (टेलीग्राफी) का आविष्कार किया। भाप से चलनेवाले जहाज (स्टीमर) फ्रास और अमेरिका मे उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ से ही जारी थे।

इस समय समूचे भारत को लोहे के तारो और पटरियो से कसा जा रहा था। इसी समय भारत विपयक अध्ययन शुरू हुआ।

बगाल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के बाद (१७८४ ई०) से यूरोपियनो का भारत विपयक अध्ययन तेजी से बढा। सर विलियम जोन्स ने यह पहचाना कि सस्कृत, यूनानी और लातीनी भापाएँ सगोत्र है। कोलब्रुक ने सस्कृत व्याकरण, गणित, ज्योतिष आदि की ओर तथा चार्ल्स विल्किन्स ने भारत के पुराने लेखो की ओर ध्यान दिया। भारतीय पण्डित अपने लेखो को पढते न थे, परन्तु यदि कोशिश करते तो सातवी शती से इधर के लेखो को पढ़ सकते थे। १७८५ मे विल्किन्स ने बगाल का एक पाल अभिलेख तथा राधाकान्त शर्मा ने अशोक की दिल्लीवाली लाट पर का बीसलदेव चौहान का लेख पढ डाला।

सन् १८०२ में नैपोलियन के एक अग्रेज कैदी से श्लीगल नामक जर्मन ने पेरिस मे सस्कृत सीखी। श्लीगल का समकालीन फ्रासीसी फ्राजवॉप था। इन दोनो ने ईरानी तथा यूरोपियन भापाओ से सस्कृत की तुलना कर तुलनात्मक भापा-विज्ञान की नीव डाली। इन भापाओ के तुलनात्मक अध्ययन से जाना गया कि इनको बोलने-वाली जातियो के धर्म, कर्म, देवगाथाओ, प्रथाओ मे बहुत समानता थी और इस प्रकार से आर्य जाति का पता चला। यह उन्नीसवी सदी की एक सबसे बड़ी खोज थी।

भारत में अग्रेजी शिक्षापद्धति की नीव लार्ड मैकाले ने रखी। इस शिक्षापद्धति मे उसका एक ही लक्ष्य था कि इस देश पर शासन करने का दिमाग तो इग्लैंड से आयेगा, परन्तु उसके हाथो के रूप मे आदमी यहाँ तैयार किये जायँ। इसलिए उसने यहाँ पाठ्य-क्रम इतना जटिल रखा, जिसे सर्वसामान्य व्यक्ति न पढ सके, उसमे उत्तीर्ण होना कठिन बना दिया। शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा होने से यह शिक्षा और भी जटिल हो गयी। इसलिए शिक्षा का प्रसार अवरुद्ध रहा, जिससे देश मे जागरूकता नही हो सकी। परन्तु इसमे भी कुछ स्वदेशप्रेमी सज्जनो मे जाग्रति हुई। हार्डिञ्ज के समय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने बगाल मे शिक्षा फैलाने की विशेप चेष्टा की। सन् १८५४ में कम्पनी के उच्च अधिकारियो ने भारत मे विद्यापीठो (यूनीवर्सिटियो) की आवश्यकता का अनुभव किया। तदनुसार १८५७ में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में लन्दन के विद्यापीठ के नमूने पर विद्यापीठ बने।

कष्ट सरकार तक पहुँचा सकते, तो गदर न होने पाता। सन् १८७७ में लार्ड लिटन से सर सैयद अहमद खा ने अलीगढ मुस्लिम कालेज की नींव रखवायी थी।

यह समय देश मे अग्रेजी शिक्षा के प्रसार का था, अग्रेजो का राज्य जम चुका था, अब इस राज्य को भविष्य के लिए दृढ बनाने की आवश्यकता थी। दृढ बनाने के लिए सहायक रूप में आदमी चाहिए। भारत जैसे विस्तृत देश के लिए बहुत बडी मात्रा मे आदमी इग्लैण्ड से आ नही सकते थे, फिर उन्हे बुलाने मे खर्च बहुत पडता, इसलिए कामचलाऊ आदमी पैदा करने के लिए यहाँ पर शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। यह शिक्षा जिस प्रकार दूसरे क्षेत्रो मे प्रारम्भ हुई, उसी प्रकार चिकित्साशास्त्र मे भी प्रारम्भ की गयी।

चिकित्साशास्त्र का ज्ञान देने के लिए बगाल मे मेडिकल कॉलेज १८३५ ईसवी मे खोला गया। इस नये खुले कालेज में भारतीय पण्डित मधुसूदन गुप्त ने १८३५ में मृत देह पर पहला नश्तर लगाया था। मधुसूदन गुप्त के इस साहसिक कार्य की प्रशसा करने के लिए कलकत्ता के फोर्ट विलियम से तोप दागी गयी थी (निर्णयसागर प्रेस से १९३९ मे प्रकाशित सुश्रुत का उपोद्घात, पृ १५)। १८३६ मे मधुसूदन गुप्त ने सुश्रुत को पहली बार छपवाया। ये दोनो घटनाएँ इसी समय हुई, इसलिए इस आधुनिक काल का प्रारम्भ इस समय से माना गया है।

आयुर्वेद के अध्यापन के साथ आधुनिक विज्ञान का ससर्ग तथा आयुर्वेद-ग्रन्थो का प्रथम प्रकाशन इसी समय हुआ। इसलिए श्री दुर्गाशकर केवलरामजी शास्त्री ने आधुनिक समय का प्रारम्भ इसी समय से माना है, जो युक्तिसगत भी है। शिक्षा की पुरानी पद्धति को फिर से जाग्रत करने की, अपनी प्राचीन विद्या को नवीन खोज और शिक्षा के साथ सीखने की भावना सुधारक दयानन्द ने इसी समय मे दी थी।

इस काल की आधुनिक अग्रेजी शिक्षा के साथ प्राचीन सस्कृत ग्रन्थो के अध्ययन में कितना दृष्टिकोण बदल जाता है, यह मेघदूत की मल्लिनाथ की टीका तथा प्रोफेसर काले की टीका को देखकर सरलता से समझा जा सकता है। यही बात चरकसहिता की चक्रपाणि की टीका आयुर्वेददीपिका एव श्री योगीन्द्रनाथ सेन की उपस्कार व्याख्या को देखने से स्पष्ट हो जाता है। प्राचीन व्याख्याएँ या टीकाएँ पूर्णत शास्त्रीय होती थी, इनमें विषय का वाग्जाल दर्शन तथा साहित्य तक सीमित रहता था। इसके विपरीत आधुनिक व्याख्या सरल तथा प्रकरण से सम्बद्ध होती है।

चरक-सुश्रुत के काल में भले ही आयुर्वेद की उन्नति हुई हो, परन्तु गुप्तकाल के पीछे इसमे एकदम रुकावट आ गयी। गुप्तकालीन वाग्भट के सग्रह और हृदय के

देखने से यह स्पष्ट हो जाता है। आयुर्वेद की पद्धति में पर्याप्त अन्तर हो गया था। चरक में वर्णित दर्शनविषय सुश्रुत के अन्दर केवल एक अध्याय में से छनकर संग्रह में पंच-महाभूतों के नाम तक ही रहा। संग्रह में वह भी दर्शन सम्बन्धी सांख्य या न्याय सम्बन्धी विचार नहीं आते, फिर भी वह अष्टांग आयुर्वेद का ग्रन्थ है (संक्षिप्तसंशयितविस्तृत-विप्रकीर्णं कृत्स्नोऽर्थराशिरिति साधु स एव दृष्टः—संग्रह उत्तर अ ५०)। यह क्रम आगे भी चलता रहा, जिससे सरल संग्रहग्रन्थ बने। इन सरल ग्रन्थों में योगों के संग्रहग्रन्थ विशेष तैयार हुए। इनमें मनुष्यशरीर में होनेवाले नये नये रोग तथा उनका चिकित्सा सम्बन्धी नवीन ज्ञान-शोध कदाचित् ही कुछ नया होगा। इनके विप-रीत शरीर सम्बन्धी ज्ञान तथा कायचिकित्सा के ज्ञान को छोड़कर शेष अंगों में सतत ह्रास ही होता गया, जिससे धीरे-धीरे यह ज्ञान क्षीण हो गया। अन्त में शल्यचिकित्सा का क्षेत्र धोबी, नाई तक रह गया—

मालाकारश्चर्मकारः नापितो रजकस्तथा।
वृद्धा रण्डा विशेषेण कलौ पंच चिकित्सकाः॥

इतना होने पर भी प्राचीन संहिताओं का पठन पाठन, उनसे प्राप्त ज्ञान के आधार पर वैद्यक व्यवहार करना चालू रहा। प्राचीन ग्रन्थों से सद्य फलप्रद योगों को जानने-वाले तथा इनके ऊपर से अपना व्यवसाय करनेवाले व्यक्ति मध्यकाल में बहुत हुए। मध्यकाल में संहिताग्रन्थ, विशेषतः योग—नुस्खों सम्बन्धी बहुत बने। वैद्य पुराने ग्रन्थों के तलस्पर्शी ज्ञान के अवगाहन के लिए उपेक्षित होने लगे। दार्शनिक विचार तथा आयुर्वेद में वर्णित शरीर सम्बन्धी ज्ञान एवं अन्य इसी प्रकार की बातों के प्रति उनमें निराशा और सन्देह जागने लगा, विशेष कर जब वे प्रत्यक्ष रूप में दूसरे ज्ञान को देखते थे, उसमें सत्यता का अनुभव करते थे। भले ही यह विचार हममें पाश्चात्य शिक्षा की उपज कहा जाय, परन्तु अपने चौदहवीं शती के ज्ञान का ही यह परिणाम है, जब कि उस समय के ग्रन्थों में कोई भी नया विचार या नयी शोध हमको नहीं मिली। ऋषि-प्रणीत नाम से इनको सीमाबद्ध कर दिया गया—इनमें मनुष्यकृत ज्ञान का स्थान कहाँ रहा। इस सम्बन्ध में मैकाले ने भारतीय चिकित्सा के सम्बन्ध में जो कहा था, वह भुलाया नहीं जा सकता—

"जब हम सच्चा इतिहास और दर्शन पढ़ा सकते हैं तो क्या सरकारी रुपये से ऐसे चिकित्सासिद्धान्त पढ़ायेंगे, जिन पर अंग्रेजों के पशु-चिकित्सकों तक को लज्जा आयेगी, अथवा वह ज्योतिष, जिस पर स्कूलों की अंग्रेज बालिकाएँ हँस पड़ेंगी, या ऐसा इतिहास,

जिसमे ३० फुट लम्बे राजाओ का वर्णन है और जिनके राज्य ३० हजार वर्ष तक चलते थे, और क्या ऐसा भूगोल पढायेंगे जिसमे शीरे तथा मक्खन के समुद्रो का वर्णन है ?"

चिकित्सा के सम्बन्ध मे मैकाले का कथन पूर्णत ठीक नही, क्योकि जलोदर या शोफ रोग मे देशी वैद्य बहुत समय से नमकरहित आहार देते थ (नाद्यादन्नानि जठरी तोयपान च वर्जयेत्—चरक चि अ १३।१०१, नि नुने लघिते पेयामस्नेहलवणा पिबेत्—चरक चि अ १३।१९१)। पाश्चात्य चिकित्सा मे यह ज्ञान १८ वी शती मे आया।

जब पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान की क्रमश उन्नति होती गयी और देशी चिकित्सा मे वरावर अवनति हुई। अपने तीन सौ साल के मुसलमानो के सम्पर्क मे भी हमने उनसे कुछ नही लिया, उनकी उपयोगी औषधियो को, ज्ञान को आत्मसात् करना दूर रहा। शिरावेध (फस्द खोलना) जलौका का उपयोग हकीम लोग वरावर करते रहे और आज भी कही-कही करते है, परन्तु वैद्य इस काम को भूल गये। अब भाग्य से कोई वैद्य इस ज्ञान को क्रियात्मक रूप मे जानता है, ये विषय पुस्तको तक ही रह गये है। वैद्यो के सामने अर्थप्रधान व्यवसाय ही रहा, जिससे वैद्य का आदर्श अत्रिपुत्र ने जो भूतदया कहा था, वह छूट गया। इसी से योगसग्रह के ही ग्रन्थ विस्तार से बने।[1]

आयुर्वेद के ह्रास के कारण—सातवी आठवी शती के पीछे देश मे विद्या की अवनति प्रारम्भ हुई। इस ह्रास के बहुत से कारण राजकीय भी थे—जैसे देश पर वाहर के आक्रामको के आक्रमण होना, किसी भी प्रकार की राजकीय सहायता न मिलना, परन्तु मुख्य कारण इसके वैद्य स्वत थे—जो आज भी है। मुसलमान शासको ने अग्रेजी चिकित्सको से उपचार करवाया, इसके प्रमाण इतिहास मे विद्यमान है। उनके अपने हकीम थे, जो कि उसी देश की चिकित्सा करते थे, परन्तु एक आध उदाहरण को छोड-कर कही भी वैद्य की प्रतिष्ठा या चिकित्सा का उल्लेख नही है। वैद्यो का जीवन आलसी हो गया था, उनमें शोध या ज्ञान-समृद्धि की भावना समाप्त हो गयी थी, रसचिकित्सा ने वाजीकरण औषधियो का विशेष प्रयोग चल पडा था।

फिर, वैद्यक व्यवसाय प्राय ब्राह्मणो के हाथ में रहा, उनको चीर-फाड, स्पृश्यता-अस्पृश्यता आदि वातो का विशेष ध्यान रहा, जिससे इसके ज्ञान मे कमी हुई।

---

१. आज भी जिन पुस्तकों में योग-नुस्खे अधिक होते हैं, वे सबसे अधिक बिकती हैं; श्री यादवजी त्रिकमजी की पुस्तको में सिद्धयोगसंग्रह जितना बिका, इतनी दूसरी पुस्तक नहीं बिकी। रसतत्रसार, सिद्धयोगसग्रह की जितनी अधिक खपत हुई उतनी इस सस्था की दूसरी पुस्तको की नहीं है।

प्रकाशित हुए। इनके बाद श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने संशोधन करके पाठान्तर के साथ आयुर्वेद ग्रन्थों का प्रकाशन बम्बई से प्रारम्भ किया। इस विषय में आयुर्वेद-जगत् श्री आचार्यजी का सदा ऋणी रहेगा।

इनके पीछे इन ग्रन्थों का क्षेत्रीय भाषा में अनुवाद प्रारम्भ हुआ। मराठी, बंगला, हिन्दी अनुवाद विशेष रूप से चले। इन अनुवादों से आयुर्वेद का प्रचार सरल हो गया। मूल संस्कृत की अपेक्षा क्षेत्रीय भाषा के भाषान्तर अधिक बिकते थे। ये भाषान्तर बहुत शुद्ध नहीं थे, परन्तु इनसे विषय का प्रचार बहुत हुआ। इनमें हिन्दी के भाषान्तर सबसे अधिक हैं उनके पीछे बंगला, मराठी और अन्त में गुजराती के अनुवाद हैं।

इस समय का साहित्य[1]

अठारहवीं शती की बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, और बहुत सी पुस्तकों का नाम हस्तलिखित पुस्तकों के रूप में पुस्तकालयों के सूचीपत्रों में लिखा है। यहां पर उन्हीं पुस्तकों का उल्लेख किया है जिनके तिथिक्रम का निश्चय सरलता से हो सकता है। इनमें कुछ प्रतियों के समय-निर्धारण में उनका अन्त साक्ष्य ही प्रमाण है।

अठारहवीं शती में बनी पुस्तकें—आतंकतिमिरभास्कर—कर्त्ता बालाराम, रहनेवाले वाराणसी के। इसमें चाय का उल्लेख है। आयुर्वेदप्रकाश—कर्त्ता माधव (१७१३)। भैषज्यरत्नावली—कर्त्ता गोविन्ददास (कलकत्ता १८९३); इसमें योगों का संग्रह है। राजवल्लभीय द्रव्यगुण—नारायण कृत (१७६०)। प्रयोगामृत—कर्त्ता वैद्य चिन्तामणि।

अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शती में बहुत ग्रन्थ बने, इनमें बहुतों का क्षेत्रीय भाषा में अनुवाद हुआ और बहुत से प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए। कुछ मुख्य ग्रंथों का नाम जो मुझे ज्ञात हो सका, इस प्रकार है—

शब्दकोश के रूप में श्री उमेशचन्द्र गुप्त का बनाया वैद्यकशब्दसिन्धु है। इसमें आयुर्वेद से सम्बन्धित शब्दों का स्पष्टीकरण दिया है, इसमें बहुत से योगों का संग्रह भी है। आयुर्वेदीय द्रव्याभिधान—श्री कुञ्जविहारीलाल सेनगुप्त, कलकत्ता से प्रकाशित। श्री गोडबोले का लिखा निघण्टुरत्नाकर—बम्बई से प्रकाशित। श्री दत्तराम चौबे का लिखा बृहन्निघण्टुरत्नाकर—इन दोनों में अनन्नास, तम्बाकू एवं डाक्टरी मतानुसार मूत्रपरीक्षा आदि आधुनिक चिकित्सा विषय लिखे गये हैं। चोपचीनी के ऊपर चोप-

---

१. इंडियन मेडिसिन—मूल लेखक डाक्टर जौली, अनुवादक सी० जी० काशीकर से उद्धृत।

चीनीप्रकाश पुस्तक बनायी गयी। यह सिफलिस रोग की औषधि है। यह पुस्तक राजा रणजीतसिंह के समय लिखी गयी है।

इस समय चरक, सुश्रुत, अष्टांगहृदय, माधवनिदान, शार्ङ्गधरसंहिता के अनुवाद प्रकाशित हुए। अंग्रेजी में भी पुस्तकें लिखी गयी, जिनमें उमेशचन्द्र दत्त की लिखी पुस्तक मैटेरिया मेडिका आफ हिन्दूज, सर भगवतसिंहजी का ए शॉर्ट हिस्ट्री आफ आर्यन मेडिकल साइन्स, अविनाशचन्द्र कविरत्न का चरक संहिता का अंग्रेजी अनुवाद, श्री कुञ्जीलाल का सुश्रुतसंहिता का अनुवाद मुख्य हैं।

अजीर्णमंजरी या अमृतमंजरी—लेखक काशीनाथ या काशीराज अथवा काशीराम, इसका लिखने का समय—१८११, प्रकाशित। अंजननिदान—हस्तलिखित प्रति १७९४ निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। इसका दूसरा संस्करण हरिनारायण शर्मा द्वारा तैयार किया खेलाडीलाल एण्ड सस ने बनारस से प्रकाशित किया। अर्कप्रकाश—आयुर्वेदीय अर्क तैयार करने की पुस्तक, कर्त्ता रावण, सम्भवत १६वी शती में लिखी गयी, कई स्थानो से प्रकाशित। विचारशुद्धकर या अर्गोब्न शुद्धकर—कर्त्ता रंगनाथ ज्योतिर्विद, पूना के पास का रहनेवाला। अश्वलक्षण शास्त्र—आठ अध्यायों का ग्रन्थ है। अश्ववैद्यक—कर्त्ता नानाकर का पुत्र दीपाकर। अश्वायुर्वेद या सिद्धसंग्रह—कर्त्ता दृढबल का पुत्र गन, इसमें आठ स्थान हैं। अर्कप्रकाश या आयुर्वेदप्रकाश—कर्त्ता माधव उपाध्याय, श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य द्वारा प्रकाशित (बम्बई १९१३)। आयुर्वेदमहोदधि या सुषेणवैद्यक—निघण्टु है, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से १९१५ में प्रकाशित, इसका हिन्दी अनुवाद रविदत्त ने किया है। आयुर्वेदसूत्र—योगानन्दनाथ कृत, भावप्रकाश के पीछे १६वी शती मे लिखा हुआ, माईसोर यूनीवर्सिटी सीरीज मे १९२२ में प्रकाशित, दूसरा सस्करण वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। गूढप्रकाशिका—इसका दूसरा नाम उपाकरसार है, कर्त्ता दिनकर ज्योतिषी, लेखन समय १७४० शक। कंकाली ग्रन्थ—मालवा के नसीरशाह खिलजी के सभापण्डित द्वारा १५००-१५१० में तैयार किया हुआ, इसकी भाषा संस्कृत और हिन्दी मिली है। कल्पद्रुमसार संग्रह—कर्त्ता जयराम, लिखने का समय १७४६ ईसवी। कामरत्न—लेखक श्रीनाथ, वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित। कालज्ञान—लेखक शम्भुनाथ, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई ने (१८८२ में) प्रकाशित। काश्यप संहिता या काश्यपीय गरुड पक्षाक्षारी कल्प—अगद तंत्र विषयक ग्रन्थ है, इसको मद्रास से यतिराज स्वामी ने १९३३ में प्रकाशित किया था। कूटमुद्गर—माधव कृत और लेखक की अपनी व्याख्या सहित, वेंकटेश्वर

प्रेस मे हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित। **गन्धककल्प**—तान्त्रिक ग्रन्थ, रुद्रयामल का एक भाग, श्री यादवजी त्रिकमजी द्वारा १९११, १९१५ मे दो भागो म प्रकाशित। **गौरीकाञ्चालिका**—वेकटेश्वर प्रेस बम्बई मे प्रकाशित। **चिकित्साकर्मकल्पवल्ली**—वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। **चिकित्सासागर**—लेखक वटेश्वर, लिखने का समय १७८५। **चिकित्सासार**—लेखक गोपालदास। **जीवानन्दनम्**—आयुर्वेद सम्बन्धी उत्तम नाटक, लेखक आनन्दराय मखी-तजीर के मरहठा राज्य का मन्त्री, प्रकाशित—निर्णयसागर काव्यमाला सीरीज न० २७ (१९३३ मे), सस्कृत व्याख्या के साथ श्री दुरैस्वामी आयगर थियोसोफिकल सोसायटी अड्यार से प्रकाशित, हिन्दी व्याख्या—अत्रिदेव विद्यालकार (१९५५), जर्मन डाक्टर झिम्मर ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू मेडीसिन' मे इसका उल्लेख किया है। **धातुरत्नमाला**—लेखक देवदत्त, लिखने का समय १७५० शक, पूना से मराठी अनुवाद के साथ प्रकाशित। **धातुकल्पराज, मार्त्तण्ड, नाडीप्रकाश, वैद्यमनोरमा**—इन चारो पुस्तको को श्री यादवजी त्रिकमजी ने १९२३ मे प्रकाशित किया। **निदानप्रदीप**—लेखक नागनाथ, लिखने का समय १७४१ विक्रमी सवत्। **पर्य्यायार्णव**—धन्वन्तरिनिघण्टु के साथ आनन्दाश्रम सीरीज से १८९६ मे प्रकाशित। **पारदकल्प**—रुद्रयामल का २८ वाँ अध्याय, श्री यादवजी त्रिकमजी द्वारा दो भागो मे १९११, १९१५ मे प्रकाशित। **पारदकल्पद्रुम**—लेखक अनन्त, १७९२ ईसवी मे लिखित। **प्रयोगचिन्तामणि**—लेखक माधव, फार्मेसी सम्बन्धी। **कुमारतन्त्र**—वेकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। **बालतन्त्र**—लेखक कल्याण वर्मा, वेकटेश्वर प्रेस बम्बई मे प्रकाशित। **भावस्वभाव**—लेखक माधवदेव, लिखित १७१३ ईसवी। **मदनकामरत्न**—एक हजार ईसवी के पीछे सकलित। **मल्लप्रकाश**—लेखक कायस्थ लोकनाथ, १६६८ ईसवी मे लिखा गया, पी० के० गोडे द्वारा प्रकाशित। **योगशतक**—वररुचि द्वारा सकलित, व्याख्याकार रूपनयन, हस्तलिखित प्रति १८४९ सवत्, सिहली व्याख्या के साथ कोलम्बो से १८७७ मे प्रकाशित, हिन्दी टिप्पणी के साथ निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। **योगसमुच्चय**—व्यास गणपति के नाम पर प्रसिद्ध, जीवराम कालिदास ने गोडल से प्रकाशित किया है। **वैद्यविलास और चिकित्सामजरी**—इन दोनो का लेखक रघुनाथ पण्डित है, यह चम्पावती का (बम्बई के कोलावा जिले के वर्त्तमान चौल गाँव का) रहनेवाला था, ये १६९९ ईसवी मे लिखे गये है। **लोहपद्धति**—लेखक सुरेश्वर, प्रकाशक श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई, **लोहसर्वस्व**—लेखक सुरेश्वर, प्रकाशक श्री यादवजी त्रिकमजी बम्बई। **वीरमित्रोदय**—लेखक मित्र मिश्र, लिखने

का समय १८०२ ई०, यह एक कोश है, जो केवल न्याय से ही सम्बन्धित नहीं, अपितु इसमें चिकित्सा तथा अन्य विषयों का भी उल्लेख है। यह आठ भागों में विभक्त है, जिनको प्रकाश कहते हैं। इसका प्रथम प्रकाश जीवानन्द विद्यासागर ने १८७५ में कलकत्ते से प्रकाशित किया था, शेष भाग चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से निकला था। वैद्यसार—लेखक राम, सम्पादक श्री रघुवंश शर्मा, हिन्दी अनुवाद के के साथ १८९३ में बम्बई से प्रकाशित। वैद्यकसारसंग्रह—लेखक श्रीकान्त शम्भु, लिखने का समय १७०१ संवत्। वैद्य कौस्तुभ—लेखक मेघाराम, १९२८ में प्रकाशित। वैद्यचिन्तामणि—लेखक वल्लभेन्द्र, सम्पादक-पण्डित वैंकट कृष्णाराव, तेलुगु में प्रकाशित; १९०१ में छठा संस्करण निकला। वैद्यमनोत्सव—लेखक नयनसुख, लिखने का समय १७८० संवत्, व्याख्याकार रामनाथ। वैद्यमनोरमा—लेखक कालिदास, प्रकाशक श्री यादवजी त्रिकमजी बम्बई, सुखदेव के द्वारा हिन्दी व्याख्या के साथ वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित। वैद्यवल्लभ—लेखक हस्तिरुचि, लेखन का समय १७२६ संवत्, प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई। वैद्यविनोद—उदयपुर के राजा रामसिंह की आज्ञा से शंकरभट्ट ने १७३७ संवत् में लिखा था, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से १९१३ में और कृष्ण शास्त्री नवरे के मराठी अनुवाद के साथ १९२८ ई० में प्रकाशित। वैद्यामृत—लेखक मोरेश्वर भट्ट, लेखन समय १५४७ ईसवी, कृष्ण शास्त्री भाटवडेकर ने मराठी अनुवाद के साथ १८९७ में बम्बई से। ज्योतिस्वरूप ने हिन्दी व्याख्या के साथ १८९३ में बनारस से, रामनाथ ने हिन्दी टीका के साथ प्रकाशित किया। वैद्यावतंस—लेखक लोलिम्बराज, गुजराती में १९०८ में अहमदाबाद से प्रकाशित। शारीरपद्मिनी—लेखक भास्कर भट्ट, १६३० ई० में लिखी गयी। शिवकोश—लेखक कर्णपूर शिवदत्त, लेखन समय १६७७ ईसवी, पी० के० गोडे से सम्पादक। सिद्धसार-संहिता—लेखक रविगुप्त, लेखन समय १३७८ ईसवी। स्त्रीविलास—लेखक देवेश्वरोपाध्याय, लेखन का समय १६वीं शती ईसवी।

इस समय दो प्रकार के ग्रन्थ बने, एक संहिता ग्रन्थ, जैसे आयुर्वेदविज्ञान, आयुर्वेद-संग्रह, भैषज्यरत्नावली आदि। इन ग्रन्थों में पाश्चात्य चिकित्सा के विषय भी लिये गये; इन विषयों को संस्कृत में श्लोकबद्ध कर दिया गया—जैसे आयुर्वेदविज्ञान में प्लुरिसी को उरस्तोय के नाम से लिखा है। यह प्रवृत्ति बीसवीं सदी में रसविषयक ग्रन्थों में पायी गयी है। श्री सदानन्द घिल्डियाल ने रसतरंगिणी में स्वर्ण-लवण के नाम से गोल्ड क्लोराइड, एवं रजतनत्रित आदि आधुनिक योगों को संस्कृत में छन्दोबद्ध कर दिया है। दूसरे ग्रन्थ क्षेत्रीय भाषा में अनुवादित हुए हैं। इन ग्रन्थों में भी पाश्चात्य

चिकित्सा के विषय को सम्मिलित किया गया है, किसी में पृथक् रूप में और किसी में उसी में जोडकर लिखा है। प्राचीन टीकाओं में जहाँ दूसरी संहिताओं के या दूसरे शास्त्रों के वचन उद्धृत किये गये थे, उनके स्थान पर पाश्चात्य चिकित्सा की सहायता से विषय के स्पष्टीकरण का यत्न किया गया। शुद्ध अनुवाद भी क्षेत्रीय भाषा में हुए हैं, जैसे बँगला में यशोदानन्द ने सुश्रुत-चरक संहिता का अनुवाद किया, मराठी में शंकरदाजी शास्त्रीपदे का, हिन्दी में वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि के अनुवाद। गुजराती में भी चरक का अनुवाद हुआ था, इसी प्रकार का एक अनुवाद तैलुगु का भी दो भागों में देखा था।

पाश्चात्य चिकित्सा की सहायता से प्राचीन ग्रन्थों के स्पष्टीकरण का प्रयास विशद रूप में श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर—एम० बी० बी० एस० ने अपनी सुश्रुत-संहिता में किया है। इसी प्रकार का प्रयास कुछ अशों में मेरे सतीर्थ्य श्री जयदेव विद्यालंकार ने चरक संहिता में किया है, परन्तु साथ ही इसमें प्राचीन संहिताओं की सहायता पूर्णरूप से ली है।

एक और भी प्रकार के ग्रन्थ इस समय बने, जिनमें पाश्चात्य विषय को संस्कृत या क्षेत्रीय भाषा में लिखा गया है। इनमे संस्कृत का ग्रन्थ प्रत्यक्षशारीरम् कविराज गणनाथ सेन सरस्वती का मुख्य है। इसका भी हिन्दी अनुवाद अत्रिदेव विद्यालंकार ने और गुजराती अनुवाद श्री बालकृष्णजी अमरसी पाठक ने तैयार किया है। इस पुस्तक में शुद्ध पाश्चात्य चिकित्सा को सुन्दर संस्कृत में लिखा है। इसी प्रकार का दूसरा ग्रन्थ कविराजजी का सिद्धान्तनिदान है। श्री दामोदर शर्मा गौड ने अभिनव प्रसूतितंत्र नाम से अपूर्ण ग्रन्थ संस्कृत में संकलित किया है, जो कि पाश्चात्य चिकित्सा के प्रसूतिविज्ञान पर आश्रित है। हिन्दी मे अत्रिदेव विद्यालंकार का क्लिनिकलमेडि-सिन तथा डा० मुकुन्दस्वरूप जी का स्वास्थ्यविज्ञान है।

प्राचीन ग्रन्थो की अर्वाचीन संस्कृत टीकाएँ—प्राचीन ग्रन्थों की संस्कृत टीकाएँ प्राय बंगाल में तैयार हुई हैं। सबसे प्रथम गंगाधरजी ने चरकसंहिता पर जल्पकल्प-तरु विशद टीका लिखी है। इस टीका मे दार्शनिक विचार भरे हैं, आयुर्वेद का विषय स्पष्ट नही होता। बंगाल की यह मान्यता थी कि विना दर्शन-ज्ञान के आयुर्वेद नही आ सकता (जब कि अष्टांगसंग्रह में तो दार्शनिक विषय नही के बराबर है और सुश्रुत संहिता में केवल एक अध्याय का सम्बन्ध दर्शन से है)। गंगाधरजी का पाण्डित्य प्रत्येक पृष्ठ पर झलकता है, परन्तु वह इतना कठिन है कि सामान्य शिष्य की बुद्धि उसमें नहीं घुस पाती।

चरकसंहिता पर दूसरी संस्कृत टीका श्री योगीन्द्रनाथ सेनजी की है। आपके पिता श्री द्वारकानाथ सेनजी गंगाधर कविराज के शिष्य थे। यह टीका अपूर्ण होने पर भी हृदयङ्गम और सरल है, इसमें न तो गंगाधरजी की 'जल्पकल्पतरु' के समान दर्शन विषय भरा है, और न चक्रपाणि की आयुर्वेददीपिका के समान विस्तार तथा प्रमाण बाहुल्य है। यह विद्यार्थियों के लिए अति उपयोगी एवं बोधगम्य है, इसी से श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने चरकसंहिता के सम्पादन में इस टीका का टिप्पणी में बहुत उपयोग किया है। दुःख है कि यह टीका अपूर्ण छपी है, श्री यादवजी की बहुत इच्छा थी कि शेष रूप भी प्रकाशन हो जाय। इनकी इस टीका का नाम चरकोपस्कार है—प्रकाशन समय १९२० ईसवी।

सुश्रुत की टीका सदीपन भाष्य के नाम से श्री हारायणचन्द्र चक्रवर्तीजी ने की है। श्री हारायणचन्द्रजी भी गंगाधरजी के शिष्य थे। यह टीका शारीर स्थान तक विस्तृत है, आगे टिप्पणी के रूप में बहुत संक्षिप्त हो गयी है। इस टीका में मूल पाठ निर्णयसागर में प्रकाशित सुश्रुतसंहिता से बहुत स्थानों में भिन्न है। श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने मूल सुश्रुत संहिता के सम्पादन में इसके पाठ को टिप्पणी में पर्याप्त मात्रा में उद्धृत किया है। टीका सरल, बोधगम्य है। विषय का स्पष्टीकरण सुगमता से होता है। यह टीका १८२७ शक संवत् में कलकत्ता में छपी थी।

योगसंग्रह ग्रन्थ

नवीं या दसवीं शती में जिस प्रकार से योगों के संग्रहग्रन्थ बनते थे, उसी प्रकार से अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध से संग्रह ग्रन्थ बनने लगे। ये ग्रन्थ मुख्यतः योगों के होते थे। इनमें जो मुख्य हैं, तथा जिनसे लेखक परिचित है, वे निम्न हैं—[1]

भैषज्यरत्नावली—बंगाल के कविराज श्री विनोदलाल सेन को अपने घर में महामहोपाध्याय गोविन्ददास की बनायी एक जीर्ण-शीर्ण योगसंग्रह की पुस्तिका मिली थी, इसमें अनेक ग्रन्थों में से योग उद्धृत किये गये थे, जो कि लेखक को अनुकूल लगे। विनोदलाल सेन ने इस पुस्तिका में अपने अनुभव के योग मिलाकर इसको बढ़ाकर भैषज्यरत्नावली नाम से प्रकाशित किया। बंगाल में इसकी अधिक प्रसिद्धि है। इसमें औपसर्गिक मेह, शीर्षाम्बु जैसे नये रोगों को पाश्चात्य चिकित्सा में से लेकर वर्णन किया गया है।

---

१. ग्रन्थों तथा लेखकों की जानकारी मेरे वैयक्तिक ज्ञान पर ही आश्रित है, इसलिए स्वाभाविक है कि कुछ ग्रन्थ एवं लेखक छूट गये हों।

भैषज्यरत्नावली का प्रचार उत्तर भारत में बहुत है, इसी से इसके हिन्दी अनुवाद कई हुए हैं। एक अनुवाद नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ ने छपा था, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई ने भी अनुवाद निकला है, ये दोनों अनुवाद शुद्ध अनुवाद मात्र हैं। सबसे अच्छा, सुव्यवस्थित, आधुनिक जानकारी के साथ मोतीलाल बनारसीदास लाहौरवालों ने (आजकल दिल्ली में) प्रकाशित किया था। इस अनुवाद को श्री जयदेव विद्यालंकार ने अपने गुरु श्री कविराज नरेन्द्रनाथ मित्रजी की देखरेख में किया था, यह अनुवाद बहुत प्रचलित हुआ। इसका प्रचार वैद्यसमाज तथा विद्यार्थियों में बहुत रहा। इनकी देखादेखी इनके आधार पर पीछे से कुछ अनुवाद निकले, जिनमें से कुछ अनुवादों में वैद्यों में प्रसिद्ध दूसरी पुस्तकों के प्रकाशित योगों को छन्दोबद्ध करके अपने नाम से दे दिया है, वास्तव में ये योग दूसरे ग्रन्थों से संगृहीत हैं।

कविराज विनोदलाल सेन ने आयुर्वेदविज्ञान नाम का एक दूसरा ग्रन्थ सूत्र, शारीर, द्रव्य, निदान, चिकित्सा—इन पाँच स्थानों का लिखा था। इनमें आयुर्वेद का शारीर, निघण्टु, यन्त्र-शस्त्रों का वर्णनात्मक एक भाग छपवाया है। इसमें नवीन रोगों का वर्णन है।

आयुर्वेदसंग्रह—बँगला का यह बृहत्काय ग्रन्थ है। इसके लेखक देवेन्द्रनाथ सेन गुप्त और उपेन्द्रनाथ सेन गुप्त हैं। इस ग्रन्थ में आयुर्वेद सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी प्रायः आ गयी है। कोई भी चिकित्सक चिकित्साकार्य इसकी सहायता से चला सकता है। इसमें आयुर्वेद के शारीर, निघण्टु, परीक्षा, रसशास्त्र, परिभाषा आदि विषयों का उल्लेख करके रोगों का निदान देकर उनकी चिकित्सा दी है। चिकित्सा में मुष्टियोग, टोटकाविज्ञान भी प्रारम्भ में दिये हैं, जो कि कभी-कभी आश्चर्यकारक देखे गये हैं। इसके आगे क्वाथ, वटी, अवलेह, घृत, तैल, रस चिकित्सा देकर प्रत्येक रोग के लिए पथ्य-अपथ्य की भी सूचना दी है। चिकित्सक के लिए जो भी ज्ञातव्य होती हैं, अथवा जिसकी चिकित्सा में आवश्यकता रहती हैं, वे सब बातें आदि से अन्त तक इसमें सुलभ हैं, एक प्रकार से वैद्य के लिए 'रेडी रेफ़ेन्स' पुस्तक है। दुःख है कि अभी तक इसका हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ।

निघण्टुरत्नाकर—१८६७ ईसवी में वैद्यवर्य विष्णु वासुदेव गोडबोले ने वैद्यवर्य गणेश रामचन्द्र शास्त्री दातार आदि दक्षिणी वैद्यों से तैयार करवाकर सेठ हंसराज करमसी रणमल्ल जैसे गुजराती सेठों की आर्थिक मदद से मराठी भाषान्तर के साथ प्रकाशित किया। निर्णयसागर प्रेस में छपने से छपाई और शुद्धता अच्छी है। यह ग्रन्थ आयुर्वेद के मूल ग्रन्थों से वचनों को उद्धृत करके बनाया गया है। ओषधि गुण-

दोष, परिभाषा, पञ्चकषाय, सुश्रुत-शारीर, अष्टविध परीक्षा, धातुशोधन, मारण आदि, पारद, महारस, उपरस, रत्न, अर्कप्रकाश, अजीर्णमंजरी, वैद्यकशास्त्रीय पारिभाषिक कोश, रोगविज्ञान और चिकित्सा इस प्रकार विभाग करके यह संग्रह सम्पूर्ण किया गया है।

बृहन्निघण्टुरत्नाकर—सबसे बड़ा संग्रह ग्रन्थ यह है, इसको दत्तराम चौबे ने भाषाटीका के साथ छः भागों में पूरा करके श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित कराया है। इसी के सातवें और आठवें भाग के रूप में लाला शालिग्राम ने शालिग्राम-निघण्टुभूषण नामक दो भाग बनाये हैं। सातवें, आठवें भाग में ओषधियों के नाम संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, मराठी, बँगला, तैलुगु, लैटिन, अंग्रेजी आदि भाषाओं में दिये हैं, ओषधियों के गुण-धर्म लिखे हैं।

रसायनसार—यह ग्रन्थ श्री श्यामसुन्दराचार्य का बनाया हुआ है। आप काशी के रहनेवाले अग्रवाल वैश्य थे। आपने इस ग्रन्थ में जो लिखा है, वह अपना अनुभव किया लिखा है। इसमें पारद के बुभुक्षित करने का उल्लेख, स्वर्णग्रास देकर भार न घटने सम्बन्धी पत्रव्यवहार भी प्रकाशित किया है। इसी में मल्लचन्द्रोदय, शिला-चन्द्रोदय, ताम्रचन्द्रोदय आदि नवीन योग दिये हैं, जिनसे लेखक की नयी सूझ का पता चलता है।

अन्य संग्रह ग्रन्थ—कालेडा बोगला से रसमार—सिद्धयोगसंग्रह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। यह हिन्दी में लिखा हुआ है, इसका गुजराती अनुवाद भी हो गया है। यह ग्रन्थ सामान्य वैद्य के लिए उत्तम है, इसमें औषधनिर्माण-प्रक्रिया प्रथम भाग में क्रियात्मक सूचनाओं के साथ दी है। शास्त्रीय योगों के साथ वैद्यों के अनुभूत योग भी इसमें एकत्र किये हैं।

श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य लिखित सिद्धयोगसंग्रह दूसरा ग्रन्थ है, इसमें कुछ शास्त्रीय योगों में परिवर्तन किया है। लेखक की यह ईमानदारी है कि उसने नीचे स्पष्ट परिवर्तन का निर्देश कर दिया है, यथा चन्द्रामृत रस के पाठ में बकरी के दूध के स्थान पर अडूसे के पत्तों के रस की भावना लिखी है, जो कि बम्बई जैसे विशाल शहर की दृष्टि से अनुचित नहीं। वहाँ पर अडूसे का रस सरल है, परन्तु बकरी का ताजा दूध प्राप्त करना कष्टसाध्य है। (देहात के रोगी को फलों का रस दुर्लभ है और शहर के रोगी को बकरी का दूध कष्टसाध्य है।)

श्री जीवराम कालिदासजी ने गोंडल से रसोद्धार तंत्र—उपचारपद्धति नाम से एक आवृत्ति गुजराती में प्रकाशित की थी। उसमें दिये गये योग सर्वथा नवीन थे।

उनका कहना है कि यह प्राचीन पुस्तक है, परन्तु योगों को देखने से ऐसा प्रतीत नहीं होता।

श्री कृष्णराम भट्टजी ने जयपुर में सिद्धभैषज्यमणिमाला ग्रन्थ सुन्दर योगसंग्रह प्रकाशित किया था। इसमें बहुत-सी विशेषताएँ हैं। इनकी भाषा सुन्दर-ललित है।[1] इनमे हिन्दी और सस्कृत मिश्रित आकर्षक पद्यावली है। योगों में सर्वत्र जैसा यूनानी चिकित्सा का मिश्रण है। नये योग भी हैं, 'अमीररस' नाम का योग जो सिफ-लिस में बरता जाता है, इसी की सूझ है। राजपूताने में इसका बहुत प्रचार है, इसी से इनके शिष्य और भारतप्रसिद्ध लक्ष्मीराम स्वामीजी ने इसको टिप्पणी सहित प्रकाशित किया था। प्राचीन ग्रन्थों मे से, यूनानी ग्रन्थों में से तथा व्यवहार मे से वस्तु का संग्रह करके लेखक ने स्वतंत्र रूप में इसे बनाया है।

इसी ग्रन्थ की शैली पर श्री हनुमानप्रसादजी शास्त्री ने सिद्धभैषज्यमंजूषा ग्रन्थ बनाया था। इसमें माघ और भारवि के समान चक्रबन्ध, मूसलबन्ध आदि वृत्त दिये हैं। इसमें भी सुन्दर, ललित, श्रवणमनोहर पद्यों की रचना की गयी है। नाम-सादृश्य की भाँति कविता में भी सामञ्जस्य है।

रसयोगसागर—यह बृहत्काय ग्रन्थ आयुर्वेद में वर्णित रसयोगों का संग्रह है। इसको श्री वैद्य हरिप्रपन्नजी ने संकलित किया है। इसमें प्रकाशित, अप्रकाशित, हस्त-लिखित पुस्तकों से यथासम्भव सम्पूर्ण रसयोग अकारादि क्रम से संगृहीत हैं। नीचे उनका हिन्दी अनुवाद भी दिया है, विशेष योगों के लिए यथावश्यक टिप्पणी भी दी है। एक ही योग किन-किन ग्रन्थों में आया है, उसमे हुआ छोटा-मोटा परिवर्तन क्या है, उसका जो नाम परिवर्तन हुआ है, इत्यादि जानकारी इसमें दी गयी है।

उपोद्घात अंग्रेजी और संस्कृत में लिखा है, इसमें आयुर्वेद का इतिहास तथा वैदिक शारीर शब्दकोश आदि आवश्यक बातों का उल्लेख है। द्वितीय भाग के अन्त मे परिशिष्ट मे सिद्ध सम्प्रदाय एवं द्रव्यगुण्यपरिभाषा सम्बन्धी स्पष्टीकरण आदि बातों का उल्लेख पूर्ण पाण्डित्य के साथ किया है।

---

१. ह हो एषा स्फुरन्ती सघनघनघटालोलविद्युद् विलासैः
काली पीली झुकी छै झटपट निमडो चूरमू भीज जासी।
नां केतां भाग पीधी हरकत पडशे केम गाढा थया छो
भय्या जानो तुम्हारी तुम अब हम तो जैंमवे को जचे है।

—मुक्तक १३५

भारतभैषज्यरत्नाकर—इस ग्रन्थ में अकारादि क्रम से आयुर्वेद के सब योगों का संग्रह करने का यत्न किया गया है। इसमें प्रकाशित पुस्तकों से ही प्राय योग लिये हैं। क्वाथ, चूर्ण, वटी, अवलेह, घृत, तैल, रसयोग आदि प्रत्येक का पृथक्-पृथक् अकारादि क्रम से सकलन हुआ है। यह एक बहुत बडा प्रयत्न है, जिसे वैद्य गोपीनाथजी ने श्री नगीनदास शाह, मालिक ऊंझा आयुर्वेदिक फार्मेसी के सहयोग से सम्पूर्ण करके प्रकाशित करवाया है। इसमें रसयोगसागर का ठीक उपयोग किया गया है।

नवीन प्रवृत्तियाँ

निघण्टु—श्री कविराज गंगाधर से दो वर्ष पूर्व अर्थात् १७९८ ईसवी में उत्पन्न जामनगर के प्रश्नोरा वैद्य श्री विट्ठलभट्ट ने अपने आप कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। परन्तु इनके शिष्य प्रश्नोरा वैद्य रघुनाथ इन्द्रजी ने निघण्टुसंग्रह नाम का जो ग्रन्थ लिखा था, उसमें आधुनिक वनस्पति शास्त्र के निष्णात वनस्पतिशास्त्री जयकृष्ण इन्द्रजी की सहायता का पूर्ण लाभ लिया गया है। यह इस तरह का प्रथम निघण्टु है।

वनस्पति सम्बन्धी दूसरी पुस्तक कविराज विरजाचरण गुप्त का वनौषधिदर्पण है। यह उत्तम निघण्टु है, इसमें प्रत्येक वनस्पति का उपयोग शास्त्र में से संगृहीत किया है। अमुक वनस्पति किस-किस रूप में बरती गयी है, यह इससे देखा जा सकता है। साथ ही प्रत्येक वनस्पति सम्बन्धी आधुनिक जानकारी अंग्रेजी मे भी दी है। पुस्तक के प्रारम्भ में आयुर्वेद का इतिहास, आचार्यों का परिचय दिया गया है। यह ग्रन्थ बँगला में है।

तीसरा संग्रह श्री बापालाल गडबडशाह का निघण्टु आदर्श दो भागों मे है। इसका सकलन वनौषधिदर्पण के आधार पर ही हुआ है, परन्तु अधिक विस्तृत है। यह गुजराती में लिखा गया है।

गुजराती में श्री जयकृष्ण इन्द्रजी का लिखा 'वनस्पतिशास्त्र' भी उत्तम ग्रन्थ है, जो कि अपने विषय का बेजोड है। मराठी में डाक्टर वामन गणेश देसाई के लिखे दो ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, एक भारतीय रसायनशास्त्र और दूसरा औषधसंग्रह ग्रन्थ है। ये दोनो ग्रन्थ श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने प्रकाशित किये थे। इनमें 'औषधसंग्रह' के आधार पर श्री आचार्यजी ने अपना ग्रन्थ द्रव्यगुणविज्ञानम् उद्भिज्ज-द्रव्य-विज्ञानीय लिखा है। इस ग्रन्थ में प्रचलित नाम, उनका शास्त्र मे आया उपयोग, सामान्य गुण-कर्म देकर नव्य मत दिया है। यह नव्य मत डाक्टर वामन गणेश देसाई की पुस्तक के मुख्य आधार से है। पीछे लिखा जाने से पूर्व के सब निघण्टुओं एवं वनस्पति शास्त्र का लाभ इसे प्राप्त हुआ है।

हिन्दी में निघण्टु पर बहुत काम हुआ है—अजमेर से दो भागों में अनुभूतयोग-सागर नामक ग्रन्थ छपा था, जिसमें वनस्पतियों का उल्लेख यूनानी तथा आयुर्वेदिक पद्धतियों से मिलाकर हुआ है। इसके पीछे श्री चन्द्रराज भण्डारी का लिखा वनौषधि-चन्द्रोदय—बृहत्काश है यह कई भागों मे समाप्त हुआ है। श्री रूपलाल वैश्य का लिखा सचित्र बूटीदर्पण—काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ है, इसका प्रथम खण्ड ही प्रकाशित हो सका है। श्री प्रियव्रत शर्मा ने 'द्रव्यगुणविज्ञान' नामक पुस्तक दो भागों मे लिखी है। इसमें प्राचीन और आधुनिक विचार मिलाकर लिखे हैं। आधुनिक विचार किस आधार पर लिखे है, यह इसमें स्पष्ट निर्देश नही है। श्री यादवजी त्रिकमजी की सचाई की प्रशंसा है, उन्होंने पुस्तक-लेखन मे पूर्णत सत्यता बरती है। पुस्तक का मुख्य आधार 'द्रव्यगुणविज्ञानम्'—श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य का ही प्रतीत होता है, यद्यपि ऐसा कही पुस्तक के अन्दर निर्देश लेखक ने नही किया। वैद्य हीरामणि मोतीराम जागले का लिखा वनस्पतिगुणादर्श सचित्र—संक्षिप्त एव उत्तम ग्रन्थ है। अल्लुभाई का वनस्पतिपरिचय सक्षिप्त है।

रसशास्त्र—इस विषय पर कुछ नये ग्रन्थ लिखे गये है। इनमें श्री श्याम-सुन्दराचार्यजी का रसायनसार प्रथम है। इसमें पारद को बुभुक्षित करने का दावा किया है। इस सबध मे बूतपापेश्वर-बम्बईवालों के साथ जो पत्र-व्यवहार हुआ, वह भी प्रकाशित है। इसमे मल्लचन्द्रोदय, तालचन्द्रोदय आदि नये योग तथा अन्य रसयोग भी दिये गये हैं। भीमसेनी कपूर तैयार करने की सुन्दर विधि इसमें मिलती है।

इसके पीछे श्री नरेन्द्रनाथजी मित्र के शिष्य श्री सदानन्द शर्मा घिल्डियाल की बनायी रसतरंगिणी है। यह ग्रन्थ अनुभव की प्रक्रियाओं तथा नवीन योगों के साथ उत्तम-ललित पद्यमय रचना में है। इसमे बहुत-सी विधियाँ एक-एक धातु के जारण-मारण की हैं। इसका विभागीकरण स्वतत्र और वैज्ञानिक है। इसमें बहुत से नवीन योग भी दिये है, जो कि अनुभूत एव उत्तम फलप्रद है। इस ग्रन्थ ने आयुर्वेद की पुरानी प्रथा को एक प्रकार से समाप्त कर दिया।

इसी तरह एक ग्रन्थ श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य का लिखा रसामृत है। यह ग्रन्थ सरल, सक्षिप्त और उपादेय है। इसमे प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में दी सूचनाएँ तथा इसका परिशिष्ट महत्त्व का है। इसमें विधियाँ थोडी दी है, जो दी है वे अनुभूत हैं, और व्यर्थ का प्रपच नही है।

इसी प्रकार का हिन्दी मे लिखा, परन्तु उपादेय, सक्षिप्त, प्रकृत लेखक का

अनुभूत ग्रन्थ भारतीय रसपद्धति है। इसके प्रारम्भ मे रसशास्त्र सम्बन्धी बातों पर (यथा ओज क्या है, भस्मों की पानी पर तैरने मे परीक्षा, घटकों से योग के गुणों का निर्णय आदि) युक्तिपूर्वक विवेचना दी है। इसमें जो भी प्रक्रियाएँ दी हैं, वे सब सरल और दृष्ट हैं।

इनके सिवाय बहुत से और भी छोटे बड़े रसग्रन्थ लिखे गये हैं, 'रसजलनिधि'—यह ग्रन्थ आयुर्वेद ग्रन्थों में आये रसों का संग्रह है, परन्तु रसयोगसागर से बहुत छोटा है। इसके लेखक श्री भूदेव मुकर्जी हैं, यह पाँच भागों में समाप्त हुआ है। इसमें योगों का अंग्रेजी अनुवाद भी दिया है।

रसतंत्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह—यह ग्रन्थ काळेड़ा बोगला (अजमेर) से प्रकाशित हुआ है। इसमें धातुओं की भस्म, आसव-अरिष्ट आदि निर्माण की सूचना-के साथ योगों का भी संग्रह है। इनकी प्रक्रियाएँ भी वरती प्रतीत होती है, इसमें क्रियात्मक सूचनाएँ भी दी हैं।

शरीरविज्ञान—इस विषय पर आधुनिक दृष्टि से प्राचीन पद्धति को समयानुकूल बनाने के लिए कविराज गणनाथ सेनजी एम० ए०, एल० एम० एस० ने संस्कृत में प्रत्यक्षशारीरम् नाम से एक ग्रन्थ तीन भागों में लिखा था। इसका प्रथम भाग १९१३ ईसवी में और तीसरा भाग १९३६ ईसवी में प्रकाशित हुआ है। इसके प्रथम दो भागों का हिन्दी अनुवाद अत्रिदेव विद्यालंकार ने किया है। गुजराती अनुवाद डाक्टर बाल-कृष्णजी अमरजी पाठक ने टिप्पणी देते हुए किया है। यह ग्रन्थ आयुर्वेद के विद्यार्थियों को शरीरशास्त्र का ज्ञान कराने के लिए बहुत उपादेय है।

हिन्दी भाषा में शरीरशास्त्र पर पर्याप्त ग्रन्थ निकले है। इनमे प्रारम्भ का ग्रन्थ डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा का हमारे शरीर की रचना है। इसके दो भाग है, इनमें प्रथम भाग का नवीन संस्करण उनके सुपुत्र श्री हरिश्चन्द्र वर्मा ने किया है, इसे बहुत परिष्कृत और संवर्द्धित बना दिया है। दूसरी पुस्तक डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा की लिखी मानव शरीर का रहस्य है, यह भी दो भागों मे है, इसमें शरीरविज्ञान के साथ क्रियाविज्ञान भी मिला है। इन्हीं की लिखी एक पुस्तक मानव शरीररचना-विज्ञान है, जिसका एक भाग ही छपा है। यह पुस्तक ग्रे की एनाटमी के ढंग पर लिखी है। पुस्तक पूरी हो जाय तो उत्तम होगी—इसमें कोई सन्देह नहीं। शवच्छेद विषय पर अभिनव शवच्छेदविज्ञान श्री हरिस्वरूप कुलश्रेष्ठ का लिखा बहुत उत्तम है। यह पुस्तक पूर्णतः पाश्चात्य पुस्तक के अनुसार तैयार की गयी है।

शरीरक्रिया-विज्ञान—यह विषय आयुर्वेद मे दोष-धातु-मल विज्ञान नाम से

पहचाना जाता है। परन्तु आधुनिक शरीरक्रियाविज्ञान को प्राचीन पद्धति से लिखने-वाले श्री रणजीतराय देसाई आयुर्वेदालंकार हैं। इन्होंने श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य की प्रेरणा से शारीरक्रियाविज्ञान (आयुर्वेदीय क्रियाशरीर) नाम का बहुत सगठित, सरल ग्रन्थ हिन्दी में लिखा है। इसका प्रचार देखकर इसके आधार पर ही बिक्री के लिए इसी नाम का दूसरा ग्रन्थ श्री प्रियव्रत शर्मा एम० ए० ने लिखा। इस ग्रन्थ का नाम अभिनव शारीरक्रियाविज्ञान रखा है। यह ग्रन्थ श्री देसाई के ग्रन्थ की तुलना में नहीं पहुँचता। उसमें जो मौलिकता, विषय का स्पष्टीकरण है, वह इसमें नहीं मिलता।

चिकित्सा विषयक ग्रन्थ—इस विषय में प्रथम प्रामाणिक कार्य डाक्टर भास्कर गोविन्द घाणेकर, एम० बी० बी० एस० ने किया। आपने स्वतत्र रूप से औपसर्गिक रोग, रक्त के रोग, मूत्र के रोग आदि पुस्तकें लिखी। ये पुस्तकें मुख्यत अंग्रेजी पुस्तकों का निष्कर्ष लेकर लिखी गयी हैं। इनमें पारिभाषिक शब्द आपने नये बनाये हैं, जिससे भाषा में काठिन्य अनुभव होता है। काशी विश्वविद्यालय में आयुर्वेद विभाग में आप चिकित्सा के अध्यापक थे, वहाँ से १९५७ में निवृत्त हो गये हैं। उक्त पुस्तकें विद्यार्थियों के लिए बहुत लाभप्रद हुई।

वहीं के अध्यापक डाक्टर शिवनाथजी खन्ना ने चिकित्सा को सक्षिप्त परन्तु उपादेय रूप में प्रस्तुत करके बहुत सरल और विद्यार्थियों तथा चिकित्सकों के लिए सुलभ कर दिया है। आपने रोगीपरीक्षा, रोगपरिचय, रोगनिवारण ये तीन पुस्तकें लिखी हैं। ये पुस्तकें पाश्चात्य चिकित्सा के आधार पर लिखी होने से बहुत उत्तम और उपयोगी हैं। रोगीपरीक्षा पुस्तक का अधिक प्रचार देखकर श्री प्रियव्रत शर्मा ने भी इस पुस्तक के आधार पर आयुर्वेद का विषय देकर नयी पुस्तक तैयार कर दी। यह आयुर्वेद की प्रथा है या प्रकाशकों का रुपया कमाने का लोभ है कि जो पुस्तक आयुर्वेद में चलती है, उसी के आधार पर इधर-उधर से कुछ बदलकर नयी पुस्तक तैयार करवा देते हैं।

श्री आशानन्द पंचरत्न ने भी व्याधिविज्ञान एव आधुनिक चिकित्साविज्ञान नाम से चिकित्साविषयक पुस्तकें लिखी हैं। इन पुस्तकों में आयुर्वेद का भी उल्लेख है। भाषा सरल है, विषय को सार रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि आवश्यक बात छूटने नहीं पायी। व्याधिविज्ञान दो भागों में है, आधुनिक चिकित्साविज्ञान भी दो भागों में प्रकाशित हुआ है।

अत्रिदेव विद्यालंकार द्वारा प्रस्तुत क्लिनिकल मेडिसिन दो भागों में १८९० पृष्ठों में लिखा उत्तम ग्रन्थ है। इसमें पाश्चात्य चिकित्साप्रणाली में शैवल की पुस्तक

विषय को मूल मे देते हुए टिप्पणी मे आयुर्वेद के वचन उद्धृत किये हैं। प्रारम्भ में शल्यतत्र की प्राचीन जानकारी आयुर्वेद ग्रन्थो एव इतिहास के आधार पर दी है। यत्र-शस्त्रो का परिचय विस्तार से दिया है । यत्र-शस्त्रो का परिचय देने के लिए कविराज श्री सुरेन्द्रमोहनजी की लिखी पुस्तक **यंत्र-शस्त्रपरिचय** भी उपयोगी है। रमानाथ द्विवेदी लिखित **सौश्रुती** आयुर्वेद का शल्य सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्तम है।

प्रसूतितंत्र—इस विषय पर सस्कृत और हिन्दी मे अच्छी पुस्तके प्रकाशित हुई हैं। सस्कृत में श्री दामोदर शर्मा गौड का लिखा **अभिनव प्रसूतितत्र** (अपूर्ण) है। इसकी भापा वहुत परिमार्जित है, विषय को पाश्चात्य पुस्तको से इस सुन्दरता से लिया है कि उसमें प्राचीनता आ गयी है। इसके पारिभापिक शव्द भी नवीन और सुन्दर है।

हिन्दी मे डाक्टर रामदयाल कपूर का लिखा **प्रसूतितंत्र**, अत्रिदेव विद्यालकार की **धात्रीशिक्षा**, डाक्टर चमनलाल मेहता का लिखा **प्रसूतितत्र**, श्री प्रसादीलाल झा की **प्रसूतिपरिचर्या** आदि बहुत-सी पुस्तकें प्रचलित है। इन पुस्तको का अधिक प्रचार देखकर प्रकाशक ने श्री रमानाथ द्विवेदी से **प्रसूतितत्र** लिखवाया है। यह पुस्तक अन्य पुस्तको की अपेक्षा बृहत् है, इसमें प्रसूतिविद्या सम्वन्धी ज्ञातव्य वातें पाश्चात्य एव प्राचीन आयुर्वेद ग्रन्थो के आधार पर दी है। पुस्तक सरल और उपयोगी है, इसमें यह विपय एक प्रकार से पूरा हो गया है। द्विवेदीजी ने **स्त्रीरोगविज्ञानम्** नाम से एक छोटी पुस्तिका लिखी है, जिसमें स्त्रियो सम्वन्धी रोगो का उल्लेख है। श्री शिवदयाल गुप्त ने **प्रसूतितत्र** पर सरल पुस्तक लिखी है, जो सक्षिप्त, सस्ती तथा उपयोगी है।

शालाक्यतंत्र—इस विषय पर हिन्दी मे नेत्ररोग पर कुछ पुस्तके प्रकाशित हुई है, जिनमे डाक्टर मुजे की **नेत्रचिकित्सा**, डाक्टर श्री यादवजी हसराज का **नेत्ररोगविज्ञान**, ठाकुर वि धो साठये का **नेत्ररोगविज्ञान शास्त्र** वहुत विस्तृत एव प्रामाणिक है। इनके तथा अग्रेजी पुस्तको के आधार पर श्री शिवदयाल गुप्त ने सचित्र **नेत्ररोगविज्ञान** सरल पुस्तक लिखी है। इससे सामान्य रूप मे नेत्ररोग सम्वन्धी जानकारी प्राप्त हो जाती है। दूसरे लेखको ने भी कुछ पुस्तके लिखी है, परन्तु उनका यह विपय अभ्यस्त न होने से विपय स्पष्ट नही हुआ और उनमें वहुत-सी जानकारी सुनी हुई सी प्रतीत होती है, उसका वैज्ञानिक महत्त्व नही है ।

श्री रमानाथ द्विवेदी ने **शालाक्य तत्र (निमितत्र)** नाम से कान, नाक, मुख, आँख, सिर के रोगो पर आयुर्वेद तथा पाश्चात्य विज्ञान के आधार पर पुस्तक लिखी

हैं। इसमे आयुर्वेद विषय की प्रधानता है, जिसे पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से सरल बनाया गया है। इसमें चिकित्सा तथा अन्य सूचनाएँ संक्षिप्त एवं उपयोगी हैं।

मेडिकल विधिशास्त्र—इस विषय पर अत्रिदेव विद्यालंकार की लिखी न्यायवैद्यक और विषतंत्र प्रथम और सबसे उपयोगी है। इसमे प्रत्येक वस्तु सरलता से, क्रम से संक्षेप में दी है। विषय के साथ कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों से इस सम्बन्ध के उद्धरण दिये हैं। प्राचीन काल में भी इस विषय का वही महत्त्व था, जो आज है। विद्यार्थियों को शिक्षा देने के लिए यह सबसे उत्तम एवं सरल पुस्तक है। विषतंत्र पर स्वतंत्र पुस्तिका श्री रमानाथ द्विवेदी ने 'अगदतंत्र' नाम से लिखी है, जो कि प्राचीन विषयों की जानकारी देती है।

आयुर्वेदिक कालेजों के लिए हिन्दी में पाश्चात्य चिकित्साशास्त्र का प्रायः पूरा साहित्य तैयार हो गया है। यदि इस साहित्य का आज ठीक प्रकार से उपयोग किया जाय तो भविष्य में इसकी उत्तरोत्तर उन्नति होती चलेगी। इस साहित्य में आयुर्वेद के ज्ञान का पूरा ध्यान लेखकों ने रखा है। आयुर्वेद विषय को पाश्चात्य विषय से मिलाकर प्रस्तुत करने का यत्न किया है। बिना पाश्चात्य ज्ञान के आयुर्वेद का पुराना पाठ्यक्रम उपयोगी होगा इसमें सन्देह है। जिन विषयों पर पुस्तकें नहीं लिखी गयी या संक्षेप में लिखी गयी हैं, उन पर भी समयानुसार पुस्तकें प्राप्त हो जायँगी, ऐसी आशा है।

वीसवाँ अध्याय

इस युग के प्रतिष्ठित वैद्य

वगाल की परम्परा

जिस प्रकार प्रत्येक देश मे अपनी चिकित्साप्रणाली है, इसी तरह भारत के हर प्रान्त की अपनी चिकित्सापरम्परा है। यह परम्परा सवत् १८५६ से लेकर आज तक जिस प्रकार सुव्यवस्थित रूप में वगाल में मिलती है, वैसी दूसरे प्रान्तो की परम्परा का मुझे ज्ञान नही। सम्भवत अन्य प्रान्तो में हो, परन्तु आयुर्वेद के जितने ग्रन्थ इस परम्परा मे वँगला में या सस्कृत में लिखे गये, उतने शायद ही किसी अन्य भाषा मे लिखे गये होगे। इस परम्परा मे वने ग्रन्थो में एक क्रमवद्ध पद्धति है, चाहे छोटे-से-छोटा कोई भी ग्रन्थ (आयुर्वेदसोपान अथवा फलितचिकित्साभिधान आदि कोई भी) लें, उसमें भी वही परम्परा चिकित्सा की मिलेगी, जो कि वारह सौ पृष्ठ या इससे अधिक पृष्ठो के वडे ग्रन्थ में (यथा—आयुर्वेदशिक्षा में—लेखक अमृतलाल गुप्त) है। यह परम्परा ही वताती है कि इस देश मे आयुर्वेदशिक्षा की धारा विना टूटे एक रेखा में अनवरत वहती आयी है।

इस परम्परा का प्रारम्भ जो मिलता है, वह कविराज गगाधरजी से मिलता है, इनके शिष्यो की परम्परा से यह आयुर्वेदज्ञान अनेक शाखाओ में विभक्त होकर जयपुर, लाहौर, हरिद्वार, दिल्ली—उत्तर भारत में फैला।

कविराज गगाधर—आपका जन्म वँगला सवत् १२०५ (१८५६ विक्रमी) में जैसोर जिले के भागुरा ग्राम में हुआ था। आपने नाना शास्त्रो का अध्ययन करके १८ वर्ष की उम्र मे राजशाही जिले के वेलधरिया नामक स्थान के विख्यात कविराज रामकान्त सेनजी के पास आयुर्वेद सीखा था। इन्होने यहाँ पर तीन साल अध्ययन करके २१ वर्ष की उम्र में कलकत्ता मे चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ किया। परन्तु पीछे अपने पिता के आदेश से मुर्शिदावाद में चिकित्सा प्रारम्भ की। उन दिनो मुर्शिदावाद

बंगाल-बिहार-उडीसा की राजधानी था। यहाँ आने पर इनका यश चारों ओर फैला। इस समय इन्होंने कासिमबाजार की महारानी श्रीमती स्वर्णमयी की चिकित्सा की। इसने दरबार के पारिवारिक चिकित्सक हुए। इनकी प्रसिद्धि इतनी हो गयी कि डाक्टरों के असाध्य रोगी भी इनसे चिकित्सा कराते थे। मुर्शिदाबाद के नवाब की चिकित्सा इनको तब करनी पडी, जब कि डाक्टर ने उसे असाध्य कह दिया था। इस चिकित्सा से नवाब को आरोग्य लाभ हुआ।

गंगाधरजी की स्त्री का देहान्त युवावस्था में हो गया था, इसलिए अपने पुत्र धरणीधर का पालन-पोषण परिचारिका पर छोडकर अपना समय आप अध्ययन-अध्यापन में लगाने लगे। श्री द्वारकानाथजी सेन का कहना है कि कई बार तो गुरुजी के पास अध्ययन करते हुए सारी रात बीत जाती थी। ये अपने समय के विद्वान् सुचिकित्सक और निपुण अध्यापक थे।

इनके शिष्यों की परम्परा बहुत लम्बी है, इन्होंने लगभग ७९ ग्रन्थ लिखे हैं। आयुर्वेद पर ११ ग्रन्थ, तंत्र ग्रन्थ २, व्याकरण ग्रन्थ ८, साहित्य ग्रन्थ १२, धर्मशास्त्र ७, उपनिषद् सम्बन्धी ८, दर्शन ग्रन्थ १४, ज्योतिष १ और अन्य १३ ग्रन्थ हैं। इनकी चरकसंहिता पर लिखी जल्पकल्पतरु व्याख्या की चर्चा हम कर चुके हैं।

इनकी शिष्य-परम्परा इस प्रकार है —
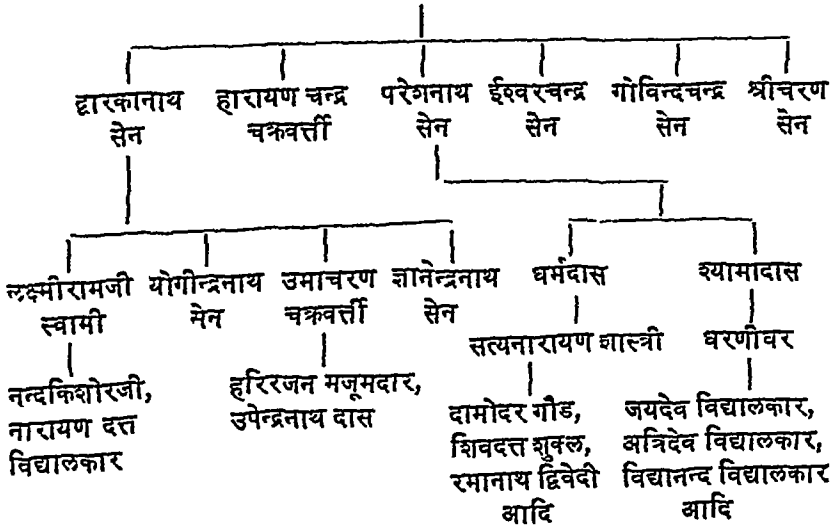
उनकी मृत्यु ८६ वर्ष की आयु मे वगला सवत् १२९२ (विक्रमी १९४२) में हुई थी। उनकी मृत्यु के पीछे उनके कई ग्रन्थो का मुद्रण हुआ, पर वहुत से अप्रकाशित रह गये। उनके आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

१ चरकसहिता की जल्पकल्पतरु टीका, २ परिभाषा; ३ भैषज्य रामायण, ४ आग्नेयायुर्वेद व्याख्या, ५ नाडीपरीक्षा, ६ राजवल्लभीय द्रव्यगुणविवृति, ७ भास्करोदय, ८ मृत्युजयसहिता, ९ आरोग्यस्तोत्रम्, १० प्रयोगचन्द्रोदय, ११ आयुर्वेदसग्रह।

श्री द्वारकानाथ सेन—महामहोपाध्याय कविराज द्वारकानाथ सेन कविरत्न का जन्म १८४३ ईसवी मे वगाल के फरीदपुर जिले मे 'खडरपारा' मे हुआ था। इनका वश चिकित्सा के लिए प्रख्यात था। द्वारकानाथ के सात भाई और थे, ये सवमे छोटे थे। ये जन्म से लापरवाह-वेफिक्र प्रकृति के थे। परन्तु उम्र के साथ इनमे विद्याप्रेम भी वढता गया। इन्होने मुर्शिदावाद के कविराज गगाधरजी से आयुर्वेद, दर्शन, उपनिषदो का अध्ययन किया। द्वारकानाथ सेन उनके प्रिय शिष्यो मे थे।

इन्होने १८७५ में कलकत्ता को केन्द्र वनाकर चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ किया। कुछ ही वर्षो मे इनका नाम केवल कलकत्ता में ही नही, अपितु वाहर भी प्रख्यात हो गया। इस प्रख्याति से दूर-दूर से विद्यार्थी इनके पास चिकित्सा के अध्ययन के लिए आने लगे। इनको ये हृदय से आयुर्वेद, दर्शन पढाते थे। इन्होने हथुवा के महाराज तथा उदयपुर (मेवाड) के राणा की चिकित्सा भारत सरकार के निमन्त्रण पर की थी। इस सफलता पर इनको १९०६ मे वैद्यो मे महामहोपाध्याय की उपाधि सवसे प्रथम मिली थी।

श्री द्वारकानाथ को चिकित्सा व्यवसाय से अवकाश नही मिलता था, परन्तु कार्य मे व्यग्र होने पर भी ये नियमपूर्वक भारतीय काग्रेस सस्था के अधिवेशन मे सम्मिलित होते रहे। ये सामाजिक कार्य, गरीवो की सहायता, विना किसी प्रसिद्धि के करते थे, इनके दिये दान को इनका दूसरा हाथ भी नही जानता था।

इनकी मृत्यु १९०६ ईसवी में हुई। इनके वडे पुत्र श्री योगीन्द्रनाथ सेन एम ए थे, जो स्वय कलकत्ते के प्रसिद्ध वैद्य हुए हैं। दूसरे पुत्र कविराज जोगेन्द्रनाथ थे, जो कि आनरेरी प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट और जज वने। ये स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति थे, इन्होंने स्वदेशी आदोलन में भाग लिया। तीसरे पुत्र का नाम कविराज सुधीन्द्र है, इनको स्वदेशी आन्दोलन में जेल जाना पडा।

कविराज द्वारकानाथ सेन के शिष्यो में जयपुर के स्वामी लक्ष्मीरामजी, निज पुत्र

के लिए आते थे। यहाँ पर शिक्षा तथा अन्य सुविधाएँ विना किसी प्रकार की आर्थिक फीस लिये मुफ्त में दी जाती थी। गरीबो के लिए मुफ्त दवाखाना खुला हुआ था। इनकी मृत्यु १९१८ ईसवी की पहली जुलाई को हुई थी।

श्री धर्मदासजी—इनका जन्म वर्दवान जिले में नवद्वीप के पूर्ववर्ती चूपी ग्राम में १८६२ ईसवी में हुआ था। इनके पिता का नाम कविराज श्री काशीप्रसन्न था। १५ वर्ष की उम्र में ये आयुर्वेद पढने के लिए अपने मामा श्री परेशनाथ कविराजजी के यहाँ वाराणसी में आ गये। श्री परेशनाथ कविराज श्री गगाधर कविराज के शिष्य थे।

अध्ययन समाप्त करके आपने अपने घर बनारस मे ही अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। फिर मालवीयजी के आग्रह से हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेद का अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। इनके मुख्य शिष्यों मे श्री सत्यनारायण शास्त्री एव कविराज-चक्रवर्ती ताराचरण सर्वदर्शनतीर्थ हैं।

श्री श्यामादासजी—आपका जन्म वगदेश के प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र नवद्वीप के समीप चूपी ग्राम मे वगला सवत् १२७१ मे हुआ था। इनके पितामह श्री पद्मलोचन दास प्रसिद्ध चिकित्सक और विद्वान् थे। इनके दो पुत्र थे, एक अन्नदाप्रसाद दास और दूसरे अबिकाप्रसाद। अन्नदाप्रसाद दास कविराज श्यामादासजी के पिता थे।

श्री श्यामादासजी ने १५ वर्ष की अवस्था में प० यदुनाथ उपाध्याय से संस्कृत साहित्य, व्याकरण, दर्शन आदि विषय पढे। आयुर्वेद पढने के लिए काशी के प्रसिद्ध कविराज परेशनाथजी के पास चले आये।

काशी में आयुर्वेद की शिक्षा समाप्त कर ये अपने पिता के आग्रह से अपने गाँव चले गये, वहाँ पर पिता के साथ रहकर चिकित्सा-ज्ञान प्राप्त किया। व्यवसाय करने के लिए कलकत्ता चले आये। वहाँ पर श्री द्वारकानाथ सेन के समीप रहकर ज्ञान में विदग्धता प्राप्त करते हुए अपना स्वतन्त्र चिकित्सा-व्यवसाय प्रारम्भ किया।

इनका व्यवसाय यहाँ अच्छा चमका। व्यवसाय के साथ-साथ इनका अध्यापन कार्य विस्तृत हुआ, दूर-दूर से विद्यार्थी इनके पास आयुर्वेद सीखने के लिए आते थे। इनके शिष्यो की सख्या बहुत थी, शिष्यो मे से बहुत से छात्र घर पर ही रहकर विद्याध्ययन करते थे, उनकी सब व्यवस्था इन्ही के यहाँ से होती थी।

इसके अतिरिक्त विद्यार्थियो को आर्थिक सहायता भी बराबर दी जाती थी। यही शिक्षासंस्था पीछे श्यामादास वैद्यशास्त्रपीठ के रूप में परिणत हो गयी।

इनके प्रमुख शिष्यों में सबसे यशस्वी श्री कविराज धरणीधरजी हुए, जिन्होने गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय में कई वर्ष आयुर्वेद का अध्यापन किया और बहुत से

श्री विजयरत्न सेन—इनका जन्म वगाल के विक्रमपुर नामक स्थान में २० नवम्बर १८५८ को वैद्यकुल में हुआ। इनके पिता का नाम कविराज श्री जगच्चन्द्र सेन था। जव इनकी उम्र १८ मास की थी, तभी इनको पितृवियोग सहना पडा। घर की परिस्थिति से वाध्य होकर ये कलकत्ते मे अपने मामा कविराज गगाप्रसाद सेनजी के पास चले आये। वही इन्होंने साहित्य, व्याकरण, दर्शन आदि के साथ-साथ आयुर्वेद की शिक्षा भी ली। आयुर्वेद के गुरु श्री गगाप्रसाद सेन एव कविराज काली-प्रसन्न सेन थे, जो उस समय के प्रसिद्ध कविराज थे।

विजयरत्न सेन प्रतिभाशाली थे। इन्होंने अपने चिकित्सा-व्यवसाय मे पर्याप्त धन तथा यश कमाया। इनकी कीर्ति वहुत फैली, इसी से कश्मीर-जम्मू के महाराज ने इनको चिकित्सा के लिए वुलाया था। अन्य धनी-मानी लोग भी इनसे लाभ प्राप्त करते थे। इनकी मृत्यु ५२ वर्ष की आयु में १९११ ईसवी में हुई।

इन्होंने "वनौषधिदर्पण" नाम का सुन्दर निघण्टु लिखा। इनके पौत्र श्री ज्योतिष-चन्द्र सेन थे, जिन्होंने अष्टागहृदय के उत्तर तत्र पर शिवदास सेनजी की टीका का प्रकाशन करवाया। इनके शिष्यों में प्रधान शिष्य श्री यामिनीभूषण थे, जिन्होंने अष्टाग आयुर्वेद विद्यालय मे इनकी प्रस्तरमूर्ति स्थापित की थी।

<u>श्री यामिनीभूषण कविराज</u>—आपका जन्म खुलना जिले के पायो ग्राम में १८७९ ईसवी मे हुआ था, पिता का नाम कविराज पचानन रे था। ये सस्कृत और आयुर्वेद शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। यामिनीभूषणजी ने सस्कृत मे एम० ए० तथा मेडिकल कालेज में पाँच साल अध्ययन करके १९०५ मे एम० वी० की उपाधि प्राप्त की। आयुर्वेद का ज्ञान अपने पिता से ही प्राप्त किया। पिता के मरने के पीछे आयुर्वेद की शिक्षा कविराज विजयरत्न सेनजी के पास पूरी की थी।

इन्होंने १९०६ मे अपना स्वतन्त्र व्यवसाय कलकत्ता में प्रारभ किया। इन्होंने १९१६ में अष्टाग आयुर्वेद कालेज और हास्पिटल के नाम से एक सस्था को जन्म दिया। इन्होंने इसके लिए अपना तन-मन-धन लगा दिया। इसका विस्तार १९२५ में हुआ, जव महात्मा गाधीजी के हाथो से शिलान्यास करवाकर पृथक् रूप में इसका अस्तित्व रखा गया। यहाँ सव प्रकार की सुविधा है और ३०० से अधिक विद्यार्थी शिक्षा लेते हैं।

श्री यामिनीभूषण राय ने विषयवार आयुर्वेद की शिक्षा का ज्ञान देने के लिए आयुर्वेदग्रन्थो से वचनो को सगृहीत करके पृथक्-पृथक् पुस्तके प्रकाशित करवायी थी। इनमें शालाक्य तत्र, प्रसूति तत्र, विषविज्ञान आदि वहुत-सी उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित

हुई है। इनकी मृत्यु ४७ वर्ष की उम्र मे ही १९२५ ईसवी मे हो गयी। इनका नाम अष्टाग आयुर्वेद कालेज के नाम के साथ जोड दिया गया।

वगाल के दूसरे प्रसिद्ध कविराज श्री उमाचरण चक्रवर्ती थे, जिनका कार्यक्षेत्र वनारस रहा। आप यहाँ चिकित्सा व्यवसाय करते हुए अध्यापन भी करते थे। आपके प्रसिद्व शिष्यो में श्री हरिरजन मजूमदार है, जिन्होने दिल्ली में आयुर्वेद का क्षेत्र वनाया।

श्री हरिरजन मजूमदार—कविराज हरिरजन मजूमदार का जन्म कश्मीर में सन् १८८५ मे हुआ था, जहाँ महाराज रणजीतसिंह और महाराज प्रतापसिंहजी के राज्यकाल मे उनके पिता कविरत्न पष्ठीचरण मजूमदार राज्य के गृहचिकित्सक थे। वास्तव में वैसे उनके पूर्वज चटगाँव (पूर्वी पाकिस्तान) के रहनेवाले थे। उनके वश में चिकित्सा कार्य वहुत पीढियो से होता आया है, इस परम्परा के वह १३वें उत्तराधिकारी है। वग प्रान्त में साधारण शिक्षा समाप्त करने के वाद इन्होने १९०८ मे प्रेसीडेन्सी कालेज कलकत्ता से वनस्पति-विज्ञान लेकर एम० ए० की डिग्री प्राप्त की, तत्पश्चात् इन्होने काशी के प्रसिद्ध कविराज उमाचरण भट्टाचार्य के चरणो में वैठकर आयुर्वेद का अध्ययन किया और कलकत्ता तथा कश्मीर में निजी प्रैक्टिस भी की।

सन् १९२० में जव स्वर्गवासी हकीम अजमल खाँ को कविराज हरिरजनजी के वारे मे मालूम हुआ तो उन्होने दिल्ली के आ० और यू० तिब्वी कालेज का भार ग्रहण करने के लिए उनसे अनुरोध किया। आयुर्वेदिक विभाग के प्रधान के नाते इन्होने वहाँ लगातार १७ वर्षो तक कार्य सुसम्पन्न किया। इस वीच में दिल्ली म्युनिसिपालिटी मे आयुर्वेद को स्वीकृत कराने के लिए इन्होने घोर प्रयत्न किया। अन्त में ३ वर्ष के अथक परिश्रम के वाद आप एक आयुर्वेदिक औषधालय खुलवाने मे सफल हो गये और अनेक कठिनाइयो के वीच इन्होने उसे चलाने का भार सँभाला। इस औषधालय की अप्रत्याशित सफलता के वल पर ये दूसरा औषधालय खुलवाने में सफल हुए। इस प्रकार ग्यारह वर्ष तक इन्होने कार्य किया। आजकल ११ आयुर्वेदिक औषधालय म्युनिसिपालिटी की ओर से जनता की सेवा कर रहे है।

१९३७ में इन्होने म्युनिसिपल औषधालय तथा आ० और यू० तिब्वी कालेज दोनो से अवकाश ग्रहण कर लिया और अपनी स्वतन्त्र प्रैक्टिस प्रारम्भ कर दी। तभी इन्होने मजूमदार आयुर्वेदिक फार्मास्यूटिकल वर्क्स के नाम से एक फार्मेसी खोली।

आजकल आप काशी में रहते हैं और पूर्णतया अवकाशप्राप्त जीवन व्यतीत कर रहे है। कविराजजी के प्रथम पुत्र कविराज आशुतोष मजूमदार ने दिल्ली में हिन्दू

कालेज में पढ़ने के उपरान्त आयुर्वेदिक और यूनानी तिब्बी कालेज में आयुर्वेद का अध्ययन कर सन् १९३५ से अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया था, आजकल वे अपनी निजी प्रैक्टिस नयी दिल्ली एवं दिल्ली में करते हैं। इसके अतिरिक्त वे आयुर्वेदिक और यूनानी तिब्बी कालेज के वाइस प्रिन्सिपल हैं।

उमाचरण चक्रवर्तीजी के दूसरे शिष्य उपेन्द्रनाथ दास हैं, जो दिल्ली में ही अपना चिकित्साव्यवसाय करते हुए आयुर्वेद का अध्यापन करते हैं। आपने त्रिदोप सम्बन्धी एक पुस्तक संस्कृत में लिखी है।

बंगाल की परम्परा में राखालदास कविराज भी सफल चिकित्सक हुए हैं। इसी प्रकार अन्य भी परम्परागत वैद्य हैं, परन्तु अब वह प्राचीन प्रतिभा, निष्ठा नहीं है। इस समय श्री विमलानन्द तर्कतीर्थ, श्री प्रभाकर चट्टोपाध्याय आदि कुछ कविराज हैं। बंगाल की परम्परा में एक विशेषता यह है कि अंग्रेजी की उच्च शिक्षा लेने के साथ इन्होंने आयुर्वेद को सीखा। श्री योगीन्द्रनाथ सेन एम० ए०, श्री हरिरंजन नाथ मजूमदार एम० ए०, श्री गणनाथ सेनजी एम० ए०, श्री यामिनीभूषण राय एम० ए० आदि इसके उदाहरण हैं। पाश्चात्य ज्ञान के कारण बुद्धि का विकास होने से इन्होंने जो निष्ठा आयुर्वेद के प्रति रखी वह सच्ची थी, इसलिए इन्होंने आयुर्वेद का विकास किया। श्री गणनाथ सेनजी के शिष्यों में डाक्टर आशानन्द पंजरत्न ने भी एम० बी० बी० एस० करके आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार से जिनको ज्ञान मिला, वे अधिक श्रद्धा के साथ उसका विकास कर सके।

इसके विपरीत जो केवल शास्त्राचार्य होते हैं, व्याकरण या संस्कृत का ज्ञान लेकर आयुर्वेद पढ़ते हैं, उनसे आयुर्वेद का प्राय कोई हित नहीं होता, वे केवल लकीर पर चलनेवाले रह जाते हैं। जो पाश्चात्य ज्ञान के साथ आयुर्वेद पढ़ते हैं, वे उसमें विशाल दृष्टि रखकर बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होते हैं, इसलिए उनसे आयुर्वेद की सच्ची सेवा होगी। इसी से बंगाल के सूक्ष्मदर्शी कविराजों ने समय रहते इस बात को पहचाना, और अंग्रेजी तथा पाश्चात्य विज्ञान के साथ-साथ अपने दर्शन, संस्कृत साहित्य का ज्ञान करके आयुर्वेद को पढ़ा।[1] यही एक सीधा रास्ता था, जिससे आज भी बँगला में

---

१. गुरुकुल विश्वविद्यालय में आयुर्वेद का पाठचक्रम सन् १९१८ से लेकर १९३२ तक जो था, वह ऐसा ही था, वहाँ पर आयुर्वेद पढ़नेवाले को अंग्रेजी, साइन्स, व्याकरण, संस्कृत, दर्शन, उपनिषद्, इतिहास, गणित आदि सब आधुनिक ज्ञान इण्टर तक का तथा व्याकरण सम्पूर्ण सिद्धान्तकौमुदी, महाभाष्य, दर्शन में वैशेषिक, सांख्य, न्याय, योग, वेदान्त, वेद पढ़ते हुए पाश्चात्य चिकित्सा के साथ-साथ आयुर्वेद पढ़ना होता था।

आयुर्वेद की प्रामाणिक सहिताओं के अनुवाद के सिवाय चिकित्सा विषयक जितना साहित्य मिलता है, वह अन्य किसी भी भाषा में नहीं।

उत्तर प्रदेश के वैद्य

उत्तर प्रदेश या अन्य किसी प्रान्त में बगाल जैसी परम्परा लम्बी चली हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। इसलिए अन्य प्रान्तों में जिन वैद्यों ने आयुर्वेद की उन्नति में भाग लिया, आयुर्वेद की सेवा की, उनमें से प्रसिद्ध विद्वानों का अपने ज्ञान के अनुसार ही यहाँ उल्लेख किया गया है।

अर्जुन मिश्र—अर्जुन मिश्र का जन्म काशी में सवत् १९१० में हुआ था। आपके पिता का नाम पण्डित भानुदत्त था, जो कि रहनेवाले पजाब के होशियारपुर जिले के थे। इनका विद्यारम्भ प्रसिद्ध विद्वान् प० बालकृष्णजी से हुआ, आपने आयुर्वेद सगरूर रियासत के वैद्य प० दिलारामजी से सीखा था। चिकित्सा क्षेत्र काशी को बनाया। ये अपने कार्य मे बहुत सफल हुए।

आयुर्वेद की शिक्षा के लिए १९१७ में आयुर्वेद विद्याप्रबोधिनी पाठशाला आपने खोली थी। इसको चलाने के लिए तन-मन-धन से सहायता की, जिसके परिणाम-स्वरूप आज भी अर्जुन विद्यालय के नाम पर यह कार्य कर रही है। आप मरते समय अपना सर्वस्व पाठशाला को दे गये। आपकी मृत्यु १९७९ सवत् में हुई थी। आप अपने पीछे शिष्यों की एक लम्बी परम्परा छोड गये।

श्यामसुन्दराचार्य—काशी के प्रसिद्ध विद्वान् श्यामसुन्दराचार्य का जन्म सवत् १९२८ में भरतपुर राज्य के सुप्रसिद्ध कामवन नामक स्थान में हुआ था। आप रामानुज सम्प्रदाय के वैश्य थे। आप अपनी युवावस्था में काशी आ गये थे। यहाँ आपने आयुर्वेद श्री अर्जुन मिश्रजी से पढा था।

आपने रसशास्त्र के चन्द्रोदय और पारद पर अनुभव करने में बहुत समय लगाया। इसमें तन-मन-धन व्यय करके जो ज्ञान प्राप्त किया उसे जनता के समक्ष 'रसायनसार' के रूप में रखा। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भी रसायन शास्त्र की शिक्षा दी थी। आपकी मृत्यु १९१८ ईसवी में हुई थी।

हरिदास राय चौधरी—आपका मूल स्थान राजशाही (बगाल) के अन्तर्गत बिजौटा है, आपके पिता का नाम कविराज जगच्चन्द्र था। हरिदासजी का जन्म काशी में १२८६ बगला सवत् में हुआ। ग्यारह वर्ष में पितृवियोग सहना पडा। आपने प्रारम्भ मे सस्कृत के साथ अग्रेजी का अध्ययन किया। पीछे से मेडिकल स्कूल पटना

में प्रविष्ट हुए। परन्तु अपने पुत्र की चिकित्सा के कारण विवश होकर पढाई छोड आये। इनके पुत्र को यकृत रोग था, जिसकी चिकित्सा मे डाक्टरो से लाभ न होता देखकर कविराज गगाधर के शिष्य ईश्वरचन्द्र की चिकित्सा आरम्भ करायी गयी, जिससे स्वास्थ्य लाभ हुआ। इससे इनके हृदय मे आयुर्वेद के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई, ये ईश्वरचन्द्र से आयुर्वेद पढने लगे। ईश्वरचन्द्रजी की मृत्यु के पीछे यही रोगियो की चिकित्सा करते थे। इनकी मृत्यु वँगला सवत् १३४० मे हुई है।

श्री त्र्यम्बक शास्त्री—आपके पितामह पेशवाओं के साथ काशी आये थे। विठूर मे वाजीराव पेशवा दूसरे जब कैद कर लिये गये, तो कुछ पेशवा काशी आये थे। ये लोग पेशवाओ के राजवैद्य थे, इसलिए उनके साथ मे काशी आये। आपके पिता अमृत शास्त्री अच्छे वैद्य थे। आप भी उनके योग्य पुत्र हुए। पेशवाओ के राजवैद्य होने से सम्भवत आपको सरकार से कुछ पेन्शन भी मिलती थी। आप काशी के शिरोमणि चिकित्सक थे। आपको अपनी चिकित्सा पर पूरी आस्था और विश्वास रहता था। विद्वानो का आप आदर करते थे, मूर्खों के लिए क्रोधी थे। आपके सुयोग्य शिष्यो में पण्डित हरिदत्तजी शास्त्री है, जो इस समय वम्बई के आयुर्वेद कालेज के सचालक हैं। आपकी शिष्यपरम्परा लम्बी है।

श्री सत्यनारायण शास्त्री—काशी के अगस्तकुण्डा मुहल्ले में १९४६ सवत् में आपका जन्म हुआ। आपके पिता का नाम वलभद्र पाण्डेय था, जो अपने पिता प० शिवनन्दन शर्मा पाण्डेय के समान विद्वान् थे। आपमें वचपन से ही प्रतिभा का विकास था। इसी से वहुत जल्दी आपने सस्कृत व्याकरण, दर्शन विषय मे पाण्डित्य प्राप्त कर लिया था। आयुर्वेद का अध्ययन श्री धर्मदासजी से किया था। उनके ये प्रिय शिष्य थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में उनके पीछे आयुर्वेद के अध्यक्ष रहे। आपका नाडीज्ञान वहुत चमत्कारिक है। अपने चिकित्सा-नैपुण्य के कारण आप राष्ट्रपति के चिकित्सक नियुक्त हुए। आप 'पद्मभूषण' उपाधि से सम्मानित हैं। आपमें विद्वत्ता के साथ सरलता, उदारता, स्पष्टवादिता दीखती है। आपने वहुत से योग्य शिष्य उत्पन्न किये, जिनमे दामोदर शर्मा, प्रियव्रत शर्मा, शिवदत्त शुक्ल एव रमानाथ द्विवेदी मुख्य हैं।

श्री जगन्नाथप्रसाद शुक्ल—आपके घर को वैद्यो का घराना कहा जाता था। आपका जन्म सवत् १९२६ में फतेहपुर के एकडला ग्राम में हुआ था; पिता का नाम पण्डित गयाप्रसाद शुक्ल था। पिता की मृत्यु इनकी छोटी उम्र में हो गयी थी। कुछ समय रहने के वाद आप मध्यप्रदेश मे प्रयाग-समाचार के सम्पादक होकर प्रयाग में

आये। यह पत्र राजवैद्य पंडित जगन्नाथ शर्मा का था। इससे इनको आयुर्वेद के प्रति रुचि हुई। यहाँ से इन्हें बम्बई में वेंकटेश्वर-समाचार पत्र में जाना पड़ा, जहाँ पर ये वैद्य शंकरदाजी शास्त्री के सम्पर्क में आये और आयुर्वेद को अपनाया।

आपने अपना कार्यक्षेत्र प्रयाग को बनाया। संवत् १९६६ से आप यहीं पर रहकर हिन्दी की तथा आयुर्वेद की सेवा कर रहे हैं। आयुर्वेद के प्रचार के लिए आपने बहुत-सी पुस्तकें लिखी, सुधानिधि पत्रिका भी निकाल रहे हैं, घाटा सहकर भी उसे चला रहे हैं। आयुर्वेद महासम्मेलन की नींव स्थापित करने मे आपका बहुत बड़ा हाथ है। प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे आयुर्वेद को स्थान दिलाने का यश आपको ही है। आयुर्वेद के रस-वीर्य आदि विषयो पर आपने दस से अधिक पुस्तके लिखी हैं।

बिहार प्रान्त के वैद्य

श्री व्रजविहारी चतुर्वेदी—आपका जन्म मिथिला प्रान्त के अन्तर्गत हाजीपुर नामक छोटे शहर मे हुआ था। आपके पिता का नाम पं० मोहनलाल चतुर्वेदी था। प्रारम्भ मे व्रजविहारीजी ने फारसी और अंग्रेजी पढी थी। उपनयन के पीछे पटना जाकर संस्कृत, दर्शन आदि प्राच्य विषयो का अध्ययन किया। फिर काशी आकर पं० सीतारामजी शास्त्री से आयुर्वेद का सम्पूर्ण अध्ययन किया। चिकित्सा व्यवसाय अपने गाँव हाजीपुर में प्रारम्भ किया। हाजीपुर मे १५ वर्ष तक कार्य किया, अच्छी प्रतिष्ठा और ख्याति प्राप्त की, महाराज दरभंगा की चिकित्सा करके यश उपार्जन किया।

मित्रो के अनुरोध पर आप १९१२ मे पटना आ गये और वहाँ पर चिकित्सा व्यवसाय करने लगे। पटना में राजकीय संस्कृत एसोसियेशन में आयुर्वेद की परीक्षाओं को रखवाने का श्रेय आपको ही है। आपके अनुरोध पर ही सरकार ने पटना में आयुर्वेदिक कालेज खोला था। आपके पुत्र श्री हरिनारायणजी हैं, जो उसके प्रिन्सिपल हुए। शिष्यो में पं० हरिनन्दजी झा योग्य चिकित्सक हैं। आपने कुछ ग्रन्थ भी लिखे हैं, परन्तु वे देखने में नही आये। आपकी शिष्यपरम्परा बहुत है।

राजस्थान के वैद्य

राजस्थान में भी बंगाल की कुछ परम्परा मिलती है। उस प्रान्त की चिकित्सा में आयुर्वेद के साथ यूनानी चिकित्सा मिली रहती है। इस चिकित्सा में अपनी विशेषता है।

श्रीकृष्णराम भट्ट—आपके पिता का नाम जीवराम भट्ट (उपनाम कुन्दनजी) था, ये जयपुर महाराज द्वारा स्थापित आयुर्वेद पाठशाला के प्रधान अध्यापक थे।

ने भैंपज्यरत्नावली का समयोचित हिन्दी अनुवाद किया, विद्याधर विद्यालंकार ने योगरत्नाकर और रसेन्द्रसारसगह की हिन्दी व्याख्या लिखी।

प० रामप्रसादजी—आपका जन्म पटियाला राज्य के टकसाल गाँव मे १९३९ सवत् मे हुआ था। आपके पिता का नाम प० द्वारकादासजी उपाध्याय था। आपने व्याकरण, दर्शन, आयुर्वेद का अध्ययन किया। आपने चरक, अप्टागहृदय आदि ग्रन्थो का हिन्दी अनुवाद किया है। सस्कृत मे आयुर्वेदसूत्र लिखा है, यह आयुर्वेदसूत्र मैसूर में छपे योगानन्दनाथ कृत से सर्वथा भिन्न है।

आप आयुर्वेद प्रचार मे सदा यत्नशील है, पटियाला राजधानी मे आयुर्वेदविद्यालय चला रहे हैं। राज्य के आयुर्वेदविभाग के आप उच्च अधिकारी है। सरकार ने १९२३ में आपको वैद्यरत्न की उपाधि दी थी।

आपके सुपुत्र योग्यवक्ता श्री प० शिवशर्माजी है। आप पहले लाहौर में चिकित्सा कार्य करते थे एव आयुर्वेद प्रचार मे प्रयत्नशील थे। अब विभाजन के बाद आपने बबई को कार्यक्षेत्र बनाया। आपने शुद्ध आयुर्वेद पाठयक्रम पर जोर दिया। आप अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद सम्मेलन के चार बार सभापति चुने गये।

मनोहरलालजी शर्मा—आपका जन्म १९३६ विक्रमी मे हुआ था। आपने अल्पकाल मे ही कोश, व्याकरण, काव्य, साहित्य पढकर बनवारीलाल आयुर्वेद विद्यालय मे आयुर्वेद का अध्ययन किया। वहाँ शिक्षा समाप्त करके उसी पाठशाला में अध्यापक बने और पीछे प्रिन्सिपल नियुक्त हुए। आपके शिष्यो मे प० मणिरामजी शर्मा योग्य वैद्य हैं।

इनके सिवाय पजाब मे लाहौर के ठाकुरदत्त मुलतानी (अब दिल्ली मे उनके सुपुत्र हैं) तथा रावलपिण्डी में वैद्य मस्तरामजी बहुत कुशल वैद्य थे। वैद्य हरिदत्तजी शास्त्री सस्कृत, आयुर्वेद के अच्छे विद्वान है, आपने जैज्जट की चरक-टीका का सम्पादन किया है, इस समय बम्बई प्रान्त के आयुर्वेद विभाग के सचालक है।

सिन्ध के वैद्य

वैद्य सुखरामदासजी टी ओझा—आपका जन्म सिन्ध की पुरानी राजधानी ठट्ठा में १९२८ विक्रमी सवत् में हुआ था। आप पुष्करणा थे। आपके पिता का नाम तेजभानदास ओझा था। आपने चिकित्सा का अध्ययन अपने पितृव्य के पुत्र श्री पीताम्बरदासजी से किया। प्रतिभा अच्छी होने से जल्दी चमक गये। वही पर अपना स्वतत्र धधा प्रारम्भ किया। १९५९ में आपको अपने चाचा लालचन्दजी का औषधालय

सँभालने के लिए कराची जाना पडा और जब तक देश का विभाजन नही हुआ, आप वही पर आयुर्वेद का प्रचार, अध्यापन एव चिकित्सा करते रहे। सिन्ध में आयुर्वेद को जो सरकारी सम्मान मिला, उसमे आपका बडा भारी हाथ था। देश के विभाजन के पीछे आप बम्बई चले आये और वहाँ पर अपना चिकित्साव्यवसाय करना प्रारम्भ किया। परन्तु दु ख है कि आप अधिक समय जीवित नही रहे।

मद्रास के वैद्य

पण्डित डी० गोपालाचार्लु—आपका जन्म १९०० विक्रमी सवत् मे मछलीपट्टम में हुआ था, आपके पिता का नाम रामकृष्ण चार्लु था। आपके पिता कुशल वैद्य थे, इसलिए बचपन मे अन्य विद्याओं के साथ प्रारम्भिक शिक्षा आपने पिता से ही प्राप्त की, पीछे आयुर्वेद की उच्च शिक्षा के लिए मैसूर की राजकीय आयुर्वेदिक शाला मे चले गये। वहाँ शिक्षा समाप्त करके कलकत्ता, जयपुर, हरिद्वार, नासिक, लाहौर, काशी, कश्मीर आदि में आयुर्वेद ज्ञान को देखने-समझने के लिए भ्रमण किया। वहाँ से लौटकर बग-लोर की आयुर्वेद वैद्यशाला के प्रधान चिकित्सक रूप में कार्य किया।

वहाँ से मित्रों की प्रेरणा पर मद्रास मे श्री कन्यका परमेश्वरी देवस्थान के अधिकारियो द्वारा स्थापित आयुर्वेदवैद्यशाला के प्रधान चिकित्सक बनकर आये। इनके पास दूर-दूर से विद्यार्थी शिक्षा लेने आते थे। इनके मुख्य शिष्यों में उत्तर प्रदेश के श्री प० धर्मदत्त सिद्धान्तालकार, राजस्थान के कविराज प्रतापसिहजी तथा मद्रास के डाक्टर लक्ष्मीपति है।

इन्होंने अपनी प्रतिभा से प्लेग के लिए हेमाद्रिपानकम् तथा रसायन रूप मे जीवामृत नामक दो औषधियाँ ढूढी। इनका प्रचार आज भी है। इन्होंने आयुर्वेद के प्रचार के लिए सतत प्रयत्न किया। स्थान स्थान पर वैद्यशालाएँ, पाठशालाएँ खुलवायी। इन्होंने आन्ध्र भाषा (तेलुगु) में ग्रन्थ लिखे थे। इनकी मृत्यु १९२० ईसवी मे हुई।

डाक्टर लक्ष्मीपति—आपका जन्म पश्चिम गोदावरी के निडाडवेला जिले के माधवराम ग्राम में १८८० ईसवी मे हुआ था। आपकी शिक्षा राजमहेन्द्री कालेज और प्रेसीडेन्सी कालेज मद्रास में हुई थी। आपने आयुर्वेद-प्रेम के कारण पण्डित सी० एच० सीतारमैया के पास राजमहेन्द्री मे आयुर्वेद शिक्षा लेनी प्रारम्भ की। सीतारमैया अपने समय के योग्य वैद्य थे। पीछे से मद्रास के मेडिकल कालेज मे प्रविष्ट हुए। वहाँ से १९०९ में एम० बी० सी० एम० की उपाधि लेकर स्नातक बने। दस वर्ष एलोपैथिक चिकित्सा व्यवसाय किया। फिर मद्रास के आयुर्वेदिक कालेज मे प्रविष्ट हुए, वहाँ

आयुर्वेद पढने के साथ-साथ सर्जरी पढाते थे। इस कालेज को डॉ० गोपालाचार्लु चला रहे थे। इन्होंने १९२० मे आन्ध्र आयुर्वेदिक फार्मेसी स्थापित की। अवादी में आरोग्याश्रम बनाया, जहाँ पर प्राकृतिक चिकित्सा से पुराने रोगी स्वस्थ किये जाते है। इन्होंने आयुर्वेद शिक्षा, एक सौ उपयोगी औषधियाँ, दीर्घायु का रहस्य, व्यायाम-शास्त्र, मर्दन और स्नान आदि पुस्तकें अंग्रेजी और तेलुगु में प्रकाशित की हैं।

आप नियमित व्यायाम करते हैं, तैलमर्दन आदि आयुर्वेद-वर्णित पूर्ण स्वास्थ्य-विधान का पालन करते है। इसी से ७५ वर्ष की आयु में भी पूर्ण युवा लगते हैं।

कैप्टन जी० श्रीनिवास मूर्त्ति—आपका जन्म मैसूर के गोरूर ग्राम में १८८७ ईसवी मे हुआ था। बी० ए० तक अध्ययन करने के बाद मद्रास मेडिकल कालेज में शिक्षा प्राप्त की। कुछ समय बाद मद्रास मेडिकल कालेज में बायोलॉजी तथा मेडिकल जूरिस प्रूडेन्स के अध्यापक हुए। १९१७ में इन्होंने विश्वयुद्ध में सेवाकार्य किया। १९२१ मे यह सैनिक नौकरी से नागरिक सेवा मे परिवर्त्तित किये गये। इस समय रोयापुरम के मेडिकल स्कूल में सर्जरी के अध्यापक तथा अस्पताल के सर्जन नियुक्त हुए।

मद्रास सरकार ने भारतीय चिकित्सा की जाँच के लिए सर मुहम्मद उस्मान की अध्यक्षता में जो कमेटी बनायी थी, उसके आप मत्री चुने गये। इससे इनको आयुर्वेद समझने और सम्पूर्ण भारत मे उसकी स्थिति जानने का अच्छा अवसर मिला। सरकार ने जब आयुर्वेदिक शिक्षा का एक स्कूल खोलना निश्चित किया, तब पाठ्यक्रम आदि बनाने का भार आपको सौंपा गया। यह कालेज १९२५ मे खुला, तब आप ही इसके प्रथम प्रिन्सिपल नियुक्त हुए। मद्रास गवर्नमेन्ट ने १९३२ में सेन्ट्रल बोर्ड आफ मेडिसिन बनाया जिसके आप प्रेसीडेन्ट चुने गये थे। आयुर्वेद की बहुत-सी सस्थाओ से आप सम्बद्ध रहे। आपने इन्फैन्ट मॉर्टेलिटी आदि पुस्तकें अंग्रेजी में लिखी है।

वैद्यरत्न पी० एस० वेरियर—आपका जन्म पन्नीमपल्ली वेरियम के चिकित्सक घराने मे १८६९ ईसवी में हुआ था। आपने श्री कूटनचरी वासुदेवन मूसाद के पास पाँच साल तक आयुर्वेद की शिक्षा ली। दो साल अंग्रेजी पढी और तीन साल तक दीवानबहादुर डाक्टर वी० वैरघेसी के पास एलोपैथिक शिक्षा प्राप्त की। दोनो विषयो का क्रियात्मक ज्ञान लेने के पीछे १९०२ मे 'आर्यवैद्यशाला' नाम से अपना स्वतत्र चिकित्सास्थान कोटाकल मे चलाया। यही पर फार्मेसी बनायी और आर्यवैद्यसमाज बनाकर आयुर्वेद का प्रचार प्रारम्भ किया। प्रचार के लिए मलयालम में धन्वन्तरि-त्रिका प्रकाशित की। छात्रो को आयुर्वेद की शिक्षा देने के लिए १९१७ में कालीकट में आर्यवैद्य पाठशाला प्रारम्भ की। १९२४ में कोटाकल मे मुफ्त आर्य-वैद्यशाला

हास्पिटल खोला, पीछे से कालीकट की आर्य-वैद्य पाठशाला भी इसी स्थान पर लायी गयी, जिससे विद्यार्थियो को क्रियात्मक ज्ञान सम्पूर्ण विपयो का प्राप्त हो सके।

इन्होंने अप्टागशारीरम् पुस्तक सस्कृत में लिखी है।

पण्डित एन० दुरैस्वामी आयगर—मद्रास प्रान्त के उत्तरीय आरकाट जिले के ब्रह्म-देशम् गाँव में १८८८ ईसवी में आपका जन्म हुआ था। आयुर्वेद की पढाई पाँच साल में समाप्त करके १९०७ में ये कलकत्ते गये। वहाँ कविराज द्वारकानाथ सेन से आयुर्वेद की क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण की।

इन्होंने अपना चिकित्साक्रम त्रिचनापल्ली में प्रारम्भ किया। वहाँ दो साल स्वतत्र कार्य करने पर गोपालाचार्लुजी के आग्रह पर मद्रास आयुर्वेदिक कालेज और सलग्न चिकित्सालय मे काम करने के लिए चले आये। डी० गोपालाचार्लुजी के निवृत्त होने पर आप १२ वर्प तक चिकित्सालय के प्रवान वैद्य के पद पर काम करते रहे।

इन्होंने आयुर्वेद की वहुत-सी पुस्तको का तामिल अनुवाद किया है, यथा—अप्टाग-हृदय, माधवनिदान, रसरत्नसमुच्चय, शार्ङ्गधरसहिता। इन्हें अपने ही व्यय मे प्रकाशित किया। 'जीवानन्दनम्' नाटक की सस्कृत टीका वहुत ही सुन्दर रूप में आपने की। इसको अडयार पुस्तकालय ने छापा है।

गुजरात के वैद्य

श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य—आपका जन्म सवत् १९३८ विक्रमी में पोरवन्दर (काठियावाड) मे हुआ था। आपके पिता श्री त्रिकमजी पोरवन्दर के राणासाहव के राजवैद्य थे। विद्याध्ययन पोरवन्दर में हुआ, परन्तु १९४५ मे वम्बई आकर भिन्न-भिन्न विद्वानो से इन्होंने व्याकरण, दर्शन, अरवी, फारसी सीखी। हकीम राम-नारायणजी से यूनानी चिकित्सा सीखी, वैद्यक राजस्थान निवासी प० गौरीशकरजी से तथा महाराप्ट्र के वैद्य मे सीखी। जव आप १८ वर्ष के थे, उस समय पिता के स्वर्गवासी होने पर गृहस्थी का सारा वोझ आप पर आ गया। आपने १८९९ में माधवनिदान की मधुकोश व्याख्या का सशोधन किया, जिसे १९०१ में निर्णयसागर प्रेस ने प्रथम वार प्रकाशित किया। इस समय आपकी अवस्था केवल उन्नीस वर्प की थी। आयुर्वेद ग्रन्थो के प्रकाशन का यह प्रथम प्रयास था। यह सिलसिला आगे जीवन पर्यन्त चलता रहा, आपने आयुर्वेददीपिका सहित चरकसहिता, मूल चरकसहिता, डल्हण की निवन्ध-सग्रह व्याख्या सहित सुश्रुतसहिता और मूल सुश्रुतसहिता सशोधित करके निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित करायी। आपने स्वय अपने व्यय से वहुत-से प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशित

किये। इनमे रसहृदय तन्त्र, रसप्रकाशसुधाकर, गदनिग्रह, राजमार्त्तण्ड, नाडी-परीक्षा, वैद्यमनोरमा, धारापद्धति, आयुर्वेदप्रकाश, रसायनखण्ड रसपद्धति, लौहसर्वस्व, रससार, रससकेतकलिका, रसकामधेनु, क्षेमकुतूहल आदि है।

दूसरे प्रकाशको को बहुत-से ग्रन्थ प्रकाशन के लिए दिये। श्री हरिप्रपन्नजी को रसयोगसागर तैयार करने में लगभग चालीस हस्तलिखित ग्रन्थ आपने अपने पास से दिये थे। आपने श्री कविराज गणनाथ सेनजी के प्रत्यक्षशारीरम् का गुजराती अनुवाद करवाकर जुगतराम भाई के सहयोग से प्रकाशित किया। डा० वामन गणेश देसाई की पुस्तके औषधिसग्रह और भारतीय रसशास्त्र मराठी मे अपने ही व्यय मे प्रकाशित की। वैद्यो को लिखने के लिए बराबर प्रोत्साहन देते थे। आयुर्वेद-पदार्थविज्ञान का विचार आने पर उसकी रूपरेखा बनाकर कई विद्वानो को दी, बहुतो ने इस विषय पर पुस्तके लिखी—इनको छपवाया भी आपने। इनकी उदारता का कुछ लोगो ने दुरुपयोग भी किया। जामनगर मे आयुर्वेदिक कालेज, रिसर्च कार्य आदि सब प्रवृत्तियो मे आपका ही हाथ रहा। आज आप होते तो वहाँ की दशा और ही होती। आप आयुर्वेद के नाम पर सब कुछ त्याग करने को तैयार थे। आपने विषयवार पुस्तके लिखवायी और स्वय भी लिखी। आपने रसशास्त्र पर रसामृत लिखा, अपनी चिकित्सा मे अनुभूत योगो को सिद्धयोगसग्रह नाम से प्रकाशित किया। अभी आप आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान पुस्तक लिख रहे थे जिसका कुछ भाग प्रकाशित हो चुका है।

आपका सही विश्वास था कि पाश्चात्य चिकित्सा एव यूनानी चिकित्सा की अच्छी अच्छी वस्तुएँ लेनी चाहिए (आपने यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान नामक बृहत् ग्रन्थ हिन्दी मे प्रकाशित कराया)। आपकी मृत्यु अभी तीन साल पूर्व जामनगर मे हुई।

बम्बई जैसे शहर मे आपने अपनी फीस सामान्य रखी थी। गरीबो को महँगी से महँगी औषधि मुफ्त देने में कभी सकोच नही किया। विद्वान् व्यक्ति से फीस एव औषधि के दाम तक भी नही लेते थे। इनके उठ जाने से आयुर्वेद की अतिशय क्षति हुई है।

वैद्य हरिप्रपन्नजी—आपका जीवन बहुत सरल और सामान्य था। औषधियाँ सम्पूर्ण अपने सामने बनवाते थे। जगल से औषधियाँ स्वत लाते थे। आपने अपनी चिकित्सा से अतुल धन-सम्पदा अर्जित की थी, जिसे आयुर्वेद के उत्कर्ष के निमित्त अपने हाथो से दान भी कर गये।

रसयोगसागर नाम का बृहत् ग्रन्थ आपने तैयार किया, और अपने ही व्यय से छपवाया। इसका उपोद्घात, रसो पर दी हुई टिप्पणियाँ और द्वितीय भाग के अन्त में दिये स्वतन्त्र विचार देखकर आपकी विद्वत्ता एव परिश्रम का पता चलता है।

आपका भास्कर औषधालय आज भी चलता है, जहाँ पर गरीबों को मुफ्त में औषध दी जाती है। आयुर्वेद पाठशाला के लिए बम्बई में तीन मंजिल का मकान आप अपने रुपयों से लेकर दे गये, जिससे यह पाठशाला अव्याहत गति से निरन्तर चलती रहे।

श्री झण्डू भट्ट एवं जुगतराम—इनका घराना पुराने वैद्यों का है। इनके पिता का नाम विट्ठलजी था, इनका जन्म १८५२ संवत् में हुआ। इनके पिता जामनगर के राजा के राजवैद्य थे। इन्होंने बहुत परिश्रम से आयुर्वेद सीखा।

रसौषध बनाने के लिए जामनगर में १९२१ के अन्दर एक रसशाला बनायी, जहाँ पर शास्त्रोक्त औषधियों का निर्माण होता था।

आपके सुपुत्र शंकरप्रसादजी भट्ट थे, और इनके सुपुत्र श्री जुगतराम भाई थे, जिन्होंने कि अपने पितामह झण्डू भट्टजी के नाम पर विशाल आयुर्वेदिक फार्मेसी बम्बई में बनायी।

बावाभाई अचलजी—आप राजकोट (काठियावाड) के रहनेवाले थे। आप एक सफल चिकित्सक होने के साथ-साथ संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। रसशास्त्र में आप बहुत निपुण कहे जाते हैं। आपके नेत्रों की ज्योति जाती रही थी। इस पर भी आप रोगनिदान, रोगी की पहचान सरलता से कर लेते थे।

जीवराम कालिदासजी—आपका जन्म औदीच्य ब्राह्मणकुल में विक्रमी संवत् १९३९ में जामनगर के सेवासा गाँव में हुआ था, बचपन में पिता का देहावसान होने पर गोंडल में अपने चाचा के यहाँ रहकर कष्ट से जीवन व्यतीत किया। बाद में आप गिरनार गये, वहाँ पर श्री अच्युतानन्द ब्रह्मचारी से आयुर्वेद, संस्कृत, मंत्र शास्त्र सीखा। आप वहाँ से १९६१ में उनसे हस्तलिखित कुछ ग्रन्थ लेकर चले आये और बम्बई आकर आयुर्वेद का अभ्यास करते हुए अपना स्वतंत्र व्यवसाय चलाया। इसी समय रसरत्नसमुच्चय का अनुवाद गुजराती में किया। बम्बई में शरीर स्वस्थ न रहने से आप अपने गाँव सेवासा आ गये। वहाँ पर ब्रह्मचारी अच्युतानन्दजी के अकस्मात् आने पर उनसे धन तथा अन्य वस्तुओं की मदद लेकर गोंडल में रसशाला की स्थापना की। रसशाला के साथ आपका लेखन-कार्य चलता रहा।

आपने अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किये। आपके यहाँ हस्तलिखित पुस्तकों का अच्छा संग्रह कहा जाता है। आप गोंडल राज्य के राजवैद्य १९७२ में नियुक्त हुए। आपने रसोद्धार तंत्र (उपचार पद्धति) पुस्तक तथा आयुर्वेद-रहस्यार्कपत्रिका से गुजरात में आयुर्वेद का बहुत प्रचार किया। अब आप गृहस्थ आश्रम से सन्यास आश्रम में आ गये हैं। आपका नाम श्री चरणतीर्थ स्वामी है। आपमें आयुर्वेदशास्त्र के प्रति लगन है।

नारायणशंकर देवशंकर—आपका जन्म अहमदाबाद में हुआ था। आपने आयुर्वेद की शिक्षा जयपुर में राजवैद्य श्री श्रीकृष्णराम भट्टजी से ली थी। संवत् १९५१ में अहमदाबाद में स्वतंत्र चिकित्सा व्यवसाय प्रारम्भ किया और आयुर्वेद पाठशाला स्थापित की। आप बहुत से धर्मार्थ औषधालयों की देखरेख करते रहे।

बापालाल गडबडशाह—आप भरूच (भरुकच्छ) के रहनेवाले हैं। आपने वनस्पति ज्ञान कच्छ के श्री जयकृष्ण इन्द्रजी से प्राप्त किया। आपका वनस्पति ज्ञान अपूर्व है। आपको श्री स्वामी आत्मानन्दजी बहुत आग्रह से अपने स्थापित आयुर्वेद महाविद्यालय के प्रिन्सिपल पद के लिए ले आये। आपने आकर आयुर्वेद विद्यालय की पूर्ण उन्नति की। आज यह विद्यालय बम्बई के ही नहीं, अपितु भारत के विद्यालयों में अग्रणी है। औषधालय के साथ रसशाला, भैषज्य निर्माण, चिकित्सालय, आतुरालय, प्रसूति विभाग, पुस्तकालय आदि सब आपके परिश्रम का फल हैं।

आपने निघण्टु-आदर्श नामक बृहत् ग्रन्थ दो भागों में लिखा है। इसमें वनस्पतिशास्त्र के अनुसार औषधियों का विभागीकरण किया है। यह पुस्तक श्री कविराज विजयरत्न सेन के वनौषधिदर्पण के ढंग की है, परन्तु उससे अधिक महत्त्वपूर्ण और उपादेय है। इसके अतिरिक्त आपने रसशास्त्र, अभिनव कामशास्त्र, बालपरिचर्या, वृद्धत्रयी की वनस्पतियाँ, घरगत्थू वैद्यक, दिनचर्या, न्यायवैद्यक आदि ग्रन्थ लिखे हैं।

अन्य वैद्य—गुजरात में आयुर्वेद का प्रचार करने में श्री जटाशंकर लीलाधर त्रिवेदी, श्री गोपालजी कुवरजी ठक्कर तथा श्री नगीनदास शाह ऊंझावालों ने बहुत प्रयत्न किया। श्री शाहजी ने भारतभैषज्यरत्नाकर बड़ा ग्रन्थ प्रकाशित किया। श्री गोपालजी ठक्कर पहले कराची में अपना व्यवसाय करते थे। वहाँ आरोग्यसिन्धु पत्र निकालते रहे, वहीं से आपने न्यायवैद्यक और विषतंत्र पुस्तक हिन्दी में प्रकाशित की। इसके सिवाय लगभग ३०-३५ पुस्तकें आपने छपवायी—जिससे आयुर्वेद का प्रचार पर्याप्त हुआ। विभाजन के पीछे आपका कार्यक्षेत्र बम्बई हो गया। आपकी मृत्यु सन् १९५२ में हुई। आपके पीछे आपका पुत्र आयुष्मान् चन्द्रशेखर आपके पदचिह्नों पर चलता हुआ आयुर्वेद का काम कर रहा है। यहाँ आयुर्वेद और ज्योतिष पर कई अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

श्री जटाशंकर लीलाधरजी ने भी आयुर्वेद के प्रचार में बहुत काम किया। आपने वैद्यकल्पतरु पत्र निकालने के साथ घर-वैदुं बहुत सुन्दर ग्रन्थ तैयार किया। इसमें देशी, अंग्रेजी, यूनानी सभी चिकित्साओं का उत्तम मिश्रण था। इसमें मूर की फैमिली मेडिसिन के ढंग पर सब आवश्यक जानकारी दी है। इसके सिवाय और भी बहुत-

विद्यालय प्रभुरामजी की सहायता से चलाया। फिर नासिक, नागपुर में आयुर्वेद-विद्यालय खोले और योग्य व्यक्तियो की देख-रेख मे उनको दे दिया।

भारतव्यापी प्रचार के लिए सगठित रूप मे आपने सवत् १९६३ मे विद्यापीठ और सवत् १९६४ मे वैद्यसम्मेलन स्थापित किया। इसके लिए भारतव्यापी आन्दोलन चलाया। इसका प्रथम अधिवेशन नासिक मे और दूसरा पनवेल (वम्बई) मे हुआ। धीरे-धीरे विद्यापीठ का प्रचार इतना वढा कि वैद्य इसकी परीक्षा मे वैठना और उत्तीर्ण होना गौरवास्पद मानते थे।

विद्यापीठ को अधिक उपयोगी वनाने के लिए आपने उत्तर भारत को चुना, इसके लिए आप प्रयागराज सवत् १९६५ मे आये। वहाँ के कार्यसचालन के लिए श्री जगन्नाथ-प्रसाद शुक्लजी को नागपुर से प्रयाग वुलवाया। आपकी इच्छा थी कि तीसरा सम्मेलन वनारस में हो। प्रयाग मे कार्य भी प्रारम्भ हो गया था। परन्तु आप वीमार पडे और सवत् १९६६, चैत्र शुक्ला रामनौमी के दिन स्वर्गवासी हुए। आप निस्सन्तान थे। आपकी लिखी पुस्तक 'आर्यभिषक्' गुजराती-मराठी में वहुत ही प्रसिद्ध है।

गोवर्धन शर्माजी छागाणी—आपका जन्म राजस्थान के अन्तर्गत जोधपुर के पोकरण गाँव में सवत् १९३३ मे हुआ था। आपके पिता का नाम जीतमल्लजी था। आप पहले अमरावती (वरार) की पाठशाला मे प० हरिनारायणजी भिडे से सस्कृत और अग्रेजी स्कूल मे पढते थे। आपने अमृतसर मे ज्योतिष तथा हजारीराम जी सारस्वत से आयुर्वेद का अव्ययन किया। फिर खामगाँव (वरार) मे आकर चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ किया। फिर आप नागपुर से निकलनेवाले मारवाडी पत्र के सम्पादक वने। सम्पादन के साथ-साथ चिकित्सा व्यवसाय भी करते रहे। दस वर्ष तक यह कार्य करके आप अपना चिकित्सा व्यवसाय स्वतत्र रूप से करने लगे। आपने धन्वन्तरि आयुर्वेद-पाठशाला चलाकर विद्यादान प्रारम्भ किया और अन्य स्थानो पर भी पाठशालाएँ खुलवायी।

आपने वसवराजीयम् सस्कृत मे सम्पादित किया। हिन्दी मे अष्टागसग्रह का अनुवाद (सूत्रस्थान तक ही) निकाला। दु ख है कि शेष भाग पूर्ण नही हुआ, क्योंकि अकाल में ही आपका निधन हो गया।

पण्डित कृष्ण शास्त्री कवडे—आपका जन्म पिपरीपेंढार गाँव मे १८८४ ई० में हुआ था। नवें वर्ष में आप विद्या पढने के लिए पूना आये। आपने १९०६ मे बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके पीछे दो साल तक अध्यापन कार्य किया।

पीछे वावा साहव पराजपे के अनुरोध से आपने वैद्यरत्न गणेश शास्त्री जोशी, सदाशिव भावे से आयुर्वेद सीखा, इनसे चरक सहिता का अव्ययन किया।

आपने पूना में महाराष्ट्रीय आयुर्वेद विद्यालय स्थापित किया, और वहाँ आयुर्वेद का अध्यापन करते रहे। आप आयुर्वेद की रक्षा तथा प्रचार में सतत प्रयत्नशील रहे।

श्री गगाधर शास्त्री गुणे—आप आयुर्वेद के सच्चे उपासक थे, आपने अहमदनगर में फार्मेसी और विद्यालय चलाये। आपने मराठी में औषधि-गुणधर्म शास्त्र नाम से एक पुस्तक कई भागो में लिखी है। इस पुस्तक में नवीन पद्धति से वैद्यक योगो के घटको पर विचार करने का यत्न किया। इसकी सत्यता अभी सन्दिग्ध है।

श्री नारायण हरि जोशी—आप पूना के रहनेवाले ब्राह्मण हैं, आपको आयुर्वेद के प्रति सच्ची लगन है। बम्बई में शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम प्रचलित करने में आपने प० शिवशर्माजी के साथ बहुत प्रयत्न किया। इस कार्य में आपको बहुत कष्ट भी उठाने पड़े, परन्तु आप अपने ध्येय में लगे रहे। इस समय आप शुद्ध आयुर्वेद पाठ्यक्रम समिति के मत्री है और नासिक में आयुर्वेद विद्यालय चला रहे हैं। आप शुद्ध आयुर्वेद दृष्टि से आयुर्वेद को देखते हैं और चाहते हैं कि लोग भी इसी रूप में इसका विचार करें।

श्री अ ना जोशी—आप वनस्पति शास्त्र और रसायन के एम० एस सी० है। आपको आयुर्वेद के प्रति सच्ची आस्था है, परन्तु आप उसको वैज्ञानिक रूप में देखना चाहते हैं। बम्बई में चलनेवाले रिसर्च विभाग के आप मत्री है और इस दिशा में अच्छा कार्य कर रहे है। इसके लिए आपने भिन्न-भिन्न स्थानो से नमूने भी सग्रह किये है।

श्री वामनराव भाई—आप बुरहानपुर के रहनेवाले है, किन्तु बम्बई में रहकर अपना दवाखाना चलाते है निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद सम्मेलन के मत्री है। दवे कमेटी के पाठ्यक्रम के पक्ष में आप नही है, आप शुद्ध पाठ्यक्रम के पक्षपाती हैं।

पं० शिवशर्माजी—आप का जन्म पटियाला में हुआ है, आपके पिता श्री राम-प्रसादजी वैद्य है, जो पटियाला महाराज के राजवैद्य है। प० शिवशर्माजी को आयुर्वेद के प्रति सच्ची श्रद्धा है। आप आयुर्वेद को आधुनिक विज्ञान के साथ मिश्रित करके पढाने के पक्षपाती नही। आज बम्बई में शुद्ध आयुर्वेद की जो शिक्षा चल रही है, उसका श्रेय आपको ही है, आप वहाँ के आयुर्वेदिक बोर्ड के सभापति है। आपके ही सहयोग से उत्तर प्रदेश में अब आयुर्वेद का पाठ्यक्रम भी विषयवार न रहकर ग्रन्थप्रधान, शुद्ध आयुर्वेद के रूप में चलने जा रहा है। उत्तर प्रदेश राज्य ने आयुर्वेद के पाठ्य-क्रम के लिए जो कमेटी बनायी थी, उसमे आपने मुख्य भाग लिया है।

विभाजन से पूर्व आप लाहौर में चिकित्सा-कार्य करते थे। बाद में आपने बम्बई को अपना कार्यक्षेत्र चुना और यही अपने विचारो को सक्रिय बनाया।

इक्कीसवाँ अध्याय

डाक्टरों के द्वारा आयुर्वेद की सेवा

सस्कृत की एक कहावत है—"पण्डितोऽपि वर शत्रुर्न मूर्खो हितकारक" (पचतन्त्र)। पण्डित—पढा-लिखा व्यक्ति यदि शत्रु हो जाय, तो अच्छा, मूर्ख व्यक्ति का मित्र बनना अच्छा नही। यही बात आयुर्वेद के लिए है। ज्ञान का अर्थ प्रकाश है, इसी से गीता में भगवान् ने कहा है—

> न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते। ४।३८
> ज्ञानेन तु तदज्ञान येषा नाशितमात्मन.।
> तेषामादित्यवज् ज्ञान प्रकाशयति तत्परम्॥ ५।१६

ज्ञान से बढकर पवित्र वस्तु ससार में दूसरी नही है। ज्ञान से जिनकी आत्मा का अज्ञान नष्ट हो जाता है, उनके लिए सूर्य की भाँति सब वस्तुएँ स्पष्ट हो जाती है। इसलिए ज्ञान को किसी एक देश में, किसी भाषा में, किसी विशेष व्यक्ति या जाति तक सीमित नही किया गया। ऋषियो ने ज्ञान का द्वार सब देशो, सब जातियो, सब वर्णो के लिए एक समान खोला है। ज्ञान को पर और अपर नाम से उपनिषद् में तथा ज्ञान-विज्ञान नाम से गीता में, भूयसी विद्या और जानपदीय विद्या पाणिनि शास्त्र मे कहा है। इसी को शुक्रनीति में विद्या और कला का नाम दिया है। विद्या में वाणी की अपेक्षा रहती है, कला में हाथ या इन्द्रिय का नैपुण्य रहता है। आयुर्वेद-चिकित्सा को भी शिल्प (शिप्प) एव विद्या कहा गया है (जानपदीय विद्या का बौद्ध साहित्य में शिप्प—शिल्प नाम दिया है)। यह ज्ञान सब वर्णो के लिए एक समान था। जीवक, जिसकी जाति का कुछ भी पता नही, एक सफल चिकित्सक ६०० ई० पू० में हुआ था, आज भी जिसके ऊपर वैद्यसमाज गौरव करता है। इसने उस समय मस्तिष्क का चीर-फाड कर्म सफलता से किया था, यह बौद्ध साहित्य मे स्पष्ट लिखा है। यह शस्त्रकर्म आज बीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुआ है।

इसलिए विज्ञान या शिल्प विद्या में सब वर्णो ने बहुत काम किया। जबसे वैद्यक विद्या सीमित बनी तबसे इसकी आज तक निरन्तर अवनति हो रही है। वैद्यक,

पुरोहिताई, ज्योतिष ये सब वर्ग एक साथ रहने से वंशक्रमागत हो गये। पण्डित का पुत्र पण्डित ही माना गया, वैद्य का बेटा वैद्य ही हुआ, ज्योतिषी की सन्तान ज्योतिषी। इस परम्परा से विना पढे वैद्य बनने लगे—जब कि डाक्टरी मे ऐसी बात नही है। इसका जो परिणाम है हम स्पष्ट ही देख रहे हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध आयुर्वेद कालेज के अध्यापकों ने विगत ३० वर्षों मे आयुर्वेद या स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि विषयों सम्बन्धी जो साहित्य प्रस्तुत किया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि इस दिशा मे अधिक प्रगति पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त विद्वानो ने ही की है। जब कि डाक्टर-प्राध्यापको की पुस्तकों का औसत किसी भी प्रकार ९०० पृष्ठो से कम नहीं हैं, वैद्य-प्राध्यापको का औसत २५० से अधिक नहीं निकलता। इसे अधिक बढाने की आवश्यकता नहीं है। मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रगतिशील विद्वानो से आयुर्वेद को हानि है या भय है, इसे मेरा दिल नहीं मानता। आयुर्वेद के ह्रास के कारण वैद्य स्वय हैं, दूसरो को दोष देना व्यर्थ है।

वैद्यो के पास पैसा नहीं है, यह बात सत्य नही है। बहुत से वैद्य अच्छे सम्पन्न हैं, पर इनमें से गिने चुने तीन चार वैद्यो को छोडकर कोई भी आयुर्वेद के लिए गाँठ का पैसा खर्च करने को तैयार नही, क्योंकि वह जानता है या समझता है कि इनमें लगाया रुपया व्यर्थ जायगा। वह अपने सुपुत्र को डाक्टरी पढायेगा, परन्तु दूसरो के लडको को आयुर्वेद पढने के लिए प्रेरित करेगा। रिसर्च के नाम पर पैसा सरकार से लेना चाहता है, परन्तु अपनी जेब को सुरक्षित रखता है।

यदि डाक्टर से अच्छा न हुआ कोई रोगी, भाग्यवश इनसे स्वस्थ हो जाता है, तो उसका प्रचार किया जाता है। शिक्षित पाश्चात्य चिकित्सकों मे यह प्रवृत्ति बहुत कम मिलती है। डाक्टर अपने पुत्र को डाक्टर ही बनाना चाहता है, उसे अपने विज्ञान पर आस्था है, विश्वास है, श्रद्धा है। वैद्यो में यह बात नही। इसलिए डाक्टरो के लिए कहना कि इनसे वैद्यक का अहित है, यह मेरीसमझ में सत्य नहीं। मै तो समझता हूँ कि वे सच्चे अर्थो मे आयुर्वेद को समझते हैं, जहाँ तक शरीर का और रोग का सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में जनपदीय विद्या या शिल्प अर्थात् विज्ञान को वे ठीक समझते हैं। आचार्य ने कहा है—

> प्रत्यक्षतो हि यद् दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद् भवेत्।
> समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञानविवर्धनम्॥ सुश्रुत शा ५।४८

यदि धन्वन्तरि का यह वचन सत्य है, तो पाश्चात्य चिकित्सा का ज्ञान भी सत्य है। इस ज्ञान को जाननेवाला कभी भी बुद्धिपूर्वक कही बात से इन्कार करेगा, इसे मैं

नहीं मान सकता। क्योंकि ज्ञान तो आदित्य के समान प्रकाशमान है। इसलिए ऐसे जितात्मा-विद्वानों को नमस्कार करना चाहिए, उनसे आयुर्वेद का अहित होगा यह मानना भूल है। यहाँ पर ऐसे ही आयुर्वेद की सेवा करनेवाले विद्वानों का परिचय दिया जा रहा है—

श्री पोपटराम प्रभुराम—आप गुजरात के निवासी और बम्बई मे व्यवसाय करते थे। इनके पिता प्रभुराम वैद्य थे। वैद्यों मे जैसी प्रवृत्ति होती है, उसी के अनुसार आपने अपने पुत्र पोपटराम को पाश्चात्य चिकित्सा की उच्च शिक्षा दिलवायी। पिता प्रभुराम आयुर्वेद की एक पाठशाला चलाते थे। पुत्र ने उसे बढाकर यूनीवर्सिटी का रूप दिया और उससे उपाधि वितरण भी प्रारम्भ किया। इस यूनीवर्सिटी से प्राणाचार्य उपाधि प्राप्त बहुत से वैद्य आज भी हैं। आपके इस विश्वविद्यालय मे आयुर्वेद के साथ पाश्चात्य चिकित्सा का भी ज्ञान मिलता था। आपका प्रसूतिशिक्षण एक समय बहुत सम्मानित था।

गुजराती मे सुश्रुत संहिता आपने ही प्रकाशित करवायी थी, जो कि उस समय एक उत्तम अनुवाद माना जाता था।

डाक्टर वामन गणेश देसाई—आप एक उच्च शिक्षाप्राप्त डाक्टर थे। आप बम्बई मे अपना चिकित्सा कर्म करते थे। आपने औषधिसंग्रह और भारतीय रसायन-शास्त्र, दो पुस्तके लिखी थी। इन पुस्तकों को श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने प्रकाशित किया है। 'औषधिसंग्रह' बहुत उत्तम निघण्टु है, इसमे आयुर्वेद के अन्दर काम आनेवाली प्राय सब उद्भिज्ज वस्तुओं की नव्य मत से समीक्षा है। 'भारतीय रसायन शास्त्र' में आयुर्वेद के खनिज द्रव्यो की तथा इस सम्बन्ध की अन्य वस्तुओं की विवेचना है। प्रारम्भ में आपने एक उत्तम पूर्वपीठिका दी है। पारद का अन्त -उपयोग इग्लैंड मे होता था, इसके लिए दी हुई आपकी जानकारी बहुत महत्त्व की है। इस पुस्तक की भूमिका श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी एम० एस-सी० ने लिखी है, जो बहुत उपयोगी है।

डाक्टर मुकुन्दस्वरूपजी वर्मा—आपका जन्म सन् १८९६ में सिकन्दराबाद (बुलन्दशहर, उत्तर प्रदेश) में हुआ है। आपके पिता का नाम श्री गोविन्दस्वरूप था, आप शिक्षित भटनागर कुल में उत्पन्न हुए थे। आपके प्रपिता बीकानेर में राज्य के वकील थे। आपकी शिक्षा बीकानेर-भरतपुर में हुई। आप सदा प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण हुए। आपकी साहित्य में रुचि बचपन से थी। १९१७ में आप बी० एस-सी० करके लखनऊ मेडिकल कालेज में चले आये। उस समय लखनऊ मेडिकल कालेज की शिक्षा की दृष्टि

से बहुत प्रसिद्धि थी। यहाँ पर कर्नल मैंगौक जैसे विद्वान् अध्यापन करते थे। आपने यह शिक्षा १९२२ में सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण की। इसके पीछे तुरन्त ही महामना मालवीयजी के निमत्रण पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे आ गये। यहाँ पर आपने ६० वर्ष की अवस्था (१९५७ ईसवी) तक बड़ी प्रतिष्ठा के साथ आयुर्वेद कालेज में काम किया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज की इस उन्नति या प्रतिष्ठा का जो श्रेय है, उसकी नीव में आपका श्रम और लगन है। बहुत से प्रलोभन आने पर भी आप यही स्थिर रहे, दूसरो की भाँति आर्थिक लाभ को प्रधानता न देकर आयुर्वेद शिक्षा को जो महत्त्व दिया, वह आपके लिए गौरव की बात है। ज्ञान का विकास होने से आप आयुर्वेद की बात को बिना समझे, अन्धविश्वास तथा केवल पोथी में, सस्कृत में लिखा है, इसलिए स्वीकार नही करते थे। इस सत्यता के कारण कुछ लोग आपको आयुर्वेद का अहितकारी, आयुर्वेद के प्रति द्वेष बुद्धिवाला कहते थे। परन्तु उस वर्ग के प्रति आपके द्वारा की हुई साहित्यसेवा एक बलवान् उत्तर है। आपने बडी-बडी दस पुस्तकें लिखी है, जो बहुत उपयोगी है। इनकी पृष्ठसख्या कोई आठ हजार के ऊपर है। कार्य में इतना व्यस्त रहकर, इतने उत्तरदायित्व का बोझ ढोते हुए, इतना महत्त्वपूर्ण साहित्य निर्माण करना आश्चर्य और प्रशसा की बात है। आप उत्तम अध्यापक, प्रबन्धक होने के साथ-साथ योग्य शल्यचिकित्सक भी थे। आपने बनारस में शल्यकर्म का अधिक विस्तार किया। इसके लिए शहर मे अपना क्लिनिक खोला, जिससे नागरिक लाभ उठा सकें। आपने योग्य शिष्यो में श्री पी० जे० देशपाडे को तैयार किया, जो एक अच्छे शल्यवैद्य हैं।

आपके द्वारा प्रस्तुत साहित्य यह है—१—मानवशरीररहस्य, पृष्ठसख्या ७०० (हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग से पुरस्कृत), २—स्वास्थ्यविज्ञान, पृष्ठसख्या ९०० (यह पुस्तक अपने विषय की उत्तम मानी गयी, अत हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से इस पर मगलाप्रसाद पारितोषक प्रदान किया गया), ३—मानव शरीररचना विज्ञान, पृष्ठ ४०८, चित्र सख्या ३६० (यह पुस्तक शरीर-रचना विषय की प्रथम थी। दु ख है कि इसका पहला भाग ही प्रकाशित हुआ है), ४—सक्षिप्त शल्यविज्ञान, पृष्ठसख्या ४०० (इस पर नागरी प्रचारिणी सभा काशी से रेडिचे पदक तथा पुरस्कार मिला है), ५—स्वास्थ्यप्रदीपिका, पृष्ठसख्या २५० (स्कूलो में मैट्रिक के विद्यार्थियो के लिए उपयोगी), ६—स्वास्थ्यपरिचय, यह इण्टर मीडिएट के विद्यार्थियो के लिए उपयोगी है), ७—शारीरप्रदीपिका (इण्टर मीडिएट के विद्यार्थियो के लिए शरीर क्रियाविज्ञान (फिजिओलॉजी) के लिए महत्त्वपूर्ण), ८—

शिशुसरक्षण (इण्टर मीडिएट की पाठच पुस्तक रूप मे स्वीकृत), ९—शल्यप्रदीपिका, पृष्ठसख्या ९००, चित्र ३५० (इसमे शल्य तत्र का विषय क्रियात्मक और साहित्यिक दोनो दृष्टियो से सरलता के साथ वर्णित है, अपने विषय की पहली पुस्तक है)।

डाक्टर शिवनाथजी खन्ना—आपका जन्म काशी मे १९०५ ईसवी में हुआ था। आपके पिता श्री माधवप्रसादजी खन्ना काशी आर्यसमाज तथा नागरी प्रचारिणी सभा के सस्थापकों में थे। इसी से उस समय के प्रसिद्ध साहित्यसेवी श्री राय कृष्णदास-जी के साथ आपकी अतिशय घनिष्ठता और स्नेह है।

श्री खन्ना शान्त तथा चुपचाप काम करनेवाले व्यक्ति हैं। आप गुण को लेने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं। आपका लिखा रोगनिवारण बृहत् ग्रन्थ इस बात का प्रमाण है, आपने इसमें आयुर्वेदचिकित्सा का बहुत ही उत्तम रीति से समावेश किया है।

आपने बिहार में दस वर्ष तक स्वास्थ्यविभाग में सेवाकार्य करके पर्याप्त अनुभव प्राप्त किया। इस समय आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में उच्च पद पर कार्य कर रहे हैं। आपकी लिखी तीन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। ये तीनो पुस्तकें बहुत महत्त्वपूर्ण और उपयोगी हैं—

१—रोगीपरीक्षा, यह पुस्तक रोगी की जाँच के सम्बन्ध मे लिखी गयी है। अपने विषय की यह पहली पुस्तक है। इसमें पारिभाषिक शब्द हिन्दी और अग्रेजी दोनों मे दिये हैं। यही परिपाटी डाक्टर खन्नाजी ने अपनी शेष पुस्तकों मे भी बरती है। २—रोगपरिचय, यह पुस्तक सरल तथा उत्तम रूप से विषय का प्रतिपादन करनेवाली है। ३—रोगनिवारण, यह पुस्तक चिकित्सा विषयक है, इसमें चिकित्सा के साथ साथ अग्रेजी चिकित्सा के ढग पर विकृति-विज्ञान भी दिया है। ये तीनो पुस्तकें उत्तर प्रदेश की आयुर्वेदिक अकादमी से पुरस्कृत हुई हैं। ४—रोगविनिश्चय पुस्तक प्रेस में छप रही है, जो रोग के निदान के सम्बन्ध में है।

इस प्रकार से डाक्टर मुकुन्दस्वरूप वर्मा ने शल्यतत्र को अपनाया तो डाक्टर शिवनाथ खन्ना ने कायचिकित्सा को अपनाकर आयुर्वेद को समृद्ध किया।

डाक्टर भास्कर गोविन्द घाणेकर—आप सतारा के रहनेवाले थे और चालीस दिन की पदल यात्रा करके काशी आये थे। आपके सिद्धान्त सच्चे और स्थिर थे, जिन पर स्वय चलते थे, और चाहते थे कि उनके साथ व्यवहार करनेवाले भी उसी प्रकार से उनका पालन करें।

आपने आयुर्वेदिक कालेज में (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में) लम्बे समय तक कार्य किया है, अध्यापन कार्य करते समय कभी भी अवकाश नहीं लिया। विद्यार्थियों के प्रति आपका सहज प्रेम था, इसी से वे आपके सामने सम्पूर्ण चचलता भूल जाते थे। आपने जो साहित्य निर्माण किया, वह अनुपम है। आपके कुछ सिद्धान्त थे, आपने उन्हीं के अनुसार अपनी पुस्तकों में शब्दावली दी है। नयी होने से यह अधिक प्रिय नहीं बनी, फिर भी आपने इस परम्परा को चलाया। आज भले ही हम इसके प्रति उदासीन रहें, परन्तु समय इस परिश्रम की सच्ची कीमत आँकेगा। आपका सबसे प्रथम साहित्यिक कार्य सुश्रुतसंहिता की हिन्दी व्याख्या है। यह ऐसी कृति थी, जिसने आपको आयुर्वेद जगत् में चमका दिया। अभी तक केवल कविराज गणनाथ सेनजी का प्रत्यक्षशारीरम् इस सम्बन्ध मे था। कविराजजी ने कहा था कि "शारीरे सुश्रुतो नष्ट", यह स्थिति प्राचीन शरीरविज्ञान की है। आपने इस पर अभ्यास करके आयुर्वेद का जोरदार समर्थन करने के लिए इसकी व्याख्या लिखी। आपने वक्तव्य तथा विशेष वचन देकर अनुवाद की एक नयी परम्परा चलायी।

बाद में आपने स्वतत्र साहित्य तैयार करके उसका स्वत प्रकाशन करना ही उत्तम समझा, जिससे आप किसी के ऊपर आश्रित न रहें। इस मार्ग में आपने आयुर्वेद की अपूर्व सेवा की है। आपका प्रस्तुत साहित्य निम्न है—

१—औपसर्गिक रोग, यह पुस्तक दो भागों में है। इसमें आपने सक्रामक रोगों का विस्तृत उल्लेख पाश्चात्य पद्धति की चिकित्सा के आधार पर किया है। जहाँ पर आपको उचित प्रतीत हुआ आपने आयुर्वेद के वचन भी दिये हैं। २—रक्त के रोग, इसमें भी पद्धति वही बरती है, इसमें रक्त से सम्बन्धित रोगों की व्याख्या है। ३—मूत्र के रोग, इसमें भी वही लेखनपद्धति अपनायी है। ये तीनों पुस्तकें कायचिकित्सा के लिए प्रशसनीय हैं। आयुर्वेदिक तिब्ब अकादमी (उत्तर प्रदेश) ने इनको पुरस्कृत किया है। ४—जीवाणुविज्ञान, इसमें जीवाणुओं का उल्लेख है, एक प्रकार से पैथोलोजी की उत्तम पुस्तक है। इस पुस्तक की विशेषता यह है कि इसमें पारिभाषिक शब्द भारतीय दिये हैं। ये शब्द नये बननेवाले शब्दकोशों से लिये गये हैं। ५—स्वास्थ्यविज्ञान, यह पुस्तक आयुर्वेदिक कालेजों में हाईजीन पढाने के लिए उत्तम है। ६—स्वास्थ्य-शिक्षा पाठावली, छोटी परन्तु उपयोगी कृति है, यह जन-सामान्य की दृष्टि से लिखी गयी है, जिससे आयुर्वेदवर्णित स्वास्थ्य के नियमों का प्रचार हो सके। इसके सिवाय अंग्रेजी में भी दो पुस्तकें आपने लिखी है।

आपको काशीवास प्रिय था, आपको अपने नियम, सिद्धान्त, वचन का पूरा

विश्वास था, इसलिए जीवन में एक से एक बडे आर्थिक लाभवाले पदो का प्रलोभन आने पर भी आप अपनी धुरी से जरा भी नही हिले। आपने अपना कार्यकाल एक ही रेखा पर चलकर पूरा किया। इसी से आप आज भी सम्मान के साथ याद किये जाते हैं। आपने अपने व्यय से हिन्दू विश्वविद्यालय में मारुतिमन्दिर की स्थापना की थी। आपको अपनी सस्कृति—हिन्दू धर्म पर पूरी आस्था थी और दृढता से उसका पालन करते थे, चाहते थे कि दूसरे भी उसे अपनायें। इसके लिए आप किसी पर भी जवरदस्ती या आग्रह नही करते थे। इस प्रकार का तपस्वी जीवन एक लम्बे समय तक उक्त विश्वविद्यालय में आयुर्वेद का काम करते हुए व्यतीत कर आप सन् १९५७ म सेवा-कार्य से निवृत्त हुए।

डाक्टर आशानन्द पजरत्न—आप पजाब के डेरा गाजीखाँ के रहनेवाले हैं। आपने लाहौर के मेडिकल कालेज से पाश्चात्य शिक्षा का उच्च ज्ञान प्राप्त किया था। वाद में आपने लाहौर को अपना कार्यक्षेत्र वनाया। आपको हिन्दी से विशेप प्रेम था। आपने अध्यापन कार्य आर्यसमाज की प्रसिद्ध सस्था डी० ए० वी० कालेज लाहौर के आयुर्वेदिक कालेज से प्रारम्भ किया। आप वहाँ वाइस प्रिंसिपल के रूप में कार्य करते थे। यह कार्य करते हुए आपने विद्यार्थियो की कठिनाइयो को समझा, इसी से हिन्दी में साहित्य तैयार करना प्रारम्भ किया। वाद में आपकी नियुक्ति पोद्दार आयुर्वेदकि कालेज वम्बई में हो गयी। यहाँ आप प्रिंसिपल तथा सुपरिन्टेन्डेन्ट के पद पर कॉलेज और अस्पताल मे कार्य करते थे। सेवा की अवधि पूरी होने पर आप निवृत्त हुए।

फिर कुछ समय हैदरावाद (दक्षिण) के और जामनगर के आयुर्वेदिक कॉलेजो में रहकर अव पीलीभीत के आयुर्वेदिक कॉलेज में प्रिन्सिपल रूप से कार्य कर रहे है।

आपकी लिखी व्याधिविज्ञान, आधुनिक चिकित्साविज्ञान तथा रोगी-परीक्षा ये पुस्तकें है। इनमे व्याधिविज्ञान तथा चिकित्साविज्ञान ये पुस्तकें दो-दो भागो मे समाप्त हुई हैं। इनमे आपने पाश्चात्य चिकित्सा के साथ आयुर्वेद चिकित्सा का भी निर्देश किया है। पुस्तको की भापा सरल है, पारिभापिक शव्दावली प्राय. परिचित है, विपय का विस्तार वहुत नही है, इसलिए विद्यार्थियो के लिए ये उपयोगी एव सुलभ सिद्ध हुई हैं।

डाक्टर प्रसादीलाल—आपने विद्यापीठ की आयुर्वेदाचार्य परीक्षा दी थी। विद्यापीठ और आयुर्वेद महासम्मेलन से आपका वहुत निकट का सम्पर्क रहा है। आपने प्रसूति विपय पर एक पुस्तक हिन्दी में लिखी थी। आप अपना व्यवसाय करते हुए भी आयुर्वेद पाठशाला में डाक्टरी शिक्षा नि स्वार्थ भाव से देते थे।

डाक्टर प्राणजीवन माणिकचन्द्र मेहता—आपका जन्म काठियावाड के जामनगर मे हुआ है। आपने बहुत परिश्रम से मेडिकल कालेज की शिक्षा प्राप्त की है। बम्बई ने एम० डी०, एम०एस० दोनो उपाधि प्राप्त करनेवाले सम्भवत आप तीसरे व्यक्ति है। प्राचीन काल मे चिकित्सा और शल्य दोनो में निपुण मनुष्य के लिए अश्विनौ—यह उपाधि थी।

आपने कुछ दिन हैदराबाद (सिन्ध) में सरकारी नौकरी की, बम्बई में अपनी प्रैक्टिस बहुत सफलता से की, वही पर आपका सम्पर्क श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य से हुआ। बम्बई से आप जामनगर राज्य की सेवा में चीफ मेडिकल आफिसर बनकर आये। यहाँ आने पर आपने विद्वानो के सम्पर्क में रहकर सस्कृत सीखी और सस्कृत के साथ चरकसहिता का तात्त्विक अन्वेषण किया। इस सहिता पर अधिकार प्राप्त करके आपने आयुर्वेद की समस्त उपलब्ध सहिताओ का सूक्ष्म अध्ययन किया।

जामनगर में खुली केन्द्रीय अन्वेपण सस्था के आप डाइरेक्टर है, आपने बहुत उत्तमता से इसे चलाया है। इससे आयुर्वेद का कितना भला होगा—यह तो समय ही बतायेगा। आज कई साल हो गये, अभी तक कोई ठोस कार्य जनता के सामने नही आया। यही स्थिति दूसरे आयुर्वेदीय गवेपणाकेन्द्रो की भी है। प्राचीन पद्धति से आयुर्वेद चिकित्सा में गवेपणाकार्य की जो बात कहते है, उनसे प्रार्थना है कि वे कविराज गणनाथ सेन सरस्वती के प्रत्यक्षशारीरम्, भाग प्रथम का प्रथम पृष्ठ पढ लें। जिन ऋषियो ने अपने त्रिकाल ज्ञान से अन्त -चक्षुओ द्वारा द्रव्यो का रस, वीर्य, विपाक निश्चित कर दिया, उनको सामान्य व्याकरण-सस्कृत का स्थूल अध्ययन करनेवाला वैद्य कैसे कर लेगा? जिस विद्या मे स्पष्ट रूप मे गोपनीयता लिखी है, जिसके विपय मे अल्बेरूनी ने लिखा है कि इसे छिपाकर रखा जाता है, उसे कागजो के आधार पर ढूंढना धन और समय का दुरुपयोग ही है। हाँ, इससे कुछ की जीविका अवश्य चल रही है।

जामनगर में स्नातकोत्तर अध्ययन का जो क्रम चला है, उसकी रूपरेखा आपने श्री यादवजी त्रिकमजी के साथ मिलकर बनायी थी। इससे पूर्व आयुर्वेदिक कालेज का प्रारम्भ उन्ही के आचार्यत्व में आपने प्रारम्भ किया था। आयुर्वेद का दुर्भाग्य रहा कि श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य का सहयोग स्नातकोत्तर कालेज को नही मिला। उनकी मृत्यु इसी प्रसग में जामनगर में हो गयी।

डाक्टर मेहता की कार्य करने की क्षमता अपूर्व है, आपका आहार अति स्वल्प है, सम्भवत इसी के कारण इतनी कार्यक्षमता इस आयु में बनी है। १२-१४ घटे

सुव्यवस्थित रूप से आप काम कर सकते हैं। विषय की तह तक पहुँचना, उसे क्रम से सजाना, उसकी गवेषणा करना आदि बारीकियाँ आपकी अद्भुत हैं।

चित्र का दूसरा पहलू

पाश्चात्य चिकित्सा के विद्वान् डाक्टरो ने आयुर्वेद शिक्षा मे पर्याप्त सहयोग दिया है, इसमें कोई भी सन्देह नही। यह सहयोग बहुत कुछ नि स्वार्थ भावना से ही हुआ है। उनकी यह हार्दिक इच्छा रही कि ये वैद्य भी पाश्चात्य विज्ञान को सीखकर लाभ उठायें। इसी भावना से श्री त्रिलोकीनाथ वर्मा ने हिन्दी में हमारे शरीर की रचना (१९१८ में) छापी, गुजराती में भी राजकोट से एक डाक्टर ने इस प्रकार की पुस्तक प्रकाशित की। बम्बई के प्रसिद्ध डाक्टर चमनलाल मेहता ने प्रसूति शास्त्र हिन्दी में प्रकाशित किया। श्री डाक्टर गुजराल ने मॉडर्न मेडिकल ट्रीटमेंट का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया।

परन्तु पीछे से इस कार्य में धनोपार्जन की बुद्धि भी आ गयी। इस वर्ग ने यह समझ लिया कि वैद्य लोग केवल सस्कृत के पण्डित हैं, इनको सामान्य बातो का भी ज्ञान नही, इसलिए हिंदी में जो भी हम लिख देंगे वह निश्चित चलेगा, और वह चला भी, बिका भी। ये विद्वान् डाक्टरी की उपाधि तो अंग्रेजी में लेते हैं, उसकी प्रैक्टिस करते हैं, परन्तु लिखने या गवेषणा के लिए उस क्षेत्र से भागकर आयुर्वेद में आते हैं। वे जानते हैं कि यह ऐसा समाज है कि इसमें जरा-सा चमत्कार दिखाने पर प्रतिष्ठा मिल जायगी। उनका समझना सत्य भी हुआ। आयुर्वेद क्षेत्र में डाक्टरो को जो सम्मान-प्रतिष्ठा मिली, उन्हे अपने क्षेत्र में वह मिलती, इसमें सन्देह है। वैद्य भी, जो अंग्रेजी में धारा-प्रवाह बोलता है, उसी की मान-प्रतिष्ठा करते है, उसे ही बार-बार सभापति बनाते हैं। सत्य भी है, वैद्यो के पास अपना कुछ है भी नही, उनका कोई अस्तित्व नही। केवल पुरानी पोथी, जाति का गर्व, वाद-विवाद, ईर्ष्या बस यही इनका ऐश्वर्य या मिलकियत है। इसलिए ऐसे समाज को उन्होंने धन-यश कमाने के लिए चुनकर अपने लिए कुछ बुरा नही किया। वैद्य भी तो डाक्टर का वेश धारण करते हैं कि वे डाक्टर समझे जायें। परन्तु इससे लाभ भी हुआ, वैद्यो की आँखें खुली, और उनमें लार्ड मैकाले की शिक्षा के अनुसार नवीन विषयो की जिज्ञासा जागी। इसी लिए ये अब आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा के प्रति उदासीन नही रहना चाहते, जो समयानुसार उचित भी है। इसकी प्रेरणा डाक्टरो की सेवा से मिली, इसमें दो मत नही हैं।

बाईसवाँ अध्याय

आयुर्वेद के स्नातकों द्वारा प्रस्तुत साहित्य

डाक्टरों और वैद्यों को छोड़कर संस्थाओं से निकले स्नातकों ने भी प्रचुर मात्रा में आयुर्वेद साहित्य का निर्माण किया। इनके श्रम का मूल्यांकन भावी पीढ़ी के लिए उपयोगी होगा, इसलिए इनके कार्य का उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है।

सर्वश्री जयदेव विद्यालंकार, विद्याधर विद्यालंकार, अत्रिदेव विद्यालंकार, रमेश वेदी आयुर्वेदालंकार, सत्यपाल आयुर्वेदालंकार, राजेश्वरदत्त शास्त्री, प्रियव्रत शर्मा, दामोदर शर्मा, रामसुशील सिंह, महेन्द्रकुमार शास्त्री आदि का विवरण आगे "आयुर्वेद महाविद्यालय" शीर्षक प्रकरण में दिया गया है, कुछ अन्य लोगों की चर्चा यहाँ की जा रही है।

श्री रणजीतराय देसाई आयुर्वेदालंकार—आपने पहले शरीरक्रियाविज्ञान पुस्तक हिन्दी में लिखी, यह पुस्तक अपने विषय की नयी रचना थी। इसमें आपने पारिभाषिक शब्द बहुत ही सुन्दर बनाये, पाश्चात्य विषय को आयुर्वेद के साँचे में सुन्दरता से उतारा है। पाठक को लगता है मानो आयुर्वेद की पुस्तक पढ़ रहा है।

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान—इस विषय की अभी तक प्रकाशित पुस्तकों में सबसे अच्छी और सरल पुस्तक है। हितोपदेश—आयुर्वेद ग्रन्थों से सुन्दर और ललित वचन संगृहीत करके इसका संकलन किया है। इसका नाम सार्थक ही है। इसमें संस्कृत वचनों का हिन्दी अनुवाद भी दिया है। निदानहस्तामलक चिकित्सा—इस विषय के लेख पहले पत्रिका में (सचित्र आयुर्वेद में) प्रकाशित हुए हैं, इनको पुनः सम्पादित करके पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया है। इसमें आयुर्वेद के विषय एवं आयुर्वेद की दृष्टि का पूरा ध्यान रखा गया है। देसाईजी ने मल्लिनाथ के प्रसिद्ध वचन "नामूलं लिख्यते किञ्चित् नानपेक्षितमुच्यते"—का उद्धरण देते हुए इस पुस्तक में इसे निभाने का यत्न किया है।

श्री सत्यपाल आयुर्वेदालंकार—काश्यप संहिता का आपने हिन्दी अनुवाद किया है, इस अनुवाद में आयुर्वेद ग्रन्थों के प्रमाण देकर इसकी उपयोगिता बढ़ा दी है।

श्री विश्वनाथ द्विवेदी शास्त्राचार्य—आपकी लिखी पुस्तकों का परिचय यह है—१—वैद्यसहचर उत्तम पुस्तक है, वैद्यो को चिकित्सा क्षेत्र मे उतरते समय योग्य सहारे का काम देगी। २—प्रत्यक्ष औषधिनिर्माण पुस्तक क्रियात्मक दृष्टि से लिखी है, विद्यार्थियों को इस कार्य में जो कठिनाइयाँ आती हैं, उनको सरल बनाने के लिए यह पुस्तिका उपयोगी है। ३—नेत्ररोगविज्ञान, इसमे बहुत से नुस्खे लोगो से सुने हुए दिये हैं। विषय का प्रत्यक्षीकरण सम्भवत नही हुआ, इसलिए पहली दो पुस्तको जैसी विशदता इसमे नही दीखती। इनके अतिरिक्त त्रिदोषालोक, तैलसग्रह ये पुस्तकें भी लेखक की हैं। आयुर्वेद में जो तैल प्राय वरते जाते है, उनकी निर्माण-विधि, तैल-साधन नियम आदि इसमें दिये हैं।

श्री शिवदत्तजी शुक्ल एम० ए०, ए० एम० एस०—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद कालेज में आपने एक लम्बे समय तक द्रव्यगुण विषय को पढाया है। आयुर्वेद का यह दुर्भाग्य रहा कि वह आपके अनुपम ज्ञान को पुस्तकाकार पूर्णरूप में अभी तक नही देख सका। आपने एक इण्टरव्यू से अव्यवहित पूर्व 'द्रव्यगणमंजूषा' नाम की पुस्तक के कुछ फार्म (सम्भवत चार फार्म-६४ पृष्ठ) छपवाये थे। इसके पीछे इसका प्रकाशन अभी तक पूरा नही हुआ। आपने इसमे श्लोक स्वय बनाये है।

श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ए० एम० एस०—आपने कई पुस्तके लिखी हैं। इनमें कौमारभृत्य कृति आधुनिक और प्राचीन चिकित्सा प्रणाली के अनुसार लिखी है। इस विषय की एक साथ जानकारी इसमें मिलती है। **राजकीय औषधियोगसग्रह और राष्ट्रीय चिकित्सा-सिद्धयोगसग्रह**—ये दोनो पुस्तके योगो का सग्रह है। इनमें आयुर्वेद के प्रसिद्ध योगो के निर्माण की प्रक्रिया दी है। **अभिनव विकृतिविज्ञान**—यह पुस्तक लगभग १,००० पृष्ठो की है। हिन्दी में अपने विषय की पहली पुस्तक है। इसमें वर्त्तमान पैथोलोजी विषय को सरल बनाकर प्रस्तुत करने का यत्न किया है। स्थान स्थान पर आयुर्वेद के वचन भी दिये है।

श्री पी० जे० देशपाडे ए०एम० एस०—आपने शल्यतंत्र में **रोगीपरीक्षा** नामक पुस्तक बहुत योग्यता से लिखी है। अपने विषय की यह पहली पुस्तक है।

श्री लक्ष्मीशंकर विश्वनाथ गुरु ए० एम० एस०—आप नवयुवक है, आपने शरीर रचना पढाते समय विद्यार्थियों की कठिनाई का अनुभव करके **गर्भस्थ शिशु की कहानी** नाम से 'एम्ब्रोलिजी' विषय को हिन्दी में लिखा है। लिखने में यद्यपि पाश्चात्य पद्धति को अपनाया है, परन्तु साथ-साथ आयुर्वेद के वचन भी दिये हैं।

श्री अम्बिकादत्त व्यास ए० एम० एस०—आपके द्वारा निम्न पुस्तको का

अनुवाद हुआ है—सुश्रुत संहिता—सूत्र, निदान, शारीर स्थान, भैषज्यरत्नावली, रसेन्द्रसार संग्रह, रसरत्नसमुच्चय।

श्री शिवदयाल गुप्त ए० एम० एस०—आपने नेत्ररोगविज्ञान, मैटेरिया मेडिका, धात्रीविज्ञान आदि पुस्तकें पाश्चात्य चिकित्सा के आधार पर लिखी हैं।

श्री सुदर्शन ए० एम० एस०—आपने माधवनिदान का हिन्दी अनुवाद किया है, इसमें मुख्य रूप से विमर्श लिखकर आधुनिक चिकित्सा का भी उल्लेख किया है। अनुवाद सामयिक है। श्री यदुनन्दन उपाध्यायजी ने इसे परिष्कृत किया, ऐसा इसकी भूमिका से पता चला है। इसके परिष्कार में श्री शिवदत्त शुक्लजी आदि से आपको सहायता मिली, जिनके कारण यह उत्तम और सुव्यवस्थित बन सका।

श्री गंगासहाय पाण्डेय ए० एम० एस०—आपने सिद्धभैषज्यसंग्रह तथा भावप्रकाश निघण्टु का क्रमश सम्पादन और परिष्कार किया है। स्वतन्त्र पुस्तक आपकी अभी प्रकाशित नहीं हुई। इसमें कितना अंश आपका है और कितना मूल लेखक का या अनुवादक का है, यह पता नहीं चलता। फिर भी कुछ नवीनता सम्भव है।

श्री रमानाथ द्विवेदी एम० ए०, ए० एम० एस०—आपने एक नयी सरणी पुस्तक लेखन में चलायी, जो कि आधुनिक समय के अनुकूल और उपयोगी है। इस पद्धति से तैयार की हुई पुस्तकें विद्यार्थियो के लिए उत्तम ज्ञान देनेवाली हैं। इनका सबसे बड़ा लाभ समय की बचत है। एक ही व्यक्ति पाश्चात्य चिकित्सा और आयुर्वेद को एक ही पुस्तक की सहायता से पढ़ सकता है। जो लोग आयुर्वेद को चरक-सुश्रुत आदि संहिताओं के अन्दर ही जकड़ा मानते हैं, सम्भवत उनको यह कार्य अनुकूल न लगे। परन्तु जो अत्रिपुत्र के 'तदेव युक्त भैषज्य यदारोग्याय कल्पते'—इस सिद्धान्त को मानते हैं, उनके लिए ये पुस्तकें प्रशसनीय एव महत्त्वपूर्ण हैं—

सौश्रुती—इसके नाम से ही इसका विषय स्पष्ट है, इसमें सुश्रुत संहिता का शल्यतन्त्र पृथक् रूप से हिन्दी में लिखा है। इस प्रकार से लिखने से विषय का सिलसिला सरल हो गया है। शल्य विषय जो भिन्न-भिन्न अध्यायो में एक निश्चित क्रम से नहीं वर्णित था, उसे क्रम से पूर्वापर सम्बन्ध के साथ कहानी के रूप में लिख दिया गया है (जिस प्रकार से नीति विद्या का पचतन्त्र में वर्णन किया है)। इससे भले ही विद्यार्थी संस्कृत के वचन स्मरण न कर सके, परन्तु उसके विषय से बहुत सरलतापूर्वक परिचित हो जाता है।

प्रसूतिविज्ञान—यह पुस्तक आपको बहुत प्रतिष्ठा देनेवाली है, इसमें पूर्व

प्रकाशित पुस्तको से बहुत अधिक सामग्री है। शालाक्यतंत्र—इसमें आयुर्वेद में वर्णित शालाक्य शास्त्र के रोगो को आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा के साथ तुलना करके लिखा है। इसमें दोनो सरणियो की चिकित्सा लिखी है। विषय को सरल बनाने के लिए सक्षेप में परन्तु आवश्यकतानुसार वचन भी दिये है। स्त्रीरोगविज्ञान—इनमें आधुनिक विषय बहुत ही सरलता से समझाया है, आयुर्वेद के वचन भी साथ-साथ में दिये हैं। अगदतन्त्र—यह छोटी-सी पुस्तिका है, इसमें प्राचीन विषयो का वर्णन किया है। बालचिकित्सा—इसमें बालको के लालन-पालन तथा उनकी चिकित्सा का उल्लेख दोनो पद्धतियो से किया है। पेटेन्ट मेडिसिन—इसकी जरूरत आज बहुत थी। आयुर्वेद विद्यालय से निकले स्नातको को व्यवहार में लाने की दृष्टि से विलायती कम्पनियो की बनायी औषधियो का परिचय कराने के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। इससे पता चल जाता है कि किस रोग में कौन-कौन-सी पेटेन्ट औषधियाँ बरती जाती हैं, उन्हें किस-किस कम्पनी ने किस किस नाम से बनाया है।

इन लेखको के अतिरिक्त श्री रमेशचन्द्र ने कफचिकित्सा, इजेक्शन चिकित्सा आदि पुस्तकें लिखी हैं। ठाकुर दलजीत सिंह ने यूनानी द्रव्यगुण तथा यूनानी चिकित्सा की कई पुस्तकें हिन्दी में लिखी हैं। श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य की भाँति जन-कल्याण के लिए उसको बरतना चाहिए, उसका अध्ययन करके आयुर्वेद में उसका समावेश करना आवश्यक और उपयोगी है। आज हम पाश्चात्य चिकित्सा की तरफ जितने झुके हैं, उसके साथ समन्वय करना चाहते है, उससे अधिक यह यूनानी चिकित्सा हमारे बहुत समीप की है। इसका द्रव्यगुण तो हमारे साथ मेल खाता है। इनका औषधज्ञान आयुर्वेद के निघण्टु की अपेक्षा परिष्कृत, विस्तृत और जाना हुआ है। दुःख है कि हम लोग इसे नही अपना सके। यही कारण है कि बारहवी शती से लेकर आज तक यह ज्ञान पृथक् रहा। यदि मुसलमानो के राज्यकाल में इसे मिला लिया जाता तो आज आयुर्वेद का पर्याप्त विकास हो जाता, उसका दूसरा रूप ही होता। इस क्षेत्र में हकीम मंशाराम ने भी कार्य किया है, आपने भी यूनानी चिकित्सासागर और यूनानी तिब्ब की फार्माकोपिया पुस्तके हिन्दी में लिखी हैं।

श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी एम० एस-सी० ने रसरत्नसमुच्चय के एक भाग का हिन्दी अनुवाद बहुत प्रामाणिकता तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया था। इसमें आपने अपने विज्ञान के ज्ञान का पूर्ण उपयोग किया, सारा रसशास्त्र आपने इसी दृष्टिकोण से देखा है। यद्यपि मेरी मान्यता है कि वर्तमान कैमिस्ट्री के साथ प्राचीन रसशास्त्र का कोई मेल नही, दोनो ही ज्ञानो का दृष्टिकोण भिन्न है,

उनकी प्रक्रिया में भेद है, दोनो का उद्देश्य भिन्न है। वर्त्तमान कैमिस्ट्री का उद्देश्य, चरम लक्ष्य क्या है, यह किसी को पता नही, परन्तु भारतीय रसशास्त्र का चरम लक्ष्य स्पष्ट है—शरीर को अजर-अमर वनाना। इसलिए दोनो को मिलाना उसी प्रकार है कि कवि का नाम धावक देखकर उसे धोवी या भगोडा समझना।

श्री ठाकुर वलवन्त सिंह एम० एस-सी०—आपने प्रारम्भिक उद्भिद् (वनस्पति) शास्त्र पुस्तक लिखी है। वनस्पति शास्त्र पर सवसे पहली पुस्तक सन् १९१४ में हिन्दी में गुरुकुल कांगडी के प्राध्यापक श्री महेशचरण सिंह ने लिखी थी। ठाकुर साहव ने इसे नये दृष्टिकोण से हिन्दी में लिखा है, इसमें आयुर्वेदिक वनस्पतियो के उदाहरण दिये है। इसके सिवाय विहार की वनस्पतियो के सम्वन्ध में भी एक पुस्तक आपने लिखी है।

श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री आयुर्वेदाचार्य—आपने लघु द्रव्यगुणादर्श तथा आयुर्वेद का सक्षिप्त इतिहास लिखा है। यह इतिहास श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री के आयुर्वेद-इतिहास (गुजराती) के आधार पर है, जो वहुत सक्षिप्त है। लघु द्रव्यगुणादर्श पुस्तक में द्रव्यगुण-रसशास्त्र को वहुत थोडे से पृष्ठो में समाविष्ट कर दिया है, इससे विद्यार्थियो के लिए उपयोगी है। द्रव्यगुण पर विस्तृत पुस्तक भी लिखी है, जो अभी प्रकाशित नही है। आपका द्रव्यगुण विषय मे वहुत रस है और उसके अच्छे ज्ञाता हैं।

श्री रामरक्ष पाठक—आपने दो तीन पुस्तके लिखी है जो कि दूसरो की पुस्तको के आधार पर है। पदार्थविज्ञान में आपकी हिन्दी दुरूह हो गयी है। मर्मविज्ञान भी एक अंग्रेजी पुस्तक का एक प्रकार से उल्था है।

डा० श्री रामदयाल कपूर—आपने प्रसूतितत्र सवसे प्रथम लिखा था, यह पुस्तक अंग्रेजी की मिड्वाइफरी का सुन्दर अनुवाद था। विद्यार्थियो में तथा अध्यापको में इसका अच्छा प्रचार हुआ। इसके पीछे रोगीपरिचर्या पुस्तक लिखी। ये पुस्तकें शुद्ध पाश्चात्य चिकित्सा से सम्वन्धित है।

इस प्रकार हिन्दी मे भी पाश्चात्य चिकित्सा सम्वन्धी, आयुर्वेद सम्वन्धी दोनो का समन्वयात्मक साहित्य पूर्ण रूप से मिलता है। अव हिन्दी में उच्च श्रेणी का साहित्य भी लिखा जा रहा है। यह साहित्य पाठ्यक्रम के लिए उपयोगी हो सकता है।

सस्कृत के मूल ग्रन्थो का हिन्दी अनुवाद वडी मात्रा में हो चुका है। इस कार्य का प्रारम्भ मथुरा पुरी के **श्री दत्तराम चौबे** तथा अन्य मनीषियो ने किया था। उनके ही प्रयत्न का फल है कि रसराजसुन्दर आदि ग्रन्थ हिन्दी मे उपलब्ध हुए। जहाँ तक मेरा ज्ञान है, हिन्दी में आयुर्वेद साहित्य सव भाषाओ से अधिक है; इसके

पीछे बँगला, मराठी है। कुछ थोडे से ही प्रकाशित चालू ग्रन्थ होंगे जो कि हिन्दी अनुवाद के विना रह गये।

आयुर्वेद साहित्य को श्री भूदेव मुकर्जी ने तथा गिरीन्द्रनाथ मुकर्जी ने अपने ग्रन्थ अग्रेजी में लिखकर नयी प्रेरणा दी है। डा० विष्णु महादेव भट्ट ने मराठी मे पाश्चात्य और आयुर्वेद मत को मिलाकर रोगविज्ञान पुस्तक उत्तम रूप से प्रस्तुत की है। श्री ए० पी० ओगले का चिकित्साप्रभाकर मराठी का उत्तम ग्रन्थ है। यह वहुत विस्तृत और पूर्ण जानकारी चिकित्सा के सम्वन्ध मे करवाता था। सस्कृत मे श्री विश्वनाथ गोखले का चिकित्साप्रदीप तथा सी० जी० काशीकर का लिखा पदार्थविज्ञान वहुत उत्तम एव आयुर्वेद के प्रशसनीय ग्रन्थ है।

गुजराती मे सामान्य जनता के लिए पर्याप्त साहित्य तैयार है, इसमे सामयिक साहित्य श्री गोपालजी कुवरजी ठक्कर मालिक सिन्ध आयुर्वेदिक फार्मेसी, श्री जयशकर लीलाधर ने तैयार किया। श्री वापालाल गड़वडशाह तथा प्रभुदास—प्रिन्सिपल शुद्ध आयुर्वेदिक कालेज, नडियाद ने उत्तम उपयोगी साहित्य गुजराती को दिया है। यह साहित्य हिन्दी के लिए भी उपयोगी है। इस समय चन्द्रशेखर गोपालजी ठक्कर सरल साहित्य लिख रहे है।

वँगला में श्री अमृतलाल गुप्त की आयुर्वेदशिक्षा, श्री रामचन्द्र विद्याविनोद का आयुर्वेदसोपान, श्री राखालचन्द्र दत्त वैद्यशास्त्री का फलितचिकित्साविधान आदि पुस्तके वहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वँगला में प्राय सव आयुर्वेद साहित्य अनूदित हो चुका है। इस समय श्री प्रभाकर चटर्जी एम० ए० आयुर्वेद की सेवा कर रहे हैं।

जहाँ तक पाश्चात्य चिकित्सा के ज्ञान की आवश्यकता आयुर्वेद के लिए है, वहाँ तक का साहित्य क्षेत्रीय भाषाओ में अथवा हिन्दी में पूर्णत उपलब्ध है। इससे आगे पाश्चात्य चिकित्सा का अध्ययन आयुर्वेद की दृष्टि से हानिप्रद रहेगा। इतने प्रस्तुत साहित्य का आज उपयोग होने लगे तो भविष्य मे और भी परिष्कार इस दिशा में हो जायगा। वर्तन माँजने से अधिक चमकता है।

तेईसवाँ अध्याय

आयुर्वेद साहित्य के प्रकाशक

खेमराज श्रीकृष्णदास—आपके दो प्रेस बम्बई में हैं, एक श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस खेतवाड़ी-बम्बई में और दूसरा श्री लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर प्रेस कल्याण-बम्बई में। आपने सबसे प्रथम आयुर्वेद साहित्य का प्रकाशन प्रारम्भ किया। यह प्रकाशन संस्कृत मूल तथा संस्कृत और हिन्दी दोनों के साथ हुआ। आपके यहाँ से आयुर्वेद ग्रन्थ तीन सौ के लगभग प्रकाशित हुए हैं, कोई ऐसी पुस्तक सम्भवतः नहीं बची जो उपलब्ध होने पर आपने न प्रकाशित की हो। पुस्तकें बिकीं नहीं, यह प्रश्न दूसरा है। साहित्य की दृष्टि से आपने इनका प्रकाशन किया है। आपका प्रकाशन सर्वथा पुरानी पद्धति का है। इसमें अभी तक समयानुसार कोई भी परिवर्तन आपने नहीं किया, इसलिए इस समय यह प्रकाशन अधिक लोकप्रिय नहीं रहा। आपके लेखकों में श्री दत्तराम चौबे, पं० ज्वालाप्रसाद, श्री रामप्रसादजी मुख्य हैं।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज—यह बनारस की प्राचीन संस्था है, संस्कृत पुस्तकों का प्रकाशन इस संस्था का अपना ध्येय है। आज से तीस-चालीस वर्ष पूर्व निर्णयसागर प्रेस और यह सीरीज ही संस्कृत पुस्तकों का प्रकाशन करती थी। काशी संस्कृत विद्या एवं विद्वानों का घर होने से विद्यार्थी और अध्यापकों को इसकी आवश्यकता रहती थी। संस्था ने संस्कृत साहित्य, विशेषतः धर्मशास्त्र, व्याकरण, कर्मकाण्ड का प्रकाशन प्रारम्भ किया। आयुर्वेद के प्रकाशन की ओर इसकी अभिरुचि सन् १९२७ के लगभग हुई। संस्था के मालिक धीरे-धीरे इस कार्य में अग्रसर हुए। आपने श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य से 'काक-चण्डीश्वर तंत्र' प्राचीन ग्रन्थ लेकर उसे प्रकाशित किया।

देश-विभाजन के पीछे सन् १९४७ से इस प्रगति ने बहुत वेग पकड़ा। इसके आस-पास ही आपने सुश्रुतसंहिता, चरकसंहिता को मूल रूप में प्रकाशित किया था। साथ ही हिन्दी में आयुर्वेद ग्रन्थों का क्रम प्रारम्भ कर दिया। इस समय यह स्थिति है कि सम्भवतः कोई भी प्रचलित ग्रन्थ ऐसा नहीं जिसका हिन्दी या संस्कृत भाषान्तर

आपके यहाँ से प्रकाशित न हुआ हो। काश्यपसंहिता जैसे बड़े ग्रन्थ का प्रकाशन आपने हिन्दी में किया है। संस्कृत साहित्य का भी संस्था ने बहुत कार्य किया। संस्था से प्रकाशित आयुर्वेद ग्रन्थों मे मुख्य ये है—

अष्टांगहृदय, भैषज्यरत्नावली, सुश्रुतसंहिता (आंशिक), भावप्रकाश, रसेन्द्रसार-संग्रह, रसरत्नसमुच्चय, परिभाषाप्रदीप तथा नवीन शैली की कौमारभृत्य, प्रसूतितंत्र, शाल्ाक्यतंत्र, स्त्रीरोगविज्ञान, अभिनव विकृतिविज्ञान, द्रव्यगुणविज्ञान आदि।

कृष्णगोपाल संस्था—कालेडा बोगला, अजमेर—यह संस्था सन् १९३५ के आसपास प्रारम्भ हुई है। इसको प्रारम्भ करनेवाले जामनगर राज्य के श्री कृष्णानन्दजी स्वामी हैं। उन्होंने परिश्रम से औषधालय खोला, फिर उसके साथ-साथ प्रकाशन का काम प्रारम्भ किया। प्रथम आपने रसतंत्रसार—सिद्धयोगसंग्रह प्रकाशित किया; इसकी बिक्री बहुत अच्छी हुई, जनता ने इसे उदारता से अपनाया। इससे प्रेरित होकर आपने इसका दूसरा भाग, चिकित्साप्रदीप, गाँवों के अमूल्य रत्न (वृक्ष) आदि पुस्तकें प्रकाशित की है। इस संस्था के प्रकाशनों की अपनी विशेषता है। इस विशेषता के कारण जनता में आपकी पुस्तकें बहुत प्रचलित हैं, पढ़े-लिखे सामान्य जानकारीवाले शिक्षक, चिकित्सक, विद्यार्थी, सब इनका उपयोग मुक्तहस्त से कर रहे हैं। आयुर्वेद की चिकित्सा में इनसे बहुत सहायता मिल रही है।

वैद्यनाथ भवन लिमिटेड—यह संस्था मुख्यत औषध निर्माण का काम करती है, परन्तु साथ ही पुस्तकों के प्रकाशन में भी सहयोग देती है। यह प्रकाशन विस्तार रूप में सम्भवत श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य की प्रेरणा से विकसित हुआ है। आपके यहाँ से श्री रणजीतराय देसाई आयुर्वेदालंकार की पुस्तकें प्रकाशित हुई है। श्री डाक्टर बालकृष्ण अमरसी पाठक का मानसरोग भी आपके यहाँ से निकला है। श्री यादवजी का सिद्धयोगसंग्रह भी यहीं से निकला है। इस पुस्तक का बहुत प्रचार हुआ, क्योंकि इसमें नुस्खे हैं और वैद्य लोगों की रुचि नुस्खेवाली पुस्तकों मे बहुत रहती है। संस्था ने देसाई तथा पाठक के जो प्रकाशन किये हैं, वे संस्था और आयुर्वेद के लिए गौरव की चीज हैं।

लाहौर की दो संस्थाएँ—सन् १९४७ के देश-विभाजन से पूर्व लाहौर में मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास और मोतीलाल बनारसीदास ये दो संस्थाएँ आयुर्वेद के प्रकाशनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थी। दोनों संस्थाओं के पास-पास होने से इनमें स्पर्द्धा रहती थी, इससे आयुर्वेद के प्रकाशन को लाभ हुआ। इनमें मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास ने चक्रदत्त का हिन्दी अनुवाद सदानन्द शर्मा का किया हुआ प्रकाशित किया था। यह अनुवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी हुआ। संस्कृत की टीका से अधिक इसका प्रचार

हुआ। इसके साथ ही सुश्रुत संहिता का हिन्दी अनुवाद श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर-जी का आपने प्रकाशित किया। इस प्रकाशन से आपकी ख्याति में चार चाँद लग गये। इससे अनुप्राणित होकर आपने श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी का लिखा रसरत्नसमुच्चय का एक भाग प्रकाशित किया, जो कि अपने ढग का प्रथम था। इसके पीछे प्राचीन पुस्तक 'बावर पाण्डुलिपि' का नावनीतक छापा।

विभाजन के पीछे इस संस्था ने आयुर्वेद का प्रकाशन एक प्रकार से समाप्त कर दिया, अब दूसरे प्रकाशन में हाथ लगाया है। इस समय सुश्रुत का हिन्दी अनुवाद (सूत्रस्थान-निदानात्मक) श्री घाणेकरजी का तथा माधवनिदान हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है। ये दोनों अनुवाद बाजार में मिलनेवाले इनके अनुवादों से सस्ते और अच्छे हैं।

मोतीलाल बनारसीदास—लाहौर की प्राचीनतम संस्था है। इस संस्था का प्रारम्भ लाला मोतीलालजी जैन जौहरी ने १९०३ में अपने मकान में किया था। दुकान पर आपके सुपुत्र श्री सुन्दरलालजी अपना कुछ समय प्रारम्भ में देते रहे। पीछे आपने नौकरी करना पसन्द न करके इस काम को बढाया। आपका सम्पर्क यूरोप या अमेरिका के विद्वानों से हुआ और वहाँ का साहित्य आपके द्वारा यहाँ सुलभ हुआ।

वैदिक साहित्य के पीछे आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्रकाशन की रुचि आपको लाहौर के प्रसिद्ध वैद्य कविराज श्री नरेन्द्रनाथ मित्रजी से हुई। उनका औषधालय आपकी दुकान के पास ही था। श्री मित्रजी ने शिष्यों से अपनी देखरेख में आयुर्वेद की पुस्तका का हिन्दी अनुवाद, इनके नये सस्करण एव प्राचीन पुस्तकों का पुन सम्पादन, नयी पुस्तकें लिखवाना प्रारम्भ किया।

आपने रसेन्द्रसारसग्रह का हिन्दी अनुवाद एव अष्टाग-हृदय को सर्वांगसुन्दर टीका के साथ तथा मूलरूप में छापकर आयुर्वेद ग्रन्थों के प्रकाशन का श्रीगणेश किया। फिर श्री जयदेव विद्यालकार का भैपज्यरत्नावली का अनुवाद छापा। रसहृदय-तत्र, रसेन्द्रचिन्तामणि, चक्रदत्त की शिवदास सेन टीका भी प्रकाशित हुई। चरक सहिता का हिन्दी अनुवाद विद्यार्थी एव अध्यापक दोनों के लिए उपयोगी है।

श्री अत्रिदेव विद्यालकार द्वारा लिखित शल्यतत्र एव सुश्रुत का हिन्दी अनुवाद आपने छापा। चरकसहिता की चक्रपाणिदत्त टीका को जैज्जट की टीका के साथ श्री हरिदत्तजी शास्त्री से सम्पादित कराकर प्रकाशित किया। योगरत्नाकर हिन्दी अनुवाद सबसे पहले आपने प्रकाशित किया था।

विभाजन के पीछे बनारस आकर आपने चरक, सुश्रुत, भैपज्यरत्नावली आदि

पुस्तको का प्रकाशन करने के साथ अत्रिदेव विद्यालकार की क्लिनिकल मेडिसिन प्रकाशित की, भावप्रकाश का हिन्दी अनुवाद सस्ते मूल्य पर जनता को दिया। आपके प्रकाशन उपयोगी होने के साथ सस्ते होते है। इसी से विद्यार्थी वर्ग उनको पसन्द करता है। दिल्ली मे भी आपने इस कार्य का विस्तार किया है।

सस्कृत के प्रकाशक

इनमे मुख्य प्रकाशक निर्णयसागर प्रेस-बम्बई, आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला-पूना एव जीवानन्द विद्यासागर-कलकत्ता है। निर्णयसागर प्रेस का प्रकाशन अपनी विशेपता लिये होता है। इसमें प्रकाशित पुस्तको का सम्पादन मुख्यत श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने बहुत योग्यता से किया है। अष्टागहृदय का सम्पादन श्री हरिशास्त्री पराडकर (अकोला-बरार) ने बहुत योग्यता से किया है। आयुर्वेद में हिन्दी अनुवाद अत्रिदेव विद्यालकार कृत अष्टागसग्रह का और उन्ही द्वारा लिखित 'हमारे भोजन की समस्या' का भी प्रकाशन किया है, पर सामान्यत यह सस्था सस्कृत के प्रकाशन ही करती है। माधवनिदान का शुद्ध सस्करण श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने १८ वर्ष की अवस्था मे इस सस्था से प्रकाशित करवाया था। चरकसहिता—चक्रपाणिदत्त की व्याख्या सहित एव मूल, सुश्रुतसहिता—डल्हण की टीका के साथ एव मूल, अष्टागहृदय—अरुणदत्त और हेमाद्रि की टीका के साथ एव मूल, शार्ङ्गधरसहिता—टीका एव मूल, माधव निदान—मधुकोश आतकदर्पण सहित तथा योगरत्नाकर मूल भी प्रकाशित हुए हैं।

आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला-पूना ने आयुर्वेद तथा अन्य विपयो की पुस्तके मोटे टाइप में मूलरूप में प्रकाशित की हैं। इस सस्था से योगरत्नाकर, हस्त्यायुर्वेद—पालकाप्य मुनि का बनाया, अश्ववैद्यक, अष्टागसग्रह मूल आदि ग्रन्थ प्रकाशित हुए है।

जीवानन्द विद्यासागर—कलकत्ते की पुरानी सस्था है। इसमे आयुर्वेद, साहित्य, पुराण, धर्मग्रन्थ आदि सब विपयो की पुस्तके प्रकाशित हुई है। चरकसहिता के चिकित्सा स्थान के अध्यायो में क्रमभेद जो आज मिल रहा है वह इसके प्रकाशित तथा निर्णयसागर से प्रकाशित भेद के कारण है। दु ख है कि आज तक इसका कुछ भी निर्णय नही हुआ। बगाल में प्रसिद्ध प्राय सब ग्रन्थो का देवनागरी लिपि-सस्करण सस्कृत का इसी सस्था से निकला है। रसेन्द्रसारसग्रह, वगसेन, भावप्रकाश, इनके मूल सस्करण इसी सस्था के प्रकाशन है।

आर्य वैद्यशाला—कोटाकल से भी आयुर्वेद की कुछ पुस्तके सस्कृत में प्रकाशित हुई हैं, जिनमें चिकित्सा-कलिका, अष्टागहृदय, अष्टागहृदय का उत्तर तत्र आदि मुख्य हैं।

चौवीसवाँ अध्याय

आयुर्वेद का पाठ्यक्रम

प्राचीन काल में आयुर्वेद के अध्ययन का कितना समय था, यह वात स्पष्ट नही। यह केवल आयुर्वेद के लिए ही नही, अपितु व्याकरण आदि दूसरे विषयो के सम्वन्ध में भी है। इसी से पचतत्र में कहा है कि व्याकरण पढने के लिए ही वारह वर्ष चाहिए। इसके पीछे मनु आदि के वनाये धर्मशास्त्र, चाणक्य आदि के अर्थशास्त्र, वात्स्यायन के कामसूत्र आदि पढने होते है। इतना पढने के पीछे धर्म, अर्थ, काम के शास्त्रो का ज्ञान होता है। इसके पीछे इनका मनन होता है। कहा भी है—

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्र स्वल्प तथायुर्बहवश्च विघ्ना.।
सार ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हसैर्यथा क्षीरमिवाम्वुमध्यात् ॥

पंचतत्र, कथामुख ९

शब्दशास्त्र अनन्त है, आयु सक्षिप्त है, वीच में वहुत से विघ्न है, इसलिए छूंछ को छोडकर सार भाग लेना चाहिए, जिस प्रकार कि हस पानी-मिले दूध में से दूध को ले लेते है, पानी को छोड देते है। इसी विचार से सम्भवत आयुर्वेद का पाठ्यक्रम चार साल का था—

अन्तेवासी गुरोर्गृह कृतकालं वर्षचतुष्टयमायुर्वेदशिल्पशिक्षार्थं त्वद्गृहे वसामीति।

याज्ञ०, मिताक्षरा टीका

अन्तेवासी वनकर गुरु के घर में चार साल पर्यन्त आयुर्वेद शिल्प की शिक्षा के लिए रहना होता था। नालन्दा और तक्षशिला विद्यापीठो के अध्ययनक्रम से स्पष्ट है कि वहाँ पर उच्च शिक्षा का ही प्रवन्ध था। प्रारम्भिक शिक्षा नही होती थी। इसी से नालन्दा में जो विद्यार्थी प्रवेश की इच्छा से आता था, उससे वहाँ का द्वारपण्डित कुछ कठिन प्रश्न करता था। उन प्रश्नो का सतोषजनक उत्तर देने पर ही उसे नालन्दा में प्रविष्ट किया जाता था। इस प्रकार से दस विद्यार्थियो में से दो-तीन को ही प्रवेश मिलता था। यह द्वारपण्डित उस विद्या का विद्वान् होता था जिस विद्या को पढने के लिए विद्यार्थी आता था (हर्ष, पान्थरी)।

इस प्रकार का अध्ययन जीवक ने तक्षशिला में किया था, जहाँ पर उसने सात साल तक अध्ययन करने पर भी आयुर्वेद की समाप्ति नहीं पायी। आयुर्वेद को विद्या और कला दोनो में स्थान मिला है। शुक्रनीति में आयुर्वेद की दस कलाओं का उल्लेख है, यथा—१ मकरन्द, आसव बनाना, २ छिपे हुए शल्य को निकालना, ३ हीन और अधिक रस के सयोग से अन्न का पकाना, ४ वृक्ष आदि की कलम लगाना, ५ पत्थर-धातु आदि का गलाना और भस्म करना, ६ ईख से गुड आदि बनाना, ७ धातु और औषधियों का सयोग करना, ८ मिली हुई धातुओं को अलग करना, ९ धातु आदि के अपूर्व सयोग का ज्ञान और १० क्षार निकालना (शुक्रनीतिसार—२६४, अध्याय ४)। बाण ने हर्षचरित मे धातुविद् विहगम का उल्लेख किया है। यह धातुज्ञान उपर्युक्त धातु सम्बन्धी ज्ञान ही है। यह धातुज्ञान कला थी। कला मे हस्तनैपुण्य या इन्द्रिय-का प्रयोग (मुख्यत कर्मेन्द्रिय का) होता है, विद्या में वाणी का प्रयोग होता है। गूँगा कलावन्त हो सकता है, परन्तु उसे विद्वान् नही सुना गया (हिन्दू राज्यशास्त्र—अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, पृष्ठ २६)। पीछे से इस कला को विद्या नाम दिया गया। सामान्यत आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद ये कला या शिल्प माने जाते थे। इनकी शिक्षा के लिए विद्यार्थी नालन्दा और तक्षशिला में जाते थे। इन शिल्पों को सीखने के लिए प्रारम्भिक शिक्षा इनकी पहले हो चुकी होती थी। इस दृष्टि से मिताक्षरा में आयुर्वेद शिल्प के अध्ययन का समय चार साल माना है। इसके पीछे इस शिल्प की जिस कला में विशेष नैपुण्य प्राप्त करना होता था—वह पृथक् था।[1] आयुर्वेद के पाठ्यक्रम के लिए चार साल या पाँच साल पर्याप्त हैं, विशेषत जब विद्यार्थी की प्रारम्भिक शिक्षा हो चुकी हो।

आयुर्वेद का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी की योग्यता—इस सम्बन्ध में गुरुकुल

---

१. जिस प्रकार से आज भी एम० बी० बी० एस० का सामान्य पाठ्यक्रम पाँच साल का है। इसको समाप्त करके विद्यार्थी किसी विशेष विषय में नैपुण्य प्राप्त करने के लिए अपना समय देते है, उसी प्रकार से आयुर्वेद का सामान्य ज्ञानकाल चार वर्ष का था, उसे समाप्त कर छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए नालन्दा जाते थे। वहाँ पर द्वारपण्डित उनकी उस विषय के प्रारम्भिक ज्ञान की परीक्षा लेकर आगे पढने की अनुमति देता था। यही प्रथा आज भी चिकित्सा के विशेष विषय के नैपुण्य के लिए है। उसमें प्रवेश पाने के लिए प्रारम्भिक शिक्षा निश्चित वर्ष की समाप्त करनी आवश्यक है। यह समय प्राचीन काल में चार वर्ष का था।

कांगडी विश्वविद्यालय के शिक्षाक्रम में जो योग्यता १९२० तथा १९२६ ईसवी में थी, वह सबसे अच्छी है। इस योग्यता में विद्यार्थी को निम्न विपयो का ज्ञान करना आवश्यक था—

प्रारम्भिक योग्यता—१९२० ईसवी में (गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के विद्यार्थी की, आयुर्वेद अध्ययन के लिए)—

व्याकरण में—सम्पूर्ण सिद्धान्तकौमुदी, नवाह्निक महाभाष्य।

सस्कृत में—शिवराजविजय सम्पूर्ण, माघ (शिशुपालवध) दो सर्ग, किराता-र्जुनीय तीन सर्ग।

अग्रेजी—इन्टर स्टैन्डर्ड—पजाव विश्वविद्यालय।

गणित—के पी वसु का वीजगणित सम्पूर्ण, यादवचन्द्र चक्रवर्त्ती का अक-गणित सम्पूर्ण, ज्यामिति—स्टीफन्स—पाँच भाग।

विज्ञान—भौतिकी, रसायन—पजाव विश्वविद्यालय के इन्टर तक।

दर्शन—न्यायमुक्तावली, अनुमान प्रकरण तक, वैशेषिक दर्शन।

धर्मशिक्षा—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, एतरेय, तैत्तिरीयोपनिपद्।

इतिहास—वैदिक काल से लेकर १९२० ईसवी तक का।

सामान्यत ये विषय उस समय विद्यार्थी को पूरे करने होते थे। इसके पीछे उसे उच्च शिक्षा के समय वेद, शेप दर्शन (मीमासा छोडकर) प्राचीन और पाश्चात्य चिकित्सा पढनी होती थी। वेद में प्रथम दो वर्प निरुक्त, दो सौ मत्र ऋग्वेद के, तृतीय वर्ष में यजुर्वेद के २५० मत्र और चतुर्थ वर्ष में अथर्ववेद के २५० मत्र पढाये जाते थे। सामान्य रूप से यह अध्ययन-क्रम था। इसमें चार वर्प लगते थे।

१९२६ ईसवी में दर्शन हटाकर पाश्चात्य चिकित्सा विषय को वढा दिया, जिसमें प्रथम वर्प में वनस्पतिशास्त्र और प्राणिशास्त्र भी सम्मिलित कर दिया गया और अध्ययन का समय चार वर्प से पाँच वर्ष कर दिया। परन्तु प्रवेशयोग्यता में अन्तर नही किया गया। परिणाम यह हुआ कि यहाँ के अध्ययनक्रम को उस समय सवसे उत्तम माना जाता था, क्योंकि इस योग्यता के छात्र किसी भी आयुर्वेदविद्यालय मे प्रविप्ट नही होते थे। यही योग्यता या इसी के पास की योग्यता इस समय उचित है।

इसके लिए सामान्यत इन्टर साइन्स की योग्यता वनस्पतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र (मेडिकल ग्रूप) की तव तक ठीक है, जव तक कि आयुर्वेदिक ग्रूप का पृथक् प्रवन्ध नही होता। इस योग्यता के विद्यार्थी को प्रथम वर्ष में सस्कृत और दर्शन की योग्यता करा देनी चाहिए। इस प्रकार से इस पाठ्यक्रम को ऐसा वनाना चाहिए कि विद्यार्थी

की प्रारम्भिक नीव पक्की हो जाय, आगे उसके ऊपर व्यर्थ का वोझ न डालें, अपितु उसकी बुद्धि ही विकसित करे, जिससे वह स्वत उसमें रास्ता वनाये। शिक्षक विद्यार्थी की बुद्धि को विकसित कर दें और उसे कर्म मार्ग का रास्ता दिखा दे। इतना ही इस शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।

यद्यपि प्राचीन काल में आयुर्वेद का अध्ययनकाल चार वर्ष का था, तथापि परिस्थिति के कारण इस समय इसे पाँच वर्ष का करना होगा। यदि पाश्चात्य चिकित्सा का ज्ञान नही कराना हो, तो चार वर्ष का काल पर्याप्त है। परन्तु इस समय पाश्चात्य चिकित्सा का ज्ञान आवश्यक है। निम्न पाठ्यक्रम में आयुर्वेद के अष्टागो का पाठ्यक्रम पूर्णत आ जाता है।

पाठ्यक्रम की रूप-रेखा—पढाने का माध्यम हिन्दी या क्षेत्रीय भाषा हो।

वर्ष	विषय	प्रस्तावित पुस्तके (इनमे परिवर्त्तन क्षेत्रीय भाषा के अनुसार सम्भव है)
प्रथम वर्ष	१ सस्कृत	१ जीवानन्दनम्—आनन्दराय मखी कृत
	२ दर्शन	२ न्यायमुक्तावली, आप्त प्रमाण तक साख्यतत्त्वकौमुदी की कारिकाएँ
	३ शरीर रचना	३ प्रत्यक्षशारीरम्, हमारे शरीर की रचना
	४ शरीर क्रिया	४ शरीर क्रियाविज्ञान—रणजीतराय देसाई
	५ निघण्टु	५ द्रव्यगणसग्रह—चक्रपाणि, शिवदास सेन टीका के साथ ४२ पृष्ठ तक
द्वितीय वर्ष	द्रव्य गुण—	मैटेरिया मेडिका—घोस की द्रव्यगुणविज्ञान—श्री यादवजी त्रिकमजी उत्तरार्ध
	भैपज्य कल्पना—परिभाषा	द्रव्यगुणविज्ञान, परिभाषा खण्ड—श्री यादवजी त्रिकमजी, भैपज्य कल्पना—अत्रिदेव विद्यालकार

वर्ष	विषय	प्रस्तावित पुस्तकें (इनमे परिवर्त्तन क्षेत्रीय भाषा के अनुसार सम्भव है)
	रसशास्त्र–	रसेन्द्रसारसग्रह का जारण मारण प्रकरण तक या रसामृत–श्री यादवजी त्रिकमजी
	शरीररचना–	प्रथम वर्ष की भाँति
	शरीरक्रिया–	,, ,,
	स्वस्थवृत्त–	स्वास्थ्यविज्ञान–श्री घाणेकरजी का या डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा का, अष्टाग-सग्रह का सूत्रस्थान–१–८ अध्याय
तृतीय वर्ष	प्रसूतितन्त्र—– स्त्री रोगविज्ञान बाल रोग और विकृति विज्ञान—–	प्रसूतिविज्ञान–श्री रमानाथ द्विवेदी का या अन्य कोई, स्त्रीरोगविज्ञान, बाल-चिकित्सा–श्री रमानाथ द्विवेदी कृत कोई उपयोगी ग्रन्थ
	विधिशास्त्र–	न्यायवैद्यक और विषतत्र—श्री अत्रिदेव विद्यालकार का, हितोपदेश—–रणजीत-राय देसाई का
	निदान–	माधवनिदान
	आयुर्वेद का इतिहास–	श्री अत्रिदेव विद्यालकार का
चतुर्थ वर्ष	आयुर्वेद	अष्टागसग्रह–सूत्र, निदान, शारीर, कल्प
	रसेन्द्रसार सग्रह—–	शेष बचा भाग, चिकित्सा प्रकरण
	पाश्चात्य चिकित्सा– काय चिकित्सा	क्लिनिकल मेडिसिन–श्री अत्रिदेव विद्या-लकार या अन्य, रोगनिवारण—– श्री शिवनाथ खन्ना
	शल्यतत्र—–	श्री जे पी देशपाण्डे की शल्यतत्र में रोगीपरीक्षा, शल्यप्रदीपिका डा० मुकन्दस्वरूप वर्मा की
पचम वर्ष	आयुर्वेद—–	अष्टागसग्रह का अवशिष्ट भाग—– चिकित्सा, उत्तर तत्र

वर्ष	विषय	प्रस्तावित पुस्तकें (इनमें परिवर्त्तन क्षेत्रीय भाषा के अनुसार सम्भव है)
	चक्रदत्त—	सम्पूर्ण
	पाश्चात्य चिकित्सा	
	मेडिसिन	रोगीपरीक्षा—श्री प्रियव्रत शर्मा, क्लिनिकल मेडिसिन—श्री अत्रिदेव विद्यालंकार
	शल्यतंत्र—	चतुर्थ वर्ष की भाँति
	शालाक्य—	शालाक्य तंत्र—श्री रमानाथ द्विवेदीकृत

मेरी दृष्टि में यह पाठ्यक्रम सामान्य डिग्री कोर्स के लिए आयुर्वेद की दृष्टि से पर्याप्त है। इसमें थोड़ा बहुत परिवर्त्तन सम्भव है। परन्तु व्यर्थ का बोझ विद्यार्थी के माथे पर लादना मैं पसन्द नही करता। चरक, सुश्रुत ऋषिप्रणीत हैं, उनके पढे बिना वैद्य नही बन सकते, यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है। वाग्भट ने कहा है—

अभिनिवेशवशादभियुज्यते सुभणितेऽपि न यो दृढमूढकः।

पठतु यत्नपरः पुरुषायुषं स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विदः॥ हृदय, उत्तर, ४०।८५

वस्तु के पक्षपात के वश हुआ जो पक्का मूर्ख अच्छे कहे हुए वाक्य में आदर नही करता, वह आदिकाल में ब्रह्मा से कहे प्रथम आयुर्वेद शास्त्र को बिना चिन्ता के सारी आयु खुशी से पढे। इसलिए समय के अनुसार पाठ्यक्रम रखना उचित है। अष्टांगसंग्रह के स्थान पर अष्टांगहृदय भी रखा जा सकता है। परन्तु इसे उपवैद्य के लिए रखना ही उचित है। अष्टांगसंग्रह में चरक-सुश्रुत का सम्पूर्ण निचोड आ जाता है। इसलिए चरकसंहिता को स्नातकोत्तर परीक्षा में रखना उचित है। अष्टांगसंग्रह के सम्बन्ध में कहा है—

आयुर्वेदोदधेः पारमपारस्य प्रयाति कः।

विश्वव्याध्योषधिज्ञानसारस्त्वेष समुच्चित॥ संग्रह, उत्तर, ५।५०

आयुर्वेद-समुद्र के पार कौन जा सकता है? (कोई नही,) जगत् के रोग और औषधि के ज्ञान का साररूप यह अष्टांगसंग्रह है, इसे पढना पर्याप्त है। इसलिए इसे मैंने चुना।

पाठ्यक्रम में यदि प्रारम्भिक नींव पडी रहे तब कोई कारण नही कि वैद्यक के प्रति विद्यार्थी का झुकाव न हो। विद्यार्थी की बुद्धि पर अंकुश या उसके लिए चारो

ओर जगला खींचना कि वह दूसरे ज्ञान को न सीखे या उसका उपयोग न करे; यह अत्रिपुत्र के प्रति अन्याय है। उनका तो स्पष्ट कहना है—

"कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्।"

बुद्धिमान् का आचार्य—शिक्षा देनेवाला—सारा संसार है, मूर्ख का वह शत्रु है। इसलिए ज्ञान या बुद्धि को किसी देश, जाति, वर्ग तक सीमित नही रखना चाहिए।[1]

इस पाठ्यक्रम में शिक्षा का माध्यम हिन्दी या क्षेत्रीय भाषा रखना चाहिए। पारिभाषिक शब्द अंग्रेजी के तथा हिन्दी या क्षेत्रीय भाषा के दोनो सिखाने चाहिए। पाश्चात्य चिकित्सा की स्टैण्डर्ड पुस्तकें भी—जिनका उपयोग आज मेडिकल कालेज में होता है, रखी जा सकती हैं। ऐसी अवस्था में अध्यापक एम बी बी एस न रखकर उच्च शिक्षा के रखने अच्छे हैं। यदि एम बी बी एस से पढना है तो यही पुस्तकें ठीक हैं, जो पाठ्यक्रम में लिखी हैं। इन पुस्तको के रखने से पृथक् दो अध्यापको की समस्या समाप्त हो जाती है।

आयुर्वेद का प्रसूतितंत्र, शारीर पढाने से कोई विशेष लाभ नही है। यह सत्य है कि वर्त्तमान चिकित्साप्रबन्ध में कुछ निश्चित क्षेत्र इस प्रकार के वैद्यो के लिए निषिद्ध हैं, यथा—स्वास्थ्य सम्बन्धी (पब्लिक हेल्थ डिपार्टमेन्ट), प्रसूति और स्त्रीरोग (मिड्-वाइफ्री एण्ड गायनोकोलाजी), विकृतिविज्ञान (पैथोलाजी), आँख, नाक, कान (आई, नोज, इयर); विधिशास्त्र (जूरीस प्रूडैन्स टॉक्सीकोलाजी), शल्यतंत्र (सर्जरी)।

---

१. आयुर्वेद के पक्ष में जो लोग यह वचन देते हैं कि जिस देश में जो व्यक्ति उत्पन्न हुआ, उसके लिए उसी देश की औषध उत्तम है; तो पूर्व में उत्पन्न मनुष्यो को काबुल की मेवा, पिश्ता, अखरोट, सेव अनुकूल नहीं होने चाहिए। यदि ये अनुकूल हैं, तो यूरोप की बनी औषधियों में क्या दोष है। भारत में बनी वे ही औषधियाँ निर्दोष क्यो होंगी। अष्टांगसंग्रह का पाठ इस प्रकार है—

उचितो यस्य यो देशस्तज्जं तस्यौषधं हितम्।
देशेऽन्यत्रापि वसतस्तत्तुल्यगुणजन्म च॥ संग्रह, सूत्र, २३।२५

जिस रोगी को जो देश अभ्यस्त हो, उस रोगी को अन्य स्थान में रहने पर भी उसी अभ्यस्त देश में उत्पन्न औषध हितकारी है। यदि वह औषध न मिले तो उस देश के समानतावाले देश में उत्पन्न औषध बरतनी चाहिए। यहाँ पर औषध शब्द वनस्पति के लिए है, न कि रसायन की विकृति समवेत औषधियो के सम्बन्ध में—इसे नहीं भूलना चाहिए।

इसलिए इन विपयो का गम्भीर ज्ञान अभी देना विशेप उपयोगी नही, एक प्रकार से समय का अपव्यय है। इस समय को आयुर्वेद की शिक्षा मे वरतना उत्तम है। पीछे जव स्थिति वदले, पाठ्यक्रम भी वदला जा सकता है। इसलिए शरीररचना, विकृति-विज्ञान आदि का इतना ज्ञान देना आवश्यक है कि यदि विद्यार्थी आगे इन विपयो मे ज्ञान प्राप्त करना चाहे, तो सुगमता से कर सके।

इसी प्रकार शास्त्र के नाम पर सुश्रुत का शारीर पढाने से कोई लाभ नही। सुश्रुत की विधि से शवच्छेदन करने पर वस्तुस्थिति का ज्ञान होना असम्भव है, इसलिए उसके इस भाग को छोडने में वहुत वडी हानि आयुर्वेद की नही होगी। इसलिए समय, वुद्धि, शक्ति से इनका विचार करके पाठ्यक्रम वनाना होगा।

इस पाठ्यक्रम की सफलता शिक्षकवर्ग पर है, उत्तम एव योग्य अध्यापक मिलने पर ही आयुर्वेद का कल्याण है। अत्रिपुत्र ने ठीक कहा है—

"जिस प्रकार से ऋतु में वरसा मेघ अच्छे क्षेत्र को धान्य से भर देता है, उसी प्रकार योग्य आचार्य अच्छे शिप्य को वैद्य-गुणो से भर देता है" (चरक वि. अ ८।४)। केवल सस्कृत या व्याकरण पढे शास्त्राचार्य योग्य छात्र उत्पन्न करेगे—यह समझना मूर्खता है। विना आधुनिक विज्ञान तथा अन्य सम्वद्ध विपयो को पढे आज आयुर्वेद पढाना आयुर्वेद का अपमान और ऋपियो के प्रति कृतघ्नता मै मानता हूँ। आयुर्वेद को चरक, सुश्रुत तक ही अव सीमित नही रखा जा सकता, उसे सस्कृत भापा से घेरा नही जा सकता। ज्ञान के लिए जन-साधारण की भापा का व्यवहार करना होगा—उसमें उसे उभारना होगा। नयी खोज या नयी गवेपणा को इसमे स्थान देना ही होगा, नही तो ११वी शताब्दी के वाद जो स्थिति इसमे आयी और जिसके कारण इसमें उन्नति न होकर अवनति हुई और आज ये दिन आये, आगे इससे भी वुरे दिन आयेंगे। इसलिए समयानुकूल पाठ्यक्रम को अपनाकर आयुर्वेद का क्षेत्र विस्तृत वनाना चाहिए। उसी दृष्टि से पाठ्यक्रम की रूपरेखा दी गयी है, जो स्थिति के अनुसार परिवर्त्तनीय है, अन्तिम नही।

पचीसवाँ अध्याय

आयुर्वेद महाविद्यालय

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गुरुकुल काँगडी की स्थापना पुण्या भागीरथी के तट पर १९०२ में हरिद्वार से परे विजनौर जिले में हुई थी। गुरुकुल की स्थापना का उद्देश्य प्राचीन आश्रमप्रणाली की फिर से स्थापना करना था। यहाँ पर प्राचीन विपयो के साथ-साथ अर्वाचीन विपय भी पढाये जाते थे। विज्ञान (साइन्स) का शिक्षण उस समय में वहुत ऊँची श्रेणी का यहाँ पर दिया जाता था। यही पर महाविद्यालय में नियत विपयो के अतिरिक्त आयुर्वेद का पाठ्यक्रम १९१४ के लगभग चला। यह शिक्षा उस समय **श्री कविराज निवारणचन्द्र भट्टाचार्य** देते थे। ये अपने विपय के योग्य विद्वान् थे। उस समय आयुर्वेद का अध्यापन तो विशेप ये नही करते थे, परन्तु चिकित्सा-कार्य सामान्य रूप में करते थे और औपध वनाते थे। परन्तु थोडे समय पीछे ही ये दिल्ली में आयुर्वेदिक और तिब्बी कालेज खुलने पर वहाँ चले गये। दिल्ली में इन्होने अच्छी प्रतिप्ठा प्राप्त की।

इनके जाने से आयुर्वेद की पढाई भी समाप्त हो गयी। इसके पीछे १९१८ के आसपास आयुर्वेद का अध्ययन महाविद्यालय में नियमित करवाने का विचार हुआ। यह पाठ्यक्रम ऐच्छिक विपय के रूप में उस समय रखा गया। फिर कलकत्ते से **श्री धरणीधरजी** के आने से आयुर्वेद की नियमित शिक्षा प्रारम्भ हुई। प्रथम दो वर्प तक शुद्ध आयुर्वेद ही रहा। परन्तु १९२१ में आयुर्वेद के साथ-साथ पाश्चात्य विषय भी मिलाये गये। इसलिए अग्रेजी और साहित्य ये विपय छोड दिये गये।

विद्यार्थियो की आयुर्वेद में वढती हुई रुचि को देखकर १९२४ में इसको पृथक् कालेज का रूप दिया गया। पाठ्यक्रम चार साल के स्थान पर पाँच वर्ष का कर दिया गया और इसकी उपाधि भी पृथक् कर दी गयी। अव एक वैद्य को पर्याप्त न समझकर कलकत्ते से योग्य **कविराज श्री दिनेशानन्दजी** को वुलाया गया। पाश्चात्य चिकित्सा के लिए दूसरे नये डाक्टर रखे गये। इस समय आयुर्वेद कालेज उन्नत रूप में आया। यह वह समय था जव कि अत्रिपुत्र के अनुसार योग्य आचार्य और योग्य शिष्यो

का सहयोग हो रहा था। इस समय पाश्चात्य विषयो का अध्ययन एम वी वी. एस. के पाठ्यक्रम के अनुसार हो रहा था और आयुर्वेद के प्रसिद्ध सहिता ग्रन्थों का अध्ययन चल रहा था। इसी से इस समय उत्तर प्रदेश सरकार के नियुक्त कमीशन ने, जिनमें जस्टिस गोकर्णनाथ मिश्र थे, इस समय की नव आयुर्वेद शिक्षा सस्थाओ मे इसे श्रेष्ठ वताया था—

"The Ayurvedic College of Gurukul enjoys a good reputation of being a first rate college. Its well qualified staff, its reformed methods of teaching, its equipment, its collection of good books and its dynamic outlook are inestimable"

अन्य किसी भी स्थान में इस समय इस योग्यता के विद्यार्थी तथा पढाने की इतनी सामग्री एव साधन नही थे। परिणाम यह हुआ कि इस समय के स्नातको को जर्मनी में म्यूनिच, ईटली में रोम के विश्वविद्यालयो ने उच्च शिक्षा एम डी के लिए सीधा प्रविष्ट किया। वहुत से स्नातक वहाँ पर तीन साल का अध्ययन करके एम. डी. लेकर आये। इस समय के योग्य स्नातको में रणजीत राय देसाई, धर्मानन्द केसरवानी, वलराम आयुर्वेदालकार, रमेश वेदी विद्यालकार, नारायण दत्त आयुर्वेदालकार, सत्यपाल आयुर्वेदालकार आदि हैं। श्री धर्मानन्द केसरवानी, वलराम, नारायण दत्त ने जर्मनी जाकर एम डी की उपाधि प्राप्त की है। इनकी योग्यता की छाप वहाँ ऐसी वैठी कि पिछले स्नातको ने केवल दो वर्ष में एम डी उपाधि प्राप्त की। इस तरह आयुर्वेद की सच्ची प्रगति गुरुकुल के स्नातको द्वारा हुई। प्राचीन सहिताओ का हिन्दी अनुवाद,नयी रचनाएँ, आयुर्वेद के साथ पाश्चात्य चिकित्सा का सामजस्य स्थापित करना, पाश्चात्य पुस्तको का हिन्दी में अनुवाद, नये पारिभाषिक शब्द वनाना यहीं से प्रारम्भ हुआ। आयुर्वेद में समयानुसार परिवर्तन का भी श्रीगणेश इसी सस्था से हुआ। विज्ञान के लिए उदार-विशाल दृष्टि यही से प्रारम्भ हुई। यहाँ पर शिक्षा का माध्यम हिन्दी था। इसलिए पारिभाषिक शब्दो में जिनका योग्य हिन्दी शब्द नहीं मिला, उसके लिए उन्ही को देवनागरी लिपि मे लिखकर काम लेना प्रारम्भ किया। इससे इतना लाभ हुआ कि अग्रेजी पुस्तकें पढने में कठिनाई नही हुई।[१]

१. यद्यपि इससे पूर्व डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा ने हमारे शरीर की रचना पुस्तक लिखी थी, जिसमें कुछ नये शब्द दिये हैं; तथापि अध्ययन के समय प्रसूति, चिकित्सा आदि के नये शब्द यहीं वने।

गुरुकुल के प्रसिद्ध स्नातक

धर्मदत्त सिद्धान्तालंकार—आप रहनेवाले पजाब के हैं। आपने गुरुकुल से परीक्षा उत्तीर्ण करके आयुर्वेद का अध्ययन मद्रास में डी० गोपालाचार्लु के पास किया था, फिर गुरुकुल विश्वविद्यालय में प्रथम आयुर्वेद के अध्यापक के रूप में काम किया, पीछे से वही पर प्रिन्सिपल बने। वहाँ से निवृत्त होकर कनखल में स्वतन्त्र चिकित्सा व्यवसाय एव फार्मेसी चलाते हैं। साथ ही गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय मे अध्यापन भी करते हैं।

आपने द्रव्यगुण पर एक पुस्तक लिखी है, जो पाश्चात्य विज्ञान के साथ आयुर्वेद का उत्तम समन्वय है। यह पुस्तक अपने विषय की प्रथम पुस्तक थी। इसमें आयुर्वेदिक वनस्पतियो का परिचय, उनकी जानकारी बहुत सरलता से दी है। यह पुस्तक अनुभूतयोगमाला, बरालोकपुर—इटावा से प्रकाशित हुई थी।

इसके अतिरिक्त आपने अग्रेजी में त्रिदोषसिद्धान्त नाम की पुस्तक लिखी है, जो बहुत गवेषणात्मक और महत्त्वपूर्ण है। इससे पूर्व आपने त्रिदोष पर 'त्रिदोषविमर्श' पुस्तक सस्कृत में भी लिखी थी, इसे लाहौर से मोतीलाल बनारसीदास ने प्रकाशित किया था। इसमें त्रिदोष सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या करके सहिताओ में से त्रिदोष सम्बन्धी वचन एक स्थान पर सग्रह किये थे। यह पुस्तक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, दु ख है कि इस समय यह उपलब्ध नही।

विद्यानन्द विद्यालकार—महाविद्यालय में आपने प्रथम रसायन (कैमिस्ट्री) का दो साल अभ्यास करके फिर दो साल आयुर्वेद का अध्ययन किया, कलकत्ते में जाकर आयुर्वेद सीखा। फिर पानीपत में और पीछे करनाल में चिकित्सा प्रारम्भ की। पानीपत में प्लेग फैलने पर १९२३ में आपने आयुर्वेद चिकित्सा करके नाम कमाया था। उसके पीछे करनाल में आकर स्थिर हुए।

जयदेव विद्यालकार—आप गुरुकुल के सुयोग्य अनुवादक स्नातक हैं। आपने गुरुकुल में आयुर्वेद का पाश्चात्य चिकित्सा के साथ चार साल अध्ययन किया। आप बहुत कुशाग्रबुद्धि थे। स्नातक होने के पीछे लाहौर में कुछ वर्ष कविराज नरेन्द्रनाथजी मित्र के यहाँ कर्माभ्यास किया। इसी समय भैषज्यरत्नावली का हिन्दी अनुवाद किया। इस अनुवाद में औषधि मात्रा, उसके विषय में क्रियात्मक सूचनाएँ तथा विशेष निर्देश, पाठभेद आदि बातें दी हैं। यह अनुवाद अपने ढग का प्रथम था, इसी से इनका नाम हुआ। विद्यापीठ से आपने आयुर्वेदाचार्य किया, आप प्रथम श्रेणी में प्रथम आये थे। भैषज्यरत्नावली के अनुभव से चरकसहिता का अनुवाद किया। इस अनुवाद में

अष्टागसग्रह का पूरा उपयोग किया, जिससे इसके पाठ मे तथा योगो के स्पष्टीकरण में वहुत सरलता हुई। इन दोनो अनुवादो को मोतीलाल वनारसीदास फर्म ने लाहौर से प्रकाशित किया था। इसके सिवाय 'चिकित्साकलिका' का भी अनुवाद किया है।

सशोधन कार्य—रसहृदयतत्र, रसेन्द्रचूडामणि इन दो प्राचीन ग्रन्थो का सशोधन एव टिप्पणी लेखन किया। चक्रदत्त की शिवदाससेन टीका का सम्पादन किया। सदानन्द शर्मा द्वारा अनूदित चक्रदत्त, रसतरगिणी, अत्रिदेव विद्यालकार द्वारा लिखे शल्यतत्र के प्रकाशन में सहयोग दिया।

विद्याधर विद्यालंकार—आपने गुरकुल से स्नातक वनने के वाद आयुर्वेद का अध्ययन लाहौर मे कविराज नरेन्द्रनाथ मित्र के पास किया। वहाँ रहते हुए आपने योगरत्नाकर का हिन्दी अनुवाद किया, यह अनुवाद पहला था। इसके पीछे रसेन्द्रसार-सग्रह का अनुवाद किया। आपने सोलन मे स्वतत्र चिकित्सा व्यवसाय द्वारा यश उपार्जित किया। पीछे नौकरी के लिए हैदरावाद चले गये और अव वही काम कर रहे हैं।

अत्रिदेव विद्यालंकार—आप रहनेवाले सहारनपुर जिले के हैं। गुरुकुल में चार साल आयुर्वेद का पाश्चात्य चिकित्सा के साथ अध्ययन किया। स्नातक वनने के कुछ समय वाद 'जीवन विज्ञान' एक पुस्तक लिखी, जिसे धन्वन्तरि-कार्यालय ने प्रकाशित किया था। इसके पीछे आत्रेय वचनामृत (चरक सहिता मे वैदिक विपय) और उपचार-पद्धति दो पुस्तके लिखी। इसी समय कराची जाना हुआ, वहाँ गोपालजी कुवरजी ठक्कर—मालिक सिन्ध आयुर्वेदिक फार्मेसी के सम्पर्क मे आये और विधिशास्त्र पर न्यायवैद्यक और विपतत्र नाम से स्वतन्त्र पुस्तक लिखी। यह पुस्तक अपने विपय की प्रथम थी। इसके पीछे चक्रदत्त का हिन्दी अनुवाद किया। पीछे से प्रत्यक्षशारीरम् के दो भागो का अनुवाद कविराज गणनाथ सेनजी की देखरेख मे किया। आपको श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य का स्नेह सदा मिला।

आपके लिखे ग्रन्थो की सख्या लगभग तीस है। इनमे सामान्यत १५० पृष्ठो से लेकर १८०० पृष्ठो तक के ग्रन्थ है। इनके नाम ये हैं—जीवन विज्ञान, आत्रेय वचनामृत, उपचारपद्धति, न्यायवैद्यक और विपतन्त्र, शल्यतन्त्र, चरक सहिता का हिन्दी अनुवाद, प्रत्यक्षशारीरम् का हिन्दी अनुवाद, सुश्रुत सहिता का अनुवाद, अष्टाग-सग्रह और अष्टागहृदय का अनुवाद, जीवानन्दनम् का हिन्दी अनुवाद।

चरक सहिता का अनुशीलन, सस्कृत साहित्य में आयुर्वेद, क्लिनिकल मेडिसिन, धात्रीशिक्षा, शिशुपालन, स्वास्थ्यविज्ञान, भैपज्यकल्पना, आयुर्वेद का इतिहास, शल्यतत्र, योगचिकित्सा, भारतीय रसपद्धति, घर का वैद्य, स्वास्थ्य और सद्वृत्त,

हमारे भोजन की समस्या, स्त्रियो का स्वास्थ्य और रोग, संस्कारविधि विमर्श, परिवार नियोजन, प्राचीन भारत में प्रसाधन और आयुर्वेद का बृहत् इतिहास। सम्पादित पुस्तके रसेन्द्रसार-सग्रह और रसरत्नसमुच्चय है।

रणजीतराय आयुर्वेदालकार—आप गुजरात के रहनेवाले है, आप गुरुकुल के योग्य स्नातको मे से है। आपने शरीरक्रियाविज्ञान पुस्तक बहुत ही गम्भीर अध्ययन-पूर्ण लिखी है। इसमे पारिभाषिक शब्द बहुत ही नये और उचित अर्थवाले है। यह सम्भवत प्रथम श्रम था। इसके पीछे आपने आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान, हितोपदेश, हस्तामलक निदान चिकित्सा आदि पुस्तके लिखी है, जो बहुत उपयोगी है।

धर्मानन्द आयुर्वेदालकार—आप रहनेवाले चुनार, जिला मिर्जापुर उत्तर प्रदेश के है। आपके पिता कराची में कार्य करते थे। आपने गुरुकुल से स्नातक होने पर कुछ दिन कराची मे चिकित्सा कार्य किया। फिर आप देहरादून आ गये और वही चिकित्सा व्यवसाय प्रारम्भ किया। बाद में डालमिया छात्रवृत्ति से आप इटली (रोम) गये। वहाँ पर आपने एम० डी० पदवी बहुत सम्मान के साथ प्राप्त की।

रोम मे एम० डी० लेकर आप म्यूनिच (जर्मनी) में आये, वहाँ से आपने पी-एच० डी० प्राप्त किया और वही पर अध्यापन करते रहे। द्वितीय महायुद्ध के दिनो में आप जर्मनी मे ही रहे। वहाँ के एक नगर मे आप सरकारी चिकित्सक के रूप में भी काम करते रहे। युद्ध समाप्त होने पर आप भारत वापस आये। इस समय जामनगर के आयुर्वेद विद्यालय में प्रिंसिपल है। आपने क्षयरोग की चिकित्सा के शल्यकर्म मे विशेष निपुणता प्राप्त की थी। उत्तर प्रदेश में तो सम्भवत आपने ही सबसे प्रथम भवाली सैनेटेरियम में वक्ष का शल्यकर्म सफलता से किया था। इस समय आप स्वतन्त्र चिकित्साव्यवसाय इलाहाबाद में करते है।

गुरुकुल कागडी के जो अन्य स्नातक बर्लिन, म्यूनिच गये और वहाँ से एम० डी० उपाधि प्राप्त की, उनमे श्री बलराम, श्री नारायणदत्त (स्वर्गीय) तथा श्री राजेश्वर त्यागी मुख्य है। भारतवर्ष मे आयुर्वेदालकार की उपाधि प्राप्त करके मेडिकल कालेज में एम० बी० बी० एस० की उपाधि प्राप्त करनेवाले स्नातक इन्दुसेन आयुर्वेदालकार है। आपने कुछ पुस्तकें भी लिखी है।

रमेश वेदी आयुर्वेदालकार—आपका जन्म कालाबाग (पाकिस्तान, उत्तर सीमा-प्रान्त) में हुआ था। आपकी शिक्षा गुरुकुल काँगडी में हुई थी। आपकी रुचि वन-स्पतियो में थी, इसी से वहाँ की वनस्पतियो की देखरेख का प्रबन्ध आपके पास रहा। आपने दस साल तक लाहौर में स्वतन्त्र चिकित्साव्यवसाय किया और इसी समय भारतीय

द्रव्य-गुण ग्रन्थमाला का प्रणयन आरम्भ किया। इसमें अब तक १५ प्रामाणिक पुस्तकें प्रकाशित हुई। आपने १९५५ से वनस्पतियों के प्रामाणिक फोटो लेने प्रारम्भ किये, अभी तक लगभग १,००० (एक हजार) फोटो तैयार किये हैं। वनस्पति सम्बन्धी बहुत से लेख भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निकले हैं। आपने उत्तराखण्ड और हिमालय के सैकड़ो हर्बेरियम स्पैसिमैन अन्तर्राष्ट्रीय मान्य विधि द्वारा बनाये हैं, जो गुरुकुल संग्रहालय तथा ग्रामोत्थान विद्यापीठ सगरिया के संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

आपने साँपों की आदत, उनके जीवन-क्रम, विष आदि का विशेष अध्ययन किया है। आपकी पुस्तकें—त्रिफला, शहद, लहसुन-प्याज, तुलसी, नीम, मोठ, मरिच, पेठा, शहतूत, सर्पगन्धा, बरगद, देहाती इलाज, देहात की दवाइयाँ, तुवरक आदि हैं। आपकी कुछ पुस्तकों पर पुरस्कार मिला है। इस समय आप गुरुकुल काँगड़ी की आयुर्वेद-वाटिका के अध्यक्ष तथा आयुर्वेदिक कालेज में द्रव्यगुण के अध्यापक हैं।

सत्यपाल आयुर्वेदालंकार—आप अमृतसर के रहनेवाले हैं। आपने गुरुकुल की आयुर्वेद शिक्षा समाप्त करके कलकत्ते में आयुर्वेद का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त किया। आप गुरुकुल के अस्पताल में चिकित्सक रूप में कार्य करते हुए आयुर्वेदिक कालेज की जीवाणु-प्रयोगशाला के अध्यक्ष एवं इस विषय के अध्यापक भी हैं।

सत्यदेव विद्यालंकार—आप रहनेवाले पटियाले के हैं। गुरुकुल से निकलकर आप कलकत्ते में आयुर्वेद का अभ्यास करने गये। फिर आपने गुरुकुल फार्मेसी को कार्यक्षेत्र बनाया।

आपको औषध-निर्माण का अच्छा अभ्यास है, आपने आसव-अरिष्ट सम्बन्धी अपने अनुभव को लिपिबद्ध किया है। यह पुस्तक इस दृष्टि से प्रथम है। इससे पूर्व भी श्री हरिशरणानन्दजी ने आसव-अरिष्ट निर्माण सम्बन्धी पुस्तक लिखी थी। परन्तु इस पुस्तक में आसव में मद्य की राशि जानने तथा उसके निर्माण सम्बन्धी बहुत-सी आवश्यक सूचनाएँ दी हुई हैं।

इनके अतिरिक्त धर्मचन्द्र विद्यालंकार, आत्मानन्द विद्यालंकार आदि कई स्नातक हैं, जिनमें से कुछ ने गुरुकुल में आयुर्वेद पढ़ा और कुछ ने बाहर जाकर उसे विकसित किया।

डी० ए० वी० कालेज का आयुर्वेदिक कालेज (लाहौर)

आर्यसमाज ने शिक्षाप्रचार में विशेष क्रान्ति की थी। इसी क्रान्ति का परिणाम लाहौर का डी० ए० वी० कालेज था। इसी कालेज में पीछे जाकर आयुर्वेद की पढ़ाई शुरू की गयी। इसका श्रेय श्री सुरेन्द्रमोहनजी को है। आपने आयुर्वेद का अध्ययन

कलकत्ते के प्रसिद्ध कविराज गणनाथ सेनजी एम० ए० सरस्वती के पास रहकर किया। आपने इस कालेज को ऊँचे स्तर पर उन्नत किया, कालेज की अपनी आयुर्वेदिक फार्मेसी वनायी, जहाँ पर उच्च श्रेणी की औपधियाँ तैयार होती थी।

पजाव में आयुर्वेद का प्रचार इस सस्था के द्वारा वहुत अधिक हुआ। इस सस्था में दूर-दूर से विद्यार्थी पढने आते थे, क्योंकि इसमे प्रवेश का आधार सस्कृत का प्रारम्भिक ज्ञान था। दूसरी महत्त्वपूर्ण वात यह थी कि यहाँ पर सम्पूर्ण आयुर्वेद शिक्षा हिन्दी माध्यम से दी जाती थी। पाश्चात्य विपय भी हिन्दी माध्यम से ही सिखाये जाते थे। इस कारण ही डाक्टर आशानन्द पजरत्न आदि ने अपनी पाश्चात्य विज्ञान की पुस्तकें सरल हिन्दी भापा में लिखी। इससे जहाँ विद्यार्थियो का उपकार हुआ, वहाँ पर हिन्दी की भी समृद्धि हुई। इस कालेज के कारण पजाव में हिन्दी और आयुर्वेद दोनो का प्रचार हुआ।

देश-विभाजन के पीछे इसकी स्थिति विगडी। इस समय यह कालेज जालन्धर मे चल रहा है।

इस सस्था से वहुत से योग्य स्नातक निकले, जिन्होने आयुर्वेद के क्षेत्र मे अच्छी प्रगति की। इसके आचार्य श्री सुरेन्द्रमोहनजी ने कैयदेवनिघण्टु का सम्पादन किया है, जो वहुत ही उपयोगी ग्रन्थ है। भावप्रकाश, धन्वन्तरिनिघण्टु की टक्कर का यह निघण्टु गिना जाता है। इमी के एक स्नातक ने वावर पाण्डुलिपि में मिले 'नावनीतकम्' का सम्पादन वहुत योग्यता से किया, इसकी भूमिका वहुत विवेचनापूर्ण है।

कविराज महेन्द्रकुमार शास्त्री वी० ए० आयुर्वेदाचार्य इसी सस्था के स्नातक हैं, जिन्होने पहले ऋपिकुल आयुर्वेदिक कालेज में कार्य किया था और अव वम्वई के पोद्दार आयुर्वेदिक कालेज में कार्य करते हैं। आपने द्रव्य-गुण पर विद्यार्थियो की दृष्टि से वहुत उपयोगी पुस्तक लिखी है। यह लघु द्रव्यगुणादर्श पुस्तक द्रव्यगुण का निचोड हैं। आपकी दूसरी पुस्तक 'आयुर्वेद का इतिहास' है। यह इतिहास श्री दुर्गाशकर केवलरामजी शास्त्री के 'आयुर्वेद नु इतिहास' (गुजराती) की छाया है। इनके अति-रिक्त आपने कुछ अन्य भी पुस्तकें लिखी हैं।

वोर्ड आफ इडियन मेडिसिन (भारतीय चिकित्सा परिषद्)
उत्तर प्रदेश के आयुर्वेद विद्यालय

आयुर्वेद-शिक्षा में एक समान पाठ्यक्रम रखने तथा वैद्यो का एक सगठन वनाने के लिए उत्तर प्रदेश में एक वोर्ड (परिपद्) का निर्माण किया गया। इस वोर्ड का काम प्रदेश में चिकित्सा करनेवाले वैद्यो का नाम पञ्जिकावद्ध करना एव आयुर्वेदिक कालेजो

की परीक्षा तथा पाठ्यक्रम को नियमित करना था। इस बोर्ड में सबसे प्रथम ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज जुडा। उस समय तीन आयुर्वेद सस्थाएँ मुख्य थी, एक गुरुकुल विश्वविद्यालय का आयुर्वेदिक कालेज, दूसरा ऋषिकुल सस्था का और तीसरा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का। सरकार से नियुक्त कमीशन ने, जिसके प्रधान न्यायाधीश गोकर्णनाथ मिश्र थे, गुरुकुल को आर्थिक सरकारी सहायता देने का प्रस्ताव रखा। उस समय गुरुकुल का आयुर्वेदिक कालेज सबसे उन्नत था, वहाँ पर शवच्छेद का काम १९२३ से प्रारम्भ था। अन्य सस्थाओ में इसका प्रारम्भ पीछे हुआ।

गुरुकुल ने अपने सिद्धान्तो के कारण सरकारी सहायता नही स्वीकार की। इससे यह सहायता काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज को मिली। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का आयुर्वेदिक कालेज स्वतत्र होने से, बोर्ड के पास केवल ऋषिकुल का आयुर्वेदिक कालेज रहा। पीछे से इसमे पीलीभीत का ललितहरि आयुर्वेदिक कालेज भी मिल गया। इसके पीछे धीरे-धीरे दूसरी सस्थाएँ तथा नये कालेज इसके नियत्रण मे आ गये, जिससे गुरुकुल काँगडी का आयुर्वेदिक कालेज भी इसमें आ गया। इसमें सम्मिलित होने से गुरुकुल की शिक्षा का स्तर बहुत नीचे आ गया, क्योंकि इसमें प्रवेशार्थ ज्ञान उतना उन्नत नही था, जितना गुरुकुल काँगडी में था। अन्य सस्थाओ में केवल सस्कृत को प्रवेश की इकाई समझा जाता था, जिससे आयुर्वेद सकुचित होता गया। इसी से शास्त्राचार्य परीक्षा उत्तीर्ण अथवा व्याकरणाचार्य या साहित्याचार्य परीक्षा पास करके कालेजो में प्रविष्ट विद्यार्थियो का ज्ञान पुस्तक के शब्दो तक ही सीमित रहा, उनमे विषय की प्राञ्जलता, विशदता, स्पष्टीकरण नही मिलता, दुख है कि यही परम्परा अब भी चलती है, जिससे आयुर्वेद समय के साथ नही चल रहा, उसमें विकास नही होता।

बोर्ड के शिक्षाक्रम मे आधुनिक विषय रखे गये, धीरे-धीरे उनमे पर्याप्त वृद्धि हो गयी, अब वहाँ भी इण्टर साइस विद्यार्थी के प्रवेश का नियम लागू हो गया।

बोर्ड में इस समय बहुत से अच्छे महाविद्यालय भी हैं, जहाँ पर शिक्षा के सब साधन एव सामग्री हैं। परन्तु कुछ ऐसी भी सस्थाएँ है, जहाँ पर सामान का अभाव है। बोर्ड मे इस समय ग्वालियर, इन्दौर के कालेज भी आते है, वहाँ पर भी उत्तर प्रदेश की शिक्षाव्यवस्था चलती है। इससे स्पष्ट है कि बोर्ड का काम बहुत विस्तृत हो गया है।

झाँसी का आयुर्वेदिक कालेज इस बोर्ड में विद्यार्थियो की सख्या की दृष्टि से बहुत महत्त्व का है, इस विद्यालय मे विभाग बहुत से है, परन्तु उनमें वास्तविकता कितनी है, कितना उनसे आयुर्वेद का उपकार हुआ, ये सब बातें अभी भविष्य के गर्भ में है।

इसी प्रकार वाराणसी, देहरादून आदि के दूसरे कालेज हैं, जहाँ पर शिक्षा के न तो पूरे साधन हैं, और न आवश्यक अध्यापक हैं, परन्तु बोर्ड की परीक्षाएँ होती हैं। इस प्रकार से आयुर्वेद का स्तर नीचे आता है। फिर भी बोर्ड ने वैद्यो के सगठन में, इनके स्तर को ऊँचा उठाने में पर्याप्त प्रयत्न किया है। बोर्ड के बनने से वैद्यक धधा बहुत कुछ नियन्त्रित हो गया, प्राचीन परिपाटी के वैद्य का पुत्र बिना पढे भी वैद्य बनता था, बहुत अशो में यह बद हो गया, अब कम से कम उसे वैद्यक पढनी पडती है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज के योग्य स्नातक

आयुर्वेद महाविद्यालय का इतिहास मुझे प्रयत्न करने पर भी नही मिला, इसका दुख है। इसलिए केवल स्नातको का परिचय दिया है।

श्री विश्वनाथ द्विवेदी—आप बलिया के रहनेवाले है, आपने शास्त्राचार्य की उपाधि प्राप्त की है, इसके पीछे ललित हरि आयुर्वेदिक कालेज-पीलीभीत में अध्यापक, प्रिन्सिपल पद पर कार्य किया। फिर लखनऊ राजकीय आयुर्वेदिक कालेज में उपाचार्य रूप में कार्य किया और इस समय जामनगर आयुर्वेदिक कालेज मे हैं।

आपने कई पुस्तकें लिखी है, औषध निर्माण में आपकी बहुत रुचि है, आप अब सब औषधियो या योगो को आधुनिक दृष्टिकोण से देखना चाहते है। आपकी लिखी पुस्तको में वैद्यसहचर, त्रिदोपालोक, तैलसग्रह हैं। आपने भावप्रकाश निघटु का भी हिन्दी अनुवाद किया है, नेत्ररोग पर भी एक पुस्तक लिखी है।

श्री राजेश्वरदत्तजी शास्त्री—आप गोडा के रहनेवाले शाकद्वीपी ब्राह्मण हैं, आप इस विश्वविद्यालय के योग्य स्नातक है और विद्यालय में चरक सहिता का उत्तरार्द्ध चिकित्साप्रकरण—ओपधियो के नामवाला पढाते है। आपने दो पुस्तकें लिखी हैं, इन पुस्तको के लिखने से आपकी मान्यता है कि सम्पूर्ण आयुर्वेद को आपने लिख दिया, क्योकि आयुर्वेद के दो ही प्रयोजन है, व्याधि से पीडित व्यक्तियो को रोगमुक्त करना और स्वास्थ्य की रक्षा करना। आपने प्रथम उद्देश्य के लिए १३८ पृष्ठो की पुस्तक 'चिकित्सादर्श' लिखी है और दूसरे उद्देश्य के लिए स्थान स्थान से सस्कृत के वचन एकत्र कर हिन्दी अनुवाद के साथ एक पुस्तक स्वस्थवृत्त-समुच्चय लिखी है।

आपने भैपज्यरत्नावली का भी सम्पादन किया हैं, इसमें आपका कितना काम है, इसका कुछ भी पता नही, अन्त में चार या पाँच योग अपने नाम से दिये हैं।

श्री वामन कृष्ण पटवर्धन—आप बहुत योग्य चिकित्सक हैं, आप डाक्टर के नाम से विश्वविद्यालय में प्रसिद्ध है। आपकी चिकित्सा भी मुख्यत डाक्टरी, पाश्चात्य होती है, उससे रोगियो को जल्दी रोगमुक्ति मिलती है, सम्भवत इसी से आप उसे

पसन्द करते हैं। परन्तु आयुर्वेद को आप भूलते नही, जरूरत पडने पर उसका भी उपयोग करते है। आपने वालरोग पर विशेप अभ्यास किया है। आपका लिखा प्रसूतितत्र अभी प्रकाशित हुआ है। चिकित्सा-व्यवसाय करते हुए इतना समय लेखन में निकाल लेना वास्तव में आपके लिए गौरव की वात है।

श्री शिवदत्त शुक्ल—आप सीतापुर के रहनेवाले हैं। आपने पहले झाँसी में आयुर्वेदिक कालेज का आचार्यत्व किया। उसके अनुभव से लाभ उठाकर आप वनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज में द्रव्यगुण के अध्यापक वनकर आये। आपका परिचय हम गत प्रकरण में दे चुके हैं।

श्री दामोदर शर्मा गौड ए० एम० एस०—आप जयपुर के रहनेवाले ब्राह्मण हैं। सस्कृत पर आपका अधिकार है, आपका लिखा 'अभिनव प्रसूतितत्र' इस वात का प्रमाण है। इस ग्रन्थ की रचना प्राचीन पुस्तको तथा अर्वाचीन पाश्चात्य पुस्तको के आधार पर की गयी है। इसमें पारिभाषिक शब्द बहुत सुन्दर वनाये हैं, एक प्रकार से प्रत्यक्ष-शारीरम् के ढग की सुन्दर रचना है। आपकी दूसरी रचना 'आयुर्वेदादर्श-सग्रह' है, जो कि आयुर्वेद पुस्तको से सगृहीत है, वचनो का अनुवाद हिन्दी में किया है। एक प्रकार से यह सुभाषित सग्रह है। आपने शवच्छेद पर भी एक पुस्तक लिखी थी, दु ख है कि देशविभाजन के कारण वह प्रकाशक के यहाँ नष्ट हो गयी।

श्री रमानाथ द्विवेदी—आपकी चर्चा पहले की जा चुकी है, आप की रचना अगदतत्र, सौश्रुती, शालाक्यतत्र, प्रसूतितत्र, स्त्रीरोगविज्ञानम्, वालरोग और पेटेन्ट प्रिस्काईवर हैं। आप चिकित्सा विज्ञान में अधिक रुचि रखते हैं, चिकित्सा कर्म में सफल हैं, योग्य चिकित्सक हैं।

श्री प्रियव्रत शर्मा—आप विहार के रहनेवाले हैं, सस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं। आपने साहित्याचार्य और एम ए परीक्षा पटना विश्वविद्यालय से दी हैं। आपने वहुत सी पुस्तकें लिखी है, आपकी पुस्तको का आधार प्राय पहली लिखी पुस्तकें रही। आपने उनको एक प्रकार से नये रूप में नये नाम से, नये प्रकाशक के यहाँ से प्रकाशित कराया है। इनमें अपने स्वतत्र विचार भी दिये हैं। विषय को स्पष्ट करने का वहुत प्रयत्न किया है।

आप पहले वेगूसराय में वाइस प्रिन्सिपल थे, फिर हिन्दू विश्वविद्यालय में द्रव्य-गुण के उपाध्याय वनकर आये और फिर यहाँ से पटना आयुर्वेदिक कालेज के प्रिन्सिपल वनकर गये। आपकी मुख्य रचनाएँ ये हैं—अभिनव शरीर-क्रियाविज्ञान, रोगी-परीक्षाविधि, द्रव्यगुणविज्ञान, दोषकारणत्वमीमासा।

श्री रामसुशील सिंह—चुनार, जिला मिर्जापुर के रहनेवाले हैं, आपको द्रव्यगुण विषय में अधिक रुचि है, आपके बडे भाई श्री ठाकुर दलजीत सिंह यूनानी के अच्छे विद्वान् हैं, आपने वहुत-सा यूनानी साहित्य हिन्दी में प्रकाशित किया है। इसी प्रेरणा से श्री रामसुशील सिंहजी ने भी अग्रेजी की मैंटेरिया मेडिका तथा भावप्रकाश निघण्टु का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है।

के० एन० उडूप—आप इसी आयुर्वेदिक कालेज के स्नातक हैं, जिन्होने अमेरिका में जाकर शल्यचिकित्सा का अभ्यास किया है। आप दक्ष शल्यचिकित्सक माने जाते हैं। आपकी अध्यक्षता में केन्द्रीय राज्य ने आयुर्वेद की स्थिति जानने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया था। इस समय आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आयुर्वेदिक कालेज के प्रिन्सिपल हैं। आपकी देखरेख में विद्यालय उन्नति करेगा यह आशा है।

श्री एम. एन. केशव पिल्लई—केरल में आयुर्वेद के डिप्टी डाइरेक्टर-आयुर्वेद हैं। इसी तरह श्री व्रजमोहन दीक्षित, श्री गगासहाय पाण्डेय आदि वहुत से सफल चिकित्सक इस महाविद्यालय की देन हैं। इस विद्यालय से कई दूसरे भी योग्य स्नातक निकले हैं, जो अच्छे चिकित्सक होने के साथ लेखक भी हैं।

इस विद्यालय मे आयुर्वेद का अध्यापन पाश्चात्य चिकित्सा के साथ होता है। आयुर्वेद के प्रधान अध्यापक शुद्ध सस्कृत पढकर आयुर्वेद पढे हुए हैं। भूगोल, इतिहास, साइन्स, गणित आदि विषयो का ज्ञान उनकी शिक्षा के समय आयुर्वेद के लिए जरूरी नही था। विद्यार्थी इन्टर साइन्स की योग्यता के आते हैं। इसलिए उनकी विकसित प्रतिभा तथा शकाओ की तृप्ति का मेल इनके पाठ के साथ न होकर पाश्चात्य चिकित्सा के साथ होता है। इसलिए इनका झुकाव अधिक उधर रहता है जो अस्वाभाविक नही है। विद्यार्थी की जिज्ञासा को आज के समय में गुरुभक्ति या गुरु-वचन से पूरा नही किया जा सकता। इसलिए इस विद्यालय के विद्यार्थी प्राय डाक्टरी चिकित्सा करते हैं, यह धारणा सामान्य रूप से लोगो की वनी है।

ललितहरि आयुर्वेदिक कालेज, पीलीभीत

राजा ललितप्रसाद और राजा हरिप्रसाद दो भाई थे। इन्होने आयुर्वेदिक कालेज की सस्थापना आज से (लगभग) पैंतीस वर्ष पूर्व की थी। उस समय यहाँ पर आयुर्वेद की शिक्षा साधारण पाठशाला के रूप में थी। पीछे से उत्तर प्रदेश का वोर्ड वन जाने पर और उसके अनुसार पाठ्यक्रम चलाने पर यह उससे सम्वद्ध हो गया। इस सस्था की अपनी फार्मेसी है।

यह सस्था वहुत अच्छे स्थान पर स्थित है, एक प्रकार से पीलीभीत अलमोड़ा

की तराई है, यहाँ पर वनस्पतियाँ पर्याप्त है। इसलिए विद्यार्थियो की शिक्षा का प्रवन्ध इस सम्वन्ध में अच्छा रहता है। पर्वतीय तथा आस-पास के विद्यार्थी इस सस्था से वरावर लाभ उठाते हैं। कालेज के प्रिन्सिपल डाक्टर आशानन्द पजरत्न हैं।

ऋपिकुल आयुर्वेदिक कालेज

इस कालेज की स्थापना आज से लगभग सैंतीस वर्प पूर्व हुई थी, उस समय इस विद्यालय की विल्डिग सवसे सुन्दर और विशाल थी। इसके सस्थापकों में मुजफ्फर-नगर के राजा सुखवीरसिंहजी का मुख्य हाथ था। इससे पूर्व इस सस्था में आयुर्वेद की पढाई पाठशाला के रूप में होती थी और विद्यापीठ की परीक्षाएँ उस समय दी जाती थीं।

कालेज का रूप वन जाने पर इसका सम्वन्ध वोर्ड से हो गया। इस समय वोर्ड से सम्वन्धित दो ही विद्यालय उत्तर प्रदेश में थे, जिनमें एक ऋपिकुल का और दूसरा पीलीभीत का था। इस कालेज की विशेप उन्नति स्वर्गीय कविराज ज्ञानेन्द्रनाथ सेन कविरत्न के समय हुई। आप यहाँ पर एक लम्वे समय तक रहे और यहीं से निवृत्त हुए।

कालेज की अपनी फार्मेसी है, अपनी प्रयोगशाला है और अपने स्वतत्र अन्त -वाह्य अस्पताल है। इस समय यहाँ पर वोर्ड के पाठ्यक्रमानुसार अध्यापन होता है।

अन्य पाठशालाएँ

इनमें ऋपिकेश में वावा काली कमलीवाले की आयुर्वेदशाला वहुत पुरानी है, सम्भवत सवसे प्राचीन है। यहाँ पर आयुर्वेद का प्रारम्भ सम्भवत १९१६ ईसवी से हुआ। सवसे प्रथम डाक्टर सगतरामजी, जो कि पहले गुरुकुल काँगडी में चिकित्सक और वेद के अध्यापक थे, यहाँ पर चिकित्सक वनकर आये। उनके समय आयुर्वेद का अध्यापन प्रारम्भ हुआ। पीछे से धन्वन्तरिभवन वना और जयपुर के प्रसिद्ध वैद्य श्री स्वामी लक्ष्मीरामजी द्वारा इसका उद्‌घाटन विधिपूर्वक हुआ।

यहाँ पर आयुर्वेद विद्यापीठ की आचार्य परीक्षा तक पढाई होती है, विद्यापीठ की पढाई करानेवाली यह प्राचीन सस्था है। विशुद्ध आयुर्वेद का ज्ञान यहाँ कराया जाता है। इस समय इस विद्यालय के आचार्य श्री स्वामी दयानिधिजी हैं। विद्यालय का अपना वाह्य चिकित्सालय भी है।

सम्पूर्ण भारत की आयुर्वेदिक शिक्षासंस्थाएँ

यह सग्रह भिपग्भारती, वर्प ५, मार्च १९५८ से उद्‌धृत है, इसमें यदि कुछ रह गया हो तो उसके लिए क्षमा चाहता हूँ। मैंने इस सम्वन्ध में प्रत्येक प्रान्त के स्वास्थ्य-

मन्त्रियों को पत्रक भेजा था, उनसे अपने प्रान्त की इस सम्बन्ध की जानकारी चाही थी। मुझे दु ख है कि केरल से पत्र की पहुँच आयी और वगाल से कालेजो के नाम और पते हीआये। शेप प्रान्तो के मन्त्रियो से पत्र की पहुँच भी नही आयी।

आन्ध्र

गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, हैदरावाद।

आसाम

गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, गोहाटी।

विहार

(१) शिवगगा आयुर्वेदिक महाविद्यालय, मवुवनी-दरभगा, (२) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, पटना, (३) अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, वेगूसराय (मुगेर), (४) धर्मसमाज सस्कृत कालेज, मुजफ्फरपुर, (५) एस एन राय आयुर्वेदिक कालेज, भागलपुर।

वम्वई

(१) आर ए पोद्दार मेडिकल कालेज (आयुर्वेदिक) वर्ली, वम्वई, (२) आयुर्वेद विद्यालय, पूना, (३) आर्यांग्ल वैद्य महाविद्यालय, सतारी सी टी (सतारा), (४) श्री ओ एच नाजर आयुर्वेदिक महाविद्यालय, लाल दरवाजा, स्टेशनरोड—सूरत, (५) गुलाव कुवर वा आयुर्वेदिक कालेज, जामनगर, (६) शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, वडोदा, (७) आयुर्वेद महाविद्यालय, समन्वय रुग्णालय महाल, नागपुर, (८) आयुर्वेद महाविद्यालय, अहमदनगर, (९) जी एस एम जी आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, नडियाद (खेडा), (१०) आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, नादेड (औरगावाद), (११) शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, शिव (वम्वई), (१२) पुनर्वसु शुद्ध आयुर्वेद महाविद्यालय, यूनीवर्सल हेल्थ इन्स्टीच्यूट—नीलम मैन्सन, लैमिग्टन रोड, वम्वई ४, (१३) अप्टाग आयुर्वेद महाविद्यालय, ४७९।१, सदाशिव पेठ, पूना, (१४) शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, शनिगली, रविवार पेठ—नासिक, (१५) विदर्भ आयुर्वेद विद्यालय, अमरावती, (१६) राधाकिशन तोशनीवाल आयुर्वेद महाविद्यालय, अकोला।

केरल

आयुर्वेदिक कालेज, त्रिवेन्द्रम।

मद्रास

(१) कालेज एण्ड हास्पीटल आफ इन्टिग्रेड मेडिसिन, मद्रास, (२) दि वैंकटरमन आयुर्वेदिक कालेज, माईलापुर, मद्रास।

मध्य प्रदेश

(१) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, रायपुर; (२) राजकुमार सिंह आयुर्वेदिक कालेज, इन्दौर; (३) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, ग्वालियर।

उडीसा

(१) गोपवन्धु आयुर्वेद विद्यापीठ, पुरी, (२) सदाशिव सस्कृत कालेज, पुरी; (३) विद्याभवन सस्कृत कालेज, वालनगीर।

पंजाव

(१) श्री दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज, जालन्वर, (२) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, पटियाला; (३) आयुर्वेदिक कालेज, अमृतसर, (४) महन्त आयुर्वेदिक कालेज, रोहतक, (५) प्रेमगिरि आयुर्वेदिक कालेज, भिवानी, (६) आयुर्वेदिक कालेज, पठानकोट।

राजस्थान

(१) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, जयपुर, (२) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, उदयपुर, (३) सनातनधर्म आयुर्वेदिक कालेज, वीकानेर, (५) परस्वमपुरी आयुर्वेदिक कालेज, सीकर, (६) विरला सस्कृत आयुर्वेदिक कालेज, पिलानी।

उत्तर प्रदेश

(१) वुन्देलखण्ड आयुर्वेदिक कालेज, झाँसी, (२) काशी हिन्दू यूनीवर्सिटी आयुर्वेदिक कालेज, वाराणसी, (३) आयुर्वेदिक विद्यालय, देहरादून, (४) ऋपिकुल आयुर्वेदिक कालेज, हरिद्वार, (५) गुरुकुल काँगडी आयुर्वेदिक कालेज, हरिद्वार; (६) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, लखनऊ, (७) अर्जुन आयुर्वेदिक विद्यालय, वनारस; (८) आयुर्वेद विद्यालय, वटागाँव (वनारस); (९) ललित हरि आयुर्वेदिक कालेज, पीलीभीत, (१०) मेरठ आयुर्वेदिक कालेज, नौचन्दी (मेरठ), (११) आयुवदिक कालेज, अतारा (वादा), (१२) अर्जुन दर्शनानन्द आयुर्वेदिक कालेज, वाराणसी, (१३) उत्तराखण्ड आयुर्वेदिक कालेज, गुप्त काशी (गढवाल); (१४) कान्यकुब्ज आयुर्वेदिक कालेज, लखनऊ, (१५) वावा कालीकमली आयुर्वेद महाविद्यालय, ऋपिकेश (देहरादून), (१६) गुरकुल आयुर्वेदिक कालेज, वृन्दावन, (१७) महिला आयुर्वेदिक कालेज, मेरठ, (१८) द्विवेदी आयुर्वेदिक कालेज, कानपुर।

पश्चिम बंगाल

(१) यामिनीभूषण अष्टाग आयुर्वेदिक कालेज, १७०, राजा देवेन्द्र स्ट्रीट, कलकत्ता, (२) श्यामादास वैद्यशास्त्रपीठ, २९४।३।१ अपर सर्क्युलर रोड, कल०;

(३) विश्वनाथ आयुर्वेद महाविद्यालय, ९४, ग्रे स्ट्रीट कल०; (४) आयुर्वेद प्रतिष्ठान, १२३, हरीश मुकर्जी रोड, कलकत्ता २६, (५) वैद्यक पाठशाला, पो० ऑ० कोंटाई, मिदनापुर, (६) नवद्वीप आयुर्वेदिक कालेज, नवद्वीप।

दिल्ली

(१) बनवारीलाल आयुर्वेदिक विद्यालय, दिल्ली, (२) दयानन्द आयुर्वेदिक कन्या महाविद्यालय, दिल्ली, (३) आयुर्वेदिक एण्ट तिब्बिया कालेज, दिल्ली।

मैसूर

(१) गवर्मेन्ट कालेज आफ इन्डियन मेडिसिन, मैसूर, (२) तारानाथ आयुर्वेद विद्यापीठ सोसायटी, बेलगांव, (३) शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, बीजापुर, (४) शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, हुबली।

आयुर्वेदिक रिसर्च इन्स्टीच्यूट

(१) सेंन्ट्रल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, जामनगर, (२) बोर्ड आफ रिसर्च इन आयुर्वेद, बम्बई, (३) बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी, आयुर्वेदिक कालेज रिसर्च सैक्शन, बनारस, (४) तिब्बिया कालेज (रिसर्च सैक्शन), अलीगढ मुस्लिम यूनीवर्सिटी, अलीगढ; (५) इन्डियन ड्रग रिसर्च एसोसियेशन, पूना, (६) फार्माकोग्नोसी डिपार्टमैन्ट, यूनीवर्सिटी आफ ट्रावनकोर, त्रिवेन्द्रम, (७) बडोदा यूनीवर्सिटी मेडिकल कालेज (आयुर्वेदिक रिसर्च सैक्शन), बडोदा, (८) गवर्मैन्ट आयुर्वेदिक कालेज (रिसर्च सैक्शन), त्रिवेन्द्रम, (९) झासी आयुर्वेदिक कालेज (रिसर्च सैक्शन), झासी, (१०) रिसर्च डिपार्टमैन्ट एटैच्ड टू दी आयुर्वेदिक कालेज, गोहाटी, (११) श्री जयराम राजेन्द्र इन्स्टीटयूशन्स आफ इण्डियन मेडिसिन, बंगलोर, (१२) आर० ए० पोद्दार मेडिकल कालेज, बम्बई; (१३) हाफकिन इन्स्टीच्यूट, बम्बई, (१४) सैन्ट्रल ड्रग रिसर्च इन्स्टीच्यूट, छतरमंजिल, लखनऊ, (१५) यूनीवर्सल हेल्थ इन्स्टीच्यूट, नीलम मैन्शन, लैमिंगटन रोड, बम्बई ४।

तिब्बिया कालेज

(१) तिब्बिया कालेज, मुस्लिम यूनीवर्सिटी, अलीगढ, (२) यूनानी निज़ामिया तिब्बिया कालेज, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश), (३) आयुर्वेदिक एण्ड यूनानी तिब्बिया कालेज, करोलबाग, देहली, (४) गवर्मैन्ट तिब्बिया कालेज, पटना, (५) यूनानी मेडिकल कालेज, इलाहाबाद, (६) तकमील उल तिब्बी कालेज, लखनऊ, (७) भारत तिब्बिया कालेज, सहारनपुर (उत्तर प्रदेश)।

प्रसिद्ध आयुर्वेदिक फार्मेसियाँ

बम्बई प्रान्त

(१) गोंडल रसशाला, गोंडल (सौराष्ट्र), (२) श्री धूतपापेश्वर औषधि कारखाना लिमिटेड, पनवेल, कोलावा (बम्बई), (३) ऊंझा आयुर्वेदिक फार्मेसी, ऊंझा (उत्तरगुजरात), (४) झण्डू फार्मेस्युटिकल कम्पनी लिमिटेड, वर्ली (बम्बई), (५) सिन्ध आयुर्वेदिक फार्मेसी, ३७५, कालबादेवी, बम्बई २; (६) गुजरात आयुर्वेदिक फार्मेसी, गान्धीरोड, अहमदाबाद, (७) दी आयुर्वेद औषधि भण्डार, पूना, (८) दी आयुर्वेद रसशाला, पूना, (९) दी आयुर्वेद सेवासंघ, नासिक, (१०) दी आयुर्वेद अर्कशाला-लिमिटेड, सतारा, (११) श्री आत्मानन्द सरस्वती सहकारी फार्मेसी सूरत, (१२) आयुर्वेदिक फार्मेसी लिमिटेड, अहमदनगर।

मध्य प्रदेश

(१) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, रायपुर, (२) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, ग्वालियर, (३) वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, नागपुर; (४) राजकुमार सिंह आयुर्वेदिक कालेज–फार्मेसी, इन्दौर, (५) ख्यालीराम आयुर्वेदिक फार्मेसी, इन्दौर।

पश्चिम बंगाल

(१) बंगाल कैमिकल एण्ड फार्मेस्युटिकल वर्क्स, कलकत्ता; (२) वैद्यनाथ आयुर्वेदभवन लिमिटेड, १ गुप्तालेन, कलकत्ता, (३) ढाका शक्ति औषधालय, ५२।५ बीडनस्ट्रीट, कलकत्ता, (४) ढाका आयुर्वेद फार्मेसी, प्रिन्स अनवरशा रोड, कलकत्ता ३३, (५) बिरला लेबोरेटरीज, कलकत्ता, (६) साधना औषधालय, २०६ कार्नवालीस स्ट्रीट, कलकत्ता, (७) कल्पतरु आयुर्वेद फार्मेसी, २२३, चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता, (८) विश्वनाथ आयुर्वेद भवन, ७२, बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता, (९) सी० के० सेन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, ३४, चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता; (१०) ढाका औषधालय, ५६।सी बेडौन स्ट्रीट, कलकत्ता, (११) मारवाडी रिलीफ सोसायटी, ३९१ अपर चितपुर रोड, कलकत्ता, (१२) कलकत्ता कैमिकल्स, ३५, पाडिया रोड, कलकत्ता, (१३) डाबर (एम के बर्मन) लि १४२, रासबिहारी एवेन्यू, कलकत्ता, (१४) आर्य औषधालय, ६१।१३ थियेटर रोड, कलकत्ता, (१५) धन्वन्तरि आयुर्वेद भवन, २४४ चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता, (१६) हावडा कुष्ठ कुटीर, २६ हरीसनरोड, कलकत्ता, (१७) देवेन्द्रनाथ आयुर्वेदिक फार्मेसी, बहूबाज़ार, कलकत्ता; (१८) अष्टांग आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, कलकत्ता।

बिहार

(१) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, पटना, (२) वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन।

उड़ीसा

गोपबन्धु आयुर्वेदिक विद्यापीठ कालेज फार्मेसी, पुरी (उड़ीसा)।

उत्तर प्रदेश

(१) वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० इलाहाबाद, (२) गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार; (३) ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, हरिद्वार, (४) स्टेट फार्मेसी आफ आयुर्वेदिक एण्ड यूनानी मेडिसिन, उत्तरप्रदेश, लखनऊ; (५) बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी आयुर्वेदिक फार्मेसी, बनारस, (६) गवर्नमेन्ट ड्रग को-आपरेटिव ड्रग्स फैक्टरी, रानीखेत; (७) देशरक्षक औषधालय, कनखल (सहारनपुर); (८) बाबा काली कम्बली वाले की आयुर्वेदिक फार्मेसी, ऋषिकेश (देहरादून)।

मद्रास

(१) दी मद्रास स्टेट इन्डियन मेडिकल प्रैक्टिशनर कोआपरेटिव फार्मेसी एण्ड स्टोर लिमिटेड, मद्रास, (२) नावी आर आयुर्वेदिक फार्मेसी।

आसाम

गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज–फार्मेसी, गोहाटी।

केरल

(१) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज फार्मेसी, त्रिवेन्द्रम, (२) श्री केरल वर्मा आयुर्वेद फार्मेसी, त्रिचूर, (३) आर्यवैद्यशाला, कोटाकल (केरल)।

आन्ध्र

(१) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, हैदराबाद (आन्ध्र)।

मैसूर

निखिल कर्णाटक सेन्ट्रल आयुर्वेदिक फार्मेसी लिमिटेड, मैसूर।

पंजाब

(१) पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी, अमृतसर, (२) गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, पटियाला, (३) पटियाला आयुर्वेदिक फार्मेसी, नरहिन्द, (४) प्रताप आयुर्वेदिक फार्मेसी, पंजाब, (५) भरद्वाज आयुर्वेदिक फार्मेसी, अमृतसर, (६) श्रीकृष्ण आयुर्वेदिक फार्मेसी, नमक मण्डी, अमृतसर, (७) डी० ए० वी० फार्मेसी, जालन्धर।

दिल्ली

(१) मजूमदार आयुर्वेदिक फार्मेस्युटिकल वर्क्स, नयी दिल्ली, (२) पुष्करणा आयुर्वेदिक फार्मेसी, दिल्ली, (३) मुलतानी आयुर्वेदिक फार्मेस्युटिकल कम्पनी, नयी दिल्ली, (४) सुखदाता आयुर्वेदिक फार्मेसी, चाँदनी चौक, दिल्ली, (५) राजवैद्य शीतलप्रसाद, चाँदनी चौक, दिल्ली, (६) दिल्ली आयुर्वेदिक वर्क्स, सीताराम बाजार, दिल्ली (७) हमदर्द दवाखाना, दिल्ली।

राजस्थान

(१) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, जयपुर; (२) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, जोधपुर, (३) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, भरतपुर, (४) गवर्मेन्ट आयुर्वेदिक फार्मेसी, उदयपुर, (५) रामकिशोर औषधालय, भरतपुर, (६) मोहता रसायन शाला, बीकानेर, (७) मोहता आयुर्वेद साधना, हिन्दी विश्वविद्यालय, उदयपुर, (८) आयुर्वेद सेवाश्रम, उदयपुर, (९) आयुर्वेद रिसर्च इन्स्टीच्यूट्, उदयपुर, (१०) धन्वन्तरि औषधालय, जयपुर, (११) राजस्थान आयुर्वेदिक औषधालय, अजमेर, (१२) कृष्ण गोपाल औषधालय, कालेडा बोगला, अजमेर।

विश्वविद्यालयों में आयुर्वेदिक फैकल्टियाँ

ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, लखनऊ विश्वविद्यालय, पूना विश्वविद्यालय, गुजरात विश्वविद्यालय, ट्रावनकोर-कोचीन विश्वविद्यालय में हैं।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय में यूनानी तिब्ब की फैकल्टी है; हैदराबाद विश्वविद्यालय में भी यूनानी तिब्बिया कालेज है।

आगरा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत भी गुरुकुल कांगडी आयुर्वेदिक कालेज को लेकर आयुर्वेदिक फैकल्टी बनाने का प्रस्ताव विचाराधीन है।

प्रान्तों में भारतीय चिकित्सा के संचालक

१ भारतीय चिकित्सा के सचालक (डाइरेक्टर), किला चौक, मद्रास—१०
२ आयुर्वेद के सचालक, पटियाला (पजाब)
३ आयुर्वेद के सचालक, बम्बई
४ आयुर्वेद के सचालक, जयपुर (राजस्थान)
५ भारतीय चिकित्सा विभाग के विशेष अधिकारी, आन्ध्र (हैदराबाद)
६ ट्रावनकोर कोचीन भारतीय चिकित्सा के सचालक, त्रिवेन्द्रम
७ मध्यप्रदेश भारतीय चिकित्सा परिषद् के सचालक, ग्वालियर

८ विहार भारतीय चिकित्सा के सचालक, पटना (विहार)
९ स्वास्थ्य विभाग के (आयुर्वेद) उपसचालक, लखनऊ
१० भारतीय चिकित्सा विभाग के वरिष्ठ अधिकारी (पदेन) एव स्वाथ्य विभाग के अधीक्षक, बँगलोर।

भारतीय चिकित्सा परिषद्

१ आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा परिषद्, अमृतसर (पजाव)
२ आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा परिषद्--८५, थिएटर कौम्युनिकेशन विल्डिंग, कनाटसर्कस, नयी दिल्ली
३ आयुर्वेदिक और यूनानी परिषद्, पटियाला
४ आयुर्वेदिक और यूनानी परिषद्, उत्तरप्रदेश, मोती महल, क्लाइव रोड, लखनऊ
५ आयुर्वेदिक और यूनानी परिषद्, एस्पैलनेड मैन्शन, १४४, महात्मा गाधी रोड, वम्वई
६ भारतीय चिकित्सा परिषद्, राजस्थान, जयपुर
७ मध्य प्रदेश की भारतीय चिकित्सा परिषद्, ग्वालियर
८ भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्, किला चौक, मद्रास १०
९ पश्चिम वगाल की भारतीय चिकित्सा की जेनरल कौन्सिल आफ स्टेट फैकल्टी, १।२ अ वेलतला रोड, कलकत्ता—२६
१० विहार आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा की राज्यपरिषद्, पटना
११ भारतीय चिकित्सापरिषद्, शिलाग (आसाम)
१२ आयुर्वेदिक शिक्षापरिषद्, काठमाडू (नेपाल)
१३ आन्ध्रप्रदेश में भारतीय चिकित्सा के लिए विशेष अधिकारी नियुक्त है; यहाँ भी भारतीय चिकित्सा परिषद्, हैदरावाद है।
१४ हिमाचल आयुर्वेद विभाग, (यह स्वास्थ्य अधिकारी के निरीक्षण में है) शिमला—४, हिमालय
१५ भारतीय चिकित्सा की केन्द्रीय परिषद्, बँगलोर।

शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम

वम्वई प्रान्त में शुद्ध आयुर्वेद के पाठ्यक्रम को चलानेवाली सस्थाएँ—

१ अष्टाग आयुर्वेद महाविद्यालय, ७१९।११ सदाशिवपेठ, पूना २

२ जे० ए० एस० एम० पी० आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, स्टेशन रोड, नडियाद
३ पुनर्वसु आयुर्वेद महाविद्यालय (१४३ वी), कैम्स कौर्नर के समीप, वम्बई २६
४ शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, शानीगली, रणवीर पेठ, नासिक
५ शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, आजुआ रोड, वडोदा
६ शुद्ध आयुर्वेद विद्यालय, सायन स्टेशन के सामने, सायन, वम्बई २२

इस पाठ्यक्रम को वम्बई प्रान्त मे प्रचलित किया गया है। मराठी, गुजराती, कन्नड और हिन्दी चार भाषाओं में परीक्षा होती है। डिप्लोमा पाठ्यक्रम चार वर्ष का है। मैट्रिक परीक्षा या सस्कृत की मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण छात्र प्रवेश कर सकते हैं।

पाठ्य विषय—शारीर, दोष धातु मल विज्ञान, वनस्पति परिचय, द्रव्यगुण, रसशास्त्र, स्वस्थ वृत्त, सस्कृत और पदार्थ विज्ञान, अष्टागहृदय, निदानपचक, रोगविधान और कायचिकित्सा, शल्य शालाक्य तत्र, प्रसूतितत्र, विषतत्र, औषध निर्माण विधान, विधिशास्त्र।

इस पाठ्यक्रम को चालू करने का श्रेय श्री प० शिवशर्माजी आयुर्वेदाचार्य, श्री प० हरिदत्तजी शास्त्री, श्री नारायण हरि जोशी एव श्री वामनराव भाई को है। आप लोगो के निरन्तर परिश्रम से उस समय के प्रधान मत्री माननीय श्री मुरारजी देसाईजी ने इसे परीक्षणात्मक रूप मे प्रारम्भ किया। परन्तु पीछे श्री जोशीजी एव पण्डितजी की लगन और निष्ठा से इसका प्रसार दिन पर दिन अधिक हुआ। आज इन विद्यालयो में पढनेवाले विद्यार्थी थोडे खर्च में आयुर्वेद का उत्तम ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

शुद्ध शब्द का अर्थ किसी भी वस्तु से अमिश्रित है। इसमें पाश्चात्य दृष्टिकोण से पृथक् रखकर आयुर्वेद का अध्ययन कराना ही लक्ष्य है।

श्री प० शिवशर्माजी को इसके लिए वहुत परिश्रम एव भिन्न-भिन्न विरोध सहने पडे। आपमें इतनी क्षमता, निष्ठा थी कि आप अपनी लगन पर लगे रहे, आपको श्री हरिदत्तजी, श्री नारायण हरि जोशी, श्री वामनराव जैसे सच्चे सहयोगी भी मिल गये। प्राचीन पाठशालाओ के रूप एव गुरु-शिष्य के सम्वन्ध को सच्चे अर्थो में पिता-पुत्र का सम्वन्ध स्थापित करनेवाली भारत की यही शिक्षा प्रणाली थी, जिसको आप सज्जन नये रूप में जीवित कर रहे हैं।

इस पाठ्यक्रम में विद्यार्थी ग्रन्थ द्वारा आयुर्वेद को पढता है, उसके सामने आचार्य जो व्याख्या करता है, वह प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर ही रहती है। इससे विद्यार्थी को अपने आयुर्वेद के प्रति श्रद्धा होती है। भले ही कुछ विचारको को इसमे सकुचित वृत्ति का आभास मिले, परन्तु फिर भी इस वैज्ञानिक युग में, जिसमे नित्य प्रति शोध

हो रही है, उसमें इसका भी (कम से कम इस देश के लिए) महत्त्व है। इसको कुछ विद्वानों ने अपनी दृष्टि में पहचाना और वे इनमें जुटे हैं—सफलता और असफलता का निर्णय काल ही करेगा, परन्तु आयुर्वेद के प्रति इनकी निष्ठा महत्त्वपूर्ण-आदरणीय है।

उत्तरपीठिका

आयुर्वेद की शिक्षा का आज जितना प्रचार है, उसमें इसकी उपयोगिता का अंश उतना अधिक नहीं, जितना इसकी प्राचीनता का है। आयुर्वेद से रोगी अच्छे होते हैं; तो मिट्टी लगाने से, प्राकृतिक चिकित्सा एवं होम्योपैथिक से भी रोगी स्वस्थ होते हैं। इसलिए यह विशेष महत्त्वपूर्ण बात नहीं।

आयुर्वेद भारत भूमि में उत्पन्न हुआ है, पनपा है, यह ठीक है, परन्तु अत्रिपुत्र के अनुसार चिकित्सा या आयु का ज्ञान शाश्वत-अनादि है। इसलिए सब देशों में इसकी उत्पत्ति और विकास मिलता है। मनुष्य में मरण धर्म जिस प्रकार से समान है, उसी प्रकार उससे बचने की प्रवृत्ति भी समान है। इसके मार्ग भिन्न हो सकते हैं, किन्तु जैसा कि भिन्न-भिन्न मार्गों से बहनेवाला नदियों का पानी अन्त में समुद्र में ही पहुँचता है, उसी प्रकार से भिन्न-भिन्न चिकित्सापद्धतियों की अन्तिम स्थिति मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोग मुक्ति में ही है।

जिस प्रकार मनुष्यों में रुचि की भिन्नता रहती है, उसी प्रकार बुद्धि की भी भिन्नता रहती है। परन्तु इन सबका मार्ग भिन्न होने पर भी लक्ष्य एक ही रहता है और वह दीर्घायु है, जिसके लिए भरद्वाज इन्द्र के पास गया था (चरक सू अ १।३)।

आयुर्वेद की विशेषता अन्य पद्धतियों से दो बातों में है, शारीरिक और मानसिक इन दोनों का विचार इस शास्त्र में है, यह विचार आत्मा और इन्द्रिय के ज्ञान (सूक्ष्म ज्ञान) के द्वारा पूरा होता है। इसी लिए शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इन चार के संयोग का नाम धारि, जीवन, चेतना है। आयुर्वेद में इन चारों का विचार है, शेष चिकित्सापद्धतियों में केवल शरीर या शरीर और मन का ही विचार है। सामान्य रूप से यह ज्ञान भूतसंघातवाद का है, जिसे बार्हस्पत्य, पौरन्दर या चार्वाक नाम से कहा जाता है। अत्रिपुत्र के कहे सद्वृत्त, मोक्ष तथा मोक्ष के उपाय, आत्मा, पुनर्जन्म आदि विषय अन्य चिकित्सापद्धतियों में नहीं मिलते। आयुर्वेद के पिछले ग्रन्थों में भी इनका उल्लेख नहीं रहा, सुश्रुत में चरक की अपेक्षा कम है, संग्रह में सुश्रुत की अपेक्षा अधिक है, काश्यप संहिता तथा अन्य ग्रन्थों में इसकी समाप्ति है। इसलिए स्पष्ट है कि अत्रिपुत्र ने जिस आयुर्वेद का उपदेश अग्निवेश को दिया था, उसके उपयुक्त

विषय पीछे (लगभग ८वी शती ईसवी में) आयुर्वेद से अलग हो गये। अब आयुर्वेद का जो रूप बचा, वह प्राय वही था जो कि आज दूसरी चिकित्सापद्धतियो का है।

रसचिकित्सा में तो, जो कि दसवी शती ईसवी मे प्रारम्भ हुई है, मन, आत्मा, इन्द्रिय का कुछ भी विचार नही, उसका तो स्पष्ट कहना है—

न रोगाणां न दोषाणा न दूष्याणाञ्च परीक्षणम्।
न देशस्य न कालस्य कार्यं रसचिकित्सिते॥
साध्येषु भेषज सर्वमीरित तत्त्ववेदिना।
असाध्येष्वपि दातव्य रसोऽत श्रेष्ठ उच्यते॥

रसचिकित्सा में न तो रोगो का, न दोषो का, न दूष्यो का, न देश और न काल का विचार करना चाहिए। विद्वानो ने यह तो कहा ही है कि साध्य रोगो में औषध देनी चाहिए, परन्तु रस औषध तो असाध्य रोगो मे भी देनी चाहिए, इसी लिए रस-चिकित्सा अन्य से श्रेष्ठ है।

रसचिकित्सा का ही परिष्कृत रूप इजैक्शन चिकित्सा है। रसचिकित्सा के सम्बन्ध में गोपाल कृष्ण ने कहा है—

अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचेरप्रसगत'।
क्षिप्रमारोग्यदायित्वादौषधिभ्योऽधिको रसः॥ रसेन्द्रसारसंग्रह

रस औषधि की मात्रा थोडी होती है, इसके खाने से क्वाथ आदि की भाँति अरुचि नही होती, जल्दी क्रिया होने के कारण आरोग्य सद्य मिलता है, इसलिए औषधियो से रस श्रेष्ठ है। आजके इजैक्शन तथा रासायनिक औषधियो (Chemothcropy) मे भी ये लाभ हैं, इनका भी उपयोग आज चिकित्सा में रस औषध की भाँति होता है। यह उपयोग इतना अधिक है कि वैद्यगण—वर्त्तमान आयुर्वेदिक सस्थाओ से शिक्षित या अशिक्षित सब इसका उपयोग किसी न किसी रूप में करते है। यह चिकित्सा-पद्धति रसशास्त्र का आधुनिक परिष्कृत रूप ही है, ऐसी मेरी मान्यता है। इसमे भी दोष, दूष्य, बल, काल का सामान्य रूप से विचार नही होता।

इसलिए आयुर्वेद की अपनी विशेषता, जिसे अत्रिपुत्र ने अग्निवेश को सिखाया, वास्तविक रूप मे कुछ ही समय तक रही। उसके पीछे इसका रूप सर्वथा भूतसघात-वादी बनकर शरीर तक ही सीमित हो गया, जो आज भी है। यह रूप भी पहले जैसा नही रहा, इसमे नाडीज्ञान, मूत्र, मल-परीक्षा, अफीम, मस्तकी, चोपचीनी जैसी दूसरी औषधियाँ आदि विषय मिलते गये। वाग्भट ने इस सम्बन्ध में निर्देश भी किया है, इसलिए यह कहना कि आज जो आयुर्वेद के ग्रन्थ मिलते है, उनमें प्राचीन

आयुर्वेद ही है, सही नहीं है। इसमें समयानुसार परिवर्त्तन हुआ; वैदिक देवताओ के साथ बौद्ध देवता भी आये, जातहारिणी आदि मान्यताएँ, षष्ठी की पूजा, बलि, ग्रहो की पूजा आदि बातें भी इसमें आ गयी, इसलिए इसकी शुद्धता नहीं रही।

शुद्ध आयुर्वेद शब्द स्वय अस्पष्ट है, आयुर्वेद के शुद्ध और अशुद्ध होने की कसौटी इनके ग्रन्थो पर स्वय नहीं उतरती। इसी लिए वाग्भट ने कहा है कि हठ या दुराग्रह को छोडकर मध्यस्थ वृत्ति से सत्य को ग्रहण करना चाहिए। यदि यूनानी में प्रसिद्ध बनफ्सा, रेशाखतमी, कासनी आयुर्वेद के अन्तर्गत आ सकते हैं, तो पैनसिलीन, क्युलीन, सैलीसिलेट आदि औषधियो ने क्या पाप किया, जिससे इनको आयुर्वेद न माना जाय। इसलिए शुद्ध और अशुद्ध विशेषण आयुर्वेद के साथ लगाना एक पक्ष का स्वार्थ है।

आज आयुर्वेद के ह्रास का मुख्य कारण इसका सस्कृत से घिरा होना और एक विशेष वर्ग के हाथ में इस सस्कृत के कारण अधिकार रहना है। यही वर्ग इसमें शुद्ध विशेषण लगाकर इसका विकास और भी सकुचित करता जाता है।

इसलिए युगानुरूप चिकित्सा का असली रूप समझकर मधुकरी वृत्ति से शरीर, इन्द्रिय, मन, आत्मा के लिए उपयोगी चिकित्सा को ग्रहण करना ही चाहिए। अत्रि-पुत्र ने ठीक ही कहा है—

तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते।
स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो य प्रमोचयेत्॥ चरक सू. अ. १।१३४

जिससे आरोग्य मिले वही सही औषध है और जो रोगो से छुडाये वही श्रेष्ठ वैद्य है। इसमें आयुर्वेद का क्षेत्र, उसकी परिधि खुली रहती हैं, उसके चारो ओर कोई रेखा या दीवार नहीं खिचती है। यह उदारता अत्रिपुत्र में ही सम्भव थी, काशिपति धन्वन्तरि में नही थी, जिसने जातिभेद से चिकित्साभेद करके इसको सकुचित किया (सुश्रुत शा अ १०।५)। इसलिए सस्कृत की या अन्य भाषा की तथा जाति की कठोर दीवार तोडकर सच्चे अर्थो में आयुर्वेद की शिक्षा या प्रचार करना चाहिए।

दो कमीशन

आयुर्वेद की उन्नति, उसके पाठ्यक्रम, उसका रूप आदि बातो का निर्णय करने के लिए भारत सरकार ने कई बार प्रयत्न किया। इनमें चोपडा कमेटी और दवे कमेटी ये दो कमेटियाँ मुख्य हैं। चोपडा कमेटी का निर्माण स्वतत्रता के प्रारम्भ में हुआ था। इस कमेटी ने आयुर्वेद की औषधियो पर आधुनिक दृष्टि से खोज करने की सलाह दी थी। इसके अनुसार इस समय देश में कई स्थानो पर रिसर्च के नाम पर काम हो रहा

है, परन्तु इससे अभी तक कोई फल सामने नही आया और भविष्य मे सामने आयेगा यह आशा रखना भी व्यर्थ है। क्योकि सचालनसूत्र जिनके हाथ में है, उनका पिछला कोई भी कार्य ऐसा नही, जिसमें इस प्रकार की कोई आशा की जा सके। वैद्यो का तो बस एक ध्येय है, अपनी जेब को सुरक्षित रखकर दूसरे के धन पर रिसर्च की आवाज बुलन्द करना, और डाक्टरो या एम० एस-सी० वालो से यह स्पष्ट है कि इन्होने अपने विषय में, जिसे उन्होने नियमत पढा, जिसमें उपाधि ली, जिसके लिए नौकरी की, कोई देन नही दी, न कोई खोज की। इसलिए इस नये विषय मे वे नयी वस्तु देंगे—यह आशा आकाशपुष्प की भाँति ही है। उन्होने आयुर्वेद के लिए जो प्रेम दिखाया, वह तो उनकी उदारता है, क्योंकि वे जानते हैं कि यह मूर्ख जमात है, इसमे जरा भी चमत्कार दिखाने से, अग्रेजी में बोलने-लिखने से, रसशास्त्र को वर्त्तमान रसायन दृष्टि से कहने पर (आयुर्वेद के रसशास्त्र का वर्त्तमान रसायन विद्या से कोई सम्बन्ध नही) वैद्यसमुदाय चकाचौंध में आ जायगा। इसलिए इनसे की हुई रिसर्च से आयुर्वेद की उन्नति होगी या चोपडा कमेटी का उद्देश्य सफल होगा, ऐसा मानना सत्य नही। यह तो सरकार ने वैद्यो का मुख बन्द करने के लिए कुछ रुपयो का दान किया है, जिससे वैद्यो की जीविका चल रही है।

दवे कमेटी की नियुक्ति कुछ वर्ष पूर्व हुई थी। इसका उद्देश्य सम्पूर्ण देश के लिए एक पाठ्यक्रम तैयार करना था। इसके लिए कमेटी ने सब स्थानो को देखकर एक सर्वसम्मत पाठ्यक्रम बनाया। यह पाठ्यक्रम उपयोग की दृष्टि से ठीक था। परन्तु वैद्यसमाज का दुर्भाग्य कि उसने इसमे भी रोडे अटकाये, जिससे आज तक यह नही चल सका। इसमें विघ्न डालनेवाला वही वर्ग था, जो कि आयुर्वेद को एक वर्ग तक जकडे रखना चाहता है, वह नही चाहता कि आयुर्वेद का सही रूप जनता के सामने आये।

इस पाठ्यक्रम में अर्वाचीन पाश्चात्य चिकित्सा की शिक्षा का भी पूर्ण प्रबन्ध था, जिससे आयुर्वेद का ज्ञान 'युगानुरूप' बनता था, जो समय की माँग के अनुसार ठीक भी था। इस पाश्चात्य चिकित्साज्ञान से आयुर्वेद ज्ञान या आयुर्वेद नष्ट हो जायगा, इसका भय केवल उन्ही को है जो आयुर्वेद नही समझते, या उनको भय है जो इसे सस्कृत ज्ञान या व्याकरण की शिक्षा के आधार पर ही सीखते हैं। विशाल दृष्टि, उदार चित्तवाले व्यक्ति को पाश्चात्य चिकित्साज्ञान से कुछ भी भय नही होता, वह तो उसे हृदय से लगाता है, उस ज्ञान से आयुर्वेद को और भी माँजता है। समय की माँग के अनुसार यह आवश्यक भी है। अपने तीस वर्षो के आयुर्वेद क्षेत्र मे किये कार्य से मैं निश्चित आधार पर कह सकता हूँ कि इसका विरोध सस्कृत पढे आयुर्वेद के अध्यापक

या वैद्य, विशेषत एक निश्चित वर्ग ही कर रहा है, जो अपने पुत्रों को तो डाक्टरी, पाश्चात्य शिक्षा सिखाता है, दूसरों की सतान को आयुर्वेद की अधूरी शिक्षा देकर उनके द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करता है। उसे इस बात का भय है कि इण्टर साइन्स के विद्यार्थियों के आगे हमारी दाल नहीं गलेगी, इसी से वह इस पाठ्यक्रम का विरोध कर रहा है।

इसलिए सरकार द्वारा नियुक्त दोनों कमेटियों से आयुर्वेद का कोई भी उद्देश्य या भला होता मैं नहीं देखता। इसका एक ही रास्ता है, यदि आयुर्वेद में कुछ सत्यता है, तो यूरोप-अमेरिका जाकर उस पर मोहर लगवा लेनी चाहिए, वहाँ से मोहर लगने पर किसी में सामर्थ्य नहीं कि इसका प्रतिवाद कर सके या इस विषय में मुँह भी खोल सके।[1] बुद्धिमानों की परीक्षा जिस प्रकार भागवत में है, उसी प्रकार से सच्चे ज्ञान की परीक्षा आज वहाँ है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का आदर इस देश में तब हुआ, जब उनको यूरोप से नोबेल पुरस्कार मिला। उससे पूर्व भी वे इसी देश में थे—तब उनको आदर नहीं मिला। इसलिए आयुर्वेद की उन्नति का सच्चा पथ यूरोप के विद्वानों की खरी परीक्षा ही है, जहाँ पर प्रत्यक्ष और ईमानदारी ही प्रमाण है; शास्त्रवचन का कोई महत्त्व उस चिकित्सा प्रणाली में नहीं रहता।

पूर्वकाल में भी इस प्रकार की परीक्षाएँ थीं। पाणिनि को भी अपने व्याकरण की परीक्षा पाटलिपुत्र में करवानी पड़ी थी। उस परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही उस व्याकरण का प्रचार हुआ—

श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—
अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिंगलाविह व्याडि।
वररुचिपतंजली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥ राजशेखर

इसलिए आयुर्वेद को इस परीक्षा से डरने की जरूरत नहीं, क्योंकि आग में डालने पर इसका खरा रूप सामने आ जायगा (हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा। रघु. १।१०)। इसलिए आयुर्वेद के अस्तित्व को रखने के लिए, इसके सच्चे रूप को

---

१. खेल का सामान बनानेवाली यू बेराय कम्पनी एक समय अपना सामान इस देश में बनाकर लन्दन केवल मोहर लगाने के लिए भेजती थी। वहाँ से मोहर लग जाने पर उसकी कीमत कई गुनी बढ़ जाती थी। यहाँ के अंग्रेज इस पर इंग्लैंड की मोहर देखकर इसे खरीदते थे, उनकी देखादेखी भारतीय भी लेते थे। यही बात आयुर्वेद के साथ है। यूरोप की मोहर से डाक्टर बरतेंगे, उसे देखकर अन्य भारतीय भी बरतेंगे।

युग के अनुसार समझने के लिए सबसे सरल, छोटा मार्ग यही है कि यूरोप में जाकर इसकी जाँच करवा ली जाय। इसके लिए अपनी गांठ का पैसा खोलना होगा। सरकार मदद करे या उसके रास्ते से यह हो, यह आशा अनुचित है। यह कर्त्तव्य वैद्यो का अपना है, उनको इस विषय पर, इस विद्या पर गर्व है, वे समझते है कि यह इस युग में अधिक जन-कल्याण करनेवाली है, तो स्वय जाकर इसकी परीक्षा करवा ले। उपयोगी होने पर ज्ञान स्वत इसको चमका देगा।

आयुर्वेद के विषय मे अत्रिपुत्र ने जो कहा है, वह वास्तव मे ऐसा ही है—

इदमखिलमधीत्य सम्यगर्थान् विमृशति योऽविमनाः प्रयोगनित्य.।
स मनुज सुखजीवितप्रदाता भवति धृतिस्मृतिवुद्धिधर्मवृद्धः॥
यस्य द्वादशसाहस्री हृदि तिष्ठति संहिता।
सोऽर्थज्ञ· स विचारज्ञश्चिकित्साकुशलश्च स.॥
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

चरक. सि. अ. १२।५१-५२-५४.

यह आयुर्वेद जन-कल्याण करनेवाला है, इसको जाननेवाला मनुष्य अर्थ को जाननेवाला, विचारवान् और उत्तम चिकित्साज्ञ होता है। इस संहिता मे जो है, वही अन्यत्र मिलता है, जो इसमें नही वह अन्यत्र भी नही। ऐसा कहनेवाले ऋषि अत्रिपुत्र के वचनो के चारो ओर सीमा या परिधि नही खीचनी चाहिए, विश्वास के साथ, परीक्षको के सामने उपस्थित करने मे अपना गौरव-मान समझना चाहिए; इससे सत्य की परीक्षा होगी। सत्य ही शुद्ध है, अग्नि मे पडने पर अशुद्ध-मैल सब जल जाता है।

परिशिष्ट

उडूप कमेटी की रिपोर्ट

भारत सरकार ने आयुर्वेद की स्थिति जाँचने के लिए तथा उसकी उन्नति के लिए २९ जुलाई १९५९ में एक कमेटी डाक्टर के० एन० उडूप, सर्जिकल स्पेशियलिस्ट, हिमाचल प्रदेश, शिमला की अध्यक्षता में बनायी थी। इस कमेटी ने सम्पूर्ण भारत का परिभ्रमण करके आयुर्वेदिक संस्थाओं, फार्मेसियों और राज्यों में आयुर्वेद की स्थिति का निरीक्षण कर अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को दी थी।

इस रिपोर्ट में इससे पूर्व की कमेटियों का विवरण संक्षेप में दिया हुआ है, इससे स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद की उन्नति-विकास के लिए भारत सरकार ने अभी तक क्या किया। सबसे प्रथम भोर कमेटी (१९४५ ईसवी में) बैठायी गयी थी।

भोर कमेटी की सूचना—भोर कमेटी ने स्वीकार किया कि वह समय तथा परिस्थितियों के कारण आयुर्वेदिक सिस्टम के विषय में सही सूचनाएँ नहीं प्राप्त कर सकी। तब भी उसने कहा कि स्वास्थ्य और चिकित्सा की दृष्टि से आयुर्वेदिक चिकित्सा के प्रश्न का निर्णय राज्यों के ऊपर छोड़ देना चाहिए। उसकी ठोस एवं करणीय सूचना यही थी कि सब मेडिकल संस्थाओं में आयुर्वेद के इतिहास की एक चेयर स्थापित की जाय।

इसके पीछे सन् १९४६ में स्वास्थ्यमंत्रियों की एक बैठक हुई, जिसमें आयुर्वेद की शिक्षा और गवेषणा के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार हुआ।

चोपड़ा कमेटी—इस बैठक के अनुसार लेफ्टीनैण्ट कर्नल आर० एन० चोपड़ा की अध्यक्षता में १९४६ ईसवी में एक कमेटी बनायी गयी। इसने सारे प्रश्न को नये सिरे से विचार कर १९४८ में एक रिपोर्ट सरकार को दी, इसमें मुख्य सूचनाएँ निम्न थीं—

१ पश्चिम और आयुर्वेद चिकित्सा का समन्वय करना आवश्यक है।

२ दोनों में जो भाग कमजोर हो उसकी पूर्ति परस्पर विभागों से करनी चाहिए।

३ मिश्रित पाठ्यक्रम से अनावश्यक पाठ्यक्रम को निकाल देना चाहिए।

४. सम्पूर्ण भारत में एक ही पाठ्यक्रम चलाना चाहिए।

५ संस्कृत का सामान्य ज्ञान और अंग्रेजी का आवश्यक ज्ञान एवं साथ में केमिस्ट्री, फिजिक्स, बाईओलोजी (प्राणी शास्त्र) का भी ज्ञान आवश्यक है।

६ पाठ्यक्रम पाँच वर्ष का रखना चाहिए। पाठ्य पुस्तकों में एकरूपता रहनी चाहिए।
७ पाठ्यपुस्तकें तैयार कराने के लिए एक बोर्ड की नियुक्ति होनी चाहिए।
८ एक ही अध्यापक पश्चिमी एव प्राचीन आयुर्वेद विषय को पढायें।
९ मेडिकल कालेजों में आयुर्वेद का इतिहास-विषयक पीठ स्थापित हो।
१० मिश्रित पाठ्यक्रम के लिए अध्यापक शिक्षित करने चाहिए।
११ अध्यापकों को उचित वेतन दिया जाय।
१२ केन्द्रीय सरकार आयुर्वेदिक शिक्षा और चिकित्सा पर अपना नियन्त्रण रखे।
१३ स्वास्थ्य विभाग के अधीन उपसचालक आयुर्वेद का पद बनाना चाहिए।
१४ दो बोर्ड पृथक् बनाने चाहिए—
  १ इन्डियन मेडिकल कौंसिल, २. कौंसिल आफ इन्डियन मेडिसिन।
१५ निम्न स्तरवाली शिक्षण सस्थाएँ या तो समाप्त कर देनी चाहिए अथवा दूसरी सस्थाओ में सम्मिलित कर देनी चाहिए।
१६ सब शिक्षण सस्थाएँ रिसर्च का केन्द्र बनाये। रिसर्च केन्द्र मे दोनों पद्धतियो के शिक्षित-विज्ञ व्यक्ति रखने चाहिए।
१७ भारतीय चिकित्सा में खोज की बहुत जरूरत है। आधुनिक और आयुर्वेद दोनों चिकित्सा पद्धतियो में एकरूपता लाने की बहुत आवश्यकता है।
१८ केन्द्रीय गवेषणा-केन्द्र स्थापित करना चाहिए।
१९ आयुर्वेदिक फार्मेकोपिया बनानी चाहिए।
२० भारतीय चिकित्सा में औषधि निर्माण की शिक्षा का प्रबन्ध होना आवश्यक है।

चोपडा कमेटी की सूचनाओ पर भारत सरकार का निर्णय सक्षेप में यह है—
१ दोनों पद्धतियो का मिश्रण सम्भव नही, क्योंकि दोनो पद्धतियो में सैद्धान्तिक तथा मुख्य बातो में पर्याप्त भेद है।
२. केन्द्रीय और राज्य सरकारो को यह निश्चय करना चाहिए कि जातीय स्वास्थ्य के लिए आधुनिक चिकित्सा पद्धति की शिक्षा दी जाय या न दी जाय।
३ आयुर्वेदिक और यूनानी खोज के सम्बन्ध मे केन्द्रीय बोर्ड बनाया जाय।
४ आधुनिक चिकित्सा की पूर्ण शिक्षा देकर आयुर्वेद या यूनानी चिकित्सा की शिक्षा विशेष रूप में दी जानी चाहिए।
५ आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सको का पञ्जीकरण होना चाहिए।
६ आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा में शिक्षित व्यक्तियो को जनस्वास्थ्य के कार्य की शिक्षा देनी चाहिए।

पण्डित कमेटी—इसके पीछे डाक्टर सी० जी० पण्डित की अध्यक्षता में एक दूसरी कमेटी बनायी गयी। इसको चोपडा कमेटी द्वारा निर्दिष्ट सूचनाओ को क्रियात्मक रूप देने का कार्य सौंपा गया। पण्डित कमेटी ने निम्न बातो की सिफारिश की—

१ जामनगर में केन्द्रीय गवेषणा केन्द्र खोला जाय।

२. आधुनिक मेडिकल कालेजो में आयुर्वेद या यूनानी शिक्षा देना सम्भव नही।

३ आयुर्वेदिक कालेजो में आधुनिक चिकित्सा का ज्ञान देना उचित नही, क्योकि इनका शिक्षास्तर बहुत निम्न श्रेणी का है। इसलिए यदि मिश्रित शिक्षा देनी है, तो इन विद्यालयो का शिक्षास्तर ऊँचा करना चाहिए।

४ आयुर्वेदिक विद्यालयो में प्रवेशस्तर ऊँचा उठाना चाहिए।

५ आयुर्वेद की शिक्षा के लिए सर्वत्र एक समान पाठ्यक्रम चालू करना चाहिए। पृथक् पृथक् डिग्री कोर्स या डिप्लोमा कोर्स नही चलाने चाहिए।

पण्डित कमेटी की सिफारिश पर १९५२ में जामनगर में गवेषणा केन्द्र खोला गया, काम भी प्रारम्भ हुआ, परन्तु अभी तक कोई भी निश्चित परिणाम सामने नही आया।

दवे कमेटी—केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद् (१९५४ ईसवी) के अनुसार श्री डी० टी० दवे की अध्यक्षता में १९५५ ईसवी में एक कमेटी बनायी गयी। इस कमेटी को शिक्षा का स्तर तथा भारतीय चिकित्सा की प्रैक्टिस करने के नियम बनाने का काम सौंपा गया। इस कमेटी की मुख्य सिफारिशें निम्न थी—

१ सस्थाओं के नियमत शिक्षित एव परम्परागत शिक्षित व्यक्ति, जो पन्द्रह वर्ष से चिकित्सा कार्य कर रहे हैं, उनका पञ्जीकरण करना चाहिए।

२. प्रत्येक राज्य में एक बोर्ड होना चाहिए जो आयुर्वेद की शिक्षा तथा वैद्यो पर नियन्त्रण रखे।

३ पञ्जीकृत वैद्यो, हकीमो को आधुनिक चिकित्सा पद्धति के डाक्टरो के समान अधिकार मिलने चाहिए।

शिक्षा के सम्बन्ध में दवे कमेटी की निम्न सिफारशें थी—

४ सम्पूर्ण भारत में एक ही जैसा पाठ्यक्रम चलाना चाहिए, यह पाठ्यक्रम ५½ वर्ष का होना चाहिए। इसमें तीन मास कम से कम देहाती क्षेत्र में काम करना पडे

५ प्रवेश योग्यता इन्टरमीडिएट साइन्स (मेडिकल ग्रूप) की होनी चाहिए, जिसके साथ में सस्कृत का सामान्य ज्ञान होना आवश्यक है।

६ सस्थाओं के पाठ्यक्रम-शिक्षण पर नियन्त्रण रखने के लिए इन्डियन मेडिकल कौंसिल के समान एक परिषद् होनी चाहिए।

७ विषयवार पुस्तकें लिखायी जायें या संशोधित की जायें।

८ पाठ्यक्रम को विश्वविद्यालयों और आयुर्वेद की फैकल्टी पृथक् बनाकर स्वीकृत करवाया जाय।

९ आयुर्वेद की फार्मेकोपिया और कोश (डिक्शनरी) बनाना चाहिए।

१० सब शिक्षण संस्थाओं में रोगियों को रखने के लिए अन्त -अस्पताल होना चाहिए, जिसमें एक विद्यार्थी के लिए पाँच रोगी रहे।

११. आयुर्वेद की उपाधि ग्रेज्युएटेड् आयुर्वेदिक मेडिसिन सर्जरी (G A M. S) समान रूप से रखनी चाहिए।

१२ केन्द्र और राज्यों में आयुर्वेद का डाइरेक्टर (संचालक) पृथक् रूप से नियुक्त करना चाहिए।

१३ साधनसम्पन्न संस्थाओं में गवेषणा तथा स्नातकोत्तर शिक्षा के द्विवर्षीय पाठ्यक्रम की सुविधा देनी चाहिए।

१४ शिक्षासंस्थाओं में रिफ्रेशर पाठ्यक्रम का प्रबन्ध करना चाहिए।

निश्चित पाठ्यक्रम के लिए दवे कमेटी ने एक पाठविधि भी बतलायी थी। दवे कमेटी की रिपोर्ट सब राज्यों को भेजी गयी और राज्यों से प्राप्त संमतियों पर बंगलोर में हुई केन्द्रीय स्वास्थ्यपरिषद् में विचार किया गया। दुर्भाग्य से राज्यों ने इसका पूर्ण आदर नहीं किया, इसलिए यह प्रश्न राज्यों पर ही छोड दिया गया कि वे इसे स्वीकार करें या अस्वीकार करें।

निष्कर्ष —

१ चोपडा कमेटी और पण्डित कमेटी की सिफारिशों को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि प्रथम आयुर्वेद के सम्बन्ध में खोज प्रारम्भ की जाय। उसके आधार पर ही दोनों पद्धतियों को मिश्रित करने का विचार किया जाय तथा उसी के आधार पर यह निश्चय हो कि मेडिकल कालेजों में स्नातकोत्तर शिक्षा इसकी दी जाय या नहीं।

२ सरकार का ऐसा विचार दीखता है कि खोज के परिणामों को देखकर ही इसकी उपादेयता का अंकन होना चाहिए। परन्तु हमारी सम्मति में औषध या उसकी उपादेयता ही आयुर्वेद विज्ञान नहीं है, इसलिए हमारी सम्मति में पण्डित कमेटी ने आयुर्वेद शिक्षा का जो मार्ग बताया है (अर्थात्—आधुनिक चिकित्सा के छात्र को अथवा स्नातकोत्तर अभ्यास में आयुर्वेद की शिक्षा देना) वह आयु-

वेद की उन्नति के लिए उत्तम नहीं। चोपड़ा कमेटी की सिफारिशें अभी तक कार्य रूप में परिणत नहीं हुईं, इसी से वर्तमान अकर्मण्यता बनी रही।

३ संक्षेप में मिश्रित आयुर्वेद पाठ्यक्रम के लिए की गयी चोपड़ा एवं दवे कमेटी की सब सिफारिशें रेत में पड़ी पानी की बूँद के समान व्यर्थ हुईं। साथ ही दूसरे पक्षवालों के लिए पूर्ण असन्तोषजनक सिद्ध हुईं। इसी से शुद्ध आयुर्वेद की चहलपहल प्रारम्भ हुई। इसने विद्यार्थियों के मन में एक प्रकार का प्रतिरोध जाग्रत हो गया, जिसका परिणाम स्ट्राइक, महाविद्यालयों का एक दीर्घ काल के लिए बन्द होना हुआ। शुद्ध आयुर्वेद की चहलपहल प्राय करके पुराने विचार-वाले लोगों के हाथ में रही।

शुद्ध आयुर्वेद शब्द के विषय में पूरा स्पष्टीकरण न होने से कुछ सीमा तक लोगों को भ्रम एवं अस्पष्टता बनी रही। यद्यपि वे स्वयं यह स्वीकार करते थे कि विज्ञान एक समान है, उसमें बराबर उन्नति का स्थान है, उसे आयुर्वेद में सम्मिलित करना चाहिए। फिर भी वे यह मानते हैं कि आयुर्वेद सम्पूर्ण है और उसमें किसी प्रकार की वृद्धि या जोड़ की आवश्यकता नहीं। शुद्ध आयुर्वेद-का जो पाठ्यक्रम उन्होंने बनाया उसमें पुराने पाठ्यक्रम को ही थोड़ा परिवर्तित किया, साथ ही आधुनिक विज्ञान के विषय भी मिला दिये। शुद्ध आयुर्वेद-वाले सदा इस बात को स्वीकार करते हैं कि आयुर्वेद के आठ अंगों में से केवल एक अंग (अकेली कायचिकित्सा) ही बचा है, शेष सात अंगों का पुन उद्धार होना चाहिए। इससे हम यह अनुभव करते हैं कि यह आवश्यक है कि आयुर्वेद का पुट देते हुए आधुनिक विज्ञान की सहायता से इनकी शिक्षा दी जाय।

४ केन्द्रीय सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के उत्तरार्द्ध में आर्थिक सहायता देकर खोज कार्य प्रारम्भ कराया। यह कार्य अब दूसरी योजना में भी जारी है।

५. केन्द्रीय सरकार इस बात की इच्छुक है कि किस प्रकार उसकी सहायता आयुर्वेद की उन्नति करने में सफल हो सकती है, इसके लिए उसने यह कमेटी बनायी। यह कमेटी केवल खोज के विषय में ही सूचना नहीं देगी अपितु आयुर्वेद के सम्बन्ध में चारों ओर से विचार करके सरकार को अपनी सलाह देगी।

उडूप कमेटी—भारत सरकार के स्वास्थ्य मन्त्रालय ने डाक्टर के० एन० उडूप की अध्यक्षता में २० जुलाई १९५८ में एक कमेटी बनायी। इसके लिए विचारणीय प्रश्न निम्न दिये गये, जिन पर इस कमेटी को विचार करके रिपोर्ट देनी थी—

१ आयुर्वेद को उन्नत करने तथा इसमें सहायता देने के लिए गवेषणा के कार्य में तथा

आयुर्वेदिक संस्थाओं का स्तर ऊँचा उठाने में केन्द्रीय तथा राज्यों की सहायता कहाँ तक सफल हुई।

२ आयुर्वेद की शिक्षा एवं खोज में इस सहायता से कहाँ तक मदद मिली।

३ आयुर्वेदिक औषध निर्माण (फार्मेस्युटिकल प्रोडक्शन) के स्टैण्डर्ड, मात्रा तथा उनके निर्माण के ढंग में कहाँ तक उन्नति हुई।

४ आयुर्वेदिक चिकित्सा-कर्म एवं मान्यता के विषय में वस्तुस्थिति की जाँच करना।

कमेटी ने एक प्रश्नावली प्रकाशित की, इनमें आयुर्वेद की शिक्षा, चिकित्सा, राज्यों में भारतीय चिकित्सा परिषद्, आयुर्वेदिक संस्थान (साहित्यिक गवेषणा सम्बन्धी), औषध निर्माण, आधुनिक मेडिकल कालेजों में फार्मेकोलोजी कार्य तथा दूसरी खोज आदि की जानकारी माँगी।

कमेटी के सदस्यों ने सम्पूर्ण भारत की आयुर्वेदिक संस्थाओं को जाकर देखा और स्थानिक अधिकारियों से विचार विमर्श करके वास्तविक स्थिति को समझने का यत्न किया। रिपोर्ट में प्रत्येक प्रान्त की आयुर्वेद की स्थिति का उल्लेख संक्षेप में तथा वहाँ की जो विशेषता उनको अच्छी लगी उनका उल्लेख किया है। साथ ही प्रत्येक प्रान्त के कालेजों में क्या क्या सुधार करना चाहिए, यह भी बताया है।

आयुर्वेद की शिक्षा के विषय में कमेटी का निश्चय इस प्रकार है—

आयुर्वेद की उन्नति के लिए प्राचीन और नयी पद्धतियों का मिश्रण आवश्यक है। आयुर्वेद को स्पष्ट करने के लिए आधुनिक चिकित्साविज्ञान से जितना भाग लेना आवश्यक हो, वह लेना चाहिए। परन्तु मुख्यता आयुर्वेद की ही रहनी चाहिए। इनसे चिकित्सक रोगी के साथ वर्त्तमान काल में अधिक योग्यता से बरत सकेंगे।

स्नातकोत्तर शिक्षण में—आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त, आयुर्वेद का इतिहास, शारीर विज्ञान, काय चिकित्सा (निदान और पंच कर्म के साथ), द्रव्यगुण विज्ञान, रसशास्त्र और भैषज्य कल्पना रखने चाहिए।

स्नातकोत्तर शिक्षण के लिए बनारस, पूना और त्रिवेन्द्रम तीन और केन्द्र प्रारम्भ करने चाहिए, अकेला जामनगर सम्पूर्ण भारत की आवश्यकता पूरी नहीं कर सकता। इन केन्द्रों में स्नातकोत्तर शिक्षण एक वर्ष का रखना चाहिए।

कमेटी ने ट्यूटोरियल सिस्टम का सुझाव दिया, जिसमें कि विद्यार्थी शिक्षक के साथ विषय की विवेचना कर सकें।

अध्यापकों का स्तर निश्चित करने के लिए केन्द्रीय भारतीय परिषद् की स्थापना का

सुझाव दिया गया, आयुर्वेद के अध्यापकों का वेतनक्रम मेडिकल कालेज के अध्यापकों की भाँति होना चाहिए।

शिक्षण विषय में समिति की सूचना है कि दो प्रकार के पाठ्यक्रम चलने चाहिए, एक मिश्रित और दूसरा शुद्ध आयुर्वेद का। जो विद्यार्थी मिश्रित पाठ्यक्रम में उत्तीर्ण हों उनको स्नातक की उपाधि देनी चाहिए और जो शुद्ध आयुर्वेद के पाठ्यक्रम में उत्तीर्ण हों उनको आयुर्वेदाचार्य या प्रवीण की उपाधि देनी चाहिए। सब अवस्थाओं में उपाधि एवं टाइटिल सब स्थानों में एक समान रहने चाहिए।

पाठ्यक्रम, उपाधि, टाइटिल आदि का निर्णय केन्द्रीय भारतीय परिषद् के ऊपर छोड देना चाहिए। मिश्रित पाठ्यक्रम में प्रवेशयोग्यता माध्यमिक (इण्टरमीडिएट) होनी चाहिए। इसमें कैमिस्ट्री, फिजिक्स, बाईओलोजी और संस्कृत का ज्ञान आवश्यक हो जो कि माध्यमिक स्तर का हो। शिक्षाक्रम साढे चार या पाँच वर्ष का रहे।

शुद्ध आयुर्वेद में प्रवेशयोग्यता दसवी उत्तीर्ण (मैट्रिक्युलेशन) की होनी चाहिए, इसमें विद्यार्थी को संस्कृत लेना आवश्यक है, या इसके बराबर हो। शिक्षाक्रम चार वर्ष या पाँच वर्ष का होना चाहिए। इसमें शरीरक्रिया, शरीररचना आदि दूसरे आधुनिक विषयों का भी ज्ञान कुछ मात्रा में कराना चाहिए। क्रियात्मक शिक्षा के लिए सम्पूर्ण साज-सज्जा से युक्त अस्तपाल इन शिक्षण संस्थाओं से सम्बद्ध रहना चाहिए। इसी प्रकार वनस्पतिवाटिका, वनस्पति आदि का म्यूजियम भी बनाना चाहिए।

पुस्तकों के विषय में कमेटी का सुझाव है कि विषयवार पुस्तकें तुरन्त तैयार करवानी चाहिए—जिनमें आयुर्वेद का विषय प्राचीन संहिताओं से उसी रूप में उद्धृत रहे। आयुर्वेद की प्रत्येक शिक्षण संस्था के साथ उन्नत पुस्तकालय रहना चाहिए। इसमें आयुर्वेद की, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की पुस्तकें, पत्रिकाएँ रहनी चाहिए।

विद्यार्थी को क्रियात्मक ज्ञान की शिक्षा भली प्रकार मिल सके इसके लिए उचित भवन, उत्तम वाटिका, म्यूजियम, फार्मेसी, रुग्णशय्या का प्रबन्ध उचित अंगों में होना चाहिए।

स्नातकोत्तर शिक्षण शुद्ध आयुर्वेद, मिश्रित स्नातकों तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के साथ जिन्होंने आयुर्वेद सीखा है, सबके लिए खुला होना चाहिए।

शुद्ध आयुर्वेद के स्नातक रसशास्त्र, द्रव्यगुण, बालरोग, स्त्रीरोग आदि में शिक्षा ले सकते हैं। मिश्रित एवं आधुनिक चिकित्सा के स्नातक आयुर्वेद के सब विषयों में, विशेषत शल्य, शालाक्य, प्रसूति आदि विषयों में स्नातकोत्तर शिक्षण प्राप्त कर सकते हैं।

खोज सम्बन्धी सूचनाएँ निम्न हैं—

१ जामनगर के सेन्ट्रल रिसर्च इन्स्टीच्यूट में आयुर्वेद और आधुनिक (मौडर्न) दोनों चिकित्सको मे एकरागिता का अभाव है, इससे दोनों की जानकारी का एक बडा सग्रह इकट्ठा हो गया है। दोनो में कोई भी निर्णय नही हो सका। आधुनिक टीम जो कर रही है, उसको आयुर्वेदवाले नही जानते और आयुर्वेदवाले जो कर रहे हैं, उसको आधुनिक टीमवाले नही जानते। अर्थात् प्रारम्भ से ही यह पद्धति सर्वत्र चल रही है, जो अवाछनीय है। दैनिक रोगियो पर दोनों को ही साथ में बैठकर विचार करना चाहिए। साथ ही जीर्ण रोगों पर भी इनको ध्यान देना चाहिए।

२ जामनगर रिसर्च सस्था को साहित्यिक, फार्मेसी सम्बन्धी आदि रिसर्च सुनिश्चित योजना बनाकर प्रारम्भ करनी चाहिए।

३ जामनगर में इस समय रिसर्च इन्स्टीच्यूट, स्नातकोत्तर शिक्षण और गुलाव कुवर बा आयुर्वेद सोसाइटी सचालित आयुर्वेद विद्यालय—ये तीन सस्थाएँ चल रही हैं, इनको एक ही मकान मे एकत्र करके एक इकाई बना देनी चाहिए।

४ रिसर्च के लिए केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद् नामक सस्था शीघ्र प्रारम्भ करनी चाहिए, जिससे रिसर्च मे वेग और एक समानता आ सके।

५ जामनगर जैसे दूसरे तीन प्रतिष्ठान केन्द्रीय सरकार को स्थापित करने चाहिए, इनको शिक्षा सम्बन्धी सूचना मे लिखे अनुसार स्नातकोत्तर शिक्षण सस्थाओं से सम्बद्ध कर देना चाहिए।

६. बम्बई प्रान्त के रिसर्च बोर्ड ने विविध प्रकार की रिसर्च योजनाएं हाथ मे ली हैं, उसी पद्धति पर अपने यहाँ सब राज्यो को रिसर्च बोर्ड स्थापित करने चाहिए।

७ प्रारम्भ में आयुर्वेद रिसर्च का काम निम्न सात विभागों में करना चाहिए—

१ क्लीनिकल—(प्रत्यक्ष रोग चिकित्सा)
२ साहित्यिक
३ रासायनिक
४ वनस्पतिशास्त्र विषयक
५ फार्मेकोलोजिकल
६. आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त
७. फार्मेकोगनोसिकल

८ इनमें क्लिनिकल रिसर्च सबसे प्रथम प्रारम्भ करनी चाहिए, भिन्न-भिन्न केन्द्रो में जो काम चल रहा है, वहाँ पर वैद्य और डाक्टर दोनो को मिलकर रिसर्च कार्य करना चाहिए।

९ केन्द्रीय आयुर्वेदिक रिसर्च परिषद् को वैद्य और आधुनिक वैज्ञानिको की मिलित कमेटी स्थापित करनी चाहिए—जो क्लिनिकल रिसर्च की एक समान भूमिका तैयार करे।

१० साहित्यिक सशोधन प्रारम्भ करना चाहिए। इसके लिए प्राचीन पुस्तको का सग्रह करना चाहिए। इनमें जो छापने योग्य है, उनको छपाना चाहिए। पुरानी पुस्तको का अनुवाद करवाना, योग्य पाठ्य पुस्तकें तैयार करवाना, रेफरेन्स लाइब्रेरी बनाना चाहिए।

११ प्रत्यक्ष रोगियो पर जिन औषधियो का सतोषजनक लाभ मिला हो, उनकी आधुनिक विज्ञान की सहायता से रिसर्च करवानी चाहिए, रिसर्च का यह कार्य अति विश्वासी वैज्ञानिको को सौपना चाहिए।

१२ औषधोपयोगी वनस्पति की गवेषणा के लिए केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद् को जगलात विभाग की सहायता लेनी चाहिए, किस प्रान्त में क्या वनस्पति होती है, उसका पूरा विवरण रखना चाहिए।

१३ फार्मेकोगनोसिकल रिसर्च को दस वर्ष के अन्दर समाप्त कर देना चाहिए। इस विषय में जो वैद्य निष्णात हो, उनको यह कार्य सुपुर्द करना चाहिए। रिसर्च का काम करनेवालो में एकरूपता रहनी चाहिए।

१४ आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तो में खोज, पच महाभूत, त्रिदोषवाद, मन, बुद्धि, आत्मा आदि विषयो पर निष्णातो को प्रकाश डालना चाहिए।

१५ केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद् को निम्न विषयो पर खोज प्रारम्भ करानी चाहिए—

१ आयुर्वेदिक आहारशास्त्र	२ पचकर्म
३ बालचिकित्सा	४ मानस रोग की चिकित्सा
५ आँख के रोगो की चिकित्सा	६ मर्म चिकित्सा (Orthopaedics)
७ विष चिकित्सा	८ दन्त विद्या
९ योग विद्या (इसे भी अपने में आत्मसात् करना चाहिए), स्वस्थवृत्त	१० तैलाभ्यग चिकित्सा

१६ केन्द्र और प्रान्तो मे तथा वैयक्तिक रूप में जो खोज चल रही है, वह सन्तोपजनक नही है, पद्धतिपूर्वक नही है। बहुत स्थानो पर तो पूरे साधन भी नही हैं। अब समय आ गया है कि योजना बनाकर केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद् को यह काम हाथ में लेना चाहिए।

फार्मेसी

१ बोटेनिकल सर्वे आफ इण्डिया और जगल विभाग के साथ पूर्ण सहयोग करके जगलो का पर्यवेक्षण कराना चाहिए। आयुर्वेदिक औपधियाँ कहाँ कहाँ अधिक मात्रा में मिल सकती है, इसकी सच्ची जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।

२. औपधोपयोगी वृक्षो आदि के लिए जगल का कुछ भाग सुरक्षित रखना चाहिए।

३. केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद् को विविध सस्थाओ और कार्यकर्त्ताओं के साथ सहयोग रखकर वनस्पति परिचय और औपधविज्ञान (फार्मेकोगनोसी) का काम हाथ में लेना चाहिए और समय समय पर इस सम्बन्ध की छोटी छोटी पुस्तिकाएं प्रकाशित करनी चाहिए।

४ इस कार्य के लिए जिन्होने इस विपय पर काम किया हो तथा मौडर्न वनस्पति शास्त्रियो को मिलकर काम करना चाहिए।

५ ड्रग फार्म बनाने चाहिए, ये ड्रग फार्म वैद्यो एव फार्मेसियो की जरूरत को पूरा करें। केन्द्रीय सरकार को ड्रग फार्म के लिए आर्थिक सहायता देनी चाहिए।

६ कच्चे द्रव्य, खनिज द्रव्य और दूसरे सन्दिग्ध द्रव्य जो आयुर्वेदिक औपध बनाने मे काम आते है, उनका चौकस स्टैन्डराईजेशन (मानकीकरण) होना चाहिए।

७ आयुर्वेदिक औपधियो का स्टैन्डराईजेशन (मानकीकरण) एक जरूरी कार्य है, इसके लिए स्टैन्डर्ड फार्मेकोपिया बनाने का कार्य प्रारम्भ करना चाहिए। प्रत्येक औपध का पाठ निश्चित करना चाहिए।

८ पुस्तको के पाठ के अनुसार चौकस माप, वजन आदि एक समान बरतने चाहिए। भारत में जो भिन्न भिन्न तौल-माप चल रहे है, उनमे एकरूपता रखना आवश्यक है।

९ औपध निर्माण में एक ही प्रकार की पद्धति अपनानी चाहिए। औपधियो मे सोना, मोती, रत्न, केसर, कस्तूरी आदि उत्तम श्रेणी के व्यवहार में लाने चाहिए।

१० कश्मीर में बारामूला के अन्दर कश्मीर सरकार ने औपधि सग्रह के कुछ भंण्डार बनाये हैं, जगल विभाग की सहायता से ऐसे भण्डार प्रत्येक प्रान्त मे बनाने चाहिए, जहाँ से फार्मेसियाँ, वैद्य अपनी जरूरत के अनुसार सामान ले सकें।

११ सैंट्रल लेवोरेटरी—कलकत्ता के अनुरूप एक सैन्ट्रल लेवोरेटरी (केन्द्रीय प्रयोगशाला) स्थापित करनी चाहिए, जिसमें आयुर्वेदिक औषधियो का परीक्षण किया जा सके। ऐसी केन्द्रीय प्रयोगशाला बम्बई में स्थापित करनी चाहिए।

१२ इस केन्द्रीय प्रयोगशाला के अतिरिक्त प्रत्येक औषध निर्माण उद्योग एव स्वतत्र फार्मेसियो के लिए भी सुसज्जित प्रयोगशाला होनी चाहिए। जिसमें औषध निर्माण में काम आनेवाली कच्ची औषधियो, खनिज आदि की परीक्षा की जा सके।

१३ आयुर्वेदिक औषधियो का मानकीकरण ठीक प्रकार से करने के लिए यत्रो की सहायता लेनी चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि आयुर्वेदिक औषधियो पर इनका कोई प्रतिकूल प्रभाव न हो।

१४ अडयार (मद्रास) में एक सहकारी फार्मेसी है, उसी के आधार पर प्रत्येक प्रान्त में कोआपरेटिव फार्मेसी होनी चाहिए। इससे प्रजा और वैद्यो को उत्तम औषध मिल सकेगी।

१५ प्रत्येक बडी और छोटी फार्मेसियो को एक विशेष टैकनिकल स्टाफ रखना जरूरी है। इसमें आयुर्वेद के निष्णात वैद्य, आयुर्वेदिक फार्मेसिस्ट, मौडर्न वनस्पतिशास्त्री, रसायनशास्त्री, मेकेनिकल आदि रहने चाहिए।

१६ आयुर्वेदिक फार्मेसिस्ट तैयार करने का काम सरकार को तुरन्त प्रारम्भ कर देना चाहिए।

१७ ऊपर हमने मानकीकरण (स्टैन्डराईजेशन) की चर्चा की है, इसके लिए १९४० के ड्रग एक्ट के अनुसार एक नियम बनाना आवश्यक है।

१८ केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि जितनी भी जल्दी हो आयुर्वेदिक ड्रग्स एडवाईजर और एक आयुर्वेदिक ड्रग्ज एडवाईजरी कमेटी और एक कौन्सिल (परिषद्) की स्थापना की जाय।

चिकित्सा कर्म का स्तर

१ केन्द्रीय सरकार को एक आयुर्वेद सलाहकार की नियुक्ति करनी चाहिए। आयुर्वेद की उन्नति के लिए सब प्रकार की आवश्यक सलाह मिल सके इसलिए दूसरे आयुर्वेद निष्णात भी नियुक्त करने चाहिए।

२ मौडर्न मेडिकल सिस्टम और आयुर्वेदिक पद्धति दोनो का लाभ ग्रामीण जनता को एक समान मिल सके, इसका प्रबन्ध सरकार को करना चाहिए।

३ आयुर्वेदिक पद्धति को सरकार स्वीकार करती है, इसकी स्पष्ट सूचना होनी चाहिए और इसको उत्तेजन देना चाहिए।

४ कम्युनिटी डेवलपमैन्ट प्रोग्राम के तत्त्वावधान में जहाँ पर प्राइमरी हेल्थ सैंटर चल रहे हैं, वहाँ पर आयुर्वेद के मिश्रित पाठ्यक्रम के स्नातकों की नियुक्ति होनी चाहिए। इस कार्य मे डाक्टरो की अपेक्षा ये अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे।

५ सरकार का प्रथम और सबसे आवश्यक कर्त्तव्य यह है कि वह आयुर्वेद का स्वतत्र सचालक (डाइरेक्टर) नियुक्त करे, जो आयुर्वेद का चुस्त पक्षपाती हो।

६ मजदूरो और मिलो में काम करनेवालो के लिए चिकित्सा की जो सहूलियतें दी जाती हैं, उनमें आयुर्वेदिक दवाओ के उपयोग की स्वतत्रता रहनी चाहिए।

७ सरकारी या अर्धसरकारी नौकरी में जो वैद्य काम करते हों उनका वेतन डाक्टरो के बराबर होना चाहिए। आयुर्वेदिक उपाधिवाले वैद्य का वेतनक्रम एक डाक्टर जितना होना चाहिए—अर्थात् २००–५०० होना चाहिए। डिप्लोमा धारण करनेवाले व्यक्ति का वेतनक्रम १५०-३०० , एल० सी० पी० एस० जितना होना चाहिए। आयुर्वेद के स्नातक जब भी महाविद्यालय मे प्रिन्सिपल, लैक्चरर, प्रोफेसर आदि नियत किये जायें, उस समय भी उनका वेतन-क्रम वर्त्तमान डाक्टरो के स्तर पर रखना चाहिए।

८ प्रत्येक राज्य, स्टेट, जिला और तहसील के स्तर पर जितने सम्भव हो, उतने आयुर्वेदिक अस्पताल और डिस्पेन्सरियाँ खोलनी चाहिए। जहाँ पर यह सम्भव न हो वहाँ मौडर्न अस्पतालो मे आयुर्वेदिक चिकित्सा के लिए एक विभाग पृथक् निकाल देना चाहिए। वहाँ के डाक्टरो को चाहिए कि वहाँ पर काम करनेवाले वैद्य के साथ पूर्ण सहयोग करें।

९ प्रजा को आयुर्वेदिक चिकित्सा की सहायता मिले, आयुर्वेदिक चिकित्सा अधिक प्रसिद्ध हो, इसके लिए दानियो को अधिक मात्रा मे दान देकर आयुर्वेदिक अस्पताल खुलवाने चाहिए।

१० वैद्यो का ज्ञान अद्यतनीय रहे इसके लिए सरकार को अल्पकालीन रिफ्रेशर पाठ्यक्रम अपनी देखरेख में प्रारम्भ करना चाहिए।

११ अपने शिक्षण समय में जिन वैद्यो ने अपने कालेज में शालाक्य, सौतिक, प्रसूति आदि का उचित अभ्यास किया हो, उनको इस प्रकार के आपरेशन करन की सब प्रकार की सुविधा दी जानी चाहिए। मैडिगो लीगल (कानूनी वैद्यक) के लिए भी इनको आज्ञा मिलनी चाहिए।

१२ वैद्यो को सब प्रकार के मेडिकल सार्टिफिकेट देने की अनुज्ञा मिलनी चाहिए। इस विषय में वैद्यो और डाक्टरो को एक समान अधिकार होना चाहिए।

१३ पारद, वशलोचन आदि आवश्यक आयुर्वेदिक औषधियो पर इस समय बहुत अधिक चुगी ली जाती है, उसको बन्द करना चाहिए। इसी प्रकार मेडिसिनल एण्ड टौयलेट-प्रेपरसन्स—कानून के अनुसार आसव-अरिष्ट पर जो मद्यचुगी ली जाती है उसको भी बन्द करना चाहिए।

१४ आज सम्पूर्ण देश में आयुर्वेद के लिए बोर्ड है, केवल मैसूर, उडीसा और जम्मू-कश्मीर में बोर्ड नही, वहाँ पर भी बोर्ड बनने चाहिए।

१५ बोर्ड आफ इन्डियन के पास केवल वैद्यो की देखरेख का कार्य रहना चाहिए। शिक्षण की सब व्यवस्था यूनीवर्सिटी के अधीन होनी चाहिए। यूनीवर्सिटी उचित समझे तो बोर्ड की सलाह ले।

१६ केन्द्रीय आयुर्वेदिक परिषद् को सम्पूर्ण देश के वैद्यो और आयुर्वेदिक सस्थाओ की एक सम्पूर्ण पत्रिका बोर्ड ऑफ आयुर्वेद के साथ मिलकर प्रकाशित करनी चाहिए। नवीन स्नातको का नाम इसमें तुरन्त सम्मिलित करना चाहिए। इस प्रकार से एक प्रान्त की सस्था में से उत्तीर्ण छात्र का नाम स्वत ही दूसरे प्रान्त में रजिस्टर्ड हो जायगा।

१७ प्रत्येक प्रान्त में आयुर्वेद के प्रैक्टीशनरो का रजिस्ट्रेशन तुरन्त प्रारम्भ करना चाहिए। इस रजिस्ट्रेशन में जो वैद्य ४॥ से ५ वर्ष का अभ्यासक्रम लेकर उत्तीर्ण हुए हो उनके लिए (इन्स्टीटयुशनली क्वालिफाईड) और वशपरम्परागत वैद्यो के लिए (ट्रैडीशनल) तथा दूसरो के लिए पृथक्-पृथक् विभाग रखने चाहिए। सस्थाओ में से उत्तीर्ण विद्यार्थियो के लिए भी मिश्रित और शुद्ध विभाग करना चाहिए।

१८ आयुर्वेदिक स्टेट बोर्ड को प्रति वर्ष नियमित रूप से रजिस्टर्ड वैद्यो की सूची प्रकाशित करनी चाहिए। जो वैद्य अनैतिक अपराध के लिए दण्डित हो या अपराधी करार दिया गया हो, उसका नाम चेतावनी देने के पीछे, कानून से जो अधिकार प्राप्त हो उसके अनुसार रजिस्टर में से निकाल देना चाहिए।

१९ आज की अवस्था से यदि आयुर्वेद की स्थिति सुधारनी हो तो आठ अगो मे से पाँच अगो का नियमपूर्वक अभ्यास और प्रैक्टिस होनी चाहिए, इसके लिए स्नातकोत्तर अभ्यासक्रम प्रारम्भ करना चाहिए।

२० जिनके पास सिद्ध नुस्खे हो, उनकी वैज्ञानिक जाँच अवश्य करानी चाहिए, यदि ये सच्चे प्रमाणित हो, तो ये आयुर्वेद और प्रजा दोनो के लिए लाभदायी होगे।

२१ आयुर्वेद में वैद्य के जो गुण बताये हैं, उनकी अभिवृद्धि के लिए वैद्यो को सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। आयुर्वेद की प्रतिष्ठा बढे, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

२२ भारतवर्ष के समस्त वैद्यो का प्रतिनिधित्व करनेवाली निखिल भारतीय आयुर्वेदिक महासम्मेलन जैसी एक सस्था चाहिए, जो वैद्यो के अधिकार और कर्त्तव्य के प्रति जागरुक रहे और वैद्यो का स्टेटस उन्नत हो ऐसा व्यवहार रखे। इस प्रकार की सस्था को आयुर्वेद की सम्पूर्ण पुस्तको का एक सरल पुस्तकालय प्रारम्भ करना चाहिए और आयुर्वेद के सिद्धान्तो के प्रचार के लिए एक मुख्य पत्र (मासिक या त्रैमासिक) प्रारम्भ करना चाहिए।

उपसहार

हमने अपना काम पूरा कर दिया, विचारणीय प्रश्नो से सम्भवत' हम अधिक कह गये, शायद किसी को यह अच्छा न लगे। परन्तु हमारा उद्देश्य समग्र दृष्टि से समग्र प्रश्न पर विचार करना तथा उसका रास्ता ढूंढने का था। यदि हम ऐसा न करते तो केवल जानकारी ही दे सकते थे।

आज तक सरकार से नियुक्त कमेटियो पर अभी तक सरकार ने ध्यान किस लिए नही दिया, इसका भी कारण ढूंढना था। हमको ऐसा लगता है कि सरकार ने आयुर्वेद का प्रश्न सम्पूर्ण रूप में सोचा ही नही; केवल जो सूचनाएँ दी गयी थी, उन पर ही विचार किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि आयुर्वेद का प्रश्न ज्यो-का-त्यो रहा। परन्तु अब हम आशा करते हैं कि एकत्रित की हुई सब सूचनाओ पर यथासम्भव विचार होगा। केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार, भारतीय चिकित्सा परिषद् और सम्पूर्ण वैद्यो को प्रामाणिक रूप से इसमें प्रयत्न करना चाहिए, जिससे आयुर्वेद को जो स्थान, गौरव मिलना चाहिए वह उसको प्राप्त हो सके, आयुर्वेद विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित हो। इसके साथ साथ रोगपीडित जनता के लिए आयुर्वेद का उत्थान बहुत जरूरी है। इस हेतु से हमने अपने विचार बहुत ही स्पष्ट रूप से व्यक्त किये है। इन सब विचारो का सब आदर करें यह हमारी इच्छा है। स्वतन्त्र भारत प्राचीन भारत की समस्त सस्कृति को फिर से जाग्रत करना चाहता है, तब इसी सस्कृति के मुख्य अग आयुर्वेद को किस प्रकार से भुलाया जा सकता है। ज्ञान के क्षेत्र मे आदान और प्रदान की क्रियाएँ सतत चलती रहती हैं। इसलिए आयुर्वेद को भी दूसरो से जो लेना

आवश्यक हो उसे लेकर एक समन्वित (इन्टेग्रेरेटिड–मिश्रित) आयुर्वेद पद्धति चालू करनी चाहिए यह हमारी इच्छा है।

आयुर्वेद पद्धति के लिए जो कुछ हमने यहाँ कहा है, उसी को यूनानी और सिद्ध, समस्त पद्धतियो के लिए समझना चाहिए।

हस्ताक्षर—के० एन० उड्डूप (सभापति)
के० परमेश्वरन् पिल्लई (सदस्य)
आर० नरसिंहम् (सदस्य और मत्री)

डाक्टर सम्पूर्णानन्द कमेटी

उत्तर प्रदेश के मुख्यमत्री डाक्टर श्री सम्पूर्णानन्दजी ने उत्तर प्रदेश के आयुर्वेदिक कालेजो में बढते हुए असन्तोष को देखकर एक कमेटी नियुक्त की थी। इसकी मीटिंग नैनीताल में हुई थी। इस कमेटी में श्री पण्डित शिवशर्माजी, श्री दत्तात्रेय अनन्त कुल-कर्णीजी, उपसचालक चिकित्सा एव स्वास्थ्य (आयुर्वेद) आदि सभ्य थे। इस कमेटी में कोई भी डाक्टर नही रखा गया था, यही इसकी विशेपता थी।

उपर्युक्त दोनों सज्जन काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में कुलपति श्री सर सी० पी० रामस्वामी की अध्यक्षता में आयुर्वेद के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में बनी कमेटी के भी सदस्य थे। इस कमेटी में डाक्टर भी सम्मिलित थे। इस कमेटी ने जो पाठ्यक्रम तैयार किया, उसमें सदस्यों का मतैक्य नही था। इसमें डाक्टर तथा कुछ सज्जन विश्व-विद्यालय में चलनेवाले मिश्रित पाठ्यक्रम को पसन्द करते थे, और कुछ सदस्य कथित शुद्ध पाठ्यक्रम को अधिक उत्तम मानते थे।

डाक्टर सम्पूर्णानन्दजी की देखरेख में जो कमेटी बनायी गयी उसने कुछ सिद्धान्त निश्चय कर दिये थे। इसके अनुसार आयुर्वेद की प्रधानता पाठ्यक्रम में रहनी चाहिए। दूसरे विषय आयुर्वेद के पूर्तिरूप में पढाने के लिए थे। परन्तु पाठ्यक्रम बनाने में इस निश्चय की पूरी उपेक्षा की गयी। पाठ्यक्रम बनाने की कठिनाई से बचने के लिए बनारस हिन्दूविश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम को ही थोडा-बहुत कही बदलकर रख दिया गया। पुस्तकें भी प्राय वही रखी जो कि उसमें निर्दिष्ट थी। पुस्तको का निर्देश करने में उदारता नही बरती गयी, जब कि उससे अच्छी, सम्पूर्ण दूसरी पुस्तकें प्राप्य थी।

प्रवेशयोग्यता सस्कृत के साथ इन्टरमीडिएट अथवा अग्रेजी के साथ मध्यमा उत्तीर्ण या उसके समकक्ष स्वीकार की गयी। इसमें साइन्स की शिक्षा का कोई भी बन्धन

नहीं था। साइन्स की शिक्षा विद्यार्थी को पाठ्यक्रम में देने की सुविधा रखी गयी। परन्तु इस पाठ्यक्रम का विशेष स्वागत नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण पाठ्यक्रम तैयार करनेवालों की अनुभवहीनता ही है।

डाक्टर सम्पूर्णानन्दजी का उद्देश्य पवित्र और मान्य था, आयुर्वेद का प्राचीन रूप में उद्धार होना चाहिए, उसकी सर्वांगीण शिक्षा मिलनी चाहिए। परन्तु उसके साधन, उसके अध्यापक, विद्यार्थियों की रुचि इन सबने उसको सफल बनाने में बाधा उपस्थित की। उदाहरण के लिए रसशास्त्र के प्रश्न पर विद्यार्थी क़दम-क़दम पर आधुनिक विज्ञान के अपने ज्ञान पर प्रश्न करता है, जिसका उत्तर सामान्यत अध्यापक के पास नहीं होता। इसी प्रकार शारीर एव शारीरक्रिया विज्ञान की शिक्षा मे विद्यार्थी जब वस्तु को प्रत्यक्ष नही देख पाता, अध्यापक से शका का समाधान ठीक प्रकार से नहीं पाता, तो उसमें असन्तोष की लहर उठती है। इन सब कारणों से इस पाठ्यक्रम का स्वागत नहीं हुआ, विद्यालयों मे प्रवेशसख्या बहुत ही कम हो गयी। इसमें मुख्य उत्तर-दातृत्व पाठ्यक्रम बनानेवालों का है, नीति निर्धारण का प्रश्न जहाँ तक है, वह आयुर्वेद की उन्नति एव गौरव के प्रति आदरणीय है, इसमें सन्देह नही।